been collected and published The most important of his collections is his philosophical poem styled Bijaka, Fundamental Treatise How important and valuable the poem was regarded by the followers of the poet could be gauged from the numerous and elaborate commentaries written in Hindi on the poem It is stated that it has been also glossed in Sanskrit by one Sri Bodhananda but this gloss has not been published in full Sri Hanumaddassji has done yeoman service by furnishing a metrical gloss in Sanskrit on the entire poem with explanation of the text and commentary in Hindi The commentator's other commendable contribution to modern Hindi Literature is his lengthy essay in Hindi under the head of Rahasya on religious and philosophical topics prefixed to the boo

The first part of the Bijaka under review consists of 84 Ramainis a variety of doctrinal metrical composition adorned with a *Sakhi* at the end and those Ramainis are divided into 42 sections called *prakaraha* Topics dealt with in these *prakarhas* are first creation of the world the wordl enjoyment Release enunciation of Mahavakya influence of Maya unreliability of worldly things man s struggle in the world devotion to Rama as deterrent of evil path etc

Kabir was not only a poet philosopher but also a great social reformer which is evident from some of these verses And the fact the poet was previously a Mohammedan weaver is most probably hinted at in this Ramaini in a poetic fashion "No one knew the mystery of that weaver who in order to weave the cloth like world spread the warp of living beings The earth and sky are two beams the sun and moon are two filled shuttles Taking a thousand threads of stars he spread lengthwise He weaves still to-day but the far-off end is hard to reach Says Kabir joining Karma with Karma woven with unwoven threads the weaver weaves splendidly"

N Aiyaswami Sastri.

॥ सत्यनाम ॥

स्वसंवेद ग्रन्थमाला – ग्रन्थ पहला

श्रीमत्स्वामिश्रीहनुमद्दास (षड्शास्त्रि) विरचितया
'स्वानुभूति' इत्याख्यया संस्कृत–व्याख्यया,
श्लोकार्थ–बोधिन्या तथा च अक्षरार्थाख्या-
भावार्थदीपिकया हिन्दीटीकया
टिपण्यादिभिश्च समलङ्कृतः

सुरहस्य - समन्वितः

संस्कृतबीजकग्रन्थः ।

(प्रथमभागः)

सम्पादकः–

पं० मोतीदासजी चेतनदासजी 'चैतन्य'
सम्पादक, 'स्वसंवेद' बड़ोदा.

वि. स. २००७	सत्क० प्रा० सं०	ई. स. १९५०
द्वितीयावृत्ति	५५१	प्रत १०००

मूल्य : ७–०–० सात रुपया ।
(डाकखर्च अलग)

पं० मोतीदासजी चेतनदासजी।
स्वसंवेद-कार्यालय, 'चेतनधाम'
सीयाबाग, बड़ोदा (गुजरात)।

मुद्रक :—
पं० मोतीदासजी चेतनदासजी.
श्री कबीर प्रेस, 'चेतनधाम'
सीयाबाग-बड़ोदा।

ता. २६-९-'५०

॥ सत्यनाम ॥



सद्गुरु कबीर साहब



॥ सत्यनाम ॥

समर्पणम् !

जो जांकी शरनै गहै, ताहि ताहि को लाज ।
उलटि मीन जल चढत है, बह्यो जात गजराज !

पतित पावन दयामय सद्गुरो !

मैं अधम बालक आपकी शरण हूं । मेरी सदा रक्षा कीजिए ! और सर्वदा ऐसी सन्मति, सन्निष्ठा और आत्मदृढता प्रदान कीजिये ताकि मैं आजीवन आपकी असीम दया और भक्ति का पात्र बना रह सकूं !

सन १९३९ में आपके इसी पवित्र 'संस्कृत बीजक ग्रन्थ' की प्रथमावृत्ति लेकर आपके पावन चरणों में उपस्थित हुआ था। आज फिर उससे द्विगुणित कलेवर युक्त उसी महाग्रन्थ की यह द्वितीयावृत्ति लेकर उपस्थित हुआ हूँ ।

कृपामय ! आजका समय विषम और बारीक है। शरणागत की लाज रख लीजिये । ताकि आपकी महान् सेवा के इस पवित्रतम कार्य मे मेरा यह यत्किञ्चित् पुरुषार्थ भी सफल हो सके ! और जनसमाज का भी श्रेय: हो !

आपका चरणशरणेच्छु-
मोतीदास

सत्यनाम ।

उपहार

श्रीमान् ______________________

____

____

को सप्रेम भेट । ता.

आपका,

सत्यनाम ॥

उपोद्‌घात ।

बंदिछोड सद्‌गुरु कबीर साहब का 'बीजक' ग्रन्थ तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान का अपूर्व और अद्वितीय ग्रन्थ है। प्रसिद्ध षट्‌दर्शनों में यह एक अप्रतिम 'दर्शन ग्रन्थ' है। इसको यदि दूसरा नाम दिया जाय तो 'सत्यदर्शन' कहना ही बहुत उपयुक्त होगा।

अन्यान्य षट्‌दर्शनों के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में विनिर्मित हैं किन्तु यह 'सत्यदर्शन बीजक' ग्रन्थ हिन्दी भाषा में सद्‌गुरु द्वारा रमैनी, शब्द और साखी आदि पद्यों के रूप में विरचित हैं। भाषा एक साधन है। तत्वज्ञान के विचारों, भावों को संस्कृत भाषा में ऋषिमुनियों ने ठीक २ रूप में व्यक्त किया है। किन्तु वही भाव अन्य भाषा में भी व्यक्त हो सके तो उसका महत्व उतना ही बहुमूल्य है, प्रत्युत विशेष आदरणीय और बहुजनोपयोगी है।

'सत्यदर्शन बीजक' इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। जो गूढ रहस्य वेद, उपनिषदों की प्राचीन भाषा में निरूपित किया गया है, उससे भी अधिक गूढ और रहस्यमय आत्मतत्त्व का निरूपण, अपनी ही स्वतंत्र प्रक्रिया और रीति से सद्‌गुरु कबीर साहब ने हिन्दी भाषा में, सर्व साधारण की बोलचाल की बोली में, अतर्क्य और आश्चर्यमयी शैली में, सरल में सरल शब्दों और भावों में 'बीजक' ग्रन्थ द्वारा किया है। 'सत्य दर्शन बीजक' का एक २ शब्द और पद गूढतम आत्मतत्त्व के रहस्य से ओतप्रोत है।

कबीर साहब के साहित्य से जो लोग सत्संग द्वारा सुपरिचित हैं उनके लिये 'बीजक' के भावों को हृदयंगम करना उतना कठिन नहीं है किन्तु जो कबीर-धर्मानुयायी या सत्संगी नहीं हैं उनके लिये 'बीजक' के गूढतम आत्मतत्त्व के रहस्यमय भावों को हृदयंगम करना सरल नहीं है। दर्शनशास्त्र के गूढतम तथ्यों को 'बीजक' में सद्‌गुरु ने अपनी तीव्र सर्वतंत्र स्वतंत्र दार्शनिक शैली में इतनी उत्तमता के साथ निरूपित किया है कि बडे २ दार्शनिक लोग भी हिन्दी भाषा

के साधारण बोलचाल के शब्दों में उन्हें बीजक में पढ़कर अवाक् रह जाते हैं। जो भाव और रहस्य वेद उपनिषद के वचनों से नहीं समझ पाते वे उससे कहीं अधिक स्पष्टता और सरलता से बीजक में स्वानुभव कर पाते हैं।

सद्गुरु की वेद वाणी की संसार में यही विशेषता और अद्वितीय अपूर्वता हैं, जो अन्य वाणी में दुर्लभ है।

यह ग्रन्थ, जो तत्त्वजिज्ञासु महानुभावों के शुभ हाथों में रखा गया है, वह 'सत्यदर्शन बीजक' ग्रन्थ की इस अपूर्वता और अप्रतिमता का दर्शन कराता है। स्वनामधन्य विद्वच्चक्रचूडामणि १०८ पू० **स्वामी श्री हनुमानदासजी साहब** षट्शास्त्री इसके रचयिता हैं। पू० स्वामीजी ने वेदवेदांत, उपनिषद्, स्मृति-धर्मशास्त्र, पुराणेतिहास एवं अन्यान्य ग्रन्थों का चालीस-पचास वर्ष पर्यंत गुरुद्वारा निरन्तर आकलन करने के बाद सद्गुरु के बीजक ग्रन्थ का हिन्दी में गुरु-आज्ञा से संस्कृत श्लोकबद्ध अनुवाद किया एवं विस्तृत हिन्दी टीका भी लिखी और उस ग्रन्थ की भूमिका रूप से 'बीजक सुरहस्य' नामका एक विस्तृत निबन्ध भी लिखा, जिसमें बीजक के गूढतम रहस्यों को शास्त्रवचनों के प्रमाणों के साथ समझाते हुए सद्गुरु के सार सदुपदेशों को जनसाधारण के लिये आपने सुस्पष्ट कर दिया है। ताकि बीजक ग्रन्थ के भावों को जिज्ञासु सज्जन ठीक २ रूप में हृदयंगम कर सकें और अपने मानवजीवन को सफल बना सकें।

पू० पा० श्री स्वामी साहब का यह 'संस्कृत बीजक ग्रन्थ' प्रकाण्ड विद्वानों एवं जिज्ञासु जनसमाज सब के लिये एक सा परमोपयोगी और सद्ज्ञान वर्द्धक है। अतः जिज्ञासु सज्जन अवश्य ही इसका पठन, मनन और निदिध्यासन करके परम श्रेय के अधिकारी बनें, यही शुभाशा!

वि. सं. २००७
ज्येष्ठ शुक्ला १५
बुधवार
ता. ३१-५-१९५०

सर्व सज्जनों का कृपाभिलाषी,
पं० मोतीदासजी 'चैतन्य'
सम्पादक : 'स्वसंवेद'

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

नमोऽस्तु सर्वपूज्येभ्यः। सत्यं विजयतेतराम्।

॥ भूमिका ॥

यस्यात्र स्मरणादेव क्षीयन्ते विघ्नराशयः।
उल्लसन्ति च सौख्यानि तं वन्दे चिद्घनं गुरुम् ॥१॥
नैदाघकिरणे वारि यथा यस्मिन्निदं जगत्।
इच्छामात्रेण संजातं तं वन्दे पावनं परम् ॥२॥
सच्चिदानन्दरूपो योऽजामलाक्षयविग्रहः।
परिणामाद्यलिप्तस्त्वं सदा स्वान्ते स्मराम्यहम् ॥३॥
प्रणमामि परं सत्यं पौनः पुन्येन सद्गुरुम्।
कबीरं यत्कृपालेशात् सन्मार्गे मे मनो गतम् ॥४॥
निरतिशयसुखाय जन्तवो ह्यपहतये च शिवेतरस्य वै।
व्यवहृतिमखिलां हि कुर्वते गुरुकरुणादि विना न सिद्ध्यति ॥५॥

चित नभ माया मन घन छाया।
विमल भान भानू ढकि सो पुनि, हृदय भूमि नियराया ॥
दुर्वासना कुकर्म वायु पुनि, मिलिया ताहि सहाया।
सुख दुःख विपत वारिधारा करि, सब जीवन जहड़ाया ॥
काम दमक दामिनि जिमि छिन छिन, क्रोधवज्र घहराया।
तृष्णा तरुण तिमिर की वृद्धि, कामिन के मन भाया ॥
मत्सर मर्मभेदी चल मारुत, ईर्ष्या शीत समाया।
जाते थरथर कांपै सब जग, भ्रमत कुशल नहिं पाया ॥
हरि गुरु कृपा विमल मारुतसे, जो घन सहित सहाया।
नशै उगै पुनि विमल भानु नभ, नशै दुखद जड़तायी ॥
हनूमान हरि भक्ति शरण गुरु, जाय करहु तजि माया।
दीनबन्धु हरिहीं सब संकट, श्रुति सब संतन गाया ॥१॥

यह अति प्रसिद्ध और सर्वमान्य सर्वानुभवसिद्ध बात है कि सब जीव अपनी २ समझ और शक्ति के अनुसार सर्वोत्तम अविनाशी सुख प्राप्ति और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति की इच्छा करते हुए कुछ न कुछ व्यापार विचारादि अवश्य करते हैं; परन्तु ज्ञान विज्ञान के हेतु पूर्व के अतिशुभ कर्म भक्ति सुवासना हरि गुरु की कृपा आदि विना उक्त सुख की प्राप्ति और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति कब ही हो नहीं सकती। जो सत्पुरुष पूर्वजन्म के शुभ कर्म भक्ति आदि के बल से इस जन्म में शुभ वासना का हरि गुरु की कृपा का पात्र, दयालु, अहिंसक, सत्य क्षमा सन्तोष आदि का आश्रय हैं, उनके लिए महात्मा लोग विराग विचारादि का उपदेश देते हैं, शमादि निष्ठा फर्माते हैं। और विराग शमादिनिष्ठ होने पर उनको आत्मपरमात्मोपदेश के उत्कृष्ट अधिकारी समझते हैं, और उनके ही लिए वस्तुतः सर्वात्मा अद्वैत तत्त्व का उपदेश प्रधानरूप से करते हैं।

इसी प्रकार सद्गुरु कबीर साहब ने अपने बीजक ग्रंथ में, उक्त मुख्य अधिकारियों के लिए, आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। और उसका श्रुति आदि से समन्वय किया है। जैसे कि 'तत्त्वमसी इनके उपदेशा'॥ 'जाको मुनिवर तप करैं, वेद थके गुण गाय॥ सोई देऊँ सिखापना, कहिं न कोई पतिआय'॥ 'वेद कहे सो नहिं करै, समझै और कि और। चौरासी के धारमें, कबहिं न पावै ठौर॥' और वेदादि से निज वाक्य का समर्थन करने पर भी सद्गुरु की महिमा को वेद से भी अधिक बताया है। जैसे कि "वेद नकल है जो कोइ जानै। जो समझै तो भलो जु मानै॥" भा० स्क० ११, अ. २०। ६ इत्यादि के वचन हैं कि- "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासानामिह कर्मसु। तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥ यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्। न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥" कर्मादि साध्य विषय लोकादि विषयक वैराग्ययुक्त त्यागी के लिए ज्ञानयोग है, विरागरहित आसक्त पुरुष के लिए निष्काम

कर्मयोग उपासनादि हैं। जो न अत्यन्त विरक्त है, न अत्यन्त आसक्त है, दैवयोग से हरिकथादि के प्रेमी हुआ है, सो भक्तियोग के अधिकारी हैं। आसक्ति आदि रहित विवेकी अत्यन्त विरक्त को जब हरिगुरुकृपा से ज्ञान की प्राप्ति होती है, तो वह दुश्चरित्र रहित शान्त समाहितात्मा अविनाशी सुख की प्राप्तिपूर्वक दुःख से नित्यमुक्त हो जाता है। ज्ञान विना वास्तविक मुक्ति किसीकी नहीं होती, यह सब वेद और सत्शास्त्र और सन्त महात्माओं का अटल सिद्धान्त है। ज्ञानरहित केवल विराग या सगुण सकाम भक्ति जपतपध्यानादि से प्रकृति में विलय या लोकान्तर में प्राप्ति आदिरूप दुःख-शून्यावस्था सुखविशेषावस्था स्वर्गादि की प्राप्ति भले ही होती है, परन्तु गमनागमनादि रहित अखण्ड जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति ज्ञान विना नही हो सकती। "तरति शोकमात्मवित्" ॥ छा० ७।१।३॥ 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'। तै० २।१॥ 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'। श्वे० ३।८॥ 'तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति'॥ श्वे० ४।१५॥" आत्मा को जान करके ही पुरुष शोकरहित होता है। ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है, मृत्यु रहित होता है। मृत्युपाश को नष्ट करता है, इत्यादि।

सद्गुरु कबीर साहब इस अर्थ का इस प्रकार कथन करते हैं कि- "ज्ञान अमरपद बाहरे, नियरे ते है दूर। जानै ताको निकट है, अनजाने को दूर"॥ रमैनी ३०॥ 'तीनि लोक टीडी भया, उड़ा मन के साथ। जाने विन भटकत फिरै, परै काल के हाथ'॥ साखी ९८॥ 'अबकी बार जो करै चुकाव। कहहिं कबिर ताकि पूरी दाव॥" ज्ञान ही अमर (अमृत-मोक्ष) पद (स्थान) है। उससे बाहर (रहित) रहनेवाले, नियर (पास) की वस्तु से दूर हैं। ज्ञानी के लिए पासमें ही मोक्ष सुख है, अज्ञों के लिए दूर लोकान्तरादि में कल्पित मोक्षसुख है। "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च, पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्। मुण्डक० ३।१।७॥" इस आत्मतत्त्व के ज्ञान विना तीनों लोक के वासी जीव वनपतङ्ग के समान भटकते है, और काल के वश में पड़ते है। जो इस मनुष्य जन्म मे ही ज्ञानाग्नि से कर्मवासनादि बीजों का चुकाव

(चुकती-नाश) करते हैं, उन्हीं की दाव पूरी होती है, पूर्णपद मिलता है, इत्यादि।

इस रहस्य को जानने बिना ही बहुत लोग कबीर साहब को भी गमनागमनशील लोकान्तर के वासी मान कर ऊपर २ लोकों की मिथ्या कल्पना किया करते हैं। यों तो निवृत्तिमार्ग के परम प्रधान अधिकारी आचार्य होने के कारण, सद्गुरु कल्पान्त पर्यन्त हम दासों का निरीक्षण करते हुए भी जीवन्मुक्त असङ्ग स्वरूप से सदा वर्तमान हैं; परन्तु वे किसी एक देश के अभिमानी नहीं हैं, सब देश उन्हींका है, और सब देश में वही सत्य हैं॥ जहां उत्कट भक्ति से खोजो वहाँही हाजिर हजूर हैं। जैसे भगवान् विष्णु शिव कहीं चले नहीं गये हैं। वे भक्तों की रक्षा के लिए प्रवृत्तिमार्ग के अधिकारी ईश्वर हैं। ऐसे ही सद्गुरु को निवृत्ति मार्ग के अधिकारी ईश्वर समझना चाहिये। नहीं तो भक्तों को कैसे मिलते हैं? आज जो कोई उनकी स्तुतिवन्दना करता है, उसे वे कैसे सुनते हैं? यदि वर्तमान नहीं हैं। यदि कोई कहे कि वे तो विदेहमुक्त सर्वथा कर्तव्यरहित हो गये, उनके रूप से माया मिलती है, तो सो कहना ठीक नहीं। जड स्वरूपा केवल माया गुरु का काम नहीं कर सकती। उसका फंसाने का काम है, उबारने का नहीं। यदि कहो कि माया जिनके वश में है, सो अनन्त शक्तिवाला मायी ईश्वर रूपसे मिलते हैं। तो वस्तुतः तो ईश्वर में जगत् की साधारण (सामान्य) कारणता हैं। विशेष कार्यों के लिए विशेष अधिकारी ही सदा संसार में नियमित हैं। ईश्वर में सर्वशक्ति है, और हम सब के हृदय में सर्वात्मा ईश्वर वर्तमान हैं; परन्तु आँख का काम आँख ही करती है, कान या नाकादि नहीं कर सकते।

यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर सद्गुरु रूप से मिलते हैं, तो सदा शुद्ध ईश्वर ही भक्तेष्ट सम्पादन के लिये यह गुरु रूप होते हैं, और महान् २ आचार्य गुरु नेता बनकर संसार का समय २ के अनुसार उपकार-उद्धार करते हैं, ऐसा मानने में क्या क्षति है? इसी आशय से तो सनकादि,

शंकराचार्यादि को भी ईश्वरावतार कहा गया है। शिष्य भक्त के लिये ऐसा मानना उचित ही है। यदि कोई अनीश्वरवादी नास्तिक हो, तब तो फिर कहना ही क्या है। जैनी भी अपने तीर्थंकर को ईश्वर कहते हैं। केवल संसार की उत्पत्ति आदि के लिए ईश्वर को नहिं मानते हैं। मैं तो अपनी भक्तिदृष्टि से सद्गुरु कबीर साहब को भी निवृत्ति मार्ग का अधिकारी ईश्वर सदा वर्तमान मानता हूं, गुरु का नाश नहीं मानता हूं। शरीर के व्यक्ताऽव्यक्तभाव होते हैं, सो ब्रह्मस्वरूप गुरु की महिमा है, इत्यादि। यदि कहा जाय कि ब्रह्मा विष्णु अदि के मरण का तो कबीर साहब ने ही वर्णन किया है, फिर उनमें वर्तमानता कैसे हो सकती है ? तो इसका यह समाधान है कि, अनन्त कल्प में अनन्त ब्रह्मा आदि अधिकारी होते हैं, और कल्पान्त में लीन होते हैं। इससे भूत कल्पों की दृष्टि से उनके अभाव का वर्णन है, और वर्तमान कल्प के सब वर्तमान हैं; परन्तु व्यक्त रूप सें नहीं रहने से उनकी मृत्यु भी व्यक्त दृष्टि से कही जा सकती है तथा उनका भी कितने प्रकार का स्वरूप है, सो आगे मूल के टिप्पण से समझिये। और सद्गुरु ने कहीं विराग के लिए, देवभावादि की वासना का निवारण के लिए, और कहीं २ अभ्युपगमवादादि से अनेक प्रकार से वर्णन कियाँ हैं।

अच्छी तरह पूर्वापर प्रकरण मिलाइये, स्वयं शंका नष्ट हो जायगी। और भक्ति-उपासना के विषय में सद्गुरु ने कहा है कि-" अर्व खर्व ले द्रव्य है, उदय अस्त ले राज। भक्ति महातम ना तुलै, ई सब कौने काज '॥ ' एक शब्द में सब कहा, सबही अर्थ विचार। भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार '॥ ' कहहिं कबिर जो रामहिं जानै, सो मोहि नीके भाव। " इत्यादि।

कबीर साहब प्रधान रूप से निर्गुण भक्ति बताते हैं, और कहते हैं कि, जिस राम ॐकार की भक्ति से सर्वथा कल्याण होता है, सो राम सर्वत्र व्यापक तो हैं ही; परन्तु गुरु ज्ञानी के हृदयदेह में वह प्रगट है। इस लिए ज्ञानी गुरु को परमात्मारूप ईश्वर का नित्यवर्तमान अवतार रूप जानकर उन्हें सेवो,

पूजो इत्यादि। परन्तु ऐसा नहीं कि देहदृष्टि से सेवो, किन्तु देह को तो मायामय मन्दिर समझो, और उसमें वर्तमान प्रभु को पूजो। फिर दूसरा मंदिर और मूर्ति बनाने की कोई जरूरत नहीं समझो। दश अवतार को भी माया कहने का सद्गुरु का यही तात्पर्य है कि, व्यक्ति व्यवहारादि रूप मंदिर माया का है। फिर कुछ आगे चल कर अपने देह मनोमंदिर में प्रभु का दर्शन करो और प्रथम नाम को ही उस प्रभु की सुंदर मूर्ति समझ कर एकान्त में उसका यथाशक्ति जप, सुमिरण करो; परन्तु ऐसा न हो कि तुच्छ विषयों के लिए नामादि का जप, सुमिरण करके भक्तादि पन के अभिमानी बन जावो; क्योंकि " साँची नेह विषय माया से, हरि भक्तन की फांसी। कहहि कबिर एक राम भजे विनु, बाँधे यमपुर जासी।। "

मायिक विषयों में सत्य बुद्धिपूर्वक प्रेम ही हरिभक्त कहानेवालों के लिए फांसीतुल्य है। इससे सांसारिक स्नेह का त्यागपूर्वक केवल निर्गुण राम की भक्ति-विना अवश्य बंधाय कर यमपुर जाते हो। इससे सब लोक विषय आकारादि को त्यागकर, या लोक आकारादि को निर्गुण प्रभु के मायिक मंदिर जानकर नामादि द्वारा उसे भजो, और अन्त में नाम को भी कल्पित मायिक ही समझो– " दश अवतार ईश्वरी माया "। ' दशरथ सुत तिहुँ लोकहुँ जाना। रामनाम का मर्म ही आना '।। ' हृदय बसै तिहि राम न जाना ।। ' " चौंतिस अक्षर से निकलै जोई। पापपुण्य जानैगा सोई।। " इत्यादि कथनों का उक्त भाव है और " माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद "। इस महाभारत के भगवद्वचन का भी उक्त ही भाव है।

निष्काम जप, सुमिरण से ही सब काम भी सिद्ध होते हैं, और अन्तःकरण की शुद्धि सर्वदेवमय सगुण निर्गुण हरिगुरु का अनायास ही दर्शन कल्याण होता है– " कहहि कबिर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय। " जीव के हृदय में विषय लोक मान बडाई आदि की कामना न हो तो इसको पुनः मृत्यु न हो, यह सद्गुरु की प्रतिज्ञा है। ज्ञानी गुरुमूर्ति में ईशभक्ति के विषे भी इतनी विशेष बात है कि, जो कोई ज्ञानी भी राजस तामस स्वांग वेष चाल-

वाला होता है, उसके द्वारा ईशभक्ति करने से मन पर राजस-तामस भाव प्रथम अवस्था में अवश्य प्रगट होते हैं। इसलिए सात्त्विक गुरु का सेवन करना चाहिये, और वस्तुतः सब गुण के अभिमानरहित साधारण वेष कपटमायादि रहित हों तो उन्हें साक्षात् परमेश्वरपदरूप समझो। ऐश्वर्य विभूति आदि की जरूरत मुमुक्षु को नहीं रहती, ज्ञान शान्ति वैराग्यमात्र से मुमुक्षु को जरूरत है। बुभुक्षु अपनी इच्छा के अनुसार सेवता ही है, इत्यादि।

निर्गुण सगुण भक्ति का यह गुप्त रहस्य है कि, जैसे पक्षी या हवाई जहाज आकाशमार्ग से गमन करता है। तहाँ उसका मार्ग आश्रयादि तो शून्य आकाश ही सर्वथा गमनकाल में रहता है; परन्तु आकाश के निश्चिन्ह होनेसे मार्ग भूल न जाय, इसलिए वृक्ष, नदी आदि भूमि के पदार्थों द्वारा सब आकाशगामी अपने मार्ग का स्मरण करते हैं; परन्तु चलते निश्चिन्ह आकाश ही में हैं।

इसी प्रकार निर्गुणोपासक भक्त केवल अवलम्ब मार्गस्मरण के लिए नाम आकारादि को मानते हैं परन्तु शून्य आकाश की नाईं निरवयव परिपूर्ण सच्चिदानन्द में उनका मन विचरता है। पूर्ण ब्रह्मनिष्ठाकाल में नामाकारादि स्वयं छूट जाते हैं। नामाकारादि में वे लोग कभी आसक्त नहीं होते। और जैसे भूमिगामी को अवकाश के लिए आकाश की जरूरत अवश्य होती है; परन्तु वह चलता भी भूमि पर है, मार्ग भूमि पर रहता है, चिन्ह भूमि पर रहता है; तैसे सगुणोपासक भक्त भी विभुत्वादि से निगुण का आश्रयण अवश्य करते हैं; परन्तु उनका मन रूप पक्षी ऐश्वर्य लीला विभूति आदि में ही विचरता है, इत्यादि।

जो पुरुष पूर्वजन्म के अतिशुभ कर्मवाला, वर्तमान काल में अति वैराग्यादि युक्त नहीं हैं, वे यदि सकाम भक्ति कर्मादि भी करें तो हिंसा झूठादि से रहित होकर करें। हिंसा आदि कभी नहीं करें। इस आशय से सद्गुरु ने कहा है कि— " जिव जनि मारहु बापुरा, सबका एके प्राण " ॥ " सांच

बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप । जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप ॥ ''
इत्यादि। " सत्यं वद । धर्मं चर । नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्त मनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ '' इत्यादि श्रुतियों का भी उक्त ही भाव है । दुश्चरित्र का त्यागपूर्वक शान्त समाहित मन से सत्यधर्मपरायणता विना न परमात्मप्राप्ति होती है, न लोक में सुखादि मिलते हैं । हिंसा असत्य चोरी व्यभिचारादिक ही दुश्चरित्र कहे जाते हैं ।

भाव है कि, जो पुरुष पूर्व के अतिसुकर्मा नहीं भी है; परन्तु इस जन्म में किसी संस्कार ईश्वरकृपा गुरु-अनुग्रह से यदि कहीं श्रवण कर ले कि " अहिंसासत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता। भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ " अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अकामिता, अक्रोध, अलोभ, सब प्राणी के प्रिय और हित की इच्छा करना, सबका हित की कामना करना; यह सब मानुष्य, सब वर्ण का धर्म है । इत्यादि । और गुरु शास्त्र में श्रद्धा होने के कारण यदि वह पुरुष हिंसा आदि का त्याग करे, तो इस जन्म में वा भावी जन्म में अवश्य सुवासना गुरुहरिकृपा का पात्र बन जाता है ।

और धर्म के निवृत्ति प्रवृत्ति दो रूप हैं । तिनमें हिंसा लोभ चोरी झूठ व्यभिचार परद्रोहादि से निवृत्तिरूप कर्म प्रधान हैं । इनसे निवृत्त होने बिना दान पूजा पाठादि प्रवृत्ति कर्म गजस्नान की नाईं व्यर्थ हो जाते हैं । इसी आशय से सद्गुरु ने कहा हैं कि– " पण्डित वेद पुराण पढत हैं, मोलना पढ़ै कुराना । कहहिं कबिर दोउ नरक परे, जिन हरदम राम न जाना ॥ " सुअरहिं दूध पिलाय के, राखा पलंग सुताय । गुरु के शब्द चीन्है नहिं, फिर चहले को जाय ॥ '' इसलिए दुश्चरित्र रूप पापकर्म हिंसादि से निवृत्त होकर ही यथाशक्ति दान दया भक्ति पूजा पाठादि सत्कर्म आदि श्रेष्ठ फल के हेतु होते हैं, इत्यादि ।

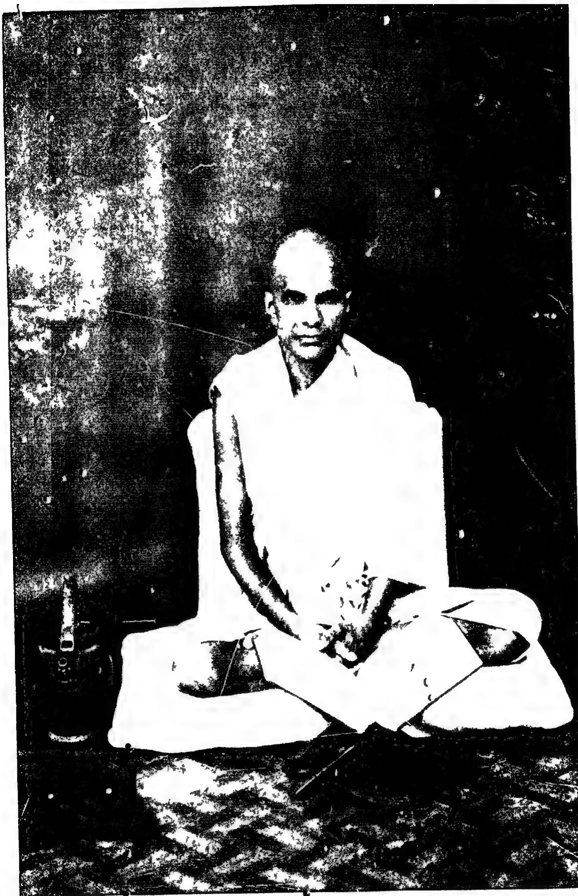
और एकेश्वर एकात्मतत्त्वादि का इस बीजक ग्रंथ में अति सुंदरता से प्रतिपादन किया है, तथा परस्पर की प्रीति आदि का निष्पक्षपात भाव से

जैसा इस ग्रंथ में उपदेश दिया है; उस विषय में यही कहना उचित होगा, कि इस अंश में ऐसा कोई ग्रंथ नहीं है। अस्तु। ऐसे अपूर्व ग्रंथ के ऊपर कई टीका प्रथम से वर्तमान हैं। फिर मेरी प्रवृत्ति क्यों हुई? इस विषय पर कुछ कहना आवश्यक है, इससे थोडी बात कहता हूं। विना टीका और अर्थ के ही इस ग्रंथ से जो बचपन से ही मुझे उपकार हुआ सो वचनागोचर है, हृदय ही जानता है। कुछ अधिक अवस्था होने पर जब इसका अर्थ जानने की इच्छा हुई तो बहुत पूछनेतांछने पर कुछ पता नहीं लगने से इसीके अर्थ को समझने के ही लिए शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त हुआ; परन्तु रोगादि वश जब उसमे भी चित्त उपराम हुआ, तो परमपूज्य प्रातःस्मरणीय निजाध्यापक महामहोपाध्याय पं० **श्री हरिहरकृपालु** गुरुजी महाराज बहुत ढाढस संतोष देकर शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त रखा और पुत्रप्रेम से पढाया। फिर कुछ विचारादि करके इस बीजक का अर्थ मैं कुछ समझ पाया। उसके बाद उक्त गुरुजी महाराज बीजक के विषय में दैवयोग से कुछ पूछ पडे। फिर एक ९०वीं रमैनी का अर्थ सुनाने पर उनकी आज्ञा हुई कि इसकी टीका आप लिखें; तो प्रथम मेरी इच्छा नही थी परन्तु गुरु आज्ञा को शिरोधार्य करके एक हिंदी बृहद् टीका लिखी जिसमें यह भी लिख दिया कि मै इसके बाद कुछ नहीं लिखूंगा। गुरुजी सब टीका बांचते रहे जब वह पंक्ति आई तो उसे काट दिये, और कहे कि यह नहीं निबहनेवाली बात है। फिर फतुहा के महन्तजी महाराज उसे छपवाये, परन्तु वह टीका बहुत विस्तृत होने के कारण सर्वोपयोगिनी नहीं हुई। इससे अपने मन में उसके सुधार की इच्छा हुई। फिर कभी थोडा साखी प्रकरण के श्लोक बनाकर गुरुजी को दिखाया, तो उनकी आज्ञा हुई कि सम्पूर्ण ग्रंथ पर ऐसे ही श्लोक लिख जाइये। फिर उनकी ही आज्ञा को शिरोधार्य करके श्लोक लिखे गये हैं। कोई २ श्लोकों को बांचने सुधारने वास्ते भी श्रीमान् कष्ट उठाये हैं। कोई २ श्लोक छपने से पहले नहीं देख पाये हैं। और कुछ टिप्पण भी नहीं देख पाये हैं। उनके देखने के बाद महामान्य शास्त्री श्रीविचारदासजी साहब ने भी छपते समय भी

यथाशक्ति सुधारा किया है। अपनी भूल अपने को शीघ्र नहीं मालूम होती, इस लिए उक्त महापुरुषों से इसे सुधरवाया गया है। और प्रुफ़ (पूर्वरूप) देखने आदि में श्रीमान् पं० मोतीदासजी तथा श्रीमान् पं० किशोरदासजी ने छपते समय निःस्वार्थ भाव से बहुत सहायता की है। इससे इन महापुरुषों का मैं कृतज्ञ हूं।

सर्वोपयोगिता के वास्ते मैंने अपने मन से बडी टीका के सारभूत हिंदी टीका भी किया है, परन्तु यह सब बात सर्वेश्वर सद्गुरु और उक्त गुरुजी की कृपा से ही हुई है। अपूर्व २ टीका बनी हुई हैं, मैं तो केवल गुरु-आज्ञा का पालन, और इसी द्वारा मनन किया हूँ। जो कोई सज्जन इसमें व्याकरण कोशादि की त्रुटि पायेंगे, सो सुधार लेंगे, और सूचना देंगे कि जिससे द्वितीयावृत्ति में सुधारा हो जायगा। यद्यपि मैं व्याकरण वन के बीच होकर एक बार निकल गया था; परन्तु कोश साहित्यसागर का तो कुछ भी अवगाहन नहीं किया, उसमें कारण है कि बहुत अधिक अवस्था में शास्त्र में प्रवृत्ति हुई। इसने इस ग्रंथ में अशुद्धि रहना आश्चर्य नहीं है। अशुद्धि न होना ही आश्चर्य है। यद्यपि श्रीमान् गुरुजी तथा शास्त्रीजी देखे हैं, तथापि देखने के लिए अधिक अवसर नहीं मिलने से तथा दृष्टिदोषादि से जो अशुद्धि रह गई हों, उसका सुधार के लिए उक्त नम्र निवेदन है। और उनके देखने पर छपते समय भी बहुत हेरफेर किया गया है। इससे मेरी अनवधानता से ही अशुद्धि की आशंका है, इत्यादि।

लोकहित और प्रचार के वास्ते इसे छापने का अधिकार **बडोदा सीयाबाग, कबीर प्रेस** को दिया गया है। इस ग्रंथ के मूल और संस्कृत टीकाटिप्पण में रहे हुए अशुद्ध अक्षरों के सिवाय पाठ में हेरफेर नहीं कर सकेंगे। और फोटो भी इसी प्रकार का रहेगा। भाव को रक्षा करते हुए हिंदी टीका का सुधार कर सकेंगे और यदि मेरा शरीर रहते द्वितीयावृत्ति का अवसर आवेगा, तो हिंदी सुधारा को भी मुझे देखा लेंगे। और सद्गुरु कबीर साहब के उपदेश



पूज्य स्वामी श्री हनूमानदासजी साहेब, षट्शास्त्री

के प्रचार के लिए योग्य मूल्य में अधिकारियों को देंगे। किसी कारणवश जब यह प्रेस नहीं छाप सकेगा, तभी दूसरे सज्जन कबीर प्रेस की अनुमति से छाप सकेंगे, अन्यथा नहीं।

लेखक सर्वजनशुभाकांक्षी, **हनुमानदास**
पो० मु० **स्थान**, फतुहा जि. पटना

नोट- पू० श्री स्वामी साहब की यह भूमिका 'संस्कृत बीजक' के प्रथम संस्करण की है। बाद में आपने अत्यन्त परिश्रम करके यह दूसरा संस्करण, एक रूप से नये ही रूप में, तैयार करके दुबारा छापने की आज्ञा की है और उसी आज्ञानुसार यह संस्करण दो भागों में छापा गया है। पू० श्री स्वामी साहब की यह साहित्यसेवा और जनता जनार्दन की सेवा चिरकाल तक संसार का कल्याण करती रहेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

हमें यह संशोधित परिवर्द्धित संस्करण पू० श्री स्वामी साहब के रहते हुएँ प्रकाशित करने का जो अनुपम सद्भाग्य प्राप्त हुआ है, तदर्थ परम कृपालु सद्गुरु कबीर साहब और पू० स्वामी साहब के भी आभारी हैं।

पं. मोतीदास



॥ सत्यनाम ॥

संशोधकस्यावेदनम् ।



अयि मोक्षमार्गपथिकाः ! किमालोकि भवद्भिः करुणावरुणालयानां संसाराब्धिनिमग्नजीवोद्धरणैकव्रतानामार्य्यानार्य्यसमात्मतत्त्वोपदेशकानां प्रातः स्मरणीयपूतनाम्नां धीराणामाध्यात्मिकवीराणां सद्गुरुकबीराणां विश्वविश्रुतोऽयं बीजकाभिधो ग्रन्थः ?

अत्र हि– द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यविन्यासविभ्रमैः ।
क्रीडन्त्यबुद्धाः शिशवो बोधवृद्धा हसन्ति तान् ॥

तथा– ज्ञाततत्त्वावबोधस्य यथाभूतात्मदर्शिनः ।
बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥

इत्याद्यभियुक्तोक्तदिशा—

अद्वैतं समपेक्षते श्रुतिजुषां द्वैतं परं भेदकृत्,
द्वैतं द्वन्द्वकरं न मोक्षपथिकश्रेयस्करं कर्हिचित् ॥
इत्यालोच्य विशेषतो गुरुवरैस्तत्तद्वचोभिर्मुदा,
द्वैताद्वैतभिदापसारणपरैस्तत्त्वं परं वर्णितम् ॥

परमतत्त्वस्य नितरां निगूढत्वात्तदीयद्वैताद्वैतविनिर्णये.

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥'

(ऋ० सं० २।३।२१।२)

इत्यादिरूपेण वेदमूर्धन्य ऋग्वेदोऽपि संदेग्धि किमन्यस्येत्यलं पल्लवितेन ।

ग्रन्थरत्नस्यास्य हिन्दीभाषोपनिबद्धा बह्व्यस्टीकाः सन्ति । श्रुतिस्मृतिप्रमाणोपबृंहिता श्रीमद्गरीबसाहबपथपथिकेन श्रीबोधानन्देन विनिर्मितास्त्येका

प्रौढा संस्कृतगद्यमय्यप्यस्य व्याख्या। तस्या हि मुद्रितानि सन्ति मत्सविधे द्वित्राण्येव पत्राणि। मन्ये कालहतकेन निरुद्धमुद्रणा सा तावत्पर्यन्तमेव संमुद्रय विनष्टा। परं संस्कृतपद्यमयी न कापि व्याख्यास्याद्य यावद्दृक्पथमवतीर्णा। एतद्विरचनेन श्रीस्वामिहनुमद्दासमहोदयैः संस्कृतज्ञानां महोपकारः कृतः। व्याख्येयं श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिप्रमाणैः संवलिता सरलया सरण्यार्थबोधनपरा च। मन्ये बीजकार्थपारावारस्य परे पारे संयातुं सेतुरूपैव।

> सेतुर्यथा हनुमता जलधेर्व्यधायि,
> पारे प्रयातुमखिलस्य हि संघकस्य॥
> व्याख्या तथेयमखिलार्थसुबोधदक्षा,
> सेतूपमा हनुमता विहिता सुधन्या॥

प्रस्तुतग्रन्थव्याख्यानरूपस्य महानिबन्धस्यास्य संशोधनकार्ये महता प्रेमाग्रहेण स्वामिमहोदयैर्नियुक्तोऽहं यथाशेमुषि संशोधनमकरवम्। तथानुष्ठितेऽपि दृष्टिदोषाद्बुद्धिदोषान्मुद्रणादिदोषाद्वा संजातास्त्रुटयो विज्ञपाठकैः क्षम्यन्तामित्यभ्यर्थयेऽत्रभवतां वशंवदो— विचारदासः

> गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
> हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

शुभमितिवैशाखशुक्ला पूर्णिमा, संवत् १९९६ वैक्रमवत्सरः।



सत्यनाम।

इस ग्रन्थ के श्लोकों के संशोधक का

वक्तव्य।



मोक्षमार्ग के पथिक हे सज्जनो! दया के सागर, संसार-सागर में डूबे हुए जीवात्माओं के उद्धार करनेवाले, आर्य और अनार्यों के लिये समानरूप से आत्मतत्व का उपदेश करनेवाले, प्रातःस्मरणीय पवित्र नाम वाले, धीर और आध्यात्मिक वीर, ऐसे सद्गुरु कबीर साहब के संसार-प्रसिद्ध इस बीजक ग्रन्थ को क्या आप लोगोंने नही देखा है। इस ग्रन्थमें निश्चय से ऐसा बताया गया है कि—

'द्वैत और अद्वैत पक्षसे रचितवाक्य-भ्रम में फँसकर।
अज्ञानी शिशु खेलें उनको ज्ञानी वृद्ध हसें लखकर॥
आत्म-तत्व के जो हैं ज्ञाता यथारूप आतमं जानें।
द्वैत और अद्वैत रहित चिन्मात्रा बुद्धि वे मानें॥
योग वाशिष्ठ ग्रन्थमें ऐसा निर्णय निश्चित है ठाना।
द्वैत और अद्वैत पक्ष सब खेल बालकों का माना'॥

इसी आधार से उठा हुआ यह तर्क अद्वैत पक्ष और द्वैतपक्ष दोनों का इस प्रकार खंडन करता है कि- अद्वैत शब्द, भेद को सिद्ध करनेवाले द्वैत शब्द की अपेक्षा करता है। अर्थात् द्वैत को स्थिर मान कर ही उसके खंडन के लिये अद्वैत शब्द प्रवृत्त हुआ है। और जिस द्वैत को उसने सिद्ध माना है वह द्वैत तो जन्म मरण और शोक मोह आदिक द्वन्द्व को पैदा करने वाला है, इस लिये मुमुक्षुओं का कल्याणकारक कदापि नहीं है। इसी बात का विशेष रूपसे विचार करके सद्गुरु कबीर साहबने अद्वैत और द्वैत दोनों पक्षों के

खंडन करने वाले इस बीजक ग्रन्थके अनेक वचनों से " परमतत्व " का इस प्रकार वर्णन किया है कि—

' एक कहौं तो है नहीं, दोय कहों तो गार ।
है जैसा तैसा रहै, कहैं कबीर विचार ' ॥ (बीजक)

उक्त परमतत्व के अत्यन्त निगूढ होने के कारण उसके द्वैत या अद्वैत के निर्णय करने में वेदों का सिरमौर ऋग्वेद भी इस प्रकार अपना सन्देह प्रकट करता है । फिर दूसरों की तो बात ही क्या है । इस मन्त्र पर सायणाचार्य के भाष्य में लिखा है कि- ' वह परम तत्व अद्वैत रूप है कि द्वैत रूप है इस बात को मैं नहीं जानता हूं, अतएव सन्देह में डूबे हुए मन से वर्तमान हूं । यदि मुझ को प्रथमज (सद्गुरु) प्राप्त होंगे तो मैं इस परम सत्य के रहस्य को हृदयंगम कर सकूंगा ' । इस प्रकार वह परम तत्व अद्वैत रूप है कि द्वैतरूप है, इस का संक्षेप से प्रमाणपूर्वक उल्लेख हो गया । अधिक विस्तार से क्या लाभ ।

रत्नरूप इस बीजक ग्रन्थ की हिन्दी भाषा विरचित अनेक टीकाएँ हैं । गरीब साहब के पन्थवाले गरीबदासी महात्मा श्री बोधानन्दजी की बनायी हुई गद्यरूप एक संस्कृत व्याख्या भी है जोकि श्रुति और स्मृतिओं के प्रमाणों से पुष्ट है । उस संस्कृत टीका के छपे हुए दो तीन ही पत्र मेरे पास हैं । मैं खयाल करता हूं कि दुष्काल ने उसका छपना रोक दिया, इस लिये उतनी सी छपी और नष्ट हो गयी; परन्तु इस बीजक ग्रन्थ की संस्कृत पद्यरूप व्याख्या मेरी दृष्टि में आजतक नहीं आयी । इस लिये इसकी रचना से श्री स्वामी हनुमानदासजी साहेब ने संस्कृत के विद्वानों का महान् उपकार किया है । इसकी व्याख्या भी श्रुति स्मृति पुराण और इतिहासों के प्रमाणों से युक्त है और सीधी तरह अर्थ के समझाने में समर्थ है । मैं मानता हूं कि, बीजकार्थरूप समुद्र को पार करनेवालों के लिये यह व्याख्या सेतुरूप है । जिसप्रकार रामदल को पार कराने के लिये श्री हनुमानजी आदिकों ने समुद्र पर

सतु बान्ध दिया था। इसी प्रकार समस्त बीजकार्थ के बोध कराने में समर्थ श्री हनुमान साहब की यह बीजकव्याख्या सेतुरूप है।

इस बीजकग्रन्थ की व्याख्यारूप में बनाये हुए इन श्लोकों के संशोधन कार्य में मुझे श्री स्वामीजी ने बहुत ही प्रेमाग्रह से नियुक्त किया है। और मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनका संशोधन किया है। इस प्रकार संशोधन करने पर भी दृष्टिदोष से, बुद्धिदोष से अथवा छपने के दोष से जो त्रुटियां रह गयी हों उनके लिए पाठक क्षमा करें। यह प्रार्थना मैं विनम्रभाव से करता हूं।

'चलनेवालों को प्रमादवश, ठोकर भी लग जाती है।
सज्जन कुछ नहिं बोलें इस पर कुजन को हांसी आती है॥'
'भूलचूक सब से हो जाती, नर स्वभाव इसको मानो।
गुणग्राही बन हंसवृत्ति से, गुण उनके उर में आनो॥'

आप सबों का मङ्गलाभिलाषी,
पं० श्री हजूर प्रकाशमणिनामाचार्य कबीरपन्थ
कबीर धर्मस्थान, खरसिया।
छत्तीसगढ़।

॥ शुभम् ॥



॥ सत्यनाम ॥

अनुक्रमणिका ।

सुरहस्य

बीजक।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ

बीजकसुरहस्यम् ।

मङ्गलाचरणम् ।

यस्य स्मरणमात्रेण विघ्नराशिर्विनश्यति ।
तद्रूपं सद्गुरुं वन्दे सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ १ ॥
नैदाघकिरणे वारि यथा यस्मिन्निदं जगत् ।
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥ २ ॥
अनन्तं सच्चिदानन्दं राममद्वयमव्ययम् ।
मायया परमं हेतुमहेतुं जगतो भजे ॥ ३ ॥
यन्मायारचितं विश्वं यत्र तिष्ठति लीयते ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं राम तं संश्रयाम्यहम् ॥ ४ ॥
यस्मिन्मायाविलासेन विविधो विषयो भवेत् ।
सर्वस्याविषयं नित्यं स्वप्रकाशं भजामि तम् ॥ ५ ॥
जातमपि जगद् यस्मिन्नजातमिव वर्तते ।
भातमभातवन्नित्यमेकं रामं भजामि तम् ॥ ६ ॥
यस्मिञ्ज्ञाते भवेज्ज्ञातं सर्वं सदसदात्मकम् ।
द्वन्द्वजालं विनश्येत तं रामं सर्वगं भजे ॥ ७ ॥
मोहं मर्दयते क्षिप्रं यज्ज्ञानं केवलं सदा ।
रागद्वेषादिकं दग्ध्वा कैवल्यं कुरुते क्षणात् ॥ ८ ॥
निर्गुणं तं सदात्मानं सर्वस्यात्मानमद्वयम् ।
भजामि भावनातीतं भीतानां शरणं परम् ॥ ९ ॥

सत चित आनन्द एक जो, अक्षय अमल अनूप।
ताको मन में सुमिरि करि, भाखौं सत्य स्वरूप॥ १॥
श्रीगुरु मोहनदास ते, दीक्षा भिक्षा पाय।
सन्त शरण में जाय कें, लहि विकल्प समुदाय॥ २॥
श्रीगुरु रमितादास ते, पायो बोध अनूप।
ताहीको विस्तर कियो, श्रीहरिहर बुधभूप॥ ३॥
तिनके पद जलजातको, लाय हृदय में ध्यान।
बीजककी टीका लिखूँ, निज बुधिबल अनुमान॥ ४॥
बारहिं बार प्रणाम, गुरुवर सत्य कबीरको।
धारि उक्ति उरधाम, तिलक लिखूँ हित करण हित॥ १॥

अथ उपक्रम॥ १॥

परम निरतिशय नित्य सुख की प्राप्ति को तथा दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को सब जीव चाहते हैं; परन्तु उसके उपाय को नहीं जानने से तथा कर्मवासना आदि के वश उत्कट रागद्वेष मोहादि के वश में पड़ जाने से यह प्राणी अपना मुख्य पुरुषार्थ (मोक्ष) को नहीं सिद्ध करके, दुष्पार अनन्त अनर्थयुक्त दुर्वार संसारसागर के जन्मादि प्रवाह में गिरकर दुःखरूप तरङ्ग से सदा पीड़ित हो रहे हैं। इस दुःख से रहित होने के लिये उपाय को जानना और यत्न करना अति आवश्यक और उचित है। इसीसे श्रीसद्गुरु कबीर साहब ने सुगम सुन्दर उपाय को बताने के लिये 'बीजक' ग्रन्थ का निर्माण किया, जिस में संसार, संसार के दोष, उनके कारण और जीवके स्वरूप, जीवका संसार में रमणादि का वर्णन किया है। कबीर साहब का यह यत्न उपदेश, स्वस्वरूप परमानन्द में स्थिति और रागद्वेषादि जन्य संसारदुःख की निवृत्ति के लिये है। यद्यपि इसलोक तथा परलोक में अज्ञानी जीव सुख समझते हैं, और उसके ही लिये प्रायः उपाय करते हैं,

तथापि विवेकी की दृष्टि, श्रुति स्मृति आदि से संसार में कोई शरीरी सुखी नहीं है ।

' न वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति ' ।

छां० अ० ८।१२।१।

कुत्रापि कोपि सुखीति, तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः ' । सांख्यसू० अ० ६।७-८॥

' परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ' । योगद० पा० २।१५।

यद्यत्प्रीतिकरं पुंसां वस्तु मैत्रेय जायते ।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति ' ॥

विष्णुपु० अंश० ६।५।५५॥

'शरीरी (देही) को देह रहतें तुच्छ सुख और महान दुःख का अभाव नहीं होता' ॥ 'कोई विरला कहीं सुखी रहता है। परन्तु उसका सुख भी दुःख मिश्रित रहता है, इससे विवेकी लोक उस सुख को भी दुःख ही समझते हैं' ॥ परिणामरूप, तापरूप, संस्काररूप दुःख से युक्त होने से, तथा गुण की वृत्तियों का परस्पर विरोध होने से विवेकी की दृष्टि से सब वस्तु दुःखरूप हैं' ॥ 'हे मैत्रेय! जो जो वस्तु पुरुष को सुख देनेवाली होती है, सोई वस्तु नाश वियोगादि काल में दुःख के बीजरूप हो जाती है' ॥

सद्गुरु कबीर साहब ने भी कहा है कि—

' तन धरि सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया ' ।
(बीजक-शब्द १०४)

देवादि सब दुःखी हैं । दुःख का हेतु पाप के सम्बन्ध बिना किसी का शरीर न हुआ, न है; इसीसे इन्द्र ब्रह्मादि में भी रागद्वेषादि सुने जाते हैं । और इच्छा से ही सब संसार है, जबतक इच्छा और उसका हेतु मन है, तबतक किसी प्रकार भी दुःख का अभाव नहीं हो सकता ।

इच्छा ही दुःखरूप और दुःख का हेतु है। शरीराभिमानी को विषय जन्य सुखाभास (मिथ्या सुख) और अनन्त दुःख अवश्य होते हैं। इन दुःखों की, शरीर की अत्यन्त निवृत्ति विना, निवृत्ति नहीं हो सकती। शरीर की निवृत्ति पुण्य पाप की अत्यन्त निवृत्ति विना नहीं हो सकती। और पुण्य पाप की अत्यन्त निवृत्ति रागद्वेषपूर्वक शुभाशुभ कर्मविषयक प्रवृत्ति आदि की निवृत्ति विना नहीं हो सकती। और उक्त प्रवृत्ति आदि की निवृत्ति मिथ्या ज्ञान आसक्ति आदि रूप अज्ञान मोह की निवृत्ति विना नहीं हो सकती। उस अज्ञान मोह की निवृत्ति आत्मानात्म के विवेकादि पूर्वक तत्त्वज्ञान के विना नहीं हो सकती, किन्तु तत्त्वज्ञान से मोह कामादि की निवृत्ति से दुःख की निवृत्ति होती है। तत्त्वज्ञान से संसार देहादि में मिथ्यात्व, अनात्मत्व निश्चय, और सर्वत्र आत्मानुभव होने से अनुकूल प्रतिकूल (इष्ट-अनिष्ट) बुद्धि की निवृत्ति होती है; फिर आसक्तिरूप मोह रागद्वेषादि का अभाव होता है, तब रागद्वेष मोहादि पूर्वक प्रवृत्ति के अभाव से आगामी पुण्य पाप की उत्पत्ति नहीं होती। और पूर्व के संचित कर्मों का ज्ञानाग्नि से नाश होता है।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'॥ मु० २।२।८।

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'। छां० अ० ७।२६।२

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'॥
भ० गी० अ० ४।३७

'अन्य की अपेक्षा से पर (श्रेष्ठ-कारण) भी हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) जिससे अवर (हीन) हैं, तिस ब्रह्मात्मा के अपरोक्ष ज्ञान से हृदय की ग्रन्थि (अध्यास-भ्रम-कामादि) और सब संशय कर्म नष्ट होते हैं'॥ 'आत्मस्मृति (ज्ञान) के लाभ (प्राप्ति) से अज्ञान काम कर्मादि सब

हृदय की ग्रन्थियों का नाश होता है ' ॥ ' हे अर्जुन ! जैसे संदीप्त अग्नि लकड़े को भस्म करती है, तैसे ही ज्ञानाग्नि सब संचित कर्मों का नाश करती है ' ॥

सद्गुरु कबीर साहब ने भी कहा है कि,

' आगि जो लागि समुद्र में, जरे सकादो झारि ।
पूर्व पछिम के पण्डिता, मुये विचारि विचारि ' ॥
(बीजक-साखी ७१)

प्रारब्ध कर्म की भोग से निवृत्ति होती है ।

' तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये ' । छा० ४।६।२

' अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ' । ब्रह्मसू० अ० ४ । १५ ।

' नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ' ॥
श्रीकृष्णजन्मख० अ० ८५।३६

' ज्ञानी की विदेहमुक्ति में तबतक देर है, जबतक प्रारब्ध से मुक्त नहीं होता है । प्रारब्ध के नष्ट होने पर ज्ञानी ब्रह्मरूप हो जाता है ' ॥ ' प्रारब्ध भिन्न शुभाशुभ कर्म ज्ञानाव्यवहित उत्तर काल में स्वरूप से नष्ट होते हैं । प्रारब्ध कर्म मरण तक संस्कार चक्रवेग की नाईं रहता है' ॥ ' प्रारब्ध रूपता को प्राप्त कृत कर्म अवश्य भोगना पड़ता है । भोगने विना कल्पों के करोड़ों सौ बीतने पर भी नहीं नष्ट होता ' ॥

साहब ने भी कहा है—

' जब लगि स्वांस रहै घट भीतर, तब लगि कुशल परी हैं गे ।
कहहिं कबिर जब स्वांस निसरि गौ, मन्दर अनल जरी हैं गे ' ॥
(बीजक-कहरा ३)

संचित, आगामी, प्रारब्ध तीनों प्रकार के कर्मों की ज्ञान से निवृत्ति होती है । कोई भी कर्म ज्ञानी के बन्धन के लिये समर्थ नहीं होता ।

इस सामान्य अर्थ का वर्णन—

'अंकुर 'ते' बीज बीज ते अंकुर, अंकुर बीजहि सुधारै।
काया ते कर्म कर्म ते काया, (कोइ) विरला जन निरुआरै'॥
(बीजक–साखी ३५०)

इत्यादि वचनों से किया गया है। ज्ञान से साधन सहित कर्म का बाध (मिथ्यात्व–मायिकत्व निश्चय) होता है, सो सत्शास्त्र में प्रसिद्ध है। इससे तत्त्वज्ञान से तीनों प्रकार के शुभाशुभ कर्म की निवृत्ति सिद्ध होती है। और भुना हुआ बीज की नाईं ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म भोग का हेतु तो होता है, परन्तु जन्मादि अंकुर का हेतु नहीं होता। युक्ति अनुभव से भी यही अर्थ सिद्ध होता है; क्योंकि संसार वासनामूलक है, और ज्ञानी की वासनायें समूल नष्ट हो जाती हैं। इससे तत्त्वज्ञान अज्ञान की निवृत्ति द्वारा रागद्वेष कर्मादि सब अनर्थ की निवृत्ति का हेतु है, और रागद्वेषादि दुःखान्त अनर्थ की निवृत्ति होने पर स्वरूपानन्द सब प्राणी को प्राप्त ही है। इससे प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। केवल गौण व्यवहार मात्र होता है कि, इस महात्मा को अनुभव से आनन्द प्राप्त हुआ है, इत्यादि।

सत्शास्त्र के विचारादि से सिद्ध होता है कि, स्वात्मसाक्षात्कार पूर्वक स्वरूप में स्थिति ही सब अनर्थ की निवृत्ति, परमानन्द की प्राप्ति स्वरूप है, अर्थात् तत्त्वज्ञान और मोक्ष में काल का व्यवधान नहीं होता। तत्त्वज्ञान के प्राप्तिकाल में ही पुरुष मुक्त होता है। जैसे अन्धकार की निवृत्ति और प्रकाश का काल भिन्न नहीं होता है। तैसे ही प्रतिबंध रहित तत्त्वज्ञान और अविद्या, अविद्यामय दोष प्रवृत्ति आदि की निवृत्ति में कालभेद नहीं होता है।

तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च'॥
बृ० १।४।१०

'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'। बृ० २।५।१९
'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'। छां० २।२३।१

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति'। मुण्डक० ३।२।९

'तत्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति'॥
बृ० सम्बन्धवा० श्लो० १८२

'वामदेव ऋषि ने ब्रह्मात्मा को देखते ही, मैं ही मनु सूर्यादि हुआ, इस प्रकार सर्वात्मता के बोधक मन्त्र की प्राप्ति किया'॥ 'यह साक्षी आत्मा सबको जानने वाला ब्रह्म है'॥ 'ब्रह्मनिष्ठ पुरुष मुक्त होता है'॥ 'ब्रह्म को जानते ही पुरुष ब्रह्म होता है। शोक पाप को तर जाता है, हृदयग्रन्थि रहित मुक्त होता है'॥ 'तत्त्वमसि आदि वेदवाक्य गुरुवाक्य से सम्यग् ज्ञान होते ही कार्य सहित अविद्या के त्रैकालिक अभाव का निश्चय होता है। अविद्या और संसार में रज्जु-सर्प, तन्तु द्वारा नटकृत आकाशगमनादि की नाईं त्रैकालिक मिथ्यात्व का बोध होता है'॥

सद्गुरु साहब ने भी कहा है कि—

'यह मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।
जिहि बैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान'॥
(बीजक-सा० ३३२)

• इससे ब्रह्मात्मा का अपरोक्ष ज्ञान मोक्ष का साक्षात् साधनरूप वा मोक्षरूप ही सिद्ध होता है, और उस ज्ञान के अहिंसादि शुभ कर्म, शुभ उपासना, शुभ भक्ति, सत्संग, विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्त्वं पदार्थ (ईश्वर जीव के स्वरूप) का शोधन; ये साधन हैं॥ १॥

अथ कर्मविभाग ॥ २ ॥

तहाँ कर्म नाम क्रिया का है, कर्म ही को व्यापार भी कहते हैं। मानस कर्म को यत्न कहते हैं। शरीर वाक् मन तीनों से कर्म होता है। वाक् भिन्न इन्द्रियजन्य कर्म को शरीर का ही व्यापार मानते हैं। इससे शारीरिक, वाचिक, मानसिक तीन प्रकार के कर्म कहे जाते हैं। फिर विहित, प्रतिषिद्ध भेद से दो दो प्रकार के कर्म होते हैं। सत्शास्त्र में जिसका विधान (करने के लिये आज्ञा) हो उसको विहित कहते हैं। और जिसका निषेध हो उसे निषिद्ध कहते हैं। भगवान् मनुने कहा है कि–

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः'॥

म० अ० ११।१२

विहित कर्म के न करने से और प्रतिषिद्ध के करने से प्रायश्चित्त कर्म के योग्य मनुष्य होता है। तहाँ शरीर से हिंसा, चोरी, निषिद्ध मैथुन; वचन से झूठ, क्रूर, चुगली (पैशुन्य), असंबन्ध प्रलाप और मन से परद्रोह (परापकार), परद्रव्य की इच्छा, नास्तिकता; ये सब निषिद्ध (पाप) कर्म होते हैं। इनसे स्वर्ग मोक्षादि का प्रतिबन्ध होता है, नरक दुःखादि की प्राप्ति होती है; इससे मुमुक्षु सज्जन इनसे दूर रहे, और इन कर्मों में प्रवृत्त पुरुषों के संगादि को त्यागे; हो सके तो इन कर्मों का त्याग करावे। कुकर्म त्याग कराकर सुकर्म कराना महा उपकारक कर्तव्य धर्म है। शरीर से दान, सेवा, रक्षा; वचन से सत्य, प्रिय, हित, मधुर बोलना, वेदादि का पढना; मन से दया, अनिच्छा, श्रद्धा; ये विहित कर्म हैं। सो,सकाम को स्वर्गादि के और निष्काम को अन्तःकरण की शुद्धि आदि द्वारा ज्ञान मोक्ष के हेतु होते हैं। इससे सामर्थ्यादि के अनुसार करने कराने योग्य हैं। साधारण असाधारण भेद से भी कर्म दो प्रकार के होते हैं। मनुष्य मात्र के लिये विहित हो, सामान्य फल के हेतु हो,

उसे साधारण कहते हैं। और ब्राह्मणादि विशेष मनुष्य के लिये या विशेष फल के लिये विहित हो, उसे असाधारण कहते हैं। यहाँ साधारण कर्म बोधक वचन है कि,

'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः'। छा० ७।२६।२

'अहिंसासत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः' ॥
श्रीमद्भा० स्क० ११।१७।२१

सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः ।
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते' ॥
म० भा० शा० अ० १४२।२८

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां साधनं स्मृतम्' ॥
याज्ञवल्क्य स्मृ० अ० १।१२२

'आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है, चित्तकी शुद्धि से आत्मधर्म का ज्ञान यादगारी धारणादि होते हैं' ॥

'अहिंसा, सत्य, अचोरी, अकाम, अक्रोध, अलोभ, प्राणियों के प्रिय हित करना ये सब वर्णों के धर्म हैं' ॥

'सब पर दयावान, सबसे नम्रतावाला, सब में आत्मदृष्टिवाला, पुरुष धर्मयुक्त होता है' ॥

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दया, दम, क्षमा, सब के शुभ का साधन है' ॥

असाधारण कर्म धर्म का विस्तार शास्त्र विचारादि से जानने योग्य है। और दृष्टार्थक, अदृष्टार्थक, दृष्टाऽदृष्टार्थक भेद से भी कर्म तीन प्रकार के होते हैं। जिनका प्रत्यक्ष पशुपुत्रादि फल हो, वे दृष्टार्थक हैं। जैसे पुत्रेच्छा से पुत्रेष्टि और वृष्टि की इच्छा से वृष्टिकारी यागादि किये जाते हैं। जिनके परोक्ष स्वर्गादि फल हो सो अदृष्टार्थक हैं। जैसे दर्शपौर्णमासादि

हैं। जिनके प्रत्यक्ष परोक्ष दोनों फल हों, सो दान गुरुभक्ति आदि दृष्टादृष्टार्थक हैं।' अथवा,

'सर्वेभ्यः कामेभ्यः दर्शपूर्णमासौ। चित्रया यजेत पशुकामः'।

'साध्यत्वमेव पश्वादेः शब्देन प्रतिपाद्यते।
अमुत्र वेह वेत्येवं नास्ति शब्दो नियामकः'॥

'दर्श पूर्णमास सब काम को सिद्ध करते हैं। चित्रा नामक याग से पशु की प्राप्ति कर। इस कथन से पशु की सिद्धि कही जाती है, सो इस जन्म में वा जन्मान्तर में होती है। इसी जन्म में वा जन्मान्तर में ही पशु होवे, इस अर्थ का कोई नियामक नहीं है॥' इस श्रुति मीमांसा कथनों के अनुसार सिद्ध होता है कि दर्शपूर्णमास चित्रायाग भी प्रयोग भेद से दृष्टादृष्टार्थक हैं। इसी प्रकार मीमांसा में कर्मांग व्रीहिप्रोक्षण, [1]अवघातादि में अदृष्टार्थकता दृष्टार्थकता आदि का वर्णन है। और नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त भेद से कर्म चार प्रकार के होते हैं। उनमें नैमित्तिक और प्रायश्चित्त को एक मानने पर नित्य, नैमित्तिक, काम्य; ये तीन भेद रहते हैं। तहाँ जिस कर्म के नहीं करने से पाप हो और करने से पाप की अनुत्पत्ति ही मुख्य फल हो, अन्य फल आनुषंगिक (गौण) हो, उसको मीमांसक नित्य कर्म कहते हैं। जैसे नित्य संध्यावन्दनादि हैं। वेदान्त ग्रन्थ में लिखा है कि नित्य कर्म के अकरणरूप अभाव से भावरूप आगामी दुःख की उत्पत्ति असम्भव और सर्व प्रमाण से विरुद्ध है। इससे नित्याकरण कालिक निषिद्ध कर्मों से पाप दुःख होता है, और नित्य कर्म नहीं करने से संचित अशुभ कर्मों की निवृत्ति नहीं होती है, इससे आगामी दुःखरूप प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न होते हैं। यद्यपि नित्य कर्मों से भी संचित अशुभ सब कर्मों का ज्ञान विना नाश नहीं होता, तथापि उनका अभिभव (तिरस्कार) होता है। लिखा है कि,

१ कूटना आदि।

'शुभाऽशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम्।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम्॥
तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम्।
वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान्'॥
म० भा० शा० अ० ३५।४-४१

'पांच भूत साक्षी सहित शुभाशुभ कर्मफल को मनुष्य मरने पर पाता है। शुभ अशुभ में जो जब अधिक हो जाता है, उसीके फल को कर्मकर्ता उस समय पाता है। इससे भूल आदि से यदि अशुभ कर्म हो जाय तो दान, तप आदि कर्म करके शुभ को बढ़ावे; जिससे अशुभ की अपेक्षा शुभ अधिक हो जाय। और काम्य निषिद्ध का त्यागपूर्वक नित्य नैमित्तिक को अच्छी तरह सेवन से अन्तःकरण की शुद्धि गुरुकृपा ज्ञान की प्राप्ति होने से अशेष कर्म की निवृत्ति होती है।

सद्गुरु साहब ने कहा है कि,

'तब लगि तारा जगमगे, जौं लगि उगै न सूर।
तौं लगि जीव कर्मवशी, जौं लगि ज्ञान न पूर'॥
(बीजक-सा० २०८)

जिसको नित्य कर्मादि से पूर्ण विवेक, वैराग्य, मुमुक्षुता हो जाय, तथा आत्मानुभव हो जाय, सो उक्त कर्मों को भी त्याग कर शम दमादि परायण, आत्मयोगनिष्ठ रह सकता है। अन्य को उक्त कर्म करना ही ठीक है।

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमिष्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमिष्यते'॥
भ० गी० अ० ६।३

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति'। बृ० अ० ४।४।२३

'बुद्धियोग ध्यानयोग में आरूढ (स्थिर) होने की इच्छावालों के लिये कर्म साधन है, और योगारूढ होने पर शम (उपरामता) ही दृढता का

साधन है'॥ इससे शमदमादि युक्त होकर अपने ही में अपने स्वरूप को देखता है' इत्यादि।

जिस कर्म का विधान (विधि) सब दिन के लिये नहीं हो, किन्तु किसी विशेष निमित्त (कारण) से विधि हो उस कर्म को नैमित्तिक कहते हैं। जैसे श्रेष्ठ वृद्ध गुरुजन के आगमन निमित्त से उत्थान (आसन पर से ऊठ जाना) सत्कार पूजा आदि हैं। आपत्ति से आपत्-धर्म हैं। आहिताग्नि (अग्निहोत्री) का गृहदाह निमित्त से [1]अष्टाकपाल नामवाला हविष का अग्नि में हवन कर्म है। नैमित्तिक कर्म से भी पुण्य अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इससे सामर्थ्य देश कालादि के अनुसार अवश्य कर्तव्य है।

जो किसी सुख वा सुखसाधन की प्राप्ति के लिये विहित हो उसे काम्य कर्म कहते हैं। जैसे स्वर्ग की इच्छावाला के लिये दर्शपूर्णमास याग विहित है। और ब्राह्मण के लिये यज्ञ करना, पढ़ाना, दान लेना; राजा के लिये राज्य पालनादि; वैश्य के लिये कृषिवाणिज्यादि; शूद्र के लिये सेवा आदि हैं। तथा विवाहादि सब कर्म काम्य हैं। इससे जीविका संतान विषयसुख की कामनावाले को ही इन कर्मों में अधिकार है, विरक्त को इन कर्मों के त्याग में अधिकार है। काम्य कर्म ज्ञान के विरोधी हैं, इससे जिज्ञासु के लिये हेय (त्यागने योग्य) हैं। शरीरयात्रा (निर्वाह) मात्र करना जिज्ञासु को भी उचित है। कामासक्ति ही बाधक है, तथा विशेष (अधिक) प्रवृत्ति ज्ञान की बाधक है। हिंसा दंभादि रहित अध्यापन (पढ़ाना), याजन (यज्ञ कराना), पालनादि वा अन्य सब ही शुभ कर्म, परोपकारादि दृष्टि से वा स्वकर्तव्य दृष्टि से निष्काम होकर करने पर अज्ञ जीव को अन्तःकरण की शुद्धि के हेतु होते हैं। और ज्ञानी के लिये भी विशेष बाधक नहीं होते हैं। इससे अज्ञ को परोपकारादि अवश्य

---

१ मृत्तिका के आठ पात्र में पकाया हुआ खीर।

कर्तव्य हैं। ज्ञानी के लिये विधि नहीं है, परन्तु निषेध भी नहीं है। इससे उपदेशादि द्वारा पर उपकार कर सकते हैं।

'शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्त '॥
विवेकचूडामणिः

स्वयं भयानक संसार से पार हुए, और विना कारण के दूसरे मनुष्य को भी पार करते हुए, शान्त महान् सन्त लोक वसन्त ऋतु की नाई लोक का हित करते हुए लोक में बसते हैं। इत्यादि

भूल प्रमादादि से हुए पाप की निवृत्ति के लिये विहित कर्म को प्रायश्चित्त कहते हैं। जैसे विशेष जप, दान, सेवा, व्रतादि हैं। इसके साधारण असाधारण दो भेद हैं। ईश्वर के नाम ध्यानादि और आत्म-चिन्तनादि साधारण हैं। सो हिंसादि के त्याग पूर्वक सब मनुष्य के लिये कर्तव्य हैं। इनसे ज्ञात अज्ञात सब पापका अभिभव (तिरस्कार) होता है। असाधारण भी सदाचारादि के अनुसार यथायोग्य कर्तव्य हैं, इससे चित्त की शुद्धि ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान के प्रतिबन्धक तथा लोक विरुद्ध निन्दित कर्म सदा हेय हैं। यदि लोक अज्ञान रागादि वश कल्याण मार्ग के सुकर्म की निन्दा करता हो, और विचारवान् महात्माओं की दृष्टि से वह निन्दित नहीं हो, तो लोकनिन्दा सह कर भी उसी मार्ग और कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। भर्तृहरि ने कहा है कि, लोकनिन्दा या स्तुति करे, प्राण रहे या जाय, लक्ष्मी आवे वा जाय; परन्तु धीर पुरुष न्यायमार्ग से नहीं हटते हैं।

'कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहो दम्भस्तथैव च ।
आलस्यमपि मात्सर्य्यं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥
अक्षद्यूतविनोदश्च नृत्यगीतेषु मोहनम् ।
अपशब्दप्रयोगश्च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥

पुत्रमित्रगृहक्षेत्रभ्रातृबन्धुजने रतिः।
अरतिर्गुरुपादे च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम्' ॥
सूतसं० मुक्तिखं० अ० ६।६-२२-२४

'द्यूतं च मद्यं पिशितं च वेश्या पापार्द्धि चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति' ॥
सूक्तावली.

'विकर्मणा तप्यमानः पापाद्धि परिमुच्यते।
न तत्कुर्यात्पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते' ॥
म० भा० वनप० अ० २०७।५१

'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'।
योगद० पा० २।२८

इन वचनों के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोह (आसक्ति), दंभ (वञ्चकता), आलस, मात्सर्य (अन्य के शुभ से द्वेष), जूआ, नाच गान में आसक्ति, दुष्ट शब्द, पुत्र मित्र गृह खेत भाई बन्धु आदि में आसक्ति, गुरुचरण में अप्रीति; ये ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं, सो सब ज्ञान की अप्राप्ति के हेतु प्रत्यक्ष पापरूप हैं। और जूआ, मद्य मांस भक्षण, वेश्यागमन, पापार्द्धि (हिंसा-शिकारादि), चोरी, परस्त्रीगमन; ये सात व्यसन कठिन से कठिन नरक में ले जाते हैं। इन पापों का अन्य प्रायश्चित्त नहीं हो सके तो इनका यत्न से त्याग कर के इन कुत्सित कर्मों से ग्लानि करे, तो वर्तमान प्रत्यक्ष पाप से छूटता है, और फिर नहीं करने से आगामी दूसरे पाप से छूटता है। इस प्रकार ज्ञान की अनुत्पत्ति के हेतुरूप कर्मों को त्याग कर, और ग्लानि (पश्चात्ताप) रूप प्रायश्चित्त करके यम नियमादि रूप योग के अंग (साधन) के सेवन से पापादि रूप अशुद्धि का क्षय होता है, और विवेक ज्ञान पर्यन्त ज्ञान की प्राप्ति होती है, इससे यह परमोपयोगी प्रायश्चित्त है। ये चार विहित कर्म के भेद हैं। तत्तत्कामादि भेद से तो कर्म अनन्त हैं। निषिद्ध के भी महापातक, सामान्य पातक, उपपातकादि कितने ही भेद हैं। तहाँ,

'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह' ॥

मनुः अ० ११।५५

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च ।
एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति '॥

छा० अ० ५।१०।९

ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्राह्मण की हिंसा, मद्यपान, चोरी, और मातृगमन महापातक हैं । और इन महापातकियों का संग भी महापातक है । सोना की चोरी और मद्यपानादि से मनुष्य धर्मपतित होता है इत्यादि ॥ इन पापों के ही समान, अपनी जाति दुर्वृत्त दुराचार छिपा कर श्रेष्ठ बनना, राजा आदि से चुगली करके किसी की हिंसा करवाना, गुरु में मिथ्या दोष लगाना, धरोहर को हरना, सत्शास्त्र उपदेश की निन्दा, झूठ गवाही, अपवित्र निन्दित अन्नभक्षण, दुहिता (लड़की), कुमारी गमनादि हैं १ गोवधादि उपपातक हैं । इन पापों को जानबूझ कर करने से ये अति कठिन दुःख के हेतु होते हैं । ज्ञात पाप की प्रायश्चित्त से भी निवृत्ति (अभिभव) नहीं होती । यद्यपि शास्त्रकारों ने प्राणान्तादि प्रायश्चित्त बताया है, तथापि इनकी कठिनता रूप गुरुता का भी वर्णन किया है ।

'जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात्स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते' ॥

म० भा० शा० अ० ३५।४५

ऐसा होने पर भी पाप से ग्लानि, पाप के सर्वथा त्याग पूर्वक सत्पुरुष की शरणागति, सत्पुरुष की आज्ञा का पालन, अभिमान का त्याग, अपने अवगुणों पर सदा ध्यान, पराये दोष का अदर्शन, साधुसेवा, कुछ शान्ति होने पर आत्मानात्म के विचार ध्यानादि से सब पाप का अभिभव-नाश होता है । यदि सत्संगादि से विमुख नहीं होवे; दया, परोपकार

परायण, सदा पाप से विमुख होवे तो अवश्य ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अद्रोह, लज्जा, दया, यथाशक्ति दान, अकामादि मनुष्य के लिये सदा विहित हैं, परन्तु आश्रमादि के भेद से इनके अनुष्ठान में भेद हो जाता है। संन्यासी के बराबर गृहस्थ अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। सज्जन के तुल्य चोर के साथ सत्य का व्यवहार नहीं चल सकता इत्यादि। सत्संग विचारादि सदा सब के लिये विहित सुखद और पापनाशक हैं। यद्यपि राजा आदि के लिये दुष्ट का वध विहित है, तथापि उसका अहिंसा ही उद्देश्य (फल) है। क्योंकि दुष्ट को दण्ड नहीं कर करने से दुष्टों द्वारा हिंसा की वृद्धि, धर्मादि का लोप (अभाव) होता है। विवाहादि में जो मिथ्यादि कथन की आपत्ति में ब्राह्मण के लिये चोरी की शास्त्र में आज्ञा है, सो विधिरूप नहीं है, किन्तु उस समय झूठ चोरी में दोष का अभाव मात्र कहा है, इससे यह सिद्ध हुआ कि अहिंसादि सदा सब मनुष्य के लिये धर्म रूप हैं। और हिंसा आदि निषिद्ध पापरूप हैं। विना हिंसा किये प्रजापालन हो सके तो राजा के लिये भी हिंसा उचित नहीं है, इत्यादि।

सद्गुरु साहब ने कहा है कि,

'कबीर दुर्मति दूरि करु, अच्छा जन्म बनाव।
काग गमन बुधि छोड़ि दे, हंस गमन चलि आव॥
मनका दौर अनेक है, तीन लोक पगु एक।
बलिहारी तिहि सन्त के, मन को राखे टेक'॥
'जैसी कहै करै जो तैसो, राग द्वेष निरुआरै।
ता महँ घटै बढै रतियो नहीं, यही विधि आपु समारै'॥
आपा तेजै हरि भजै, नख शिख तजै विकार।
जीवन ते निर्वैरता, साधुमता है सार'॥
(बीजक–सा० २५१ आदि १९१)

अथ कर्मविचार ॥ ४ ॥

कोई यहां शंका करते हैं कि, अहिंसा आदि के तप रूप होने से मनुष्य मात्र के लिये नहीं हो सकते; क्योंकि शूद्र के लिये भी स्मृति में तप का निषेध है, अन्त्यजादि के लिये तो कहना ही क्या है ?

'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते' ॥

भ० गी० अ० १७।१४-१६

'क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते' ॥

म० भा० आश्वमे० प० अ० ४८।७

देव द्विज गुरु विद्वान की पूजा, पवित्रता, ऋजुता (अकुटिलता), ब्रह्मचर्य, अहिंसा; दैहिक तप है। अनुद्वेग कारक, सत्य, प्रिय, हित बोलना, वेदादि को पढना; वचन का तप है। मन में स्वच्छता, शान्ति, सौम्यभाव (हितैषिता), मौन (परिमित भाषण), मन का विषय से निरोध, कपटादि का त्याग; मानस तप है। क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, नम्रता, ज्ञान, दान, संन्यास; ये सात्विक वृत्तियाँ सतोगुणी, श्रेष्ठ पुरुषों में ही होती हैं। मन तथा इन्द्रियों को बाहर से रोक कर आत्मा और सत् मार्ग में स्थिर करना परम तप श्रेष्ठ धर्म है। सो लिखा है कि,

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः परमो मतः' ॥

ब्रह्मपु० अ० ३०।१८

तप आदिका निषेध शूद्रादि के लिये इस प्रकार है,

' जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम् ।
देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ' ॥

अत्रिस्मृ० १३६

जप, तप, तीर्थयात्रा, संन्यास, मंत्र सिद्ध करना, देवपूजा; ये छौ स्त्री और शूद्र के लिये पतनरूप हैं, इत्यादि। इससे सिद्ध होता है कि, स्त्री और शूद्र के लिये जप आदि निषिद्ध हैं। और,

' न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ' ॥

मनु० अ० १०।१२६

अभक्ष्य भक्षणादि से शूद्र को पाप नहीं होता, तथा शूद्र संस्कार योग्य नहीं है; इससे सिद्ध होता है कि शूद्र मांसादि खावे तो कोई दोष नहीं है। न उसे संस्कार से कोई प्रयोजन है, और अध्ययनादि का भी शूद्र के लिये निषेध है, उसके प्रति उपदेश देने का भी निषेध है। और अध्ययन उपदेश के बिना तप आदि का ज्ञान अनुष्ठान (व्यवहार) नहीं हो सकता। श्रीरामचन्द्रजी ने तपस्वी शूद्र को अधर्मी समझ कर मारा था, सो कथा भी प्रसिद्ध है। इससे भी शूद्रादि को ज्ञान तप आदि में अधिकार नहीं है, इत्यादि। अन्यथा सब के तपस्वी हो जाने से लोक-व्यवहार भी लुप्त हो जायंगे, इत्यादि ॥ इस शंका का समाधान है कि, मनुष्यमात्र के लिये सामान्य और विशेष धर्म शास्त्रों में वर्णित हैं, और स्वधर्मानुष्ठान ही तप है, सो शूद्र के लिये भी अवश्य हैं। आपके कथनानुसार भी ईश्वर का भजन, सत्य, अस्तेय, शान्ति, भावशुद्धि, आदि का शूद्रादि के लिये निषेध नहीं है। अहिंसा आदि का भी निषेध नहीं कहा जा सकता, अन्यथा ब्राह्मणादि की हिंसा मनुष्यादि के मांस भक्षणादि से भी दोषी नहीं समझा जायगा। इससे सामान्य तप आदि का भी शूद्रादि के लिये निषेध समझना अज्ञान है। शूद्रादि को भी अपने कल्याण के लिये यथाशक्ति अहिंसा आदि का पालन उचित (धर्म) है।

'गुणवान्निर्गुणो जात इत्यनर्थक्रमं विदुः ।
निर्गुणो गुणवाञ्जात इत्याहुः सिद्धिदं क्रमम्'॥

योगवा० उपशमप्र० स० ३३।४

'यस्मिन् श्रुतिपथे प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते ।
आनन्दं यान्ति भूतानि जीवितं तस्य शोभते'॥

स० ३९

'ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम्'॥

म० भा० वनप० अ० २००।१७

'अपि चेत्सुदुराऽऽचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्'॥

भ० गी० अ० ९।३०-३२

गुणवान् देव ब्राह्मणादि यदि निर्गुण (हिंसादि परायण) हो जायँ, तो महात्मा लोक उसे अनर्थ का क्रम (आरम्भ) जानते हैं। निर्गुण दैत्य शूद्रादि अहिंसा आदि गुणवाले हो जायँ तो उसे कल्याण का क्रम जानते हैं। जिस गुणयुक्त के सुनने देखने, याद करने से प्राणी आनन्द पाते हैं, उसी दयालु अहिंसक का जीवन सुन्दर है। जो कोई मनुष्य मन वचन शरीर से पाप नहीं करते वे ही महात्मा तप करते हैं। शरीर को सुखाने वाले नहीं करते; क्योंकि शरीर का शोषणमात्र तप नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णदेव आत्मदृष्टि से कहते हैं कि, हे अर्जुन ! अत्यन्त दुराचारी भी दुराचार को त्याग कर यदि अनन्य बुद्धि से (अन्य की भक्ति को त्याग कर अभेद बुद्धि से) मुझे (ईश्वर को) भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये॥ हे पार्थ ! (अर्जुन !) पापयोनिवाले अन्त्यजादि तथा स्त्री वैश्य शूद्र भी मेरी शरण लेने पर परम गति (मुक्ति) पाते हैं।

इन कथनों से सिद्ध होता है कि अहिंसादि तप रूप हैं, तोभी इनमें मनुष्य मात्र का अधिकार है, ये सब के लिये कल्याणकारक हैं, जो इनका सेवन करता है सोई श्रेष्ठ धर्मात्मा पवित्र ज्ञानाधिकारी है। और सब जाति के मनुष्य में दिव्य, अदिव्य, दिव्याऽदिव्य; ये तीन भेद होते हैं। कोई स्वभाव से ही अहिंसा सत्य विचारादि की अभिरुचिवाला दिव्य होता है, कोई हिंसा असत्य व्यभिचारादि में अभिरुचिवाला अदिव्य होता है। समय भेद से शुभाशुभ दोनों इच्छावाला दिव्यादिव्य होता है। इन अदिव्य तामसी के विषय में सद्गुरु कबीर साहेब ने कहा है कि,

'मूरख के समुझावते, ज्ञान गांठिको जाय।
कोयला ह्वे न ऊजरो, सौ मन साबुन लाय'॥

बीजक–सा० १५४

अर्थात् अत्यन्त तामसी अहिंसादि रूप तप आदि के उपदेश का अधिकारी नहीं है। किन्तु राजभयादि से ही वह लोकमर्यादा आदि का पालन करता है, फिर भी मौका पाने पर पाप करता ही है, और उसका फल भोगता है। कभी भोग से पाप के घटने पर वह भी सत् उपदेश से सत् मार्गगामी हो सकता है, अन्यथा नहीं। उस तामसी स्त्री वा पुरुष के प्रति यदि तप आदि का उपदेश दिया जाय, तो वह प्रमाद लोभादि बश उसकी प्रक्रिया को बिगाड़ कर पाप ही करता है, जिससे पतन नाश को पाता है। जैसे भस्मासुरादि तप करके नष्ट हुए। तामसी जीव मारणादि के लिये जप तप करता है। चोरी व्यभिचारादि के लिये तीर्थादि में जाता है। साहब ने कहा है कि,

'तीरथ गये तेई जना, चित खोटा मन चोर।
एको पाप न काटिया, लादिन मन दश और'॥

बीजक–सा० २१९

तामसी उपदेशक–गुरु–अध्यापक का ही तिरस्कार-अनादर करता है। इससे पारलौकिक भयादि द्वारा ही उसे धीरे धीरे मार्ग पर लाया जा

सकता है । विशेष तप ज्ञानादि का उपदेश उसके लिये उचित नहीं हो सकता । इसी आशय से शास्त्र में उसके प्रति उपदेशादि का निषेध किया गया है । और दिव्य पुरुषों के विषय में महात्मा की वाणी है कि,

'हरिजन चार बरण से ऊंचा ।'

यही तात्पर्य वज्रसूचिकोपनिषद् का भी है ।

'सत्यं ज्ञानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः' ॥

म० भा० शा० अ० १८९।४-८

'सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्' ॥

वनप० अ० १८०।२१-२६

'शूद्रोपि शीलसम्पन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत् ।
ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद्धीनतरो भवेत् ॥
निवृत्तः पापकर्मभ्यो ब्राह्मणः स विधीयते' ॥

भविष्यपु० प० १ अ० ४४।३०-३१

'उत्तमो नीचसंसर्गाद् भवेन्नीचस्तु जन्मना ।
नीचो भवेन्नोत्तमस्तु संसर्गाद् वापि जन्मना ॥
कर्मणोत्तमनीचत्वं कालतस्तु भवेद्गुणैः' ॥

शुक्रनीतिः । अ० ४।३।१४-१५

सत्य, दान, अद्रोह, अक्रूरता, कुकर्म से लज्जा, दया, तप; ये जिसमें हों वह ब्राह्मण है । ये लक्ष्य (गुण) शूद्र में हो, और ब्राह्मण में नहीं हो,

तो वह शूद्र शूद्र नहीं, और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं। हे नागेन्द्र! जिसमें सत्यादि दीख पड़े वह ब्राह्मण है। जिसमें सत्यादि व्यवहार हो उसे ब्राह्मण कहा गया है। इससे जिस में सत्यादि नहीं हो, उसे शूद्र कहना चाहिये॥ शीलयुक्त शूद्र भी नाममात्र के ब्राह्मण से श्रेष्ठ होता है, आचार रहित ब्राह्मण उस शूद्र से हीनतर हो जाता है। क्योंकि पाप कर्म से रहित को ही ब्राह्मण कहा जाता है। उत्तम पुरुष नीच के संगादि से नीच हो जाता है, परन्तु नीच जाति के मनुष्य उत्तम के संग वा जन्ममात्र से उत्तम नहीं होते; कर्म से तो शीघ्र ही उत्तम होते हैं, गुण विशेष से कुछ काल में होते हैं। इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि सात्विक शूद्रादि को भी अहिंसा व्रतादि रूप तप में, दानादि में, विचार सत्संगादि में अधिकार है, और अहिंसा आदि सब के कल्याणकारक हैं। दिव्य गुण से ही भगवान् वेदव्यास दासीपुत्र होते हुए भी उत्तम हुए। धर्मव्याध ब्राह्मण का भी उपदेशक बना, भीलनी भगवान रामचन्द्र की दृष्टि में आदरणीया हुई, इत्यादि।

'जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः।
शुक्याः शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्'॥

भविष्यपु० प० १ अ० ४२।२२

कैवर्ती से व्यास, श्वपाकी से पराशर, शुकी से शुकदेव, उलूकी से कणाद हुए। परन्तु दिव्य गुण से श्रेष्ठ ब्राह्मण माने गये। अब शेष (बाकी) रहे दिव्यादिव्य गुण स्वभाववाले शूद्रादि, उनके लिये वर्णव्यवस्था आदि है। व्यवस्था के उल्लंघन-पाप करने से ये लोक अत्यन्त नीच पतित हो जाते हैं। लोक में निन्दा पाते हैं। और व्यवस्था पूर्वक चलकर, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करके विश्वामित्रादि की नाईं तप से दिव्य गुण की प्राप्ति करने पर उत्तम होते हैं। साधारण वृत्ति से रहने पर ज्यों का त्यों रहते हैं। क्योंकि सब मनुष्य एक ब्रह्मा के पौत्र और मनु के अपत्य हैं, इससे कर्माधीन ही भेद है।

'ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा॰' ॥
म० भा० शा० अ० १८८।५

ब्राह्मण का सत्त्वगुण, क्षत्रिय का रजोगुण, वैश्य का सत्त्व रज गुण, और शूद्र का तमोगुण वर्ण है । यहाँ शंका हुई कि,

'कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभिद्यते ॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभिद्यते' ॥
शा० अ० १८७।७-८

'कामादि सब को तुल्य ही व्यापते हैं, फिर वर्णभेद कैसे ? पसीना मल मूत्र कफ पित्त खून सबको चूते हैं, फिर वर्ण भेद कैसे? उत्तर है कि,

'न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षात्रतां गताः ॥
गोभ्यो वृत्तिमुपास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः ॥
हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः' ॥
म० भा० शा० १८८।१०

'चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च ये तेषां सुतानां खलु जातिरेका।
एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रैकभावान्न च जातिभेदः'॥
भविष्यपु० प० १ अ० ४१।४५

'तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चिज्जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्।
कार्यशक्तिनिमित्तस्तु संकेतः कृत्रिमो भवेत्'॥
भविष्यपु० प० १ अ० ४०।४४

'आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्या प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः'॥
श्रीमद्भा० स्क० ११।१७।१०

वर्णों (जातियों) में स्वाभाविक भेद नहीं है, क्योंकि सब जगत (मनुष्य मात्र) ब्रह्मा के ही संतान हैं। सब प्रथम ब्रह्मा से उत्पन्न होकर, फिर कर्मभेद से अनेक वर्ण हो गये हैं॥ कामभोग में आसक्त क्रूर क्रोधी साहसी स्वधर्मत्यागी राजसी ब्राह्मण ही क्षत्रिय हो गये॥ गौ द्वारा जीविकावाले पूर्ववर्णित पीतवर्णयुक्त खेती करनेवाले स्वधर्मरहित ब्राह्मण वैश्य हुए॥ हिंसा झूठ में आसक्त लोभी विवेक विना सब कर्म करनेवाले शौचरहित तमोगुणी ब्राह्मण शूद्र हुए॥ इन पूर्व कहे कर्मों से ब्राह्मण ही वर्णान्तरत्व को प्राप्त हुए। इससे इनके लिये धर्म यज्ञक्रिया है, धर्मादि का अत्यन्त निषेध नहीं है॥ ये चार वर्ण हैं, इनके लिये ब्रह्माजी का किया हुआ वेदरूप वाणी (वचन) है, परन्तु ये लोभ से अज्ञानी हो गये हैं, वेद को नहीं जानते हैं॥ एक पिता के चार पुत्र हों तो चारों की एक जाति ही होती है; इसी प्रकार मनुष्यों के पिता के एक होने से वस्तुतः जातिभेद नहीं है॥ गौ अश्व के समान मनुष्य में जातिभेद नहीं है किन्तु कार्यशक्ति निमित्त से संकेतकृत कल्पित भेद है॥ प्रथम सतयुग में मनुष्यों की हंस नामक एक जाति थी, और सब प्रजा कृतकृत्य थी, इसीसे कृतयुग कहा गया है॥ इन वचनों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि दिव्यादिव्य गुण

स्वभाववाले जैसा कर्म किये वैसा ही हो गये । इससे अब भी हो सकते हैं । बृहदारण्यकादि से भी यही बात सिद्ध होती है । इससे,

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' ॥
ऋ० म० १।७।९०।१२। शुक्लय० अ० ३१।११

इस मन्त्र का भी अर्थ है कि विराट्रूप परमात्मा के ब्राह्मण मुख सदृश हुआ, राजन्य बाहुरूप किया गया, वैश्य ऊरु रूप हुआ और शूद्र पैर तुल्य पैर का काम करनेवाला हुआ। क्योंकि मुखादि द्वारा उपदेशादि क्रिया से ही जातिभेद सिद्ध हुआ है । प्रकरण से भी यही अर्थ होना उचित है। इससे पूर्व मंत्र है कि,

'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयत् । मुखं
किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते' ॥
ऋ० १०।७।९०।११ । शुक्लय० ३१।१०

प्रजापति के प्राणरूप देव सब जिस विराट् पुरुष को सिद्ध किये, वा योगी लोक जिस सर्वात्मस्वरूप पुरुष को सिद्ध किये, उस पुरुष की कितने रूप से कल्पना की गई, उसका मुख क्या कल्पित हुआ, तथा बाहू, ऊरू, पैर कौन कहे जाते हैं ? इस मंत्र में 'व्यकल्पयत्' इस पद से, तथा,

'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' ।
ऋ० १०।७।९०।२ । शुक्लय० अ० ३१।१०

भूत भावी सब पुरुष ही है। इस कथन से विराट् रूपता की दृष्टि से उक्त मंत्र का काल्पनिक अर्थ सिद्ध होता है। सो कल्पना भी सहस्रशीर्षा आदि की नाईं सर्वरूप परम तत्त्व के ज्ञान द्वारा भेद रागद्वेषादि की निवृत्ति के लिये है। इस पूर्वोक्त आशय से ही साहब ने कहा है कि,

'नाना रूप वरण इक कीन्हा । चारि वरण वै काहु न चीन्हा' ॥
इत्यादि । बी० रमैणी ६३

'ऐसो भरम बिगुरचन भारी।
वेद कितेब दीन औ दोजख, को पुरुषा को नारी॥
माटी को घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना।
घट बिनशे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना॥
एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बुन्द ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को शूद्रा॥
रजगुण ब्रह्मा तमगुण शंकर, सत्त्वगुणी हरि सोई।
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई'॥

बी० शब्द ८२

यही आशय श्रेष्ठ स्मृतियों का भी है। परन्तु आशय को जानने विना ईश्वर से जातिभेद मानकर रागद्वेषादि की सिद्धि इस प्रकार हुई है। 'वैद्य कहा जो केशर खावो, लीन्हा केश रखाय'॥ उक्त रीति से सब मनुष्य ब्रह्माजी के संतान हैं, परन्तु बहुत लोक प्रायः पतित हो गये हैं। उनमें दिव्यादिव्य का क्रमशः उद्धार भी हो सकता है। संस्कार विना व्रात्यता को प्राप्त मनुष्यों के लिये भी संस्कारादि का शास्त्र में वर्णन है। व्यासस्मृति में वर्णित कितने अन्त्यज भी आज कर्म से उत्तम दिखते हैं। इससे गुण कर्म स्वभाव से अवश्य श्रेष्ठता प्राप्त होती है। और वास्तविक दृष्टि से तो,

को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमीं पर रहिये'॥ बी० शब्द २६

'सांकेतिकं सुकृतलेशविशेषलब्धं वाणिज्यभेषजकृतामिव जातिभेदः'॥ भविष्यपु० प० १ अ० ४०।३२

पुण्य लेशमात्र से कल्पित जातिविशेष का लाभ होता है। जैसे वणिक और वैद्य में व्यवहार से जाति की कल्पना होती है। इससे सिद्ध होता है कि अहिंसा सत्यादि से भी श्रेष्ठता की कल्पना हो सकती है। और वस्तुतः उत्तम गुण से उत्तमता होती ही है। जैसे विदुर धर्मव्याधादि में हुई है। इससे,

'सर्वेषां जन्मना जातिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः ।
पश्वादीनां यथा जातिर्जन्मनैव न चान्यथा' ॥
सूतसं० शिवमा० अ० १२।५१

इत्यादि वचन से पशु आदि की नाईं केवल जन्म से जातिभेद मानना आदि अविवेकरूप ही सिद्ध होता है । परन्तु यह बात अवश्य है कि, अनेकों संस्कार उत्तम संग कुल आदि से जिसमें शुद्धि की संभावना रहती है, उस अदिव्य द्विजाति की भी अध्ययनादि में प्रवृत्ति होती है, अध्ययनादि करने पर यदि उसमें अदिव्य गुण प्रगट होते हैं तब उसको राक्षसादि कहा जाता है । जैसे कि वेदवेत्ता भाष्यकर्ता रावण को कहा जाता है । जिस अदिव्य द्विजाति में सात्विकता का बीज भी रहता है, तो वह बीज अध्ययनादि से वृक्षरूप होकर उस द्विज को देव बना देता है, और दिव्य तथा दिव्याऽदिव्य तो अध्ययनादि से पूज्य सर्वात्म-स्वरूप ही हो जाते हैं । और दिव्याऽदिव्य शूद्रादि की परीक्षा से योग्यता जानी जाती है । किन्तु किसी प्रकार दिव्यता के प्रगट होने पर दिव्य पुरुष संस्कारादि विना भी सत् उपदेश अध्ययनादि के पात्र समझा जाता है । इसीसे लिखा है कि,

'तान् हानुपनीयैव तदुवाच'। छा० ५।११।७
'संस्कृतोऽपि दुराचारो नरकं याति मानवः ।
निःसंस्कारः सदाऽऽचारो भवेद्विप्रोत्तमः सदा ॥
आचारमनुतिष्ठन्तो व्यासादिमुनिसत्तमाः ।
विप्रोत्तमाः श्रियं प्राप्ताः सर्वलोकनमस्कृताः' ॥
भविष्यपु० प० १ अ० ४२।१६-२०

'यो धर्मशीलो जितमानरोषो विद्याविनीतो न परोपतापी ।
स्वदारतुष्टः परदारवर्जितो न तस्य लोके भयमस्ति किञ्चित्' ॥
भविष्यपु० प० ३ अ० ७ ८०

'किं कुलेनोपदिष्टेन विपुलेन दुरात्मनाम्।
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु॥
हीनजातिप्रसूतोपि शौचाचारसमन्वितः।
सर्वधर्मार्थकुशलः स कुलीनः सतांवरः॥
आचारप्रभवो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणः।
साधूनां च यथावृत्तं स सदाचार उच्यते'॥

भविष्यपु० प० ४ अ० २०५।२१ २२-२५

'प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥
सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च सर्वे नित्य व्याहरन्ते च ब्रह्म।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्धया ब्रवीमि सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत्समस्तम्'॥

म० भा० शा० अ० ३१८।८८-८९

प्राचीन शाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ, पौलुषी आदि वैश्वानर विद्या के लिये, उद्दालक ऋषि की आज्ञा से कैकेय राजा के पास गये तो विद्या के अंग उपनयन् बिना ही राजा ने उपदेश दिया॥ सस्कारयुक्त भी दुराचारी नरक में जाता है, संस्कार विना भी सदाचारी सदा विप्रोत्तम होता है॥ आचारादियुक्त व्यासादि मुनिश्रेष्ठ गर्भादि संस्कार विना भी विप्रोत्तम हुए, श्री पाये, सर्वलोक से नमस्कृत हुए॥ धर्मशील मान रोष रहित विद्या से विनीत (नम्र) परद्रोह रहित निज स्त्री से तुष्ट परस्त्री से रहित जो रहता है, उसे लोक में कुछ भी भय नहीं होता॥ दुरात्मा को श्रेष्ठ कुल और बहुत उपदेश से क्या होता है? क्या सुगन्धी पुष्प में कीड़े नहीं उत्पन्न होते हैं॥ हीन जाति में उत्पन्न भी शौचाचार युक्त सब धर्मार्थ में कुशल मनुष्य ही कुलीन सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है॥ आचार से ही धर्म होता है, आचार ही सन्तों का लक्षण है। साधु के आचार को सदाचार कहते हैं॥ ब्राह्मणादि से ज्ञान की प्राप्ति करके सदा श्रद्धा रखनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धावान को जन्ममृत्य नहीं होते॥ सदाचारी सब वर्ण ब्राह्मण ही हैं, ब्रह्म ही से उत्पन्न

हुए हैं, सदा वेद को कहते हैं, यह तत्त्वशास्त्र मैं ब्रह्मबुद्धि से कहता हूं कि यह सब ही विश्व ब्रह्म ही है। अध्ययनादि के निषेधक वचनों का अदिव्य पुरुष विषयक तात्पर्य है, इससे विरोध नहीं। तप आदि का निषेध भी पुरुषविशेष के ही लिये, तपविशेष का ही निषेध है; इससे सामान्य तप का अनधिकारी कोई मनुष्य नहीं है। जैसे राजसूय आदि के अनधिकारी होने से ब्राह्मण यज्ञ का अनधिकारी नहीं कहा जा सकता। और शबरी तपस्विनी हुई, मतंग ऋषि ने उसे अनेकों योग तप क्रिया बताये सो बात प्रसिद्ध ही है; इसीसे महाभारतान्तर्गत पराशर गीता में लिखा है कि,

'तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम्' ॥
शा० अ० २९५।१४

हे तात! जितेन्द्रिय दान्त हीन के लिये भी स्वर्गमार्ग का हेतु सर्वगत (सामान्य) तप विहित है। इससे सिद्ध हुआ कि सब मनुष्य को उचित है कि तप आदि से अनर्थ की हेतु मन्दबुद्धिता को नष्ट करके उत्तम पद के लिये यत्न करें। क्योंकि,

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'।
केनोप० २।५

यदि इस मनुष्य जन्म में पर तत्त्व को जाना तो सत्य हो गया, नहीं तो महान् विनाश होता है। इसलिये,

'य एव यत्नः क्रियते बाह्यार्थोपार्जने जनैः ।
स एव यत्नः कर्तव्यः पूर्वं प्रज्ञाविवर्द्धने ॥
सीमान्तं सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत्'॥
योगवा० उपशम० स० ९।२६-२७

बहिर् द्रव्योपार्जन के लिये जो मनुष्य यत्न करता है, वही यत्न प्रथम बुद्धि की वृद्धि के लिये करे। और अन्तिम दुःखरूप, आपत्तियों के भारी

कोशरूप, संसारवृक्ष के बीजरूप बुद्धिमन्दता का अवश्य नाश करे ॥ यह अवश्य ध्यान में रखने की बात है कि हिंसा आदि दुष्कर्म अज्ञान रागादिवश स्वयं जीवों में प्राप्त हैं, इससे किसीके लिये इनका विधि (विधान) नहीं हो सकता। जहाँ कहिं विधि के समान किसीके लिये मालूम होता है, वहाँ भी विधि में तात्पर्य नहीं है; किन्तु स्वभाव का वर्णन है। जैसे कि श्वपाक के वर्णन में कुत्ता के मांस भक्षणादि का वर्णन है। सो भी अत्यन्त तामसी का वर्णन है ॥ और यद्यपि बहुत स्मृतियों में ब्राह्मण के ही लिये संन्यास का नियम लिखा है, परन्तु म. भा. शा. अ. ६३।१२ इत्यादि में तो लिखा है कि,

''शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसंतानकर्मणः।
अभ्यनुज्ञातराज्यस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥
अल्पान्तर्गतस्यापि दशधर्मगतस्य वा।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ॥
भैक्ष्यचर्या ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि' ॥

हे राजन्! अदिव्य शूद्र भी यदि शुश्रूषु हो, स्ववर्ण का कर्म कर चुका हो, सन्तान हो गई हो, यम नियमरूप दश धर्म में स्थिर हो, द्विजाति से जिसमें थोड़ा (अल्प) भेद हो, संन्यासादि के लिये राजा से आज्ञा मिली हो, तो उस धर्माचारी शूद्र के लिये सब आश्रम विहित हैं। फिर उस के लिये भिक्षा भी विहित ही है, परन्तु अदिव्य होने से शान्ति दान्ति आदिरूप निराशिष उसमें नहीं होता है। हे राजेन्द्र! इसी प्रकार वैश्य राजपुत्र को भी सब आश्रम का अधिकार जानो ॥ नीच जाति में दिव्य पुरुष उत्पन्न होते हैं, तथा धर्मात्मा मोक्षाधिकारी होते हैं; इससे वे पूज्य सत्कार योग्य भी होते हैं, इसीसे लिखा है कि,

'ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत्' ॥

म० भा० अनुशासनप० अ० ४८।४८

'कर्मभिः शुचिभिर्देवि विशुद्धात्मा जितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत्स्वयम् ॥
सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति' ॥
अनु० अ० १४३।४८-५१

'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते' ॥
शान्तिप० अ० १२४।३६

मन वचन कर्म से सबसे अद्रोह, अनुग्रह (दया), यथाशक्ति दान रूप श्रेष्ठ शील से रहित श्रेष्ठ जाति के मनुष्य भी अपूज्य हैं। इससे उनकी पूजा नहीं करनी चाहिये, किन्तु शीलयुक्त ब्राह्मणादि तथा धर्मज्ञ सद्वृत्त शूद्र की भी पूजा सत्कार करना चाहिये॥ पवित्र कर्म से जितेन्द्रिय शुद्धात्मा शूद्र भी द्विज के समान सेव्य होता है, यह बात ब्रह्माजी ने स्वयं कही है॥ शुभ वृत्त (व्यवहार) से सब लोक ब्राह्मण माने जाते हैं। इससे सद्वृत्त (श्रेष्ठाचार) में स्थिर शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है॥ इस पूर्व वर्णित युक्ति शास्त्र से सिद्ध मार्ग को त्याग कर अन्य मार्ग से गमन करना कराना स्वर्गापवर्ग (मोक्ष) का बाधक है। इसी आशय से साहब ने कहा है कि,

'आंधरी गुष्टि सृष्टि भई बौरी, तीनि लोकमहँ लागु ठगौरी' ॥
(बीजक-रमैनी ११)

'बड़ सो पापी आहिं गुमानी। पाखण्ड रूप छलयो नल जानी' ॥
(बीजक-र० १३)

उक्त सत् मार्ग के सिद्ध होने पर,

दुःशीलोपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्' ॥
पाराशरस्मृ० अ० ८।३३

'दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खो वा पण्डितोपि वा।
वेषमात्रेण संन्यासी पूज्यः सर्वेश्वरो यथा'॥

सूतसं० ज्ञानयोगखं० ६।२६

धर्म कर्म से भ्रष्ट दुःशील भी द्विज पूज्य है, जितेन्द्रिय भी शूद्र पूज्य नहीं है। भला, दुष्ट गौ को त्याग कर शान्त गदही को कौन दुहेगा?॥ दुर्वृत्त वा सुवृत्त, मूर्ख वा पण्डित हो परन्तु वेषमात्र से ही संन्यासी ईश्वर की नाईं पूज्य है॥ इत्यादि कथन को केवल स्तुति मात्र ही समझना चाहिये और,

'हेतुदर्शनाच्च'। अ० १।३।४

इस जैमिनीय सूत्र और उसके शाबर भाष्यादि के अनुसार, तथा—

'वर्णानां द्वापरे धर्माः संकीर्यन्ते तथाश्रमाः।
द्वैतमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिञ् श्रुतिस्मृतौ॥
'द्विधा श्रुतिः स्मृतिश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते।
अनिश्चयावगमनाद् धर्मतत्त्वं न विद्यते॥
धर्मतत्त्वे ह्यविज्ञाते मतिभेदस्तु जायते॥
वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु।
ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा व्यस्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः॥
वेदशास्त्रप्रणयनं धर्माणां शंकरस्तथा।
वर्णाश्रमपरिध्वंसः कामद्वेषौ तथैव च'॥

मत्स्यपु० अ० १४४ इत्यादि॥

द्वापर में वर्णों के धर्म तथा आश्रम मिल जाते हैं। श्रुति स्मृति में द्वैत (भेद) हो जाता है, जिससे निश्चय ज्ञान नहीं होता। धर्म का तत्त्व भी निश्चय विना नहीं रहता। धर्मतत्त्व को नहीं जानने से मनुष्यों की बुद्धि में भेद हो जाता है। एक ही वेद के चार प्रकार किये जाते हैं, और भी वेद के अनेकों भेद भ्रमवश ऋषियों के पुत्र लोक कर देते हैं।

अनेकों वेद शास्त्र की रचना कर देते हैं, धर्मों का शंकर हो जाता है, सच्चे वर्णाश्रम का ध्वंस हो जाता है, काम द्वेष बढ जाते हैं ॥ इत्यादि कथनों के अनुसार विचार से देखा जाय, तो मालूम होता है कि अनेकों श्रुति स्मृति वचन लोभ काम द्वेषादि द्वारा द्वापर में ही सिद्ध हो चुके हैं, और वास्तविक वर्णव्यवस्था का नाश हो चुका है, परन्तु लोक अन्धाधुन्ध में पड़े हैं; विना विचारे विरुद्ध बातों को गाते जाते हैं । इत्यादि आशय से सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि,

'वेद कितेब कीन्ह विस्तारा। फैलि गेल मन अगम अपारा '॥

बी० रमैनी ५ ।

'वेद की पुत्री स्मृती भाई । सो जेवरि कर लेत ही आई '॥

बी० रमैनी ३४

'बूड़े बडे बड़ापने, रोम रोम हंकार।
सतगुरु के परिचय विना, चारों वर्ण चमार '॥

बी० साखी १९३ ।

इस वेदशास्त्र के विरोध की दशा में मनुष्यमात्र को विचारादि से ही कल्याण मार्ग को खोजना चाहिये । क्योंकि,

'विचारणायां वैराग्यं वैराग्याद्दोषदर्शनम् ।
दोषाणां दर्शनाच्चैव ज्ञानोत्पत्तिस्तु जायते '॥

मत्स्यपु० अ० १४४।१९

विचार से वैराग्य होता है, वैराग्य से दोष दर्शन होने पर ज्ञान होता है ॥ यद्यपि बहुत मीमांसक कहते हैं कि,

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि '। बृहदा० ३।९।२६,
'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः '।

उपनिषद् से ही जानने योग्य उस पुरुष को आप से पूछता हूं । श्रुतिवाक्य से ही आत्मा का श्रवण करना चाहिये । इत्यादि श्रुति-स्मृति के

कथनानुसार वेदवचन से ही आत्मज्ञान होता है, इससे वेद के अनधिकारी को किसी प्रकार भी ज्ञान नहीं हो सकता, तथा वेद के अनधिकारी मनुष्य सब धर्म से बहिष्कृत हैं इत्यादि। तथापि सो कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वेदार्थ का ही अन्य शब्दों द्वारा उपदेश से सब को ज्ञान हो सकता है। हृदय शुद्ध होना चाहिये। वेदाधिकारी को भी श्रुति का अर्थ शब्दान्तर से ही समझना पड़ता है, वेद के अक्षरपाठ मात्र से किसी को ज्ञान नहीं होता। इससे श्रुतिपाठ को सुनाने बिना ही उसके निर्णीत अर्थ को श्रद्धालु शुद्ध पुरुष को सुनाने से अवश्य ज्ञान होता है; क्योंकि मणिमंत्रादि की नाई जाति ज्ञान का प्रतिबंधक नहीं है, यह बात सिद्ध-प्राय है। और कोई भी मनुष्य किसी जातिभेद मात्र से सर्वधर्मबहिष्कृत नहीं हो सकता; अहिंसादि सामान्य धर्म और तत्तद्विशेष धर्म के सब अधिकारी हैं॥ इससे अन्यथा कथनादि मोह पक्षपातादि जन्य हैं। इसी आशय से साहब ने कहा है कि,

'पक्षा पक्षिक कारणे, जगतो जात भुलान।
निरपक्षी ह्वै हरि भजै, सोई सन्त सुजान'॥

बी० सा० १९२

'जब लगि दिन पर दिल नहीं, तब लगि सब सुख नाहि।
चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल मांहि'॥

साखी परिशिष्ट १४

यद्यपि इस मोह पक्षपातादि की अत्यन्त निवृत्ति फिर सतयुग आने पर ही हो सकती है। क्योंकि,

'ततस्तास्तु म्रियन्ते वै पूर्वोत्पन्नाः प्रजास्तु याः।
जातमात्रेष्वपत्येषु ततः कृतमवर्तत॥
तेषां सप्तर्षयो धर्मं कथयन्ति।

इत्यादि मत्स्यपुराण के अनुसार कलियुग के अन्त में सब प्रजा नवीन संतान उत्पन्न करके एक बार ही मर जाती है, इससे पूर्वजों का दुर्भाव

सन्तानों में नहीं आता है, आकाशचारी सप्तर्षि उपदेश देकर उन्हें सत्मार्ग परायण करते हैं। तथापि जो जीव विचारादि परायण होता है, उसके लिये सदा सत्युग है और मोह पक्षपातादि का अभाव ही है। विचारवान् पुरुष सब न्याय व्यवस्था को मानता हुआ, आन्तरिक वास्तविक शुद्धता अशुद्धता पर अधिक ध्यान रखता है, बाहर के आडम्बर पर नहीं भूलता, इत्यादि सद्गुरु साहब का आशय है। अब यह विचारना चाहिये कि,

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः'।

म० भा० शा० अ० ३७७।४९

ब्राह्मण को आगे करके चारों वर्ण को सुनाना चाहिये। इस कथन का क्या तात्पर्य है। वस्तुतः दिव्य दिव्याऽदिव्य सब मनुष्य को उपदेश देने में तात्पर्य मालूम होता है। परन्तु स्वामी शंकराचार्यादि महात्माओं ने इसका पुराणादि सुनाने में तात्पर्य बताया है। तहाँ भी विचारना चाहिये कि पुराणादि शब्द से किसका ग्रहण है; यदि श्रीव्यासजी कृत इतिहास पुराण का ग्रहण हो तो, द्वापरान्त में श्रीव्यासजी हुए, उससे प्रथम किसका श्रवण कराया जाता था; इससे अगत्या मानना होगा कि वेद का ही भाग विशेष रूप इतिहास पुराण का इतिहास पुराण शब्द से ग्रहण होता है। और जैसे निषाद[1] स्थपति को वचनविशेष के बल से वेदवचनविशेष में अधिकार बताया गया है, तैसे ही इतिहासपुराणरूप वेद में चारों वर्ण का अधिकार सिद्ध होता है।

'तदप्रमाणमिति चेन्न प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात्'। ४।१।६२

इस न्यायभाष्य वार्तिक के आगे लिखा हुआ,

'ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्'।

---

१ निषादस्वामी का यज्ञ के विचार, मीमांसा अ० ६।१।५१–५२ में है॥

इस वचन के अनुसार तथा,

'इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि यस्यैवैतानि निःश्वसितानि'। २।४।१०

इस बृहदारण्यक के अनुसार तथा,

इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः। ब्राह्मणमेव पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादिः, विद्या देवजनविद्या, उपनिषदः प्रियमेवेत्येतदुपासीतेत्याद्याः। श्लोकाः ब्राह्मणभवा मन्त्राः, सूत्राणि वस्तुसंग्रहवाक्यानि, अनुव्याख्यानानि मन्त्रविवरणानि, व्याख्यानानि अर्थवादाः'।

इत्यादि भाष्य के अनुसार उक्त अर्थ समझना चाहिये। अर्थ है कि, इतिहास पुराण अप्रमाणिक नहीं है। प्रमाणरूप ब्राह्मण से उन्हें प्रमाणरूप माना गया है। वे अथर्वा अङ्गिरस ऋषि इतिहास पुराण के वक्ता हुए। उर्वशी पुरूरवा आदि के संवादादि रूप इतिहास, असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि ब्राह्मणरूप पुराण, देवजन नामक नृत्यगीतादि वेदरूप शास्त्र और शिल्पशास्त्र रूप विद्या, तथा,

'प्रियमेव तस्य शिरः सत्यस्य सत्यम्'।

इत्यादि वाक्य रूप उपनिषद, ब्राह्मण ग्रन्थ के मंत्ररूप श्लोक, वस्तु संग्रहरूप सूत्र, सूत्र-मंत्र के विवरणरूप अनुव्याख्यान, अर्थवादरूप व्याख्यान; ये सब परमात्मा के निःश्वास तुल्य हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य मात्र अहिंसादि रूप तप और श्रवणादि के अधिकारी हैं। परन्तु जो मनुष्याकार होते हुए भी इन धर्मों से सर्वथा रहित हैं, वे एक प्रकार के राक्षस या पशु ही हैं, इसीसे कवियों ने कहा है कि,

'विद्याविहीनः पशुः'। 'तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये'।

विद्या रहित मनुष्य भी पशु हैं। और जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरे के हित को नष्ट करते हैं वे हिंसक आदि राक्षस हैं।

'पूंछ सिंग विनु सोइ पशु, जो नर विद्या हीन।
तृण न चरै पशु भाग से, यह विधि चरित प्रवीन'॥

जिस विद्या विना मनुष्य पशुतुल्य है, उस विद्या के विषय में ही स्वामी शंकराचार्यजी का कथन है कि, 'विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या'। विद्या कौन है जो ब्रह्मगति को दे, इत्यादि आशय से ही साहब ने कहा है कि,

'मानुष ह्वै के' नहिं मुवा, मूवा डांगर ढोर।
एको जीव हिं ठौर नहिं, भै सो हाथी घोर'॥

'मानुष ते बड़ पापिया, अक्षर गुरुहिं न मान।
बार बार बक कूतिया, गर्भ धरे अवधान'॥

बी० साखी० ११४-१६

इससे मनुष्य को चाहिये कि,

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एवं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः'॥

मनु० अ० १०।६३

'वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम्'॥

मनु० १२।३१

'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'॥

भ० गी० अ० १८।४२

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्'॥

मनु० ६।९२

इत्यादि वचनों से वर्णित अहिंसादि का अवश्य अभ्यास करे। और समझे कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह; चारों वर्ण के लिये जो संक्षिप्त धर्म कहा गया है सो मनुष्यमात्र के लिये है॥ वेद (ज्ञान साधन उपदेश) का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धर्मक्रिया, आत्मचिन्तन; ये सब सतोगुणी के लक्षण हैं। अभ्यास से बढते प्राप्त होते हैं॥ शम, दमादि स्वभावसिद्ध ब्राह्मण का कर्म है, ये जहाँ स्वाभाविक हों वह सत्य ब्राह्मण है॥ उपदेश संगादि से ये घटते बढते हैं, इसलिये सत्संग श्रवणादि करना, कुसंगादि का त्याग करना भी उचित ही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि, मन स्वभाव से ही यदि सात्विक मार्ग शमादि में नहीं प्रवृत्त हो तो उसे भी कल्याणमार्ग में प्रवृत्त कराना ही चाहिये, यही मनुष्यता है। इसीसे साहब ने कहा है कि,

'मन गया तो जाने दे, गहि के राखु शरीर।
उतरा रोद कमान ते, क्यों करि लागै तीर'॥

बी० साखी० २३७

पूर्व कही रीति से मन को रोक कर संतोष रूप धैर्य, क्षमा, मन का अविकार रूप दम, अचोरी, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सत्शास्त्र के ज्ञानरूप बुद्धि, आत्मज्ञान रूप विद्या, सत्य, अक्रोध; ये दशधर्म मुमुक्षु के लिये आवश्यक हैं। सामान्य धर्म अहिंसादि सब के लिये हैं। अहिंसा आदि से ही मनुष्य ज्ञानाधिकारी ब्राह्मण ब्रह्मनिष्ठ धीरे धीरे होते हैं। केवल कुलमात्र से व्यावहारिक ही ब्राह्मणत्व होता है, ज्ञानोपयोगी नहीं होता। व्यवहार में भी जिसके कुल स्वभाव दोनों श्रेष्ठ हैं वह केवल उच्च कुल वा स्वभाववाला से श्रेष्ठ माना जाता है। यद्यपि जिसका कुल उच्च नहीं है, परन्तु कर्म स्वभावादि श्रेष्ठ हैं, दैवी सम्पत्ति है तो वह पुरुष विवेकी सन्त की दृष्टि से, उच्च कुल दैवी सम्पत्तिवाले से कम (न्यून) नहीं समझा जाता है, तथापि व्यावहारिक रीति पूर्वोक्त ही है।

मनु में भी विद्वान् के पुत्र अविद्वान् को भी अविद्वान् के पुत्र विद्वान् से श्रेष्ठ माना है। यह मान उसके विद्वान् पिताकृत यथोचित संस्कार हेतुक बताया गया है। इन केवल व्यावहारिक जाति आदिमें भूले हुए, और ब्रह्मनिष्ठा तत्साधन शमादि अहिंसादि से रहित पुरुषों की दृष्टि से साहब ने कहा है कि,

'ब्राह्मण हो के ब्रह्म न जाने'। (विप्रम०)

'सन्तों पांडे निपुन कसाई'। शब्द० ५६। इत्यादि।

इस प्रकार सर्व मनुष्य के लिये ज्ञान ज्ञानहेतु कर्म का संक्षिप्त विचार हो चुका।

इसी प्रकार स्त्री को भी तप आदि में और ज्ञान में अधिकार है, और स्मृति में जो स्त्री के लिये तप आदि का निषेध है, उसका यह तात्पर्य है कि, स्त्री के लिये सब से श्रेष्ठ पतिव्रत धर्म है, उसकी उपेक्षा (अनादर) करके यदि तप आदि में प्रवृत्त होती है तो नरकगामिनी होती है। इससे बाल्यावस्था में पिता भ्राता आदि के आश्रित रहकर धर्माचरण करे, फिर पति के अनुकूल होकर धर्माचरण करे, देवताओं से भी पति को अधिक समझे, पति का अनादर करके आप तपस्विनी बनकर न बैठ जाय। इसीसे महाभारत पुराण का कथन है कि,

'सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी॥

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्रीस्वतन्त्रताम्॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्युः प्रेते परस्य तु'॥ इत्यादि।

सुन्दर स्वभाव वचन सुविचार वाली जो स्त्री पतिपरायण होती है, सो धर्मचारिणी होती है॥ स्त्री को बाल्यावस्था में पिता की, युवा अवस्था में पति की, पति के मरने पर पुत्र की आज्ञा, वश में रहना चाहिये; कभी स्वतन्त्रता युक्त नहीं है॥ पति के मरने पर शुभ पुष्प मूल फल अल्प भोजन से देह को बीतावे, क्षीण करे। परन्तु पर पुरुष का नाम भी न ले॥ इससे स्त्री के लिये धर्मदृष्टि से दूसरा पति नहीं सिद्ध होता है, तौ भी मनु में जो नियोग का वर्णन है, तथा निरुक्त में जो देवर को द्वितीय वर कहा गया है, सो उपवास से भिक्षा श्रेष्ठ होती है, इस न्याय से जानना चाहिये। अर्थात् अनियत व्यभिचार की अपेक्षा दुष्टात्मा स्त्री के लिये नियोग अच्छा है। श्रेष्ठ स्त्री के लिये वा धर्मदृष्टि से नियोग वर्णन नहीं है।

'मायि मैं दूनों कुल उजियारी'। बी० शब्द० ७

इत्यादि शब्दों में स्त्रीधर्म की साहब ने भी सूचना की है, और अंग की साखियों में विशेष वर्णन किया है॥ तथा पूर्वमीमांसा के अ० ४।१।३।६ इत्यादि में स्त्री के यज्ञाधिकार का वर्णन किया गया है। फिर स्त्रीपुरुषरूप दम्पती के साथ यज्ञाधिकार का वर्णन है॥

यदि तप आदि के निषेध का पूर्वोक्त तात्पर्य नहीं होवे किन्तु सर्वथा तप आदि के निषेध में तात्पर्य हो तो गान्धारी का तपवर्णन रूप महाभारत, अत्रि ऋषि की स्त्री का तपवर्णन रूप रामायण, गार्गी का ज्ञानवर्णन रूप श्रुति आदि से विरोध होने के कारण उक्त वचनों को सर्वथा अप्रमाण मानना चाहिये। और,

'पुरा कल्पे हि नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदस्य सावित्रीवाचनं तथा'॥

इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि, पहले स्त्री का यज्ञोपवीत होता था। और वह सावित्री आदि मंत्र जपती थी, वेद पढती थी। परन्तु इस

यम स्मृति के निर्माण काल में यह व्यवहार नहीं था, इससे 'पुराकल्पे' कहा गया है। और इसीसे सिद्ध हो जाता है कि पतिव्रतादि धर्मों की रक्षा सहित यदि स्त्री वेदादि का अध्ययन करे तो दोष नहीं है। गार्गी, मैत्रेयी आदि के समान अध्ययन कर सकती है। माता पिता की आज्ञा से पार्वती जी के समान तप करके शिवतत्त्व की प्राप्ति कर सकती है। वैराग्य हो तो गार्गी के समान विदुषी भिक्षुकी हो सकती है। परन्तु कितना हूं वैराग्य जितेन्द्रियता होने पर, स्त्री को पुरुष के साथादि वा पुरुष को स्त्री के संगादि उचित नहीं होता। मोह सूक्ष्म वासना की महिमा प्रबल है। इसीसे माता, बहन, पुत्री का संग भी एकान्त में निषिद्ध है। हो सके तो स्त्री स्त्री से ही उपदेश ले। अत्यन्त जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) हो, और स्त्री उपदेशिका नहीं मिले तो पांच सात स्त्री मिल कर धर्मज्ञ वृद्ध सज्जन से उपदेश की प्राप्ति करे, और पति से अन्य धर्मज्ञ से भी अधिक अध्ययनादि की इच्छा नहीं करे; क्योंकि धर्मरक्षा इन्द्रियनिग्रह संगत्यागादि से ही धर्माकार आत्माकार वृत्ति और सर्वथा कल्याण होता है। इस प्रकार अहिंसादि रूप तप सामान्य धर्म का वर्णन हुआ। अब केवल अहिंसा का विचार किया जाता है॥ तहाँ-



अथ अहिंसाविचारः ॥ ४ ॥

'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'॥
'योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया'।
स जीवंश्च मृतश्चैव न कचित्सुखमेधते॥
यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥
यद् ध्यायति यत् कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्'॥

मनुः अ० ५।४५-४९

'वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥
फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्'॥

मनुः ५।५३-५४

किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करके सर्वभूताहिंसक होना चाहिये॥ जो अपने सुख की इच्छा से अहिंसक प्राणी की हिंसा करता है, सो जीता मरा कहीं सुखी नहीं होता॥ जो प्राणी का बन्धन वध दुःख करना नहीं चाहता, वह सबका हितेच्छु अत्यन्त अक्षय सुख पाता है॥ जो किसी की हिंसा नहीं करता सो जिस वस्तु की चिन्ता करता है, जो कार्य करता है, जहाँ धैर्य रखता है, उसे विना यत्न किये पाता है॥ प्राणी के वध विना मांस नहीं होता, और प्राणी का वध स्वर्ग के लिये नहीं होता; इससे मांस को त्यागना चाहिये॥ मांस की रजोवीर्य से उत्पत्ति, प्राणी की हिंसा बन्धन को देख कर, सब प्रकार के मांस से निवृत्त होना चाहिये। जो कोई सौ वर्ष सदा अश्वमेध याग करता है, और दूसरा कोई कभी मांस नहीं खाता है, उन दोनों के पुण्यफल तुल्य ही होते हैं॥ पवित्र फल मूल मुनि-अन्न के भक्षण से वह फल नहीं मिलता, जो केवल मांस के त्यागने से मिलता है।

'अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥

अहिंसैव परो धर्मः' शेषास्तु व्रतविस्तराः।
'अस्यास्तु परिरक्षार्थं पादपस्य यथाऽऽवृतिः'॥
म० भा० अनुशा० प० ११५।२५-२६

अहिंसा ही परम धर्म तप सत्य स्वरूप ही है, जिससे धर्मसिद्ध होता है॥ अहिंसा परम धर्मरूप है, और अन्य सत्यादि व्रत का विस्तार वृक्ष के घेरा की नाईं इसी की रक्षा के लिये होता है।

'प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात्कथंचन॥
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्मप्रवचनं कृतम्॥
यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः'॥

हे तात (अर्जुन)! प्राणी का अवध (अहिंसा) सब धर्म से श्रेष्ठ है, यह मेरा (भगवान का) मत है। किसी अवस्था में झूठ बोला जाय, परन्तु हिंसा किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये॥ अहिंसायुक्त कर्म ही धर्म है, हिंसकों को अहिंसा समझाने के लिये ही धर्म कहा गया है॥ जिस जिस विषय वा हिंसादि से निवृत्त होता है, उस उस से स्वयं मुक्त होता है; इससे यह निवृत्ति ही शोकादि को नष्ट करने वाला कल्याण का मार्ग है, इत्यादि॥

इन वचनों से स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि हिंसा बड़ा भारी पाप है, और हिंसारूप कर्म, और मांस, स्वरूप से ही अपवित्र तथा नरक का हेतु है। सदा अनर्थ का जनक है। और इस हिंसा मांसादि से निवृत्त पुरुष सब यज्ञ तप धर्म कर्ता है, इससे उसे दिव्य समझना चाहिये। और रजोवीर्यादि से उत्पन्न होने के कारण जब स्मृति आदि से मांस स्वरूप से ही अशुद्ध सिद्ध होता है, तो उसके भक्षण में किसी भी सत्शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता। इससे सत्पुरुषों के लिये सर्वथा

सर्वदा त्याज्य है ॥ और अहिंसा के पोषक सत्यादि सेवन करने योग्य हैं, हिंसा के हेतु झूठादि त्याज्य हैं। इससे सत्वगुण की वृद्धि विचारादि परायणता होती है, जिससे लौकिकानन्द और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

शौचमंगलानायासा अनसूयाऽस्पृहा दमः।
लक्षणानि च विप्रस्य तथा दानं दयापि च ॥
अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।
आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम्।
एतद्धि मंगलं प्रोक्तमृषिभिर्धर्मवादिभिः ॥
शरीरं पीड्यते येन शुभेन ह्यशुभेन वा।
अत्यन्तं तन्न कुर्वीत अनायासः स उच्यते ॥
न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति चान्यगुणानपि।
न हसेच्चान्यदोषांश्च साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥
यथोत्पन्नेन कर्तव्यः सन्तोषः सर्ववस्तुषु।
न स्पृहेत्परदारेषु साऽस्पृहा च प्रकीर्तिता ॥
बाह्य आध्यात्मिके वाऽपि दुःख उत्पादिते परैः।
न कुप्यति न वा हन्ति दम इत्यभिधीयते ॥
अहन्यहनि दातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
स्तोकादपि प्रयत्नेन दानमित्यभिधीयते ॥
परस्मिन् बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा।
आत्मवद्वर्तितव्यं हि दयैषा परिकीर्तिता ॥
यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥
आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दानमार्जवम्।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्यं मार्दवं च यमा दश ॥

शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः ।
'व्रतमौनोपवासाश्च स्नानं च नियमा'दश ' ॥

अत्रिसं० स्मृ० ३३ इत्यादि

शौच, मंगल, अनायास, अनसूया, अस्पृहा, दम, दान, दया; विप्र के लक्षण हैं। अभक्ष्य का त्याग, अनिन्दित का संग, आचार में स्थिति को शौच कहते हैं ॥ श्रेष्ठाचरण सदा करना, निन्दित को त्यागने ही को धर्मवक्ता ऋषि मंगल कहते हैं। जिस शुभ वा अशुभ कर्म से शरीर अत्यन्त पीड़ित हो उसे त्यागना अनायास है ॥ गुणी के गुण को नहीं छिपाना, अन्य के गुण की प्रशंसा करना, अन्य के दोष को नहीं हंसना अनसूया है ॥ प्रारब्धानुसार प्राप्त सब वस्तु में संतोष रखना, परस्त्री की इच्छा नहीं करनी अस्पृहा है ॥ किसी से बाहर भीतर के दुःख होने पर भी क्रोध नहीं करना दम है ॥ थोडे धन में से भी यथाशक्ति खुश मन से सदा पात्र में देना दान है ॥ अन्य उदासीन, बन्धु, मित्र, द्वेष्य, शत्रु में आत्मवद्वर्ताव दया है ॥ यमों को बुद्धिमान सदा सेवे, नियमों को नहीं; केवल नियमों का सेवन करनेवाला, यमों को नहीं करता हुआ पतित हो जाता है ॥ अद्रोह, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दान, आर्जव, प्रेम, प्रसन्नता, मधुरता, मृदुता; ये दश यम हैं ॥ शौच, यज्ञ, तप, दान, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत, मौन, उपवास, स्नान; ये दश नियम हैं ॥ इत्यादि वचनों से मांसमद्यादि अभक्ष्यों का त्यागादि अहिंसामय व्यवहार ही विप्र के लक्षण रूप है। इन सात्विक व्यवहारों से विप्रता की सिद्धि होती है। और यमों के सदा सेवन की विधि होने से अहिंसाप्रधान यमों की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। इन के सेवन विना बड़ा अपने बडप्पन से गिर जाता है, तुच्छ पुरुष इन के सेवन से बड़ा हो जाता है ॥ योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को नित्य सेवन योग्य यम कहा है। और अहिंसा आदि के विषय में लिखा है कि,

'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'।
यो० पा० २।३१

किसी एक जाति को मारनेवाला भी जो अन्य जाति को नहीं मारता है, सो जात्यवच्छिन्न अहिंसा कही जाती है। इसी प्रकार किसी जाति विशेष के लिये असत्य नहीं बोलना, वा उसके द्रव्य नहीं चोराना, जात्यवच्छिन्न सत्य अस्तेय होता है। ब्रह्मचर्य में भी ऐसा ही जानने योग्य है, तीर्थादि विशेष स्थान के अहिंसा आदि को देशावच्छिन्न अहिंसा आदि कहते हैं। देव-ब्राह्मणादि से भिन्न के लिये नहीं मारूंगा, इत्यादि नियम से जो अहिंसादि होते हैं, उसे समयावच्छिन्न कहते हैं। और सब जाति देश काल में सर्वथा जो अहिंसादि किये जाते हैं, उसे जाति आदि से अनवच्छिन्न महाव्रत कहते हैं। यह सर्व प्रकार के पापों का अभिभव नाश करके सिद्धियों को देनेवाला है, मुमुक्षु को मुक्ति के पथ पर शीघ्र ले जाता है, इसी से महाव्रत है, सात्विक ब्राह्मणादि का सर्वस्व है॥ इससे विरुद्ध चलनेवाले को इस मार्ग पर लाने के लिये, साहब ने लिखा है कि,

'रामहि गावै औ समुझावै. हरि जानै बिनु विकल फिरै॥
जा मुख वेद गायत्री उच्चरै, जाके वचन संसार तरै।
जाके पावँ जगत उठि लागै, सो ब्राह्मण जिव वद्ध करै'॥
शब्द ५२॥

'पण्डित अचरज एक बड़ होई।
एक मरि मुये अन्न नहिं खाई, एक मरि सिझे रसोई'॥
बी० शब्द ५८

'सन्तो पांडे निपुण कसाई।
बकरा मार भैंसा पर धावै, दिल महं दर्द न आई'॥
बी० शब्द ५६। इत्यादि

पांडे पद्व उपलक्षण हैं।
सतगुरु के परिचय विना; चारों वर्ण चमार'। बी० सा० १९३)

इस साखी के कथनानुसार चारों वर्ण अपवित्र क्रिया परायण हैं, परन्तु साधु ब्राह्मणादि जगत के नेता गुरु हैं। इनकी कुप्रवृत्ति से प्रायः लोक में कुप्रवृत्ति होती है, और हुई है। इससे इन्हें कुछ कहा जाता है कि इनके सुधार से सुधारा भी हो सकता है॥ चतुर कसाई इससे कहा गया है कि कुकर्म करते रहने पर भी लोक में पूज्यता के लिये शब्दजाल बनाय लिये हैं। लिखा है कि,

'जिह्वा स्वाद के कारणे, कीन्हा बहुत उपाय'। बीजकमें ४० साखी

अपने अवगुण छिपाने के लिये जो चतुराई की गई है, उसे संक्षेपसे साधारण मनुष्यों के लिये लिखा जाता है, विज्ञ लोक तो जानते ही हैं। चतुराई मय ग्रन्थों के ही विषय में साहब ने कहा है कि,

'ब्राह्मण कीन्हो ग्रन्थ पुराना'। बी० रमैनी १८

स्मृतिसारोद्धारादि में संगृहीत वचन इस प्रकार है कि,

'प्रीणयेच्चण्डिकां भक्त्या मांसेन सुरया नृप'।

भक्ति मांस से सुरा से चण्डिका को तृप्त करे, यह इनका विधिवाक्य है, परन्तु किसी वेद का नहीं है।

'अजस्य दश वर्षाणि रुधिरेण प्रतर्पिता।
माहिषेण शतं वीर तृप्ता भवति चण्डिका॥
सहस्रं तृप्तिमायाति स्वदेहरुधिरेण च।

हे वीर! बकरा के रुधिर से दश वर्ष, भैंसे के रुधिर से सौ वर्ष, अपने शरीर के रुधिर से हज़ार वर्ष तक चण्डिका तृप्त रहती है। यह तृप्ति की कथा है। यहाँ विचारना चाहिये कि यदि उपासक के खून से देवी हज़ार वर्ष तृप्त रहती है, तो लोक वर्ष दिन पर या प्रतिदिन गरीब निरपराधी जीव को क्यों पीडित करते हैं। अंगुली आदि के खून से उसे हज़ार वर्ष के लिये तृप्त कर देना ही उचित है। सो कोई नहीं करता है, इससे सिद्ध होता है कि समय २ पर अपनी तृप्ति के लिये गरीब प्राणी की

हिंसा की जाती है। यदि देवी की तृप्ति के लिये होती तब तो दश वा सौ या हजार वर्ष पर तृप्ति का उपाय होता; क्योंकि तृप्त को भोजन देना व्यर्थ वा हानिकारक होता है। कालीपुराण के बलिदान विषयक मंत्र हैं कि,

'वरस्त्वं बलिरूपेण मम भाग्यादुपस्थितः।
प्रणमामि ततः सर्वरूपिणं बलिरूपिणम् ॥
चण्डिकाप्रीतिदानेन दातुरापद्विनाशिने।
वैष्णवी बलिरूपाय बलेस्तुभ्यं नमोनमः ॥
यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
अतस्त्वां घातयाम्यद्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥
त्रूं ह्रीं श्रीमिति मन्त्रेण बलिं वामनरूपिणम्।
चिन्तयित्वा न्यसेत् पुष्पं मूर्ध्नि तस्य च भारत' ॥

'श्रेष्ठ तुम बलिरूप से मेरे भाग्य से मिले हो। इससे सर्वरूप तुमको प्रणाम करता हूँ ॥ 'चण्डिका को प्रीति देकर दाता की आपत्ति के नाशक वैष्णवी के बलिरूप तुमको नमस्कार करता हूँ ॥ ब्रह्माजी ने यज्ञ के लिये स्वयं पशुओं को बनाया, इससे आज तुझे मारता हूँ, तिसीसे यज्ञ का वध वध नहीं है ॥ हे भारत! 'त्रूं ह्रीं श्रीं' इस मंत्र को पढकर वामनरूप बलि को जान कर उसके शिर पर पुष्प देना चाहिये ॥ तथा,

'ॐ त्रूं ह्रीं श्रीं कौशिकीति रुधिराप्यायिता भव'।

इत्यादि। ओमित्यादि पढ़कर कहना चाहिये कि रुधिर से तृप्त हो। इत्यादि सब कल्पित मंत्रविधि आदि हैं, वेद के नही हैं। लिखा है कि इनके कर्ता शिवजी हैं, और लोक मानते भी हैं, परन्तु कबीर साहब कहते हैं कि इन वचनों के कर्ता मांसाहारी चतुर ब्राह्मणादि हैं। यदि इन के कर्ता शिवजी को ही माना जाय, तो भी—

'यो वेदधर्ममुज्झित्य धर्ममन्यं समाचरेत्।
राजा प्रवासयेद्देशान्निजादेतानधर्मिणः ॥

अन्यानि यानि शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् विविधानि च ।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तामसान्येव सर्वशः ॥
वामं कापालिकं चैव कौलिकं भैरवागमः ।
शिवेन मोहनार्थाय प्रणीतो नान्यहेतुना ’ ॥

वैदिक अहिंसादि प्रधान धर्म को त्याग कर अन्य धर्माचारी अधर्मी को राजा अपने देश से निकाल दे ॥ श्रुति स्मृति से विरुद्ध जो लोक में नाना प्रकार के अन्य शास्त्र हैं सो सब तामस हैं ॥ वाम, कापालिक, कौल, भैरवागम; ये सब शिवजी ने असुरों को मोहने के लिये रचे हैं ॥ इत्यादि देवी भागवतादि के कथनानुसार पूर्वोक्त सब मंत्रक्रियादि त्याज्य हैं । और,

‘ मत्स्यानां कच्छपानां तु रुधिरैः सततं शिवा ।
मासैकं तृप्तिमाप्नोति ग्राहैर्मासत्रयं तथा ॥
मृगाणां शोणितैर्देवी खगानामपि विस्तृतैः ।
अष्टौ मासानवाप्नोति तृप्तिं कल्याणदा सदा ॥
गोधिकानां च रुधिरैर्वार्षिकीं तृप्तिमाप्नुयात् ।
कृष्णसारस्य रुधिरैः शूकरस्य च शोणितैः ॥
प्राप्नोति सततं देवी तृप्तिं द्वादशवार्षिकीम् ॥
अजाविकानां रुधिरैः पञ्चविंशतिवार्षिकीम् ।
महिषाणां च खड्गानां रुधिरैः शतवार्षिकीम् ॥
तृप्तिमाप्नोति परमां शार्दूलरुधिरैस्तथा ।
सिंहस्य शरभस्याथ स्वगात्रस्य च शोणितैः ।
देवी तृप्तिमवाप्नोति सहस्रं परिवत्सरान् ॥
विधिदत्तेन चाप्नोति तृप्तिं लक्षं त्रिभिर्नरैः ॥
नारेणैवाथ मांसेन त्रिसहस्राणि वत्सरान् ।
तृप्तिमाप्नोति कामाख्या भैरवी मम रूपधृक् ’ ॥

इत्यादि अनेकों प्राणी के हिंसाजनक अनेकों वाक्य आसुरी सम्पत्ति-वालों ने ही लिखा (रचा) है। जिससे मत्स्य कच्छप ग्राह, मृग पक्षी गोह शूकर बकरा भेंड़ महिष गेंड़ा बाघ सिंह मनुष्य का रुधिर देवी की तृप्ति का हेतु बताया है, और उनका मांस अपने लिये चतुराई से सिद्ध किया है, और मूर्ख मनुष्यों को मनुष्य का मांस भी चखा कर नरक का अधिकारी बनाने का उपाय किया है। लिखा है कि,

'भोज्ये होमे च मांसानि नियुञ्जति विचक्षणः'।

भोज्य (भोजन योग्य) और होम में मांस मिलावे इत्यादि। इससे,

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या पञ्च पञ्चनखेतराः'।

पांच पांच नख वाला और पांच उससे भिन्न ये दश ही भक्ष्य हैं। इस स्वीकृत परिसंख्या को भी वे लोक लांघ गये हैं॥ यद्यपि इनके ही वचनों से सिद्ध होता है कि हिंसा मांसादि द्वारा पूजा मांसभक्षणादि राजसी तामसी पुरुषों के लिये है, जिसका तुच्छ भोग नरकादि फल है। सात्विक के लिये यह पूजा आदि नहीं है। सो लिखा है कि,

'जीवहिंसा विहीना या वरा पूजा च वैष्णवी'।

जीवहिंसा रहित श्रेष्ठ वैष्णवी पूजा है, इत्यादि। और भविष्य पुराण में लिखा है कि,

'शारदी चण्डिका पूजा त्रिविधा परिगीयते।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
सात्विकी जपयज्ञाद्यै नैवेद्यैश्च निरामिषैः।
राजसी बलिदानेन नैवेद्यैः सामिषैस्तथा॥
सुरामांसाद्युपाहारै र्जपयज्ञै विना तु या।
विना मन्त्रैस्तामसी स्यात्किरातानां च सम्मता'॥

और हिंसा रहित जपयज्ञ निरामिष नैवेद्य कृत सात्विक पूजा का फल गोलोक की प्राप्ति लिखा है॥ समांस नैवेद्यादि कृत राजसी का

शिवलोक की प्राप्ति; सुरामांसादि सहित तामसी का नरक की प्राप्ति फल है, तथापि कल्पित मन्त्रों से, वैदिक मन्त्रादि विना हिंसादिमय तामसी पूजा ही लोक करते हैं। और नरक के अधिकारी बनते बनाते हैं। इससे इनकी ऐसी हालत है कि जैसे कोई दीपक लेकर भी कूप में गिरता गिराता हो। साहब ने कहा है कि,

'कर दीपक लिये कूप परै'। (विप्रमतीसी)

और यह लिखा है कि, ब्राह्मण को सात्विकी, राजा वैश्य को राजसी, शूद्र भिल्लादि को तामसी पूजा करनी चाहिये, इत्यादि॥ यहाँ यह समझना चाहिये कि नरकादि का हेतु पाप रूप पूजा शूद्र भिल्लादि क्यों करें। क्या ऐसे कर्म के लिये विधि होना उचित है इत्यादि। और क्षत्रिय वैश्य भी सात्विक ही पूजा क्यों न करें। यदि कहा जाय कि प्रकृति के अनुसार कर्म करना उचित है, तो सो कहना ठीक नहीं; क्यों कि राजसी तामसी प्रकृति (स्वभाव) ब्राह्मणों में भी देखी जाती है। और सब जाति की पूजा में बलिदाता प्रायः ब्राह्मण ही होते हैं, इस से सात्विक प्रवृत्ति का अभाव ही होना चाहिये और है॥ वस्तुतः सब जाति में सात्विक, राजस, तामस मनुष्य होते हैं। बहुत मनुष्य ऐसे हैं कि जिनके लिये शास्त्र का दर्शन स्वप्न में भी नहीं है, तौ भी किसी को पीड़ित करना नहीं जानते हैं। इससे सबको अपने कल्याण के लिये सात्विक ही पूजा आदि में अधिकार होना उचित है। नरक के हेतु पूजा में किसी का अधिकार वा सत्शास्त्र की आज्ञा नहीं हो सकती। मोहादि वश लोक स्वयं पाप करते हैं, शास्त्र की क्या जरूरत है। और उत्कृष्ट सत्त्व गुण से सब सुख ज्ञानादि होते हैं, सो सत्त्व किसी में स्वाभाविक अनादि नहीं रहता है, किन्तु सत्शास्त्र गुरु के उपदेशादि से राजसादि प्रवृत्ति के त्यागपूर्वक यथाशक्ति सात्विक प्रवृत्ति आदि से इस जन्म में वा जन्मान्तर में उत्कृष्ट होता है, तथा राजस तामस प्रवृत्तिजन्य पापपंक की निवृत्ति भी सात्विक क्रिया रूप

जल से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं; परंतु लोक क्या करें, वाग्जाल में पड़ कर विवेक रहित हो रहे हैं। इस से साहब कहते हैं कि,

'सतगुरु वचन सुनहु हो सन्तो, मति लेहु शिर भार।'

सा० २५७

गायत्री तन्त्र में शिवजी के वाक्यरूप से लिखा है कि,

'बलिभिः साध्यते मुक्तिर्बलिभिः साध्यते दिवम्।
बलिवाचकः पूजा स्यात्पूजकः साधकः स्मृतः॥
कुतो हत्या च पूजायां कस्य हत्या वरानने।
सर्वं ब्रह्ममयं ह्येतत्पूजाकाले विशेषतः॥
इति यो वेत्ति स ज्ञानी स एव वैष्णवोत्तमः'॥

नारदजी की उक्ति रूप उसी तन्त्र में वचन है कि,

'यत्र यत्र पुराणेषु निषेधं कुरुते बलेः।
तत्तद्बौद्धमतं राजन् न च वेदेषु सम्मतम्॥
शस्यते नृपतिश्रेष्ठ सात्विके पूजने बलिः।
एकेन बलिदानेन चतुर्वर्गमवाप्नुयात्॥
बहुभिर्बलिदानैस्तु परब्रह्ममयो भवेत्'॥ इत्यादि

अन्य ग्रन्थों से सिद्ध हुआ है कि, हिंसा रहित सात्विक पूजा है, अन्य राजस तामस है। और इन वाक्यों से सिद्ध होता है कि बलि से ही मोक्ष स्वर्ग होता है, बलि का ही वाचक पूजा शब्द है, बलि द्वारा पूजक ही साधक है, अन्य नहीं। पूजाकाल में सब विशेषतः ब्रह्ममय है इससे पूजा में किसी की किसी प्रकार हिंसा नहीं है, ऐसा जाननेवाला ही उत्तम वैष्णव है॥ पुराणों में बलि का निषेध है सो बुद्धमत है, इस से वेदसम्मत नहीं है। सात्विक पूजन में बलिदान श्रेष्ठ है, एक बलिदान से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है। बहुत बलिदान से पुरुष ब्रह्ममय हो जाता है, इत्यादि॥ विवेक विचार विना इन बातों को

शिवजी नारदजी का उपदेश मान कर मनुष्य हिंसादि रूप महापाप में प्रवृत्त होता है। समझता नहीं कि, श्रुति आदि में अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। ज्ञान विना मुक्ति नहीं होती ऐसा वेदवचन है। पूजा सत्कार को कहते हैं, किसी की हिंसा से सत्कार नहीं होता। और यदि सबके ब्रह्ममय होने से हिंसा नहीं है तो पूजक अपने पुत्रादि को क्यों नहीं मारता, सब में ब्रह्मदृष्टि काल में पूज्य पूजक पूजा आदि कैसे सिद्ध हो सकते हैं। और बलिदान को जानने से वैष्णवोत्तम नहीं हो सकता किन्तु सर्वात्मा विष्णु को जान कर द्रोहादि के त्यागपूर्वक अनन्य भक्ति से वैष्णवोत्तम होता है। और यदि बलिके निषेध रूप अहिंसाबोधक पुराण के वाक्य बुद्धमत हैं, तो हिंसारूप बलिविधायक यवन राक्षस मत कहा जा सकता है, इससे अहिंसाबोधक ही वेद सम्मत वाक्य है। और स्वर्गादि के हेतु हैं। परन्तु सद्गुरु रहित मनुष्य को विचार विना पता नहीं लगता। इस से साहब ने कहा है कि,

'जाको सतगुरु नहीं मिला, व्याकुल दहुं दिशि धाव।
आंखि न सूझै बावरा, घर जर भूर बुताव'॥
साखी० २४३।

'जाके गुरु है आंधरा, चेला काह कराय।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दोनों कूप पराय'॥
साखी० २०१

और, 'अन्धस्यैवान्धलग्नस्य विनिपातः पदेपदे'॥

यह न्याय गुरुविचार विना लोक में चरितार्थ हो रहा है। इससे अत्यन्त विचार सावधानी की आवश्यकता है। किसी श्लोक मात्र को धर्मशास्त्र मानने का समय नहीं है। विचारपूर्वक चलनेवाले अहिंसक से यदि भूलसे वा अशक्य हिंसा होती है तो उसका दोष नहीं लगता, तथा सुगम उपाय से दोष की निवृत्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय सब मनुष्य के लिये तुल्य धर्मरूप हैं। ब्रह्मचर्य में भेद है, गृहस्थ से अन्य के लिये

मन वचन शरीर से सर्वथा मैथुन का त्यागरूप धर्म है और गृही के लिये परस्त्रीगमन, संध्यागमन, दिवागमन, रजोदर्शन सहित दिवसगमन, अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमागमनादि का त्याग ही ब्रह्मचर्य धर्म है। अन्यथा अधर्म है। विरागी के लिये अपरिग्रह धर्म है। यथाशक्ति श्रेष्ठ उपदेशों को सुनना सब का धर्म है। योग्य पुरुषों के प्रति उपदेश देना महात्मा ब्राह्मणादि के लिये उचित है। साहब ने कहा है कि,

'सोइ हित बन्धु मोहि मन भावै। जात कुमारग मारग लावै'।
रमैनी ६६

हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार, जूवा, मांसाहार, मद्यपान, मादक द्रव्य सेवन, कुसंग, कम अवस्था में स्त्रीसंगादि कुमार्ग हैं; आलस्यादि प्रमाद हैं, गुरु महात्मा लोक मनुष्यों को इनसे बचाते हैं; शुभ विद्या, अहिंसा आदि समझाते हैं, क्यों कि यही सुमार्ग है। रजोयुक्त स्त्रीगमन से बुद्धि, बल, नेत्र, आयु इन सब की हानि होती है। इस से यह कठिन कुमार्ग है। रजोयुक्त स्त्री चार दिन अपवित्र रहती है, इससे भी रजोवतीगमन, उसके हाथ का भोजनादि कुमार्ग है। बिमार पुरुष के समान वह स्त्री अपनी क्रिया भोजनादि पृथक् करे, सोई उचित मार्ग है। संध्या के समय और दिन में उत्तर मुख हो कर शौच पेशाब करना रात्रि के समय दक्षिण मुख होकर करना, छाया में मेघ के लगे रहने पर जैसे अनुकूल हो वैसे ही करना, किसी कुमौका के बिना जलाशय में मल को नहीं धोना, शौच मैदान के समय जल साथ ले जाना, मलिन स्थान पैखाना आदि में जाना हो तो दूर से पवित्र मिट्टी ले जाना, मल त्याग के बाद मूल स्थान में मिट्टी लगा कर जल से धोना, जलपात्र को मलिन स्थान में नहीं रखना, पवित्र भूमि में वा हाथ में रखना, मल साफ करने के बाद जलपात्र को पवित्र भूमि में रख कर वा बगल में दाब कर दहिने हाथ से कपड़ा पहनना, पात्र लेना, फिर जल मिट्टी से हाथ को पवित्र करना, पेशाब करने पर भी लिङ्ग को मिट्टी जल से या

केवल जल से साफ करना, वासस्थान के बहुत समीप में पेशाबादि नहीं करना, न किसी के सामने करना, कफ कांची आदि के संबन्ध होने पर भी हाथ धोना, हो सके तो दोनों संध्या पवित्र जल से स्नान करना, नहीं तो सबेरे अवश्य स्नान करना, और स्नान के बाद यथाशक्ति अपने इष्ट के स्मरण ध्यानादि करना सुमार्ग है। स्त्रीसंग, अपवित्र स्पर्श, क्षौरकर्म के बाद भी अवश्य स्नान करना चाहिये, रोगी को वस्त्र बदलना चाहिये, स्नानादि विना बाहर की अपवित्रता से मन भी मलिन दुष्ट हो जाता है, तब सांसारिक सुख भी नहीं मिलता, मोक्ष तो सहज ही सुदूर हो जाता है। दक्षस्मृ० अ० २ में लिखा है कि,

' प्रातः स्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टकरं हि तत्।
सर्वमर्हति पूतात्मा प्रातः स्नायी जपादिकम् '॥
' गुणाः दश स्नानपरस्य साधो रूपं च पुष्टिश्च बलं च तेजः।
आरोग्यमायुश्च मनोऽनुरुद्धदुःस्वप्नघातश्च तपश्च मेधा '॥

महात्मा लोक प्रात.काल के स्नान की प्रसंशा करते हैं। क्यों कि वह प्रत्यक्ष परोक्ष दोनों फल का हेतु है। प्रात:स्नान करनेवाला पवित्रात्मा जपादि सब कर्म के योग्य होता है॥ स्नानपरायण साधु मनुष्य को रूप, पुष्टि, शक्ति, कान्ति, निरोगता, आयु, मन से गृहीत वासना, दुष्ट स्वप्न का नाश, शुद्धिरूप तप, सुबुद्धि; इन दश गुणों की प्राप्ति होती है। हीन जाति के मनुष्य भी अपने योग्य व्यवहार के बाद स्नान. ध्यानादि से पवित्र हो कर भोजनादि करने से, ईर्षा द्वेषादि के त्याग से कल्याणों के कल्याण पाते हैं। लिङ्ग का दुरुपयोग से मनुष्य नष्ट ही हो जाता है, इससे निष्प्रयोजन इस का स्पर्श भी नहीं करना चाहिये, न उसके पास के बालों को ही छूना चाहिये; इत्यादि सत्मार्ग बतानेवाला गुरु सब के हितकारक बन्धु हैं, वे ही मेरे मन में अच्छे लगते हैं, इत्यादि साहब का कथन है। और दुरुपयोग से बचने के लिये सत्संग विचारादि सदा कर्तव्य हैं। साहब कहते है कि,

'नित खरसान लोह घुन छूटै। नितकि गुष्टि माया मोह टूटै'।
सा० २३१

सन्तों को किसी कुमार्ग से सुमार्ग में क्यों लाना चाहिये? ऐसी शंका हो तो, उत्तर है कि, 'परोपकाराय सतां विभूतयः'।

सत्पुरुषों की विद्याबलादि विभूति परोपकार के ही लिये होती है। और सब संसार के धन जनादि सन्तों के ही हैं, इस से इन की रक्षा आदि उचित है इत्यादि॥ इसी से स्मृति में लिखा है कि, जो ब्राह्मण परोपकारार्थ वेदाध्ययनादि नहीं करता हो, उसे भिक्षा देनेवाले ग्राम को राजा दण्ड दे; क्यों कि वह ग्राम चोर को भाग देनेवाला है, इत्यादि, और यह उपदेश देना आदि रूप व्यवहार भी मध्यमावस्था के महात्माओं के लिये है, समाधि विचारादि परायण के लिये उत्कृष्ट जिज्ञासु के प्रति आत्मोपदेशादिक ही आवश्यक है। उनकी कृपा दर्शनादि से भी सामान्य जनता को बहुत उपकार होता है।

'स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः'॥
मुण्डक० ३।२।१

वह ज्ञानी इस ब्रह्मरूप परम धाम को जानता है, जिस ब्रह्म में विश्व स्थिर है, तौ भी वह शुद्ध स्वरूप से प्रकाशता है, उस ज्ञानी पुरुष की उपासना सेवा जो कोई निष्काम होकर करते हैं, सो यह शुक्र (वीर्य) मय देह में नहीं आते, विदेह मुक्त होते हैं

'[1]तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'।

ज्ञानी की कृपादृष्टि के विषय मनुष्य सब पाप से मुक्त होता है, यह बात स्मृति कहती है। उक्त दृढ ज्ञानी यदि विविध उपदेश दें तो भी उनकी कोई हानि नहीं होती, यह चर्चा फिर होगी। प्रासङ्गिक बातों को समाप्त कर के यज्ञ की चर्चा होनी चाहिये॥

१ वराहोपनिषद् अ० ४।४३॥

अथ यज्ञविचारः ॥ ५ ॥

बहुत लोक कहते हैं कि यदि हिंसा मद्यादि निषिद्ध है तो,

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत । सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' ॥

इत्यादि वचनों से याग में पशुहिंसा मद्यपान क्यों विहित हुआ है, तो इसका समाधान यह है कि ये विधि किसके लिये किस अवस्था में हैं, प्रथम इस बात को समझना चाहिये । तथाहि किसी २ ग्रन्थ में ब्राह्मण ही के लिये विधिपूर्वक संन्यास लिखा है, कहिं द्विज मात्र के लिये लिखा है, और अलिङ्ग सन्यास शूद्र के लिये भी लिखा है; भक्ति, उपासना विशेषादि भी कहिं सब के लिये लिखा है; इस प्रकार संन्यास में विवाद होते भी संन्यासी के लिये अहिंसा सर्वत्राभयदान सर्वत्र लिखा है, यज्ञ का भी संन्यासी अधिकारी नहीं होता । भक्त विशेष की भी वही बात है । वानप्रस्थ का मुन्यन्न से जीवन तप विहित है, ब्रह्मचारी मात्र के लिये भी हिंसामय यज्ञ का निषेध ही है । शूद्र के लिये भी हिंसा यज्ञादि का निषेध ही है । बाकी रहे द्विजाति गृहस्थ जो यज्ञ के अधिकारी माने गये हैं, उन में भी ब्राह्मण के लिये हिंसामय यज्ञ का निषेध ही है । पुलस्त्य संहिता में लिखा है कि,

'मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोः ।
मधुप्रदानं शूद्रस्य सर्वेषामविरोधि यत्' ॥

देव पितृ को देने के लिये ब्राह्मण को मुन्यन्न कहा गया है, क्षत्रिय वैश्य को मांस, शूद्र को सहत कहा गया है, जो सब के अविरोधी हैं ॥ और महाभारतादि से सिद्ध होता है कि किसी जाति के सात्विक पुरुष के लिये हिंसामय यज्ञ नहीं है, न हिंसामय यज्ञ सनातन धर्म है । शान्तिपर्व के मोक्षधर्म सम्बन्धी २५९, २६२, २६३, २६४, २६५, २७२ अध्यायों में लिखा है कि,

'यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परस्य कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥
जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत्तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा' पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥
यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाक्क्रूराद्दण्डपरुषात्स प्राप्नोति महद् भयम् ॥
यथावद्वर्तमानानां वृद्धानां पुत्रपौत्रिणाम् ।
अनुवर्तामहे वृत्तमहिंस्राणां महात्मनाम् ॥
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ॥
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ।
पूजा स्याद्देवतानां हि यथाशास्त्रनिदर्शनम् ॥
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ।
ते तु तद् ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्विकाः ॥
नैव ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः ।
सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया ॥
सुराभत्स्यान् मधुमांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु दृश्यते ॥
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥
तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा ।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया' ॥ इत्यादि

मनुष्य जो अन्य से किया हुआ कर्म अपने लिये नहीं चाहे, उस कर्म को अपने लिये अप्रिय जानता हुआ अन्य के लिये नहीं करे ॥ जो अपने जीना चाहता है सो अन्य का घात कैसे करा सकता है, जो

अपने लिये चाहे सोई दूसरे के लिये भी शोचे ॥ हे जाजलि ! प्राणी के द्रोह विना वा अल्प द्रोह से जो वृत्ति है सो श्रेष्ठ धर्म है, उसी से जीता हूं ॥ जिस कठोर वक्ता तीक्ष्ण दण्ड दाता से लोक उद्विग्न होता है, जैसे मृत्यु मुख से डरता हो, वह भी महा भय पाता है ॥ श्रुति, स्मृति, सदाचार, आत्मप्रियत्व; ये चार धर्म में प्रमाण कहे गये हैं। तहाँ यथा योग्य व्यवहर्ता, वृद्ध, पुत्रादिवाले, अहिंसक, सत्पुरुषों का आचार प्रमाण है, उस को मै वर्तता हूं ॥ गृहस्थ पुरुष की दृष्टि से यह कथन है, जो अधर्म करने पर पुत्रादि नाश से डरता है ॥ प्राणी की अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है ॥ नमस्कार, हविष, औषधाध्ययन से भी देवपूजा होती है, जैसे शास्त्र में कहा है ॥ जिस मोक्षपद में जाकर मनुष्य शोक पात व्यथा रहित होते हैं, उस ब्रह्मस्थान को सात्विक ही पाते हैं ॥ वे सात्विक स्वर्ग नहीं चाहते, न यशः (ब्रह्म) को धन से सिद्ध होनेवाले यज्ञ से पूजते हैं, किन्तु सत्पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करते हैं, हिंसा विना यज्ञ करते हैं ॥ मदिरा, मत्स्य, मधु, मांस, आसव, तिल, भात; ये सब धूर्तों से कर्मविशेष में सिद्ध हुए हैं, वे सब वेद में नहीं हैं ॥ मान, मोह, लोभ से ही सब लोलुपता प्रवृत्त हुई है, इस से ब्राह्मण लोग सब यज्ञ में ईश्वर को ही जानते हैं (सात्विक पुरुष ईश्वर बुद्धि सर्वत्र रखते हैं) ॥ धर्मनामक महात्मा शापादि से मृगयोनि में प्राप्त होने पर भी जानता था कि मेरा यज्ञ में मृत्यु हो तो, शाप रहित होऊं । इस से सत्य नामक ब्राह्मण के आश्रम में रहता था, जब वह ब्राह्मण सामां आदि अन्न से यज्ञ करने लगा, तब मृग बोला कि, पशु का पुरोडाश विना यज्ञ करोगे तो स्वर्गगामी नहीं होगे। इस से मेरा अग्नि में हवन करो। मृग की इस बात को सुन कर हिंसा का संकल्प करते ही उस के महान तप नष्ट हो गये । इस से हिंसा यज्ञार्थक नहीं है ॥ इस से स्पष्ट होता है कि, किस प्रकार हिंसादिमय यज्ञ का प्रचार हुआ है, और किस के लिये हुआ है । इत्यादि ॥ और,

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया शमः।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशं क्षमा धृतिः।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेव दुरासदम्'॥

इस मत्स्यपुराण के वचन से अद्रोहादि को सनातन धर्म के दुरासद (दुर्लभ) मूल बताया गया है। महाभारत शा० अ० ३४० ।८२-८३-८४। में लिखा है कि,

'इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा॥
चतुष्पात् सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः।
ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति॥
प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यंति वै मखे।
यत्र पादचतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति'॥

यह कृतयुग नामक श्रेष्ठ काल प्रवृत्त हुआ है। इस युग में यज्ञ में पशुहिंसा नहीं होना है, यह बात अन्यथा नहीं होगी॥ हे देव! इस युग में सब धर्म चार पाद युक्त रहेगा। इस के बाद त्रेता युग होगा, जिस में वेदत्रय प्रगट होंगे, प्रोक्षित पशु यज्ञ में मारे जायंगें, धर्म का चौथा पाद नहीं रहेगा। इस से सिद्ध होता है कि त्रेता में हिंसाबोधक वेद-वचन का निर्माण हुआ, जिस से दया वा अहिंसारूप धर्म के एक पाद का नाश हुआ, सतयुग मात्र में चार पाद धर्म के थे। और उसी अध्याय के वचन हैं कि,

'एकपादस्थिते धर्मे यत्र क्वचनगामिनि।
कथं कर्तव्यमस्माभि र्भगवंस्तद्वदस्व नः॥
यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा।
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः॥
स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत्'॥

अ० ३४०।३४-८८-८९

विष्णु भगवान से देव सब पूछते हैं कि, जब कलि में धर्म का एक दान ही रूप पाद रहेगा, जिस से जहाँ कहिं गामी धर्म रहेगा, तब हम को क्या करना होगा सो कहिये। भगवान बोले के हे देव! वेद, यज्ञ, तप, सत्य, दम; ये सब जहाँ अहिंसा धर्म युक्त हों, वही देश आपके सेवन योग्य है कि जिससे अधर्म का पाद से स्पर्श नहीं हो॥ इससे सिद्ध होता है कि कलि में भी अहिंसायुक्त यज्ञ दानादि होते हैं वहाँ देव रहते हैं, और वहाँ सतयुग ही रहता है। और हिंसा की जगह में राक्षस भूत पिशाचादि ही रहते हैं, हिंसायुक्त पूजा राक्षसादि की ही होती है, उन्हींसे पूजक को तुच्छ फल भी मिलता है। तुलसीदासजी महात्मा रचित 'मनोबोध' में हिंसक को असुर कहा है। तथाहि

'इन्द्रजालवत खेल रची, जाय जगत व्यवहार।
हिंसा प्रगटी आसुरी, भये असुर संसार॥
जीवद्रोह पातक महा, यहि ते अपर न आन।
ताते ब्राह्मण नहिं रहे, वादि कहत परमान'॥

भरत जी के प्रति रामजी के उक्त वचन को सुन कर,

'शुचि सुनि विश्वामित्र तव, बोले वचन सरोष।
राम कहहिं द्विज कहँ असुर, महाराज बड़ दोष॥
परम पुरुष परमातमा, ईश्वर सरिस न कोय।
यज्ञपुरुष सम साक्षि सोइ, तेहि निमित्त मख होय'॥

इत्यादि। भरत वचन,

'ब्राह्मण को नहिं दोष कछु, कीन्हों राम सुजान।
कर्म शुभाशुभ दोषगुण, सो अब सुनिय प्रमान॥
कर्म युगल छोटो बड़ो, सो सब विधि परधान।
तिहि लघु माने ते कहहु, को नहिं होत मलान॥
सुनहु नाथ सबही कहत, ईश्वर सकल अकाम!
ताहि कामना यज्ञकी, कहाँ रह्यो सुखधाम॥

अविनाशी अव्यय अमल, सहज निरामय रूप।
तेहि निमित्त हिंसा करहि, कहि वर धर्म अनूप॥
जो ब्राह्मण की सृष्टि यह, सांच कहत श्रुति गाय।
सो कुलघाती विप्र कुत, रहे सुनहु मुनिराय॥
दया गेह ब्राह्मण विमल, सुनिये कृपा निधान।
दयाहीन आसुर सबही, सत्य सुनहु परमान'॥ इत्यादि

म० भा० आश्वमेधिकप० अ० ९१। वायुपु० अ० ५७। मत्स्यपु० अ० १४३। और ब्रह्माण्डपुराण से भी हिंसायुक्त यज्ञ सात्विक के लिये निषिद्ध है। लिखा है कि,

'ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः'॥ इत्यादि

इन्द्रकृत यज्ञ के आरम्भ में तपस्वी ऋषिलोक दीन पशुओं को देखकर इन्द्र के पास जाकर बोले कि, यह यज्ञविधि शुभ नहीं है, इत्यादि।

'चतुर्विधानां भूतानां कर्मणा मनसा गिरा।
अहिंसायां सदा धर्मश्चतुष्पाद्धि व्यवस्थितः'॥
आत्मपु० अ० ६।११६

चारों प्रकार के प्राणी की अहिंसा करने पर चार पादयुक्त धर्म स्थिर रहता है॥ और,

'लोके व्यवायाऽऽमिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना'॥
स्क० ११।५।११

इत्यादि श्रीमद्भागवत से और सर्वानुभव से सिद्ध है कि, लोक में व्यवाय (मैथुन), मांसाहार, मद्यपान; ये सब राग से स्वाभाविक ही प्राप्त हैं; इससे इनके लिये कहीं भी विधि नहीं है। अप्राप्त का शास्त्र विधान करता है; किन्तु जो शास्त्र में इनकी चर्चा है, उस का नियम द्वारा निवृत्ति में ही तात्पर्य है॥ इससे सत्पुरुषों को हिंसामय यज्ञादि में भी

नहीं प्रवृत्त होना चाहिये, किन्तु अहिंसामय यज्ञादि से ज्ञान के लिये अन्तःकरण को शुद्ध करना चाहिये ॥

स्त्रीसंग से स्त्री को क्षणिक सुख और महान् दुःख होता है, इससे मैथुन भी हिंसारूप है, और ब्रह्मचर्य अहिंसारूप है, इत्यादि आत्मपुराणं में विस्तार से बताया गया है। स्त्री और गर्भ के बच्चा को जो दुःख होता है उस के दोषभागी मैथुनकर्ता पुरुष होता है, इत्यादि। इसलिये मुमुक्षु को यथाशक्ति ब्रह्मचर्य को अवश्य धारण करना चाहिये ॥ और महाभारत में लिखा है कि,

'मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥
शुक्राच्च तात संभूतिर्मांसस्येह न संशयः।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वा प्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया' ॥

अनुशा० प० अ० ११५-११६

जो धर्मात्मा जन्म से मरण तक मधु मांस मद्य का त्याग करते हैं, सो सब मुनि कहे जाते हैं ॥ मांस की उत्पत्ति वीर्य से होती है, उसमें संशय नहीं है। उस के भक्षण में महान दोष है, निवृत्ति से पुण्य कहा गया है ॥ सब यज्ञ में दान, सब तीर्थ में स्नान, अन्य सब प्रकार के दान का फल; ये सब अहिंसा के तुल्य नहीं हैं ॥ इत्यादि कथन से अहिंसा परम श्रेष्ठ सिद्ध होती है। परन्तु विचारहीन भोगलोलुप के लिये जैसे अन्य अनेकों लौकिक हिंसा आदि कर्तव्य हैं, तैसेही पारलौकिक तुच्छ भोगों के लिये अनेकों कर्तव्य कर्म हैं। परन्तु जिज्ञासु मुमुक्षु के लिये सब त्याग योग्य हैं। यद्यपि सब कर्म का फल अवश्य होता है; परन्तु सब फल सब के लिये नहीं होता। जैसे भूत प्रेतादि की सिद्धि में

नीचों की ही प्रवृत्ति होती है। कर्णपिशाची, उच्चिष्ट गणेश की सिद्धि उत्तम पुरुषों को नहीं मिल सकती; क्यों कि अपनी विष्ठाभक्षण से जो सिद्धिफल मिलता है, सो पवित्रात्मा सत्पुरुष को कैसे मिल सकता है, अन्य कर्मों में भी ऐसा ही जानना चाहिये॥ यद्यपि गीता में देवपूजा को शारीरिक तपरूप कहा है, तथापि अमरकोश में यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत को भी देवयोनि में गिने हैं। और ये सत्पुरुष के पूज्य देव नहीं हैं, सो लोक में भी प्रसिद्ध है। किसी शक्तिविशेष से भूतादि भी देव कहे जाते हैं, परन्तु दयालु अहिंसक पवित्र देव ही सत्पुरुष के पूज्य होते हैं। जैसे धनादि युक्त शक्तिमान् मनुष्य हिंसक व्यभिचारी होते भी लोकमान्य होता है, परन्तु सज्जन उसे पूज्य नहीं समझते, सोई बात देव में भी जानना चाहिये॥ लिखा है कि,

'दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'॥

सांख्यकारिका २

अनुश्रव (वेद) से ज्ञात (जाना गया), आनुश्रविक (हिंसायुक्त कर्म) फल भी दृष्ट (लौकिक) कर्म के तुल्य हैं (मुक्ति के हेतु नहीं हैं) और अशुद्धि (पाप) क्षय, अतिशय (न्यूनाधिक भाव) से युक्त है। और अहिंसा आदि से प्राप्त होने योग्य जो व्यक्त अव्यक्त आत्मा के ज्ञानादि द्वारा मोक्ष सो इन दोषों से रहित है, इसीसे अति श्रेष्ठ है॥ तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्रतिपादक वचनादि से यह भी सिद्ध होता है कि, संचित आगामी कर्म तत्त्वज्ञानाग्नि से दग्ध बीज तुल्य हो जाते हैं, या अज्ञान की निवृत्ति से उन का नाश हो जाता है। प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति भोग से ही होती है। इससे,

'सर्वाणि पूर्वकर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्ते'।

सब पूर्व जन्म के कर्म अन्तिम जन्म में फल देते हैं। यह न्यायभाष्यादि का कथन ठीक नहीं। क्यों कि अनेक जन्म के परस्पर विरोधी कर्मों का

एक जन्म में फल भोगे नहीं जा सकते, और सब• ज्ञानी को सिद्धि का नियम के अभाव से कायव्यूह से भी विरुद्ध कर्मों का एक काल में भोग नहीं हो सकता, इससे एक भविक वाद सम्बन्धी मीमांसकों की उक्ति भी ठीक नहीं। और योगदर्शन के साधन पाद में,

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'। १३ ॥

अविद्यादि मूल कारण के रहते ही कर्माशय (धर्माधर्म) के फल रूप जन्म आयु भोग होते हैं। इसी प्रसंग से भाष्य में जो एकभविक (एकभावी जन्म) का कथन है, उस में विरोध नहीं है; क्योंकि अदृष्ट वेदनीय (भावी जन्म में भोग योग्य) नियत विपाक (अवश्य फलदाता) कर्मों से एक जन्म होता है, और अनियत विपाक (फल) वाले कर्म बाकी रहते हैं, इत्यादि विशेष वहाँ माना गया है ॥ प्रकरण याग का है, हिंसायुक्त यज्ञ में पापादि सुन कर मीमांसक शंका करते हैं कि, 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इत्यादि निषेध से याग सम्बन्धी हिंसा को पापरूप कहना उचित नहीं है, क्योंकि हिंसा का निषेध रूप सामान्य शास्त्र है, उस का याग में हिंसाविधायक विशेष शास्त्र से बाध होता है, और यदि याग की हिंसा पापरूप होती तो शास्त्र उस का विधि नहीं करता, तथा उस में आस्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती। और हिंसानिषेधक श्रुति किसी याग के प्रकरण में नहीं पढ़ी गई है। इससे यागार्थक हिंसा का नहीं निषेध करती है, किन्तु पुरुषार्थक (पुरुष के भोगादि के कारण) हिंसा का निषेध करती है, इससे याग की हिंसा से पाप नहीं होता इत्यादि। इस शंका का उत्तर है कि सामान्य शास्त्र का विशेष शास्त्र से विरोध होने पर बाध, (निवृत्ति) होता है। यहाँ विरोध नहीं है। क्योंकि सामान्य शास्त्र हिंसा को पापजनक बताता है, विशेषशास्त्र पशुहिंसा को यागार्थक कहता है, इससे भिन्न विषय होने से विरोध नहीं है। यदि सामान्य शास्त्र हिंसा में यागार्थकत्व का निषेध भी करता, तब विरोध होता। इस से बाध्यबाधकभाव नहीं है। और

पापजनक होते भी पुण्यविशेष का भी जनक होने से हिंसासहित याग का विधि कामी के प्रति हो सकता है। क्योंकि यह पुण्य-पापमिश्रित कर्म है, यागविहित हिंसा से पाप नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि, 'मा हिंस्यात्' इस वचन का संकोच में कोई प्रमाण नहीं है। और 'परागावर्ततेऽध्वर्युः पशोः संज्ञपनात्' पशुहनन जन्य पाप का भय से अध्वर्यु लौटता है। इस तैत्तिरीय श्रुति से याग की हिंसा स्पष्ट ही पापरूप सिद्ध होती है, और जैसे शत्रुमारण का हेतु पापजनक श्येन यागादि में परस्त्रीगमनादि में क्रोधान्ध रागान्ध आस्तिक कामी की प्रवृत्ति होती है, तैसे ही रागान्ध की हिंसायुक्त यागादि में प्रवृत्ति हो सकती है, और निषेधशास्त्र को पुरुषार्थक हिंसामात्र विषयक कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि 'मा हिंस्यात्' इसको यदि यागीय हिंसाविषयक नहीं मानो, तो इसको सामान्यशास्त्र कहना रूप तुम्हारा ही वचन विरुद्ध होगा॥ क्योंकि हिंसामात्र विषयक होने विना सामान्यशास्त्र नहीं हो सकता है। और दूसरी बात है कि यद्यपि निषेध शास्त्र पुरुषार्थक ही है, तथापि निषेध का विषय हिंसासामान्य है, याग में हिंसा की विधि होने से, वह हिंसा यद्यपि निषेध योग्य रूप वाली नहीं रहती, तथापि निषेध शास्त्र के सामान्य होने से उस में भी पापजनकत्व का बोध कराता ही है। और शताश्वमेध याग से इन्द्रपद की प्राप्ति लिखा है, तिस इन्द्र को भी दैत्यादि से युद्धादिजन्य दुःख का वर्णन श्रुत्यादि में प्रसिद्ध है, इस से भी यागीय हिंसा पापजनक और निषेध का विषय सिद्ध होता है। और,

'तस्माद्यास्याम्यहं तात दृष्ट्वेमं दुःखसन्निभम्।
त्रयी धर्ममधर्माढ्यं किंपाकफलसन्निभम्'॥

हे तात! तिस से दुःखतुल्य अधर्मव्याप्त किंपाक (कुत्सित पाक) युक्त फल समान त्रयी (वेद) विहित धर्म को देखकर मैं जाऊंगा। इस मार्कण्डेय पुराणवचन से भी यागीय हिंसा पापजनक सिद्ध होती है। इस से,

'अग्नीषोमीयहिंसाऽप्यसति विधेयत्वे प्रतिषेधगोचरः स्याद्विधेयत्वे तु 'विधेर्विशेषविषयत्वात् सामान्यविषयो निषेधस्तद्विरोधाद्धिंसान्तराण्यवलम्बते'।

इत्यादि शास्त्रदीपिका का कथन अयुक्त है। तथा,

'वैधहिंसाया न प्रत्यवायजनकत्वम्'

इत्यादि प्रभाकरवचन भी ठीक नहीं है॥ अग्नीषोमीय पशु की हिंसा यदि विधेय नहीं होती, तो निषेध का विषय होती, परन्तु विशेष रूप से विधेय होने से, सामान्य निषेध, यागीय हिंसा से अन्य का ही निषेध करता है। वैध (विहित) हिंसा पाप का जनक नहीं होती, यह भावार्थ है। इसी प्रकार-

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। (पूर्वमीमांसासूत्र)

इस सूत्र के भाष्यादि में सूत्र के अर्थ शब्द से श्येनादि अभिचार मात्र (शत्रुमारण) की व्यावृत्ति लिखा है कि श्येनादि पापरूप है, धर्म नहीं है, यागीय हिंसाविषयक विचार नहीं किया, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि जब श्येनयाग का फल हिंसारूप होने से पाप है, तो स्वयं हिंसारूप हिंसायुक्त कर्म क्यों नहीं पापरूप है। यदि कहा जाय कि इससे स्वर्ग होता ह, इस से पापरूप नहीं है तो श्येन से शत्रुमरणद्वारा निष्कण्टक राज्यादि की प्राप्ति होती है, इस से दोनों को पुण्यरूप मानना चाहिये। पञ्चदशी में लिखा है कि-

'स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते'। ४।५३

स्वयं अत्यन्त दोषरूप यह कामादि जीवन्मुक्ति का सुख के लिये क्यों नहीं त्यागे जाते॥ यदि विधेय होने से यागीय हिंसा पापजनक नहीं हो, तो श्येन याग का भी विधि है, इस से उस को भी पापजनक मानना उचित नहीं होगा॥ और जो भाष्यकारने लिखा है कि मनुष्य तो यह जानता ही है कि मुझे शत्रुको मारनी है, उपाय नहीं जानता है, इस से श्रुति उपाय मात्र बतलाती है कि,

'श्येनेनाभिचरन् यजेत'

शत्रु मारने की इच्छा हो तो श्येनयाग से इष्टसिद्ध करो॥ परन्तु मारने के लिये विधि नहीं करती है कि मारना चाहिये इत्यादि सो भी कथन ठीक नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि मनुष्य जैसे शत्रु को मारना जानता है, तैसे सुख को भी जानना है कि मुझे सुख प्राप्त करना है, और सुख विशेष को वा सुखभोग के स्थान विशेष को स्वर्ग कहते हैं, उस को विशेषरूप से नहीं जानने पर भी सामान्यरूप से जानने से, तथा अभिलाषा के प्रथम रहने से,

'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'

इत्यादि वाक्य भी श्येनवाक्य के समान विधायक नहीं होंगे। और जैसे श्येनवाक्य सकाम पुरुष के लिये याग विधायक हैं। इसी प्रकार सब याग सकाम के लिये विहित हैं। इस से यज्ञों में जो प्राणी की हिंसा आदि होते हैं उस से कर्ता को पुण्यपाप दोनों होते हैं, और अङ्ग सहित यज्ञ की समाप्ति से तत्तत्फल की प्राप्ति होती है, जैसे लौकिक कर्मों से फल होता है॥ इसी से योगदर्शन पा० ४।१–६-७ के सूत्र हैं कि,

'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। तत्र ध्यानजमनाशयम्। कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्'।

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधिजन्य सिद्धियां होती हैं। उस में ध्यानजन्य सिद्धि चित्त अनाशय (रागद्वेष पापपुण्य रहित) होती है। योगी के कर्म पुण्यपाप से रहित मोक्षजनक होते हैं। अन्य के कर्म तीन प्रकार के होते हैं॥ भाष्य है कि,

'कृष्णा दुरात्मनाम्। शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या, तत्र परपीडा अनुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः। शुक्ला तपःस्वाध्याय-ध्यानवताम्। अशुक्लाऽकृष्णा क्षीणक्लेशानाम्'। इत्यादि

दुष्टों की कर्म जाति अज्ञान तम से कृष्णा (पापरूपा) होती है, बाह्य साधनसिद्ध कर्मजाति शुक्ल कृष्णा (पुण्यपापरूपा) होती है, क्योंकि उसमें पर प्राणी की पीड़ा अनुग्रह दोनों से कर्माशय की वृद्धि होती है। तप-

अध्ययन ध्यानवालों की कर्म जाति शुक्ला (पुण्यरूपा) होती है, क्लेश (अविद्यादि) रहित की अशुक्ला अकृष्णा होती है। इससे सिद्ध होता है कि यज्ञ भी पापजनक है। इसीसे सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि,

'वेद नकल है जो कोइ जानै। जो समझै तो भलो जु मानै'॥
रमैनी ६८

'वेद की पुत्री स्मृतो भाई। सो जेवरि कर लेतहि आई'॥
रमैनी ३४ इत्यादि

भाव है कि जैसे लौकिक प्रवृत्ति पुण्यपापरूप होती है, उसके इष्टानिष्ट फल होते हैं। तैसे ही वैदिक कर्म को भी जानना चाहिये, इससे लोक का नकल (चित्र) रूप वेद है, और उस की पुत्री स्मृति है, इससे प्रायः बन्धन का हेतु होने से सर्वांश में मुमुक्षु के लिये ग्रहण योग्य नहीं है।

'द्वे विद्ये वेदितव्ये'। मुण्ड० १।१।४

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'। भ० गी० अ० २। ४५

इत्यादि वचनों का भी उक्त ही तात्पर्य है, क्यों कि जानने योग्य दो विद्या में ऋग्वेदादि को अपरा विद्यारूप त्रिगुण विषयक ही कहा गया है, वेद त्रिगुणमय संसार का प्रकाशक है, तुम संसार की इच्छासे रहित होवो, इत्यादि भाव है॥ और भी साहब ने कहा है कि,

'निगम रसाल चार फल लागा। तामें तीन समाई'। शब्द ४२

इससे उक्त वचनों का यह भाव नहीं है कि वेद निरर्थक हैं वा वैदिक कर्मादि निष्फल हैं। किन्तु काम हिंसादि युक्त कर्मों के बोधक वेद स्मृति को लोक सदृशता बन्धन हेतुता के निरूपण में तात्पर्य है॥ इस रीति से वैदिक हिंसायुक्त कर्मों से केवल पुण्य का प्रतिपादक शांकर भाष्यादि भी ठीक नहीं प्रतीत होते। तथाहि, इष्टादि (वैदिकादि) कर्म करके चन्द्रलोक में प्राप्त जीव के वहाँ से लौटने के विषय में, छान्दोग्य

अ० ५।१०।५-६-७। श्रुति में लिखा है कि भोग के हेतु कर्म जबतक रहते हैं तबतक वहाँ बस कर, जिस प्रकार जाते हैं, उसी प्रकार जीव लौटते हैं। चन्द्रलोक के जलमय शरीर के कर्मक्षय से क्षीण होने पर आकाश, वायु, धूम, अभ्र, मेघ स्वभाव को जीव क्रम से प्राप्त करता है, फिर वर्षा द्वारा भूमि में आकर धानयवादि रूप होता है, और इस भाव से निकलना कठिन होता है, फिर अन्त में पुण्य कर्मवाले शीघ्र ही ब्राह्मणादि पुण्य योनि में और पाप कर्मवाले श्वानादि पाप योनि में प्राप्त होते हैं। यहाँ श्रीव्यासदेवजी का सूत्र है कि,

'अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्'। -अ० ३।१।२४

चन्द्रलोक से लौटा हुआ जीव को, जैसे आकाशादि संबन्ध होता है, तैसे ही अन्य भोक्ता जीव से अधिष्ठित धान यवादि के साथ संबन्ध मात्र होता है, उसमें अभिमान नहीं होता, नहीं तो धानादि के काटने पीसने आदि से उसे जीव त्याग देता। दूसरा सूत्र है कि,

'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्'। २५

श्रीस्वामी शंकराचार्य ने इसका अर्थ किया है कि, यदि कोई कहे कि पशुहिंसादि के संबन्ध से वैदिक कर्म भी अशुद्ध होता है, इससे उसका भी दुःखरूप अनिष्ट फल होना उचित ही है, इसीसे चन्द्रलोक से लौटा हुआ जीव को वस्तुतः मुख्य ही व्रीहि (धान) आदि जन्म होता है। सम्बन्ध मात्र रूप गौण जन्म नहीं होता इत्यादि तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि धर्माधर्म का ज्ञान शास्त्र से होता है, और हिंसायुक्त ज्योतिष्टोमादि को शास्त्र ही धर्मरूप कहा है, तो वह अधर्म युक्त कैसे हो सकता है इत्यादि। अन्य भाष्यकारादि भी प्रायः उक्त ही अर्थ किये हैं। सो सब अर्थ पूर्वमीमांसा के व्याख्यानों की वासना से किये गये हैं। ऐसी प्रतीति होती है। क्योंकि यागसंबन्धी हिंसा में पाप का बोधक महाभारत के कर्ता महर्षि के सूत्र का व्याख्यान भारत के अनुसार होना उचित है॥ इसलिये इस सूत्र का कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि, शंका हुई कि,

'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः'। मनुः अ० १२।९

इस स्मृति के अनुसार शरीरजन्य पाप से स्थावर योनि की प्राप्ति होती है। इससे पाप का फलरूप वह योनि अशुद्ध है, चन्द्रलोक से लौटा हुआ पुण्यकर्मा की उसमें प्राप्ति नहीं हो सकती, इत्यादि। समाधान है कि शब्द प्रमाणरूप वेद ही पुण्यकर्मा की धानादि में प्राप्ति कहता है, इससे यहां शंका करना उचित नहीं है। और उक्त मनु से दैहिक दोष-जन्य भोगार्थक स्थावर भाव की प्राप्ति कही गई है। जो भोक्ता अभिमानी जीवों की होती है। और पुण्यकर्मा की जो उसमें प्राप्ति होती है सो श्रेष्ठ योनि में प्राप्ति का द्वार (हेतु) रूप से होती है, इससे कोई दोष नहीं है। यह अर्थ ठीक प्रतीत होता है। इसी सूत्र के व्याख्यान रूप परिमल में याग़ीय हिंसा को हिंसारूप मान कर 'यज्ञे वधोऽवधः' इत्यादि वचन कथित अहिंसारूपता का निषेध करके लिखा है कि हिंसारूप होते भी पापरूप नहीं है, क्योंकि उसका फल अनिष्ट रूप नहीं होता है, पुरुषार्थक भी बहुत हिंसा ऐसी होती है कि जिसका अनिष्ट फल नहीं होता, फिर क्रतु (याग) के लिये की गई हिंसा में कहना ही क्या है। और,

'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः'। अ० ८।१५।१

इस छान्दोग्य श्रुति से भी हिंसा निषेध और विधि को उत्सर्गापवाद (बाध्यबाधक) भाव सिद्ध होता है, तथा, 'न दोषो हिंसायामाहवे'। युद्ध में हिंसा में दोष नहीं है। इस कथन से, और मदिरा पीनेवाले ब्राह्मण का वध विधि आदि से भी सब हिंसा से पाप नहीं होता। तैसे ही यज्ञ की हिंसा से पाप नही होता। और 'अन्यत्र तीर्थेभ्यः' इस श्रुति बोधित तीर्थ की हिंसा वह है, जो निन्दित नहीं है, जिस के लिये प्राय-श्चित्त का उपदेश भी नहीं है, इससे भिन्न निन्दित ब्रह्महत्या आदि, प्रायश्चित्तोपदेशयुक्त श्येनयाग आततायीवध आदि अतीर्थ हिंसा पापरूप हैं। यागीय हिंसा आदि नहीं, इत्यादि। सो भी परिमल का लेख पूर्वोक्त श्रुति आदि से विरुद्ध होने से ठीक नहीं। महाभारतादि में अनेकों स्थान में

यागीय हिंसा की निन्दा की गई है, उसे अनिन्दित कहना भूल आग्रह-रूप है। और प्रायश्चित्त का अनुपदेश में यह कारण है, ऋगादि सकाम मिश्रित कर्म हैं, इनका सुखदुःखरूप फलभोग से ही इनकी निवृत्ति होती है, इसीसे तो इन्द्रादि को महायज्ञ के फल सुखदुःख दोनों होते हैं। और वस्तुतः —

'स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः'।

योगद० भा० २।१३

इस पञ्चशिखाचार्य के वचनानुसार सिद्ध होता है कि यागजन्य पुण्य की अपेक्षा तत्संम्बन्धी हिंसाजन्य पाप न्यून,(कम) होता है, और प्रायश्चित्त से उसकी निवृत्ति होती है; आलस्यादि से प्रायश्चित्त नहीं करने पर पुण्यफल सुख के साथ दुःख सहना पड़ता है॥ और,

'यत्पशुमायुमकृतोरो वा पद्भिराहते, अग्नि मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्च त्वं हंसः'।

इस ऋग् मन्त्र से पशुहिंसाजन्य पाप की निवृत्ति के लिये अग्निदेव की प्रार्थना है। जिससे पाप और प्रायश्चित्त की भी सिद्धि होती है। याग में मारा जाता हुआ पशु मायु (आर्तनाद) किया था, अपने हृदय में पैरों से पीटा था, उस पीड़ाजन्य सब पाप से हे अग्नि! मुझे मुक्त करो, यह मन्त्र का अर्थ है। इससे प्रायश्चित्त के उपदेश का अभाव कहना ठीक नहीं है। और,

'न वा एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवा निदेषि पथिभिः सुगेभिः'।

ऋग्० म० १।२२।५।२१

हे अश्व! न यह मरते हो न मारे जाते हो, किन्तु सुन्दर मार्ग से देवताओं के पास ही जाते हो। इत्यादि कथन भी अर्थवाद (स्तुति) रूप है, इसका अपने अक्षरार्थ में तात्पर्य नहीं है। किन्तु अत्यन्त बहिर्मुख को अत्यन्त अनर्थरूप लौकिक कर्म से हटाकर वैदिक कर्म में लगाने में मन्त्र का तात्पर्य है। जैसे किसी चोर को चोरी से हटाकर भिक्षा में लगाया

जाय, और कहा जाय कि भिक्षा मांग के खावोगे तो तुझे और भिक्षादाता दोनों को स्वर्गसुख होंगे ! इत्यादि । तहां चोरी छोड़ाने में तात्पर्य्य है, स्वर्गादि में नहीं; क्योंकि महाभारत में लिखा है कि,

'ये धर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः ।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः' ॥

जो पुरुष धर्मरहित को दान देते हैं, सो मरने पर सौ वर्ष तक विष्ठा का भोजन करते हैं, (शूकरादि होते हैं) ॥ श्रद्धालु चोर यदि चोरी छोड़ कर भिक्षा में लगता है, तो उसे धीरे २ शुभ उद्यम में लगाकर उसका सुधारा किया जाता है । इसी प्रकार यागादि की प्रशंसा से जब मनुष्य यागादि में प्रवृत्त होता है, लौकिक दुष्कर्मों से हटता है, कुछ विचारादि युक्त होता है, तब पूर्ण विश्वासयुक्त के प्रति यह उपदेश उपस्थित होता है कि,

'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः' । ईशोप० ९

'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' ॥
कठोप० १।२।५

'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' ॥
मुण्डक १।२।७

वे अन्ध तम में जाते हैं, जो हिंसादि युक्त कर्मरूप अविद्या का सेवन करते हैं । उससे भी भारी तम में देवोपासना रूप विद्या में प्रीतिवाले जाते हैं ॥ अविद्या में रहते भी अपने को पण्डित बुद्धिमान् मानने वाले और अत्यन्त कुटिल (टेढी) गतिवाले महान् अनर्थ को पाते हैं । जैसे अन्धा से कुमार्ग में प्राप्त अन्धा दुःख पाता है ॥ सोलह ऋत्विक् यजमान उसकी स्त्री; ये अठारह के आश्रित जिसमें अवर (हीन–ज्ञानवर्जित)

कर्म कहे गये हैं, वे यज्ञ के स्वरूप प्लव (विनश्वर) अदृढ (अस्थिर) हैं, जो मूढ इसी कर्म को श्रेयस्कर मानते हैं, सो बार बार जरा मरणादि पाते हैं ॥ और सकाम यज्ञादि में भूल आदि से महान् अनर्थ होता है। सो,

'नास्ति यज्ञसमो रिपुः'।

अविधि प्रमादादि युक्त यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं है। इत्यादि कथन से सिद्ध होता है।

'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वाणाः पराबभूवुः'।

देवताओं को जीतने की इच्छा से यज्ञकर्ता असुर सब यज्ञ में, हे अरय, इसके स्थान में हेलय, ऐसा उच्चारण करके पराभव पाये, इत्यादि कथा प्रसिद्ध है ॥ और प्रजारक्षणादि के लिये युद्धादि की हिंसा से पाप अवश्य होता है, परन्तु रक्षा के लिये होने से पाप अल्प (थोड़ा) होता है, रक्षा जन्य महान पुण्य होता है, इस दृष्टि से दोषाभाव कहा गया है ॥ दुष्टों के दण्ड विना भी महान अनर्थ होता है, इससे दण्ड में दोषाभाव कहा गया है। और राज्यकर्म तथा बाह्य साधनसाध्य सब कर्म पुण्य पाप मिश्रित होता है। इसीसे महाभारत स्वर्गारोहण पर्व में लिखा है कि,

'अवश्यं नरकास्तात द्रष्टव्याः सर्वराजभिः।
ततस्त्वया प्राप्तमिदं मुहूर्तं दुःखमुत्तमम्'॥

हे तात (युधिष्ठिर)! सब राजाओं को अवश्य नरक देखना पडता है, इसीसे तुम भी एक मुहूर्त (दो घड़ी) अत्यन्त दुःख पाये हो। इत्यादि इन्द्रादि के वचन हैं ॥ और वस्तुतः अज्ञानजन्य, परोपकारार्थक, वा पूर्वापकारी आततायी की हिंसा या अशक्य हिंसा की प्रायश्चित्तादि से निवृत्ति वा अभिभव होता है, 'यदि पुरुष पाप कर्म का त्याग करे। और जबरदस्ती पाप कराने पर करानेवाले को पाप होता है, कर्ता को नहीं होता'। लिखा है कि,

'अज्ञानादिकृते पापे प्रायश्चित्तमुदाहृतम।
पाप्मनो विनिवृत्तस्य न प्रवृत्तस्य कर्हिचित् ॥

एवं बलात्कृते पापे प्रतिकारविवर्जिते।
कर्तुः पापफलं नैव किन्तु कारयितुर्भवेत्'॥
आत्मपु० अ०

और, 'प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति पूर्वोपकारिणा तुल्यः।
एकः करोति हि कृते निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः'॥
म० भा० शा० प० अ० १३८।५२

इस कथन से जैसे सिद्ध होता है कि उपकार के बाद बहुत प्रत्युपकार करनेवाला पूर्वोपकारी के तुल्य शोभा नहीं पाता, क्योंकि एक उपकार करने पर प्रत्युपकार करता है, और एक विना कारण के करता है। तैसे ही पीछे अपकार करनेवाला भी पूर्व अपकारी के समान दोषी नहीं होता। और परोपकारी वैद्यादि वा अज्ञ बालकादि के दोष तो दोष ही नहीं समझा जाता, क्योंकि रागद्वेषादि से पाप होता है। इससे स्वार्थसिद्धि के लिये याग में वा अन्यत्र अनपकारी की हिंसा पापरूप अवश्य होती है, उसका प्रायश्चित्त से अभिभव भले ही हो, परन्तु अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती, इसीसे सब देव को सुखदुःख दोनों का भोग होता है। और देव शरीर में केवल सुख मानना,

'न ह वा सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति'।

इस श्रुति से विरुद्ध है। श्रुति कहती है कि शरीरी को सुखदुःख दोनों का अभाव नहीं होता। यदि कहो कि श्रुति कथित अर्थ का सुषुप्ति में ही व्यभिचार है, क्योंकि सुषुप्ति में शरीरीत्व रहते सुखदुःख का अभाव रहता है; तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि सुषुप्ति में शरीरीत्व (शरीराभिमान) नहीं रहता है। यदि कहो कि कारण रूप से शरीरीत्व रहता है, तो सुखदुःख भी कारण रूप से रहते ही हैं, इससे दोष नहीं है। और श्रुति में भी सशरीर शब्द का शरीराभिमान साहित्य ही अर्थ है। और देव सब शरीराभिमानी होते हैं, इससे केवल सुखी नहीं हो सकते। किन्तु यागकर्म के फल सुखदुःख दोनों भोगते हैं। इसीसे साहब कहते हैं कि,

'जिव जनि मारहु बापुरा, सबके एके प्राण ।
तीरथ गये न बांचि हो, कोटि हिरा दे दान ॥
जिव जनि मारहु बापुरा, बहुरि लेत वै कान ।
हत्या कबहुं न छूटि हैं, कोटिन सुनहु पुरान'॥

साखी २१४-१५

इत्यादि । और,

'सत्यं तपो दया दानं चतुष्पाद्धर्म ईरितः'।

इत्यादि वचन सिद्ध चार पाद युक्त धर्म के अहिंसात्मक दयारूप पाद को नष्ट करनेवाला यज्ञ त्रेता में प्रवृत्त हुआ, इससे वह सनातन धर्म नहीं है । यह वर्णन हो चुका है, सो यज्ञ त्रेता के ही लिये धर्मरूप था । इससे कल्याणार्थी को हिंसायुक्त कर्म कभी नहीं करना चाहिये । विषयी लम्पट की बात दूसरी है । उनके मार्ग का कभी अनुसरण नहीं करना चाहिये ॥ बहुत लोक पशुहिंसा को त्याग कर, आँटे आदि के बकरा आदि बना कर बलिदान करते हैं । सो भी नहीं करना चाहिये । किन्तु,

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति'।

इस भगवद्गीता आदि के अनुसार सात्विक पूजा करनी चाहिये । भक्ति ही पूजा में मुख्य साधन है । भक्तिपूर्वक पत्रपुष्पादि अर्पण से भी ईश्वर प्रीति होती है ॥ शंका हुई कि गीतावचन के अनुसार भी विष्णु भगवान की सात्विक पूजा सिद्ध होती है, देवी की नहीं; तो इसका समाधान है कि सात्विक के लिये सात्विकी ही देवी उपास्या होती है, अन्य नहीं । और राजस तामस तो पशुहिंसा करते ही हैं । उन हीन पुरुषों की तो यहाँ चर्चा ही नहीं है। किन्तु जो सात्विकता के अभिमानी हैं, उनके लिये जैसे पशुहिंसा निषिद्ध है । तैसे पशु की प्रतिमा की हिंसा भी निषिद्ध ही है, प्रकृत में यह चर्चा है ॥ यदि कोई कहे कि मैं सात्विक

वैष्णव होते भी बलिदान से प्रसन्न होनेवाली दुर्गा को भी मानता हूं, तो इसका उत्तर है कि फिर आप डरते क्यों हैं।

'बलिदानेन विप्रेन्द्र दुर्गाप्रीतिर्भवेन्नृणाम् ।
हिंसाजन्यं च पापं च लभते नात्र संशयः' ॥

इस कथन के अनुसार हिंसा से ही दुर्गा प्रसन्न होती है। उसकी प्रसन्नता के साथ पाप से भी छुटकारा नहीं है ॥ यदि कोई कहे कि काली तत्त्वामृतादि के वचन हैं कि,

'सात्विको ,जीवहत्यां च कदाचिन्नैव कारयेत् ।
इक्षुदण्डं च कुष्माण्डं तथा रम्यफलादिकम् ॥
पिण्डक्षीरैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा ददेद्बलिम् ॥
यत्र सिंहस्य व्याघ्रस्य नरस्य विहितो वधः ।
क्षत्रियादौ तथाऽवर्णे तत्राऽयं प्रोच्यते विधिः ॥
कृत्वा घृतमयं सिंह नरं व्याघ्रं च भैरवम् ।
अथवा सूपविहितं यवक्षोदमयं तथा ॥
घातयेत् तं महास्त्रेण स्वेन मन्त्रेण संस्कृतम्' ॥

सात्विक पुरुष जीवहत्या कभी न करावे, किन्तु इक्षुदण्डादि के वा पिण्डीरूप दूध वा चावल का चूर्ण पशु के बलिदान करे ॥ जहाँ क्षत्रियादि तथा अन्त्यज के लिये सिंह व्याघ्र मनुष्य का वध विहित है, वहाँ घृत दाल वा यवचूर्ण के सिंहादि बनाकर, मन्त्र से संस्कार पूर्वक अपना महास्त्र से उसका वध करे। इत्यादि। इससे सिद्ध होता है कि सात्विक को भी पशुप्रतिमा आदि का बलिदान करना चाहिये इत्यादि। इसका उत्तर है कि प्रतिमा का बलिदान पशुवध की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है, तौ भी शुद्ध सात्विकता का बाधक है ॥ इससे यह समझना चाहिये कि इन वचनों से बलिदान में अवश्य कर्तव्यता की युक्तिरूप फन्द ही वाममार्गियों से पसारा गया है। वाममार्गियों का अभिप्राय है कि हमारा

मत किसी प्रकार सर्वत्र रहे । जो पुरुष किसी शुभ संस्कार से पशु-हिंसादि नहीं करते, उनसे भी मानस हिंसा कराने के लिये उक्त रचना है । इससे शुद्ध सात्विक को किसी भी हिंसा में नहीं प्रवृत्त होकर सर्वात्मा विष्णु के ध्यानादि रूप पूजा करनी चाहिये । और विष्णु की शक्तिरूप देवी की स्वतंत्र सत्ता नहीं होने से विष्णु की पूजा से ही देवी की पूजा समझनी चाहिये । और पशु प्रतिमा द्वारा मानस हिंसा भी नहीं करना चाहिये । क्योंकि जो मन से शोचता है सो वचन से बोलता है, वही कभी शरीर से अवश्य करता है । और उसीका फल जीव भोगता है । और,

'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् ।
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो ॥
ध्यानमेवात्मपूजनम्' ॥

इत्यादि वचनों के अनुसार ध्यानादि रूप परमात्मा के पूजा बलि ही उसकी प्राप्ति का परमसाधन है । इससे परमात्माके ध्यानादि करना चाहिये । गुरुदेवादि मान्यों की पुष्पादि से पूजा करनी चाहिये । यह कल्याणकारी मार्ग है ॥ यदि कोई कहे कि देवी के बलिदानादि वाममार्ग के फन्दरूप होने से त्यागे जा सकते हैं । परन्तु यज्ञ श्राद्धादि में वेद से विहित हिंसा आदि का कैसे त्याग हो सकता है, तो उत्तर है कि सर्वमान्य महाभारत के वचन प्रथम ही लिखा गया है कि,

'नैतद्वेदेषु दृश्यते' । यह बात वेद में नहीं है, इत्यादि । और,

'सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः' ॥

मोक्षधर्म प० अ० २६४

इस श्लोक की टीका में नीलकंठजी ने लिखा है कि, 'बहिर्वेद्यामिव' । अर्थात् यज्ञ से अन्यत्र जैसे अपनी इच्छा से लोक पशुवध करते हैं; तैसेही

यज्ञ में भी अपनी इच्छा से करते हैं । धर्मात्मा मनु ने तो वैदिक अवैदिक नित्य नैमित्तिकादि सब कर्मों में अहिंसा ही कहा है । इससे सिद्ध होता है कि वैदिक ब्राह्मणादि ग्रन्थ स्मृति सूत्रादि धर्मशास्त्र में सब प्रकार की हिंसाओं का अभाव ही प्रतिपादित है । अहिंसा में सबका मुख्य तात्पर्य है । हिंसाबोधक वचनों का किसी दुर्ज्ञेय अर्थ में तात्पर्य है । वा वे पीछे से मिलाये गये हैं । क्योंकि हिंसादि कामादि से स्वयं प्राप्त हैं । इनके लिये विधि आदि की जरूरत नहीं है । और,

'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि '॥

भ० गी० अ० २।३३

यह भगवान का कथन भी, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२।४७) । इस कथन के अनुसार इस तात्पर्य से है कि तेरा अभी क्षात्रधर्म में अधिकार है, बन्धुओं को देखकर मोहात्मक क्षणिक वैराग्य तुझे हुआ है । यह स्थिर रहनेवाला नहीं है; इससे समय बीतने पर पश्चात्ताप करोगे, और अल्प पाप से डर कर भारी पाप का भागी होगे । और युद्ध से भलाई होगी, सो लिखा है कि,

'एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकर्मणि ।
बहूनां भवति क्षेमं तस्य पुण्यप्रदो वधः '॥

विष्णुपुराण ।

जहां एक पापी के मरने से बहुत सज्जन को हित हो, वहां उसका वध पुण्यप्रद होता है । यद्यपि महाभारत में बहुत भले लोक भी मारे गये । तथापि उद्देश्य दुष्ट को ही मारने का था, संगादि से अन्य मारे गये । और आततायी मात्र का वध विहित है, इससे कोई दोष नहीं । और ऐसा होने पर हिंसा किसी का खास धर्म नहीं है, इससे यथाशक्ति उसका त्याग उचित है । यदि कोई कहे कि वाममार्ग के ग्रन्थों में ही

पशुप्रतिमा आदि से यज्ञादि करना लिखा होता तो पूर्वोक्त बात बन सकती। परन्तु महाभारत में भी लिखा है कि,

'बीजैर्यज्ञेष्वमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
श्रूयन्ते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ' ॥

बीज से यज्ञ में देवपूजा करनी चाहिये, यह वेद कहता है। बीज को ही अज कहते हैं। इससे छाग (बकरा) मारना उचित नहीं। यह देवताओं के प्रति ऋषियों का कथन है॥ सुना जाता है कि पूर्वकल्प में व्रीहि (धान) के पशु यज्ञ के लिये मनुष्य को होते थे। पुण्यलोक परायण यज्ञकर्ता उसीसे यज्ञ करते थे इत्यादि॥ तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि शान्तिपर्व में पठित 'बीजैर्यष्टव्यम्'। इत्यादि वाक्य में तो पशु का नाम नहीं है। दूसरे श्लोक में यद्यपि पशु पद है, तथापि उसी प्रकरण में लिखा है कि,

'कर्मणा लिप्यते जन्तुर्वाचा च मनसापि च ।
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा तथा वाचा च कर्मणा ।
न भक्षयति यो मांसं त्रिविधं स विमुच्यते ॥
कर्मणा मनुजः कुर्वन् हिंसां पार्थिवसत्तम ।
वाचा च मनसा चैव कथं पापात्प्रमुच्यते ' ॥

कर्म वचन मन से मनुष्य पापयुक्त होता है। प्रथम मन से पाप को त्याग कर जो वचन कर्म से भी त्यागता है, त्रिविध पाप को त्यागकर मांस नहीं खाता है, सो मुक्त होता है॥ हे पार्थिवश्रेष्ठ! कर्म वचन तथा मन से हिंसा करनेवाला पाप से कैसे मुक्त हो सकता है॥ इससे उस प्रकरण से हिंसा का सर्वथा निषेध ही सिद्ध होता है। और वहाँ के वक्ष्यमाण वचनों से हिंसाबोधक वचनों का भी हिंसा की निवृत्ति में ही तात्पर्य प्रतीत होता है। और प्रतिमा वध बोधक वचन, बीज से यज्ञ बोधक

वचन का वास्तविक पशुवध से निवृत्ति में ही तात्पर्य है, प्रतिमावध विधानादि में नहीं, सो वहां का ग्रन्थ से ही सिद्ध होता है । तथाहि,

'न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥
यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन्मधुमांसं च सममेतद्युधिष्ठिर ॥
ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि ।
मधुमांसनिवृत्त्येति प्राह चैवं बृहस्पतिः ॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ।
यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्तते '॥

अनुशा० ११५

टीका में लिखा है कि,

'नहि कृत्स्नो वेदस्तथा तद्बोधिता यज्ञाश्च हिंसायां प्रवर्तयन्ति किन्तु परिसंख्याविधया निवृत्तिमेव बोधयन्तीत्यर्थः'।

जो अपने लिये प्रतिकूल (अप्रिय) हो सो अन्य के लिये भी नहीं चाहना, यही संक्षिप्त धर्म का रूप है । अन्य सब काम से सिद्ध होते हैं ॥ हे युधिष्ठिर ! जो एक कोई व्रतयुक्त होकर सब मास में अश्वमेध करता है, और दूसरा मधुमांस को त्यागता है । तहाँ दोनों को तुल्य ही फल होता है ॥ मधु मांस का त्याग से ही मनुष्य दान यज्ञ तप सब करता है, सबका फल पाता है, यह बृहस्पति का कथन है ॥ सब वेद वा यज्ञ हिंसा में नहीं प्रवृत्त कराते हैं, किन्तु 'मांस भक्षण करके भी जो पीछे त्यागता है, उसका भी शुभ होता है, इससे निवृत्ति के लिये ही वेदादि परिसंख्या करते हैं ॥ शंका होती है, कि यदि अहिंसा परम धर्मरूप है, वेदादि का उसी में तात्पर्य है तो, साक्षात् उसीका प्रतिपादन करना उचित था; यज्ञादि में उसका नाम तक नहीं लेना था, फिर यज्ञादि में उसका

क्यों वर्णन किया गया। तो इसका कुछ समाधान प्रथम भी लिखा गया है। दूसरा प्रकार महाभारत में यह लिखा है कि,

'दुष्करं च रसज्ञाने मांसस्य परिवर्जनम्।
चर्तुं व्रतमिदं श्रेष्ठं सर्वप्राण्यभयप्रदम्॥'

अनुशासन प० अ० ११५

'मांस का रस के ज्ञान होने पर मांस त्यागरूप सर्वाभयप्रद इस व्रत का अनुष्ठान दुष्कर हो जाता है। इससे यज्ञादि द्वारा निवृत्ति का उपाय किया गया है॥ वस्तुतः यह त्याग राजस तामस के लिये कठिन है, सात्विक के लिये नहीं। इससे सात्विक के लिये प्रतिमा वधादि का त्याग भी सहज ही है। सात्विक को विचारना चाहिये कि,

'हृदयस्याग्रेऽवद्यति। अथ वक्षसः। अथ जिह्वायाः। लोहितं निरस्यति। शकृन्निरस्यति।'

इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों से हृदयादि अंग काटने का क्रम लिखा है, सो तो पशुप्रतिमा में कल्पना से बन सकता है। परन्तु लोहित (खून) निरसन (त्यागन) मलादि निरसन नहीं बन सकता और उसके बिना यज्ञ की पूर्णता नहीं हो सकती। और यदि उस अंग के बिना पूर्णता मानी जाए, तो प्रतिमा बिना ही क्यों नहीं मान लिया जाय, और इस विचार से त्यागना चाहिये। यदि कोई कहे कि,

'यस्तु खल्वेवसौ ब्राह्मणं हन्ति. एवमसौ सुरां वा पिबतीति तस्यानुकुर्वन् स्नातानुलिप्तो माल्यगुणकण्ठः कदलीस्तम्भं छिन्द्यात्पयो वा पिबेत्, न स मन्ये पतितः स्यात्'।

इस महाभाष्य के अनुसार, जैसे स्नान करके चन्दन मालाधारी पुरुष ब्राह्मणवध का अनुकरण कर केला के स्तम्भ को काटे वा मद्यपान का अनुकरण करके दूध पिये तो वह पतित नहीं होता।

तैसे ही प्रतिमापशु का वध से दोष नहीं होता, तो सो भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि भाष्यकथित कदली वा दूध में ब्राह्मणत्व वा मद्यत्व का, आरोप (कल्पना) आदि नहीं रहता है। और पशुप्रतिमा में पशुत्व का आरोप पूर्वक हनन किया जाता है। इससे हननकर्ता अवश्य ही सूक्ष्म मानस दोषयुक्त होता है। इसलिये शुद्ध सात्विकता के इच्छुक को अवश्य उसका भी त्याग करना चाहिये। इत्यादि आशय से साहब ने कहा है कि,

'तन रहये मन जात है, मन रहये तन जाय ।
तन मन एकै ह्वै रहै, हंस कबीर कहाय'॥

रमैनी-सा० ५१

यद्यपि, 'मन गया तो जाने दे, गहि कै राखु शरीर ।
उत्तरा रोद कमान के, क्यों कर लागै तीर'॥

साखी० २३७

इससे सिद्ध होता है कि केवल मानस हिंसा आदि से पाप नहीं होता। तथापि पिष्टपशु प्रतिमा में पशुत्व की कल्पना शस्त्रप्रहार रूप मानस शारीरिक दोनों व्यापार किये जाते हैं। यदि मरण काल में दोनों वासना व्यक्त होगी तो हिंसक योनि में प्राप्त करा सकेगी। इसीसे व्यर्थ चेष्टाओं का भी शास्त्र निषेध करता है। और,

'यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः'।

इस रामायण भारतादि के वचनानुसार निरामिष मनुष्य के देव भी निरामिष होता है, मांसाहारी नहीं। इसलिये उसे शुद्ध अन्नादि से ही यज्ञादि करना उचित है। क्योंकि जो मांस को अशुद्ध जानकर त्यागा है सो मांस रूप से अनुकृत (कल्पित) का भक्षण को भी नहीं पसन्द करता। यही बात उसके देव की भी है।

संक्षिप्त युद्धादिविचारः ॥६॥

अहिंसा के प्रसंग से युद्ध का संक्षिप्त विचार यह है कि, लोक शास्त्र में प्रसिद्ध है कि युद्ध में मरने से स्वर्ग होता है। और गो ब्राह्मणादि के लिये युद्ध में प्राण त्यागादि करना चाहिये, इत्यादि। तहाँ भी विचारना चाहिये कि यदि केवल युद्ध में मरने से स्वर्ग होता है, तो धर्मावतार युधिष्ठिर जंगलादि में अनेकों कष्ट क्यों सहे, सब कुछ करने पर भी तो मरने के लिये तैयार होना ही पड़ा। तथा श्रीरामचन्द्रजी अङ्गदादि द्वारा रावण को क्यों समझाने का यत्न किया। इससे सिद्ध होता है कि व्यर्थ झगड़ना मूर्खों का काम है, उससे स्वर्गादि नहीं होते, किन्तु नरक होता है। परोपकारादि के लिये धर्मयुद्ध में आत्मार्पण से स्वर्गादि होते हैं, सो धर्मयुद्ध नीति आदि के ज्ञान बिना नहीं हो सकता, इसलिये समर्थ क्षत्रिय आदि को नीति आदि का अध्ययन करना चाहिये। और धर्मज्ञ विद्वानों का सत्कार करना, प्रजा तथा अन्य राजाओं के चरित्र को जानना, सदाचार का पालन करना चाहिये। अज्ञों के अपराधों को क्षमा करना, और उसे ज्ञानी बनाने का यत्न करना प्रभु का परम धर्म है। पक्षपात रहित धर्मज्ञ पुरुष यदि युद्ध में मारा जाय तो स्वर्गी होता है, अधर्मी पक्षपाती नहीं; क्योंकि धर्म का ही फलरूप स्वर्ग कहा गया है। इसी प्रकार धर्मात्मा ब्राह्मण सज्जन के लिये प्राणार्पण से स्वर्ग होता है। रावणादि तुल्य अधर्मियों के लिये युद्ध से स्वर्ग नहीं होता, और गो आदि की अहिंसा धर्म के लिये युद्धादि से धर्म ही होता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि दया अहिंसा आदि से और उसके लिये मरने से भी मनुष्य को श्रेष्ठ सुख मिलता है, केवल युद्ध में वा अन्यत्र कहिं मरने मात्र से नहीं मिलता। इसीसे साहबने काशी आदि में प्राणघात को अज्ञान अविचारादि का फल बताया है। मनुस्मृति में लिखा है कि,

'अराजेक हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः' ॥ अ० ८।३०

'कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते'॥

अ० ९।३०१

राजा रहित जगत के मनुष्य को भय से सर्वत्र भागते हुए देखकर लोक रक्षा के लिये प्रभु ने राजा को रचा॥ सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलि; ये सब राजा के ही व्यवहार से होते हैं। इससे राजा को ही युग कहना चाहिये, इत्यादि। शास्त्र के अनुसार अहिंसा लोकरक्षा में सब क्षात्र धर्म का तात्पर्य है। इसी आशय से साहब ने भी कहा है कि,

'क्षत्री करै क्षत्रिया धर्मा। सवाई वाके बाढै कर्मा॥
क्षत्री सो जो कुटुम से जूझै। पांचों मेटि एक कै बूझै॥'

रमैनी ८३

भाव है कि क्षत्रिय यदि प्रजापालनादि क्षात्रधर्म करता है, तो उसके पुण्यादि कर्मजन्य अदृष्ट सदा सवाई बढते हैं। परन्तु सच्चा क्षत्रिय वह है जो कुटुम्ब तुल्य मन और पांच इन्द्रियों को वश में करने के लिये इनसे युद्ध करता है। इन्द्रियों के प्रभुत्व को मिटाकर सत्य धर्म एकात्मा को पहचानता है, इत्यादि॥ अहिंसा धर्म का विचार तो अनन्त है, उसके पार पाना असम्भव है, इसलिये संक्षिप्त रूप में यह समझना चाहिये कि, निवृत्तिरूप और प्रवृत्तिरूप दो प्रकार के धर्म होते हैं। तहाँ अहिंसा आदि निवृत्तिरूप हैं, और दानादि प्रवृत्तिरूप हैं। तहाँ कामादि जन्य प्रवृत्ति बन्धन का हेतु है, इसीसे लिखा है कि,

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥'

म० भा० शा० २५०।७

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥'

कैवल्योपनिषद्

काम ही एक बन्धन है, अन्य नहीं, कामबन्धन से मुक्त पुरुष ब्रह्मभाव के लिये समर्थ होता है ॥ जो अमृत तत्त्व स्वर्ग से परे और बुद्धिगुहा में स्थिर है, सो कर्म प्रजा वा धन से नहीं मिलता है, एक ऋषि त्याग से ही उसे पाये जिसमें यति प्रवेश करते हैं ॥ इससे काम का त्याग स्त्री आदि का त्याग दानादि से मुक्ति की सिद्धि होती है । तहाँ त्याग निवृत्ति अन्तःकरण से मुख्य है, बाहर की निवृत्ति उसका साधन है । इसीसे साहब ने कहा है कि,

'मन गया तो जाने दे, गहि के राखु शरीर ।' इत्यादि

प्रवृत्तिमार्ग के वैश्यादि के स्वाभाविक धर्म भागवत में लिखा है कि,

'आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥'
'शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेऽवसायिनाम् ॥'

स्क० ११।१७

गुरुशास्त्रादि में श्रद्धा, दान में प्रेम, अकपट, ब्रह्मनिष्ठादि की सेवा, स्वपेटपालनार्थक अर्थवृद्धि में असंतोष; ये वैश्य के स्वाभाविक धर्म हैं । तिन में असंतोष से विचारादि विना हिंसा होती है, इससे उचित दानादि नहीं होते, सूदादि अधिक लिये जाते हैं ॥ इससे विचार सहित असंतोष भी कल्याणकारक होता है ॥ श्रद्धा दानादि भी विचार विवेकयुक्त ही कल्याणकारक होते हैं, अन्यथा नहीं । और छलादि रहित होकर द्विज देव गौ की सेवा, सेवा से प्राप्त से ही संतोष रूप जो शूद्र का धर्म है, उसमें कोई पाप की बात नहीं है । परन्तु कोश में भूत पिशाचादि को भी देव गिने हैं, यदि इन्हें देव मानकर पूजता है तो भूतरूप हो जाता है । क्योंकि उपासक अन्त में उपास्य रूपता को प्राप्त करता है । तीन वर्णों की

सेवा में भी यही बात है। मांसाहारी व्यभिचारी नाम मात्र के तीन वर्ण की सेवा से हिंसकादि होता है, इससे सदाचारी की हीं सेवा धर्मरूप कल्याणकारक है। हिंसक मद्यपादि के स्पर्श से भी पाप होता है, चाहे वह चार वेदादि के वक्ता भी हो। और परस्त्रीगामी व्यभिचारी तो प्रत्यक्ष पापरूप ही होता है, उसकी सेवा से धर्म तो दूर रहा, पाप रूपता होती है। इसी आशय से साहब ने कहा है कि,

'संगति करिये साधुकी, हरै और की व्याधि ।
ओछी संगति क्रूर की, आठों पहर उपाधि ॥'

सा० २१०

'सन्तो सन्तोष सुख है. रहु तो हृदय जुडाय ॥'

रमैनी सा० २९

'भुतवक पुजले भुतवे होई' ॥ शब्द ५७. इत्यादि ।

यदि सत्संगादि से मनुष्य में विवेक सहित आस्तिकता दानादि में प्रेम, दया, परोपकार, सेवादि की बुद्धि तेज सामर्थ्यादि होते हैं तो नीच भी उच्च होता है, और उच्च उच्चत्तर देव होता है ॥ अपवित्रता, झूठ, चोरी, नास्तिकता, व्यर्थ झगड़ा, खानपान की अत्यन्त तृष्णा; ये स्वभाव से अन्त्यजों के धर्म हैं, सो सब हिंसा अधर्म के हेतु हैं। जिसमें ये स्वभाव हो, वह वस्तुतः अन्त्यज है; अधर्मी है, किसी कर्मवश अन्त्यज कुल में जन्मा हुआ भी इन स्वभावों से रहित हो तो वह वस्तुतः अन्त्यज नहीं है, धर्मात्मा है। और हीन दरिद्र कुल में शरीर होते यदि अहिंसादि शुभ गुण विवेकादि हो तो ईश्वर सद्गुरु की परम कृपा जाननी चाहिये, क्योंकि इस दशा में अहंकारादि शीघ्र नहीं सताते हैं। लिखा है कि,

'दरिद्रो धर्मविज्ञानगन्धेन रहितोपि यः ।
न सोपि कुरुते पापं धर्मज्ञः किं पुनः पुमान् ॥'

आत्मपु० अ० ५

'यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥'

नारदीयपु० अ० ७

धर्मविज्ञान का लेश से रहित भी दरिद्र सुजन, अहंकारादि के अभाव से वा भयसे पाप नहीं करता है। धर्मज्ञ होने पर तो कैसे करेगा॥ युवावस्था, धन की प्राप्ति, स्वामिता, अविवेक में से एक २ भी अनर्थ (पाप) के लिये होता है, चारों होने पर तो क्या कहना है, इत्यादि। इस अहिंसा प्रकरण में संक्षिप्त जातिधर्म का वर्णन इसलिये किया गया है कि जिससे मालूम हो कि किसी का धर्मरूप हिंसा नहीं है। और स्वाभाविक शम दमादि धर्मवाले ब्राह्मण में तो हिंसा की प्राप्ति ही नहीं है, इसीसे ब्राह्मण के धर्म का वर्णन नहीं किया गया है॥ और सब मनुष्य के लिये अहिंसा धर्म ऐसा है कि जिसका यथायोग्य ठीक २ पालन से मनुष्य संसार सागर से पार जाने का पूर्ण अधिकारी होता हैं। क्योंकि अहिंसा के ही अन्तर्गत तथा पोषक दया, क्षमा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकाम. अक्रोध, अलोभ, दान, दमादि सब प्रवृत्ति निवृत्तिरूप धर्म हैं। दया आदि के लक्षण पुराणादि में लिखे हैं कि,

'यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं या हृदि जायते।
इच्छाभूमिः सुरश्रेष्ठ सा दया परिकीर्तिता॥'
'आत्मवत् सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च।
वर्तते सततं हृष्टः क्रिया श्रेष्ठा दया स्मृता॥'

मत्स्यपु० अ० १४५।४५

यत्न से भी पर दुःख हरने की इच्छाभूमि (अवस्था) जो हृदय में होती है, हे सुरश्रेष्ठ! उसीको दया कहते हैं॥ जो अपने समान अन्य का शुभ हित के लिये हर्ष से प्रवृत्त होता है, उसकी वह श्रेष्ठ क्रिया दया कहाती है॥

'आक्रुष्टोऽभिहतो यस्तु नाक्रोशेत्प्रहरेदपि ।
अदुष्टो वाङ्मनःकायैस्तितिक्षुः सा क्षमा स्मृता ॥'

मत्स्यपु० १४५।४६

'प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः ॥' योगयाज्ञवल्क्यः

जो तितिक्षु गाली आदि वा मारने आदि पर भी आप वैसा नहीं करता, उसी सहन को क्षमा कहते हैं ॥ प्रिय और अप्रिय सब में जो समता देही रखता है, वेदवादी विद्वानों से वही क्षमा कही गई है ॥

'सत्यं वाचनिको धर्मो यथादृष्टार्थवेदनम् ।
उक्तार्थतश्चाचलनमिदमुक्तं मनीषिभिः ॥'

आत्मपु० अ० १०।५७२

'दृष्टानुभूतमर्थं च यः पृष्टो न विगूहते ।
यथाभूतप्रवादस्तु इत्येतत्सत्यलक्षणम् ॥'

मत्स्यपु० अ० १४५।४२

सत्य वाचनिक धर्म है, जैसा देखना वैसाही जानना, कही बात से नहीं लौटना यह सत्य विद्वानों से कहा गया है ॥ दृष्ट अनुभूत अर्थ को पूछने पर नहीं छिपाना, यथार्थ ज्ञान के अनुसार कहना सत्य है ॥

'अशास्त्रपूर्वकं यत्तु परद्रव्यस्य धारणम् ।
स्तेयं तत्प्रतिषेधोऽयमस्तेयमस्पृहात्मकम् ॥'

शास्त्रविधि के विना प्रत्यक्ष वा परोक्ष में परद्रव्य का ग्रहण स्तेय (चोरी) है । उससे विपरीत अस्तेय पर द्रव्य की अनिच्छा रूप है ॥

'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥'

कटरुद्रोप० ५-६

रागपूर्वक स्त्री का स्मरण, कथन, उसके साथ केलि (खेल), देखना, गुप्त भाषण, संकल्प, निश्चय, क्रियासिद्धि; ये अष्टाङ्ग मैथुन हैं; इससे विपरीत आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य हैं ॥ स्त्री द्रव्यादि की इच्छारूप काम, और काम में बाधा होने से चित्त में क्षोभरूप क्रोध प्रसिद्ध है। उन दोनों के अभाव ही अकाम और अक्रोध रूप पवित्र धर्म कहे गये हैं॥ और न्यायार्जित द्रव्य से तुष्टि को अलोभ कहते हैं ॥ तथा न्यायार्जित सुन्दर द्रव्य का पात्र के प्रति अर्पण दान है ॥ ये वर्णित दया आदि अहिंसक में ही पूर्णरूप से रह सकते हैं, इससे अहिंसा के अन्दर हैं, और इनके विना पूर्ण अहिंसा नहीं होती है ॥

मांसादिनिषेधविचारः ॥७॥

बहुत लोक कहते हैं कि, प्राणघात रूप हिंसा नहीं करना चाहिये; परन्तु मांसभक्षण में कोई दोष नहीं है, सो कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि रजवीर्य का कार्य मांस घृणित है, सो प्रथम कहा गया है; इससे कुत्ते आदि का भक्ष्य है। इसीसे साहब ने कहा है कि,

"रज बीरज से मांस उपानी, मांस नपाकी तुम खाई।'

शब्द २४

और मांसाहारी न हों तो मांस के लिये हिंसा भी न होवे, इसीसे भगवान मनु ने कहा है कि,

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥'

अ० ५।५१

सम्मतिदाता, अंगच्छेदन कर्ता, हन्ता, क्रेता, विक्रेता, पाचक, उपहर्ता (परोसने वाला), भोक्ता; ये सब घातक पापभागी होते हैं।

'मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥ '
मनु० अ० ५।५५।१५'

जिसके मांस को 'मैं खाता हूं सो जन्मान्तर में मुझे भी खायगा, यही मांस में मांसत्व है, अर्थात् इसीसे मां, स, यह नाम पड़ा सो विद्वान लोक कहते हैं ॥ और मछली खानेवाला तो सब मांस ही को खाता है, इससे मछली नहीं खाना चाहिये ॥ महाभारत में लिखा है कि,

'सर्वमांसानि यो राजन् यावज्जीवन्न भक्षयेत् ।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥
ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः ॥'

हे राजन् ! जो कोई सब प्रकार के मांस को जीवन भर नहीं खायगा, सो स्वर्ग में भारी स्थान पायेगा इस में संशय नहीं है। जीवन चाहनेवाले प्राणी के मांस जो खाते हैं, सो भी उनसे खाये जाते हैं, इसमें संशय नहीं है। इससे स्पष्ट ही मांसभक्षण में महान् दोष और निवृत्ति में पुण्य सिद्ध होता है। इस ज्ञानादि विना ही मनुष्य आजन्म मांसभक्षण करते हैं। और उसे देवभक्ष्य जान कर यथेष्टाचार करते हैं। और कोई औषधि आदि के बहाने मद्यादि सेवन करते हैं। और कहते हैं कि, 'औषधार्थं सुरां पिबेत्' औषधि के लिये मदिरा पीना चाहिये। और 'अकर्तव्यं न कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि'। अकर्तव्य कर्म कण्ठगत प्राण तक भी नहीं करना चाहिये, इत्यादि शास्त्र को स्वप्न में भी कलिग्रस्त प्राणी स्मरण नहीं करते। और,

'विधिना वेददृष्टेन तद् भुक्त्वेह न दुष्यति ।
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं सकृद् ब्राह्मणकाम्यया ।
दैवे नियुक्तः श्राद्धे वा नियमे तु विवर्जयेत् ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नाश्नाति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ '

अ० ५।३५-४१

वेददृष्ट विधि से मांस खा कर भी मनुष्य दोषी नहीं होता। दैवकर्म वा श्राद्ध में निमन्त्रण देने पर ब्राह्मण की इच्छा से एक बार मांस खाये, निरामिषता का नियम हो तो नहीं खाये ॥ यथाविधि निमंत्रित होने पर जो मांस नहीं खाता, सो इक्कीस बार पशु होता है ॥ मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म, देवकर्म; इन चार स्थानों में ही पशुहिंसा योग्य है; अन्यत्र नहीं, इत्याद्यर्थक भगवान मनु के वचन को लोक मांसभक्षण में प्रमाण बताते हैं। परन्तु सो विचार से विरुद्ध है, क्योंकि किसी सत् शास्त्र का हिंसा में तात्पर्य नहीं, यह बात प्रथम ही सिद्ध हो चुकी है। जो कहीं हिंसा का लेख है सो किसके लिये और किस समय के लिये है, इसका विचार भी प्रथम हो चुका है। और,

'न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित्'।

इत्यादि वचन से निषेध भी सिद्ध है। तथा नारदीय पुराण में लिखा है कि,

'देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः ।
मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥ '

देवर से पुत्रोत्पत्ति, मधुपर्क में पशुवध, श्राद्ध में मांसदान, वानप्रस्थाश्रम; ये कलियुग में वर्जनीय हैं ॥ याग का विचार भी हो चुका है। लिखा है कि,

'न हिंसा धर्म उच्यते ॥ धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे मधुमांसम्'। इत्यादि।

और निमन्त्रण देने पर मांस खाने के लिये नहीं जाने के विषय विचारना चाहिये कि, अन्न खाने के लिये निमन्त्रित पुरुष, निमन्त्रण का स्वीकार करके भोजन करने नहीं जाय तो दोष है या नहीं। यदि कारण विशेष से नहीं जा सकने पर दोष नहीं है, ऐसा माना जाय तो कारण विशेष से मांसभक्षण के लिये भी नहीं जाने पर कैसे दोष होगा। यदि किसी कारण के विना अन्न खाने के लिये नहीं जाने से दोष माना जाय, तो सिद्ध होता है कि निमन्त्रण मान कर नहीं जाने से दोषी होता है, मांस नहीं खाने से नहीं। और निमन्त्रण मान कर नहीं खाने से जो दोष होता है, उस को हीन उदाहरण द्वारा स्मृतिकार ने समझाया है कि, मांस खाने के लिये निमन्त्रण मान कर नहीं जाने से दोष होता है, तो अन्यत्र की कथा ही क्या है। और यह दोष कथन भी मांसाहारी के लिये है, सो 'नियमे तु विवर्जयेत्' इस कथन से सिद्ध होता है। निरामिष पुरुष भूल से निमन्त्रण मान कर नहीं जाय तो कोई दोष नहीं है, किन्तु मांसाहारी नाममात्र के ब्राह्मण अपने भक्तों से निमन्त्रित होने पर दम्भ से नहीं जाता है, निरामिषता का ढोंग करता है तो दोषी होता है, इत्यादि स्मृति का तात्पर्य प्रतीत होता है॥ यदि मांसभक्षण के तात्पर्य से वह स्मृति बनी हो, तो यह समझना चाहिये कि उस स्मृतिकर्ता को यह निश्चय था कि शुद्ध पुरुषों को अपना मनरूप प्रमाण से मांसभक्षण में पापजनकता का निश्चय रहता है, इससे वे लोक मांसभक्षण में नहीं प्रवृत्त हो सकते; इसलिये उन्हें प्रवृत्त कराने के लिये वे वचन सब लिखे गये हैं। और इससे यह भी सिद्ध होता है कि, जैसे शिवजी पूज्येश्वर होते भी दुष्टों को मोहित करने के लिये वामतन्त्रादि का निर्माण किये, और भगवान् विष्णु के अवतार बुद्धदेव असुरों को मोहने के लिये क्षणभंगादि वादों का निर्माण किये; वैसे ही ये सब वचन खास स्मृतिकार से वा अन्य से रचे गये हैं। परन्तु असुर मोहन की रीति इनमें हैं, क्योंकि जहाँ मांस की चर्चा आई है वहाँ बलात्कार

(जबरदस्ति) प्रवृत्त कराना प्रतीत होता है। अन्नफलादि भक्षण में नहीं। तोभी,

'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥'

मनु० अ० ५।५६।

इस वचन से साफ प्रतीत होता है कि जो सदा मांसभक्षणादि में प्रवृत्त हैं, उन्हें उन कार्यों में दोष नहीं है, पतित का पतन क्या होगा। परन्तु निवृत्ति उन के लिये भी महाफला है। इससे इस वचन का निवृत्ति में ही तात्पर्य है। जैसे,

'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥'

पराशरस्मृ० अ० ४।३०।

पति का बहुत काल तक अदर्शन, मरण, संन्यास, नपुंसकता, पतितता रूप पांच आपत्तिकाल में स्त्री के लिये अन्य पति का विधान है। यह लिख कर लिखा है कि,

'मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्त्तारं याऽनुगच्छति॥'

पराशरस्मृ० ४।३१।३२।

पति के मरने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिर होती है सो मरने पर स्वर्ग पाती है, जैसे वे ब्रह्मचारी पाते हैं॥ साढे तीन करोड़ रोम मनुष्य में होते हैं, पति की अनुगामिनी स्त्री उतने ही वर्ष तक स्वर्ग में रहती है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य पति का विधि में तात्पर्य नहीं है, किन्तु कामासक्तादि स्त्री के लिये अगत्या अन्य पति का वर्णन है।

तैसेही, 'न मांसभक्षणे दोषः' इत्यादि कथन भी है ॥ परन्तु इस वर्णित रीति से तथा, 'एकमस्यासाधारणं यदिदमद्यते'। बृ० १।५।२) इस मनुष्य के लिये यव धानादि रूप एक असाधारण अन्न हैं, जिसे सब लोक खाते हैं। इस सप्तान्न ब्राह्मण से भी सिद्ध होता है कि स्वर्गार्थी मोक्षार्थी आदि सज्जन के लिये किसी प्राणी का मांस भक्ष्य नहीं है, किन्तु यव चावलादि ही भक्ष्य हैं, अन्न भी अत्यन्त अपवित्र के संग से अभक्ष्य हो जाते हैं, तथा उच्छिष्ट पर्युषितादि सब के लिये भक्ष्य नहीं है, अन्यायार्जित वेश्या चोरादि के अन्न अपवित्र होते हैं, इससे यथाशक्ति इन का भी त्याग ही उचित होता है। जहाँ आपत्ति आदि काल में त्यागना कठिन हो, वहाँ प्राणरक्षा करके, हरिस्मरणादि प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। यद्यपि स्मृति में जातिभेद से भी अन्न में दोषगुण कहा गया है, तथापि उसका भी न्यायान्यायोपार्जनकृत गुण दोष में ही तात्पर्य है ॥

साखी है कि,

'अंकुरज भखै सो मानवा, रज बिज भक्षै स्वान।
जीव वधै सो काल है, सदा नरक परमान॥'

अंकुरज में भी मादक, रोगकारक, दुर्गन्धयुक्त आदि सत् पुरुषों के लिये त्याग योग्य हैं, क्योंकि ये आत्मोन्नति आदि के बाधक होते हैं॥ और सब वर्णों की जीविका विशेष हिंसारहित शुद्ध होनी चाहिये, सो कूर्मपुराण में वर्णित है। और आश्रमधर्म लिखा है कि,

'अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थो धर्म उच्यते॥
होमो मूलफलाशित्वं स्वाध्यायस्तप एव च।
संविभागो यथान्यायं धर्मोऽयं वनवासिनाम्॥
भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः।
सम्यग् ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः॥

भिक्षाचर्या च शुश्रूषा गुरोः स्वाध्याय एव च ।
संध्या कर्माग्निकार्यं च धर्मोऽयं ब्रह्मचारिणाम् ॥ '

म० भा० अनुशासनप० अ० १४१

अहिंसा, सत्यवचन, सब प्राणी पर दया, शम, यथाशक्ति दान; ये गृहस्थ के धर्म हैं ॥, अग्निहोत्र, मूल फल का भोजन, अध्ययन, तप, अतिथि आदि के प्रति भक्ष्यादि का यथायोग्य विभाग (अर्पण); वनवासी के धर्म हैं ॥ भिक्षाभोजन, मनन, अल्पभाषित्व, ध्यानरूप तप का विशेषाचरण, सम्यक् ज्ञान, वैराग्य; संन्यासी के धर्म हैं ॥ भिक्षाचरण, गुरुसेवा, अध्ययन. संध्यावन्दन, अग्निसेवा; ब्रह्मचारी के धर्म हैं ॥ महाभारत में लिखा है कि,

' आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥ '

म० भा० वनप० अ० २७

परापकार द्रोहादि रहित न्याययुक्त आरम्भ ही सब वर्णाश्रमादि के धर्म हैं। अनाचार अन्याय युक्त आरम्भ अधर्म है, यही शिष्टों का उपदेश है ॥ और न्याययुक्त भी निष्काम आरम्भ (कर्म) ज्ञान के हेतु होते हैं। क्योंकि सात्विक, राजस, तामस भेद से कर्म तीन प्रकार के होते हैं, उनमें सात्विक ज्ञान का हेतु होता है। सात्विकादि कर्मों के गीता में लक्षण हैं कि,

' नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ' ॥

अ० १८।२३ । इत्यादि ।

नित्य तथा आसक्ति अहंकार रागद्वेष विना फलेच्छा रहित पुरुष से जो कर्म किया जाता है, सो सात्विक कहाता है ॥ फलेच्छा सहित अहंकारियों से बहुत परिश्रमपूर्वक जो कर्म किया जाता है सो राजस होता है ॥ फल, अर्थशक्ति का नाश, हिंसा, पुरुषार्थादि को जाने बिना अविवेक से जो कर्म किया जाता है, उसको तामस कहते हैं ॥ और तामस कर्म के नरकादि फल होते हैं । राजस के विषयजन्य सुख फल होता है । केवल सात्विकं के अन्तःकरण की शुद्धि, विवेक, विराग, ज्ञानादि द्वारा परम पुरुषार्थरूप फल होता है । इससे मुमुक्षु सत्पुरुषों के लिये सात्विक ही कर्म कर्तव्य हैं ॥ साहब ने भी कहा है कि,

'कहहिं कबिर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय'। रमैनी सा० १०

काम रहित जीव हो, तो जन्म-मरण रहित हो जाय इत्यादि ॥ और जैसे मनुष्यों को निष्काम कर्मादि से ज्ञानादि होते हैं, तैसे ही देवताओं को भी होते हैं । यदि कोई कहे कि देवताओं को कर्मादि के बिना ही ज्ञान होता है, क्योंकि श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने लिखा है कि,

'नचोपनयनशास्त्रेणेषामधिकारो निवर्तते । उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्तेषां च स्वयं प्रतिभातवेदत्वात्'।

देवताओं के उपनयन नहीं होने पर भी अध्ययनार्थक उपनयन शास्त्र से उन्हें ब्रह्मविद्या में अधिकार का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि अध्ययन के लिये उपनयन होता है और देवताओं को वेद स्वयं प्रतिभात (ज्ञात) रहते हैं, तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि इन्द्र भी ब्रह्माजी के पास में ब्रह्मचर्यवास किये थे, सो श्रुति में प्रसिद्ध है । और वामन पुराण में देवताओं के विहित कर्म विशेष कहे गये हैं । इससे चेतन देववादी को मानना होगा कि देवविशेष को वेदाक्षर मात्र का स्वयं प्रतिभान होने पर भी देवताओं को भी निष्काम कर्मादि द्वारा ही ज्ञानादि होते हैं, और अशुभ कर्मादि से उन्हें भी संसार दुर्गति होती है ॥ इस प्रकार जब देव स्वयं कर्मों के वश में हैं, तो केवल उन्हीं के भरोसे रहना उचित नहीं है,

किन्तु कल्याण के लिये सुकर्म से मन को शुद्ध करके ज्ञानी महात्माओं के शरण में जाना सत्संगादि करना उचित है। यद्यपि सात्विक देव सत्कार के पात्र पूज्य हैं। परन्तु वे भी जीव विशेष हैं, ईश्वर पद ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त वस्तु उनसे परे है। और सोई परम धाम प्राप्त करने योग्य है। देवताओं का जो कर्म में अनधिकार लिखा है, सो मानव कर्मविशेष विषयक जानना चाहिये। देवकर्म का बोधक वामन-पुराण के वचन हैं कि,

'देवानां परमो धर्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः।
स्वाध्यायतत्त्ववेदित्वं विष्णुपूजा इति श्रुतिः'॥ अ० ११

यज्ञादि करना, वेद पढना, कारणकार्यादि तत्त्वों को जानना, परमेश्वर की पूजा; ये देव धर्म हैं॥ और अन्यत्र लिखा है कि,

'एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम्।
यद्वासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता॥
तस्माद्यत्र कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः।
काम्य कर्म निषिद्धं च न कर्तव्य विशेषतः'॥

फलवासना (इच्छा) से रहित शुभ निज कर्म की कर्तृता का यह अभ्यास ही जन्मज्वर के नाशक परम धैर्यरूप है॥ इससे जिस कर्म के करने से पाप नहीं हो उसी कर्म को मुमुक्षु करे, और काम्य निषिद्ध कर्म किसी प्रकार नहीं करे। क्योंकि,

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'
'यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥'

श्रीभ० गी० अ० २।४०-४६

निष्काम कर्मयोग के स्वल्प भाग भी महाभय संसार से रक्षा करता है॥ अनेक कूपादिरूप उदपान (जलाशय) से जो प्रयोजन सब सिद्ध होते हैं, सो सब एक ही गंगा आदि से सिद्ध होते हैं, इससे गंगादि के

पास में कूप तालावादि की आवश्यकता नहीं होती। तैसे जो प्रयोजन सब वेद का अध्ययन और वेदविहित कर्मों से होता है, सो सब ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी को ज्ञान से ही होता है, इससे वेदादि की आवश्यकता नहीं रहती। और सकाम कर्म इच्छारूप दुःख से सदा व्याप्त रहता है, अनेक विघ्नयुक्त रहता है। कथंचित् पूर्ण होने पर तत्तत्फल मिलते हैं। और निषिद्ध तो पाप दुःखरूप ही होता है। इसलिये विवेक से हिंसादिरूप निषिद्ध को और काम्य को त्यागना ही मनुष्यता है।

सत्यविचारः ॥८॥

अहिंसामय व्यवहार के साथ ही सत्य भाषण धर्मरूप ज्ञान का हेतु होता है। सत्य के विना शौच, दया, दान भी असमर्थ अपूर्ण तुल्य रहते हैं। अथर्ववेद का वचन है कि,

'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति'।

सत्य, महत्, प्रिय भाषण, उत्कट (श्रेष्ठ) उपदेश, तप, और ब्रह्मयज्ञ; ये सब पृथिवी को धारण करते हैं॥ अथर्व और ऋग्वेद में लिखा है कि, 'सत्येनोत्तभिता पृथिवी' सत्य से पृथिवी उत्तम्भित (धृत) है॥ शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि,

'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः'।

मनुष्य झूठ बोलता है, इसीसे अपवित्र है। सत्य और झूठ दो ही है, तृतीय नहीं है। उसमें सत्य देव है, झूठ मनुष्य है॥ सत्य के दो भेद हैं, एक तो सदा अविनाशी बाधरहित सर्वात्मा ब्रह्म सत्य है, दूसरा यथादृष्टादि का कथन सत्य है। इन दोनों से पृथिवी आदि का धारण होता है। ब्रह्म तो सब का अधिष्ठान प्रकाशक साक्षीरूप से धारण करता है, और

सत्य भाषण से योग्य व्यवहार की सिद्धि होती है, तथा पुण्य होता है, जिससे संसार में सुख शान्ति आदि होती है। झूठ से पाप नरकादि होते हैं। इसीसे भगवान् मनु कहते हैं कि,

'वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाङ्विनिःसृताः।
तां तु यस्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः'॥

अ० ४।२५६

सब पदार्थ शब्द में नियत हैं (शब्द से समझे कहे जाते हैं), शब्द वागिन्द्रियजन्य होता है, वाक् से ही सब व्यवहार होता है। उस वाक् की चोरी जो करता है (झूठ बोलता है) उसे सब पदार्थ का चोर समझना चाहिये॥ महाभारत में लिखा है कि,

'सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति॥
अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽवृताः॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥
अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युरापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥'

सत्य ही ब्रह्म तप है, सत्य ही प्रजा की विसृष्टि करता है। सत्य से लोक का धारण होता है, स्वर्ग मिलता है॥ झूठ तमोगुण रूप है, उससे अधोगति होती है, तमोगुण से ग्रस्त आवृत्त मनुष्य प्रकाशरूप सत्य को नहीं देखते॥ सहस्र अश्वमेध और सत्य को तुला पर धरने पर सत्य ही अधिक होता है॥ अमृत, मृत्यु दोनों देह में स्थिर हैं। मोहजन्य असत्य से मृत्यु की और सत्य से अमृत की प्राप्ति होती है॥ सत्य में भी यह विशेष है कि,

'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम ॥'
सत्यस्य वदिता साधुर्न सत्याद्विद्यते परम् ।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥
भवेत्सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
यत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यञ्चाऽप्यनृतं भवेत् ॥'

'एषा सर्वभूतोपकारार्था प्रवृत्ता न भूतोपघाताय' इत्यादि ।
'तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ॥'

सत्य बोलना श्रेष्ठ है, सत्य से भी हित बोलना श्रेष्ठ है, जो भूतों के लिये अत्यन्त हित है वही वस्तुतः सत्य है; यह मेरा मत है ॥ सत्य से परे कोई नहीं है, इससे सत्यवक्ता साधु है, और वह सत्य दुर्ज्ञेय है, इसलिये अनुष्ठित सत्य को समझो ॥ कहिं सत्य भी अवक्तव्य होता है, असत्य वक्तव्य होता है। जहाँ झूठ सत्य और सत्य झूठ का फल देता है ॥ यह वाक् भूतहित के लिये प्रवृत्त हुई है, न कि उपघात के लिये ॥ इसलिये विचार कर सर्वभूत के अत्यन्त हित ही सत्य बोलना चाहिये, इत्यादि ॥ भाव है कि, सत्य बोलने से परापकारादि पाप हो तहाँ नहीं बोलना चाहिये। बोलने विना निर्वाह नहीं हो तो झूठ से भी दोष नहीं है; यदि सत्य से अनपकारी मारा जाता हो ॥ परन्तु स्वार्थ चित्तरञ्जनादि के लिये तो झूठ नहीं बोलना चाहिये। लिखा है कि,

'आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा ।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥'

म० भा० अनुशा० प० अ० ११८

जो अपने वा अन्य के लिये वा खेल हास्यरस में भी झूठ नहीं बोलते हैं सो स्वर्गगामी होते हैं ॥

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा'। मुण्डक ३।१।५

यह आत्मा सत्य और तप से प्राप्त होता है, इत्यादि॥ सद्गुरु साहब ने कहा है कि,

'सांच हिं शाप न लागये, सांच हिं काल न खाय।
सांच हिं सांचे जो रहे, ताको काह नशाय॥
सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदया सांच है, ताके हृदया आप॥'

साखी ३३३-३९

इससे सिद्ध होता है कि, सुख स्वर्ग ज्ञान मोक्षादि के लिये अवश्य ही सत्य बोलना चाहिये॥

अस्तेयविचारः॥९॥

झूठ का त्यागपूर्वक, अन्याय से पर द्रव्य का ग्रहणरूप चोरी को भी त्यागना श्रेयस्कर है। क्योंकि चोरी से अन्तःकरण दूषित होकर अपनी और अन्य की शान्ति को नष्ट करता है। दूषित मनवाला सत् कथा के श्रवणादि में नहीं प्रवृत्त होता, प्रवृत्त होने पर भी उसे श्रुत अर्थ का तत्त्वज्ञान नहीं होता। और चोरी अन्याय रहित मनुष्य लौकिक चतुराई आदि से रहित होने पर भी श्रवणादि में प्रवृत्त होता है, और तत्त्व समझता है, उसकी चित्तवृत्ति शीघ्र अन्तर्मुख होती है। यह अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये,

'प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा रात्रौ वा यदि वा दिवा।
यत्परद्रव्यहरणं स्तेयं तत्परिकीर्तितम्॥'

प्रत्यक्ष वा परोक्ष रात वा दिन में अन्याय से पर द्रव्य हरण स्तेय (चोरी) कहा जाता है। इस वचन से कथित स्तेय सर्वथा त्याज्य है॥ साहब ने कहा है कि,

'जनि ले चोरी भिक्षा खाई, फिरि बिरवा पलुहावन जाई ॥'

' रमैनी ६०

जो जीव चोरी से कुछ भी नहीं लेवे, और अन्न न होने पर भिक्षा मांग कर खाये, तो वह चोरी का अभावादि तीन ताप से तप्त जीवरूप बिरवा (वृक्ष पौधा) का पलुहावन (वृद्धि) के लिये होता है ॥ इससे अस्तेय भी कल्याणकारक सिद्ध होते हैं ॥

'दानविचारः ॥१०॥

चोरी का त्यागपूर्वक न्यायोपार्जित द्रव्य विद्या आदि का शुद्ध भाव निष्कामता से यथाशक्ति दान भी परम धर्मरूप चित्तशोधक है । महाभारत में लिखा है कि,

'दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः ।
तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः संप्रवर्तितम् ॥
सर्वस्वमपि यो दद्यात्कलुषेणान्तरात्मना ।
न तेन धर्मभाक् स स्याद्भाव एवात्र कारणम् ॥
प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महाफलाः ।
न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः ॥'

सर्वभूत का हित में रत महात्माओं ने कहा है कि सत्पात्र दीनादि के प्रति दान देना चाहिये; परन्तु धनी लोग इस दान धर्म को कृपण से चलाया मानते हैं ॥ अहंकार दुःखादि दोषयुक्त मन से सर्वस्व देने पर भी धर्मभागी नहीं होता है; क्योंकि धर्म के भाव ही मुख्य कारण है ॥ इसलिये प्राणसंताप से निर्दिष्ट (परिश्रमोपार्जित) काकिनी (कतिपय कौड़ी) भी दिया जाय तो महान् फल होता है । न्यायोपार्जित हजारों दिया जाय तो क्या कहना है ॥ इससे सिद्ध होता है कि न्यायोपार्जित

शुभ द्रव्यादि का निष्काम दान श्रेष्ठ सुख शुद्धि आदि का हेतु है॥ कूर्मपुराण के वचन हैं कि,

'अर्थानामुचिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्दिष्टं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्॥' अ० २६

योग्य पात्र में श्रद्धा से द्रव्यार्पण को दान कहते हैं, सो भोग मोक्ष दोनों देता है। सद्गुरु साहब ने कहा है कि,

'दिया खता न किया पयाना'। रमैनी मा० ६६

जो यथोचित दान भोग नहीं किया सो व्यर्थ ही मर गया, इत्यादि।



सेवाश्रद्धादिविचारः ॥११॥

इसी प्रकार धर्मात्मा, ज्ञानी, महात्मा की सेवा श्रद्धा भक्ति भी अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञानादि के साधन हैं।

'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥'
श्रीमद्भा० स्क० ५।५।२

'साधुसेवा विष्णुसेवा सेवा धर्मपथस्य च।
पुरा सम्पादिता ह्येते परलोकस्य हेतवः॥'
स्कन्दपु० ख० २ वै० अ० ८।११

क्योंकि महात्माओं की सेवा को मुक्ति का द्वार कहते हैं, स्त्रीसंगी का संग को तमोद्वार कहते हैं। महात्मा वे हैं जो समचित्त प्रशान्त क्रोध रहित सर्वसुहृद् साधु हैं॥ साधु की सेवा ईश्वर की सेवा धर्ममार्ग की सेवा ये तीनों पहले परलोक के कारण बनाये गये॥ 'श्रद्धया सत्यमाप्यते'। यजुर्वे० अ० १९।३०। 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'। भ० गी० ४।३९। श्रद्धा (विश्वास) से सत्यात्मा मिलता है॥ श्रद्धावाला ज्ञान पाता है।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

श्वेता० ६।२३,

'भक्त्या मामभिजानाति'। भ० गी० १८।५५। जिसको परम देव ईश्वर में परा (श्रेष्ठ) भक्ति रहती है, और ईश्वर के समान ही गुरु-भक्ति रहती है, उसी महापुरुष को उपनिषद् उक्त अर्थों का ज्ञान होता है॥ भगवान कहते हैं कि, भक्ति से ही मनुष्य मेरे पारमार्थिक स्वरूप को जानता है॥ सद्गुरु साहब ने भी कहा है कि,

'दादा भाई बाप के लेखो, चरणन होइ हो बन्दा।
अबकी पुरिये जो नर समुझे, सो नर सदा अनन्दा॥'

साखी० २८४

'सन्तो भक्ति सतगुरु आनी।
नारी एक पुरुप दुइ जाया, बूझहु पण्डित ज्ञानी॥'

शब्द ४९,

सद्गुरु महात्माओं को पितामह भ्राता पिता की नाई पूज्य सहायकादि समझो, और श्रद्धा से उनके चरण का बन्दा (सेवक) होना। जो मनुष्य इस मनुष्य देह में इस सेवा द्वारा ज्ञानोपार्जन करता है, सो सदा आनन्द से रहता है॥ हे सन्तो! सद्गुरु ने भक्ति लाई और वह भक्ति-रूप एक नारी ने ज्ञान विराग रूप पुरुषों को उत्पन्न किया, सो ज्ञानी पण्डितों से समझो॥ इत्यादि कथनों से सेवा आदि में ज्ञानकारणता सिद्ध होती है और प्रत्यक्ष है॥

तपोविचारः ॥१२॥

हित परिमित शुद्ध भोजनरूप शीतातपादि सहनरूप तितिक्षा इन्द्रिय-निग्रहादि ये सब जो सेवाभक्ति के साधनरूप तप हैं, इनको भी ज्ञान का साधन अन्तःकरण के शोधक कहा गया है। मैत्रेयी, मैत्रायिणी, उपनिषद् में लिखा है कि,

'तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मा पत्त्या निवर्वते॥'

तप से सत्त्वगुण की प्राप्ति होती है, सत्त्व गुण से मन वश में होता है, वशीभूत मन से आत्मप्राप्ति होती है, आत्मप्राप्ति से मुक्ति होती है॥ साहब ने कहा है कि,

'खाते खाते युग गया, अजहुं न चेतहु आय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई जिव जरतहि जाय॥'

रमनी सा० ७९

तप विना विषय भोगते २ अनन्तों युग बीत गये, परन्तु अब ही तक कुछ समझ (ज्ञान) नहीं प्राप्त हुआ, इत्यादि॥

ब्रह्मचर्यविचारः ॥१३॥

उक्त तप का भी साधक ब्रह्मचर्य है, सो भी अध्ययन सत्संगादि द्वारा ज्ञान का हेतु है, अन्तःकरण के शोधनादि का हेतु है। आत्मपुराण अ० १४ में लिखा है कि,

'स्वर्गं मोक्षं तथा चायुरिह लोके सुखं यशः।
ब्रह्मचर्येण सम्पन्नः पुमानाप्नोत्यशंसयम्॥
निरोगः कान्तिसम्पन्नः सर्वदुःखविवर्जितः।
ब्रह्मचारी भवेल्लोके पाप्मना च विवर्जितः॥

ब्रह्मचर्यविहीनाय विषयासक्तचेतसे।
आनन्दात्मापि चित्तस्थो भाति नैव कदाचन॥
किन्तु नारी सदा भाति बहिर्या मलसंचया॥'

स्कन्दपु० खं० ६।२३७।१४। में लिखा है कि,

'ब्रह्मचर्यप्रभावेण तप ऊग्रं प्रवर्तते।
ब्रह्मचर्यात्परं नास्ति धर्मसाधनमुत्तमम्॥'

स्वर्ग, मोक्ष, आयु, इस लोक में सुख, यश; ये सब ब्रह्मचारी को अवश्य मिलते हैं॥ निरोग, कान्तियुक्त, सब दुःख से रहित, पाप से रहित ब्रह्मचारी होता है॥ ब्रह्मचर्य रहित विषयासक्त को चित्त में स्थित भी आनन्दात्मा कभी नहीं भासता है॥ किन्तु सदा नारी भासती है, जो बाहर में मल का समुदाय है। क्योंकि,

'कामक्रोधादिसंसर्गादशुद्धं जायते मनः।
अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं तच्च विनश्यति॥'

कामादि के सम्बन्ध से मन अशुद्ध हो जाता है, और अशुद्ध मन में उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, तो फिर ज्ञान होना तो दूर रहा॥ और ब्रह्मचर्य के प्रताप से परम श्रेष्ठ तप सिद्ध होता है। इससे ब्रह्मचर्य से उत्तम अन्य धर्म का साधन नहीं है॥ इसलिये,

'आत्यन्तिकं ब्रह्मचर्यमाश्रमत्रयवासिनाम्।
स्वदारनियमात्सम्यग् ब्रह्मचारी गृहाश्रमी॥'

तीन आश्रमवालों के लिये अत्यन्त ब्रह्मचर्य विहित है, गृहस्थ के लिये अपनी स्त्रीविषयक पूर्ण नियम का विधान है॥ साहब ने कहा है कि,

'तबही विष्णु कहा समुझाई। मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई॥'

र० १३ इत्यादि॥

ज्ञानहेतुकर्मविशेषविचारः ॥१४॥

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि'। तैत्तिरीयोप० ११

इत्यादि श्रुति से विहित माता पिता आचार्य में देवबुद्धि आदि हैं। और अनिन्दित कर्म का सेवन निन्दित का त्याग दानादि गृहस्थ के लिये विहित हैं। सो अन्य के लिये भी यथायोग्य कर्तव्य हैं। पूर्ववर्णित सब सत् धर्म, सत्य, तप, दया, दानात्मक; वा तप, ज्ञान, यज्ञ, दानात्मक धर्म के पादरूप हैं। और मनुष्य जब निष्काम होकर इनका सेवन करता है, तब ज्ञान के कारण होते हैं। ज्ञान इस जन्म में वा जन्मान्तर में इनसे होता है। श्रुति है कि,

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'। बृहदा० अ० ४।४।२२

इस आत्मा को ब्राह्मण लोक वेदानुवचन (वेदाध्ययन) यज्ञ दान अनाशक तप से जानना चाहते हैं॥ इस श्रुति में यज्ञ दानादि के अधिकारी मात्र का बोधक ब्राह्मण पद है। इससे सब मनुष्य यथायोग्य यज्ञादि करके ज्ञानाधिकारी होते हैं। यद्यपि किसी २ ग्रन्थ में लिखा है कि, तीन वर्ण के ही कर्म ज्ञान के हेतु होते हैं। किसी में चारों वर्ण के कर्म को ज्ञान का कारण माने हैं। किसी का कथन है कि तीन वर्ण में भी जो चार आश्रम के अन्दर हैं, उनके ही कर्म ज्ञान का हेतु होता है, अनाश्रमी विधुरादि के कर्म ज्ञान का हेतु नहीं होता, इत्यादि। तथापि ये सब निष्प्रमाणिक व्यर्थ कल्पनायें हैं। ब्राह्मण पद उक्त श्रुति में वेदाध्ययन यज्ञादि के अधिकारी मात्र का उपलक्षण रूप से बोधक है। इससे निष्काम मनुष्य मात्र के शुभ कर्म ज्ञान का हेतु होता है। यज्ञ दानादि के अनेकों भेद गीता आदि में वर्णित हैं। उनको अपनी २ योग्यता के अनुसार सब मनुष्य कर सकते हैं। और शुद्ध मनवाला होकर ज्ञान के अधिकारी हो सकते

हैं। अथवा जन्मान्तरकृत कर्मादि से जिनके मन में ब्रह्मप्राप्ति की वासना इच्छा होती है, उन पुरुषों का वाचक उक्त श्रुति में ब्राह्मण पद है, क्योंकि उस वासना विना ब्रह्मप्राप्ति के लिये कोई कर्म नहीं कर सकता, इससे यह मानना होगा कि अनादि इस संसार में भटकता हुआ किसी जीव से अचानक में स्वाभाविक ही कोई ऐसा शुभ कर्म हो जाता है कि जिससे इस जन्म में वा जन्मान्तर में ब्रह्मप्राप्ति की सामान्य इच्छा होती है, फिर शुभ कर्मादि में प्रवृत्त होता है, जिससे वह इच्छा दृढ होती है और शुद्ध होती है। तहाँ सामान्य इच्छावाला का बोधक श्रुति में ब्राह्मण पद है। अथवा शम दमादि युक्त का वा अपर ब्रह्मनिष्ठ गुरु वेदादि में भक्ति निष्ठावाला ब्रह्मप्राप्ति योग्य का वाचक ब्राह्मण पद है। शुभ कर्मादि से उसके चित्त में अत्यन्त शुद्धि होती है, तब वह चित्त तत्त्वज्ञान रूप से परिणत होता है। अथवा वे कर्मादि गुरु आदि रूप ज्ञान की सामग्री को प्राप्त कराने द्वारा ज्ञान के हेतु होते हैं। क्योंकि श्रुति के 'विविदिषन्ति' इस पद में विद् धातु का ज्ञान अर्थ है, सन् प्रत्यय का इच्छा अर्थ है। तहाँ जैसे 'अश्वेन जिगमिषति' अश्वगत करणता का गमन में अन्वय होता है, तैसे ही वेदानुवचनादि गत करणता का ज्ञान में अन्वय होना उचित है। इससे ज्ञान के करणरूप हेतु कर्म सिद्ध होता है॥ अथवा सन् प्रत्ययार्थ इच्छा के प्रधान होने से वेदानुवचनादि की करणता का इच्छा के साथ अन्वय (संबन्ध) होता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वेदानुवचनादि से दृढ मोक्ष की इच्छारूप मुमुक्षा होती है। अथवा, 'यो वेदेदं मेऽनेनाऽङ्गं संस्क्रियते'। इस वचन के अनुसार चित्तरूप अंग की शुद्धि वेदानुवचनादि कर्म का फल सिद्ध होता है। इससे चित्त की शुद्धि द्वारा शुभ कर्म ज्ञान के हेतु होते हैं। परन्तु जिस मत में वेदानुवचनादि ज्ञान के कारण माने गये हैं, उस मत में वेदानुवचनादिक ही सद्गुरु आदि की प्राप्ति का भी हेतु होते हैं। और जिस मत में प्रबल इच्छा वा मनःशुद्धि के हेतु वेदानुवचनादि होते हैं, उस मत में गुरु आदि की प्राप्ति

किसी अन्य कर्म से होती है। इससे यदि गुरु आदि की प्राप्ति का हेतु कर्मान्तर होव तो शुद्ध चित्तवाला मुमुक्षु को ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। यह इन मतों में भेद है। वेदानुवचनादि चित्तशुद्धि के हेतु हैं, और चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान के हेतु होते हैं। यह पक्ष उक्त वचनानुसार होने से श्रेष्ठ है, और 'अश्वेन जिगमिषति' इत्यादि के अनुसार श्रुति को भी वेदानुवचनादि में ज्ञानकरणता का बोध कराने में तात्पर्य है। इससे श्रुति और उक्त वचन की एकता सिद्ध होती है, विरोध नहीं। और श्रुति में वेदानुवचन यज्ञ दान तप इन पदों का असमस्त पाठ से सिद्ध होता है कि, जिससे जो हो सकता हो, जो जिसका अधिकारी हो, सो उसी निष्काम शुभ कर्म से ज्ञान पा सकता है। वेदानुवचनादि समुदाय में ज्ञानहेतुता का तात्पर्य होता, तो, 'वेदानुवचनयज्ञदानतपोभिर्ब्राह्मणास्तमेतं विविदिषन्ति' ऐसा पाठ होता। यदि कोई कहे कि, 'अनाशकेन' इस विशेषण का 'तपसा' इसी पद के साथ संबन्ध बोध के लिये असमस्त पाठ किया गया है, तो भी, 'वेदानुवचनदानैस्तपसाऽनाशकेन' इत्यादि पाठ हो सकता था। और वस्तुतः अनाशक पद का प्रत्येक के साथ संबन्ध विवक्षित है, क्योंकि मारणादि के लिये वेदानुवचन नाशक होता है। सकाम हिंसादि युक्त यज्ञ नाशक होता है, अपात्र के प्रति दान नाशक होता है, दुराग्रह अत्यन्त पीडायुक्त अन्य के नाशक तामस तप नाशक होता है; इससे विपरीत ये सब अनाशक होते हैं। इससे सब में नाशकत्व का सम्भव और व्यभिचार (अभाव) होने से, सबके साथ यह विशेषण सार्थक है॥ इससे सिद्ध हुआ कि नाशकता रूप दोषरहित ही सब कर्म ज्ञान के हेतु होते हैं।

'पढ़ना पढहु धरहु जनि गोई। नहि तो निश्चय जाहु बिगोई॥'

रमैनी १७

इत्यादि वचनों से साहब ने भी उक्त अर्थ की सूचना की है॥

संन्यासविचारः ॥१८॥

यहाँ शंका होती है कि ज्ञान वा मोक्ष का हेतु कर्म नहीं हो सकता, सो लिखा है कि,

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥
कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान् षोडशात्मकः ।
विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम् ॥'

म० भा० आश्वमे० अ० २४।७८

कर्म से जीव बंधता है, विद्यासे छूटता है; इसी से पारदर्शी यति कर्म नहीं करते ॥ कर्म से एकादशेन्द्रिय पांच भूत रूप देह के अभिमानी होता है, विद्या से नित्य अव्यक्त अव्यय स्वरूप होता है ॥ यदि कोई कहे कि, 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुति से कर्म में ज्ञान की कारणता सिद्ध होने से, निषिद्ध और काम्य कर्म ही बन्धन के हेतु होते हैं, तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि लिखा है कि,

'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ।' बृहदा० ४।४।२२
'एवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति ।' ४।४।२३

'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम् ॥'

बृहदा० संबन्धवा०

'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ।'

प्रव्रजनशील महात्मा इस आत्मस्वरूप लोक की इच्छा से सब कर्म का संन्यास करते हैं ॥ आत्ममहिमा कर्म से घटने बढ़ने वाली नहीं है, ऐसा जाननेवाले शम दम युक्त काम तृष्णादि रहित तितिक्षु पुरुष समाहित होकर कार्यकरण का संघात में ही प्रत्यक् चेतनात्मा को जानते हैं ॥

सब साधनों में त्याग ही मोक्ष का उत्तम साधन है, त्यागनेवाला से ही वृह ब्रह्म जानने योग्य है, और उसीका प्रत्यगात्मा परंपद स्वरूप है॥ इसलिये सत्य (कर्मफलादि), झूठ, सुख, दुःख, वेद, लोक, परलोक को त्याग कर आत्मान्वेषण करे॥

'उक्तानुशासनासि मैत्रेयि! एतावदरे खल्वमृतत्त्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार।' बृहदा० ४।५।१५।

हे मैत्रेयि! तुझे उपदेश दे चुके कि आत्मज्ञान और त्यागही मोक्ष के साधन हैं। ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य संन्यास किये॥ इस पूर्व कही रीति से ज्ञान से पूर्वकाल में ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्मादि का त्याग सिद्ध होता है। और ज्ञान के बाद भी ज्ञान की रक्षा जीवन्मुक्ति का आनन्द के लिये कर्म का त्याग ही सिद्ध होता है। इससे कर्मों का त्याग ज्ञान का हेतु है। कर्म बन्धन का हेतु है, सो ज्ञान का हेतु नहीं हो सकते॥ इस शंका का यह समाधान है कि, तत्तत् काम्य कर्मादि को तत्तद् वर्णादि के अभिमानी रागद्वेषादि युक्त मनुष्य ही कर सकते हैं। अभिमान रागादि रहित ज्ञानी वा अत्यन्त विरक्त नहीं कर सकते। यदि कोई ज्ञानी वा विरक्त कर्म करता भी है तो लोकोपकारादिरूप कर्माभास मात्र करता है॥ आसक्तिपूर्वक नहीं करता। तथापि जिसको दृढ वैराग्य नहीं हुआ हो, और वैराग्यादि के अभाव से जिसे ज्ञान भी नहीं हुआ हो, वह पुरुष निष्काम कर्म का अधिकारी है। निष्काम शुभ कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि दृढ वैराग्य की प्राप्ति श्रवणादि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे कर्म को भी ज्ञान का हेतु माना गया है। मन्द वैराग्य अशुद्ध मनवालों की श्रवणादि में प्रवृत्ति नहीं होती। कथञ्चित्प्रवृत्ति होने पर भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। क्योंकि मन्द वैराग्य ज्ञान का हेतु नहीं हैं। सांसारिक दुःखादि से मन्द वैराग्य होता है, सो किसी प्रबल पुण्य सत्संगादि से दृढ होता है, और भोग कुसंगादि से नष्ट भी होता है। इसलिये उसको निष्काम शुभ कर्म करना कुसंगादि त्यागना सत्संग में रहना ही कल्याणकारक है,

विरक्त ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं की संगति और श्रवणादि से भी अन्तःकरण की शुद्धि दृढ वैराग्य दृढ मोक्षेच्छा को प्राप्त करके मनुष्य परम पद के अधिकारी होता है । वार्तिक है कि,

'प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्यागमीप्सन्तीति श्रुतेर्बलात् ॥'

अन्तरात्मा का ज्ञान की इच्छासिद्धि के लिये वेदाध्ययनादि होते हैं। ब्रह्मप्राप्ति के लिये उनका त्याग को श्रुतिबल से चाहते हैं ॥ स्मृति है कि, 'कषायपक्तिः कर्मभ्यो॰ज्ञानं तु परमा गतिः ।' पापरूप कषाय (दोष) की कर्म से निवृत्ति होती है । ज्ञान परम गति रूप है । इससे कर्म से पाप की निवृत्ति होने पर ज्ञान होता है यह सिद्ध होता है ॥ जैसे वेदानुवचनादि से मन शुद्ध होता है । तैसेही,

'अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥' ५।१०९

इस मनुस्मृति के अनुसार जल से शरीर, सत्यभाषण चरित्र से मन, आत्मविद्या तप से सूक्ष्म देह सहित जीवात्मा शुद्ध होता है। और ब्रह्मात्मा के अपरोक्ष अनुभव से बुद्धि शुद्ध (संशयादि रहित) होती है ॥ और विरक्त सर्वथा शुद्ध पुरुष को ही संन्यास (कर्मत्याग) का अधिकार है, अन्यथा संन्यासी बनकर लोक पतित होते हैं। ज्ञान और मोक्ष तो उनसे दूर रहता है ।

'यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्यये ॥'
नारदीय पु० २४।९.१

'नरकादिव निर्विण्णो यावन्नाब्रह्मणो नरः । न तावदधिकारोस्ति कैवल्यज्ञानवर्त्मनि ॥'

जब सब वस्तु में तृष्णा का अभाव हो जाय, तभी संन्यास की इच्छा महात्मा करते हैं, इसके विना पतित होता है। इससे मनुष्य जैसे नरक से विरक्त रहता है, तैसेही ब्रह्मलोक पर्यन्त सब विषय से जबतक नहीं विरक्त हो तबतक कैवल्य ज्ञानमार्ग संन्यासादि में उसका अधिकार नहीं है॥

संन्यासफलविचार: ॥१६॥

कोई संन्यास का फल बताते हैं कि, अन्तःकरण में अनेकों प्रकार के पाप रहते हैं, उनकी निवृत्ति विना ज्ञान नहीं होता। तहाँ किसी २ पाप की निष्काम कर्मादि से निवृत्ति होती है। और किसी २ की निवृत्ति संन्यासग्रहण तदनुकूल कर्मादि से होती है। तब ज्ञान होता है। इससे श्रवणादि करने पर भी गृहस्थादि को ज्ञान नहीं हो सकता। जनकादि को भी जन्मान्तरकृत संन्यास का बल से ही गृहस्थाश्रम में ज्ञान हुआ, इत्यादि॥ और अन्य कोई कहते हैं कि, श्रुति में जनकादि के ज्ञान का वर्णन स्तुतिमात्र है, क्योंकि गृहस्थ को ज्ञान होता ही नहीं है। यह बात, 'सहकार्यान्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्।' अ० ३।४।३६ इस व्याससूत्र से सिद्ध होती है। जैसे शम दम ज्ञान के साधन हैं, तैसे उपरति (संन्यास) भी ज्ञान के साधन है, इससे साधनचतुष्टय के तुल्य संन्यास भी ज्ञान के साधन है। यह अर्थ इस सूत्र से सिद्ध होता है। और, 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।' बृहदा० अ० ३।५ श्रवण द्वारा पाण्डित्य प्राप्त करके मनन से बाल्यभाव से रहे। इस श्रवणादि विधायक श्रुति में, 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' लोकेच्छादि से रहित पुरुष भिक्षाऽऽचरण करते हैं। इसकी अनुवृत्ति होती है, इससे भिक्षुक के ही लिये श्रवणादि विहित हैं॥ और वार्तिककार ने लिखा है कि,

'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः।
जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता॥'

जो जिज्ञासु आत्मचिन्तन शारीरिक व्यवहार से भिन्न सब क्रिया को त्याग कर संसार को त्यागना चाहता है, उसीको वेदान्त में अधिकार है, और उसीको एकात्मता की प्राप्ति होती है ॥ और ज्ञानी संन्यासी के लिये मौन (निदिध्यासन) भी सहकारी साधन विहित है, क्योंकि भेद ज्ञान के प्रबल होनेसे ज्ञान होने पर भी निदिध्यासन का पक्ष में अभाव प्राप्त होता है । इससे दर्शादि याग के समान मौन नामक तृतीय निदिध्यासन का विधान किया गया है, यह उक्त सूत्र का अर्थ है ॥ इससे सिद्ध होता है कि संन्यासजन्य पुण्य सहित श्रवणादि ज्ञान के हेतु होते हैं । अन्यथा नहीं इत्यादि ॥ और कोई कहते हैं कि, अदृष्ट (पुण्य) द्वारा श्रवणादि का वा ज्ञान का हेतु संन्यास नहीं है, किन्तु दृष्ट द्वारा ही श्रवणादि का हेतु है । श्रवणादि द्वारा ज्ञान का हेतु है । संन्यास विना कर्मासक्त रहने से अवकाश विना विचारादि नहीं हो सकते। इससे संन्यास का विधि किया गया है, इससे आलस्यादि रहित उत्साही जिज्ञासु गृहस्थ भी श्रवणादि करके ज्ञानी मुक्त हो सकता है। परन्तु ऐसा मानने पर सामान्यरूप से संन्यास विधि व्यर्थ होगा, इसलिये नियम विधि मानना चाहिये कि, संन्यासपूर्वक ही श्रवणादि करना चाहिये, और इस विहित दीक्षारूप संन्यास से पुण्य विशेष होता है, जैसे उपनयनादि से होता है, सो श्रवणादि द्वारा ज्ञान के साधन होता है, इत्यादि ॥ वस्तुतः विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि संन्यास बोधक श्रुतियाँ कर्मकारण वा सम्प्रदायविशेषरूप संन्यास के विधायक नहीं हैं। क्योंकि कर्मकारण वा सम्प्रदायरूप संन्यास गौण है। जन्मादि के हेतु काम्यादि कर्मों का त्याग दुष्ट वासनाओं का त्याग और इसके लिये मन का निग्रह स्वरूप यत्न विशेषरूप संन्यास ही मुख्य संन्यास है। उसीका श्रुतियों में विधान है कि आत्मा को जानकर ब्रह्मनिष्ठ पुरुष पुत्र धनादि की इच्छा को त्यागते हैं, और भिक्षादि न्यायवृत्ति से जीवन करते हैं, इत्यादि। साहब ने भी कहा है कि,

'छाडहु पति छाड़हु लबराई। मन अभिमान छूटि तब जाई॥
'जनि लो चोरी भिक्षा खाई। फिरि बिरवा पलुहावन जाई॥
पुनि सम्पति औ पति को धावै। सो बिरवा संसार हिं आवै॥'

दोहा- झूठ झूठ कै छाड़हूं, मिथ्या यह संसार।
" तिहि कारण मैं कहत हूं, जाते होय उबार॥'

और दण्डग्रहण मात्र से जो नारायणरूपता का स्मृति में वर्णन है, सो स्तुतिरूप है। अथवा,

'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।' मनुः० अ० १२।१०

इस स्मृतिकथित मन वाक् देह का दमन (वशीकरण) दण्ड शब्द का अर्थ है॥ क्योंकि मन आदि को वश में रखनेवाले ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होते हैं, यह शास्त्र प्रसिद्ध है॥ और ज्ञानी भी समाधिपरायण, विचार-परायण, व्यवहारपरायण भेद से तीन प्रकार के होते हैं, उनमें व्यवहार-परायण के मोक्ष में संदेह रहता है; क्योंकि अदृढ ज्ञान के व्यवहार बाधक होता है। इससे विपरीत भावनादि कराकर संसार का हेतु हो जाता है। आत्मपुराण में लिखा है कि,

'कामक्रोधादिसंसर्गादशुद्धं जायते मनः।
अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं तच्च विनश्यति॥
महावाते स्थितो दीपो यथा कार्यकरो नहि।
संगे सति तथा ब्रह्मज्ञानं कार्यं करोति न॥
अहो निष्पन्नयोगोऽपि सङ्गात्पतति निश्चितम्।
अहमेतादृशो विद्वान् नरकेऽत्र यतः स्थितः॥'

कामादि के संग से मन अशुद्ध होता है, अशुद्ध मन होने पर वह अदृढ ब्रह्मज्ञान भी नष्ट हो जाता है॥ जैसे महावायु में स्थित दीप अपना कार्य (प्रकाश) नहीं कर सकता, तैसे संग होने पर ब्रह्मज्ञान भी अपना कार्य नहीं करता॥ याज्ञवल्क्य जी का कथन है कि योगसिद्धि-

वाला भी संग से पतित होता है, यह बात निश्चित है; जिस से मैं ऐसा विद्वान् होते भी स्त्री के संग से इस स्त्री रूप नरक में अभी स्थिर हूं। और समाधिपरायण विचारपरायण ज्ञानी के अदृढ ज्ञान भी समाधि आदि से दृढ होता है, जिस से वे अवश्य मुक्त होते हैं। ज्ञान की दृढता अदृढता कार्य से अनुमेय होती है, इससे दृढ ज्ञानाभिमान से भी संग उचित नहीं होता। दिव्यादिव्यादि अग्नि के समान ज्ञान की भी अनेक अवस्था होती है, परंतु विशेष संग किसी अवस्था में भी अच्छा नहीं होता है। सब ज्ञान में दृढ अपरोक्ष ज्ञान ही श्रेष्ठ होता है।

'यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥'

कठोप० अ० २ ६।५

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखता है, तैसे मनुष्य लोक में आत्मज्ञान बुद्धि में स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। जैसे स्वप्न में वासना से अस्पष्ट ज्ञान होता है, तैसे पितृलोक में भोगासक्ति से अस्पष्ट आत्मज्ञान होता है। जैसे जल में प्रतिबिम्ब का स्पष्ट ज्ञान होने पर भी उलटा ज्ञान होता है, तैसे गन्धर्व लोक में आत्मज्ञान होता है। और छाया आतप जैसे स्पष्ट भिन्न २ प्रतीत होते हैं, तैसे ही ब्रह्मलोक में तुच्छ मायिक पदार्थ से भिन्न आत्मा स्पष्ट प्रतीत होता है। इस श्रुति में लोक भेद से भी ज्ञान की अवस्था का भेद कहा गया है, तथापि भेद में कारण विषय संगादि ही माने गये हैं। इस से इस लोक में भी संग भोगासक्ति आदि भेद से ज्ञान में भेद होता है। अत्यन्त भोगासक्त को ज्ञान होता ही नहीं है। यद्यपि बहुत विरक्त को भी किसी प्रतिबंधक से वा साधन सामग्री के अभाव से ज्ञान नहीं होता है। तथापि प्रतिबन्धक का अभाव और साधन सामग्री रहने पर विरक्त को अवश्य ज्ञान होता है। अविरक्त को नहीं होता, इससे साधन सामग्री सहित वैराग्यपूर्वक संन्यास से आत्माऽपरोक्ष होता है, उससे बन्ध की निवृत्ति होती है। और वैराग्यपूर्वक

त्यागरूप संन्यास के अधिकारी वह है कि जिस में वैराग्य है। परंतु श्रुति में ब्राह्मण पद होने से संन्यास में ग्रन्थकारों के मतभेद हैं। कोई ब्राह्मण पद से क्षत्रिय वैश्य का भी विविदिषा संन्यास में अनधिकार कहते हैं। विद्वत्संन्यास में अधिकार बताते हैं। शूद्रादि का सब संन्यास में कोई अनधिकार कहते हैं, कोई अधिकार कहते हैं। किसी २ श्रुति में ब्राह्मण पद के नहीं रहने से तीनों वर्ण के लिये कोई तुल्य ही संन्यास कहते हैं। क्षत्रिय आदि को विविदिषा संन्यास नहीं माननेवाले संन्यास विना ही उनका श्रवणादि में अधिकार बताते हैं, और ब्राह्मण को संन्यास के बाद ही अधिकार कहते हैं, परंतु यह मत श्वेतकेतु गोतमादि के श्रुतिसिद्ध इतिहासों से विरुद्ध है। वे लोक संन्यास विना ही श्रवणादि किये थे॥ किसी का कथन है कि क्षत्रिय वैश्य को श्रवणादि के गौण अधिकार हैं, मुख्य नहीं; क्यों कि,

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। छा० अ० २।२३।१

इस श्रुति में ब्रह्मनिष्ठ की मुक्ति कही गई है। सो ब्रह्मनिष्ठता संन्यास बिना नहीं हो सकती। और क्षत्रिय आदि के लिये संन्यास की विधि है नहीं, इससे उन्हें श्रवणादि का गौण अधिकार है, और उस श्रवणादि का जन्मान्तर में फल होता है इत्यादि। सो भी कथन ठीक नहीं; क्यों कि महाभारतादि में अनेकों क्षत्रिय और तुलाधार सोनार के श्रवणादि का इतिहास है, और श्रुति में भी जनक जानश्रुति आदि क्षत्रिय के श्रवणादि का इतिहास है, और उन के वर्तमान जन्म में ज्ञानिपन का वर्णन है। इससे संन्यास विधायक श्रुतियों में प्रधानता से ब्राह्मण पद है, सो अन्य विरक्त मुमुक्षु का भी बोधक है। जैसे,

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते।'
तैत्तिरीयसं० ६।३।१०।५

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। कठो० १।२।२४

इन वाक्यों में ब्राह्मण पद और ब्रह्म क्षत्र पद अन्य के भी बोधक होते हैं। और मुख्य होने से ब्राह्मण का ब्रह्म क्षत्र पद का उच्चारण किया गया है। अर्थ है कि गृहस्थरूप से उत्पन्न ब्राह्मणादि देव पितृ ऋषि ऋण से युक्त होते हैं। जिस ब्रह्म के ब्राह्मणादि सब संसार भात तुल्य है, मृत्यु दाल तुल्य है, उस ब्रह्म को विशेष रूप से कौन जान सकता है। इसी प्रकार संन्यास विधायक वाक्यों में अनिषिद्ध अन्य का भी उपलक्षक (बोधक) ब्राह्मणपद को जानना चाहिये। यदि कोई कहे कि,

'राजा राजसूयेन यजेत स्वाराज्यकामः।'

इस श्रुति में राजा पद को पूर्व रीति से उपलक्षक होने से क्षत्रिय से अन्य को भी राजसूय का अधिकार होना चाहिये, तो सो कहना ठीक नहीं; क्यों कि इस श्रुति में मुख्य ब्राह्मण का न ग्रहण कर के जो क्षत्रिय का ग्रहण है, इससे अन्य का बोध नहीं होता है। इसी प्रकार,

'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नी नादधीत।'

इस श्रुति में मुख्य ब्राह्मण का ग्रहण होते भी अन्य का बोध नहीं होता है। क्योंकि अन्य के लिये विशेष विधि है कि, 'ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः।' ग्रीष्म में क्षत्रिय को और शरद में वैश्य को अग्नि का ग्रहण करना चाहिये। इससे वसन्त में केवल ब्राह्मण ही के लिये अग्नि-ग्रहण ठीक है। इससे कोई दोष नहीं है॥ पूर्ववर्णित रीति से कर्म और उसका त्याग मनोनिग्रह शम उपरति रूप संन्यास दोनों योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति रक्षा) साधारण रूप से ज्ञान के हेतु (कारण) सिद्ध होते हैं॥

उपासनाविचारः॥१७॥

जैसे कर्म ज्ञान का हेतु होता है, तैसे उपासना भी ज्ञान का हेतु होती है। क्योंकि अन्तःकरण में मल (पाप), विक्षेप (चञ्चलता), अज्ञान

(आवरण); ये तीन दोष रहते हैं, तिन में मल की निवृत्ति कर्म से होती है। यद्यपि महाभारत में लिखा है कि,

'स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते फलम्॥
अज्ञानात्तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति।
ब्राह्मणाः शास्त्रनिर्देशादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः॥
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्॥'

इस याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार, अज्ञानकृत पाप का ही प्रायश्चित से नाश होता है; इससे ब्रह्मवादी ब्राह्मण कहते हैं कि, जो प्रथम पाप करके प्रायश्चित्त (पापनिवृत्ति) के लिये पीछे शुभ कर्म करता है, सो पुण्य-पाप दोनों के फलों को भोगता है; क्योंकि ज्ञात पाप की शुभ कर्म से निवृत्ति नहीं होती है, अज्ञात हिंसा को अहिंसा व्रत नष्ट करता है। इत्यादि परमत (अन्य मत) लिख कर अपना मत व्यास भगवान लिखे हैं कि,

'अहं तु तावत् पश्यामि कर्म यद् वर्तते कृतम्।
गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहितम्॥
यथा सूक्ष्माणि कर्माणि फलन्तीह यथातथम्।
बुद्धियुक्तानि तानीह कृतानि मनसा सह॥'

मैं तो देखता हूँ कि गुणयुक्त प्रगट किया गया कर्म वा पापयुक्त कर्म सूक्ष्म सब अज्ञात कर्म भी अवश्य यथायोग्य फल देते हैं। चाहे बुद्धिपूर्वक किये गये हों, वा अन्य प्रकार मन से ही किये गये हों। फल देने बिना अज्ञ के कर्म किसी प्रकार नष्ट नहीं होते हैं। इत्यादि। तथापि पाप की अपेक्षा पुण्य के अधिक होने पर वा उत्कट (प्रबल) पुण्य होने पर, वर्तमान भी पाप अभिभूत हो जाते हैं (दब जाते हैं); इससे नष्ट के सदृश रहने से तबतक हानि नहीं करते हैं। इससे मन शुद्ध (पवित्र)

रहता है, यह सिद्धान्त इस पक्ष में माना गया है। प्रायश्चित्तादि से पाप की निवृत्ति पक्ष में तो मन को शुद्ध होना उचित ही है। और उपासना से विक्षेपरूप दोष की निवृत्ति होती है। तहँ मन की ब्रह्मरूप से, सूर्य की मधुरूप से उपासना का और अन्य अनेकों उपासनाओं का श्रुतियों में वर्णन है, उनके अन्य फल भी कहे गये हैं; परन्तु मुख्य फल विक्षेप की निवृत्ति चित्त की एकाग्रता ही है। और सामवेद के भाग विशेषरूप उक्थ की जो उपासना कही गई है सो कर्माङ्ग रूप है। अन्य भी श्रुतिवर्णित उपासनायें मानस कर्मरूप हैं, सो पुण्यद्वारा चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मज्ञान के हेतुरूप हैं। वे ही उपासनायें सकाम के लिये लौकिक फल के हेतु होती हैं। भक्ति भी उपासना ही का विशेष स्वरूप है। सो चेतन गुरुदेवादि की सेवा आदि रूप मुख्य है। और, 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे' ईश्वर में अनुराग परा (श्रेष्ठ) भक्ति है। यह शाण्डिल्यसूत्र में परा भक्ति का लक्षण लिखा है, और श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने विवेक-चूडामणि में लिखा है कि,

'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते॥'

मोक्ष के कारण सामग्री (समुदाय) में भक्ति ही श्रेष्ठ है, सो आत्म-तत्त्व का अनुसंधान (चिन्तन) रूप ही है॥ भक्तिरसायन में लिखा है कि,

'द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥'

भगवद्धर्माचरण से द्रुत (प्रेमयुक्त) मन की वृत्ति जो सर्वेश्वर में धारारूप होती है सोई भक्ति है। और, 'यथा देवे तथा गुरौ।' इस श्रुति के अनुसार जैसी अनुरक्ति प्रीति ईश्वर आत्मा में हो वैसी ही सद्गुरु में होनी चाहिये यह सिद्ध होता है। इससे ईश्वर आत्मगुरु भक्ति मोक्ष साधन हैं सो प्रधान हैं, अन्य इसीके अन्तर्गत हैं, जो मोक्ष साधनरूप

हैं। और अन्य भी लौकिक पारलौकिक फल के हेतु अनेकों भक्तियाँ हैं, से सब उपासना मानस कर्मादिरूप हैं। केवल निर्गुण तत्त्व का चिन्तन को निर्गुण भक्ति कहते हैं। निर्गुण को ही वा सगुण को अपने आत्मा से अभेद चिन्तन को अहंग्रह उपासना कहते हैं॥ शुद्ध चेतन का ही हृदय, सूर्य, मन, बुद्धि, चक्षु आदि उपाधि द्वारा उपहित रूप से चिन्तन को दहरादि नामक उपासना कहते हैं। मन्दता आदि से बुद्धि सत्य तत्त्व को नहीं समझती है, तो किसी प्रकार सत्य तत्त्व के समीप बुद्धि को पहुँचाने का यत्न चिन्तन को उपासना कहते हैं। प्रतीकोपासना, सम्पत्रूप और अध्यासरूप भेद से दो प्रकार की होती है, आलम्बन (आश्रय) हृदय (मन) आदि में चेतन ब्रह्मादि की प्रधानरूप से उपासना को सम्पत् (उत्कर्ष) रूप कहते हैं। और आलम्बन मन आदि की प्रधानरूप से उपासना को अध्यासरूप कहते हैं। प्रायः सब श्रेष्ठ उपासना विचार के समान योग्यतावाली समाधि के हेतु होती हैं।

'आब बेआब मुझे हरि को नामा। और सकल तजु कौने कामा॥'

शब्द ५०

'नाना नाच नचाय के, नाचै नट के वेष।
घट घट अविनाशी बसै, सुनहु तकी तुम शेष॥'

रमैनी सा० ६३

इत्यादि वचनों से साहब ने भी प्राचीन उपासनाओं को उपादेय बताया है, ज्ञानका हेतुरूप उपासनाओं का स्वीकार किया है, कल्पित अनेक तुच्छ उपासनाओं का खंडन भी किया है। लिखा है कि,

'रही एक की भइ अनेक की, वेश्या बहुत भतारी।
कहहिं कबीर काके संग जरि हैं, बहुत पुरुष की नारी॥'

साखी २४७

इत्यादि। अन्य वस्तु की अन्यरूप भेद बुद्धि से उपासना को प्रतीकोपासना कहते हैं, जैसे द्युलोकादि की अग्निरूप से उपासना श्रुति में

वर्णित है । प्रतीकोपासना में भी परम तत्त्व ही उपास्य रहता है, परन्तु उपासक की बुद्धिमन्दता से वहाँ तक नहीं पहुंचती है । द्युलोकादि ईश्वर के उपाधि विभूतिरूप हैं, उनके द्वारा उपास्य ईश्वर उपासना के अनुसार फल देते हैं । राम कृष्णादि की या अन्य देवादि की उपासना भी प्रतीकोपासना ही है; क्योंकि विभु सर्वात्मा ईश्वर का एक मूर्ति आदि रूप से चिन्तन किया जाता है । इस से अन्य का अन्यरूप से चिन्तन है । इस रहस्य का ज्ञानपूर्वक सब उपासना से एक ही फल हो सकता है । परन्तु रहस्यज्ञान विना सम्प्रदाय भेद हो गये हैं, उनका स्वीकार सद्गुरु साहब नहीं करते हैं । इसीसे कहा है कि,

'भाई रे दुई जगदीश कहाँ ते आया । कहु कौने भरमाया ॥'

शब्द २६

'कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय ।
अन्दर में विष डारि के, अमरित डारिन खोय ।' २४६

तुच्छ फलवाली बहुत उपासनाओं का वैराग्यादि के लिये भी साहब ने निषेध किया है । लिखा है कि,

'चन्दन बास निवारहु, तुझ कारण वन काटिया ।
जियता जीव न मारहु, मूये सबे निपातिया ॥'

साखी ३४

हे जीव ! तुम वासना को त्यागो; इस वासना का त्याग द्वारा तेरा कल्याण के लिये मैं संसारवन को काटा (निषेध किया) है, और जीवहिंसा नहीं करो, मरा हुवा जीव तेरा भी नाश करेगा इत्यादि ॥ यद्यपि सकाम पुरुषों के लिये कर्तव्य उपासना सम्प्रदायादि भेद से बहुत हैं, और यथायोग्य कर्तव्य भी हैं, तथापि सद्गुरु साहेब ने चेतन सन्त सद्गुरु सर्वात्मा राम की ही भक्ति उपासना बतायी है, और तुच्छ विषय लोकादि की इच्छा को त्यागने के लिये उपदेश दिया है । लिखा है कि,

'तैं सुत मानु हमारी सेवा। तो कहँ राज देव हो देवा॥'
रमैनी ५८

'रामनाम का सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दुरि आशा हो।
आन देव का सेवहुं बौरे, ई सब झूठी आशा हो॥'
कहरा ९

'जो तू चाहै मूझ को, छाड़ सकल की आश।' सा० ३३८

पौराणिकादि बहुत उपासना भी प्रतीकोपासना है, परन्तु परस्पर विरोध सहित होने से रागद्वेषादि के कारण हो गये हैं, और बहुत वाक्य ऐसे हैं, कि जिससे तटस्थ अनेक व्यक्तियों में स्वतन्त्र परमेश्वरता का भ्रम लोकों को होता है। यद्यपि पूर्ण विचार करने पर प्रायः बहुत पुराण का तात्पर्य सर्वात्मा एक तत्त्व में ही सिद्ध होता है। तथापि वह विचार करना कठिन है, और सावयव व्यक्त वस्तुओं में सत्येश्वरादि बुद्धि हो जाना सहज है, इसलिये पुराण का सद्गुरु विशेष आदर नहीं किया है। श्रुतिसिद्ध निर्गुण आत्माराम का जगत् मिथ्यात्व का उपदेश दिया है कि,

'भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार।' सा० ३६८

यद्यपि श्रुति को भी खैंचतान करके लोक अपने अनुकूल कर लेते हैं। तथापि सो श्रुति का दोष नहीं है। और अनेक साम्प्रदायिक उपनिषदें भी रची गई हैं, परन्तु लेखप्रक्रिया आदि से आधुनिकता सिद्ध हो जाती है। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में विशेष मूर्ति लोक विषय स्थान सुखादि को नित्यादि कहे गये हैं, जिन की इच्छा आदि मनुष्यों को पीड़ित करते हैं, पूर्ण वैराग्य नहीं होने पाता है; इससे साहब ने कहा है कि,

'विनशे अग्नि पवन औ पानी। विनशे सृष्टि कहां लौ गानी॥
विष्णुलोक विनशे क्षण मांहीं। हौं देखा परलय की छांहीं॥'

'मच्छरूप माया भई, जौरहिं खेल अहेर।
हरिहर ब्रह्म न ऊबरें, सुर नर मुनि किहि केर॥'
रमैनी ४६

'बेद हुं केर कहल नहिं करई । जरत हि रहै सुस्त नहिं परई ॥'
रमैनी ६१

और साकार अवतारोपासना वा देवादि की जो निर्गुण रूप से उपासना की जाती है, सो सब प्रतीकोपासना (एक देश की उपासना) है, परन्तु साम्प्रदायिक लोक उन्ही को वास्तविक निर्गुण उपासना मानकर निर्गुण अव्यक्त तत्त्व का लोप (अभाव) सिद्धि के लिये यत्न किये हैं। इससे विवेक ज्ञान के लिये साहब ने (सन्तो आवै जाय सो माया। शब्द ३ इत्यादि वचनों से) साकार वस्तु को मायामात्र बताया है। और शिवगीता में शिवजी का वचन है कि, "मया ततमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्" स्थावर जङ्गम यह सब संसार मुझ से व्याप्त है। गणेशगीता में गणेशजी का वचन है कि, "अहमेव जगद्यस्मात्सृजामि पालयामि च। अहं साक्षी जगच्चक्षुरलिप्तः सर्वकर्मभिः ॥ अहमेव परं ब्रह्म" इत्यादि। मैं ही जगत के उत्पत्तिपालनादि करता हूँ, साक्षीस्वरूप जगत के चक्षुतुल्य सब कर्म से अलिप्त ब्रह्म मैं ही हूं ॥ भगवद्गीता में भगवान का वाक्य है कि, "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय" हे धनंजय (अर्जुन)! मुझ से परे अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार के वचन सूर्य देवी गणेशादि के ईश्वरत्वादि के बोधक भी हैं। सो सब स्वरूपदृष्टि सर्वत्र व्यापक कारणात्मा अन्तर्यामी दृष्टि से सत्य ही है। वामदेव ऋषि भी शास्त्रीय आत्मदृष्टि से कहा था कि सूर्य मनु आदिरूप मैं ही हूँ। ऋग्वेद अ० ६ वर्ग १५ मं० ४ अनु० ३ सूक्त० ५ सू० २६।

'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥'

मैं मनु, सूर्य, कक्षीवानृषि, विप्र (बुद्धिमान्) हूं। कुत्स आर्जुनेय को मैं ही न्यृञ्जे (सिद्ध करता हूं)। मैं ही उशना कवि हूं। हे मनुष्यो! इस प्रकार मुझे समझो, और अपनी आत्मा को भी ऐसा ही जानो। यह वामदेवजी का कथन है, और इन्द्र भी प्रतर्दन राजा के प्रति कहे थे कि मैं ही

सर्वात्मा ब्रह्म हूं, सो कथा कौषीतकि उपनिषद् में प्रसिद्ध है। इस रीति से यद्यपि सब कथन एकात्मेश्वर दृष्टि से सत्य है तथापि साम्प्रदायिक लोक अनेक स्वतन्त्र तटस्थ ईश्वर मानकर परस्पर विरोध खंडन मंडन करते हैं। अपने को श्रेष्ठ दूसरे को तुच्छ समझते हैं, सो सब पुराणादि का प्रभाव है। इसको सद्गुरु नहीं मानते हैं। किन्तु एकेश्वर सर्वात्मा का प्रतिपादन करते हैं कि,

'एकही ते अनन्त अनन्त, अनन्त एक हो आया।
परिचय भया जु एकते, एकहि मांह समाया॥'

साखी १३० इत्यादि॥

और वामन पुराण में लिखा है कि, कलियुग में एक गृहस्थाश्रम ही का अधिकार मनुष्यों को है। कहिं लिखा है कि,

'गृहस्थो भिक्षुकश्चैव आश्रमौ द्वौ कलौ युगे।'

महानिर्वाणतन्त्र उल्लास ८

गृहस्थ संन्यास दो आश्रम कलि में होना चाहिये। कहिं कलि में संन्यास का भी निषेध किया गया है। और कहिं ब्रह्माजी से शिवजी आदि की उत्पत्ति लिखी गई है। कहिं शिवजी से अन्य की उत्पत्ति मानी गई है, कहिं विष्णु भगवानादि से मानी गई है। और कहिं देवी को इनके आश्रित कही गई है। कहिं ये लोक देवी के आश्रित बताये गये हैं तहाँ साहब ने इन प्रपञ्चों को कल्पित मानकर कहा है कि,

'जेते पत्र वनासपति, औ गंगा के रैणु।
पण्डित बिचारा क्या करै, कबिर कहे मुख बैनु॥
सतगुरु वचन सुनहु हो सन्तो, मति लेहु शिरभार।
हौं हजूर ठाढ़ कहते हौं, तैं सम्भार सँभार॥'

साखी २५६-५७

कवियों ने अनन्त वाणी कही है। पण्डित लोक कहाँ तक विचारेंगे। हे सन्तो! तुम उस वाणी का बोझ शिर पर नहीं लो किन्तु सद्गुरु का वचन

सुनो ॥ अन्य लोकोंने अव्यक्त सत्य तरफ जानेवाला जीव को भी उधर से हटाकर व्यक्त असत्य के तरफ लाने के लिये प्रायः यत्न किया है, और सद्गुरु ने वैदिक प्राचीन रीति द्वारा व्यक्त से हटाकर अव्यक्तात्मा में स्थिर करने के लिये यत्न किया है। लिखा है कि,

' जिहि रखेहु अनुमान कै, स्थूल नहीं अस्थूल । ' रमैनी सा० ६९

जिस जगदीश का अनुमान करते हौ, सो स्थूल नहीं है किन्तु स्थूल रहित है ॥ उपासना काल में भी सद्गुरु जीव को दृश्य में नहीं फंसाते हैं। कहते हैं कि,

' दृश्यमान सो विनशये, अदृश्यहि लखै न कोय ।
साहीं कोइ गाहक है, जाहि मिले सुख होय ॥ '
साखी ३३८

और जगदुत्पत्ति देवचरित्रादि उपास्योपासकादि विषयक भी हजारों विरुद्ध बात लिखी गई हैं, जिनकी संगति (व्यवस्था) लोक कल्पभेद से करते हैं, परन्तु अन्य कल्पकी बात आज क्यों लिखी गई। कथञ्चित् लिखी गई तो यह क्यों नहीं लिखी गई कि यह अन्य कल्प की बात है कि जिससे भ्रम नहीं होता, इत्यादि आशय से सद्गुरु ने विस्तार को प्रपञ्चरूप ही बताया है। और प्रतीकोपासना में सब प्रतीकों में एक ही सद्वस्तु उपास्य रहता है, तथापि उपाधि (आश्रय) की दिव्यता अदिव्यतादि और भावनादि के अनुसार फल में भेद होता है। इसीसे निरालम्बोपनिषदादि रीतिसे, भर्तृहरि आदि से वर्णित रीतिसे, कर्मवश्यता होनेसे ब्रह्मा विष्णु आदि में जीवरूपता होते भी इनके द्वारा तथा सूर्यादि द्वारा उपासनाओं का प्रतिपादन किया गया है। और मन बुद्धि को सात्त्विक होनेसे इसके द्वारा भी दहरादि उपासना कही गई है। जिन उपाधियों द्वारा उपासना की जाती है, सोई साक्षात् ईश्वरादिरूप नहीं रहते हैं। उपासना के बल से जो कुछ विचित्र रूपादि दिखते हैं, सो भी सत्य तत्त्व नहीं रहते हैं। किन्तु जिसकी माया से ये सब होते हैं, सो सत्य रहता है।

इसीसे केन श्रुति में लिखा है कि, 'नेदं यदिदं उपासते' जिस प्रसिद्ध रूपादिवालों की उपासना की जाती है सो ब्रह्म नहीं है। देवादि में भी आपेक्षिक ईश्वरता है। अन्तर्यामी दृष्टिसे सब में ईश्वरता है, यह दूसरी बात है; परन्तु सब साक्षात् अनेक ईश्वर वा परब्रह्मरूप नहीं हैं। और व्यापक सर्वात्मस्वरूप ईश्वर के उपासक जो स्तुति आदि करते हैं, उनका भी शब्द द्वारा चिन्तन भक्ति में ही तात्पर्य रहता है, इससे दृष्टादृष्ट द्वारा उन्हें फल मिलता है; परन्तु जो ऐसा नहीं जान कर ईश्वर को एकदेशी मानकर मन्त्रों से मूर्ति आदि में स्थापित करके पूजते हैं, उनकी रीतिको सद्गुरु ने नहीं माना है। और ओंकारादि द्वारा होनेवाली सर्वात्मदेव की उपासना का स्वयं उपदेश दिया है,

'बलिहारी वा दूधकी, जामें निकरत घीव।
आधी साखी कबिरकी, चार वेदका जीव॥'

साखी १३७

'दिल महँ खोज दिलहिं में खोजो, यहैं करीमा रामा।' शब्द ५१

दूध में घीव की नाईं चारों वेद के प्राणरूप आधी साखी (ओंकार) भी कबीर की है। करीमा (ईश्वर) राम मन मे ही खोजने से मिलेंगे इत्यादि भाव है। और पुराणादि में भी जो सदुपदेश है सो सब वेद का है, मान्य है; इस आशय से साहब ने कहा है कि, "शब्द शब्द बहु अन्तरे, सार शब्द मत लीजै।" साखी ३ इत्यादि। इसीसे यह भी समझाया है कि वेदादि में भी अधिकारी भेद से अनेकों प्रकार के उपदेश हैं। जिज्ञासु को विवेक से सार (सत्य) अर्थ के बोधक शब्दों के मत (सिद्धान्त) का धारण करना चाहिये। और महर्षि जैमिनि ने लिखा है कि, 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।' अ० १।३।३। स्मृति को प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध हो तो वह स्मृति अनपेक्ष्य (त्यागने योग्य अप्रमाण) है, परन्तु जिस स्मृति को किसी प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध नहीं हो, और उसके मूलरूप श्रुति भी नहीं मिलती हो तो उसका मूल श्रुति का अनुमान

कर लेना चाहिये, और उसको प्रमाण मानना चाहिये ॥ परन्तु इससे कोई यह नहीं मान ले कि श्रुति से विरोध बचाकर जो कुछ कल्पना हो सो सब प्रमाण ही होती है ॥ जैसे ओंकार द्वारा श्रुति उपासना बताती है। ककार चकारादि द्वारा उपासना की कल्पना श्रुति दृष्टि से अप्रमाणिक ही होती है ॥ और जो कलियुग में एक वा दो ही आश्रम के अधिकार कहा गया है, सो प्राचीन श्रुतिसिद्ध नहीं है, किन्तु पौराणिकादि व्यवस्था है, सो भी एक रूप से नहीं है ॥ और.

'गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं त्रयाश्रमाः ।
क्षत्रियस्यापि गदितो य आचारो द्विजस्य च ॥
वैखानसत्वं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितीयं विशः ।
गार्हस्थ्यमाश्रमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥'

इत्यादि वामनपुराण में वर्णभेद से आश्रम की व्यवस्था कही गई है कि क्षत्रिय के लिये गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ; वैश्य के लिये गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ; शूद्र के लिये गार्हस्थ्य ही कहा गया है, केवल ब्राह्मण के लिये चारों आश्रम हैं। सो सब पूर्व वर्णित रीति से विरुद्ध हैं। मनुष्यों के प्रमाद से आश्रम उपासना आदि लुप्त हो गये हैं, परन्तु आश्रम उपासना आदि का अधिकार योग्य मनुष्य के लिये सदा ही है। जो जिसके लिये विहित धर्म है सो सदा उसके लिये धर्म ही है। शक्ति नहीं होने से न करना यह दूसरी बात है। एक आश्रमवाद का न्यायभाष्यादि में भी विस्तार से खण्डन है, सो वहाँ देखने योग्य है॥ और धर्म के भी तप ज्ञान यज्ञ दान रूप, वा सत्य शौच दया दान रूप चार पाद मान कर युगभेद से इनमें प्रधानता मान गया है सो तो हो सकता है, परन्तु क्रम से इन का अभाव कहा गया है सो नहीं हो सकता। सब दिन ये धर्म अपने २ अधिकारियों में रहते ही हैं। इसी प्रकार मतभेद से राम कृष्ण शिवादि नाममात्र से मुक्ति मानी गई है। प्रवृत्ति के लिये ये वचन सब ठीक ही हैं। परन्तु बहुत लोक मान लिये हैं कि कलियुग में अन्य धर्मोपासना से कोई जरूरत नहीं है।

जो कुछ पाप किया जाता है सो सब कुछ दान और रामादि नामसे ही नष्ट हो जाता है, मुक्ति मिल जाती है, और माला तिलकादि भस्मलेपादि से भी कलि में सहज ही मुक्ति मिलनी है इत्यादि। इन भ्रमों का निवारण के लिये साहब ने कहा है कि,

'पण्डित वाद वदै सो झूठा।
राम कहे जगत गति पावै, खांड कहे मुख मीठा'॥

शब्द १०६

'माला पेन्हे टोपी पेन्हे, छाप तिलक अनुमाना।
साखी शब्दे गावत भूले, आतम खबर न जाना'।

शब्द २२

इस पूर्व कही रीति से यह सिद्ध हुआ कि श्रुतिविरुद्ध परस्पर विरुद्ध धर्मोपासनादि की कथा भ्रम संशय का हेतु है, तथा मिथ्या ज्ञान द्वारा अनर्थ का हेतु है; इसलिये विचार सत्‌शास्त्र सद्‌गुरु आदि द्वारा उपास्यादि के ज्ञानपूर्वक विधिवत् की गई उपासना ही सत्य वस्तु में चित्त की स्थिरता आदि द्वारा ज्ञानादि के हेतु होती है, इससे सोई करने लायक है, अन्य नहीं। अलंकारादि रूप से निरूपित तत्त्वों को सद्‌गुरु आदि द्वारा समझ कर उनकी प्रीति को त्यागना चाहिये। जैसे,

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'। शुक्लय० अ० ३१। 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' इति। ऋग्० म० १०-७-९०।

इस मन्त्र में जीवों के साथ ईश्वर का अभेद दृष्टि से वा ईश्वरीय महिमा दृष्टि से ईश्वर के हजार शिर आंख पैर का वर्णन है, और अपना स्वरूप से भूमि आदि को स्पृत्वा (व्याप्य) आच्छादन करके भी नाभि से दशाङ्गुल का अतिक्रमण पूर्वक हृदय में व्यक्त रूप से स्थिरता का कथन है। और,

'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभित येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।'

शुक्लय० अ० ३२-६ ।

जिस देव से द्युलोक उग्र (उन्नत) है, पृथिवी दृढ है, स्वर्ग (सूर्य) दुःखरहित देवलोक स्थिर है, जो अन्तरिक्ष में रजः (जल) को रचता है, उस देव को हवि देता हूं । इत्यादि से जो सब का आधार सिद्ध होता है, और सब के नष्ट होने पर भी जो शेष (अविनाशी) रहता है, क्योंकि वही निमित्तोपादान कारण रूप है; उसकी मायाशक्ति उपादान है. चेतनात्मा निमित्त है । इस श्रुति वर्णित ईश्वर का ही हजार शिरवाला पृथिवीधर्ता शेष सर्परूप से पुराणमें वर्णन है । पुराण का यह तात्पर्य नहीं है कि सर्प पर भूमि है, किन्तु ईश्वराश्रित भूमि आदि सब जगत की स्थिति में तात्पर्य है, उपासना के लिये विचित्र वर्णन है । इस भेद को जाने बिना भ्रम होता है, तिसकी सद्गुरु विचारादि से निवृत्ति होती है ॥ जैसे अन्य उपासना भक्ति से चित्त की शुद्धि एकाग्रता आदि द्वारा कल्याण होता है । तैसे ही सद्गुरु की भक्ति उपासना से भी चित्त की शुद्धि एकाग्रता सद्गुरु की प्रसन्नता आदि द्वारा कल्याण होता है । लिखा है कि,

'सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः ।'

निरालम्बोपनिषद्

'गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ।
गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥'

ब्रह्मविद्योपनिषद्

सर्व शरीर में स्थिर चेतन ब्रह्म को प्राप्त करानेवाला गुरु उपास्य हैं ॥ कल्याण और विभूति के लिये भी सदा गुरुभक्ति करनी चाहिये; क्योंकि गुरु ही साक्षात् हरि हैं, अन्य नहीं ,यह श्रुति कहती है ॥ और गुरु की उपासना से भी ईश्वर की ही उपासना होती है । लिखा है कि,

'परिपक्कमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः।'

जिनके पाप शुभ कर्म से निवृत्त हो गये हैं, आचार्यमूर्ति में स्थिर ईश्वर ही उन्हें दीक्षा उपदेशादि से परतत्व में जोड देते हैं॥ इसीसे कहते हैं कि,

'अन्तर्यामी गर्भगत, साधु सुन्दरी मांहि।
तुलसी पूजे एक के, दोऊ पूजे जाहि॥'

आत्मपुराणादि में ईश्वर से भी गुरु में अधिक भक्ति करने के लिये कहा गया है, और कहिं लिखा है कि, साकार ईश्वर ब्रह्म की भक्ति गुरुभक्ति रूप ही है॥ आत्मपुराण में लिखा है कि,

'शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे शिवो नहि।
शिवादप्यधिकं तस्माद् गुरुं यत्नेन पूजयेत्॥
गुरुर्माता पिता चापि गुरुर्देव उदाहृतः।
गुरुर्बन्धुः सखा तद्वच्च गुरोरपरः सुहृत्॥'

आत्मपु० अ० ८।९०-९१

ईश्वर के रुष्ट होने पर भी गुरु उपाय से रक्षा करते हैं, गुरु के रुष्ट होने पर गुरुविमुख की रक्षा ईश्वर नहीं करते। इसलिये ईश्वर से भी अधिक यत्नपूर्वक गुरुपूजा करनी चाहिये॥ गुरु ही माता पिता ईश्वर बन्धु सखा आदि सब हैं, गुरु से बड़ा जीव को कोई सुहृद नहीं है॥ यद्यपि ईश्वर में क्रोध नहीं होता, तथापि उनकी सत्ता शक्ति से ईश्वरादि विमुख पापी दुःख पाते हैं, इससे ईश्वर में क्रोध का आरोप होता है। और भाषा के कवि लोक लिखे हैं कि,

'ईश्वरते गुरुमें अधिक, धारै भक्ति सुजान।
विनु गुरुभक्ति प्रवीण हूं, लहै न आतम ज्ञान॥

निराकार वह राम है, लहि न सकै कोइ अन्त ।
जो 'चाहै आकार युत, तो प्रत्यक्ष गुरु सन्त ॥'

यह गुरुभक्ति उपासना निर्विवाद सर्वमत सिद्ध है। और गुरुभक्ति में फूल धूप दीप द्रव्यादि का कोई नियम नहीं है, किन्तु जिस उचित व्यवहार से सद्गुरु प्रसन्न हों सोई उनकी उपासना भक्ति है, और सच्चा सद्गुरु अनुचित व्यवहार से प्रसन्न नहीं होते हैं, शिष्य में अनुचित व्यवहार हो तो छोडाते हैं। सद्गुरु में कोई सामान्य दोष हो तो, शिष्य उसका कथनादि नहीं करे, और शक्ति के अनुसार सेवा करे तभी शिष्य का हित होता है, अन्यथा 'नहीं। इसी आशय से साहबने कहा है कि,

'गुरुद्रोही औ मनमुखी, नारि पुरुष विविचार।
ते चौरासी भरम हीं, जौंलगि चन्द दिवकार॥'

रमैनी सा० ४३

'लख चौरासी जीव योनि महँ, भटकि भटकि दुख पाव।
कहहिं कबिर 'जो रामहि जानै, सो मोहि नीकै भाव॥'

रमैनी सा० ६७

गुरुविमुखता से जन्मादि दुःख होता है, इससे जो सद्गुरु को सच्चिदानन्द राम समझकर सेवता है सोई हमें अच्छा प्रतीत होता है इत्यादि ॥

गुरुविचारः ॥१८॥

सर्वमान्य गुरु आदि के लक्षणादि लिखे जाते हैं। यह निश्चित बात है कि मनुष्य को सब विशेष ज्ञान दूसरे का व्यवहार देखकर और शब्द सुनकर होता है। तहाँ जो ज्ञान जिसके व्यवहारादि से होता है, उतने अंश में वह गुरु होता है। इसीसे सब मत में वृद्ध मान्य होते हैं, उनसे ज्ञान प्राप्ति की सम्भावना रहती है। इसीसे श्रुति में माता पिता आदि को देवतुल्य पूज्य बताया गया है। और जिससे जितना ज्ञान उपकार हो

उतना अंश में वह सर्वमान्य हैं ही; तथापि गुरु आदि के स्मृति में लक्षण लिखे हैं कि,

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥
एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया॥'

मनु अ० २।१४० इत्यादि।

उपनयन संस्कार करके कल्पसूत्र उपनिषद् सहित वेद को पढ़ानेवाला द्विज को आचार्य कहते हैं॥ वेद के एक भाग वा अंग को जीविका के लिये पढ़ानेवाला को उपाध्याय कहते हैं॥ वेदविधि से गर्भाधानादि करनेवाला अन्न से पालन करनेवाला पिता को गुरु कहते हैं॥ स्मृति में विप्रपद उक्त पिता का ही बोधक है। इससे सिद्ध होता है कि विधि विना उत्पादक अरक्षक पिता गुरु नहीं कहा जा सकता, तौ भी मान्य होता है॥ और वेदाध्ययन में थोडा वा बहुत उपकारक भी उस उपकार से गुरु रूप जानने योग्य होता है॥ ये विशेष लक्षण हैं। और,

'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥
वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः।
सम्यग्विनीता ऋजवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते॥'

वायुपु० ५९।२९

'चातुर्यवान् विवेकी च अध्यात्मज्ञानवान् शुचिः।
मानसं निर्मलं यस्य गुरुत्वं तस्य शोभते॥'

'गुरवो निर्मला: शान्ताः साधवो मितभाषिण: ।
कामक्रोधविनिर्मुक्ता: सदाचारा जितेन्द्रियाः ॥ '

स्क० पु० ख० ३।१।२५.

सत्शास्त्रार्थ का स्वयं संग्रह करनेवाले दूसरे को सदाचार में स्थिर करनेवाले सदाचारी आचार्य कहाते हैं ॥ धर्म ज्ञान वृद्ध निर्लोभी जितेन्द्रिय अदम्भी सम्यक शिक्षित कपटादि रहित कोमलचित्त पुरुष आचार्य कहाते हैं ॥ चतुरता अध्यात्मज्ञान युक्त पवित्रात्मा निर्मल मनवालों को गुरुत्व शोभता है ॥ निर्मल शान्त मितभाषी कामादि रहित सदाचारी जितेन्द्रिय साधु गुरु होते हैं ॥ ये गुरु आचार्य के सामान्य लक्षण हैं ॥

' यो भावयति या सूते येन विद्योपदिश्यते ।
ज्येष्ठो भ्राता च भर्ता च पञ्चैते गुरवः स्मृताः ॥ '

कूर्मपु० व्यास . .

पिता माता विद्योपदेशक बड़ा भाई स्वामी; ये पांच गुरु कहे जाते हैं।

' गुरवः पञ्च सर्वेषां चतुर्णां श्रुतिचोदिताः ।
माता पिता तथाऽऽचार्यो मातुल: श्वशुरस्तथा ॥
तेषां मुख्यास्त्रयः प्रोक्ता आचार्यः पितरौ तथा ।
एषां मुख्यतमस्त्वेक आचार्यः परमार्थवित् ॥ '

योगयाज्ञवल्क्यस० अ० १

सब चारों वर्ण के माता पिता आचार्य मामा श्वशुर ये पांच गुरु श्रुति में कहे गये हैं। तिनमें माता पिता आचार्य मुख्य (प्रधान) हैं। इनमें भी आचार्य अति मुख्य हैं। इत्यादि वचनों से लौकिक पारमार्थिक गुरु का संग्रह विभाग किया गया है। माता पिता आदि में व्यावहारिक गुरुत्व है। परमार्थ के गुरु स्वयं संसार बन्धन से रहित होते हैं, और अन्य को भी मुक्त करते हैं। उन परम उपकारक परमार्थवेत्ता गुरु के विषय में भगवान् शंकराचार्यने उपदेश साहस्री में लिखा है कि,

'आचार्यस्तूहापोहग्रहणधारणशमदमदयाऽनुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेष्वनासक्तस्त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मविद् ब्रह्मणिस्थितोऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्याऽनृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी पूर्वमुपदिशेत्सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमित्यादि।'

कहने बिना भी शिष्य के भाव को समझना रूप ऊहा, मिथ्या ज्ञान को नष्ट करने में सामर्थ्यरूप अपोह, शंका के समझनारूप ग्रहण, स्मरणरूप धारण, दुःख निवारणेच्छारूप दया, निवारणार्थप्रवृत्तिरूप अनुग्रहादियुक्त, गुरु से शास्त्र को पढा हुआ, लोक परलोक के विषयों में अनासक्त, स्त्री धनादि कर्म साधन के त्यागी, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, सदाचारी, अदम्भी, और धनादि के गर्व, वञ्चकता, निठुरता, परमोहन, परगुण में दोषारोपण, झूठ, अभिमान, ममत्वादि दोषरहित, परोपकाररूप ही प्रयोजनवाला, स्वगत ज्ञान का शिष्य में फलेच्छु वस्तुतः आचार्य होते हैं। योग्य शिष्य जब उनके शरण में आता है तो उन्हें प्रथम उपदेश देना होता है कि यह सब संसार पहले एक अद्वितीय स्वरूप ही था इत्यादि॥ विवेकचूडामणि में लिखा है कि,

'उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्धविमोक्षणम्।
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो ब्रह्मविदुत्तमः।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्'॥

विद्वान्, अनघ, अकामी, श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, निरिन्धन अग्नितुल्य, शान्त, विना प्रयोजन के दयासमुद्र, नम्र शिष्यके सहायक बुद्धिमान गुरु के शरण में शिष्य जाय कि जिससे बन्ध की निवृत्ति हो॥ इससे सिद्ध हुआ कि परोपकारी दयालु ज्ञानी ही सद्गुरु होते हैं॥

एक समय श्री शंकराचार्य काशी की गली में से जा रहे थे, तब कोई सिद्ध वा देव उनका ज्ञान की परीक्षा के लिये चाण्डाल वेष से सामने

आया, तब स्वामी जी बोले कि, 'गच्छ २, (चलो २)' तब सिद्ध बोला कि,

'अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्।
द्विजवर दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति॥'
'किं गङ्गाम्बुनि बिम्बितेऽम्बरमणौ चाण्डालवाटीपयःपुरे,
वान्तरमस्ति काञ्चनघटीमृत्कुम्भयोर्वाऽम्बरे।
प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरङ्गसहजानन्दावबोधाम्बुधौ।
विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः॥'

हे द्विजवर! गच्छ २ इससे क्या अन्नमय देह से अन्नमय को दूर करना चाहते हो वा चेतन को चेतन से दूर करना चाहते हो सो कहो। क्या गंगाजल में वा चर्मादियुक्त चाण्डाल की गली के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य में अथवा सुवर्ण और मिट्टी का घडा के आकाश में भेद रहता है, निर्विकार स्वाभाविक आनन्द प्रकाश स्वरूप प्रत्यगात्मा में यह विप्र यह चाण्डाल इत्यादि भेद भ्रम क्या करते हो॥

इस प्रश्न का स्वामीजी ने उत्तर दिया कि,

'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते।
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।
सैवाऽहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चे।
च्चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरेषा मनीषा मम॥' इत्यादि

जाग्रदादि अवस्था में स्फुट प्रकाशमान ब्रह्मा से चींटी तक के साक्षी रूप से व्यापक जो सम्वित् (ज्ञान) है सो मै हूं दृश्य वस्तु नहीं हूं, ऐसी जिनकी दृढ बुद्धि है सो चाण्डाल हों या द्विज हों परन्तु गुरु हैं, ऐसी मेरी बुद्धि है॥ इस कथन से सिद्ध होता है कि अपरोक्षात्मज्ञान सदाचारादियुक्त जो कोई होता है, सोई गुरु होता है। यद्यपि विद्या ऊहाऽपोहादि सब गुरुत्व के हेतु हैं, तथापि इन में भी 'अनुभव स्वार्थरहित परोपकार ही मुख्य है। विवेकचूडामणि में लिखा है कि,

'अयं स्वभावः स्वत एव यत्परश्रमापनोदप्रवण महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कशप्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल'॥

परश्रम का नाश के लिये प्रवृत्त होना महात्माओं का स्वतः स्वभाव है। जैसे सूर्य की तीक्ष्ण प्रभा से तप्त भूमि की रक्षा चन्द्रमा स्वयं करते हैं॥ उक्त गुरु विषयक ही योगवासिष्ठ के वचन हैं कि,

'गुरोरुत्तार्णता केन शिष्याणामस्ति कर्मणा।
कायवाङ्मनसा तस्माच्छिष्यैरात्मनिवेदनम्॥
गुरोरुत्तीर्णता सैव नान्या केनापि कर्मणा'॥

अन्य किसी कर्म से शिष्य गुरु से उत्तीर्ण (ऋणमुक्त) नहीं होता है, किन्तु काय मन वचन से आत्मार्पण करने से उत्तीर्ण होता है॥ भगवान् रामचन्द्रजी का कथन है कि,

'सर्वे शृण्वन्तु भद्रं वो निश्चयं नः सुनिश्चितम्।
आत्मज्ञानात्परं नास्ति गुरोरपि च तद्विदः'॥

हे सभासदों, महात्माओं से निश्चित वस्तुविषयक मेरा निश्चय आप लोक सुनें, जिससे आपका कल्याण हो; आत्मज्ञान आत्मज्ञानी गुरु से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है॥ श्रुति कहती है कि,

वादियों से अनेक प्रकार चिन्त्यमान यह आत्मा अज्ञानी के कहने से प्रत्यक्ष नहीं होता है; क्योंकि सर्वात्मस्वरूप ज्ञानी से कथित आत्मा में अज्ञ की गति नहीं रहती है॥ और यह आत्मा अणु से भी अत्यन्त अणु तथा केवल तर्क का अविषय है। मनबोध में लिखा है कि,

'न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्।
कठ० १।२।८

'भरम मिटावे सकल विधि, ईश्वर देहिं लखाय।
सोइ गुरुदेव भरत सुनु, ताके लागिय पाँय'॥

साहेब ने कहा है कि,

'गुरु गुरुअन में भेद है, गुरु गुरुअनमें भाव।
सो गुरु निशदिन बन्दिये, शब्द लखावै दाव ॥'

साखी० ३'१८ इत्यादि ॥

शिष्यविचारः ॥१९॥

गुरु के लक्षणपूर्वक शिष्य के सामान्य लक्षण श्रीशंकराचार्यजी ने लिखा है कि,

'को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा, शिष्यस्तु को यस्तु गुरुभक्त एव।

गुरु कौन है ? जो हितोपदेश देता है। शिष्य कौन है ? जो हितोपदेशक गुरु का अनन्य भक्त है।

'अलुब्धः स्थिरगात्रश्च आज्ञाकारी जितेन्द्रियः।
आस्तिको दृढभक्तश्च गुरौ मन्त्रे च दैवते।
एवंविधो भवेच्छिष्य इतरो दुःखकृद् गुरोः ॥'

लोभरहित, स्थिरदेह, जितेन्द्रिय, आस्तिक और गुरु मन्त्र देव में दृढ भक्तिवाला उपदेश के पात्र शिष्य होता है। इससे अन्य शिष्य गुरु को दुःख देनेवाला होता है ॥ मन्त्रसिद्धि देवसिद्धि आदि के योग्य शिष्य का यह लक्षण है। मन्त्र शब्द सदुपदेश का वाचक है, दैवत शब्द सत्यात्मा ईश्वर का वाचक हो तो मोक्षाधिकारी का भी लक्षण हो सकता है ॥ शास्त्राध्ययन योग्य शिष्य का लक्षण लिखा है कि,

'आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥

मनुः २।१०९

आचार्य के पुत्र, सेवक, ज्ञानान्तरदाता, धर्मवेत्ता, पवित्राचारवाला, बन्धु, ग्रहण धारण में समर्थ, धनदाता, हितेच्छु, जाति; ये दश धर्म से पढाने योग्य हैं ॥ और सामान्य उपदेश के पात्र शिष्य श्रद्धालु मनुष्य मात्र हैं, अहिंसा सत्यादि का उपदेश मनुष्य मात्र को दिया जा सकता है, तथा योग्यता के अनुसार उपासना भक्ति सेवा आदि के उपदेश से सब मनुष्य को हित होता है। कुकर्म छोड़ाना और सुकर्म में लगाने के समय में शम दमादि साधन की वर्तमानता नहीं रह सकती ॥ इस सामान्य उपदेश के योग्य श्रद्धालु आज्ञाकारी शिष्य होता है, और उनके उद्धारकर्ता महात्मा होते हैं। "नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्।" मनुः २।११० यह स्मृति श्रद्धादि रहित के विषय में है। इसीसे बिना पूछे भी अन्धा को मार्ग बताया जाता है ॥ और इच्छा शुश्रूषादि रहित बालक सेवकादि को दण्ड देकर भी मार्ग पकडाया जाता है। सर्वथा असाध्य हिंसकादि का संग त्याग ही योग्य होता है ॥ जिन साधु शिष्यादिकों के संगादि करना चाहिये, उनके लक्षण लिखा है कि,

'न प्रहृष्यति सम्माने नावमाने च कुप्यति।
न क्रुद्धः पौरुषं ब्रूयादेतद्धि साधुलक्षणम् ॥'

जो सन्मान से अत्यन्त सुखी नहीं होता है, न अपमान से क्रुद्ध होता है, न क्रुद्ध होकर अपना पुरुषार्थ (सेवा आदि) का कथन करता है, वह साधु शिष्य है ॥ गरुड पुराण में,

'न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतत्साधोस्तु लक्षणम्।'

ऐसा पाठ है। परुष, क्रूर वचन को कहते हैं ॥ सबसे श्रेष्ठ शिष्य वह होता है कि जिसके चित्त पूर्ववर्णित कर्म और उपासना से शुद्ध और स्थिर रहता है। और आगे वर्णित विवेकादि चार साधन से युक्त रहता है। तथा,

'अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥'

श्रीमद्भा० स्क० १०

' परामृश्य विवेकेन संसाररचनामिमाम् ।
'वैराग्यमधिगच्छन्ति त एव पुरुषोत्तमाः ॥'

योगवासिष्ठ २।११

मान मत्सरादि रहित, साधनानुष्ठान श्रवणादि में दृढ प्रेम कुशलता-युक्त, धैर्यवान् सत्यवक्ता जिज्ञासा नम्रतायुक्त विरक्त मोक्षाधिकारी शिष्य होता है ॥ ऐसे शिष्य को परीक्षा से पहचान कर उपदेश देना चाहिये । सो लिखा है कि,

' तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ । नासंवत्सरवासिने ब्रूयात् । नाशान्ताय दातव्यं नापुत्राय शिष्याय वा पुनः । ' प्रश्न० १।२

पिप्पलादजी भारद्वाजादि ऋषि से कहे हैं कि फिर भी तप ब्रह्मचर्य श्रद्धापूर्वक आप एक वर्ष तक बसें, तब मैं पूछने पर कहूँगा । एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास बिना नहीं कहना चाहिये । अशान्त अपुत्र अशिष्य के प्रति आत्मोपदेश नहीं करना चाहिये इत्यादि ॥ मनबोध में लिखा है कि.

' शिष्य सुमति शुचि सरल मन, समुझै गुरुवर बैन ।
गुरु कह तस सब कर्म कर, ताहि सदा सुख चैन ॥
निःसंशय गुरुपद सोई, सह संशय शिष सोय ।
सुनहु भरत संशय गये, सो गुरुपद सम होय ॥ '

साहब ने कहा है कि,

' सो सयान मारग रहि जाई, करै खोज कबहुं न भुलाई, ।
झूठा सुत है ताको तजई, गुरु की दया राम ने भजई ॥ '

रमैनी ६६

चतुर शिष्य वह है जो गुरुमार्ग पर स्थिर हो, खोजी हो, त्यागी हो, भक्त हो ॥

विवेकविरागविचारः ॥२०॥

उपासना के प्रसङ्ग से उपास्य गुरु और उपासक शिष्य का लक्षण कहा गया। श्रेष्ठ ज्ञानाधिकारी के विवेकादि गुण होते हैं॥ तहाँ सब जगत दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है। इसमें दृश्य संसार रज्जु सर्प गन्धर्वनगर स्वप्नेन्द्रजालादि के तुल्य विनश्वर है, द्रष्टा आत्मा अविनाशी है; इस निश्चय का नाम विवेक है। श्रुति कहती है कि,

'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा। यदल्पं तन्मर्त्यम्।' बृहदा० ४।५।१४

अरे मैत्रेयि! यह आत्मा अनुच्छित्ति धर्मा (उच्छेद रहित) है, इससे अविनाशी है। अल्प (एकदेशी) सब वस्तु मर्त्य (विनश्वर) हैं। इस प्रकार द्रष्टा आत्मा को अविनाशी और दृश्य को विनाशी समझनारूप विवेक ज्ञान वैराग्यादि का हेतु है; क्योंकि यदि आत्मा अनित्य हो तो उसका नाश से ही संसार छूट सके, वा संसार जन्मादि नित्य हो तो इसकी निवृत्ति नहीं हो सके तो इस अवस्था में मोक्ष के लिये वैराग्यादि का संपादन नहीं किया जा सकता, और उक्त विवेकज्ञान होने पर किया जाता है, इससे विवेक सब साधन का मूल है। स्वामी शंकराचार्यजी ने लिखा है कि,

'नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम्।
एवं यो निश्चयः सम्यग् विवेको वस्तुनः स वै॥'
अपरोक्षानुभूतिः

शंका हुई कि उक्त विवेक ज्ञान होने पर फिर क्या जानना बाकी रहता है कि जिसके लिये वैराग्यादि साधन की जरूरत होती है। उत्तर है कि अवान्तर वाक्य (जीवके स्वरूप का बोधक वाक्य) वा युक्ति से विवेक ज्ञान होता है। सब संसार से असंग अद्वैत ब्रह्मात्मा का अपरोक्ष अनुभव मोक्ष का हेतु है, सो वैराग्यादि से होता है॥ और विवेक से सांसारिक

आसक्ति मात्र छूटती है, तब सब संसार के भोगादि में जो प्रेम का अभाव होता है, उन्हें त्यागने की प्रबल इच्छा होती है, उसको वैराग्य कहते हैं। यद्यपि सांख्ययोग के ग्रन्थों में यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा, वशीकार संज्ञा के भेद से चार प्रकार के अपर वैराग्य लिखे हैं। तिनमें रागद्वेषपूर्वक जो इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति होती है, उसका निवारण की इच्छा से यत्न करने का नाम यतमानसंज्ञा वैराग्य है॥ अर्थात्,

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'। १।३३

इस योगसूत्र के अनुसार सुखी से मित्रता, दुःखी पर करुणा, पुण्यात्मा में मुदिता, पापी की उपेक्षा करके चित्तगत रागद्वेषादि के अभाव द्वारा चित्त को स्वच्छ प्रसन्न रखने के लिये यत्नका आरम्भ को यतमानसंज्ञा वैराग्य कहते हैं। यत्न से जो दोष निवृत्त हों, जो इन्द्रिय वश हों, उन से भिन्न अवशिष्ट (बाकी) दोषादि को जानना उनकी निवृत्ति आदि के लिये यत्न करना व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य होता है। अभ्यास से सब रागद्वेषादि की निवृत्ति होने से इन्द्रियों की रागादिपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव होने पर भी मन में वासना के रहने से जबतक इच्छा वा उत्कण्ठा कभी २ मन में होती है तबतक एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य कहा जाता है, और सब सांसारिक विषय को तीन ताप से मिश्रित जानने से तथा विचारादि द्वारा विषयों में आध्यात्मिकादि दुःख की हेतुता को प्रत्यक्ष करने से जब दिव्यादिव्य सब विषयों में उपेक्षा बुद्धि होती है तब वशीकार संज्ञा वैराग्य कहा जाता है। आत्मा के विवेक ज्ञान से त्रिगुण पदार्थ मात्र में तृष्णा के अभाव को पञ्चम परवैराग्य कहते हैं। तथापि वेदान्त में वशीकारसंज्ञा को शम कहते हैं, और ब्रह्मलोकतक भोगादि की अनिच्छा को वैराग्य कहते हैं। स्वामी शंकराचार्यजीने अपरोक्षानुभूति आदि में लिखा है कि,

'ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्॥

ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ह्यनित्यत्वेन निश्चयात् ।
नस्पृहं तुच्छबुद्धिर्यत् तद्वैराग्यमितीर्यते ॥ '

, कर्मजता से अनित्य समझ कर काकविष्ठातुल्य सर्वत्र अनादर निर्मल वैराग्य है इत्यादि ॥ साहबने भी कहा है कि,

' जाय छठोली आपनी, बात न पूछो कोय ।
जिन यह भार लदाइया, निरवाहैगा सोय ॥ '

साखी २१ इत्यादि ।

विवेक द्वारा पांच कोश से परे छठी वस्तु में पहुंचकर कोई बात नहीं पूछो इत्यादि ॥

शमदमादिविचारः ॥२१॥

' विराग होने से मन को वशीभूत होना शम है । मन की वशिता से बाह्य इन्द्रियों को वशीभूत होना दम है । वा मन को अपनी इच्छा अनुसार रख सकना दम है, गुरु वेदवाक्य में विश्वास श्रद्धा है, गुरुसे कहे अर्थ में चित्त की स्थिरता एकाग्रता समाधान है । स्त्री पुत्रादि से चित्त की उपरामता उपरति है; भूख पिपासा शीत घामादि जन्य दुःखों की सहनशक्ति तितिक्षा है; इन छौ को षट्सम्पत्तिरूप एक साधन मानते हैं । मोक्षकी इच्छा को मुमुक्षुता कहते हैं । इससे विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता; ये चार ज्ञान के साधन कहे जाते हैं ॥ तिन में शुभ कर्म से मनकी शुद्धि के बाद विवेक होता है, फिर मोक्ष की इच्छा होती है, तब विराग शमादि होते हैं, यह क्रम है । यद्यपि कर्म करते समय भी शरीरसे भिन्न आत्मवस्तु का ज्ञान आस्तिक मनुष्य को रहता है, और मोक्ष की इच्छा भी रहती है । अन्यथा 'परलोकार्थक कर्मादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती तथापि कर्मकाल का ज्ञान विवेक रूप नहीं रहता है, क्योंकि उस समय शरीर के धर्म ब्राह्मणत्वादि स्त्रीत्व पुंस्त्वादि को

आत्मामें मान् कर ब्राह्मणादि के योग्य विहित कर्म करता है। और विवेक होने पर विवेकी लोक ब्राह्मणत्वादि को आत्मा में नहीं मानते हैं। और विवेक होने पर मोक्ष की इच्छा दृढ होती है, कर्म काल में वैसी नहीं रहती। शंका होती है कि विवेक काल में ही यदि शरीर के धर्म ब्राह्मणत्वादि से रहित आत्मा का ज्ञान हो जाता हे, तो क्या जानना बाकी रहता है कि जिसके लिये वैराग्यादि की आवश्यकता होती हे। उत्तर है कि ब्राह्मणत्वादि धर्मवाला विनश्वर शरीरादि से भिन्न अविनाशी आत्मा है, ऐसा विवेक होने पर भी, विकल्प (संशय) होता है कि नश्वर शरीरादि सत्य हैं कि रज्जुसर्प की नाईं मिथ्या हैं। यदि मिथ्या हैं तो इनकी उत्पत्ति कैसे हुई, सत्य क्यों मालूम पडते हैं, सत्य ही क्यों नही हैं। मिथ्या की प्रतीति कैसे होती है, प्रतीति भी मिथ्या हो तो उसकी उत्पत्ति कैसे हुई। ओर मैं शरीर से भिन्न अविनाशी हूं, परन्तु मुझ से भी भिन्न सत्य ईश्वर ब्रह्म है वा नहीं है, यदि भिन्न नहीं है, तो भी मैं परिच्छिन्न हूं वा विभु, यदि विभु हूं तोभी सुखदुःखादि रहित असंग हूं वा सुखादि सहित हूं। यदि असंग हूं तो सुखादि मुझ में क्यों प्रतीत होते हैं, इनकी प्रतीति की कैसे निवृत्ति होगी इत्यादि। विवेकियों में भी ये विकल्प अज्ञान से होते हैं, इससे अज्ञान और विकल्प की निवृत्ति के लिये असंग अद्वितीय विभु आत्मतत्त्व के ज्ञान की आवश्यकता होती है, और ज्ञान के लिये वैराग्यादि की जरूरत होती है। और वैराग्य मुमुक्षुत्व जिनको तीव्र होते हैं उसी के शमादि भी ज्ञानद्वारा मोक्ष के हेतु होते हैं, अन्यथा नहीं। सो लिखा है कि,

'वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥'

अपरोक्षानुभूति में शमादि के लक्षण लिखे हैं कि,

'सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः।
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते॥

विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा।
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता॥
निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता।
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम्॥
संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं मे स्यात्कदाविधे।
इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता॥

यद्वा,

'अहंकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान्।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा' मुमुक्षुता'॥

श्रुति है कि,

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति। सर्वमात्मनि पश्यति'। बृहदा० ४।५।२३

शान्तादि होकर श्रद्धालु पुरुष अपने ही में अपने को देखता है। फिर सब वस्तु को अपने में देखता है, इत्यादि॥ साहब ने भी शमादि के लिये उपदेश दिया है कि,

'मन का दौर अनेक है, तीन लोक पशु एक।
बलिहारी तेहि सन्त की, मन को राखै टेक'॥

साखी २५३। इत्यादि।

इनमें शमादि विना बुद्धि परिपक्क (शुद्ध) नहीं होती है। और परिपक्क बुद्धि विना अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा का ज्ञान नहीं होता। इससे शमादि चाहिये, और श्रद्धा विना परिपक्क बुद्धि से भी ज्ञान होना असंभव है। बहुत तीव्र बुद्धिवाला भी अप्रतिष्ठित तर्क के फन्दे में पड़कर भटक जाता है। सत्य का भी उलंघन करता है; सत्य को मिथ्या मिथ्या को सत्य सिद्ध कर देता है। इससे श्रद्धा की भी आवश्यकता है। परिपक्क बुद्धि विना श्रद्धाजड़ भी भटकता है, परन्तु श्रेष्ठ प्रारब्धवश श्रद्धालु को प्रथम ही

सद्गुरु मिलें तो उसका अवश्य कल्याण होता है। नहीं तो श्रेष्ठ श्रद्धा के साथ श्रेष्ठ बुद्धि चाहिये कि जिससे सत्य का खोज कर सके। इसीसे शमादि से शुद्ध बुद्धि और शुद्ध श्रद्धा ज्ञान के साधन माने गये हैं। और इच्छा विना तो कोई प्रवृत्ति आदि होते नहीं, इससे मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष के साधनों में प्रवृत्ति का हेतु है॥ पूर्व कहे साधनों में निष्काम कर्मोपासना तो अन्तःकरण की सुधारणा करके रह जाती हैं, ज्ञान के वा ज्ञान के हेतु श्रवणादि के प्रत्यक्ष (अव्यवहित) कारण नहीं होती हैं, किन्तु विवेकादि द्वारा श्रवणादि के हेतु होती हैं। और श्रवणादि द्वारा विवेकादि ज्ञान के हेतु होते हैं। इससे विवेकादि श्रवणादि दोनों से व्यवहित (व्यवधानयुक्त) ज्ञान के कारण कर्म बहिरङ्ग साधन कहे जाते हैं। कर्म से अन्तरंग (समीप) विवेकादि हैं। उनसे भी अन्तरङ्ग श्रवणादि हैं। तिन श्रवणादि में श्रवण दो प्रकार के होता है, एक तो केवल वाक्य को सुनना रूप है और दूसरा उपक्रम, उपसंहारादि के विचार द्वारा वाक्य के तात्पर्य का निर्णयरूप होता है। युक्तिपूर्वक वाक्यार्थ के चिन्तन को मनन कहते हैं। श्रवण मनन से निश्चित सत्यार्थ में चित्त की सदा स्थिति को निदिध्यासन कहते हैं। इन श्रवणादिकों में ज्ञान की हेतुता की बोधक श्रुति है कि,

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'
बृहदा० ४।५।६

संसारबन्धन से रहित होने के लिये आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, और उस ज्ञान के लिये श्रवणादि करना चाहिये॥ ('शब्द हमारा आदि का पल पल करहु याद।' साखी ४) इत्यादि वचनों से साहब ने भी श्रवणादि का विधि किया है। और ज्ञान के लिये जिन शब्दों का अधिकतर श्रवण करना चाहिये, उन शब्दों का ('तत्त्वमसि इनके उपदेशा'। रमैनी ९) इत्यादि वचनों से वर्णन किया है। और 'तैं सुत मानु हमारी सेवा। तो कहँ राज देउँ हो देवा'। रमैनी ५८) इत्यादि से श्रवणादि जन्य ज्ञान का फल बताया है।

श्रवणादिविचारः ॥२२॥

इससे श्रवणादि ज्ञान के साधन हैं, यह निश्चित बात है। परन्तु 'श्रोतव्य' इत्यादि श्रुति से विहित श्रवण विषयक ग्रन्थकारों का विचार है। कोई कहते हैं कि अन्वयव्यतिरेकादि से श्रवणादि में ज्ञानकारणता की सिद्धि नहीं होनेसे यह अपूर्वविधि (सर्वथा अप्राप्त की विधि) है। कोई कहते हैं कि विचाररूप श्रवण में ज्ञानसाधनता लोक से ही सिद्ध है, इससे नियम विधि है। जन्मान्तरकृत श्रवण से ही वामदेवादि को भी ज्ञान हुआ था, सहकारि कारणान्तर के अभाव से किसीको श्रवण से भी ज्ञान नहीं होता है, इससे श्रवण विषे ज्ञानकारणता अवश्य सिद्ध है। और चित्त की एकाग्रता आदि में भी है, इसलिये नियमविधि मानना उचित है कि, ज्ञान के लिये वेदान्त वाक्य का श्रवण ही करना चाहिये, और श्रवण के सहायक रूप से मनन निदिध्यासन करना चाहिये। तहाँ वेदान्त नाम उपनिषद् का है, और उसके अनुसारि स्मृति भाषाग्रन्थ को भी उपनिषद् कहते हैं। क्योंकि,

'वेदानामन्तो वेदान्तः। वेदानामन्तः चरमोद्देश्यः प्रदर्शितो यत्र स वेदान्तः। वेदस्य परमात्मत्वसाधनरूपश्चरमोत्कर्षः प्रदर्शितो यत्र स वेदान्तः'।

इस तीन प्रकार से वेदान्त शब्द का अर्थ आचार्यों ने किया है। तहाँ प्रथम पक्ष में तो वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त कहते हैं। परन्तु अन्य दोनों पक्षों में वेद के अन्तिम उद्देश्य (फल) रूप मोक्ष का वा परब्रह्म की प्राप्ति का हेतु ज्ञान का प्रतिपादन जहाँ हो, उन सबका वेदान्त नाम है, उनके विचाररूप श्रवण से ज्ञान होता है। प्रथम पक्ष में भी उपनिषद्-रूप वेदान्त के पाठमात्र से तो अर्थज्ञान होता ही नहीं, किन्तु व्याख्यानादि द्वारा विचार से ही ज्ञान होता है; इससे वेदान्त का व्याख्यानरूप स्मृति भाषा आदि से प्रथम पक्ष में भी ज्ञान हो सकता है, इसीसे स्मृति भाषा

आदि भी उस नियम के विषय होते हैं। वस्तुतः ज्ञानी महात्माओं की आत्मोपदेशरूप वाणी ज्ञान का हेतु होती है, सो वेद स्मृति भाषादि कोई हो, उसीका श्रवण के लिये नियम विधि है॥ कोई ग्रन्थकार श्रवण से परोक्ष ज्ञान और मन से अपरोक्ष ज्ञान मानते हैं। 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्।' ४।४।१९ 'मनसैवेदमाप्तव्यम्।' कठ० २।४।११ 'शास्त्राचार्योपदेश-संस्कृतं मन आत्मदर्शने कारणम्'। इस उपनिषद् गीता भाष्य से भी मन में ही ज्ञानहेतुता सिद्ध होती है। इससे परोक्ष निश्चय ज्ञान के लिये श्रोतव्य, यह नियम विधि है॥ कोई वाक्य का प्रथम श्रवण को ही ज्ञान का हेतु मानते हैं, विचाररूप श्रवण को असंभावना आदि दोषों की निवृत्ति का साधन कहते हैं। कोई श्रोतव्य, इसको परिसंख्या विधि मानते हैं कि जिससे अन्य व्यापार को त्याग कर केवल श्रवणादि परायणता ही हो। कोई विधित्व का निषेध करके अनुवादरूप ही मानते हैं कि जिससे बाह्य प्रवृत्ति को छोड़कर अन्तर्मुख प्रवृत्ति होती है। 'स विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्।' मुण्डक० १।२।१२) इस श्रुति से विचारादि की सिद्धि मानते हैं, उसकी विधि की कोई जरूरत नहीं है, यह अविधिवादी का मत है। यद्यपि इन विधि विषय में बहुत विचार हैं तथापि विस्तारभय से नहीं लिखा गया है॥ इस श्रवणादि की ज्ञानसाधनता में भी बहुत मतभेद है। कोई श्रवण को ज्ञान का हेतु मानते हैं, कोई निदिध्यासन को मानते हैं। जिनके मत में वाक्य श्रवण से ज्ञान होता है, उनके मत में विचाररूप श्रवण, मनन, निदिध्यासन से असंभावना (संशय) विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। इससे वेदान्त वाक्य का श्रवण ज्ञान का करण है, विचाररूप श्रवण वाक्यगत संशय की निवृत्ति का हेतु है। वाक्यार्थगत संशय की निवृत्ति का हेतु मनन है, विपरीत भावना (उलटा निश्चय) की निवृत्ति का हेतु निदिध्यासन है। यह वाक्य प्रमाणवादी का मत है॥ और निदिध्यासन को ज्ञान के कारण माननेवालों के मत में मन ज्ञान का करण है, श्रवणादि सहकारी कारण हैं। मन के इन्द्रिय होने से

मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, इत्यादि ॥ वाक्यप्रमाणवादी कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ही ज्ञान प्रत्यक्ष हो यह नियम नहीं है, किन्तु योग्य प्रमाणजन्य वृत्ति जहाँ योग्य वर्तमान विषय देश में प्राप्त हो, तहाँ शब्दजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे ' दशमस्त्वमसि ' दशवाँ तू है, इस वाक्य से होता है। इसी प्रकार ' तत्त्वमसि ', इत्यादि वाक्य से भी अपरोक्ष ज्ञान होता है। धर्मादि अयोग्य विषय हैं, और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि प्रत्यक्ष के लिये अयोग्य प्रमाण हैं, इससे इन दोनों जगह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। और विचार किया जाय तो केवल शब्द वा मन में आत्मज्ञान की कारणता नियत नहीं सिद्ध होती है, किन्तु किसी को शब्द से किसी को मन से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है, यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि जो कृतोपास्तिक उत्तम अधिकारी है, अर्थात् उपासना से जिसका मन अत्यन्त स्थिर है, स्वच्छ है, ग्रहण धारण में कुशल है, उसको गुरुमुख से वाक्य सुनते ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। गुरुवाक्य में प्रमाणता निश्चय से गुरु में श्रद्धा से संशय भ्रम उसको नहीं होता है। और अकृतोपास्तिक (उपासनादि रहित) को वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है। मनन निदिध्यासन युक्त मन से अपरोक्ष ज्ञान होता है। और जिसको वाक्य से ज्ञान होता है सो प्रायः विचारपरायण रहता है, जिसको मन से होता है सो प्रायः समाधिपरायण रहता है; क्योंकि जिसको वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है, उसको यदि भर्छु विषय के राजा का ज्ञान के सदृश ब्रह्मात्मा का अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी किसी संस्कारवश संशयादि होता है तो उसको विचाररूप मनन की आवश्यकता होती है; इसलिये योग क्षेम न्याय से वह ज्ञानी विचार में तत्पर रहता है, और जिसको निदिध्यासन द्वारा मन से अनुभव होता है, वह अभ्यस्त समाधि में ही प्रवृत्त होता है। शब्द से जो ज्ञान होता है उसे शाब्द कहते हैं, मनसे होता है सो मानस कहाता है। और शब्द मन दोनों अधिकारी भेद से करण हैं, इसीसे, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि '। ' मनसैवेदमाप्तव्यम् '। इन दोनों

श्रुतियों की संगति होती है, और, 'तं त्वौपनिषदम्' । इत्यादि उपदेश प्रकरण में पठित हैं, 'मनसैवेदम्' इत्यादि योगप्रकरण में पठित हैं, इससे भी उक्त ही व्यवस्था उचित है, और 'मनसैवेदम्' इसमें एवकार से बाह्य इन्द्रियों की व्यावृत्ति की गई है, शब्द की नहीं। 'त त्वौपनिषदम्' इसमें औपनिषद पद से उपनिषद विरुद्ध तर्कशास्त्रादि की व्यावृत्ति की गई है, मन की नहीं । और 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।' तैत्तिरीयो० बल्ली० २।९। इस श्रुति में मन वचन की ब्रह्मात्मा में अप्रवृत्ति कथन भी मलिन चञ्चल मन विषयक और अनधिकारी के प्रति कथित शब्द विषयक है । अथवा शब्द मानस वृत्तिगत चिदाभास से स्वयंप्रकाश ब्रह्मघटादि की नाईं प्रकाशित नहीं होता है, किन्तु केवल अज्ञानकृत आवरण का ब्रह्मात्माकार वृत्ति से नाश होता है, यह श्रुति का तात्पर्य है । और सो वृत्ति अधिकारी भेद से शब्द और मन रूप दोनों प्रमाण से होती है, इससे आत्मज्ञान के शब्द और मन दोनों करण हैं । जैसे नेत्र और त्वक् दोनों घटादि ज्ञान के करण होते हैं । इसी आशय से, 'यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' । भ० गी० ५।५) इत्यादि। गीता में कहा है। और अधिकारी भेद से किसी को विचार सुगम होता है, किसी को योग सुगम होता है, सो अनुभवसिद्ध है, और योग-वासिष्ठ में लिखा है कि,

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधःस्याज्ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः' ॥

यहाँ बाह्यवृत्ति का निरोधपूर्वक चित्त को आत्मा में स्थिर करना योग शब्द का अर्थ है, और विचाररूप श्रवण ज्ञान शब्द का अर्थ है । दोनों से अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक चित्त की अत्यन्त निवृत्ति होती है, इस ज्ञान और योग का सद्गुरु कबीर साहब ने भी वर्णन स्वीकार किया है। लिखा है कि,

'शब्द बिना श्रुति आँधरी, कहहु कहाँ को जाय।
द्वार न पावै शब्द का, फिरि फिरि भटका खाय॥
जो जानहु जग जीवना, जो जानहु तो जीव।
पानप चाहहु आपना, पनिया मांगि न पीव'॥
साखी ८-११।

भाव है कि सदुपदेशरूप शब्द बिना श्रुति (श्रोत्रज वृत्ति) अन्धी सी रहती है, इससे लक्ष्य पर नहीं जाकर संसार में भटकती है। यदि तुम नित्यजीवन चाहो तो कोई विषय किसीसे न मांगो, न स्वयं उस विषय का उपभोग करो किन्तु मन को उससे रोको इत्यादि॥ और शब्द से आत्मज्ञान के बोधक वचन वाणी बहुत मिलते से शब्द को ज्ञान का करण और मन को सहकारी माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। और जैसे मन और वेदान्तवाक्य की ज्ञानकरणता में मतभेद है, तैसे ही निदिध्यासन और विचाररूप श्रवण की प्रधानता अप्रधानता में भी मतभेद है।
'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।'
श्वेता० १।३

अपना कार्य पृथिवी आदि से आवृत्त परमेश्वर की आत्मभूत शक्ति को ध्यानयोगयुक्त ऋषिलोक देखे। इस श्रुति से निदिध्यासन में ब्रह्म-साक्षात्कार के अव्यवहित कारणत्व की प्रतीति होती है, और शब्द से जिस अद्वैत अर्थ का निश्चय होता है, उसीमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध की शंका होने पर उसकी निवृत्ति के लिये जो तर्करूप मनन सो निदिध्यासन का हेतु होता है, क्योंकि मनन बिना दृढ निश्चय नहीं होनेसे अनिश्चित अर्थ में निदिध्यासन नहीं हो सकता। इससे मनन के बाद निदिध्यासन होता है। और वेदान्त वाक्य का विचाररूप मानस व्यापार उस मनन का हेतु है; क्योंकि विचार बिना शाब्द ज्ञान के अभाव से युक्तत्वायुक्तत्व का विचाररूप मनन किसके आश्रय किया जा सकता है। इससे प्रथम शाब्द ज्ञान होता है, फिर मनन के बाद निदिध्यासन से अपरोक्षात्मज्ञान होता है।

इस प्रकार ज्ञान के तीनों कारण हैं। कोई साक्षात्कारण है, कोई परंपराकारण है ॥ और कोई कहते हैं कि श्रवण ही अपरोक्ष ज्ञान का साक्षात्कारण है, मनन निदिध्यासन सहकारी हैं, इससे श्रवण प्रधान है, इत्यादि ॥ विशेष वेदान्त के ग्रन्थों मे जानने योग्य है ॥ पूर्व वर्णित निष्काम कर्म ज्ञान के बहिरंग साधन हैं। विवेक वैराग्य उनकी अपेक्षा अन्तरङ्ग हैं, उनकी अपेक्षा शमादि भी अन्तरंग हैं। सो लिखा है कि,

'बहिरङ्गं कर्मजातं संन्यासस्यान्तरङ्गता ।
प्रत्यासन्नतराः शान्तिदान्त्याद्या इत्यसौ क्रमः ॥'

वार्तिकसार० ४।४।४११

कर्म सब बहिरंग हैं, संन्यास अन्तरंग है, शान्ति दान्ति आदि उससे भी अन्तरंग हैं। और विवेकादि सब से श्रवणादि अन्तरंग हैं, उनमें भी किसी के मतमें श्रवण और किसी के मत में निदिध्यासन अति अन्तरंग है॥

जीवन्मुक्तिविचारः ॥२३॥

ज्ञान होने पर कोई ग्रन्थकार जीवन्मुक्ति नहीं मानकर विदेह मुक्ति ही मानते हैं, सो युक्ति आदि से विरुद्ध होने से अनेकों ग्रन्थों से खंडित है। और सद्गुरु कबीर साहब ने भी लिखा है कि, 'जियत न तरेहु मुये का तरिहो।' शब्द ११०) 'और जैसे घट के सत्यस्वरूप मृत्तिका को जानने पर भी घट से जलाहरणादि व्यवहार होता है, तैसे शरीर के सत्यस्वरूप आत्मा को जाननेवाला ज्ञानी शरीरादि से व्यवहार करता है, और जीवन्मुक्त रहता है, व्यवहार उसका बन्धन का हेतु नहीं होता है; क्योंकि अज्ञानजन्य आसक्ति विशेष व्यवहारादि बन्धन के हेतु होते हैं ॥ आसक्ति रहित उपदेशादि शरीरनिर्वाहक कर्म बन्धन के हेतु नहीं होते हैं ॥ लिखा है कि,

'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ॥

स्वभावमात्रविजये स्वयं यस्य न वीरता।
तस्योत्तमपदप्राप्तौ पशोर्ब्रूहि कथैव का॥'

चित्त का विस्तार के हेतु शब्दादि विषयरूप भूमि में राग ही अज्ञान का चिह्न है। जिस वृक्ष के कोटर में अग्नि हो, उसमें हरापन कैसे हो सकता है। तैसे जिसके चित्त में राग हो, उसको ब्रह्मानन्द मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है॥ जिसमें अज्ञान वा अज्ञानजन्य रागद्वेषादि रूप स्वभाव को जीतने के लिये स्वयं वीरता नहीं है, उस पशु की मोक्षप्राप्ति की कथा क्या है॥ और ज्ञान से प्रथम जिन शमादिकों का अभ्यास किया जाता है, सो शमादि ज्ञानी में सदा रहते हैं; क्योंकि प्रथम उनका दृढ अभ्यास करने से ही ज्ञान होता है। इससे अभ्यासजन्य वासना से शरीर का पात पर्यन्त वैसी ही स्थिति बनी रहती है। उन वासनाओं के सहित शरीर का प्रारब्धक्षय से साथ ही नाश होता है। ज्ञानी के लिये कर्मादि विधि का अभाव होते भी यथेष्टाचार (कुप्रवृत्ति) नहीं होता है। संक्षेपशारीरक नैष्कर्म्यसिद्धि आदि में लिखा है कि,

'अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य रूपं च वयो वपुश्च।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः॥

तरोरुत्खातमूलस्य स्पर्शेनैव यथा क्षयः।
तथा बुद्धात्मतत्त्वस्य निवृत्यैव तनुक्षयः॥
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥
अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः।
धर्मकार्ये कथं तस्याद्यत्र धर्मोऽपि नेष्यते॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥'

क० अ० १।३।८।

अर्थ के कारण छल और क्षमा है, काम के कारण रूप, युवावस्था, और शरीर है। धर्म के कारण यागादि, दया और दम हैं; मोक्ष के कारण सब क्रिया से उपरति है ॥ मूल (जड़) रहित वृक्ष का जैसे वायु के स्पर्श से ही नाश होता है, तैसे ही ज्ञानी का शरीर का क्षय (नाश) निवृत्ति (प्रारब्ध का नाश) से होता है ॥ प्रारब्ध के भोग होते भी यदि ज्ञानी का यथेष्टाचार हो तो अशुचि भक्षण में कुत्ता और ज्ञानी में भेद ही क्या रहेगा। इसमे विधिविषय नहीं होते भी शुभ संस्कारादि से ज्ञानी की शुभ ही प्रवृत्ति होती है ॥ पूर्वजन्म के अधर्म से भक्ष्याभक्ष्यादि के अविवेकरूप अज्ञान होता है, उस अज्ञान से यथेष्टाचरण होता है, इससे श्रेष्ठ धर्म के कार्य ज्ञान की अवस्था में यथेष्टाचरण कैसे हो सकता है, जहाँ धर्म भी नहीं रहता वहाँ अधर्म कैसे रह सकता है ॥ जो मनुष्य विज्ञानयुक्त बुद्धि और योगयुक्त मनवाला सदा पवित्र रहता है, सो उस मोक्षपद को पाता है, कि जहां से फिर जन्म नहीं होता है ॥ श्रीमद्भ० गीता अ० १३।७। इत्यादि में अमानित्ता, अदम्भ, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासना, शौच, स्थिरता, मनोनिग्रह, विषयों में विराग, अनहंकार, जन्मादिदोष-ज्ञान, अनासक्ति, पुत्रादि में स्नेहबन्धाभाव, इष्टानिष्ट में समता, अनन्य भक्ति, एकान्तवास, जनसभा में अप्रेम, अध्यात्मविचारादि को जिज्ञासु के लिये ज्ञान के साधन कहे गये हैं, और ज्ञान के चिह्न माने गये हैं। इससे जीवन्मुक्त ज्ञानी यथेष्टाचारी नहीं हो सकता ॥ इसी आशय से साहब ने कहा है कि,

'साहबका घर दूर है, लम्बा पेड़ खजूर ।
चढये तो चाखे प्रेमरस, गिरै तो सकना चूर ॥'
'ऐसा योग न देखा भाई, भूला फिरे लिये गफलाई ।'
रमैनी ६३, इत्यादि

और, 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'। अ० ६।३१। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।' अ० १३।२३। इत्यादि

गीता आदि का भाव है कि, सदाचारी के भी अनेक मार्ग हैं, उनमें चाहे किसी मार्ग से ज्ञानी चले, वह आत्मनिष्ठ ही रहता है, मुक्त ही रहता है ॥ और, 'हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते'। भ० गी० अ० १८।१७) 'अवाङ्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्'। कौषीतकि० अ० ३।१) 'रागिणो भोगिनश्चेतरे'[1] अहंकार आसक्ति रहित ज्ञानी इस लोक को मारकर भी नहीं मारता है न बँधता है ॥ इन्द्र कहते हैं कि, मैं वेदाध्ययन रहित यतियों को मारकर कुत्तों को दे दिया परन्तु ज्ञान के बल से मेरा एक रोम भी नहीं नष्ट हुवा ॥ कोई ज्ञानी रागी कोई भोगी होते हैं। इत्यादि वचन केवल ज्ञान की स्तुति के लिये हैं, अहंकारादि रहित पुरुष मारेगा ही क्यों, जिज्ञासु की प्रवृत्ति के लिये इस प्रकार की स्तुति की गई है ॥ और यह भी भाव है कि अविद्या बीजशक्ति सहित ही कर्म बन्धन के हेतु होते हैं, अविद्या की निवृत्ति होने पर जो कुछ शुभ वा अशुभ अहंकारादि विना प्रारब्धभोगानुकूल कर्म ज्ञानी से अनायास हो जाते हैं, उनसे ज्ञानीको संग नहीं होता, इत्यादि ॥



पदार्थविचारः ॥२४॥

'तत्त्वमसि'। छा० ६।८।६। 'अहं ब्रह्मास्मि'। बृहदा०। १।४।१०। 'प्रज्ञानं ब्रह्म'। ऐतरेय० ३।३। 'अयमात्मा ब्रह्म'। बृहदा० २।५।१९ माण्डूक्य २ इत्यादि उपनिषद के महावाक्य हैं। और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। तैत्तिरीय० २।१। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'। बृहदा० ४।३।१५) इत्यादि अवान्तर वाक्य हैं। जीव ब्रह्म की एकता (अभेद) बोधक वाक्य को महावाक्य कहते हैं। और केवल जीव वा ब्रह्म के स्वरूप बोधक (खण्ड) वाक्य को अवान्तर वाक्य कहते हैं। सो अवान्तर वाक्य महावाक्यार्थोपयोगी वा उपासनोपयोगी अर्थ के बोधक होते हैं। अवान्तर वाक्य से

१ स्वाराज्यसिद्धिः प्र० ३।२०।

परोक्ष ही ज्ञान होता है, महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है। ब्रह्म ईश्वर सत् आदि पदों से माया आदि सहित चेतन का शक्तिवृत्ति से बोध होता है, और लक्षणावृत्ति से माया आदि से रहित चेतन का बोध होता है, इससे माया आदि सहित चेतन ब्रह्मादि शब्द के वाच्य वा शक्य कहा जाता है, केवल चेतन लक्ष्य कहा जाता है॥ महावाक्य के पदों का अर्थ जो जीव और ईश्वर हैं, उनका विवेक करना (लक्षणावृत्ति से शुद्ध चेतनस्वरूप को समझना) पदार्थशोधन कहाता है, शोधन से एकता का ज्ञान सुगम हो जाता है॥ छान्दोग्योपनिषद के छठवाँ अध्याय में नौ बार तत्त्वमसि वाक्य पढा हुआ है। और अध्याय के द्वितीय खंड में (सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्), इस वाक्य में जो सत् शब्द का अर्थ है, सोई तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद का अर्थ है। और त्वं पद का अर्थ श्वेतकेतु है। तहाँ पहला तत्त्वमसि वाक्य से पूर्व में अन्न शब्द के अर्थ पृथिवी के कारण जलादि को कहकर, सब के मूल कारण को परदेवता, अणु पृथिवी आदि के आत्मा, कहकर, श्वेतकेतु के प्रति पिता ने तत्त्वमसि यह उपदेश दिया है। और द्वितीय वाक्य से पूर्व में सब प्रजा महाप्रलय में जिसके आश्रित रहती है, उसे सत्यादि शब्दों से कहकर तत्त्वमसि कहा है। तृतीय से पहले सब प्रजा जिससे आती है और जिसको नहीं जानती सोई अणु सत्यात्मा है, ऐसा कहकर तत्त्वमसि कहा गया है। और चौथे में प्रथम वृक्षों में जीव की सत्ता बताकर कहा है कि, वह जीव जिस शाखा को छोड़ देता है, वह शाखा सूख जाती है। यदि सम्पूर्ण वृक्ष को छोड देता है तो वृक्ष सूख जाता है। इसी प्रकार मानव देह से, जब जीव निकल जाता है तब देह मर जाता है, जीव नहीं मरता। वह अणु है और उसी रूप सब जगत है। वही सत्य है, आत्मा है तत्त्वमसि। पञ्चम में पहले लिखा है कि वट का बीज के बहुत सूक्ष्म भाग, नहीं दीखते हैं परन्तु रहते हैं उन्हींसे महावृक्ष होता है। तैसे ही संसार के कारण को श्रद्धा से जानना चाहिये, वही अणु सत्यात्मा है, तत्त्वमसि।

छठवाँ वाक्य में कहा है कि जैसे नमक जल में मिल जाने पर आंख से नहीं दीखता है, परन्तु रहता है, तैसे ही संसार में चेतन है। इन्द्रियों से नहीं दीखता है। सप्तम में कहा है कि कोई चोर किसीको गांधार देश से आंख बांधकर ले जाय और दूर देश में छोड़ दे तो कोई दयालु यदि उसके आंख खोलकर उसे बता देता है कि इस तरफ गांधार देश है, तो वह बुद्धिमान पूछता २ वहाँ पहुंच जाता है। इसी प्रकार आचार्यवाला मनुष्य जान जाता है, और आचार्यवाला जिसको जानता है वही सत्यात्मा है, तत्त्वमसि। अष्टम में कहा है कि मरने के समय वाक् मन में लीन होता है, मन प्राण में, प्राण परदेव में लीन होता है, वही परदेव सत्यात्मा है, तत्त्वमसि। नवम में है कि किसी में चोरपन का संशय होने पर, उसके हाथ में तप्त लोह विधि से दिया जाय, तो सच्चा होने पर उसका हाथ नहीं जलता है, और वह अपवाद बन्धन से छूट जाता है। तैसे सत्यात्मा में प्रेमादिवाला संसार बन्धन से छूट जाता है, और जिस सत्यात्मा के जानने से छूट जाता है तत्त्वमसि (वह तू ही है) यह श्वेतकेतु के प्रति पिता का उपदेश है, और इसी वाक्य के तुल्य अन्य महावाक्यों का भी अर्थ है। बीजक में इसी वाक्य का लेख है॥ यहाँ यह विचार करना चाहिये कि त्वं पद का अर्थ जो जीव विशेष श्वेतकेतु सो सबका कारण प्रलयकाल सृष्टि-काल में सबका आश्रय परम सूक्ष्म आचार्यवान् से ज्ञेय वागादि का आश्रय-स्वरूप कैसे हो सकता है, विरुद्ध पदार्थ की एकता बन नहीं सकती, और महावाक्यों में भिन्न स्वभाववाला जीव ईश्वर का अभेद कहा गया है, इससे विवेक द्वारा शोधन से शुद्ध जीव ईश्वर के पारमार्थिक स्वरूप का अभेद में श्रुति का तात्पर्य सिद्ध होता है। माया अविद्यादि उपाधि से ही जीव ईश्वर में भेद है, स्वरूप से नहीं यह श्रुति का तात्पर्य है।

यहाँ, 'तस्य त्वमसि तस्मिंस्त्वमसि' उस ईश्वर का तूं दास है वा तुम उसमें हो, इत्यादि अर्थ तत्त्वमसि वाक्यका कोई करते हैं, सो साफ खैंचतान है, क्योंकि अन्य महावाक्यों में प्रथमा विभक्ति प्रगट श्रुत है,

और अभेद ही अर्थ स्पष्ट है, इसी प्रकार यहाँ भी अभेदार्थ है, 'यदेवेहतदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'। कठ २।४।१०। इत्यादि श्रुतियों में लोक परलोकादि में सर्वत्र एकात्मा का कथन करता हुआ भेददर्शी की निन्दा की गई है कि नाना के तुल्य भी आत्मा में देखनेवाले बार २ मृत्यु पाते हैं। इससे सत्यात्मा सब भेद से रहित है, एक है, भेद मायाकृत मिथ्या है; इसीसे 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों की तथा एक के ज्ञान से सबका ज्ञान प्रतिपादक श्रुति की संगति (एकवाक्यता) होती है, मिट्टी के ज्ञानसे जैसे मिट्टी के कार्य ज्ञात होते हैं, तैसे माया शक्तिसहित ईश्वर के ज्ञान से सब जगत सत्यरूप से ज्ञात ही हो जाता है, कल्पित रूप की बात भी कल्पित ही है। यह आशय है।

'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।'
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च'॥

कठ० २।५।९

जैसे स्वरूप से एक प्रकाशमान अग्नि संसारमें पैठी हुई है सो काष्ठादि उपाधि के अनुसार अनेक रूप हुई है, तैसे ही सब भूतों के अन्तरात्मा एक है सो उपाधि मन मायादि में आभास द्वारा अनेक रूप हुआ है, और स्वरूप से बाहर ही है, इत्यादि श्रुतियों से भेद में उपाधि आधीनता सिद्ध होती है। बहुत लोक अग्नि के दृष्टान्त से आत्माको वस्तुतः सावयव मानते हैं और ससंग कहते हैं, सो अत्यन्त जडता है; क्योंकि इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये दृष्टान्त होता है, अनिष्टापादन के लिये नहीं और सर्वथा एक रूपता में दृष्टान्त दार्ष्टान्तपना ही नहीं हो सकता है, इससे आत्मा वस्तुतः एक है, असंग है, उपाधि से अनेक सा मालूम होता है यह श्रुतिका तात्पर्य है। उपाधि रहित साक्षी स्वरूप का 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिमें वर्णन है। तथा साहबने भी, 'छठी तुम्हारी हौं जगा' इत्यादि साखियों में

उसी का वर्णन किया है। और, 'एक समाना सकल में' सा० २६९ इत्यादि वचनों में भी उसी का अभेद दृष्टि से कथन है। और,

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्'॥

श्वेता० ४।१०

माया को जगत की प्रकृति (उपादान कारण) जानना चाहिये, मायी (माया के आश्रय) को महेश्वर जानना चाहिये। उसी महेश्वर के अवयव तुल्य जीवादि से जगत व्याप्त है। यहाँ भी अवयव रूपता की कल्पना द्वारा एकता का ही उपदेश दिया गया है, वास्तविक अवयव में तात्पर्य नहीं है, क्योंकि सावयव वस्तु अनित्य होती है। सर्वत्र श्रुतिमें अभेदका प्रतिपादन होने से जीवेश्वर में भेद मिथ्या सिद्ध होता है, परन्तु मिथ्या होते भी नरशृङ्गादि तुल्य नहीं है, इससे सब व्यवहारादि की सिद्धि होती है, और अत्यन्त सत्य आत्मतुल्य भी नही है, इसीसे भेद सहित सब संसार माया को महात्मा लोक अनिर्वचनीय अकथादि कहते हैं। विवेक चूडामणि में लिखा है कि,

'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा'॥

अद्वैत श्रुतिविरोध से सत रूप माया नहीं है, जगत् कारणत्व का असम्भव से असत नहीं, विरोध से सदसत्रूप नहीं। 'नेह नानास्ति,' इत्यादि श्रुति से भिन्न नहीं, जड चेतन की एकता का असंभव से चेतन मे अभिन्न नहीं, विरोध से भिन्नाभिन्न नहीं, अनित्यद्रव्यरूपता के अभाव से साङ्ग (सावयव) नहीं, अद्वैत श्रुति विरोध से निरवयव भी माया नहीं सिद्ध होती। न परस्पर विरोध से साङ्ग अनङ्ग उभय रूप हो सकती है। इससे अनिर्वचनीय अद्भुतरूपवाली माया है, और उसके कार्य भी वैसाही हैं। साहब ने इसी मायाको अकथ कहा है। इससे स्थूलशरीरमात्र ही माया है यह किसीका

कथन अज्ञान से है । और लोक में प्रातिभासिक पदार्थ अपने से अधिक सत्तावाला में ही प्रतीत होता है । जैसे प्रातिभासिक सर्प व्यावहारीक रज्जु (रस्सी) में प्रतीत होता है । और विचारदृष्टि से मृत्तिका से भिन्न रूप से असत घटादि भी अपनी सत्ता से अधिक सत्तावाली मृत्तिका में प्रतीत होते हैं । तैसे ही माया और जगत की अपेक्षा अधिक सत्तावाला परमार्थ सत्-आनन्दरूप चेतन में माया और जगत की प्रतीति होती है, सो चेतन सत्यानन्दरूप अद्वैत होने से निर्वचनीय है, उसीकी सत्ता से संसार सत्य मालूम होता है, सत्य है नहीं, उसकी चेतनता से बुद्धि आदि चेतन से मालूम होते हैं, चेतन नहीं हैं । उसी के आनन्द से विषयादि में आनन्द मिलते हैं, उनमें आनन्द है नहीं, सो सत्ता चैतन्य आनन्द आत्मा का स्वरूप ही है । सत्ता आदि अद्वयात्मा के धर्म नहीं हैं । यह वेद का अन्तिम सिद्धान्त है । और इसी अर्थ को साहब ने अनेकों वचनों से कहा है कि,

'एक हि ते अनन्त अनन्त, अनन्त एक ह्वै आया ।
परिचय भया जु एक ते, एक हि मांह समाया ॥
एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि ।
कबिर समाना बूझ में, तहां द्वितीया नाहि' ॥

साखी १३०-२६९

एक ही अनन्त (अविनाशी) से अनन्त (असंख्य) पदार्थ हुए हैं, और वह असंख्य पदार्थ महाप्रलय में एक होकर भी उस एक से ही आया (उत्पन्न प्रगट) हुआ है. परन्तु जब जिसको एक से परिचय हुवा (एक को जाना) तब उसके लिये वह असंख्य सदा के लिये एक में समा गया; क्योंकि एक ही सत्य वस्तु सब में समाया (व्यापक) है, और सब वस्तु उसमें कल्पित हैं, इससे ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता है । 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' । छा० ६।२।३ सत्यात्मा में माया की वृत्तिरूप इच्छा हुई कि, मैं बहुत होऊं इत्यादि श्रुति भी कहती है ॥ लोक में भी नट आदि की

माया अन्य मनुष्यों के लिये अचिन्त्य अनिर्वचनीय होती है; क्योंकि तन्तु (धागा) द्वारा आकाश में गमन छिन्नभिन्न मृत शरीर का जीवनादि असम्भव है, परन्तु नट प्रत्यक्ष देखा देता है, और आप वहां ज्यों का त्यों खड़ा रहता है। उसे उसकी मायाबल से लोक नहीं देखते हैं। साधारण तुच्छ इन्द्रजाल माया की यह शक्ति है, तो महामाया की कथा ही क्या कही जाय। जैसे नट की माया नट को नहीं व्यापती है, नट मिथ्या खेल में नहीं भूलता है, तैसे ही ईश्वर नहीं भूलता, जीव भूल जाता है। जैसे नट की माया को सत्य मानने पर आश्चर्य होता है, मिथ्या समझने पर उपेक्षा होती है, वैसे ईश्वर के मायामय जगत की भी हालत है। सिद्ध योगी भी मायाशक्ति से ही अनेक रूप हो जाते हैं। परन्तु नट और योगी की माया भी अनिर्वचनीया ही रहती है। नटादि के क्रियाविशेष संकल्पादि से लोकों को आकाशगमन अनेक देहादि प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके स्वरूप कारणादि का पता किसी को नहीं लगता है। जब जीव की तुच्छ माया का यह हाल है तो, 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'। बृहदा० २।५।१९ इत्यादि श्रुतिसिद्ध ब्रह्मात्मा में बहुरूपता की प्रतीति करानेवाली जगत की प्रकृतिरूप महामाया में अगम्यता अनिर्वचनीयता होने में कुछ भी आश्चर्य नहीं है। इस अनिर्वचनीय माया के कार्य होने से यह जगत भी अनिर्वचनीय ही है। और अनिर्वचनीय माया अन्तःकरणादि से सत्य भेद जीव ईश्वरादि की सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु मिथ्या भेदादि की सिद्धि होती है, और सत्य अभेद के अभिप्राय से तत्त्वमसि इत्यादि उपदेश हैं। इससे लोकव्यवहार प्रत्यक्षादि प्रमाण पूर्वकाण्ड वेदादि से विरोध नहीं है।

'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते।' बृहदा० ४।३।१०

इस श्रुति के अनुसार स्वप्न में व्यावहारिक रथ घोड़ा मार्गादि के नहीं रहते भी जैसे निद्रा सहित अविद्यारूप माया से रथादि की सृष्टि होती है, और उसका वहां प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तैसी ही यह सृष्टि भी है। यद्यपि

स्वप्नज्ञान में संस्कार भी कारण है, तथापि पदार्थों की सन्मुख प्रतीत होने से वह ज्ञान स्मरणरूप नहीं है, न बाहर के व्यावहारिक रथादि की प्रतीति हो सकती है। स्वप्न के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, दीखते हैं, उनसे वहां व्यवहार भी होता है परन्तु सत्य नहीं है, तैसा ही संसार है। इससे सत्य भेद नहीं है। यद्यपि जीव, ईश्वर, चेतन ब्रह्म, माया, माया चेतन का संबन्ध, इनका परस्पर भेद; ये छौ वस्तु अनादि हैं, तथापि सत्ता छौ नहीं है किन्तु एक ही सत में अनादि छौ मिथ्याभेद सहित सिद्ध हैं। इससे सत का अभेद बोधक अद्वैतादि श्रुति से विरोध नहीं है। यदि जीव ईश्वरादि भिन्न सत्तावाले अनेक माने जौंय तो बन नहीं सकता; क्योंकि सर्व जगत का अधिष्ठान साक्षी ब्रह्म तो अवश्य विभु है, और अखण्ड है, अचल है; नहीं तो नित्य और सर्वसाक्षी हो नहीं सकेगा। अब यह विचारना चाहिये कि उस ब्रह्म से भिन्न सत्तावाले जीवादि अखण्ड (निरवयव) हैं कि सखण्ड (सावयव) हैं? यदि सावयव होंगे तो अनित्य होंगे। फिर कृतहान अकृताभ्यागम की प्राप्ति होगी। परिमाण का भी निश्चय नहीं हो सकेगा। किसी नियत परिणामवाला जीव को माना जाय तो हाथी चींटी आदि शरीरों में उसकी स्थिति उचित रीति से नही होगी। यदि ब्रह्म से भिन्न जीव को नित्य निरवयव अनेक मानें तो भी विभु है वा अणु है। यदि विभु मानें, और सुख दुःख इच्छा यत्नादि उसके धर्म मानें तो सब शरीर में सबके सुखादि का ज्ञान सबको होना चाहिये। यदि मन के भेदसे सुखादि की उत्पत्ति और ज्ञान की व्यवस्था कहें तो बन नहीं सकता। विभु सब जीवात्माका सब मन के साथ भी तो तुल्य ही सम्बन्ध सिद्ध होगा। फिर सब मन भी सबके होंगे। मन के द्वारा उत्पन्न सब पुण्यपापादि भी सबके ही होंगे। इससे पुण्यादि की व्यवस्था से सुखादि की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इससे यदि अणुरूप अखण्ड जीवात्मा को मानें तो सो भी नहीं बन सकता; क्योंकि यदि अणु जीवात्मा को ज्ञानसुखादि का आश्रय कहें तो सम्पूर्ण शरीर में सुखादि का ज्ञान नहीं होना चाहिये, और द्रव्य का

प्रत्यक्ष ज्ञान में नैयायिकों ने समवाय संबन्ध से महत्त्व को कारण माना है। इससे महत्त्व रहित आत्माका अहमादि रूप से भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा।

गुण के प्रत्यक्ष में स्वसमवायिसमवाय संबंध से महत्व को हेतु कहा है। इससे अणु आत्माके सुखादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। यदि माना जाय कि अणु आत्मा शरीर के एक देश हृदय में रहता है, और उसका ज्ञानरूप गुण देह में व्यापक रहता है; इससे देहभर में सुखादि का ज्ञान होता है, तो सो भी नहीं बन सकता; क्योंकि आत्मा एक देश में है, और सुखादि का ज्ञान शरीर भरमें होता है, तो शरीर भरमें रहनेवाले सुखादि किसके गुण हैं? यदि ज्ञान गुण के गुणरूप सुखादि को मानें, तो सुखादि गुणवाला ज्ञान ही शरीरभर में रहनेवाला जीवात्मा सिद्ध होगा। उस पक्ष में प्रथम ही दोष कहा गया है। और सुख दुःखवाला जीवात्मा को शरीरभर में ज्ञान होते भी अणु मानना निष्प्रामाणिक भी होगा। और अणुरूप आत्मा हृदय मात्र वृत्ति हो, और ज्ञान सुखादि शरीरमात्र वृत्ति होवें, तो स्वतन्त्र वृत्तिता (रहने) से आत्माके गुण नहीं हो सकते। न्याय के अनुसार से स्वतन्त्र क्रिया गुण वाला समवायी कारण रूप द्रव्य ही होता है, गुण नहीं। और शरीर के बढने के साथ शरीर भर में रहनेवाला ज्ञानगुण बढेगा, शरीर के घटने से घटेगा, अवयवी ज्ञान गुण का अवयव ज्ञानगुण समवायी कारण होगा। सुखादि गुणवाला होगा तो द्रव्य ही सिद्ध होगा, गुण कहना भी नहीं बनेगा; किन्तु संकोच विकाशवाला द्रव्य रूप आत्मा उसको कहना होगा, तब अनित्यता दोष की प्राप्ति होगी। यदि माना जाय कि जैसे पुष्पादि एक देश में रहते हैं, और उन का गन्ध दूर तक फैलता है। तैसे ही हृदय स्थित आत्मा के ज्ञानादि गुण शरीर भर में रहते हैं, तो सो भी नहीं बन सकता; क्यों कि पुष्पादि सावयव पदार्थ हैं, उनके सूक्ष्मावयव के आश्रित ही गंध दूर देश मे जाते हैं, अणुरूप आत्मा सावयव नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि पुष्पादि का अवयव के आश्रित सदा गन्ध चले तो पुष्पादि में छिद्र हो जाना चाहिये तो सो कहना ठीक नहीं; क्यों कि बहुत सूक्ष्म अवयव उडते हैं, और इससे नवीन २ अवयव बनते भी जाते हैं। जिससे पुष्पादि पुष्ट होते हैं, बढते हैं और छिद्र नहीं होता है, और जब रसादि बनना बन्द हो जाता है, तब रस गन्धादि कम हो जाते हैं। क्रम से धीरे २ नष्ट भी हो जाते हैं। वर्तमान अवयवों में स्थिर गन्धादि रहते हैं। और कस्तूरी आदि जो सुगन्ध पदार्थ प्राण रहित रहते हैं, जिन में रस नहीं बनता, और गन्ध दूर तक फैलता है, तहाँ जैसे नमक के पहाड़ पर जो पडता है सो नमक कुछ दिन में हो जाता है, तैसे ही कस्तूरी आदि के सूक्ष्म अवयव उडते हैं, और अन्य पार्थिव परमाणु जो उस पर पडते हैं सो तद्रूप ही होते जाते हैं। इस से वजन (माप) नहीं घटता है। और सूक्ष्म परमाणु आदि को ही अपना रूप करने की शक्ति होने से अधिक मिट्टी आदि एक धार डालने से सब कस्तूरी आदि नहीं हो सकते। और कपूरादि में लवण के समान शक्ति नहीं रहने से उनका नाश ही हो जाता है। जैसे गन्ध द्रव्य के आश्रित ही दूर जाता है, इसी प्रकार घड़ा के अन्दर का जल वा अग्नि के शीत ऊष्ण स्पर्श भी सूक्ष्म जल अग्नि के आश्रित ही घड़ा के अवयवों का सूक्ष्म सन्धि द्वारा बाहर प्रतीत होता है, निकलता है। दीप सूर्यादि की प्रभा प्रकाश भी सूक्ष्म तेज के आश्रित ही फैलती है, और वह सूक्ष्म तेज तेल बत्ती आदि के संबन्धादि से निरंतर उत्पन्न नष्ट होते रहते हैं। नष्ट सूक्ष्म तेज सामान्य तेज में मिलते जाते हैं; इसीसे दीप के बूझते सूर्यास्त होते ही प्रकाश का भी अभाव होता है। यदि गुणी विना गुण रहता तो दीप बूझने, सूर्यास्त होने पर भी प्रकाश रहता।

और जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य के सामान्य तेज को विशेष कर देता है; क्यों कि उसमें कोई शक्ति है, जिस से अनुद्बुद्ध तेज उद्बुद्ध

हो जाता है। और चन्द्रकान्त की शक्ति से अनुद्बुद्ध जल उद्बुद्ध (प्रगट) हो जाता है। तैसे ही मणि हीरा आदि में भी शक्ति रहती है, जिस से सदा तेज की उत्पत्ति अभिव्यक्ति होती रहती है और उसी तेज के आश्रित प्रकाश रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता; इस से मणि आदि का प्रकाश रूप दृष्टान्त से भी आत्मरूप गुणी के विना उस के ज्ञानादि रूप गुण का देह भर में वा देह से बाहर तक होना नहीं सिद्ध हो सकता है। इस से जीवात्मा के रूपादि रहित होने से महत्त्व का अभाव से न प्रत्यक्ष हो सकता है, न अनुमान ही से ऐसा सिद्ध होता है; क्यों कि जीव का लिङ्ग रूप सुखादि का अनुभव शरीर भर में होता है। यदि कहा जाय कि

'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥'

श्वेता० अ० ५।९

बाल का अग्र भाग का सौ भाग में से एक भाग का यदि सौ भाग कल्पित हो वैसा ही सूक्ष्म जीव को जानना चाहिये। इस श्रुति से ईश्वर भिन्न जीवात्मा अणुरूप सिद्ध होता है, तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि इस श्रुति से अव्यवहित पूर्व की श्रुति है कि,

'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाऽहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः॥'

बुद्धि का गुण और आत्मगुण से अङ्गुष्ठपरिमाण और ज्योतिस्वरूप, संकल्प अहंकार से युक्त आराग्रमात्र अपर (आत्मा) भी देखा जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अङ्गुष्ठमात्र वा आराग्रमात्र परिमाणवाला जीव है, और परस्पर विरोधी तीन परिमाण एक वस्तु में हो नहीं सकते। यदि कहा जाय कि यह अङ्गुष्ठमात्रत्व जीव में नहीं कहा गया है किन्तु हृदयोपाधि से ईश्वर में कहा गया है, तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वोत्तर जीव का वर्णन है; बीच में ईश्वर का कोई प्रसंग नहीं है। और

अपर शब्द से भी परभिन्न जीव की प्रतीति होती है। यदि यहाँ कथंचित ईश्वर का वर्णन मान भी लिया जाय तो,

'अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तो निहितो गुहायाम्।'

कठ० १।२।२०

इस श्रुति में अणु से अणु महान से महान् परस्पर विरोधी परिमाण-वाला हृदयवृत्ति आत्मा जीव है वा ईश्वर ऐसी जिज्ञासा होती है। यदि ईश्वर को माना जाय तो ईश्वर से अणुरूपता नहीं हो सकती। 'बालाग्रशत-भागस्य' इस श्रुति रीति से अणुरूपता जीव में होनी चाहिये। और यदि उपाधियोग से अणुरूपता ईश्वर में माना जाय तो इसी प्रकार विभु चेतनात्मा में भी उपाधि योग से बालाग्रमात्रता आदिका वर्णन हो सकता है। जीवात्मा में उससे अणुरूपता की सिद्धि नहीं हो सकती। विभु में ही औपाधिक दृष्टि से वा अत्यन्त सूक्ष्मता की दृष्टि से बालाग्रता आदि मानने पर 'स चानन्त्याय कल्पते' इसके साथ भी संगति (मेल) होती है। भाव है कि जो बहुत सूक्ष्म जीव है सो विवेक दृष्टि से देशादि कृत अन्तरहित ब्रह्मरूपता के लिये भी समर्थ होता है। और ब्रह्मरूपता की दृष्टि से ही अपना गुण से रवितुल्य ज्योतिस्वरूप जीवको कहा गया है, और बुद्धि के गुणसे संकल्पाहंकारयुक्त कहा गया है। वस्तुतः गुण गुणीमें भेद नहीं होता है किन्तु तादात्म्यरूप,अभेद ही होता है, तौ भी मतान्तर से माना हुआ भेद अयुतसिद्धि (अपृथक्सिद्धि) रूप समवायका अभ्युपगम (स्वीकार) करके पूर्वोक्त विचार किया गया है, ईश्वर और जीव के पारमार्थिकरूप निर्विकार और एक होते भी औपाधिक रूप में भिन्नता से जीवके दोष वा गुण से ईश्वर दूषित भूषित नहीं होता। और दुर्ज्ञेय रूपता जैसे ईश्वर के स्वरूप में है, तैसे ही जीवका सत्यस्वरूप भी दुर्ज्ञेय है और बुद्धिरूप सूक्ष्म उपाधिवाला भी है, इससे बालाग्रमात्रादि कहा जा सकता है। और पार-मार्थिक रूप में जन्मादिवाला भी जीव नहीं है, किन्तु मिथ्या शरीर

बुद्धि प्राणादि संघात के ही सुख दुःख जन्म मरणादि धर्म हैं । अविवेक से साक्षी आत्मा में सुखादिकी प्रतीति भी संघातरूप प्रमाताको ही होती है ।

'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।' सांख्य० १।१९

नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाववाला आत्मा को प्रकृति के संबन्ध बिना जन्म दुःखादि का संबन्ध नहीं है । इससे शुद्धात्मा का अभेद में कोई विरोध नहीं है, किन्तु औपाधिक रूप का अभेद में विरोध है । यदि माना जाय कि जीव अणुरूप है, और ईश्वर इसके बाहर भीतर व्यापक हैं, इससे व्याप्य व्यापक को एक कहना विरुद्ध है; तो सो भी मानना ठीक नहीं; क्योंकि निरवयव परमाणु रूप में भीतर कहना नहीं बन सकता; क्योंकि सावयव पदार्थ में बाहर भीतर का व्यवहार होता है । इसीसे अखण्ड एक ईश्वर के भीतर जीवादि रहते हैं, यह कहना भी नहीं बन सकता। जहाँ जलादि के अन्दर पत्थरादि रहते हैं, वहाँसे सावयव जल का भाग हट जाता है, तब पत्थरादि की स्थिति गति होती है । तैसे अखण्ड विभु ईश्वर में जीवादि की स्थिति गति नहीं हो सकती । आकाश में भी एक पत्थरकी जगह दूसरों को अवकाश नहीं मिलता तो विभु ईश्वर में जीवको कैसे अवकाश मिल सकता है । यदि कहा जाय कि मूर्त पदार्थ देशका आवरण करते हैं, अमूर्त नहीं । जैसे घड़ाके रूप रस गंधादि अमूर्त पदार्थ एक घड़ा में रहते हैं, और आकाश काल दिशा भी एक देश में रहते हैं । तैसे ही जीवेश्वरादि रहेंगे, तो सो कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि घड़ाके रूप रसादि और घड़ा पृथिवीसे भिन्न नहीं हैं कि जिनको विरोध वा अविरोध कहा जाय । पृथिवी के कार्य घटादि यदि पृथिवी से भिन्न हों तो मृत्तिका के पिण्ड में घट के उत्पन्न होने पर वजन बढना चाहिये । तैसे ही यदि घट मृतिका के रूपादि घटादि से भिन्न हो तो घटादि से भिन्न देश काल में भी रहना चाहिये । जिनके स्वरूपादि जिससे भिन्न देशादि में कभी नहीं प्रतीत हों, उनको भिन्न होने में प्रमाण नहीं है । केवल विकल्परूप भेदज्ञान होता है ।

और सूर्यादि की क्रिया से दिन मास वर्षादि की कल्पना लोकव्यवहार के लिये होती है, उससे भिन्न विभु काल में कोई प्रमाण नहीं है। तैसे ही आकाशादि भूतों से भिन्न दिशा में भी कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। कल्पित चार वा आठ दिशा हैं; क्योंकि एक ही काशी पटना से पश्चिम और मथुरा से पूर्व है। इस व्यवहार में अपेक्षा बुद्धि आदिक ही कारण हैं। और आकाश की उत्पत्ति श्रुतिसिद्ध है, इससे निरपेक्ष व्यापक निराकार अमूर्त आकाश को नहीं कह सकते। इससे इन अमूर्तों की तुल्यदेशता असिद्ध है। यदि शंका होवे कि यद्यपि पत्थर के देशमें स्थूल जलादि नहीं रहते हैं। तथापि पत्थर के पार्थिव अवयवों को संगठित करने वाले जल के सूक्ष्म स्वरूप तो पत्थर के भीतर भी रहते हैं, इससे जहां जल नहीं रहे तहां ही पत्थर रहता है, यह नियम नहीं है; तो यहां यह विचार करना चाहिये कि जिन जल के अवयवों से पार्थिव अवयव संगठित रहते हैं, उन जल के अवयवों से पार्थिव अवयव भिन्न देशमें रहते हैं कि एक देशमें रहते हैं। यदि एक देशमें होवे तो जलीय पार्थिव अवयवों में भिन्नता (भेद) नहीं हो सकती। यदि जल परमाणु पार्थिव परमाणु से भिन्न देशमें हों, तो इनकी एक देशमें स्थिति नहीं सिद्ध हुई।

इसी प्रकार ईश्वर और परमाणुरूप जीवादि भी एक देशमें नहीं रह सकते हैं। यदि कहा जाय कि घट और उसके कारण मिट्टी जैसे एकदेशमें रहते हैं, तैसे ही पत्थर के अन्दर जल पृथिवी के परमाणु समान देशमें रहते हैं और जीवेश्वरादि भी समान देशमें रहते हैं. तो घट और मिट्टी में जैसे सत्य भेद नहीं है, तैसे ही जीवेश्वरादि में भी सत्य भेद नहीं है; किन्तु कल्पित मिथ्या भेद है, और पारमार्थिक अभेद है, यही बात सिद्ध होती है। पारमार्थिक को सत्य, सत् कहते हैं, बन्ध्यापुत्रादि को असत् कहते हैं; इन दोनों से विलक्षण माया आदि को मिथ्या कहते हैं, जो परिणाम उत्पत्ति आदिवाला है सो सब मिथ्या है, अनिर्वचनीय है, इससे कोई दोष नहीं है। 'न तत्र रथाः' इत्यादि श्रुतिसिद्ध स्वप्न के पदार्थ भी

मिथ्या कहे जाते हैं। उनकी उत्पत्ति में उद्बुद्ध (व्यक्त) बासना कर्मादि हेतु होते हैं। और अन्धे को रूपज्ञान की व्यक्त वासनादि नहीं रहने से उसे स्वप्नमें भी रूपज्ञान नहीं होता है। किसीको धातु की विषमताजन्य स्वप्न से धातुपात होता है इत्यादि ॥ ईश्वरत्व की उपाधि माया और जीवत्व की उपाधि अन्तःकरण अविद्या आदि में अनादि से ही चेतनात्मा प्रतिबिम्बित होकर जीव और ईश्वर कहाता है। तहाँ यद्यपि निराकार का प्रतिबिम्ब में नेत्रादि प्रमाण नहीं हो सकते, तथापि चेतन से अत्यन्त भिन्न स्वभाववाला स्थूल देह में चेतनता की प्रतीति सामान्य दृष्टि से जैसे सब मनुष्य को होती है, तैसे ही स्वच्छ जड़ अन्तःकरणादि में चेतनता अवश्य प्रतीत होती है। उस प्रतीति का हेतु आभास प्रतिबिम्ब भी अवश्य है। इतना भेद है कि, नेत्र से दृश्य का प्रतिबिम्ब नेत्र से दृश्य दर्पणादि में होता है। और अदृश्य का संबंध जैसे अदृश्य होता है तैसे ही आभास प्रति-बिम्ब भी अदृश्य ही होता है। बुद्धि से समझा जाता है और एकदेशी पदार्थका भिन्न देशवृत्ति स्वच्छ पदार्थ ही में प्रतिबिम्ब होता है। यह भी नियम नहीं है; क्योंकि सापेक्ष विभु आकाश का भी जलमें प्रतिबिम्ब होता है जिससे थोडा जल में गंभीरता की प्रतीति होती है। यद्यपि आकाश निरूप है इससे उसका प्रतिबिम्बको नेत्रजन्य ज्ञानका विषय होना नहीं बन सकता; तथापि प्रकाशगत रूप विशिष्ट वा कल्पित रूपविशिष्ट आकाश जैसे 'आकाशे बक-पंक्तिः' आकाश में बकुला की पंक्ति है, इत्यादि ज्ञान के विषय होता है। तैसे ही प्रकाशगत रूप सहित वा कल्पित रूप सहित आकाश का जलमें प्रतिबिम्ब नेत्र से प्रत्यक्ष देखा जाता है। तैसे ही रूपादि रहित व्यापक आत्मा का भी प्रतिबिम्ब सिद्ध होता है, और प्रतिबिम्ब रूप जीव ईश्वर में ही अन्तर्यामी ब्राह्मणादि से व्याप्य व्यापक भावादि सिद्ध होते हैं। और साक्षी स्वरूप में नहीं, और अन्तर्यामी में स्वरूपदृष्टि से नित्यता होते भी व्याप्य व्यापक भाव नित्य नहीं है। क्योंकि जो जीव मुक्त हो जाता है, उसके साथका संबन्ध भी अन्तर्यामी का नष्ट हो जाता है। परन्तु अज्ञ की

दृष्टि में वह संबन्ध नित्य है। अज्ञानी की दृष्टि सिद्धसंसार में ही श्रुति आदि भी आत्मबोध कराती है। वस्तुतः आत्मा नित्य शुद्ध है परन्तु अज्ञको उसमें अशुद्धता आदि प्रतीत होते हैं। सोई अज्ञान तथा मायाकृत आवरण है। नित्य अज्ञान और आवरण के बोधक-- ' **तम आसीत् तमसागूढमग्रे**। ऋग्० म० १० सू० १२९ **तुच्छेनाऽभ्वपिहितं यदासीत्** ॥ ऋग्० १० **हृदये निगूढम्। न ऽसदासीन्नोऽसदासीत्तदानीम**। ऋग्० मं० १०।१२९।१ इत्यादि अनेकों श्रुतियां हैं, सो सदसत् से विलक्षण तम तुल्य अज्ञान को बताती हैं। आभासादि सहित अन्तःकरण व्यक्ताव्यक्त रूप से मोक्ष पर्यन्त स्थिर रहता है। महाप्रलय काल में भी सुषुप्ति की नाईं कारण रूप से अव्यक्त होकर रहता ही है। इससे कृतनाश अकृताभ्यागमादि दोष नहीं प्राप्त होते हैं। न स्मरण प्रत्यभिज्ञा आदि की अनुपपत्ति ही होती है। जैसे अनादिसिद्ध प्राणका रक्षक सहायक महावायु है, तैसे ही अनादिसिद्ध आभास अन्तःकरणरूप प्रमाता का योग क्षेम रूपसे सच्चिदानन्द ब्रह्म रक्षक है, और अन्तर्यामी ईश्वर नियन्ता है। यद्यपि प्रलय कालमें प्राण अन्तःकरणादि का नाश और सृष्टिकाल में उत्पत्ति लिखा है, तो भी कारणरूप से स्थिर की अभिव्यक्ति ही उत्पत्ति है। इससे अनादि मानने में भी दोष नहीं है। और अनादि होते भी आत्मभिन्न की पारमार्थिक स्वतन्त्र सत्ता नहीं होने से द्वैतापत्ति भी नहीं है। जैसे सूर्य के उदयास्त व्यवधानादि विना जलादि में एक ही प्रतिबिम्ब आभास रहता है, जलसहित घट के चलने से भी सूर्य का आभास में भेद नहीं होता है। तैसे ही उदयास्तादि रहित आत्माका प्रतिबिम्ब अनादि काल से एक ही है। परन्तु जैसे जलके चञ्चलता आदि से सूर्यके प्रतिबिम्ब में चञ्चलता आदि प्रत्यक्ष दीखते हैं; तैसे मनके चञ्चलता आदि से जीवमें चञ्चलता आदि अनुभवसिद्ध हैं।

जैसे वायु आदि रहित देशमें सूर्यका प्रतिबिम्ब शान्त स्पष्टप्रतीत

होता है। तैसे ही इच्छा वासना आदिरूप वायु रहित स्वस्थ एकान्त समाधि आदि कालमें जीवमें स्वच्छता स्वस्थता आनन्दादि अनुभवसिद्ध हैं। जीवके विशेष ज्ञानादि शरीररूप यन्त्र द ण के अनुसार भिन्न २ होते हैं; इससे भी आभासता ही सिद्ध होती है; परन्तु जिसका आभास है सो सदा एकरस रहता है। वही ब्रह्म है, आत्मा है, सो सदा सबको एकरस प्रकाशता है। इससे उसे सर्वज्ञ भी कह सकते हैं; परन्तु वह ज्ञानरूप है, ज्ञानवाला नहीं है। जैसे सूर्य प्रकाशरूप है, इसीसे श्रुति में रवितुल्य आत्माको कहा है। जीव के पारमार्थिक व्यावहारिक प्रातिभासिक तीन स्वरूप हैं। तहाँ एकरस रहनेवाला चेतनात्मा पारमार्थिक स्वरूप है, आभास सहित अन्तःकरणादि व्यावहारिक स्वरूप है, और स्वप्नकाल में निश्चेष्ट स्थूल देह में अनेकों देहादि से युक्त होकर विचरने आदिवाला प्रातिभासिक स्वरूप है। तिनमें व्यावहारिक जीवके भी वास्तविक स्वरूप अखण्ड चेतन सबके प्रकाशक ही है। और माया उपाधि से वही सर्वज्ञ ईश्वर भी होता है। कल्पित व्यावहारिक जीवके उपाधि तुच्छ अंतःकरण मलादि सहित रहता है, इसीसे यह अल्पज्ञ जीव कहाता है। और सर्वात्मा ब्रह्म वस्तुतः सर्वका प्रकाशक होने भी सर्वज्ञ वा अल्पज्ञ नहीं होता है। क्योंकि माया वा अन्तःकरण अविद्या की वृत्ति (परिणाम) द्वारा सर्व वा अल्पको जाननेवाला ईश्वर वा जीव ही सर्वज्ञ अल्पज्ञ शब्द के मुख्य अर्थ हैं। इससे सर्वात्मा में भेद नहीं है, न वह बद्ध मुक्तादि होता है। परन्तु अधिष्ठान प्रकाशरूप से माया द्वारा जगत् का कारण है, और सत्शब्द का वाच्य ईश्वर उस सत्यात्मा से भिन्न नहीं है इससे,

'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः।' छा० ६।८।४

सत्मूलक ये सब प्रजा हैं। इत्यादि श्रुति कहती है कि सत्यात्मा सबका कारण है। वस्तुतः उसमें कारणता भी वास्तविक नहीं है। इसी सर्वात्मा ब्रह्मकी दृष्टिसे सद्गुरु कबीर साहब ने,

'जीव रूप एक अन्तरवासा, अन्तर जोती किन्ह प्रकाशा।'

इस रमैनी १ में जीवों का एक प्रकाश स्वरूप कहा है, और रमैनी ७ की साखी में नामगामसे रहित अविगति (अग्राह्य) कहा है। तथा ज्ञान के प्रकरण में राम हरि आदि शब्दों से कहा है। जैसे कि,

'राम नाम जाने बिना, बूड़ मूआ संसार।' रमैनी सा० २

'राम नाम निज जानिके, छांडहुं वस्तु हि खोट।' रमैनी ३७

'हरि जाने बिनु विकल फिरै।' शब्द ५२। इत्यादि।

और माया विशिष्ट अन्तर्यामी ईश्वर दृष्टि से रमैनी १ में कहा है कि,

'इच्छारूप नारी अवतरी'॥ 'सुमिरन करहु रामके।'
रमैनी १७

'एक खंड ओंकार ते, सब जग भया पसार।' रमैनी सा० २७

और व्यावहारिक जीव की दृष्टि से कहा है कि,

'लख चौरासी जीव योनि महँ, भटकि भटकि दुख पाव।'
रमैनी सा० ६७। इत्यादि।

व्यावहारिक जीव के उपाधि संकोच विकाश वाला रहता है, इससे कर्मवासनादि के अनुसार छोटा बड़ा सब शरीर में भोग बनता है। और चेतन स्वरूप में आकाश की नाई उपाधि के बिना भेद की प्रतीति नहीं होने से चेतन सर्वत्र जीवेश्वरादि में अभिन्न है; इससे साहब ने कहा है कि,

'तत्त्वमसि इनके उपदेशा।' रमैनी ८ इत्यादि

परन्तु इतना भेद है, कि उपनिषद में जगत कारण का वर्णन करके, तत्त्वमसि, वाक्य पढ़ा है; इससे तत्पद में भी भागत्याग लक्षणा करनी पडती है। और सद्गुरु ने नामादि से रहित गुणातीत का प्रथम वर्णन करकेकहा है कि, निरालम्ब स्थितिवाले महात्माओं का उपदेश है कि जिसके नामगामादि नहीं है सोई तेरा सत्य स्वरूप है। इससे यहाँ

तत्पद में लक्षणा की जरूरत नहीं होती है॥ जल पृथिवी आदि में जड़त्व सामान्य धर्म होते भी एक नहीं होते; क्योंकि इनमें उपाधि विना स्वरूप से ही भेद प्रतीत होता है, और घटाकाश मठाकाश आकाशत्व सामान्य से एक सिद्ध होता है; क्योंकि इनमें उपाधि विना भेद नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार जीव चेतन ईश्वर चेतन में भी अन्तःकरणादि उपाधि विना भेद का अभाव होने से निरुपाधिकरूप एक है। इस से साहबने कहा है कि,

'एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों घट जल शशि झांई हो।'
कहरा १०

'कहहि कबीर मुवा नहि सोई, जाके आवा गमन न होई।'
शब्द ५९। इत्यादि

और अवतारादि सहित सब जगत को ईश्वर की माया का परिणामरूप साहबने कहा है। जैसे कि—

'सन्तो आवै जाय सो माया'। 'दश अवतार ईश्वरी माया॥'
शब्द ३। इत्यादि

शुद्धात्मा से भिन्न पूर्व वर्णित जीव ईश्वर के शरीर विचार॥ २५॥

जीव और ईश्वर के तीन २ शरीर हैं। तहाँ -माया ईश्वर के कारण शरीर हैं। उस माया के भाग वा शक्ति वा अवस्था विशेषरूप अविद्या जीवों के कारण शरीर हैं। व्यष्टि बुद्धि मन ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय प्राण इन सतरह तत्त्वों के समुदायरूप अनेक जीवों के अनेक सूक्ष्म शरीर हैं, और सब जीवों के सूक्ष्म शरीर के समुदायरूप वा उनमें अनुगत (व्यापक) एक महत्तत्त्वरूप मतभेद से ईश्वर के सूक्ष्म शरीर हैं। जो लोक जीव के सूक्ष्म शरीर से ईश्वर के सूक्ष्म शरीर भिन्न मानते हैं, वे लोक,

'बुद्धेरात्मा महान् परः। क० अ० १।३।१०

इस श्रुति में ईश्वर का सूक्ष्म शरीर को महान् शब्द से ग्रहण करते हैं। अन्य मत में ईश्वर का सूक्ष्म शरीर भी उक्त सतरह तत्त्व का है। क्योंकि जीव के सूक्ष्म शरीर का समुदाय ही है। यदि चित्त और अहंकाररूप अन्तःकरण की वृत्ति भिन्न मानी जाय तो उनइस तत्त्व का सूक्ष्म शरीर सिद्ध होता है॥ जिस मत में जीव के सूक्ष्म शरीर में अनुगत एक ईश्वर का सूक्ष्मशरीर है, उस मत में भी ईश्व के शरीर से जीवों के शरीर अत्यन्त भिन्न नहीं है। इस से ईश्वर का शरीर को भी सतरह या उनइस तत्त्व का समुदायरूप कहा जाता है। और पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय पांच प्राण चार अन्तःकरणरूप उनइस तत्त्वों को जाग्रत् अवस्थावाला विश्वनामा जीव के तथा स्वप्न के अभिमानी तैजसनामा जीव के मुखरूप श्रुति में कहा गया है; क्योंकि इन उनइस द्वारा ही जाग्रत् स्वप्न में जीव सुखदुःख भोगते हैं। विश्व और तैजस से विराट् और हिरण्यगर्भ के अभेद होने से ये ही उनइस विराट और हिरण्यगर्भ के भी मुख हैं। विश्व विराट् के उनइस मुख ईश्वर-रचित हैं, तैजस हिरण्यगर्भ के मानस हैं जैसे ये उनइस सुखभोग के साधन हैं, तैसे सात अंग भी भोग के साधन हैं। स्वर्गलोक शिर है, सूर्य नेत्र हैं, वायु प्राण हैं, आकाश धड़ है, समुद्रादि बस्ति (मूत्रस्थान) है, पृथिवी पाद है, हवन के स्थान अग्नि मुख है। यहाँ जीव के अविद्या (अज्ञान) रूप कारण शरीर से रागद्वेषादि द्वन्द्व होते हैं। जिसका, 'राम तेरि माया द्वन्द्व मचावै'। ' शब्द) इत्यादि वचनों से साहबने वर्णन किया है। और,

'गज नव गज दश गज उनइसकी, पुरिया एक तनाई।"

शब्द २९

इत्यादि वचनों से भोगसाधनों का वर्णन किया है। श्रुति है कि,

'जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।' माण्डूक्य

३--४ तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा— संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ। ’
छा० ५।१८।२

जागरित स्थान, बाह्य ज्ञान, उनइस मुख, सात अंग, स्थूल का भोगवाला वैश्वानर ओंकार के प्रथम पाद अकाररूप है, और चतुष्पाद आत्मा के प्रथम पाद है। स्वप्न स्थान, अन्तर ज्ञान, उनइस मुख, सात अंग, अन्तरभोगवाला तैजस दूसरा पाद है॥ वैश्वानर सुतेजा (स्वर्ग) शिर है, विश्वरूप (सूर्य) चक्षु है, पृथगवर्त्म (वायु) प्राण है, संदेह (धड़) बहुल (आकाश) है, रयि (अन्न का हेतु जल का स्थान) बस्ति है, पृथिवी पाद है। इत्यादि।

यद्यपि ये सात अंग और उनइस मुख वैश्वानर (विराट्) के कहे गये हैं, तथापि विश्व और विराट के अभेद भी श्रुतिसिद्ध होने से विराट के अंगादि विश्व के भी कहे जाते हैं। इस से माया उपाधि सहित अन्तर्यामी ईश्वर है। अविद्या उपाधिवाला सुषुप्ति के अभिमानी जीव प्राज्ञ है। समष्टि सूक्ष्माभिमानी हिरण्यगर्भ हैं। व्यष्टि सूक्ष्माभिमानी तैजस है। समष्टि स्थूलाभिमानी विराट है। व्यष्टि स्थूलाभिमानी विश्व है। ये तीन २ देह से ईश्वर जीव के जुदा २ नाम है। इन से परे शुद्ध चेतनात्मा अदृष्ट अव्यवहार्य अग्राह्यादि स्वरूप है, सोई ज्ञेय है। इसी स्वरूप का वर्णन साहब ने— ‘ **जाकर नाम अकहुआ भाई।** ” रमैनी ५१ ‘ **कहुहो निरञ्जन कौने बानी**। शब्द ९३ इत्यादि वचनों से किया है॥

पूर्ववर्णित पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, चार अन्तःकरण; ये चौदह अध्यात्म कहाते हैं। इनके विषय अधिभूत कहाते हैं। इन्द्रियों के सहायक देव अधिदैवत कहाते हैं। इस से चौदह त्रिपुटी कही जाती हैं। यद्यपि पांच प्राण भी अध्यात्म हैं, तथापि उनके स्वतन्त्र कोई विषयादि नहीं रहने से उनकी त्रिपुटी नहीं होती है। सुबालोपनिषद् में लिखा है कि—

'चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतम् ।
श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतम् ।
नासाऽध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतम् ।
जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतम् ।
त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतम् ।
मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ।
बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ।
चित्तमध्यात्मं चेतव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतम् ।
अहंकारोऽध्यात्ममहंकर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ।
वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतम् ।
हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ।
पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ।
पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतंमृत्युस्तत्राधिदैवतम् ।
उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतम् ।'

और, 'बुद्धिरध्यात्ममित्युक्तं बोद्धव्यं तत्र यद् भवेत् ।
अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं बृहस्पतिः ॥'

इस सुरेश्वरवार्तिक में बुद्धि के अधिदैवत बृहस्पति को कहे हैं । और,

'पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथातत्त्वार्थदर्शिनः ।
विसर्गमधिभूतं च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥'

इस भारत वचन में गुदा के अधिदैवत मित्र को कहा है । और

'दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शंभुश्च करणाधिपाः ॥'

इस वचन में घ्राण के अधिदेव अश्विदेव को कहा है । उक्त इन्द्रियां देव की सहायता से बाहर ही प्रायः प्रवृत्त होती हैं । इनके विषय पांचभूत संबंधी पदार्थ ही हैं; इससे अधिभूत कहाते हैं । आत्मा स्वयंप्रकाश है,

इनका विषय नहीं है; इसीसे अग्राह्य है। आत्माकारवृत्ति से भी अज्ञानकृत आवरण मात्रका नाश होता है। आत्माका प्रकाश इन्द्रियों से नहीं हो सकता, यह भाव है। सुषुप्ति की त्रिपुटी लिखी है कि,

'तमोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं विकारस्तत्र यो भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तमीश्वरोऽधिदैवतम्॥'

अज्ञान अध्यात्म है, उसकी वृत्ति अधिभूत है, ईश्वर अधिदैवत है॥ पांच प्राण अपंचीकृत पांचों भूतके रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। चार अन्तःकरण सत्वगुण से उत्पन्न होते हैं॥ आकाशादि एक २ के रजोगुण से वाक, पाणि, पाद, गुदा, लिंग क्रमसे उत्पन्न होते हैं। सत्वांश से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण क्रमसे उत्पन्न होते हैं। और तमोगुण प्रधान प्रकृति (माया) से अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति होती है। पांच भूतों का परस्पर मेल विशेष को पञ्चीकरण कहते हैं; सो दो प्रकारसे लिखा है। एक प्रकार यह है कि सूक्ष्म तन्मात्रारूप पांचभूत की उत्पत्ति के बाद ईश्वर की इच्छासे एक २ भूतोंके सम २ दो २ भाग हुए, फिर एक २ भाग तो ज्यों का त्यों रहें, और एक २ भाग के चार २ सम २ भाग होकर अपने सजातीय बडे २ भागोंको छोड़ २ कर अन्य भूतों के बड़े २ भागोंमें एक २ मिल गये। दूसरा प्रकार है कि, एक २ भूतों के पांच २ तुल्य भाग करके, फिर एक २ पञ्चम २ भागके पांच २ सम भाग हुए, और वे सजातीय विजातीय सबके बड़े २ चार २ भागों में मिले। अथवा एक २ भूतों के सम २ पचीस २ भाग हुए, फिर इक्कीस २ भाग जुदा रहे, चार २ भाग विजातीय के एकइस २ भागों में एक २ मिले जिससे एक २ भूत पांच २ रूप हुए।

यद्यपि श्रुति में त्रिवृत्तकरण लिखा है कि पृथिवी जल तेज इनके दो २ सम २ भाग करके आधे २ भागों को फिर दो २ भाग कर के विजातीय के बड़े २ भागों में मिलाया गया, तथापि श्रुति को उपलक्षणरूप मानकर वेदान्त ग्रन्थों में पञ्चीकरण माना गया है।

यद्यपि कल्पतरु आदि में आकाश वायु में भी रूपवत्ता की आपत्ति से पञ्चीकरण नहीं मानते हैं । तथापि और लोक तेज आदिके अल्प भाग से रूपवत्ता का वारण करके पञ्चीकरण ही मानते हैं । और पञ्चीकरण से ही स्थूल सूक्ष्म शरीर संबन्धी एक २ भूतों के पांच २ प्रकृति (स्वभाव) हैं । जैसे आकाश के काम, क्रोध, शोक, मोह, भय; प्रकृतियाँ हैं । इन्हें कहिं तत्त्व और भाग भी कहते हैं । कहिं कटि, उदर, हृदय, कण्ठ, शिर; ये पांच आकाश के भाग लिखे हैं ॥ चलन, वचन, प्रसारण, गमन, आकुञ्चन, वायु के हैं । क्षुधा, तृषा, आलस्य, निन्द्रा, कान्ति तेज के हैं । शुक्र, शोणित (खून), लार, मूत्र वा पित्त, स्वेद जल के हैं । हाड़, मांस, नाडी, त्वक्, रोम पृथिवी के हैं । इनमें भी एक २ अपना भाग है, और चार २ अन्य भूतों के संबन्ध से हैं । जैसे आकाश में भय पृथिवीके, मोह जलके, क्रोध अग्निके, काम वायुके, और लोम अपना रूप है । और हाड़ पृथिवीका अपना रूप है । मांस नाडी त्वचा रोम; ये क्रम से जल तेज वायु आकाशके हैं । वीर्य जलका अपना रूप है । मूत्र (पित्त), स्वेद, लार, रक्त क्रमसे तेज वायु आकाश पृथिवी के हैं । क्षुधा अग्नि का अपना धर्म है । तृषा, निद्रा, कान्ति, आलस्य क्रमसे वायु आकाश जल पृथिवी के भाग हैं । धावन वायु का अपना धर्म है । प्रसारण, उत्क्रमण वा वलन, गमन, आकुञ्चन; ये क्रमसे आकाश तेज जल पृथिवी के हैं । शिर आकाश का अपना है । कण्ठ, हृदय, उदर, कटि; ये क्रमसे वायु तेज जल पृथिवी के हैं । इन ही पांच तत्त्व और प्रकृतियों का वर्णन, ' **पांच पचीसो दशहुं द्वार ।** ' वसन्त १२ इत्यादि से साहबने भी किया है ।

उक्त पञ्चीकृत भूतोंसे स्थूल ब्रह्माण्ड हुआ है । उसमें चौदह भुवन भोग्य पदार्थ स्थूल शरीरादि पञ्चीकृत भूतों के ही कार्य हैं । उनमें स्थूल देहको अन्नमय कोश कहते हैं । पांच प्राण कर्मेन्द्रिय के समुदाय को प्राणमय कोश कहते हैं । पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन के समुदाय को मनोमय कोश कहते हैं । पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धिका

समुदाय को विज्ञानमय कोश कहते हैं। कारण शरीरगत मोद प्रमोदादि वृत्ति सहित मलिन सत्त्वगुण को आनन्दमय कोश कहते हैं। जीवोंके ही समष्टि कोश ईश्वर का कोश है। जो वास्तविक स्वरूप को ढांपे उसे कोश कहते हैं। जीव वा ईश्वर के सत्यस्वरूप को अन्नमयादि ढांपते हैं, इससे कोश कहाते हैं। इन कोशों से जीवका सत्यस्वरूप के ढके रहने से जीव किसी कोश ही को अपना स्वरूप आत्मा मानता है। और ईश्वरका स्वरूप के ढके रहने से ईश्वर का वास्तविक स्वरुपको भी नहीं जानता है। यद्यपि ईश्वर को स्वरूप का अज्ञान नहीं रहता है। तथापि जीवको रहता है, इससे ईश्वर का स्वरूप को ढकना भी जीव की दृष्टि से है। और यह स्वरूप का ढकना भी जैसे कुण्डा से मणि आदि ढकता है वैसा नहीं है। किन्तु अविवेक से कोशों में आत्मबुद्धि से सत्य स्वरूप का ज्ञानको प्रतिबद्ध होना, उसे नहीं जानना ही ढपना है। और पूर्व वर्णित कोशों से आत्माके आच्छादित (ढपे) रहने से ही, तामसी मायोपाधिवाला जगत के उपादान कारण का, शुद्ध सात्विकवाला निमित्त कारण का, मलिन सत्त्ववाला जीव का, स्वरूप के ज्ञानदृष्टि से एक होते भी, निरतिशयानन्दस्वरूप होते भी, यह जीव अपने को ईश्वर से अत्यन्त भिन्न जन्मादि दुःख युक्त मानकर सुख मोक्षादि की प्राप्ति के लिये अनेकों कष्ट सहता है। अज्ञान से अनेकों कल्पना करता हुआ योनि आदि में भटकता है। तहाँ पांच कोशरूप तीनों देहसे भिन्न चेतन सत्य जन्मादि रहित साक्षी शुद्धात्मा को जानना, और ईश्वर के शुद्धात्मा को जानना ही पदार्थशोधन है। तत् त्वं पद का शुद्ध अर्थ साक्षीमात्र है, उसका शोधन एकता ज्ञान का अन्तरंग साधन है, और वह एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान मोक्ष का साधन है; ज्ञानसे अज्ञान की निवृत्ति होने पर स्वरूपानन्द सहज ही प्राप्त अनुभूत होता है। कर्तव्यादि बुद्धिजन्य कष्ट की निवृत्ति होती है। और अज्ञानादि की निवृत्ति अधिष्ठान आत्मा से भिन्न पदार्थरूप नहीं होती है; इससे ज्ञानी की सदा सत्याद्वैत-रूप से स्थिति होती है। इसलिये जैसे कल्पित सर्प और उसकी निवृत्ति

अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती, तैसे ही संसार और उसकी निवृत्ति को जानना चाहिये ॥

विशेषविचारः ॥२६॥

यहाँ यह विशेष विचार है कि महाप्रलय में चराचर संसार माया-विशिष्ट चेतन में लीन होता है। जैसे सुषुप्ति काल में कारण शरीर में मन बुद्धि इन्द्रिय लीन होते हैं। इससे प्रलय कालमें व्यष्टि अज्ञानादिरूप जीवके उपाधि सब ही माया की सत्ता से भिन्न प्रगट सत्तावाले नहीं रहते हैं। किन्तु मायाके अन्दर वासनारूप से रहते हैं। पूर्व सृष्टि के हिरण्य-गर्भ तौ प्रलय से पूर्वक्षण में अपरोक्ष ज्ञानयुक्त होकर मुक्त हो जाते हैं। इससे उनके अन्तःकरणादि वासनारूप से भी नहीं रहते हैं समूल नष्ट हो जाते हैं। सो हिरण्यगर्भ ब्रह्मादि त्रिमूर्ति से भिन्न माने गये हैं। इससे प्रलय के बाद उस हिरण्यगर्भ के पूर्ण उपासक हिरण्यगर्भ रूप से प्रगट होता है। श्रुति है कि,

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'

ऋग्० म० १० अ० १०। सू० १२१ । यजु० अ० १३।४

सब संसार से प्रथम हिरण्यगर्भ समवर्तत (जन्मे) और जातः (उत्पन्न होकर) भूतों के एकपति हुए। इस पृथिवी स्वर्ग का धारण किये इत्यादि।

'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।'

सो हिरण्यगर्भ ही प्रथम शरीरी और पुरुष कहाते हैं। इस शरीरी आदि शब्दों से हिरण्यगर्भ में जीवत्व की सिद्धि होती है। और सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भरूप से उत्पन्न जीवकी समष्टि बुद्धिरूप उपाधि ही ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है। इससे सिद्ध होता है कि माया उपाधिवाला ही

वस्तुतः ईश्वर रहते हैं। सूक्ष्म स्थूल उपाधिवाला नहीं होते। किन्तु हिरण्यगर्भ की उपासना दहरादि उपासना निष्काम सकाम शुभ कर्म करनेवाला जीव ही हिरण्यगर्भ रूप होता है। उसके प्रथम के व्यष्टि मलिन अज्ञानादि माया में लीन होकर माया में शक्त्याधान कराते हैं (अपूर्व महत्तत्त्व की उत्पत्ति का सामर्थ्य सिद्ध करते हैं) कि जिससे आकाशादि से भी श्रेष्ठ महत्तत्त्वरूप समष्टिबुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति होती है। और उस महत्तत्त्वरूप उपाधिवाला यद्यपि जीव रहता है, तथापि अन्य जीवों की अपेक्षा विलक्षण सामर्थ्यादि युक्त होनेसे ईश्वर का द्वितीय स्वरूप कहाता है, और महत्तत्त्व को ईश्वर का दूसरा शरीर कहा जाता है। सम्पूर्ण स्थूल में अभिमान होने पर हिरण्यगर्भ को ही विराट कहा जाता है। इससे स्थूल समष्टि प्रपञ्च भी जीव विशेष का ही उपाधि (देह) है, ईश्वर का उपाधि माया ही है, अन्य नहीं ॥ और उस मायी ईश्वर में भी जो इच्छा आदि का श्रुति में वर्णन है, सो केवल ईश्वर के स्वरूप में इच्छा आदि नहीं होते हैं। किन्तु माया में लीन हुए जीवों के उपाधि रहते हैं, उनमें क्षोभ द्वारा माया में कार्य के लिये उन्मुखता रूप क्षोभ प्रथम होता है। तब महत्तत्त्व का बीजरूप 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' यह माया की वृत्तिरूप इच्छा होती है, उससे अपञ्चीकृत भूतों की उत्पत्तिपूर्वक चराचर संसार की उत्पत्ति होती है। इससे माया में सब का लय दृष्टि वा शुद्ध चेतन दृष्टि से जीवेश्वर का अभेद है, भेदको मायिक मिथ्या होने से सत्य भेद का अभाव है। और जो जीव हिरण्यगर्भरूप हो जाता है, उसको उस दशा में अपने लिये तप आदि कोई कर्तव्य नहीं रहता है, अन्य जीवोंको रहता है, इससे हिरण्यगर्भ को ईश्वर कहा जाता है। और ब्रह्मा आदि में तप आदि का वर्णन है, इससे ये जीव कोटि में हैं। तौ भी अन्य जीवोंकी अपेक्षा श्रेष्ठता ब्रह्मा आदि में है, ये लोक महान् हैं। परन्तु खास ईश्वर ही नहीं है। इससे इनमें ईश्वरत्व की कल्पना श्रुतिविरुद्ध है, तथापि उपासना के लिये कल्पना बन सकती है, देवों में महती शक्तिवाले देव

प लोक हैं । और परमार्थ दृष्टि से ईश्वर हिरण्यगर्भ ब्रह्मादि सब जीव एकही स्वरूप हैं । इससे साहब ने कहा है कि,

'जीवरूप एक अन्तर वासा ।' रमैनी १ इत्यादि ॥

और अद्वैत कौस्तुभ ग्रन्थ में हिरण्यगर्भ विराट के जन्मादि का वर्णनरूप श्रुति को वैराग्यार्थक कहा गया है कि, उनके जन्मादि सुनने से हिरण्यगर्भादि पद्से भी जीव को विराग होता है, इसलिये जन्मादि कहा गया है ॥ परन्तु इस वर्णन से उनमें जीवत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यथा ईश्वर में भी कामादि का वर्णन श्रुति से जीवत्व की प्राप्ति होगी । इससे सर्वज्ञत्वादि श्रुति से 'जैसे मायी में ईश्वरत्व सिद्ध होता है, तैसे ही अप्रतिहत ज्ञानादि श्रवण से हिरण्यगर्भादि में भी ईश्वरत्व अवश्य सिद्ध होता है । और जन्मादि का कथन वैराग्यार्थक है । और,

'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।' अ० २।३।१७

उत्पत्ति प्रकरण में अश्रुत होने से जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है । श्रुतियों से भी आत्मा नित्यही सिद्ध होता है । इस व्यास सूत्रके अनुसार जीवात्मा के जन्मादि का अभाव होते भी चराचर शरीर के मुख्य जन्मादि का जैसे जीव में गौण व्यवहार होता है, सो

'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद् व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।' १६

इस सूत्र से निरूपित है। तैसे ही हिरण्यगर्भादि के सूक्ष्म स्थूलोपाधि की उत्पत्ति से उनकी उत्पत्ति कही गई है, परन्तु आवरणयुक्त स्वरूप में परिच्छेद (भेद) का अभिमानित्वरूप जीवत्व इनमें नहीं है, उपाधि का संबन्ध मात्रसे यदि इनमें जीवत्व हो तो ब्रह्म में भी जीवत्वापत्ति होगी । और हिरण्यगर्भादि के उपासक हिरण्यगर्भादि को प्राप्त होते हैं, परन्तु सर्वथा तद्रूप नहीं होते । इस अद्वैत कौस्तुभ की रीतिसे 'हिरण्यगर्भ का उपासक से भिन्न ईश्वर का दूसरा स्वरूप समष्टि सूक्ष्म का अभिमानी

हिरण्यगर्भ माने जायँ, और उनमें जीवों से विलक्षण अभिमान माना जाय, अर्थात् जीवों के अदृष्टानुसार सत्ता संकल्प मात्र से स्थूल संसार की उत्पत्ति आदि के कर्तृत्वमात्र से अभिमानी कहा जायँ तौ भी कोई क्षति नहीं है ॥ और लोकवासी लोकविशेष में बसने आदि से जीव है, वा हिरण्यगर्भ का ही व्यक्त विशेषरूप हैं। उस हिरण्यगर्भ में भी सापेक्ष व्यापकता है, क्योंकि एकदेशी ईश्वर नहीं हो सकता, यह महात्माओं का सिद्धान्त है। सांख्ययोग मत में महत्तत्त्व को आकाशादि से श्रेष्ठ स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं। वेदान्तमें स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते हैं। किन्तु सूक्ष्मभूतों के कार्य कहते हैं, इससे सूक्ष्म से पर महत्तत्त्व नहीं है, सोई हिरण्यगर्भ की उपाधि है। इत्यादि भेद है।

कोई २ कहते हैं कि दिव्यलोक वैकुण्ठ सत्यलोक गोलोक सप्तम आकाशादि में ही ईश्वर रहते हैं। क्योंकि व्यापक मानने पर मल मूत्रादि में भी मानना होगा, इत्यादि। और कितने लोक इसी दोष से दिव्य लोक में ईश्वर को मान कर उनके ज्ञानगुण को व्यापक मानते हैं। परन्तु इसप्रकार ईश्वर को एकदेशी मानने वाले वेदोक्त असङ्गता को भूले हुए हैं। आकाशादि की असंगता भी उनके समझ में नहीं आई है। और यदि ईश्वर को असंग नहीं मानकर एकदेशी ईश्वर का ज्ञानगुण को व्यापक माना जाय, तो एक दोष तो है कि गुणी विना गुण नहीं रह सकता, सो प्रथम ही कहा गया है। और सदा सर्वज्ञ ईश्वर को सदा मल मूत्रादि दिखते रहना भी थोडी घृणा की बात नहीं है। इसीसे ससंग (लिप्त) ईश्वर को व्यापक मानना भी अति तुच्छ है। इससे व्यापक असंग ईश्वर है, यही बात ठीक है। और हीन मध्यमोत्तम भाव भी जीव की दृष्टि से है। ईश्वर की दृष्टि से तो नट की दृष्टि से इन्द्रजाल के समान संसार है। साहब ने कहा है कि,

'बाजी झूठ बाजीगर सांचा, साधुन की मति ऐसी।'

शब्द ९८ इत्यादि।

त्रिमूर्ति ब्रह्मादि में जीवत्व का प्रथम ही वर्णन हुआ है। इससे केवल शुद्ध चेतनात्मा ज्ञेय है। माया विशिष्ट ईश्वर उपास्य ध्येय हैं, ईश्वर से, नीचे कोटि के उपास्य, हिरण्यगर्भ हैं। ईश्वर और हिरण्यगर्भ के समान ही ज्ञानी गुरु भी उपास्य ध्येय हैं। विराट ब्रह्मादि की उपासना प्रतीकोपासना है, इससे ये भी उपास्य हैं। मूर्ति की उपासना इन तीनों कोटि से आगे होने से प्रतीकों का प्रतीक है। परन्तु त्राटक की नाईं चित्त की एकाग्रता का साधन हो सकता है। तथा किसीकी मूर्ति का सत्कार से जैसे वह मनुष्य प्रसन्न होता है; तैसे देवविशेष की प्रसन्नता का उपाय रूप है। परन्तु लोक तो प्राय: स्वार्थ साधन का उपायरूप मूर्ति को बना लेते हैं, और सत्य तत्त्व को समझते नहीं। इससे साहब ने कहा है कि, 'पढि गुणि भये कृतम के दासा।' (विप्रमतीसी)। उसका भाव है कि,

'प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम्॥
उत्तमं ब्रह्मसद्भावो मध्यमं ध्यानधारणा।
स्तुतिप्रार्थनाऽधमा ज्ञेया बाह्यपूजाऽधमाधमा॥'

इत्यादि अभियुक्त वचनों के अनुसार, प्रतिमा स्वल्पबुद्धि वाला के लिये है। समदर्शी को सर्वत्र ईश्वरात्म बुद्धि होती है। ब्रह्मरूप से स्थिति उत्तम है, अहंकारादि ध्यानधारणा मध्यम है। स्तुति प्रार्थनादि अधम है, मूर्तिपूजा आदि अधम से भी अधम है, इत्यादि। पढ विचार कर भी ईश्वर को एकदेशी और मूर्ति आदि कार्य को ही सत्य मान कर उसके दास मनुष्य हुये हैं, सो अनुचित है। जो समय अन्यत्र बिताते हैं, उसी समय में सत्संगादि करके आत्मलाभ करना उचित है इत्यादि। इसी आशय से श्रुति कहती है कि,

'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥' केन १।४

जो वाक् से कहा नहीं जाता, जिसके बल से वचन बोला जाता है, उसी ब्रह्म को तुम जानो; जिस अनात्म की लोक उपासना करते हैं, सो ब्रह्म नहीं है।

' 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्॥ निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।' श्वेता० ६।१८-१९

जो प्रथम ब्रह्मा की सृष्टि करता है। कला क्रिया दोषरहित मायारहित शान्त है।

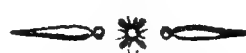
'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।' माण्डूक्य०

प्रपञ्चरहित शान्त कल्याणरूप अद्वैत चौथा पाद मानते हैं, सोई आत्मा विज्ञेय है॥ इससे विशिष्ट में उपास्यता शुद्ध में ज्ञेयता सिद्ध होती है। सो ज्ञेय सत् चित् आनन्द स्वरूप है, परन्तु उसमें अस्तित्व सत्त्व चित्त्वादि धर्म नहीं है, और सर्वात्मा होने से ज्ञानरूप वृत्ति का भी आत्मा है, इससे वृत्तिज्ञान का भी विषयरूप से ज्ञेय नहीं है; क्योंकि विषय-विषयी भाव भी भिन्न में ही हो सकता है। इससे असत जड़ जगत की अपेक्षा उसमें सत्त्व चित्त्वादि का आरोप होता है। और स्वयं प्रकाशाश्रित अविद्या का ज्ञानरूप वृत्तिसे अभाव होने पर आत्मा में ज्ञान विषयता का आरोप होता है। इसीसे श्रुति कहती है कि,

'अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥'
कठ० २।६।१३

मायिक असत्कार्योपाधिवाला ब्रह्म को अस्ति (सत्त्व) रूप से और तत्त्वभाव (सत्त्वासत्त्वरहित) रूप से जानना चाहिये। तहां प्रथम अस्तिरूप से जानने पर तत्त्वस्वरूप आप ही प्रगट होता है, सोई तत्त्वस्वरूप 'नेति नेति, अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है। और इसी निर्धर्मक निर्विशेष ब्रह्मात्मा की दृष्टि से साहब ने भी कहा है कि,

'सोइ कहते सोइ होहुगे, निकरि न बाहर आव।
हौं हजूर ठाढ कहते हौं, धोखे न जन्म गमाव॥'
र० सा० २४





तटस्थसाकारेश्वरविचारः ॥२७॥

इस पूर्व कही रीति से प्रत्यगभिन्न निर्धर्मा ब्रह्मात्मा की सिद्धि और धर्मधर्मी भेद में मिथ्यात्व की सिद्धि होने पर भी शुद्धाद्वैतवादी कहते हैं कि,

'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततः परम् ॥'

वाक्यसुधा० २०

अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप; ये पांच अंश संसार में हैं। उनमें तीन पहलेवाले ब्रह्मस्वरूप हैं, बाद के दो माया के हैं। इत्यादि स्वकथनानुसार भी अस्तित्वादि धर्मवाला ही ब्रह्म सिद्ध होता है इत्यादि। सो ठीक नहीं; क्योंकि अविद्यामय नाम रूप के अन्दर कल्पित धर्म हैं, इससे सापेक्ष मिथ्या धर्म से हानि नहीं है, सत्यधर्म रहित में अधर्मा कथन का तात्पर्य है। और,

'मायाऽऽभासेन जीवेशौ करोति ।' नृसिंहोत्तरता० खं० ९
'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।' बृह० २।५।१९

इत्यादि श्रुतियाँ जब ईश्वर जीवभाव को भी मायामय कहती हैं तब नाम रूप धर्मादि सत्य नहीं हो सकते। इसीसे—

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥'

ऋग्० मं० १० अ० ६ सू० ८१ यजु० अ० १७।१९

इस मन्त्र के बलसे ब्रह्म को साकार मानना, आनन्द को आकार कहना, आनन्दरूप आकार में भुजा आदि बताना अत्यन्त विरुद्ध है। क्योंकि साकार वस्तु अनित्य ही होती है। इसमे साकार ब्रह्म भी अनित्य ही होगा। अवयव का नाम आकार होता है, सो अवयव नित्य के नहीं हो सकते। आनन्द भी किसीका आकार नहीं हो सकता, इससे आनन्दस्वरूप अखण्ड ही ब्रह्म सत्य है; साकार नहीं। और,

'विशेषैः प्राकृतैः शून्यमप्राकृतविशेषवत्।' (सकलाचार्यमतसंग्रहे)

इत्यादि वचनों से प्राकृत विशेष (लौकिक आकारादि) से रहित अलौकिक आकारादि युक्त कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सब का मूल प्रकृति के विना आकार ही नहीं हो सकता है। और,

'स एको जालवानीशत ईशनीभिः।' श्वेताश्वतर० अ० ३।१

यहां 'विश्वतः' इत्यादि से पूर्वपठित इन श्रुतियों में मायारूप जालवाला एक ईश्वर का वर्णन है, कि जो ईश्वर ईशनी (अपनी शक्ति) से जगत् का ईशिता (स्वामी) होते हैं। इसमें अप्राकृत आकार का प्रसंग नहीं है। और 'विश्वतश्चक्षुः' इत्यादि का भी भाव है कि सब जीवों की आत्मा होने से सब प्राणी के चक्षु आदि परमेश्वर के ही हैं। इससे वह परमात्मा सब तरफ आंख मुख बाहु और पैरवाला है, और वह परमेश्वर ही मनुष्यों को 'बाहुभ्यां धमति' (हाथों से युक्त करता है), पक्षियों को पतत्र (पांखों) से युक्त करता है। अर्थात् ईश्वर की सत्ता शक्ति से ही सब प्राणी सब करणों से युक्त होते हैं। इससे ईश्वर में अलौकिक आकारादि की सिद्धि नहीं हो सकती। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि का भी उक्त ही भाव है। इस प्रकार मायी ईश्वर में अनन्त शक्तियों का बोध करानेवाली सब श्रुति-स्मृति हैं। सत्य शुद्ध ब्रह्म सबमें व्यापक है, स्वयं शिर आदि से रहित है, परन्तु माया से अनन्त शिर आदिवाला के तुल्य है, यह तात्पर्य है। ब्रह्म के सत्य शिर आदि में किसी श्रुति सत्स्मृति आदि का तात्पर्य नहीं है। अन्यथा कहिं सर्व तरफ अनन्त बाहु कहना, कहिं चार कहना, कहिं दो कहना, कहिं हजार कहना, इत्यादि एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध होने से सब वचन अप्रमाण होंगे। इससे वस्तुतः सब धर्म आकारादि रहित असंग चेतन ब्रह्म है, और धर्मादि माया कल्पित हैं। कल्पित धर्मोंद्वारा अकल्पित का बोध कराने में श्रुतिका तात्पर्य है। और 'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादि के अर्थ में जो यह लिखा है कि, 'इदं वागादि न विद्धि' इस

वाक् आदि को ब्रह्म नहीं जानो, किन्तु 'यदिदमुपासते तद् ब्रह्म विद्धि' किन्तु जिसकी उपासना की जाती है उस ब्रह्म को जानो। और 'यदिदमुपासते इदं न विद्धि' जिस लोकप्रसिद्ध की उपासना की जाती है इसको ब्रह्म नहीं जानो। इस अर्थ में जो दोष दिया है कि यदि जिसकी उपासना करते हैं, उसको ब्रह्म नहीं जानो। ऐसा श्रुति का भाव हो तो 'नेदं यदुपासते' ऐसा ही पाठ होना उचित था। और 'नेदं यदिदमुपासते' ऐसी श्रुति है। इसमें एक इदं शब्द उक्तार्थ पक्ष में व्यर्थ होता है इत्यादि। सो भी श्रुति-विरुद्ध ही है; क्योंकि श्रुति में ओंकार सूर्य मन संधि आदि की उपासना लिखी हुई है, और वे भिन्न २ उपास्य हैं, ब्रह्म नहीं हैं। इससे उपास्य को ही ब्रह्म कहना लोक वेद से विरुद्ध है। यदि कहा जाय कि वैदिक पुरुषों से उपास्य ब्रह्म है तो सो भी नहीं बन सकता; क्योंकि सब वैदिकमानी भी एक की उपासना नहीं करते हैं। और उक्त श्रुति में एक इदं शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थ को कहता है, दूसरा इदं शब्द आत्मभिन्न बाह्यार्थ को कहता है। इससे अर्थ है कि आत्मभिन्न लोकप्रसिद्ध जिस २ वस्तु की उपासना की जाती है, सो कोई ब्रह्म नहीं है, किन्तु अनिदं स्वरूप लौकिक दृष्टि से अप्रसिद्ध ब्रह्म है। दो इदं शब्द के रहने से यह अर्थ होता है, इससे कोई इदं शब्द व्यर्थ नहीं है। और किसीने यह अर्थ किया है कि, 'यदिदं शब्दादिकमुपासते इदं न ब्रह्म' जिन शब्दादिकों की उपासना (भोग-सेवन) करते हैं, सो ब्रह्म नहीं है, सो अर्थ अतिस्थूल है। शब्दादि में ब्रह्मता की आपत्ति के अभाव से निषेध करना व्यर्थ है। और 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इस श्रुति के व्याख्यान में किसीने लिखा है कि, परमेश्वर माया से बहुरूप मालूम होते हैं, इससे बहुरूपता के ज्ञान में माया कारण है, बहुरूपता में माया कारण नहीं है। सो लेख यदि इस तात्पर्य से हो कि ब्रह्मात्मा सत्य एक अखण्ड रूप है, इससे उसमें सत्य बहुरूपता हो नहीं सकती, किन्तु माया से प्रातिभासिक बहुरूपता है, तब तो कोई दोष नहीं है। और यदि यह तात्पर्य होवे कि प्रत्यक्ष ये बहुत

रूपवाले पदार्थ परमेश्वर के वास्तविक रूप हैं, और माया से बहुरूपता की प्रतीति होती है तो अत्यन्त अशुद्ध है; क्योंकि जो वस्तु जैसी रहती है उसकी वैसी ही प्रतीति प्रमाण से होती है, माया से नहीं। और यदि यह आशय हो कि ब्रह्म एक है, केवल बहुरूपता की प्रतीति माया से है, तो सो भी नहीं हो सकता; क्योंकि विषय विना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, और बहुरूपता की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। यदि विषय विना प्रत्यक्ष प्रतीति मानी जाय तो स्वप्न में भी सृष्टि के प्रतिपादक श्रुति सूत्र भाष्यादि से विरोध होगा। और वंध्यापुत्र आकाशपुष्पादि की भी प्रतीति होनी चाहिये। इससे जैसे ब्रह्म में माया से अनेकरूपता का ज्ञान होता है, तैसे ही कल्पित अनेक रूप भी माया से होते हैं, यह मानना उचित है। और इसीसे अर्थाध्यास ज्ञानाध्यास भेद से दो प्रकार के अध्यास सिद्ध होते हैं। और जो किसीने लिखा है कि माया अशुद्ध है, और प्रतिबिम्ब वा आभास शुद्ध में होता है इत्यादि। सो भी केवल आग्रह की बात है; क्योंकि माया में शुद्ध सत्त्वांश रहने से अशुद्धता में प्रमाण नहीं है। यदि कहा जाय कि अविद्या और माया एक ही वस्तु है और अविद्या में आवरण तथा विक्षेप शक्ति रहती है। तहां अशुद्धता विना आवरण नहीं हो सकता, इससे माया में अवश्य अशुद्धि है, तो सो भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि जैसे माया से अविद्या भिन्न नहीं है, तैसे ब्रह्मात्मा से भी अविद्या वा माया की भिन्न सत्ता नहीं, तो इससे क्या ब्रह्म अशुद्ध हो सकता है। यदि कहा जाय कि यद्यपि माया आदि की ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं है, तथापि मिथ्या स्वरूप माया आदि सत्य ब्रह्म से भिन्न हैं। इससे ब्रह्मात्मा में अशुद्धि की प्राप्ति नहीं होती, तो इसी प्रकार माया से अविद्या में भी कल्पित भेद के रहने से दोनों का एक स्वभाव नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि शुद्ध माया में आभास हो सकता है, परन्तु मलिन अविद्या में नहीं हो सकता, तो सो भी कहना अनुचित है; क्योंकि अविद्या के मलिन होते भी उसके आश्रित सत्त्वप्रधान अन्तःकरण के रहने से तथा अविद्या में

भी मलिन सत्त्वगुण के रहने से आभास वा प्रतिबिम्ब का कोई बाधक नहीं है, परन्तु सत्त्वगुण के मलिन रहने से जीव में अल्पज्ञता आदि रहते हैं, और ईश्वर में सर्वज्ञता आदि रहते हैं। और प्रत्यक्ष है कि पार्थिव कांचादि चाहे कितनाहुं शुद्ध होवें तौ भी सूर्यादि की अपेक्षा मलिन अशुद्ध ही रहते हैं, तौभी उनमें आभासादि होते हैं। इसी प्रकार अत्यन्त अशुद्ध घटादि में चिदाभास नहीं होता है, और उनकी अपेक्षा शुद्ध माया अविद्या अन्तःकरण में चिदाभास होता है, और ब्रह्म की सत्ता तो सर्वत्र ही प्रतिभासित होती है। और प्रपञ्च में मायिकत्व का अनङ्गीकार करके जो लिखा है कि,

'[1]आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते'

ईश्वर अपने आपको ही सुखी दुःखी पुण्यात्मा पापात्मा स्वर्गी नरकी आदि बनाये हैं, इससे विषमता निर्धृणता (क्रूरता) दोष ईश्वर में नहीं है, इत्यादि। सो भी अत्यन्त विरुद्ध बात है; क्योंकि अज्ञान मोहादि विना साधारण मनुष्य भी अपने लिये अनिष्ट की रचना नहीं करता है। फिर ईश्वर की तो बात ही क्या है। और यह भी कहा जा सकता है कि जो कोई अन्य को नहीं पीड़ित करे किन्तु अपने हाथ पैरादि को आप ही काटे तो उसे आत्मघाती मूर्ख से भिन्न क्या कहा जा सकता है। अपने लिये अहित रचनेवाला ईश्वर भी तो वैसा ही होगा, और यदि संसार सांसारिक व्यवहार को ईश्वर की क्रीड़ा कहें तो सो भी नहीं बन सकता; क्योंकि इस प्रकार मानने से चोरी व्यभिचारादि भी ईश्वर की क्रीड़ारूप होंगे। वस्तुतः आप्तकाम में लोकतुल्य क्रीड़ा बन भी नहीं सकती। और आत्म-सृष्टि मानकर भी कितने ग्रन्थों में ईश्वर जीव की उत्पत्ति नहीं मानकर अभिव्यक्ति मानी गई है। इससे वैषम्य नैर्घृण्य की आपत्ति और पूर्वापर विरोध भी इस मत में स्पष्ट ही है। और इसी प्रकार श्रुतिविरुद्ध अद्वैतादि

१ शुद्धाद्वैतमार्तण्ड श्लो० ४६

की निंदारूप पद्मपुराण का उत्तरखण्ड के वचन तथा गरुडपुराण के सम्पूर्ण अन्तिम खण्ड प्रक्षिप्तरूप हैं; क्योंकि निर्गुणतत्त्व संन्यासात्मैकतादि सत्तत्त्व का ही वहां अनादर किया गया है। यद्यपि शिवजी आदि के वचन रूप से पुराण में वाक्य लिखे गये हैं, तथापि वे वचन शिवजी आदि के नहीं हैं। यदि शिवजी आदि के ही वचन माने जायँ, तो भी पुराणवचन से उपनिषद् वचन बली है। और उपनिषदों में—

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।' 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि।' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्।'

इत्यादि वचनों से विराग होने पर संन्यास, आत्माभेद, जगत में मायिकत्वादि का प्रत्यक्ष ही प्रतिपादन है।

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' अ० ५।१५
'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।' अ० ७।१४

इत्यादि गीतावचनादि से भी आवरण का हेतु रूप ईश्वरीय गुणमयी माया की सिद्धि होती है। इससे सद्गुरु साहब ने तो साफ कहा है कि,

'माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा।'
शब्द ४

इससे निर्गुण ब्रह्मात्मवाद जगत मायामयत्ववाद ही अति प्रमाणिक श्रेयस्कर है। और शुद्धाद्वैतवाद में 'शुद्धं च तदद्वैतञ्च शुद्धाद्वैतम्' शुद्धाद्वैत शब्द के अर्थ करते हुए कृष्णदेव को शुद्ध अद्वैत कहते हैं, और माया वा अन्य किसी उपाधि शरीरादि का स्वीकार नहीं करते हैं, जीव को अज्ञानरूप भी कहते हैं। इससे इस मतमें बन्धमोक्षादि की व्यवस्था आदि नहीं होनेसे यह हेय है॥ विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि अद्वैतवाद में दूसरा चेतन नहीं होनेसे ब्रह्म ही अज्ञानी और उपाधि का सम्बन्धवाला है, इससे अद्वैतवाद ठीक नहीं है; किन्तु विशिष्टाद्वैत सत्य है। और, 'विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्।'

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ करते हैं। भाव है कि सूक्ष्म चिदचिद् (जडचेतन) से विशिष्ट (सहित) जो कारण और स्थूल चिदचिद् से विशिष्ट जो कार्य सो दोनों ईश्वर के शरीर हैं। इससे इनका ईश्वर के साथ संबन्ध है। और शरीर होने से ही इनका ईश्वर के साथ भेद का अभाव है, इत्यादि। और,

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्। यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्॥' बृहदा० ३।३०

जो पृथिवी आदि क अन्दर रहता है, जिसको पृथिवी आदि नहीं जानते, जिसके पृथिवी आदि शरीर हैं। तथा जो विज्ञान (जीव) में रहता है, जिसको विज्ञान नहीं जानता, जिसका विज्ञान शरीर है। इत्यादि श्रुतिके बलसे कहते हैं कि सब जड तथा चेतन जीव ईश्वर के शरीर हैं। सो भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि अद्वैतवाद में अनादि अविद्या के अधीन अनादि जीव हैं, और उनही में अज्ञता आदि हैं, स्वयं प्रकाश ब्रह्मात्मा में अज्ञता आदि नहीं हैं। और मिथ्या अनिर्वचनीय अविद्या वा माया का कल्पित मिथ्या संबन्ध से वस्तुतः असंग ब्रह्मात्मा का कुछ बिगड नहीं सकता। विशिष्टाद्वैत में ही जड़ शरीरवाला ईश्वर में जीव के समान सुखदुःख के भोग की प्राप्ति होती है, और "स्वयं शरीरी चेतन जीव को ईश्वर का शरीर कहना सर्वथा अनुचित है। यदि एक शरीरी दूसरे का शरीर हो, तो जीवों में भी परस्पर शरीर-शरीरीभाव की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि अन्तर्यामी ब्राह्मणों से जीवेश्वर में शरीर-शरीरीभाव सिद्ध होता है, तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि उक्त ब्राह्मण ग्रन्थ का यह भाव है कि जैसे शरीर को जीव जानता है और जीव को शरीर नहीं जानता, तैसे ही ईश्वर भी, सब पदार्थ में रहते हुए सब को जानते हैं, ईश्वर को कोई नहीं जानता। और ईश्वर शरीर की नाई सब के नियन्ता हैं, ईश्वर का नियन्ता कोई नहीं हैं, इससे

ये सब ईश्वर के शरीर तुल्य हैं। और वस्तुतः ये सब ईश्वर के शरीर हैं वा ब्रह्म इनसे विशिष्ट है, यह तात्पर्य उसका नहीं है। अन्यथा असंगता आदि नहीं सिद्ध हो सकेंगे। और जीव तो किसी प्रकार ईश्वर का शरीर हो नहीं सकता। यह स्वयं चेतन शरीरी है। और श्रुति में मन आदि के साहचर्य से विज्ञान शब्द का बुद्धि अर्थ है। और विज्ञानमय कोश में बुद्धि की प्रधानता से उसे विज्ञान शब्द का अर्थ होना युक्त भी है। इससे विज्ञान शब्द को उक्त श्रुति में जीव का वाचक होने में प्रमाण का अभाव से भी जीव ईश्वर का शरीर नहीं हो सकता। और अन्तर्यामी ब्राह्मण का केवल अन्तर्यामी का प्रतिपादन में तात्पर्य है। शरीर का प्रतिपादन में नहीं; क्योंकि 'योऽन्तरो यमयति तं वेत्थ' जो सब के अन्दर रहकर प्रेरणा नियमन करता है, उसे जानते हो; यह केवल अन्तर्यामी विषयक याज्ञवल्क्यजी के प्रति उद्दालक का प्रश्न है। और उसी प्रश्न का उत्तररूप 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि वाक्य अन्तर्यामी का प्रतिपादक बोधक हैं कि शरीर की नाईं सबका प्रेरक ईश्वर अन्तर्यामी हैं॥ सो प्रेरणा भी मायाद्वारा ही होती है। सो लिखा है कि,

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'
श्वेता० ६।८

उस सर्वात्मा ईश्वर को कार्य (देह) करण (इन्द्रिय) नहीं हैं। उसके तुल्य वा अधिक भी कोई नहीं दीखता है किन्तु अनादि मायारूप शक्ति है। सो विक्षेप (कार्य) शक्ति से विविध रूपवाली सुनी जाती है। और सबका प्रकाशनरूप ज्ञान क्रिया सन्निधि मात्र से नियमनरूप बलक्रिया परमेश्वर में स्वाभाविकी है। इससे वास्तविक शरीरादि का अभाव भी सिद्ध होता है। और,

'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'। ईशो० ८। 'साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च'। श्वेता० ६।११ 'निर्गुणो निरञ्जनम्॥'

इत्यादि अनेकों श्रुतियों से शरीर गुणादि का अत्यन्ताभाव शुद्ध ब्रह्मात्मा में सिद्ध होता है। इससे,

'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः।' छा० ३।१४।४

इत्यादि वर्णन मायिक स्वरूप का है। यद्यपि उक्त रीतिसे शरीरादि रहित ही सत्य तत्त्व सिद्ध होता है। तथापि विशिष्टाद्वैत मत में,

'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोस्थिसंभवा।'

उस ब्रह्म का मांसादिमय शरीरादि नहीं हैं; किन्तु दिव्य हैं: ऐसी मान्यता है। और संसार ईश्वर का शरीरादि को सत्य सिद्ध करने के लिये शुक्तिरजत को भी सत्य माना गया है। शुक्तिदेश में वर्तमान सत्य तैजस अवयव से उस रजत की उत्पत्ति मानी गई है। भ्रमस्थल में सर्वत्र सत्य ख्याति (प्रतीति) ही मानी गई है, सो सब अनुभव युक्ति से विरुद्ध ही है। क्योंकि शुक्तिदेश में सत्य रजत हो तो उसका बाध (मिथ्यात्वनिश्चय) नहीं होना चाहिये, और तृणादि युक्त रज को जलाने से जैसे रजत नहीं जलता, तैसे ही शुक्ति को जलाने पर वहां रजतावयव नहीं जलना चाहिये। इससे सत्यता आदि का कथन वाग्जाल मात्र है। उसका खंडन ब्रह्मविद्याभरण ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है। पूर्व वर्णित शुद्धाद्वैत, विष्णुस्वामी का मत है। और विशिष्टाद्वैत, रामानुजस्वामी का मत है। श्री निम्बादित्यजी भेदाभेदवादी हुए हैं। सो लिखे हैं कि, यदि एक विभु जीवात्मा है तो सब अन्तःकरणों में उसीका संबंध होनेसे, सब अन्तःकरण से अवच्छिन्न (व्यावर्त्तित) एक ही है। इससे सब अन्तःकरण से अवच्छिन्न आत्मा को सर्वज्ञ होना चाहिये। यदि आत्मा के एक २ देशों में अन्तःकरण के रहने से सब के सुखादि का अनुभव सबको नहीं होवे तो, किसी एक पुरुष के शिर पैरादि वृत्ति दुःखों का अनुसंधान ज्ञान नहीं होना चाहिये, इत्यादि। सो भी लेख ठीक नहीं है; क्योंकि केवल शुद्ध आत्मा में अनुसंधातृत्व सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व कर्तृत्वादि का अभाव है। वह

सामान्य साक्षीरूप से सब का प्रकाशक है, इससे सामान्य प्रकाशकता रूप सर्वज्ञता उसमें है ही। और शरीरेन्द्रिय मन आदि सहित भोक्ता सब उपाधि भेद से भिन्न २ हैं, इससे उनमें सर्वज्ञत्व की आपति नहीं है। और जिसके पैर में दुःख होता है सो उस दुःख को शिर में नहीं समझता है, न शिर वृत्ति को पैर में जानता है; किन्तु शिर पैर उपाधि भेद से भिन्न २ जानता है। तैसे ही साक्षी चेतन भी भिन्न २ शरीर अन्तःकरण वृत्ति दुःखों को भिन्न २ प्रकाशता है। और विशिष्ट कर्ता भोक्ता एक शरीर में एक रहता है, शरीर के अवयव वृत्ति दुःखों को भिन्न २ समझता है, इससे कोई दोष नहीं है। और उक्त मत में ज्ञानादि स्वरूप अणु परमेश्वराधीन मुक्त जीव माने गये हैं। और ज्ञानाश्रय अणु प्रति देह में भिन्न अनन्त बद्ध जीव माने गये हैं। और,

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा।' श्वेता० १।१२

इत्यादि वचनों के आधार से जीव, संसार, ईश्वर; ये तीन स्वरूप से भिन्न नित्य माने गये हैं। और,

'एकमेवाद्वितीयम्। तत्त्वमसि। आत्मैवेदं सर्वम्। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

इत्यादि वचनों के अनुसार अभेद भी माना गया है। तहां लिखा है कि, जीव और संसार की स्थिति प्रवृत्ति ईश्वराधीन है, तथा सब जीव जगत ईश्वर से व्याप्य हैं, ईश्वर व्यापक हैं, इससे सब ईश्वराभिन्न हैं, वस्तुतः एक स्वरूप नहीं है, इत्यादि। उस संप्रदाय के वचन हैं कि,

'प्रतिजीवं विभिन्ना स्यात्सत्या च भावरूपिणी।
अतस्मिंस्तद्धियो हेतुर्निदानं जीवसंसृतौ॥
सच्चिदानन्दरूपास्ते परिमाणेन चाणवः।
तदुत्क्रान्त्यादिवाक्यानामन्यथा स्याद्विरोधिता॥
एकदेशस्थदीपस्य प्रभा स्याद् व्यापिनी यथा।
तथा जीवगुणव्याप्तिस्ततः सर्वाङ्गभोजनम्॥

सब जीव में भिन्न सत्यभाव स्वभाववाली अविद्या है, सोई भ्रम और जन्मादि संसार का कारण है। सब जीव सच्चिदानन्द अणुस्वरूप हैं, अन्यथा 'आत्मा निष्क्रामति' इत्यादि निष्क्रमण बोधक श्रुतियों से विरोध होगा ॥ जैसे एक देशस्थ दीप की प्रभा व्यापक होती है, तैसे जीव के गुण भी व्यापक होते हैं; जिससे सब अंगों में भोग होता है, इत्यादि। तहां प्रथम तो भेदाभेद परस्पर विरुद्ध मानना असंगत है। और ज्ञानादि स्वरूप जीव का ज्ञानादि स्वरूप ईश्वर से उपाधि विना भेद नहीं हो सकता। यदि भेद हो तो अखण्ड विभु चेतन ईश्वर के अन्दर जीव की स्थिति नहीं बन सकती, सो प्रथम ही कहा गया है। और श्रुतिसिद्ध माया अविद्या अन्तःकरण आभासादि के कारण भेद की और स्वरूप से अभेद की उपपत्ति होते भी सत्य भेद मानना आग्रह मात्र है। और 'नाऽभावो विद्यते सतः' सत्य का अभाव नहीं होता, इस गीता अ० २।१६ के अनुसार जीवगत सत्य अविद्या तथा संसार की किसी प्रकार निवृत्ति नहीं हो सकती; इससे इस मत में मोक्ष के लिये यत्नादि व्यर्थ होंगे। तिससे अविद्या आदि को सत्य कहना युक्त नहीं है। और आत्मा के विभु रहते भी साभासान्तःकरणादि का उत्क्रमण होता है। पञ्चकोश प्रकरण में स्थूल शरीरादि में भी आत्म-शब्द का प्रयोग श्रुति में किया गया है। इससे उत्क्रमण बोधक वाक्य में साभासान्तःकरणादि विशिष्ट ही आत्मशब्द का अर्थ है। इससे उक्त वाक्य से शुद्ध आत्मा अणुरूप नहीं सिद्ध हो सकता है। गुणी बिना गुण नहीं रह सकता सो प्रथम कहा गया है। चन्दन बिन्दु को एक देश में लगाने से दूर तक जो ठंडी प्रतीत होती है, सो भी उसके जलमिश्रित सूक्ष्म अवयवों के फैलने से ही होती है। और अणुरूप निरवयव जीवों के अवयवों का फैलना नहीं बन सकता। इससे यह मत भी मुमुक्षु जिज्ञासु के लिये ठीक नहीं है ॥

और श्री मध्वाचार्य केवल द्वैतवादी हुए हैं। उनका कथन है कि, अन्तर्यामी ब्राह्मणादि से सिद्ध होता है कि ईश्वर शरीरी है, और जड चेतन

सब संसार ईश्वर का शरीर है। तहाँ शरीरशरीरी का वस्तुतः अभेद नहीं हो सकता; इससे जैसे मनुष्यादि विवेक विना अपने को शरीर से अभिन्न समझते हैं। और विवेक विचार से अपने को शरीर से भिन्न समझते हैं। तैसे ही अविवेक दृष्टि से ईश्वर के शरीररूप जीव जड के साथ ईश्वर के अभेद को श्रुति भी बोध कराती है, और विवेक दृष्टि से भेद का बोध कराती है। इससे वस्तुतः —

'जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैवं जडजीवभिदा तथा।
मिथश्च जड़भेदोऽयं प्रपञ्चो भेदपञ्चकः॥'

जीवेश्वर भेद, जडेश्वर भेद, जीवों का परस्पर भेद, जडों का परस्पर भेद, जीवजड का भेद; ये पांच भेद युक्त प्रपञ्च है, इत्यादि। सो भी श्रुति आदि से विरुद्ध है; क्योंकि उपक्रमोसंहारादि से आत्मबोधक सब श्रुतियों का अद्वैत सत्यात्मा में तात्पर्य सिद्ध होता है, तिसको स्थूल दृष्टि अविवेक से कहना और लोकसिद्ध मायिक द्वैत का अनुवाद को ही विवेक सिद्ध कहना सर्वथा अयुक्त है। वस्तुतः श्रुति का अद्वैत में तात्पर्य होना जीवों के लिये कल्याणकारक है; क्योंकि भेद ही रागद्वेषादि द्वारा प्रवृत्ति दु:खादि का कारण है, सो लोक वेदादि में प्रसिद्ध है। तौ भी चारों वैष्णव संप्रदाय का द्वैत में ही तात्पर्य है। शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत; ये पारिभाषिक नाममात्र का भेद हैं। यद्यपि यत्किञ्चित्प्रक्रियामात्र का ही परस्पर भेद है, तथापि परस्पर पूर्ण विवादग्रस्त हैं। और इन मतों में प्रायः वेदादि को गौणरूप से माना गया है। नारदपाञ्चरात्रादि की ही प्रधानता है, और उनका तात्पर्य के साथ श्रुति के तात्पर्य को किसी प्रकार मिला दिया गया है। और इन मतों में ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप अवान्तर-मुक्ति। तथा,

'न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' बृ० ४।४।६

इत्यादि श्रुतिसिद्ध प्राणानुत्क्रमणपूर्वक ब्रह्म में निर्बीजलय रूप परम मुक्ति; ये दो भेद नहीं माने गये हैं। किन्तु,

'समीपत्वं च सारूप्यं सलोकत्वं हरेः सदा।
सायुज्यं च हरेः सर्वाः स्युरनावृत्तिलक्षणाः॥'

किसी स्वरूप से रूपविशेषवाला हरि के पास में प्राप्त होना सामीप्य मुक्ति, और हरि के लोक से किसी अन्य लोक में भी चतुर्भुजादि रूप से रहना सारूप्य मुक्ति, हरि के लोक में ही प्राप्त हो जाना सालोक्य मुक्ति और हरि के शरीर में लीन हो जाना रूप सायुज्य मुक्ति; ये चार मुक्ति मानी गई हैं। और जैसे वृक्ष में लीन पक्षियों वृक्ष से भिन्न ही रहते हैं, तैसे ही सायुज्य में भी क्रीड़ा आदि करते हुए हरि में मुक्त जीव रहते हैं। क्योंकि सुखरूप हो जाना कोई नहीं चाहता है किन्तु सुख चाहता है; इससे मुक्त जीव सुखरूप वा हरिरूप नहीं होकर आनन्द भोगते हैं, इत्यादि मन्तव्य हैं। सम्प्रदाय भेद से वर्णन में कुछ भेद रहता है, परन्तु मोक्ष में विशेष भेद इन मतों में नहीं है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति' इत्यादि के भाव बताते हैं कि, किसी को इसी लोक में मुक्ति (सारूप्यादि की प्राप्ति) हो जाती है, इत्यादि। और भविष्यपु० प्रतिसर्गप० अ० ७।२६-२७ में लिखा है कि,

'मोक्षश्चतुर्विधो विप्र सालोक्यं तपसोद्भवम्।
सामीप्यं भक्तितो जातं सारूप्यं ध्यानसम्भवम्॥
सायुज्यं ज्ञानतो ज्ञेयं तेषां स्वामी परः पुमान्।
द्विगुणो द्विगुणो ज्ञेय आनन्दो मोक्षिणां क्रमात्॥'

सारूप्यादिरूप मोक्ष तप भक्ति ध्यान ज्ञान से होते हैं। उन में उत्तर २ द्विगुण २ अधिक आनन्द मिलता है। इसी प्रक्रिया को कुछ हेरफेर से चारों सम्प्रदाय में माना गया है, और प्रायः चारों सम्प्रदाय का अद्वैतवाद ही पर आक्रमण है। श्रुतिसिद्ध अद्वैत सत्यात्मा का संसार मिथ्यात्व

का चारों मत में अस्वीकार है। भेदभक्ति मात्र का विशेष विधान है। कोई २ नवीन ग्रन्थकार माया को सादि मानकर कहते हैं कि, कब माया उत्पन्न हुई इस बात का पता नहीं लगने से उसको अनादि कहा गया है। परन्तु इस मत में सादि माया के अधीन सादि संसार होने से अकृताभ्यागम कृतनाशादि दोष हैं, इससे ये सब कल्पना व्यर्थ हैं।

बहुत लोक पृथिवी आदि को स्वरूप से अनादि मान कर जगतकर्ता ईश्वर वा मायाशक्ति प्रकृति का स्वीकार नहीं करते हैं, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि सावयव सक्रिय वस्तु अनादि नहीं हो सकती किन्तु शरीरादि के तुल्य कार्य ही हो सकती है। इससे इन का कर्ता शक्तिमान् अवश्य है। सो भी एक स्वतन्त्र है, स्थूलता रहित है। इसीसे साहब ने कहा है कि,

'जिहि रखेहु अनुमान कै, स्थूल नहीं अस्थूल।' रमैनी सा० ७५
'एक समाना सकलमें, सकल समाना ताहि।' साखी २६९

संकल्पादि से सृष्टि आदि में समर्थ एक ईश्वर के अधीन ही प्रजापति आदि भी अपने २ अधिकार के कार्य करते हैं। श्रुति कहती है कि,

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।' कठ० २।६।३
इस सर्वेश्वर के भय से अग्नि सूर्य तपते हैं, इत्यादि। साहब ने कहा है कि,

'ब्रह्मा को दीन्हा ब्रह्मण्डा।' रमनी ७ इत्यादि।

इस पृथिवी आदि रूप जगत में प्रवाहरूप से अनादिता श्रुतियुक्ति से सिद्ध भी है; परन्तु स्वरूप से अनादिता नहीं है। तौ भी क्षणिकता आदि नहीं है सो अन्यत्र विस्तार से निरूपित है॥

७'गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः।' अ० ४।१।२१

नित्य ज्ञानेच्छाप्रयत्न रूप विशेषगुण संयोगादि रूप सामान्य गुणवाला जीव से अत्यन्त भिन्न आत्मा ईश्वर है। उनमें अणिमादि सिद्धि का हेतु धर्मभी संकल्पमात्र से होता है, इत्यादि न्यायभाष्य में लिखा है। ईश्वरानुमानादि

न्याय की प्रक्रिया कठिन है, सो यहाँ अनुपयुक्त भी है। और योगसूत्र है कि,

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' १।२४

अविद्या आदि रूप क्लेश, शुभाशुभ कर्म, सुखदुःखरूप विपाक (फल), वासनारूप आशय से रहित पुरुषविशेष ईश्वर हैं। सो असंग हैं। अन्य मत में असंग से सृष्टि का असंभव से ससंग तटस्थ ईश्वर माने गये हैं, सो सब तटस्थ ईश्वरवाद श्रुति से विरुद्ध ही है। इससे केवल उपासना आदि के लिये उपयुक्त है, ज्ञान के लिये नहीं॥

जीवात्मविचारः ॥२८॥

जीव का स्वरूप में भी बहुत विवाद है। चार्वाक (स्थूल देहात्मवादी) स्थूल देह को ही आत्मा मानते हैं। और गुणादि में मादकत्व नहीं रहते। जैसे मदिरा में मादकत्व शक्ति होती है, तैसे ही पृथिवी आदि में चेतनता नहीं रहती। देह में चेतनता होती है, इससे देह ही आत्मा है। 'स्थूलोऽहम्' मैं स्थूल हूं, इस प्रकार देह में अभिमानादि से भी यही आत्मा सिद्ध होता है। मेरा देह है, यह गौण प्रतीति है; इससे दुःख ही नरक है, सुखभोग स्वर्ग है, मरना मुक्ति है। इससे अन्य स्वर्ग नरकादि कुछ नहीं है, न पुण्य पापादि हैं। संसार में स्वाभाविक भेद है, कारणाधीन नहीं, इत्यादि एक चार्वाक का मंतव्य है॥

कोई कहते हैं कि जिन्हें शरीर में रहने निकलने से जीवन मरण होता है, और देखता हूं सुनता हूं इत्यादि व्यवहार जिन इन्द्रियों से होता है सो इन्द्रिय ही आत्मा जीव हैं। इन्द्रियों के नाना (अनेक) होनेसे कोई प्राण को आत्मा कहते हैं। मन के अधीन बन्धमोक्षादि के व्यवहार होनेसे कोई मन को आत्मा कहते हैं। ये सब चार्वाक के ही भेद विशेष हैं॥

२६

तहाँ शरीरात्मवादी गुडादि के दृष्टान्त से अचेतन भूतों से चेतन की उत्पत्ति मानी है सो अत्यन्त तुच्छ है; क्योंकि गुड़महुवा आदि में प्रथम से भी गरमी तमोगुण विशेष रहते ही हैं, सोई सडने आदि से और संयोग विशेष से अधिक हो जाते हैं। तैसे भूतों में जुदा २ चेतनता कुछ भी होती तो मेल से प्रगट होना बन सकता; परन्तु सो है नहीं। और जातिस्मर (अन्य जन्मों का स्मरण करनेवाले) योगी आदि से भी जन्मान्तर संबन्धी देह से भिन्न जीवात्मा की सिद्धि होती है, इससे कर्मादि के बोधक सब सत् शास्त्रादि प्रमाण हैं। जैसे प्रथम परिश्रम करके उपार्जित अन्नादि से तृप्ति सुखादि होते हैं, तैसे ही शुभ कर्म उपासना विवेक वैराग्य शमादि से भी स्वर्ग ज्ञान मोक्ष अक्षय तृप्ति की प्राप्ति अवश्य होती है, इससे विषयासक्त होकर स्वर्गापवर्ग से वञ्चित रहना अत्यन्त मूर्खता है॥ और 'चक्षुषा पश्यामि। मनसा जानामि॥' आंख से देखता हूं, मनसे जानता हूं इत्यादि प्रतीति (ज्ञान) सबको होती है। यदि इन्द्रिय वा मन आत्मा होता तो ऐसी प्रतीति नहीं होती, किन्तु 'चक्षुरहं जानामि, मनोहं जानामि' चक्षुरूप मैं वा मनरूप मैं जानता हूं, इत्यादि ज्ञान होना चाहिये। सो नहीं होता, इससे इन्द्रिय वा मन आत्मा नहीं हैं; किन्तु ज्ञान का करण हैं। और प्राण तो बाह्य वायु के समान जड़रूप प्रत्यक्ष ही है, इससे चेतन आत्मा नहीं हो सकता॥ और शरीरादि आत्मा होते तो घटादि की नाईं दृश्यविषय नहीं होते, क्योंकि द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता; वह स्वयंप्रकाश है, शरीरादि का प्रकाशक है। जैसे अत्यन्त कुशल नट भी अपने कंधे पर आप नहीं चढ़ सकता, तैसे ही अपना दृश्य आप नहीं हो सकता। इसीसे शास्त्र में कहा गया है कि किसी उपाधि द्वारा ही शुद्धात्मा की धीरे २ गुरु शास्त्र से प्राप्ति होती है, इससे दृश्य से भिन्न द्रष्टा ही आत्मा है॥

बुद्धमतविचारः ॥२९॥

और प्रत्यक्ष अनुमान दो प्रमाणवादी बौद्ध के चार भेद हैं। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक; ये चार नाम मत चलानेवाले शिष्य भेद से हैं। तहाँ माध्यमिक सर्वशून्यवादी हैं। वे सबका अभावरूप शून्य को ही सत्य आत्मा मानते हैं। और योगाचार बाह्यशून्यवादी हैं, क्योंकि बाहर के पृथिवी आदि को नहीं मानकर क्षणिक बुद्धि को ही सत्य आत्मा मानते हैं, और वह बुद्धि ही बाहर पृथिवी घटादिरूप से प्रतीत होती है। यह उनका सिद्धान्त है। और सौत्रान्तिक बाहर के पदार्थों को मान कर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं, किन्तु अनुमान से ज्ञान मानते हैं। क्योंकि उनके मत में क्षणिक विज्ञान रूप आत्मा तो स्वयंप्रकाश है। परन्तु बाहर के परमाणु प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं, घट पटादि के सम्पूर्ण अवयवों से नेत्र का संबंध नहीं हो सकता, इससे सन्मुख के कुछ भाग को देखकर अवयवी का अनुमान ही होता है। और वैभाषिक बाह्यप्रत्यक्षवादी हैं। शून्यवादी से भिन्न तीनों मत में क्षणिक बुद्धिरूप आत्मा माना गया है। परन्तु इन सब की भी समझ ठीक नहीं है। क्योंकि जड़ शून्य स्वयं तुच्छ है सो आत्मा नहीं हो सकता, शून्यादि को जानने प्रकाशनेवाला शून्यादि से भिन्न ही आत्मा हो सकता है, सो अनुभवसिद्ध है। विज्ञानवादी भी दो प्रकार के विज्ञान मानते हैं। तहां 'अहम्,' इस विज्ञान को आलय विज्ञान कहते हैं, सुषुप्ति में भी स्थिर मानते हैं। उसीको बुद्धि तथा आत्मा कहते हैं। और (अयं घटः) यह घट है, इत्यादि विज्ञान को प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं, मनरूप मानते हैं। तहां क्षणिक बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती। क्यों कि जो मैं घट को देखा था, सोई मैं पट को देखता हूं, इत्यादि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सबको होता है सो स्थिर आत्मा आदि विना नहीं हो सकता, और सर्वानुभवसिद्ध घटादिका प्रत्यक्ष को नहीं मानना भी महा अज्ञान है। सम्पूर्ण अवयवों

से नेत्र का संबन्ध नहीं होते भी घटत्वादि के अभिव्यञ्जक अवयवों के साथ नेत्रका संबन्ध से एक २ अवयवी (कार्य) रूप घटादि का प्रत्यक्ष ही होता है। तैसे ही (सोऽयं घटः) वही यह घट है, इत्यादि प्रत्यक्षों से घटादि में स्थिरता का अनुभव होता है, तिससे विरुद्ध क्षणिकत्व का स्वीकार अनुचित है। और कार्यकारित्व ही सत्य का लक्षण मान कर सब सत्य को सजातीय वा बिजातीय का जनक क्षणिक स्वरूप माना गया है, क्षणिक से भिन्न को असत कहा गया है, सो भी सर्वथा असंगत है; क्योंकि अकार्यकारी की असत्यता में कोई प्रमाण नहीं है। कार्यकारी वा अकार्यकारी जो पदार्थ प्रत्यक्षादि से सिद्ध होते हैं, सो मानने योग्य हैं। कारण के रहते भी सहायक के अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है सो प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिये जिस कारण से जिस समय कोई कार्य नहीं होता है, उस समय अकार्यकारी भी वह असत नहीं हो सकता है, प्रलयकालमें भी सत्य रहता ही है। और बुद्धमत का उपदेश है कि सब दुःखरूप ही है, ऐसी भावना करनी चाहिये। सो यदि सांसारिक विषय सुखादि का तात्पर्य से होवे तो ठीक ही है; क्योंकि विवेकी की दृष्टि से सब संसार दुःखरूप है, परन्तु सुख का स्वरूप ही नहीं है, इस दृष्टिसे होवे तो असंगत है। क्योंकि सुखकी ही अपेक्षासे दुःखकी भी सिद्धि (ज्ञान) होती है। यदि विषयजन्य सुखको दुःखग्रसित होनेसे दुःखभावनाका उपदेश हो, तौ भी दुःख संसर्गसे रहित आत्मस्वरूप सुख में दुःखभावना का उपदेश अत्यन्त असंगत है। यह मतका दिग्दर्शन है, विस्तार अन्यत्र है, सो यहाँ अनुपयुक्त है॥

जैनमतविचारः ॥३०॥

और यद्यपि,

'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः॥'

इस अमरकोश के अनुसार, बुद्ध और जिन एक ही व्यक्तिका नाम है, तथापि पूर्वोक्त मत बुद्धमत नामसे प्रसिद्ध है। और जिनमत नामसे प्रसिद्ध उससे अन्य ही है। तथाहि जैन मत में क्षणिक वा शून्य स्वरूप आत्मा नहीं माना जाता है, प्रत्युत (उलटा) कर्ता भोक्ता के भेदसे क्षणिकवादमें कृतहानाकृताभ्यागम दोष दिया जाता है। विज्ञान प्रवाहके एक होते भी, भिन्न २ प्रवाही (प्रवाहवृत्ति बुद्धि) से प्रवाह को भिन्न पदार्थ नहीं होनेसे कर्ता भोक्तामें भिन्नता हो जाती है, तथा साथ स्थिति विना वासनाका संक्रमादि के अभावसे स्मृति प्रत्यभिज्ञा आदिकी असिद्धि प्राप्त होती है। और रज्जुसर्पादिसे भी भयादिरूप अर्थक्रिया होनेसे अर्थक्रियाका हेतु क्षणिक सत्य नहीं हो सकता; इससे (उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्) उत्पत्ति नाश स्थितियुक्त सत् है। इत्यादि विस्तारपूर्वक परीक्षामुख ग्रन्थके व्याख्यान स्याद्वादमें क्षणिक विज्ञानवादका निषेधादि किया गया है, और स्थिर आत्माको शरीर प्रमाण माना गया है। परन्तु इस मतमें शरीरप्रमाण आत्माके होनेसे वह संकोच विकाशवाला भी अवश्य होगा, और जो पदार्थ संकोच विकाशवाला होता है सो अनित्य ही होता है, इससे यह मत भी ठीक नहीं; क्योंकि संकोच विकाशवाला अन्तःकरण ही इस मतमें भी आत्मा सिद्ध होता है; और उसकी अनित्यता से कृतहानादि दोष की भी प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि किसी स्थिर अवयव को आत्मा माननेसे यह दोष नहीं होगा, तो सो भी नहीं बन सकता; क्योंकि इस मतमें अनेकान्त मुख्य सिद्धान्त है। अर्थात् दीपादि अनित्य हैं, और आकाश वा आत्मादि नित्य हैं, इस प्रकारका एकान्त नियम जैनमतमें नहीं माना जाता है, किन्तु सब पदार्थ किसी रूपसे नित्य और किसी रूपसे अनित्य हैं, यह सिद्धान्त है। यदि एक नित्य अवयवको आत्मा माना जायगा तो अनेकान्त (अनियम) वाद नहीं रहेगा। और शरीर परिमाण आत्मा भी नहीं सिद्ध होगा। और यह अनेकान्तवाद भी अत्यन्त विरुद्ध है; क्योंकि नित्य अनित्य

शब्द और अर्थ दोनों सापेक्ष हैं। नित्यसे भिन्न अनित्य और अनित्यसे भिन्न नित्य होता है, सो मूर्ख विद्वान सब मानते हैं। सापेक्ष शब्दोंका निरपेक्ष एक वस्तुमें प्रयोग करना अनुचित है। दीपकी अपेक्षा से आकाश नित्य है, आकाशादि सब पदार्थोंकी अपेक्षा आत्मा नित्य है, आत्माकी अपेक्षा आकाशादि सब अनित्य हैं; क्योंकि आकाशकी भी श्रुतिमें उत्पत्ति लिखी हुई है। आत्मा किसी पदार्थकी अपेक्षा से भी अनित्य नहीं है; क्योंकि उत्पत्ति नाशवाला अनित्य होता है, और आत्माकी उत्पत्ति वा नाशमें कोई साक्षी वा प्रमाण नहीं है, इससे आत्मा सर्वापेक्षासे नित्य ही है, इससे नित्यता अनित्यतादिमें अनेकान्त मानना ठीक नहीं है, और जो जिसकी अपेक्षासे नित्य है सो उसी की अपेक्षासे अनित्य नहीं हो सकता, तथा जो जिसकी अपेक्षा अनित्य है सो उसकी अपेक्षा नित्य नहीं हो सकता, जो सबकी अपेक्षासे नित्य ही है सो किसी की अपेक्षासे अनित्य नहीं हो सकता है, जो किसी विशेष पदार्थकी अपेक्षा से नित्य होता है, उसमें नित्यता गौण रहती है। सर्वापेक्षा नित्यमें ही वास्तविक नित्यता रहती है। यदि ऐसी व्यवस्था न मानकर सबको नित्य और अनित्य माना जाय तो अनेकान्त भी एकान्त नहीं हो सकेगा। अर्थात् अनेकान्तता भी नियतरूपसे नहीं रहेगी। भाव है कि–

> आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु।
> तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापाः॥'
>
> (स्याद्वादमंजरी ५)

दीप से आकाश तक सब वस्तु तुल्य स्वभाववाली हैं, स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) की मुद्रा (मर्यादा) का भी उलंघन नहीं कर सकती, इससे कोई नित्य ही है, कोई अनित्य ही है, यह अन्यका प्रलाप है। इस कथनके अनुसार,

स्यादस्ति १, स्यान्नास्ति २, स्यादस्ति च नास्ति च ३,

स्यादवक्तव्यम् ४, स्यादस्ति चावक्तव्यं च ५, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च ६, स्यादस्ति च स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च ७

ये सात भंग सब पदार्थमें यहां माने जाते हैं, अर्थात् स्यात् अव्यय-का कथंचित् अर्थ है। इससे अर्थ है कि सब पदार्थ कथंचित् हैं (किसी रूप से हैं), कथंचित् नहीं हैं। भाव है कि घट घटत्वरूप से है, पटत्वरूप से नहीं है। क्रमसे घटत्व पटत्वकी घटमें विवक्षा (कहनेकी इच्छा) करने पर घट है भी और नहीं भी है। एक समय घटत्व पटत्व की विवक्षामें घट अवक्तव्य है। घटत्वकी विवक्षा और एक बार घटत्व पटत्वकी विवक्षामें स्यादस्ति चावक्तव्यं च यह भंग कहा जाता है। घटत्वाभाव और एक समय घटत्व पटत्वकी विवक्षामें 'स्यान्ना-चावक्तव्यं च' यह कहा जाता है। क्रमसे उभयविवक्षा युगपदुभय विवक्षा में, 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च' यह सप्तम भंग माना जाता है। और जीव, अजीव, दो पदार्थ; वा जीव, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल; ये पांच पदार्थ माने जाते हैं। तहाँ रूप रस स्पर्शवाला पदार्थ को पुद्गल कहते हैं; कोई सात वा नौ पदार्थ भी माने हैं। तहाँ सर्वत्र सप्तभंग न्याय मानते हैं, सो परस्पर विरुद्ध होनेसे सर्वथा असंगत है; क्योंकि जो पदार्थ सत्य नित्य है सो सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वरूप से सत्य ही है, जैसे प्रत्यगभिन्न (अन्तरात्मा से अभिन्न) ब्रह्म सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वरूप से है; क्योंकि सब पदार्थ में 'सन् घटः' घड़ा सत्य है इत्यादि रूपसे सत्ता की प्रतीति, तथा 'भाति घट.' घट भासता है इत्यादि रूप से प्रकाश की प्रतीति, तथा 'प्रियो घटः' घट प्रिय है इत्यादि रूप से प्रेम विषय आनन्द की प्रतीति होती है; सो तीनों ब्रह्म का स्वरूप है। सो सब पदार्थ रूप से सदा प्रकाशता है, वही सत्य है, घटादि के विशेष नाम रूप माया रचित अनिर्वचनीय हैं; इससे मिथ्या हैं, सो प्रथम भी कहा गया है। और जो वन्ध्यापुत्र नृशृङ्गादि नहीं हैं, सो सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्व रूप से नहीं है। इससे एक पदार्थ को अस्ति नास्ति कहना विरुद्ध

है। एकान्त मानना उचित है, अनेकान्त नहीं। और जो यह समझा है कि, घट घटत्व रूप से है पटत्व रूप से नहीं है, उसे यह विचारना चाहिये कि घट में पटत्व कभी रहता है कि नहीं, यदि रहता हो तब तो पटत्व रूप से भी घटका अभाव नहीं होगा, यदि नहीं रहता हो तो घटमें पटत्व का ही अभाव सिद्ध हुआ और होगा। तथा घट का स्वरूप से ही पटादि में अभाव सिद्ध होगा, पटत्व रूप से घटाभाव की सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि प्रतियोगी की प्रसिद्धि बिना अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती। और पटत्व रूपवाला घट की सिद्धि नहीं है, इससे पटत्व रूप से घटाभाव तुच्छ है। 'नृशृङ्गो नास्ति' मनुष्य का सिंग नहीं है इसका अर्थ है कि, मनुष्य में सिंग का संबन्ध नहीं है, इत्यादि। इससे तुच्छ का अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाय कि, यदि सत् वस्तु सर्वथा सर्वदा सर्वत्र है, तो उसकी प्राप्ति वास्ते उपदेश और यत्न करना व्यर्थ है, तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि दशम का स्वरूप के सर्वथा प्राप्त रहते भी उपदेश और यत्न की आवश्यकता होती है। अनेकान्तवाद में ही पांच सात वा नौ पदार्थ का नियम नहीं बन सकता, संख्या में भी अनेकान्तता की आपत्ति हो सकती है कि पांच हैं, और नहीं भी हैं, इत्यादि। इसी प्रकार प्रमाता प्रमाण प्रमेय का स्वरूप भी अनिश्चित रूपवाले होंगे। और, 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' यह सत् का लक्षण भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि विषय विना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकने से स्वप्न में पदार्थ की उत्पत्ति स्थिति और नाश होते हैं, इससे असत् में सत् के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। और सर्वथा सर्वदा सर्वत्र अबाध्यत्व रूप सत् का लक्षण सर्व दोष रहित है, तिस लक्षणवाला एक चेतन है; जैन के मान्य जीवादि सब उत्पत्ति आदिवाले माने गये हैं, इससे सब मिथ्या ही हैं। और जीवादि तथा घटादि को द्रव्य रूप से ध्रुव स्थिर मान कर ज्ञान सुखादि रूप से तथा घटादि रूप से अनित्य माना गया है। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीव; इन छौ रूपों से पदार्थ नित्य माने

गये हैं। और सुखदुःखादि घटपटादि रूप से अनित्य माने गये हैं, तथा सामान्य रहित (द्रव्य रहित) विशेष (पर्याय) का और विशेष रहित सामान्य का अभाव कहा गया है। अर्थात् सामान्य और विशेष उभयरूप पदार्थ माने गये हैं, सो भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि सुखदुःखादि विशेष हैं और जीव उनका सामान्य है तो उस जीव रूप सामान्य का सुखादि की नाईं धर्माधर्म भी विशेष ही सिद्ध होते हैं; क्योंकि जैसे सुखादि जीव में रहते हैं, तैसे धर्माधर्म भी रहते हैं, तो भी उन्हें द्रव्यरूप वा सामान्यरूप कहना नहीं बन सकता, और वस्तुतः जीव का विशेषरूप सुखदुःखादि को कहना भी अनुचित ही है। क्योंकि सुखादिवाला जीव सामान्य जीव की अपेक्षा विशेष कहा जा सकता है, जैसे सामान्य घट की अपेक्षा नील घट विशेष होता है; परन्तु सुखदुःखादि जीव के विशेष नहीं हो सकते हैं। क्योंकि मैं सुखादिवाला हूं ऐसी प्रतीति सबको होती है सुखदुःखरूप मैं हूं ऐसी प्रतीति नहीं होती है। और घटादि भी यदि सामान्य विशेष उभयरूप हैं, और मृत्तिकादि सामान्य रूप से नित्य हैं, सत्य हैं, तो घट के फूटने पर भी मिट्टी में घटबुद्धि होनी चाहिये। क्योंकि विशेष रूप का नाश होने पर भी सत्य स्वरूप से तो है ही। यदि कहा जाय कि आकार विशेष के रहते ही घटबुद्धि होती है, तो विशेष आकार ही घट सिद्ध होता है, मृत्तिका रूप नहीं; क्योंकि जिसमें जो बुद्धि कभी नहीं होती, उसको उस रूप होने में प्रमाण नहीं है। यदि कहा जाय कि मृत्तिका बिना घट की स्थिति नहीं होती, इससे घट मृत्तिका रूप है, तो सो भी नहीं बन सकता; क्योंकि आकाश के बिना भी घट की स्थिति नहीं होती, परन्तु घट आकाश रूप नहीं होता। और आकाश की नाईं घट की कल्पना में मृत्तिका भी आधार है, इसीसे मृत्तिका बिना घट की स्थिति नहीं होती है, तौ भी घट मृत्तिका रूप नहीं है, वह तो वाचारम्भणमात्र (कथन मात्र) है। मृत्तिका ही घट की अपेक्षा सत्य है। सो भी सावयव होने से कार्य है, असत्य ही है, निरवयव चेतन ही नित्य साक्षी

स्वरूप सत्य है; घटादि नहीं । और जीव भी वस्तुतः घट ज्ञानादि रूप नहीं हो जाता है, न पृथिवी घटादि रूप होती है, इससे जीव वा पृथिवी को ज्ञान घटादिरूप से अनित्य कहना नहीं बन सकता । क्योंकि दूध को दधिरूपता की नाईं यदि जीव ज्ञानरूप हो जाय, पृथिवी घटादि रूप हो जाय तो उसमें जीव वा पृथिवी बुद्धि नहीं होनी चाहिये । यदि कहा जाय कि सुवर्ण के कुण्डलादि परिणाम होने पर भी उसमें सुवर्ण बुद्धि होती है, तैसे ही पृथिवी आदि के परिणाम होने पर भी पृथिवी आदि बुद्धि हो सकती है, तो सो कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि सुवर्ण के ही भस्म में जैसे सुवर्णत्व का अभाव होता है, तैसे महाप्रलय में पृथिवी आदि सबका अभाव होने से द्रव्यरूप से भी नित्यता नहीं बन सकती । यदि कहा जाय कि सबका अभाव होने पर भी जो शेष रहता है, उसी रूप से सब पदार्थ नित्य हैं, तो सो कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि अन्य के रूप से अन्य नित्य नहीं हो सकता, घट आकाश रूप से नीरूप नहीं हो सकता; कारण रूप से रहने पर भी स्वरूप से नहीं रहने से तथा मायिक होनेसे, चेतन भिन्न पदार्थ अनित्य ही हैं, मिथ्या हैं, सत्य नहीं ।

और सामान्य विशेष सबका प्रकाशक साक्षी आप सामान्य विशेष विषय नहीं है । किन्तु सामान्य विशेष का द्रष्टा सामान्य विशेष से भिन्न है । इससे सामान्य रहित विशेष की वा विशेष रहित सामान्य की सिद्धि नहीं होने पर भी दोनों का प्रकाशक साक्षी की दोनों विना सिद्धि में कोई बाधा नहीं है । सो साक्षिता भी साक्ष्य की अपेक्षा से ही आत्मा में है; तथा अनात्मा की अपेक्षा से ही आत्मता का व्यवहार है । इससे स्वरूप में साक्षित्वादि भी कोई सत्य विशेष नहीं है । जैसे दीप में प्रकाश्य की अपेक्षा से प्रकाशकत्व है, स्वरूप से प्रकाश स्वरूप मात्र है । तैसे विषय की अपेक्षा साक्षित्व है, स्वरूप से स्वयं प्रकाश चेतन स्वरूप ही है । और कुतर्कद्वारा समवाय की असिद्धि बताकर जो जैन मत में कार्यता की असिद्धि संसार

में कही गयी है, सो भी सर्वथा अयुक्त है; क्योंकि समवाय की सिद्धि नहीं होने पर भी घटादि अवयवी (कार्य) का जो संबन्ध अपने अवयवों के साथ है सोई सम्बन्ध पृथिवी आदि का भी अपने अवयवों के साथ होने से इनमें कार्यत्व सावयवत्व द्वारा सकर्तृकत्व की भी सिद्धि होती है। और विचित्र जगत की नियम से वृत्ति प्रवृत्ति आदि से भी चेतन नियन्ता का अनुमान अवश्य होता है। इससे एक सर्वज्ञ जगत नियन्ता को नहीं मान कर अनेक सर्वज्ञादि मानना अयुक्त है। और वह ईश्वर जगत का सामान्य कारण हैं। इससे उसमें वैषम्यादि दोष नहीं है। जैसे जल पृथिवी आदि जड़ चेतन जग के कारण हैं, तौ भी वृक्ष शरीरादि रूप जगत की विचित्रता में बीज ही प्रधान कारण हैं, तैसे ही सत्ता प्रकाश संकल्पादि द्वारा सब जगत का सामान्य कारण ईश्वर हैं, और जीवों के अदृष्टादिक ही विशेष कारण हैं। इससे ईश्वर में किसी दोष की सम्भावना नहीं हो सकती।

यदि कहा जाय कि ईश्वर मानने की जरूरत क्या है, कर्म से सृष्टि हो सकती है, तो सो कहना ठीक नहीं; क्योंकि चेतन सहित जड़ कार्य का हेतु होता है। कुम्हार बिना दण्ड चक्रादि मात्र से घडा नहीं बनता है। यदि कहा जाय कि चेतन जीव कर्म का अधिष्ठाता बन सकता है, तो सो कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि जीव अनन्त हैं, उन में किस को कर्माधिष्ठाता कहा जाय। यदि कहा जाय कि अपने २ कर्मों के सब जीव अधिष्ठाता है ही; इससे कर्मों से सृष्टि आदि हो सकती है, तौ भी नहीं बन सकता; क्योंकि जीवों के अपने २ कर्मों से शरीरादि की उत्पत्ति तो हो सकती है, परन्तु उद्‌बुद्ध (प्रगट) कर्मवाले जीवों का संबन्ध से रहित वायु मेघादि का एक नियन्ता बिना उनकी नियमित प्रवृत्ति आदि नहीं हो सकते। और जीवों के एकदेशी होने से पृथिवी आदि पर रहने वाले जीवों का वायु मेघादि सबके साथ सर्वत्र संबन्ध के अभाव से जीव के अदृष्ट (पुण्य पाप) ता भी सबके

साथ संबन्ध का अभाव है। इससे जिन जीवों के सुखादि का हेतु सूर्य चन्द्रादि की नियत प्रवृत्ति आदि होते हैं तिन सब जीवों का सूर्यादि से संबन्ध बिना उनसे अधिष्ठित कर्मों द्वारा सूर्यादि की गति आदि हैं, यह कहना नहीं बन सकता। इससे अचिन्त्य शक्तिवाला ईश्वर से अधिष्ठित कर्मादि द्वारा ही सूर्यादि की नियत प्रवृत्ति आदि मानना उचित है। और केतु आदि के उदयादि के तथा ग्रहों की विशेष गति आदि को शुभाशुभ के सूचक होनेसे, कारीरी यागादि को वृष्टि आदि का हेतु होनेसे, सूर्यादि की गति को स्वाभाविक कहना नहीं बनता है। इससे संकल्पादि युक्त जीव चेतन की सत्ता से जैसे व्यष्टि प्राणादि में नियत क्रिया आदि होते हैं। और प्राण क्रिया आदि से अन्न पाचन रस रुधिर मांसादि वीर्य पर्यन्त धातु आदि की सिद्धि होती है, तैसे ही ईश्वरीय माया की वृत्तिरूप संकल्प से समष्टि प्राणरूप हिरण्यगर्भ के उपाधि में व्यापार द्वारा सम्पूर्ण सूक्ष्म स्थूल संसार की सिद्धि होती है। और बीज जलादि सापेक्ष भी अंकुर का कारण होता ही है, तैसे जीव कर्म सापेक्ष भी ईश्वर जगत कारण है। सापेक्षता से भी कारणता में कोई हानि नहीं है। और अहिंसा सत्यास्तेयादि का जो जैन मत में कथन है, सो सब वेद सन्तों का ही सिद्धान्त है, उसमें कोई विरोध नहीं है। और, 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इत्यादि वचनों के साथ जो 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत्' इत्यादि वचनों का विरोध कहा गया है, सो भी शास्त्र के अभिप्राय के अज्ञान से कहा गया है। क्योंकि अनादि अनन्त इस संसार में सब प्राणी मुमुक्षु वा वैराग्ययुक्त हो जायँ, ऐसा न कभी हुआ न हो सकता है। इस दशा में जो पुरुष मोक्षेच्छा वैराग्य रहित हैं, उनके लिये यदि कोई मार्ग नहीं कहा जाय तो वे लोक कामादि वश महा अनर्थ में प्रवृत्त हो जायेंगे। इससे सब प्राणी का हित चाहनेवाली सब मनुष्य को युक्ति से श्रेष्ठ मार्ग में ले जानेवाली श्रुतियां अनेकों प्रकार के उपाय बताई हैं। और यह भी साफ कह दीया है कि हिंसायुक्त कर्म कल्याण का हेतु नहीं है; किन्तु सुखाभास मात्र का हेतु है, सो विचार प्रथम ही हो चुका है॥

ईशमोक्षविशेषविचारः ॥३०॥

और, 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः ।' मुण्डक १।२।८

इस श्रुति से अविद्या को जीव का आश्रय कहा गया है ।

'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा ।' माण्डूक्य० ११

इत्यादि श्रुतियों में अज्ञान को प्राज्ञ की उपाधि कहा गया है । तथा,

'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति ।' नृसिंहोत्तरता० खं० ९

इस वचन से अविद्या को प्रकृति की अवस्था कही गई है । 'तम आसीत्' ऋग्वेद० इत्यादि वचनों से भावरूप अविद्या तम शब्द से कही गई है । इससे सिद्ध होता है कि कारण रूप अविद्या प्रकृति की अवस्था-रूप भाव स्वरूप वस्तु है । और,

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।'
पाद २।५

इस योग सूत्र के अनुसार अनित्यादि में नित्यादि ज्ञानरूप विपर्यय ज्ञान कार्यरूप अविद्या है, तौ भी श्रीरामानुजादि मतानुयायी ज्ञानाभाव मात्र को अविद्या कहते हैं । और एक ईश्वर के स्थान में पांच ईश्वर मानते हैं । अर्थात् पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चावतार; ये पांच स्वरूप ईश्वर के कहते हैं । वैकुण्ठवासी एक पर हैं । वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध व्यूहरूप हैं । मत्स्यादि अवतार विभवरूप हैं । सब शरीर के अन्दर अन्तर्यामी हैं । श्रीरङ्ग वेंकटादि अर्चावतार हैं । और जीव का स्वरूप को भी ज्ञान का आश्रय एकदेशी मानते हैं । और मुक्ति काल में सूर्य के किरणों द्वारा अग्नि लोकादि में जाकर विरजा नदी से पार होकर, दिव्य चतुर्भुज होकर अलंकृत होकर जीव वैकुण्ठ जाता है । वहाँ माला आदि सहित पांच सौ स्त्रियोंसे सेवित होता है । फिर पलंग पर स्थिर भगवान से मिलने पर उसको अनेकों सेवक टहलु मिलते हैं, आनन्द मिलता है,

मुक्त हो जाता है, फिर संसारमें नहीं आता, इत्यादि मन्तव्य हैं। और भेद, अभेद, भेदाभेद तीनोंको यथार्थ मानते हैं। सो सब प्रायः श्रुति-विरुद्ध है। अहिंसा आदि धर्म अविरुद्ध हैं। मुक्तिमें दूरगमन भेदाभेदादिमें सत्यता जैनमतके संस्कारसे सिद्ध हुए प्रतीत होते हैं। और एक२ मुक्तको पांचसौ स्त्री मिलना आदि मुसलमान मतसे आये के समान हैं। क्योंकि प्राचीन श्रुतियोंमें वास्तविक मुक्ति विषयक ऐसा वर्णन नहीं मिलता है।

यद्यपि हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) लोकका और उसके मार्गादिका वर्णन कौषीतकी आदि उपनिषदों में है, सो कुछ अंशमें उक्त वर्णनसे मिलता है, परन्तु सो कौषीतकीका वर्णन पर्यंक विद्यारूप उपासना विशेषमें है। उपासना में यथार्थ ही का वर्णन नहीं होता है, जैसे सूर्यका मधु आदि रूपसे द्युलोकादिका अग्निरूपसे वर्णन है, उसको यथार्थ सत्य मानना ठीक नहीं हो सकता। और जिस स्त्री आदि की वासना बन्धनका हेतु है, उसीको मोक्षमें बताकर वासनाको पुष्ट करना है, इत्यादि आशयसे सद्गुरु कबीर साहबने कहा है कि,

' वेद कितेब कीन्ह विस्तारा। फैलि गेल मन अगम अपारा। '

रमैनी ५

और बात जैसी हो, परन्तु इस मतमें जीवको ईश्वरका शरीर कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि बुद्धिको ही इस मतमें भी आत्मा समझा गया है। समष्टि बुद्धि ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है, यह बात प्रथम कही गई है। देश विशेषमें जाने आदिसे मुक्ति मानना,

' न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति। ' बृ० ४।४।६।

इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट विरुद्ध है। साहबने कहा है कि,

' समुझेकी मति एक है, जिन देखा सब ठौर।
कहहिं कबीर ये बीचके, बलकहिं और क और। '

साखी १८८

जो महात्मा सब स्थानमें सत्यको जाननेवाले हैं, उन सबकी एक प्रकारकी ही बुद्धि होती है, इससे वे रागद्वेषादिसे मुक्त रहते हैं। परन्तु जो बीचके हैं, मन बुद्धि आदिको आत्मा माननेसे सत्य तत्त्व तक नहीं पहुंचे हैं, सो अन्यके अन्य बलकते (कहते) हैं। श्रुति कहती है कि जो देव वा मनुष्य आत्मज्ञानी होते हैं, सो मुक्त होते हैं, मुक्तिमें कोई पक्षपात देशादिका नियम नहीं है ॥ अनाथदासजी तथा दादू दयालजी का कथन है कि,

'अनाथ सुज्ञानी कोटिको, निश्चय निज मति एक।
एक अज्ञानीके हिये, वर्तत मतो अनेक ॥
कबीर बिचारा कहि गया, बहुत भांति समुझाय।
दादू दुनियाँ बावरी, ताके संगि न जाय ॥
जे पहुचे ने कहि गये, तिनके एके बाति।
सबे सयाने एक मति, उनकी एके जाति ॥
जे पहुंचे ते पूछिये, तिनकी एके बात।
सब साधोंका एक मत, बीचके बारह बाट ॥'

यवनमतविचारः ॥३१॥

'आदमो नाम पुरुषः पत्नी हव्यवती तथा।
विष्णुकर्दमतो जातौ म्लेच्छवंशप्रवर्द्धनौ ॥
इन्द्रियाणि दमित्वा यो ह्यात्मध्यानपरायणः।
तस्मादादमनामासौ पत्नी• हव्यवती स्मृता ॥
विष्णुभक्ताग्निपूजा च ह्यहिंसा च तपो दमः।
धर्माण्येतानि मुनिभि म्लेच्छानां हि स्मृतानि वै ॥'
भविष्यपु० प० ३ अ० ४ । २९-३०

इत्यादि वचनोंके अनुसार विष्णुकर्दमनामा मुनिसे आदमजी की और उनकी स्त्री हव्यवती की उत्पत्ति हुई थी, और इन दोनोंसे ही

प्राचीन म्लेच्छ (यवन) जाति की सिद्धि हुई। और बाबा अदिम इन्द्रियोंका दमन करनेवाला हुए, आत्मध्यान परायण हुए, इससे आदम नाम हुआ, और उनसे लेकर मुहम्मद साहबसे कुछ पहले तक विष्णुभक्ति अग्निपूजा अहिंसा तप दम ये शुभ धर्म यवनोंके रहे, फिर बिगड़ी हुई अवस्थामें मुहम्मद साहब हुए, सो महाहिंसक पक्षपाती विषयासक्त महापुरुष हुए, तबसे मुसलमान नामवाला अत्यन्त नीच (हिंसक) यवन हो गये। सो उनके कुरानका हिन्दी अनुवाद और रघुनाथप्रसाद रचित कुरानादर्श देखनेसे पता लगता है। कुरान नवम पारा आयत प्रथम है कि,

'हे पैगम्बर मुसलमान सिपाही तुमसे लूटके मालका हुकम पूछते हैं। कह दो कि लूटका माल तो अल्लाह और पैगम्बरका है। तुम लोग खुदासे डरो और आपसमें मेल करो'

इन कथनोंसे सिद्ध होता है कि स्वार्थसाधनके लिये खुदाके बहाने लूट करनेका उपदेश मुसलमानोंको दिया गया है, जिससे अब भी यह नीचता नहीं जाती है। और पारा २ आयत १७४ है कि,

'उसने तो बस मरा हुआ जानवर और खून और सूअरका गोस्त और वह जानवर जिसको खुदा के सिवा किसी और के लिये नामजद किया जाय तुम पर हराम किया है'।

पारा २ आयत १९१ है कि,

'जो लोग तुमसे लडते हैं उनको जहाँ पावो कतल करदो'।

इन उपदेशोंसे निजायु से मरा खूनादिको अशुद्ध बताकर खुदाके नामसे मार कर खानेको बताया गया है। और मुसलमानी मतसे विरोध करनेवालों की कतलके लिये उपदेश दिया है। इसी प्रकार मुसलमानोंके पापकी क्षमा खुदा करता है, अन्यके नहीं करता, इत्यादि प्रपञ्चमय उपदेश है। तथा बार२ दूसरेकी हिंसाका उपदेश है, अपनेमें

मलाह रखने को फरमाया है, यही तो पशुपन है । धर्मात्मा उदार पुरुष तो सबकी भलाई चाहते हैं, रजोवीर्यजन्य अपवित्र मांस को सर्वथा त्यागते हैं । यद्यपि कुरान में यह भी लिखा है कि,

'पाप और जियादती में एक दूसरे का मददगार न बनो ! हे इमानवालों एक दूसरे का माल नाहक याने व्यर्थ मत खावो लेकिन राजमन्दी से तिजारत करो और आपस में मारकाट मत करो । अल्लाह तुम पर मिहर्वान है । और जो जुल्म से ऐसा करेगा हम उसको आग में झोंक देंगे । हे इमानवालों दुगुना चौगुना व्याज मत खावो ।' इत्यादि

इससे विचारमान सारग्राही दृष्टि से कुरान से भी सारका ग्रहण कर सकता है कि परप्राणी को पीड़ा न हो इस दृष्टिसे जहाँ व्याज भी अधिक खाना निषिद्ध है, वहाँ मांस खाना लूटना सहज ही निषिद्ध है । तथापि जो मुसलमान समझते हैं कि मुसलमानोंमें ही परस्पर मार काट लूटादि नहीं करना चाहिये, और अन्यके साथ करना चाहिये, सोई अनर्थ का जड़ है । साहबने कहा है कि,

'आपसमें दो लरि लरि मूये, मर्म काहु नहि जाना ।'

शब्द २१

यद्यपि मुसलमान शब्दका अर्थ इमानदार अर्थ होता है, इससे सच्चा हो परधन परस्त्री आदिकी इच्छा नहीं करे, सो किसी जातिमें हो तो वह इमानदार है, और जो हिंसक चोर डांकू झूठा है सो काफर है; परन्तु मुसलमान कहानेवाले ऐसा नहीं समझते, किन्तु वेश्याको कलमा पढाकर अपनाते हैं, कसाई लुटेरोंसे प्रायः प्रेम करते हैं, सच्चा हिन्दू आदिसे द्वेष करते हैं, इनका नाशके ही लिये उपाय करते हैं, परमेश्वर तेरी माया अद्भुत है । उक्त मुसलमानोंके मतमें जीव और ईश्वर दोनों एकदेशी माने गये हैं । क्योंकि दोनों में आने जाने आदिका वर्णन कुरानमें है, सो एकदेशीमें ही हो सकता है । इसी मन्तव्यसे सिद्ध होता है

कि प्राणको वा सूक्ष्मसमाजको ही मुसलमान आत्मा मानते हैं। इस मतमें सत्य आत्माका ज्ञानके अभावमें भी हिंसकता अशुचिता आदि कारण हैं।

अर्ब देशमें पहले मांस मद्यका खानपान नहीं था किन्तु बहुत मतभेद था, उनकी एकताकी इच्छासे मुहम्मद साहब मत चलाये, परन्तु लोकोंकी श्रद्धाके लिये निज रचित कुरानको खुदासे उतरा हुआ बताये इत्यादि॥ इनका धर्मके दो भाग हैं, एक इमान और दूसरा दीन। इमान छौ प्रकारका है। खुदामें १, पैगम्बरोंमें २, फरिस्तोंमें ३, कुरानमें ४, खुदाका अधिकारमें ५, न्यायके दिनोंमें ६, विश्वास रखना; इनके वहाँ इमान कहाता है। और दीन (धर्म) के चार अंग हैं, नमाज १, रोजा २, जकात (दान) ३, हज (तीर्थाटनविधि) ४; इन चारोंसे धर्म होता है। जो इन बातोंमें विश्वास करे उसीको सच्चा मुसलमान कहते हैं।

यद्यपि मुसलमान बहुत फिरिस्ते मानते हैं, तथापि चारको प्रधान कहते हैं। खुदाकी आज्ञाको पैगम्बरोंके यहाँ पहुंचावे उसको जिबरइल कहते हैं। यहूदी का मित्रको माईकेल कहते हैं। मरते समय प्राण हरनेवाला को इज्राईल या अजरईल कहते हैं। कयामत (पुण्यपाप का हिसाब) के दिन शंख बजाकर सबको खबर देनेवाला को इस्राफिल कहते हैं। इस मतके अनुसार जीव शरीरको त्यागकर तुरन्त न जन्म लेता है न कहिं जाता है; किन्तु जहाँ उसका शरीर गाड़ा जाता है वहाँ ही प्रलय काल तक घूमता रहता है, और उसके कर्मोंका भी तबतक कुछ फल नहीं मिलता है, किन्तु कयामतके दिन खुदा पुण्य पापका हिसाब करके पापीको सदाके लिये नरकमें और पुण्यात्माको सदाके लिये स्वर्गमें भेज देंगे, इत्यादि इनका मन्तव्य है। सो सब कठिन अज्ञान मोहमय है; क्योंकि जातिस्मर्ता सिद्ध योगी आदिका वृत्तान्तोंसे तथा विचारादिसे सिद्ध होता है कि वासना कर्मादिके अनुसार हीन मध्यमोत्तम गति को शीघ्र ही जीव पाते हैं। शोक है कि इनका घोर अज्ञान

को दूर करनेके लिये सिद्ध जातिस्मर योगी आदि भी नहीं समर्थ हुए। क्या ईश्वर और दिन सोये रहते हैं, वा अल्पज्ञ हैं कि एक दिन किताब देखकर हिसाब करेंगे ? इत्यादि विचारने की बात है।

मुहम्मद साहबसे प्रथम ही बाबा आदम ईसा मुसा आदि हुए थे, यह बात कुरानसे भी सिद्ध होती है। उनमें सबसे श्रेष्ठ आदमजी थे। अहिंसक शान्त दयालु थे। और सबसे क्रूर मुहम्मद साहब हुए। इससे हिंसादिमय मत चलाये कि जिससे सत्यात्मदृष्टि इन लोगोंसे दूर हो गई। यदि आज भी आदमजी के अनुयायी मुसलमान हों तो ज्ञानी शान्त हो सकते हैं। और मुसलमानादि मानते हैं कि आदमजी स्वर्गमें थे परन्तु अपनी सुधपनसे सैतान के बहकावमें पड़कर स्वर्गसे गिराये गये। यहाँ यह विचार करना चाहिये कि जहाँसे आदम ऐसे शुद्ध पुरुष गिराये गये वहाँ अन्य मुसलमान कब जा सकते वा ठहर सकते हैं ? इत्यादि। और आदम, नूह, इबराहीम, इसहाक, इसराइल, दाउद, सुलेमान, मुसा, ईसा, इत्यादि सब अपना ईश्वरसे मिलना बताते हैं, तो मतभेद क्यों हो गया; इत्यादि भी विचारने योग्य है। और मूसा ईसा मुहम्मदको इबराहिम की सन्तान होते भी इनके अनुयायी आप २ को क्यों श्रेष्ठ बताते हैं। मुसलमान सप्तम आकाशमें खुदाको मानते हैं, तो ईसाई आदि चौथे असमानमें मानते हैं। यदि सब ईश्वर से ज्ञान प्राप्त किये हों तो सबका सिद्धान्त एक होना चाहिये, सो नहीं है। इससे कल्पना ही सिद्ध होती है। और बाइबल में लिखा है कि,

'इबराहीम के प्रति उसका ईश्वर ने लिङ्ग की खलरी को काटना रूप खतनह (सुन्नत) का उपदेश दिया था, और कहा था कि, जो तुम्हारे वंश में आठ रोजके लडका होवें उनके भी सुन्नत नियम से करना तथा दत्तक खरीद लड़कों का भी सुन्नत करना, जो ऐसा नहीं करे उसे जातिबाह्य कर दिया जाये।' इत्यादि

और लिखा है कि खलरी काटना ही ईश्वर की नियम का चिन्ह है, इत्यादि। सो सब भी कल्पना ही मात्र है। इससे साहब ने कहा है कि,

'सुन्नत कराय तुरुक जो कहिये, औरत को का कहिये।' शब्द २५

'भूला बे अहमक नादाना। तुम हरदम रामहिं ना जाना।'

शब्द २४ इत्यादि

यद्यपि ईसा आदि त्याग का भी उपदेश दिये हैं। जैसे कि,

'ईसु कहते हैं कि, जिस किसीने मेरे नाम के लिये घरों वा भाइयों वा बहिनों या पिता वा माता वा स्त्री वा लड़कों वा भूमि को त्यागा है सो सौगुना पावेगा और अनन्त जीवन का अधिकारी होगा। यदि अपराध करने में तुम घूसे खावो और धीरज धरो तो कौनसा यश है, परन्तु यदि सुकर्म करने से तुम दुःख उठावो और धीरज धरो तो यह ईश्वर के आगे प्रशंसा के योग्य है। तुम अपने पड़ोसी पर अपने ही समान प्यार करो।' इत्यादि

तथापि स्वार्थ का संबन्ध बहुत वाक्य में प्रतीत होता है। और अहिंसा सर्वत्रात्मतुल्यता की दृष्टि इस मत में भी नहीं दीखती है। इस मत के विद्वान प्रायः सांसारिक सुख को ही सत्य समझते हैं, प्रायः पुनर्जन्म नहीं मानते हैं। थोडा पाप से बहुत दिनों तक नरक में जीवों का रहना मानते हैं, भारी पाप से अल्प पुण्य का बाध होना मानते हैं। कहते हैं कि स्वल्प पुण्य का फल नहीं मिलता है, इत्यादि। सो भारी पुण्य के लिये उत्तेजना के लिये और अल्प पाप से भी डरने के लिये बन सकती है। परन्तु ऐसा ही तत्त्व नहीं हो सकता। आत्मा को नित्य मानते हैं, परन्तु परलोक का विचार इस मत में नहीं है। बाइबल में लिखा है कि,

'ईश्वर ने आदम साहब के नथुनों में जीवन का श्वास फूंका और आदम जीता प्राण हुआ।'

इसके अनुसार प्राण ही आत्मा सिद्ध होता है। मुसलमान, ईसाई, मूसाई; सभी उस प्राणात्मा की हिंसा का निषेध करते हैं, इससे अहिंसा को धर्मरूप सब समझते हैं; परन्तु मनुष्य वा अपनी जाति मात्र की अहिंसा से ही अपने को अहिंसक समझते हैं। सब प्राणी को अपने तुल्य मान कर यथाशक्ति सबका हित चाहना और करना तथा अपने सुखदुःख के तुल्य सबके सुखदुःख को जानना तथा अपनी आत्मातुल्य व स्वरूप सब की आत्मा को मानना, यह तत्त्व इन लोकों से दूर है; इसका कारण भी हिंसादि दुष्ट प्रवृत्ति है। अभियुक्त वचन है कि,

'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥'

यह मेरा है, यह अन्य है; ऐसा विचार तुच्छ पुरुषों का होता है। श्रेष्ठ पुरुष के वसुधावासी सब कुटुम्ब हैं। साहब ने कहा है कि,

'सब घट मेरा प्राण है, चोट काहि पर डारों।' साखी ३४२

वस्तुतः, 'आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पश्यति।'

जो अपने समान सब में सुखदुःखादि देखता है सोई देखता है, अन्य मनुष्य अन्धा ही है। चाहे कितनाहूं विद्वान् हो। लौकिक उन्नति के शिखर के ऊपर चला गया हो; परन्तु उक्त अहिंसा समभावना आदि के विना मनुष्य अपने लिये अधिक से अधिक नरक का ही मार्ग बनाता है। साहब ने कहा है कि,

'पढ़े गुणे का कीजिये, अन्त बिलैया खाय।' चांचर १

अहिंसक दयालु सत्यवक्ता समदृष्टि पुरुष ही विद्या धन सम्पत्ति आदि पाकर परोपकार विवेकादि द्वारा लोक परलोक दोनों स्थान के मार्ग को सुधार सकता है। इससे सद्गुरु साहब से यही प्रार्थना है कि संसार में अहिंसा समदृष्टिता आदि का प्रदान करें कि जिससे पक्षपातादि नष्ट हो, आत्मानुभव हो। साहब ने कहा है कि,

'आपा तजै हरि भजै, नख शिख तजै विकार ।
जीवन ते निरवैरता, साधु मता है सार ॥
पक्षापक्षिक कारणे, जगतो जात भुलान ।
निरपक्षी ह्वै हरि भजै, सोई सन्त सुजान ॥'

साखी १९१-९२

मीमांसकमतविचारः ॥३२॥

मीमांसकवर श्री कुमारिलभट्टजी आदि के मत में आत्मा व्यापक और अहंप्रत्यय (ज्ञान) का विषय ज्ञानरूप वा ज्ञानाश्रय है। इससे जड़ चेतन दोनों स्वरूप है। और अहंप्रत्यय का विषय होते भी शरीरादि से भिन्न होनेसे नेत्रादि द्वारा अन्यसे जानने योग्य नहीं है, और संसारी अवस्था में कर्ता भोक्ता रहता है, मुक्तिकाल में ज्ञान रहित ज्ञान शक्तिवाला रहता है। सो मुक्ति भी कर्म से ही होती है, ज्ञान उसका अंग रूप से अपेक्षित रहता है। लिखा है कि,

'अहं वेद्मीत्यहंबुद्धिर्ज्ञातारमधिगच्छति ।
तत्र स्याज्ज्ञातृविज्ञानं तदधारोऽथवा पुमान् ॥
ज्ञातायां वाच्यशक्तायामात्मा केन प्रकाशते ।
आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम् ॥
आग्राह्य इति सामान्यात्सर्वैर्णोन प्रतीयते ।
आत्मज्योतिष्ट्ववचनात्परैरित्यवतिष्ठते ॥
ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान् ।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते ॥
यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात्प्रपद्यते ।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत् ॥

न च स्वसमवेतैव कर्तृभिः क्रियते क्रिया ।
क्रिया धात्वर्थमात्रं स्यादन्याधारेऽपि कर्तृता ॥
सत्ताज्ञानादिरूपाणां कर्ता तावत्स्वयं पुमान् ।
योऽपि भूतपरिस्पन्दस्तत्राधिष्ठानतो भवेत् ॥
तत्र शीतात्मतत्त्वानां भोगात्पूर्वक्रियाक्षये ।
उत्तरप्रचयाभावाद्देहो नोत्पद्यते पुनः ॥
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया ॥
प्रार्थ्यमानं फलं ज्ञानं नचानिच्छोर्भविष्यति ।
आत्मज्ञे चैतदस्तीति तज्ज्ञानमुपयुज्यते ॥' इत्यादि

मैं जानता हूं यह ज्ञान ज्ञाता को विषय करता है । तहाँ अहं ज्ञानका विषय ज्ञाता विज्ञानरूप है, वा विज्ञान के क्षणिक होने से प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, इससे विज्ञानवाला ज्ञाता आत्मा है । सुषुप्ति आदि में भी ज्ञान-शक्ति के आत्मा में रहने से ज्ञानाश्रयत्व आत्मामें सिद्ध होता है । इसीसे वाक के शान्त होने पर (अर्थप्रकाश के लिये असमर्थ होने पर) आत्मा का प्रकाश किस से होता है, इस प्रकार जनक जी के पूछने पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा कि, यह आत्मस्वरूप ज्योति उस समय आत्मा ही से प्रकाशित होता है । अहं प्रत्यय का विषय और आत्म-ज्योति होने ही से, यद्यपि, 'अग्राह्यो नहि गृह्यते' इस श्रुतिसे सब ज्ञान का अविषय आत्मा प्रतीत होता है, तथापि श्रुति का भाव है कि नेत्रादि द्वारा अन्य से आत्मा गृहीत (ज्ञात) नहीं होता; क्योंकि उस में रूपादि नहीं हैं । आत्मा रूपादिवाला देहादिसे भिन्न है । मैं स्थूल हूं, कृश हूं यह ज्ञान भ्रमरूप है । इसी प्रकार मन इन्द्रियादि से भी आत्मा भिन्न है । देखता हूं, मनन करता हूं इत्यादि ज्ञान भी भ्रमरूप ही होते हैं; क्योंकि मेरा देह, मेरी आंख, मेरा मन; इस प्रकार आत्मभिन्नता का भी ज्ञान होता है । केवल आत्माका संबंध से

देहादि में आत्मता का भ्रम होता है। यद्यपि आत्मा में भी मेरा आत्मा इस प्रकार भेद व्यवहार होता है, तथापि सो भेद कल्पित है, सत्य नहीं। इससे ज्ञानशक्ति स्वभाववाला नित्य विभु और देहान्तर में प्राप्ति योग्य आत्मा मानने योग्य है। सो चलना रूप क्रिया के विना ही अभिमान द्वारा अन्य शरीर से युक्त होता है॥ सक्रिय होने से आत्मा यजमानत्व को भी प्राप्त करता है। क्योंकि मेरे मत में कणाद मत की नाईं स्पन्द (चलना) ही क्रिया नहीं है, कर्ता से स्वसमवेत ही क्रिया नहीं होती है; क्योंकि धात्वर्थ मात्र को क्रिया कहते हैं, सो क्रिया कर्ता से अन्यमें भी उत्पन्न होती है। अर्थात् कर्ता स्वस्वरूपस्थित क्रिया ही का जनक नहीं होता है किन्तु कर्मस्थित क्रिया का भी जनक होता है, और सत्ता ज्ञानादिरूप क्रिया का पुरुष स्वयं कर्ता होता है। और भौतिक शरीर स्थित क्रिया का अधिष्ठान रूप से कर्ता होता है। और राजा आदि जैसे पुरोहित ऋत्विक द्वारा यागादि का कर्ता होता है, तैसेही आत्मा भी भूतादि द्वारा कर्ता होता है॥ तहाँ आत्मज्ञानी के पूर्वोपार्जित कर्मों का भोग से नाश होने पर अन्य धर्माधर्म की अनुत्पत्ति से उन्हें फिर देह नहीं होता है। क्योंकि कर्मजन्य फलभोगके ही लिये देह होता है, इससे कर्म के अभाव होने पर देहका कारण नहीं रह जाता है। इससे मोक्षार्थी को चाहिये कि काम्य निषिद्ध कर्म में नहीं प्रवृत्त होवे, किन्तु नित्य नैमित्तिक के अकरण जन्य पापकी निवृत्ति के लिये नित्य नैमित्तिक सदा करे॥ प्रार्थ्यमान (इच्छाका विषय) फल रूप जो ज्ञान (भोग जन्य सुख का अनुभव) सो इच्छा रहित को नहीं हो सकता। और आत्मज्ञानी भी इच्छा रहित होता है, इससे विषयजन्य सुखादिसे मुक्त हो जाता है, और विषय जन्य सुख की अनिच्छा का हेतु होनेसे ज्ञान भी मोक्ष में उपयोगी होता है। यह श्रीभट जी के वचनों का अर्थ है। परन्तु इस कथनसे आनन्दमय कोश ही इस मत में आत्मा सिद्ध होता है; क्योंकि आनन्दमय कोशमें ही सुषुप्ति कालमें अन्तःकरण लीन होकर रहता है, इससे अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञानका

जनक शक्तिवाला आनन्दमय कोष रहता है, और जडता उस के अज्ञान अंश में रहता है, कारण रूप से स्थिर सूक्ष्म अन्तःकरण में साक्षी का प्रकाश भी रहता है; इससे उस समय स्पष्ट अनुभव नहीं होने पर भी जागने पर स्मृति होती है। और,

'अगृह्यो नहि गृह्यते' बृ० ४-४-२२।

इत्यादि वचनों से ज्ञान का अविषय कर्मेन्द्रियसे ग्रहणादि का अविषय अविनाशी असंग बन्ध दुःख रहित अभय आत्माका उपदेश जनकजी के प्रति याज्ञवल्क्य जी ने किया, तब जनकजी ने इस आशय से पूछा कि, यदि आत्मा असंग है तो प्रकाशक किसी पदार्थ के साथ भी संग नहीं होने से उसका प्रकाश नहीं हो सकेगा तो फिर 'किं ज्योतिरयं पुरुषः' यह आत्मा कौन प्रकाशवाला रहता है। फिर याज्ञवल्क्य जी शुद्धात्मा को स्वयं प्रकाश समझाने के लिये संघातरूप आत्मा का सूर्यादि से प्रकाश बताकर अन्त में शुद्धात्मा को स्वयं प्रकाश कहा है, कि जिस समय सूर्यादिका अभाव रहता है, उस सुषुप्ति आदि में आत्मज्योति से ही स्थिति व्यवहार होता है; क्योंकि यह आत्मा हृदय के अन्दर सदा ज्योतिरूप पुरुष है। और एक में प्रकाश्य प्रकाशक भावरूप कर्म कर्तृभाव बन नहीं सकता। इससे स्वस्थित ज्ञान की विषयता में श्रुति का तात्पर्य नहीं है। अन्तःकरण की आत्माकार वृत्तिसे भी अज्ञानकृत आवरण का नाश होता है, उससे जन्य प्रकाश का विषय आत्मा नहीं होता। 'अहं वेद्मि' मैं जानता हूं, इस ज्ञान का विषय भी संघात अहंकार सहित ही होता है। इससे शुद्धात्मा को अहंप्रत्यय का विषय मानना नहीं बन सकता। दूसरी बात है कि जाग्रत आदि में जिसका सूर्यादि से प्रकाश होता है, उसी का सुषुप्ति आदि में आत्मज्योतिसे प्रकाशका वर्णन श्रुतिमें है, और 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुति के अनुसार सूर्यादि से आत्माका प्रकाश नहीं हो सकता है, इससे जाग्रत में सूर्यादि का प्रकाश के विषय संघात ही

स्वप्न सुषुप्ति में आत्मज्योति का विषय उक्त श्रुतिसे सिद्ध होता है, स्वयं-प्रकाश आत्मा प्रकाश का विषय नहीं हो सकता। और ऐसा मानने पर 'अगृह्यो नहि गृह्यते' इस का संकोच भी नहीं करना पड़ता है। और,

'विज्ञातारं आत्मानमरे केन विजानीयात्।' बृहदा० २-४-१४

'यस्मामतं तस्य मतम्।' केन २-३

इत्यादि श्रुतियों से भी विरोध नहीं होता है। शरीरादि में अनात्मत्व साधन तो सर्वथा उचित है। परन्तु आत्मा को कूटस्थ नहीं मानकर उसमें अवस्था से भेद कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अवस्था में अनित्यता से आत्मामें भी अनित्यता की प्राप्ति होती है। अनेक अवस्थावाला पदार्थ अनित्य ही होता है। इससे सत-चित-आनन्द स्वरूप कूटस्थ (निर्विकार) ही आत्मा को जानना चाहिये। इससे ज्ञानशक्तिवाला के जगह ज्ञानस्वरूप मानना उचित है। और केवल ज्ञानस्वरूप में अभिमान भी नहीं हो सकता। इसीसे समाधि आदि काल में निर्विशेष स्वरूप ही आत्मा ज्ञानी के अनुभव और श्रुति से सिद्ध होता है। इससे साभास अन्तःकरण रूप प्रमाता में ही क्रियादि द्वारा शरीरान्तर का ग्रहण मानना ठीक है। और यदि ज्ञान-शक्तिवाला विभु अनेकात्मा होता तो सब प्राणी को सब देह में सुख-दुःखादि का ज्ञान होता, सो नहीं होता है। इससे आत्मा में शरीरादि की प्रतीति तथा यजमानत्वादि की प्रतीति भ्रमरूप ही समझना चाहिये। और धात्वर्थ के क्रिया होने पर भी आत्मा का स्वरूप जो सत्ता ज्ञानादि है सो वस्तुतः क्रियारूप नहीं है, अर्थात् आत्मासे भिन्न सत्ता वा ज्ञान आत्मा में नहीं है कि जिसका कर्ता आत्मा हो और अपना स्वरूप का कर्ता आप हो ही नहीं सकता। इससे सत्ता ज्ञानादि के प्रति आत्मा को कर्ता कहना नहीं बन सकता। और राजा आदि ऋत्विक द्वारा जैसे याग-कर्ता होता है, तैसे भूतों द्वारा भी आत्मा में क्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि यजमान राजा आदि द्रव्य से ऋत्विक का क्रयन (कीनना)

रूप क्रिया का साक्षात् कर्ता होकर फिर ऋत्विक द्वारा यज्ञ का कर्ता होता है और आत्मा में कोई क्रिया किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। प्रत्युत (उलटा)

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः।' बृहदा० ४।३।१५

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।' श्वेत.श्व० अ० ६।१९

इत्यादि श्रुतियों से असंग आत्मा में कला क्रियादि का अभाव ही सिद्ध होता है। भ्रमसिद्ध गमनादि का अज्ञान काल में बोधक शास्त्र से भी विरोध नहीं होता है। जैसे घटादि की क्रिया आकाश में प्रतीत होती है, तैसे अन्तःकरणादि की क्रिया आत्मा में प्रतीत होती है, और माया का परिणाम रूप जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म आत्मा है, इससे क्रिया का भी अधिष्ठान होनेसे गमनादि की प्रतीति अज्ञान दशा में बन सकती है, तथा अज्ञानियों के लिये शास्त्र भी कह सकता है। भोग से सब कर्म की निवृत्ति कहना भी ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि संचित कर्म अनन्त रहते हैं, और अनन्त देश कालादि निमित्तों से भोग का हेतु होते हैं, ब्रह्महत्या आदि एक २ कर्म भी अनेक २ जन्मों के हेतु होते हैं, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। इससे उनका एक जन्म में भोग नहीं हो सकता। और भोगकाल में भी अनवधानता से अपराध हो सकता है, कर्म की अत्यन्त सूक्ष्म गति होनेसे सूक्ष्म अपराधों से बचना अशक्य है। नित्य नैमित्तिक कर्म से भी स्वर्ग की प्राप्ति लिखा है, इससे भी सब कर्म का अभाव कहना नहीं बन सकता। और इच्छा के अभाव से यदि कर्म का फल नहीं मिले, तो दुःख कोई नहीं चाहता, इससे किसीको दुःख नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि सुख दुःख दोनों की इच्छा का अभाव से सुख दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होती है, दुःख मात्र की इच्छाके अभाव से दुःख की निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि सांसारिक सुख भी दुःख से मिश्रित होता है। इससे सुख मात्र की इच्छावाला को भी दुःख अवश्य ही होता है। यदि सुख की इच्छा का भी त्याग किया जाय तो सुख दुःख दोनों का अभाव हो सकता है। तो सो भी कहना ठीक नहीं बन सकता। क्योंकि,

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

ब्रह्मवैवर्तपु० कृ० ज० ८५।३६

इत्यादि वचनों के अनुसार कल्पना होती है कि शुभ कर्म से शुभ-वासना और पुण्यद्वारा शुभ फल भोग शुभ प्रवृत्ति अवश्य होती है, और अशुभ कर्म से अशुभ वासना और पाप द्वारा अशुभ फलभोग अशुभ प्रवृत्ति अवश्य होती है। यदि इच्छा की निवृत्ति मात्र से कर्मफल का अभाव हो तो फलार्थक कर्म बोधक शास्त्रसे और लोकानुभव से भी विरोध होगा। और ज्ञान से धर्माधर्म की निवृत्ति का बोधक अभ्यासादि से वासना की निवृत्ति का बोधक शास्त्र के रहने से, ज्ञानी अभ्यासी का अनुभव के रहने से ज्ञानादि से कर्मादि की निवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं होता है। और मोक्षदशा में बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष धर्माधर्म संस्कार का अभाव मानकर ज्ञानशक्ति का स्वीकार भी ठीक नहीं; क्योंकि कार्य से शक्ति की कल्पना होती है। और मुक्त को किसी पदार्थ का ज्ञान होता नहीं, तो शक्ति के रहने में क्या प्रमाण है। यदि मोक्षदशा सुषुप्ति में आत्माको ज्ञानरूपता का प्रतिपादक शास्त्र को वहां शक्ति की सत्ता में प्रमाण कहा जाय, तो सो कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि ज्ञानरूपता का प्रतिपादक श्रुति से विषय से अनिरूपित (अजन्य) ज्ञानरूप आत्म सिद्ध होता है, ज्ञानशक्तिवाला नहीं। यदि मोक्ष में ज्ञानशक्ति विषय निरूपित हो तो वहां विषयज्ञान की प्राप्ति होगी। और सुषुप्ति में यदि जड़ वा मुक्त की नाईं ज्ञानशक्ति मात्र आत्मा हो तो, सुषुप्ति से उठना नहीं चाहिये। उठने पर भी अनुभूत वस्तु की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये। यदि संस्कार माना जाय तो ज्ञानशक्ति मात्र कहना वा जड़ कहना व्यर्थ है, क्योंकि संस्काररूप ज्ञान की सूक्ष्मावस्था रहने से वहां भी ज्ञानवाला ही आत्मा इस मत में सिद्ध होता है। और सो संस्काररूप ज्ञान तथा विषय जन्य जाग्रत आदि के ज्ञान ये सब मन बुद्धि के धर्म हैं। तथा काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, भय; ये सब भी मनके ही धर्म हैं। श्रुति है कि,

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।' बृहदा० १।५।३

इससे अनित्य वृत्तिरूप ज्ञान साभास अन्तःकरण का धर्म सिद्ध होता है। सत्यं ज्ञानम्, इत्यादि श्रुति के अनुसार नित्य ज्ञानस्वरूप सत्यात्मा सिद्ध होता है। सूर्य का स्वरूप प्रकाश की नाईं स्वरूप ज्ञान विषय निरूपित नहीं होता है॥



न्यायादिमतविचारः ॥३३॥

न्याय वैशेषिक प्रभाकर मतानुयायी लोक, स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च से भिन्न शून्यादि से भिन्न स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च शून्यादि को जाननेवाला अनेक आत्मा को मानते हैं। और न्याय वैशेषिक मत में नित्य ज्ञानेच्छा प्रयत्नवाला ईश्वर माने गये हैं। और न्यायादि तीनों मत में जीवात्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग; ये चौदह गुण माने गये हैं। इनमें बुद्धि आदि विशेष गुण कहे जाते हैं। और संख्या आदि सामान्य गुण कहे जाते हैं। ज्ञान को ही बुद्धि कहते हैं। न्याय मत में बुद्धि स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। और न्याय तथा वैशेषिक मत में प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजनादि सोलह पदार्थ के तत्त्वज्ञान से या द्रव्य गुण कर्म सामान्यादि का साधर्म्य वैधर्म्य सहित ज्ञान से दृष्ट अदृष्ट (प्रत्यक्ष परोक्ष) दोनों प्रकार का निःश्रेयस (हित कल्याण) की सिद्धि होती है। तहाँ प्रमाणादि के तत्त्वज्ञान से लौकिक विवेक ज्ञान सुखादि की प्राप्तिरूप निःश्रेयस होते हैं। और जिनके मिथ्या (भ्रम) ज्ञान से संसार (जन्मादि) होते हैं, सो अवश्य जानने योग्य, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, शब्दादिरूप इन्द्रियार्थ, ज्ञान, मन, प्रवृत्ति, राग द्वेष मोह दोष रूप, मरण जन्मरूप प्रेत्यभाव, सुख दुःख का ज्ञानरूप फल, पीड़ा, पीडा का हेतुरूप दुःख, मोक्ष; ये बारह श्रेष्ठ प्रमेय हैं। उनके तत्त्वज्ञान से अदृष्ट मोक्षरूप निःश्रेयस होता है। इसमें

भी यह क्रम है कि, दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञान में तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति होती है, फिर क्रम से दोषादि की निवृत्ति होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। और आत्मा आदि जो बारह प्रमेय हैं, उनमें मन तक छौ कारणरूप प्रमेय हैं, और अन्तिम छौ कार्यरूप हैं। इनके तत्त्वज्ञान होने ही से दुःख की और दुःख के हेतु मन सहित छौ इन्द्रियजन्य ज्ञान और ज्ञान के विषय शब्दादि तथा शरीर इन सबकी अत्यन्त निवृत्तिरूप मोक्ष होता है। न्याय वैशेषिक दोनों मत में आत्मा के सब विशेष गुण की निवृत्ति मोक्षकाल में मानी गई है। तहाँ विशेष गुणरूप जो ज्ञान है, शरीर के अन्दर आत्मा के साथ मन का संयोग से उस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, सो भी अनुरूप मन का संयोग पुरीतत नाडी से बाहर होवे, तब ज्ञान गुण होता है, और उस ज्ञान से इच्छा आदि होते हैं, पुरीतत के अन्दर मन के जाने पर सुषुप्ति होती है, ज्ञान नहीं होता। इसीसे सुषुप्ति में और मोक्ष में ज्ञान रहित जड स्वरूप आत्मा रहता है, मोक्षकाल में आत्मा में ज्ञान वा आनन्द कुछ भी नहीं रहता है, किन्तु दुःखों का अभाव रहता है, इसीसे मोक्ष में आनन्द का गौण व्यवहार होता है। और मोक्षकाल में दुःखाभावादि में,

'दुःखे नात्यन्तं विमुक्तश्चाति। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।'
श्वेता० ६।१५

इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं। मोक्षकाल में दुःख से अत्यन्त मुक्त होकर जीव रहता है। उस आत्मा को जान करके ही अतिमृत्यु (मुक्ति) पाता है। यह न्याय वैशेषिक मत का संक्षेप है। और प्रभाकर मत में मोक्षादि का विचार प्रायः भट्ट मत के तुल्य ही है। प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ ने स्थावर योनि में जीव नहीं माना है। और पार्थिव भिन्न तथा अयोनिज शरीर का निषेध किया है। और ज्ञान को स्वयंप्रकाश माना है। आत्मा का ज्ञानाश्रय रूप से प्रकाश कहा है। इससे घटादि ज्ञान से ही आत्मा का प्रकाश होता है, आत्मविषयक ज्ञान की जरूरत नही है,

उलटा कर्मकर्तृभाव विरोध की प्राप्ति होती है । और न्याय वैशेषिक मत में आत्मा में आत्म का ज्ञान माना गया है । तहाँ सुखादि विशेष गुणयुक्त को ज्ञान का कर्म, और ज्ञानयुक्त को ज्ञान का कर्ता कहा गया है । और,

'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।' १।१।२२

इस न्यायसूत्र का वात्स्यायन भाष्य तथा शालिकनाथकृत प्रकरण-पाञ्चिकादि ग्रन्थों में मोक्ष में सुखाभाव का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है कि मोक्ष के सुख में कोई प्रमाण नहीं है, इत्यादि ॥ इस पूर्ववर्णित न्याय वैशेषिक प्रभाकर मत में भी आनन्दमय कोश के अन्दरगत अज्ञान को ही आत्मा माना गया है । परन्तु आत्मा भी यदि स्वरूप से जड होवे तो जड-चेतन का विभाग विवेक भी होना कठिन है । तटस्थ ईश्वरवाद की अयुक्तता प्रथम ही कही गई है । अन्तःकरण के कार्य सुख दुःखादि को आत्मा के धर्म कहना भी ठीक नहीं है, श्रुति से असंग निर्गुण आत्मा का वर्णन प्रथम हो चुका है ॥ और यागादि सहित ज्ञान से दुःखादि की निवृत्ति का प्रतिपादक प्रशस्तपादादि के कथन भी ठीक नहीं हो सकने । क्योंकि अज्ञान से सिद्ध पदार्थ की ज्ञान से ही निवृत्ति होती है । अहिंसा सत्य शमदमादि योग क्षेम द्वारा ज्ञान के ही हेतु हैं, इससे ज्ञान के साथ इनकी स्थिति में कोई विरोध नहीं है, ज्ञान में भी एकात्मज्ञान ही श्रुति सन्त सम्मत होने से मुक्ति का हेतु है, भेद मायिक है, यह विचार प्रथम हो चुका है । और मन को संयोग से आत्मा में ज्ञान सुखादि की उत्पत्ति मानना श्रुतिविरुद्ध है, आत्मा नित्य-ज्ञानानन्द स्वरूप है, परन्तु सुषुप्ति काल में तमःप्रधान अविद्या में अन्तःकरण के लीन होने से ज्ञानादि स्वरूपता की अभिव्यक्ति नहीं होती है । व्यवहार में मन के चञ्चलादि रहने से आनन्दस्वरूपता की प्रतीति नहीं होती है ।

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म ।' बृहदा० ३।४।१ 'अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता ।' बृहदा० ३।७।२३ 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।' बृ० ३।९।२८ अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि ।' केनो० १।३ 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यद्विजानाति स भूमा ।' छा० ७।२४

जो अपरोक्ष ज्ञानरूप ब्रह्मस्वरूप है। दूसरे से अदृष्ट अश्रुत होकर सबका द्रष्टा श्रोता है। विज्ञनानन्द ब्रह्मरूप है। विदित अविदित से अन्य है। जिसमें अन्य देखा सुना नहीं जाता सो भेद रहित ब्रह्म है। इत्यादि श्रुतियों से उक्त अर्थ स्पष्ट सिद्ध होता है॥ और ब्रह्मात्मज्ञान में सब इच्छा की निवृत्ति की हेतुता का बोधक श्रुति है कि,

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥' बृ० ४।४।१२

अदृष्ट होते द्रष्टा स्वरूप आत्माको, अयमस्मि, यह मैं हूं इस प्रकार अपरोक्ष यदि जान ले तो किसकी इच्छा से किसकी प्राप्ति के लिये शरीर के ज्वर से शोकादि कर सकता है। अर्थात् आत्मज्ञानी सब इच्छा से रहित परमानन्दरूप हो जाता है॥ और, 'दु खेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति' इस श्रुति से मोक्ष में दुःखाभाव मात्र का बोध होने पर भी अन्य श्रुति आदि से सिद्ध आनन्दरूपता का अभाव उस श्रुति से नहीं सिद्ध हो सकता है।

'नामरूपे व्याकरवाणि।' छा० ६।३।२

इत्यादि श्रुति से नाम रूपात्मक जगत की उत्पत्ति आदि सिद्ध होने से, सचि ानन्द ब्रह्म से भिन्न सब अनित्य भी हैं, इससे अनेक पदार्थ को नित्य मानना भी उचित नहीं है॥ और स्थावर योनि में जीव को नहीं मानना भी भूल है; क्योंकि,

'गुरुं हूंकृत्य तूंकृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः॥' मनुः

गुरु को हूं तूं करके विप्रों को बकवाद से जीत करके मनुष्य श्मशान वृक्ष होता है, जिस पर कंक गीध पक्षी बैठते हैं, इत्यादि स्मृतियों में स्थावर में जीव सिद्ध होते हैं। इस स्मृति को निर्मूल बाधित कहना ही निर्मूल है; क्योंकि,

'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।' कठो१० २।५।७।

'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्।
अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति।'
छा० ६।११।१-२

इत्यादि अनेकों श्रुति उसके मूल हैं। कोई जीव शरीर ग्रहण के लिये स्थावर में प्राप्त होते हैं, अपने कर्म ज्ञान के अनुसार फल पाते हैं। महान् वृक्ष को काटने पर जीवित वृक्ष से रसादि चूते हैं, जब जीव उस की एक शाखा को छोड देता है, तब वह शाखा सूख जाती है, यह अर्थ है॥ और क्रियार्थक वेद मात्र को स्वार्थ में प्रमाण मानक, सिद्धार्थक वेद को स्वार्थ में अप्रमाण मानना भी अनुचित ही है; क्योंकि सब उपनिषद और लक्षण बोधक शब्दों से सिद्ध ही अर्थ का बोध होता है। इससे ये सब सिद्धार्थ में प्रमाण हैं।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।' अ० १।२।१।

वेद यज्ञादि क्रियार्थक हैं, इससे अक्रियार्थक अप्रमाण हैं, इस जैमिनि-सूत्र से भी क्रियाप्रकरण पठित वेदवाक्यों को क्रियार्थ विना अनर्थक अप्रमाण कहा गया है, इससे उपासना प्रकरण से भिन्न उपनिषदों को सिद्धार्थक मानने पर भी उस सूत्र से विरोध नहीं है, सो शारीरक भाष्यादि में प्रसिद्ध है। यदि उक्त सूत्रकार जैमिनि जी का तात्पर्य हो कि सम्पूर्ण वेद क्रियापरक ही है, तो सो भी शारीरक तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद से खण्डित है। लिखा है कि,

'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः।'

उपनिषद् जन्य आत्मज्ञान कर्म का अधिकार जनन (उत्पत्ति) द्वारा कर्म में उपयोगी है, यह मीमांसक का कहना ठीक नहीं; क्योंकि, अतः (इस ज्ञान से ही) मोक्ष का प्रतिपादन श्रुति करती है कि,

'तरति शोकमात्मवित्।' छां० ७।१।३।

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' मुण्ड० ३।२।९।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।' तैत्तिरीय० २।१।

'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।' छा० २।६।१५।

'सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति।' छा० ८।७।१।

'एतावदरे खल्वमृतत्वम्।' बृहदा० ४।५।१५।

आत्मज्ञानी सब शोक रहित हो जाता है। जो परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को पाता है। इससे कर्मादि से उसे प्राप्त करना नहीं रहता है। आचार्यवाला पुरुष ब्रह्मात्मा को जानता है, फिर जब तक प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति नहीं होती तभी तक विदेह मुक्ति में देर रहती है, फिर ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न हो जाता है। और ब्रह्मरूप होने ही से सर्वलोक और सब काम को वह प्राप्त कर लेता है। जो गुरु शास्त्रद्वारा उस आत्मा को जानकर खोजकर अपना आत्मस्वरूप से तथा अविषय स्वरूप से विचारादि द्वारा अपरोक्ष जानता है। इससे केवल ब्रह्मात्मज्ञानसे ही मोक्ष की सिद्धि से आत्मज्ञान को कर्म का अंग मानना निष्फल और निष्प्रमाणिक है, और यदि वेदान्त जन्य ज्ञान कर्माङ्ग होता तो (एतावदरे खल्वमृतत्वम्) इतना ही अमृतत्व है (अद्वैतात्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है) यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता था। यह उक्त सूत्र का भाव है। यदि कहा जाय कि ज्ञान से मोक्ष कहनेवाली श्रुति केवल ज्ञान की स्तुतिरूप है, और कर्तारूप कर्म के अंग का उपदेश द्वारा वेदान्त भी कर्माङ्ग ही का बोधन द्वारा प्रमाण है, स्वतन्त्र नहीं, तो सो कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि व्यासदेव ने लिखा है कि,

'अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।' ३।४।८

कर्ता भोक्ता संसारी जीव का अनुवाद करके उससे अधिक (असंसारी आत्मा का उपदेश वेदान्त करता है, इससे कर्माङ्ग कर्ता का बोधक हो

से नहीं प्रमाण हो सकता, किन्तु स्वतन्त्र प्रमाण है। और जनकादि ज्ञानियों की कर्म में प्रवृत्ति लोकसंग्रहार्थक हो सकती हैं, वा अज्ञान कालिक उन के यज्ञादि का श्रुति आदि में वर्णन हो सकता है। और,

'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि।' छां० ५।११।५।

यह श्रुति सोपाधिक वैश्वानर विद्या के प्रकरण में है।

'यदेव विद्यया करोति।' छा० १०।१।१।

इत्यादि उद्गीथविद्या प्रकरण में है। इससे सोपाधिक ब्रह्मज्ञान और उद्गीथ विद्या उन वचनों से कर्माङ्ग सिद्ध होते हैं। परन्तु शुद्धात्मा का ज्ञान कर्मांग नहीं हो सकता है। और,

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते।' बृहदा० ४।४।६।

इस श्रुति से भी ज्ञान कर्माङ्ग है, इस अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उस पुरुषको विद्या और कर्म दोनों समन्वारम्भ करते हैं, यह श्रुतिका सामान्य अर्थ है और विशेष विभागपूर्वक अर्थ है कि कर्म पुरुष को मुमुक्षुरूप आरम्भ (सिड़ी) करता है, और ज्ञान मुक्त स्वरूप का आरम्भ करता है, सो विशेष विभाग भी,

'इति नु कामयमानः। अथाकामयमानः।' बृहदा० ४।४।६।

इस श्रुति से ही सूचित किया गया है। और,

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत।' ईशो० २

यह श्रुति भी अज्ञ को कर्म की आज्ञा देती है कि कर्म करते ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिये इत्यादि। अथवा (न कर्म लिप्यते नरे) इस मन्त्र का अन्तिम भाग से सिद्ध होता है कि यह श्रुति ज्ञान की स्तुति करती है कि यदि ज्ञानी सौ वर्ष तक कर्म करते ही जीने की इच्छा करे तो भी उसके आत्मा में कर्म लिप्त नहीं होता है। इसी रीति से सफल सिद्ध अर्थ (क्रियाभिन्न अर्थ) का बोधक होने से उपनिषद् प्रमाणरूप हैं, और उस उपनिषद् से वृक्षादि में भी जीव की सिद्धि होती है, इससे मानना उचित है। और,

'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।' अ० १।४९।

इत्यादि मनुवचन इतिहासादि से सिद्ध होता है कि स्थावर योनि के जीव भी भीतर सूक्ष्म सुख दुःख के ज्ञान सहित होते हैं, इससे वृक्षादि भोगके आश्रय हैं। परन्तु कर्म की विचित्र गति होनेसे जन्मान्ध आदि की नाईं उन्हें नेत्रादि नहीं होते हैं; त्वक् मन आदि रहते हैं। और जैसे सर्प आंख से ही सुनता है, तैसे वृक्षादि पद से रस पीते हैं, और भीतर सूक्ष्म ज्ञान उन्हें मन से होता है, परन्तु अत्यन्त तामस देह होने से अन्तर ज्ञान भी स्पष्ट नहीं होता है, किन्तु मूर्छित अत्यन्त मदमत्त के समान उनका ज्ञान होता है, सुखादि का अस्पष्ट अल्प ज्ञान होने ही से उनकी हिंसा से अल्पदोष होता है कि जिसकी उपाय से निवृत्ति भी हो जाती है। अशक्य हिंसा का दोष भी नहीं लगता सो प्रथम विचार हो चुका है। और वृक्ष में नियमित रस का विभाग रसादि का निर्माण क्षत संरोहणादि अध्यात्मवायुरूप प्राण विना नहीं हो सकता, इससे प्राणधारी का अनुमान भी होता है। और सूर्यादि लोकों में पार्थिव शरीर की स्थिति नहीं हो सकने से तैजसादि शरीर भी अवश्य होते हैं। सृष्टि प्रतिपादक श्रुति आदि के अनुसार आदि काल में अयोनिज शरीर भी अवश्य होते हैं। तथा योगी के कायव्यूह प्रतिपादक शास्त्रादि से भी अयोनिज शरीर सिद्ध होते हैं। यदि कहा जाय कि अयोनिज (कारण विना) देह नहीं होता है, तो अप्राप्त का निषेध ही व्यर्थ है। क्योंकि (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, आप्य, तैजस, वायव्य मानसे) ये आठ प्रकार की योनि (कारण) लिखी हुई हैं, सो सर्व कर्माधीन हैं, इससे अयोनिज का निषेध व्यर्थ है। इसी प्रकार ज्ञान को स्वविषय कहना, ज्ञान का आश्रय रूप से आत्मा का प्रकाश कहना भी श्रुतियुक्ति विरुद्ध है; क्योंकि जैसे आत्मा के स्वविषयता में कर्मकर्तृभाव विरोध है, आत्माश्रय दोष है, तैसे ज्ञान के विषय भी है। इससे आत्मा स्वयं प्रकाश है, और उसीसे सबका प्रकाश होता है, यही वेद सन्त मत ठीक है। श्रुति कहती है कि,

'तद्भासा भास्यते जगत्। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' मुण्डक० २।२। श्वेता० ६।१४।१०।

उसके प्रकाश से सब जगत प्रकाशित होता है। यहाँ प्रकाश और आत्मा में कल्पित भेद है, वस्तुतः आत्मा प्रकाश स्वरूप है, इसी प्रकार आत्मा में विशेषण भेद से भेद मान कर एक में ही कर्मकर्तृभाव मानना भी अनुचित है, यदि ऐसा हो तो एक ही मनुष्य विशेषण भेद से भिन्न होकर अपने कन्धे पर आप चढ जाय। इससे स्वयंप्रकाश ही आत्मा अपरोक्ष व्यवहार के योग्य है इत्यादि।

'आत्यन्तिकी अहितनिवृत्तिरेकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहान्या।'

इस न्यायवार्तिक के अनुसार इक्किस दुःख की निवृत्ति से अहित की अत्यन्त निवृत्ति रूप मुक्ति होती है। परन्तु उस इक्किस दुःख में मन और आकाशरूप श्रोत्र इन्द्रिय भी हैं, सो न्यायमत से नित्य हैं, परन्तु दुःख-जनकत्वरूप की निवृत्ति से इन की भी निवृत्ति मानी गई है, और श्रुति के अनुसार तो प्रवाहरूप से संसार के अनादि होते भी आकाश मन भी नित्य नहीं है। इससे जैसे प्रकाश से अन्धकार की निवृत्ति होती है, और जागने से निद्रा स्वप्न की निवृत्ति होती है, तैसे आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है। और अविद्या की निवृत्ति होने पर उसके कार्य मन इन्द्रियादि सब बाधित (बन्धनासमर्थ तुष रहित चावल दग्ध बीज जन्माजनक) हो जाते हैं। इसीसे ये सब नित्य वा सत्य नहीं हैं। और ज्ञान होते ही माया का भाग वा अवस्था रूप अविद्या की निवृत्ति होने पर भी उस अविद्या की सूक्ष्मावस्था रूप वासना वा कार्यशक्ति प्रारब्धरूप प्रति-बंधक से नहीं नष्ट होती है, सो ज्ञानी के शरीरपात तक रहती है। विचार समाधि परायण ज्ञानी के शरीर की निवृत्ति काल में वह शक्ति भी अत्यन्त नष्ट हो जाती है। और ज्ञान होने पर भी यदि व्यवहार पाप यथेष्टाचार परायण ज्ञानी होता है, तो वही वासना कुछ पुष्ट होकर अधिक दुःख का हेतु हो जाती है। जैसे राजा भरत को ज्ञान होने पर भी मृग में प्रेमासक्ति

से दो जन्म लेना पड़ा था। और अदृढ ज्ञान तो नष्ट ही हो जाता है, सो विचार प्रथम हो चुका है। इससे शम दमादि युक्त ही ज्ञानी की स्थिति होती है, यह श्रुति सन्त सम्मत सिद्धान्त है। और बारह प्रमेय (ज्ञानोपयोगी ज्ञेय) कहना भी ठीक नहीं, श्रुति में एक आत्मतत्त्व ही प्रकृष्ट मेय कहा गया है, एक आत्मतत्त्व के ज्ञान से ही सत्य ज्ञातव्य पदार्थ कोई नहीं रह जाता है, यह वेद का सिद्धान्त है। यदि आत्मज्ञान के उपयोगी होने से शरीरादि को भी प्रकृष्ट मेय कहा जाय, तो भी श्रुति कथित रीति से अन्नमयादि को ही आत्मज्ञानोपयोगी कहना ठीक है। और मुक्ति काल में ज्ञान तथा सुख का अत्यन्त अभाव कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अवान्तर मुख्य भेद से दो प्रकार की मुक्ति श्रुतिसिद्ध है, तहाँ उपासना विशेष से ब्रह्मलोक में प्राप्ति को अवान्तर मुक्ति कहते हैं। यद्यपि ब्रह्मलोक में प्राप्त निष्काम उपासक भी प्रलय काल में ज्ञान द्वारा मुख्य मुक्ति ही पाता है। यह बात,

'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।'
मुण्डक० ३।२।६।

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति।' क० २।६।१६।
'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवावर्तं नावर्तन्ते।'
छा० ४।१५।६।

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥'

इत्यादि वचनों से सिद्ध होती है। वेदान्त जन्य विज्ञान से जिन्हें आत्मनिश्चय हुआ है, जो संन्यासयोग से यतन करनेवाले हैं, और शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, सो ब्रह्मस्वरूप लोक में वा सत्यलोक रूप ब्रह्म में संसार का अवसान (अन्त) रूप परान्त काल में पर अमृतरूप हो जाते हैं

और परिमुक्त (सब बन्ध से रहित) हो जाते हैं ॥ सुष्मणा नाडी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर जानेवाला मनुष्य अमृतत्त्व को पाता है ॥ देवमार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त मनुष्य फिर इस मानव संसार में नहीं आता है। प्रतिसंचर (महाप्रलयकाल) प्राप्त होने पर हिरण्यगर्भ के अन्त समय में वहाँ के रहनेवाले सब शुद्धबुद्धिवाले ज्ञानी होकर ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं, परब्रह्म में लीन हो जाते हैं, यह अर्थ है तथापि प्रलय से पूर्वकाल में ब्रह्मलोकवासी की अवान्तरमुक्ति कही जाती है। और 'इमं मानवावर्तं नावर्तन्ते' इस श्रुति में 'इमं' इस विशेषण से सिद्ध होता है कि सकाम ब्रह्मलोकवासी इस वर्तमान मानवसृष्टि में जन्म नहीं लेता है। किन्तु भावी सृष्टि में उसका भी जन्म होता है। केवल निष्काम ज्ञानी का ही सदा जन्म का अभाव होता है। ब्रह्मलोक में प्राप्त होने पर भी जिस कामी को ज्ञान नहीं होता है, सो कल्पान्तर में जन्म लेता है। किसी का कहना है कि प्रलय का आरम्भकाल में ब्रह्मलोकवासी सब जीव को ब्रह्म ज्ञान हो जाता है, इस से सब मुक्त हो जाता है। मोक्ष में जो बात हो, परन्तु कार्य ब्रह्म को प्राप्त जीवों के विषय में श्रुति कहती है कि,

'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।' छा० ५।१।६।

'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति।' अ० ८।२।१।

ब्रह्मलोक में प्राप्त जीव इच्छाचारी होता है, वह यदि पितृलोक की इच्छा करता है तो उस संकल्प से ही पितृलोक उपस्थित (प्राप्त) होते हैं, इत्यादि। इससे सिद्ध होता है कि अवान्तर मुक्ति में जीव ज्ञान सहित रहता है, अन्यथा संकल्पादि नहीं कर सकता और यदि होता तो उस मुक्ति की कोई इच्छा नहीं करता। इससे चेतन जीव को अवान्तर मोक्ष में आनन्द प्राप्त होता है, यही सिद्धान्त है। और,

'नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावो रागस्य बन्धनसमाज्ञानात्।'

इस न्यायभाष्य के अनुसार यदि कहा जाय कि मोक्ष में नित्य सुख माननें पर उसका राग (प्रेम) की नहीं निवृत्ति होने से मोक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि राग बन्धन रूप है, यह सम्यक् समझा गया है तो सो कहना भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि यदि स्वरूप भूत नित्यसुख का राग से बन्धन हो, तो दुःखाभाव का राग से वा दुःख में द्वेष से भी बन्धन होगा तब तो मोक्ष में दुःखाभाव भी नहीं माना जा सकेगा। वस्तुतः सर्व दुःखाभाव और परमानन्दस्वरूप आत्मा ब्रह्म है, और आत्मप्रेम स्वाभाविक सब प्राणी को रहता ही है सो बन्धन का हेतु भी नहीं होता है; किन्तु विषयजन्य निज सुखादि का राग से वा परप्राणी के सुखादि का द्वेष से जो किसी की पीड़ा अनुग्रह किया जाता है, उसी से पुण्य पाप द्वारा बन्धन होता है, अन्यथा ईश्वर गुरु धर्म का राग (प्रेम) भी बन्धनरूप होगा; तब तो मोक्ष का साधनें ही लुप्त हो जायगा। और, 'रसो वै सः।' तैत्तिरीय ७। इससे मुक्त ब्रह्म को आनन्दरूप कहा गया है। और बृहदारण्यक अ० ४।३।३१। इत्यादि में मनुष्यादि के आनन्दों का विचारपूर्वक ब्रह्मानन्द का वर्णन किया गया है, और आनन्दस्वरूप की प्राप्ति से ही सर्व भयका अभाव कहा गया है, इससे दुःखाभावमात्र को आनन्द शब्द का अर्थ कहना भी लोकवेद विरुद्ध ही है, और (सत्यं ज्ञानमनन्तम्) तैत्तिरीय २।१। इत्यादि से आत्मा ज्ञानरूप सिद्ध होता है। यद्यपि यह श्रुति ब्रह्म को ज्ञानरूप कहती है तथापि जीव का पारमार्थिक स्वरूप उससे भिन्न नहीं है, और स्वरूपज्ञान सूर्यस्वरूप प्रकाश की नाईं विषय निरूपित नहीं है, इससे मोक्षकाल में भी आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप ही रहता है; क्योंकि चेतन कबही जड़ नहीं हो सकता है, न जड चेतन हो सकता है। इससे ब्रह्माऽभिन्न आत्मा सदा ज्ञानानन्दस्वरूप रहता है, उपाधि में भेद होने पर भी आकाश की नाईं ब्रह्मात्मा सदा अभिन्न ही रहता है। उपाधि से ही बन्धमोक्षादि का भी व्यवहार होता है, इससे अविद्यादि की

निवृत्ति होने पर भेद नहीं रहता है । इसीसे '**निरञ्जनः परं साम्यमुपैति ।**' मुण्डक ३।१।३ इस श्रुति में भी परम विशेषण पढा गया है। और, '**रसो वै सः ।**' तै० २।७। '**कं ब्रह्म खं ब्रह्म ।**' छा० ४।१०।५ इत्यादि श्रुति से व्यापक आनन्दरूपता का प्रत्यक्ष बोध होते भी आनन्द पद का आनन्दवान् इत्यादि अर्थ करना भी सर्वथा अनुचित है। ब्रह्मस्वरूप का बोधक 'असुखम्' इस पद का भी अन्तःकरण की वृत्तिरूप सुख से भिन्न अर्थ है, अथवा जिसमें सुख नहीं है, किन्तु सुखस्वरूप है सो ब्रह्म है, यह तात्पर्य है । परम मुक्तिकाल में उसी नित्यानन्द ब्रह्मरूप से जीव की स्थिति होती है, इससे मोक्ष आनन्दस्वरूप है। साहब ने भी, '**जाग्रत रूपी जीव है ।**' साखी २८

'**सुधि विनु सहज ज्ञान विनु ज्ञाता ।**' शब्द १०
'**लक्षि विनु सुख । रहस विनु आनन्द ॥**' शब्द ४५

इत्यादि वचनों से इसी चिदानन्द का उपदेश दिया है ॥ उक्त मोक्ष के लिये किसी देशादि की जरूरत नहीं होती है किन्तु ज्ञानाभ्यासादि से सब वासना सहित अज्ञान की निवृत्ति से जीवन्मुक्ति होती है । और प्रारब्ध का भोग से नाश होने पर विद्वान के प्राणादि अपने स्वरूप को सर्वथा त्याग कर निर्बीजरूप से परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। लिखा है कि,

'**न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।**' बृ० ४।४।६
'**ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।**' तैत्तिरीय० २।१

ओंकारादि की उपासना आदि द्वारा अवान्तर मुक्ति में लोकान्तर में गति होती है । तहाँ मरने के समय मूर्छित जीव गमन के लिये असमर्थ रहता है । इससे अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, वर्ष, देवलोक, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजली के अभिमानी देवों द्वारा बिजली लोक तक जाने पर, हिरण्यगर्भ लोकवासी अमानव पुरुष द्वारा वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक; होते जीव हिरण्यगर्भ लोक में जाता है । और वहाँ जाने पर

जगत की सृष्टि आदि से भिन्न सब सामर्थ्य और भोग हिरण्यगर्भ के समान ही पाता है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है। यद्यपि वासना कर्मोपासना के अनुसार गति होती है, तथापि उस जीव को वासनादि वश देवादि की भी प्रतीति होती है। यह शास्त्र का तात्पर्य है। इस प्रकार गमन से कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति होती है, यह बात व्यास भगवान् कहते हैं। और इस गति से भी परब्रह्म की प्राप्ति जैमिनिजी मानते हैं। परन्तु 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' बाहर भीतर व्यापक अजन्मा ब्रह्म है, इत्यादि श्रुतिसिद्ध व्यापक परब्रह्म की प्राप्ति के लिये गति की जरूरत नहीं होने से, तथा परब्रह्म को सर्वात्म स्वरूप होने से भी उसकी प्राप्ति के लिये गति नहीं चाहिये, इससे अपर ब्रह्म की ही उस गति से प्राप्ति होती है। और वहाँ यह जीव संकल्प मात्र से ही कभी शरीर सहित रहता है, कभी शरीर बिना भी रहता है, यह व्यासदेव का सिद्धान्त है। चाहे कोई मुक्ति हो परन्तु विषयजन्य अथवा आत्मस्वरूप आनन्द की प्राप्ति और अनर्थ दुःख की निवृत्ति अवश्य होती है, इससे मोक्ष में सुख का अभाव वर्णन ठीक नहीं है। यद्यपि संसार दशा में भी आत्मा चिदानन्दरूप ही है, तथापि अविद्यादि से अप्राप्त और असत की नाईं है, इससे ज्ञान से प्राप्ति कही जाती है। महाभारत में लिखा है कि,

'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव च विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥'

शा० अ० १८७।२३

प्रकृति का गुणों से युक्त आत्मा क्षेत्रज्ञ कहाता है। और उन गुणों से मुक्त होने पर परमात्मा कहा जाता है। साहब ने कहा है कि,

"हंसा तूं सुबरण बरण, कहा वर्ण को तोहि।' साखी १४



योगविचारः ॥३४॥

न्यायादि मत द्वारा आत्मा के विचार के प्रसङ्ग से मोक्षादि का विचार के बाद चित्त की एकाग्रता का हेतु योग का संक्षिप्त विचार किया जाता है। लिखा है कि,

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥'

कठ० २।६।१०-११

जिस समय मन सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय स्थिर हो जाती हैं। (बहिर्मुखता रूप व्यापार को छोड़ देती हैं)। बुद्धि भी विषय के तरफ चेष्टा नहीं करती, तब उस ज्ञानेन्द्रिय मन बुद्धि की स्थिरता को ही परम गति का साधन होने से योगी लोक परम गति कहते हैं। लय विक्षेप कषाय रसास्वादादि विघ्नरहित उस इन्द्रियादि की धारणा को योगी लोक योग कहते हैं, तिस योग के आरम्भ काल में प्रमाद रहित होना चाहिये; क्योंकि अप्रमाद से योग होता है, प्रमाद से नष्ट हो जाता है। और योगदर्शन में लिखा है कि, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। १।२

सब राजस तामस चित्त की वृत्ति (परिणाम) का निरोध सविकल्प योग होता है। और पर वैराग्य से सात्विक वृत्ति का भी निरोध (अभाव) होने पर निर्विकल्पक योग होता है। चित्तरूप नदी अविद्यादि सहित रहने पर जन्मादि संसार के लिये बहती है, और वही विवेकादि होने पर मोक्ष के लिये बहती है। अभ्यास और वैराग्य से जब चित्त की कुवृत्तियों के प्रवाह का निरोध किया जाता है तब चित्तनदी कल्याण के लिये होती है, अविवेक जन्य कुवृत्ति का वैराग्य से निरोध करके विवेक दर्शन का अभ्यास से अपरोक्ष ज्ञान का प्रवाह को प्रगट करने से सविकल्प

समाधि की प्राप्ति होती है। विवेक ज्ञान का विषय स्वरूपावस्थित आत्मामें राजस तामस वृत्तिरहित चित्त की स्थिति के लिये यत्न (उत्साह) को अभ्यास कहते हैं। यतमानादि नामक वैराग्यका प्रथम ही वर्णन हो चुका है। ये अभ्यास और वैराग्य ही चित्तवृत्ति का निरोध के मुख्य साधन हैं। विवेक ज्ञान जन्य परवैराग्य से सब वृत्ति का निरोधरूप निर्विकल्पक समाधि कहा गया है, परन्तु उस समय भी संस्कार मात्र रहते हैं, जिससे भिक्षा भोजनादिमें फिर प्रवृत्ति होती है, चित्तकी क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध; ये पांच अवस्था होती हैं। उनमें रजोगुणसे सदा विषयपरायण वा लोकवासनादिसे चञ्चल दैत्य दानव धनी आदि के चित्तको क्षिप्त कहते हैं। और तमोगुणसे जडताको प्राप्त वा निद्रा आलस्यादि युक्त राक्षस मनुष्यादि के चित्तको मूढ़ कहते हैं। और कभी स्थिर होनेवाला क्षिप्तसे श्रेष्ठ देवताओं के चित्तको वा प्रथम भूमिकावाला जिज्ञासुके चित्तको विक्षिप्त कहते हैं। और जब अतीत वर्तमान सब वृत्ति एक आकार (एक स्वरूप) होती है, तब चित्त एकाग्र कहा जाता है, एकाग्र दशामें राजस तामस वृत्तिका अभाव होता है, सात्विक वृत्ति रहती है। सात्विक वृत्तिका भी अभाव होने पर वा उस सात्विक वृत्तिको अत्यन्त स्थिर होने पर निरुद्धावस्था होती है, तहाँ एकाग्रावस्था में सविकल्प समाधि होती है सो यथार्थ वस्तु को प्रकाश करनेवाला क्लेशोंको नष्ट करनेवाला कर्मबन्धनको कमजोर करनेवाला होता है, और वही चित्तको निरोधके सन्मुख भी करता है, फिर निरोध अवस्था में निर्विकल्प समाधिकी सिद्धि होती है।

'बलिहारी तिहि सन्त के, मन को राखै टेक'। साखी २५२

इत्यादि साखियों से साहबने इसी योगयुक्त की बलिहारी कही है। और, **'सहज ध्यान रहु।'** कहरा ६

इत्यादि से साधन बताया है। उपायके भेदसे यह योग राजयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, भक्तियोग, क्रियायोग आदि कहा

जाता है । उनमें अभ्यास वैराग्यपूर्वक सविकल्प निर्विकल्प समाधिको राजयोग कहते हैं, और 'प्रसभं तु बलात्कारो हठः' इस कोश के अनुसार हठ (बलात्कार) से चित्तका निरोधको हठयोग कहते हैं। और,

'हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ।'

इस वचन के अनुसार दहिनी नाड़ीरूप 'ह' वामनाड़ी रूप 'ठ' का प्राणायाम से योग (संबन्ध) होने पर हठयोग कहा जाता है । इसके यम नियमादि साधन होते हैं। राजयोग का उत्तम (शान्त) पुरुष अधिकारी होता है । मध्यम पुरुष हठयोग का अधिकारी होता है । उत्तम में यम-नियम स्वाभाविक रहते हैं, मध्यमको साधनाभ्यासे हठसे प्राप्त करना होता है । हठयोगके विशेष साधन आसन, प्राणायाम, और मुद्रा है । धारणा, ध्यान, समाधि राजयोग और हठयोग दोनों के साधन हैं । योगदर्शनके अनुसार आसन और प्राणायाम ही हठयोगके विशेष (अधिक-असाधारण) कारण हैं । हठयोगके ग्रन्थानुसार मुद्रा भी विशेष साधन है । आसन के भेद बहुत हैं परन्तु सिंह, भद्र, पद्म, सिद्ध; ये चार आसन श्रेष्ठ माने गये हैं । इनमें भी समाधि ध्यानादि कालके लिये सिद्धासन श्रेष्ठ है । अण्डकोशके नीचे वामी एंडी को लगाकर दहिनी एंडीको लिंगके ऊपर स्थिर करे, दाढ़ीको हृदयमें लगावे, सब इन्द्रियोंको रोककर अचल दृष्टिसे त्रिकुटीको देखे, तो बाहरके विषयोंसे मुक्त करनेवाला सिद्धासन यह कहा गया है । इसीको वज्रासन, मुक्तासन, गुप्तासन भी कहते हैं । लिङ्गके ऊपर वामी दहिनी एंडीको क्रमसे स्थिर करे वा प्रथमकी नाईं नीचे ऊपर स्थिर करे और शिर आदिको सीधा करके समभावसे बैठो तो वह भी सिद्धासन कहाता है । और वामजंघा पर दहिना पैरको उत्तान करके स्थिर करे, फिर दहिनी जंघा पर वाम पैरको उत्तान करे, जंघोंके ऊपर हाथोंको भी सीधा उत्तान करे, दृष्टिको नासिका पर स्थिर करे, जिह्वा को ऊपर तालू तरफ करके यथाशक्ति ताने, दाढ़ीको हृदयमें

लगावे, अपान वायुको ऊपर उठावे, तो पद्मासन होता है। पीछेसे हाथको घूमाकर दहिनी जंघा पर स्थिर वाम पैरके अंगूठाको वाम हाथसे पकडे, दहिना हाथसे ·हिनी अंगूठाको पकड़े तो इसे बद्धपद्मासन कहते हैं। अण्डकोशके नीचे सीवनी नाडीके दहिने तरफ में वाम एंडीको लगावे, वाम तरफ दहिनी एंडीको लगावे और जानुके ऊपर अंगुलियोंको फैलाकर दोनों तलहस्थी धरे, मुख खोले रहे, नासिका पर दृष्टि रखे तो सिंहासन होता है। और सीवनीके दहिने तरफ दहिनी एंडीको बांये तरफ बांयीं एंडीको लगाकर, सीवनीके पास में दोनों हाथोंसे पैरको पकड़कर दृढ़ स्थितिको भद्रासन कहते हैं। और जानु उरुके बीचमें पैरके तरवाको लगाकर सावधानीसे स्थितिको स्वस्तिकासन कहते हैं। मृतकके समान उत्तान शयनको शवासन कहते हैं। सो हठक्रिया जन्य परिश्रमकी निवृत्तिके लिये थोडी देर तक किया जाता है। और योगदर्शन के (स्थिरसुखमासनम्) इस सूत्रके अनुसार जो स्थिर हो, बैठनेमें सुगम सुखकर हो, योगके अनुकूल हो, सोई योगका अङ्गरूप आसन है, अन्य रोगादिकी निवृत्तिके लिये हैं॥ आसनकी स्थिरता होने पर, रेचक पूरक कुम्भकके द्वारा प्राणकी स्वाभाविक गतिका निरोध (विच्छेद) को प्राणायाम कहते हैं। बाहरका वायुको धीरे २ पेटमें भरना पूरक होता है, पूरक करके भीतरी वायुको रोक रखना कुम्भक कहा जाता है। फिर धीरे २ वायुको निकालना रेचक कहते हैं। रेचकके बाद बाहर रोक रखनेको बाह्य कुम्भक वा बाह्यवृत्ति प्राणायाम भी कहते हैं। पद्मासन लगाकर दहिना हाथकी अंगूठासे दाहिनी नासिका को बन्द करके बांयी नासिकासे पेटमें वायु भरे, फिर दोनों नासिकाको कनिष्ठिका अनामिका अंगूठासे बन्द करके यथाशक्ति कुम्भक करे, फिर कनिष्ठिका अनामिकासे बांयेंको बन्द ही रखकर दहिनासे वायुको धीरे २ छोड़े, फिर बाह्य कुम्भक करके बांयेंको बन्द रखे, दहिनासे पूरक करे, तब कुम्भक करके बांयेंसे छोड़े; इतना करने पर एक प्राणायाम कहा जाता है। यह नियम है कि जिस नाशिका

से रेचक किया जाता है, उसीसे पूरक होता है, और जिससे पूरक किया जाता है, उससे रेचक नहीं किया जाता इत्यादि । हठके ग्रन्थमें आठ प्रकारके कुम्भक लिखा है, इससे रेचक पूरकको मिलाकर दश प्रकारका प्राणायाम होता है ।

'सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥'

हठयोग प्र० २।४४

दहिनी नासिकासे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भकके बाद वार २ वामसे ही रेचकको सूर्यभेदन कहते हैं । मुख बन्द करके दोनों नासिका से धीरे २ पूरक करके कुम्भकके बाद वामसे रेचकको उज्जायी कहते हैं । ओष्ठके बीचमें जीभ लगाके सीत्कार शब्दपूर्वक मुखसे वायुका पूरक कुम्भक करके दोनों नासिकासे रेचकको सीत्कारी कहते हैं । ओष्ठोंसे बाहर जीभको निकालकर जीभ द्वारा पूरकके बाद कुम्भक करके दोनों नासिकासे रेचकको शीतली कहते हैं । दोनों नासिकासे भाथीकी नाईं बार २ रेचक पूरकको भस्त्रिका कहते हैं । यह स्वतन्त्र नहीं है किन्तु पूर्ववर्णित प्राणायामसे पहले नाड़ी शुद्धिके लिये बीस वार करनेका विधान है । प्राणायामके समय भृङ्गके समान शब्द हो तब भ्रामरी कहाता है । पूरक करके जालन्धर बन्ध पूर्वक रेचकको मूर्छाकुम्भक कहते हैं । कुम्भकसे जलमें तिरने लगे उसे प्लाविनी कहते हैं । मानस जप ध्यान सहित प्राणायामको सगर्भ कहते हैं, जपादि रहित को अगर्भ कहते हैं, अगर्भसे सगर्भ को बहुत श्रेष्ठ माना गया है, सब प्राणायामसे दोषका नाश माना गया है । मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध; ये तीन बन्ध होते हैं । बांयी एंडीको गुदाके नीचे लगाकर दाहिनी एंडीको लिङ्गके ऊपर धरे और वायुद्वारा गुदाको ऊपर तरफ तानकर स्थिर रहे उसे मूलबन्ध कहते हैं । मूलबन्धके बाद दाढीको हृदयके पास स्थिर करके कराठ को वायुद्वारा नीचे दबाने से जालन्धर बन्ध होता है ।

इन दोनों बन्धोंके बाद नाभी के पाससे पृष्ठ भाग द्वारा वायुकी ऊपरके तरफ प्रेरणा को उड्डीयानबन्ध कहते हैं। प्राणायामपूर्वक इन बन्धोंसे प्राणवायु दशम द्वार पर जाता है। मुद्रा कहिं पांच कहिं दश लिखी है, परन्तु घेरंडसंहिता में पचीस लिखे हैं, और तीन बन्धोंको भी उन्हिमें गिने हैं।

'महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी॥
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी।
ताडागो माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारिणी॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम्॥'

महामुद्रा से शाम्भवी तक पन्द्रह मुद्रा; पार्थिवी, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी, आकाशी ये पांच धारणा और अश्विनी आदि सहित पचीस मुद्रा योगीको सिद्धि देनेवाली हैं॥ वाम पैर की एँडीसे गुदाको दबाकर दहिना पैरको सीधा पसारकर उसके अंगूठा को दोनों हाथसे पकड़े, कराढ का संकोच करे, दृष्टि को त्रिकुटी में स्थिर करे तो महामुद्रा होती है। जहाँ स्थिर हो वहाँ जीभ को ऊपर तानकर कुम्भक करे उसे रोगनाशक नभोमुद्रा कहते हैं। वाम एंडी को अंडकोश के नीचे लगाकर वाम जंघा पर दहिना पैर धरके पूरक करके जालन्धरबन्ध मूलबन्ध करे, मन को मध्य नाडीमें लगावे, यथाशक्ति कुम्भकादि करके, फिर दहिनी एंड्डीको गुदामें लगाकर दहिनी जंघापर वाम पैर धर करके पूरकादि करे तो महाबन्ध कहते हैं। महाबन्ध करके उड्डीयानबन्ध के बाद कुम्भक करने से महावेध होता है। दोहनादि से जीभ को बढाकर कपाल के छिद्र में उसे पैठाने से खेचरी मुद्रा होती है। नाभी के मूलमें सूर्यका वास है, तालूमूल में चन्द्रका वास है, शिर द्वारा उलटा होकर कुम्भकसे सूर्य चन्द्रको पलट देना विपरीतकरणी मुद्रा है। सिद्धासन करके कान

आंख नाक मुख को क्रमसे अंगूठा तर्जनी मध्यमा अनामिका से बन्द करे, फिर वक्ष्यमाण काकी मुद्रा से प्राणको खींचके अपान से मिलावे, षट्चक्र का ध्यान करके (हुं हं सः) इन दोनों मन्त्रों से कुण्डलिनी को जगावे, शक्तिशिव से अभिन्न आनन्द ब्रह्म स्वरूप अपनी आत्मा का चिन्तन करे तो इसे योनिमुद्रा कहते हैं। पृथिवी को तलहत्थी से पकडकर पैर शिरको ऊपर तानकर स्थितिको वज्राणी मुद्रा कहते हैं। सिद्धासन वा वज्रासन लगाकर दोनों नासिका से पूरक करके प्राणको अपान से मिलावे, जबतक सुषुम्ना न हो तबतक अश्विनी मुद्रासे गुदाको धीरे २ संकोचे, कुम्भक करे तब कुण्डलिनी जागती है (सुषुम्ना होती है) इसको शक्तिचालिनी कहते हैं। मुख बन्द करके जीभका मूलको ऊपर तानने से जो कुछ रस आता है उसका पानको माण्डूकी मुद्रा कहते हैं। भीतर में सच्चिदानन्द लक्ष्य को रखकर बाहर त्रिकुटी पर दृष्टि करे तो शाम्भवी मुद्रा होती है। पृथिवी तत्त्वका हरिताल तुल्य पीला वर्ण है, ल बीज है, चौकोण आकार है; ब्रह्मा देव है, इन सब सहित पृथिवी को हृदय में समझकर वायुको भी हृदय में लेकर पांच घड़ी (दो घण्टा) सावधानी से कुम्भक करे तो उसे पार्थिवी धारणा मुद्रा कहते हैं। जलतत्त्वका शंख चन्द्र कुन्द तुल्य धवल स्वच्छ सुन्दर वर्ण है, अमृत नाम है, व बीज है, विष्णु देव हैं, उसका उक्त रीतिसे ध्यानको आम्भसी मुद्रा कहते हैं। अग्नितत्त्वका नाभि स्थान है, लाल रंग है, र बीज है, त्रिकोण आकार है, रुद्र देव हैं, उसका ध्यान आग्नेयी मुद्रा है। वायु तत्त्वका अंजन वा धूम तुल्य रंग है, य बीज है, ईश्वर देव है, सात्विक स्वरूप है, इसका ध्यान वायवी मुद्रा है। आकाशका समुद्र जलतुल्य प्रकाशयुक्त वर्ण है, ह बीज है, सदाशिव (ब्रह्म) देव है, उसका ध्यान नाभसी मुद्रा है। गुदाका बारम्बार संकोच विकाश को अश्विनी मुद्रा कहते हैं। दोनों पैर को कण्ठ के ऊपर डालकर पाशतुल्य बांधे उसे पाशिनी मुद्रा कहते हैं, काकका चोंचके तुल्य मुख करके धीरे २

वायु पीनेको काकी मुद्रा कहते हैं। कंठ तक जल में पैठकर नाकसे जल खींचकर मुखसे निकालना, मुखसे खींचकर नाकसे निकालना मातङ्गिनी मुद्रा है। मुख को थोडा फैलाकर कण्ठसे वायु पीनेको भुजङ्गिनी मुद्रा कहते हैं। इन मुद्राओं के रोगनिवृत्ति बल आयु की वृद्धि आदि भी फल हठके ग्रन्थों में विस्तार से लिखे हैं। नादानुसंधान (अनहद् का श्रवण) को भी कहिं हठके साधन कहे हैं, परन्तु वह लय योगका ही विशेष साधन है; क्योंकि अनहद् श्रवणका अभ्यास से चित्त का विलयको ही लय योग कहते हैं, बहुत लोक अनहद् का अभ्यासको शब्दसुरत योग कहते हैं, अनहद्को सारशब्द मानकर कुछ सत्य तत्त्व समझकर उसका ध्यानादि करते हैं, सो भूल है; क्योंकि वह जठरानल और नाडीमें वायुकी गतिका ही कार्यरूप अव्यक्त शब्द होता है, तौभी साधारण मनुष्यके लिये चित्त की एकाग्रता का साधन होता है, इसीसे तो प्रथम किसी स्थूल पदार्थ को चित्त का अवलम्ब बनाकर उसे स्थिर किया जाता है, परन्तु वह अवलम्ब आत्मा ब्रह्म नहीं रहता है सो प्रसिद्ध है। किसी मन्त्र का जप अभ्याससे चित्त की एकाग्रता को मन्त्रयोग कहते हैं या जपयोग कहते हैं। जिसके देहमें कफ आदि दोष अधिक हो, उसका देहको शुद्ध करने के लिये धौति, बस्ति, नेति, नौली, त्राटक, कपालभाति ये छौ कर्म लिखे हैं। पन्द्रह हाथ लम्बा चार अंगुल चौड़ा मेहीन वस्त्र को गरम जल में भिंगाकर, प्रथम दिन एक हाथ निगलकर धीरे से बाहर करके धोयले। दूसरे दिन दो हाथ निगले, इसी प्रकार जब एक बित्ता बाहर रहे, तब उसे दांतसे पकड़ कर लौली (नेवली) करे, अर्थात् बांया दहिना भाग से चक्र की नाईं पेटको घुमावे, फिर वस्त्रको धीरे २ निकाले, इसे धौतिकर्म कहते हैं। विशेष योग ग्रन्थ से जानने योग्य है। कनिष्ठिका अंगुलीका पैठने योग्य छिद्र सहित छौ अंगुल की नाली को ढोढी तक जलमें बैठकर चार अंगुल मूल द्वारमें पैठाकर पैरके अंगुलियों के सहारे बैठकर मूल का संकोच से भीतर

पानी पैठ जाता है उसे डोलाकर गिराना बस्तिकर्म कहते हैं। एक बित्ताका सूक्ष्म परिमित चिकना सूतकी बत्तीको नाकमें देकर मुखमें निकाला जाता है, उसे नेती कहते हैं। जबतक लोर नहीं गिरे तबतक सूक्ष्म लक्ष्य पर ताकना, पल नहीं गिरने देना त्राटक है। भाथीकी नाईं रेचक पूरक कपालभाति है। इनके और भी भेद घेरण्ड संहिता आदि में लिखे हैं। प्राणायाम से प्रथम इन्हें सिद्ध रहने पर प्राणायाम में परिश्रम नहीं होता है। अन्यथा अधिक प्राणायाम से कार्य होता है। चञ्चल मनको रोकने के लिये आलम्बनरूप छौ चक्र सोलह आधार दो लक्ष्य भी बताये हैं। तीन आवृत्तिवाला गुदामें आधार चक्र है। लिङ्ग के जड़में छौ दल सहित स्वाधिष्ठान चक्र है। दशदल पांच आवृत्ति सहित मणिपूरचक्र नाभिमूलमें है। आठ वा बारह दल सहित अधोमुख अनाहतचक्र हृदयमें है। सोलह दल युक्त विशुद्ध चक्र कण्ठमें है। भ्रूमध्य में द्विदलयुक्त आज्ञाचक्र है। षट्चक्र निरूपण योगचूडामणि उपनिषदादि में ये छौ चक्र वर्णित हैं। और इन सबके ऊपर सहस्रदल कमल है जहाँ अन्तिम स्थिति योगी की होती है। कहिं कुछ नाममें हेरफेर भी है। तालुचक्र, निर्वाणचक्र, आकाशचक्र को मिलाकर नवचक्र भी कहते हैं। तालुचक्र से अमृतधारा चलती है। ब्रह्मरन्ध्र को निर्वाण-चक्र कहते हैं। आकाशचक्र में सोलहदलवाला ऊर्ध्वमुखपद्म कहा है। इन चक्रों में हठकी रीतिसे प्रायः ध्यानादि किये जाते हैं। उनमें बहुत बात कल्पनासिद्ध भी रहती है, और अपना २ सम्प्रदाय के अनुसार ध्येय का ध्यान लोक करते हैं। षट्चक्र निरूपण ग्रन्थादि में बहुत वाम तन्त्रग्रन्थ की बात विस्तार से लिखी गई है। सो सब चित्तकी एकाग्रता में सहायक नहीं है। तैसे ही प्राणायाम मुद्राका भी विस्तार चित्तकी एकाग्रता में अनुपयोगी भी है। इससे गुरुद्वारा समझकर अभ्यास करने से मुमुक्षुका हित होता है। गुरुके विना हठकी क्रिया से हानिका भी भय रहता है। इसी आशय सबसे साहबने कहा है कि,

'अनहद अनुभव की करि आशा, ई देखहु विपरीत तमासा।'
रमैनी० १९

'तुम यहि विधि समुझहु लोई हो, गोरी मुख मांदर बाजै।
एक सगुण षट्चक्रहि बेध्यो, बिनु वृष कोल्हु माजै॥'
इत्यादि०

लोक अपना कल्याण के लिये अनहद शब्द का अनुभव की आशा करते हैं, सो उलटी तमासा देखो। उचित तो है कि किसी प्रकार चित्तको शुद्ध स्थिर करके सर्वात्मा सच्चिदानन्द रामका अनुभव की आशा की जाय, और अनुभव के लिये सद्गुरु के शरण में जाकर विचार ध्यानादि से निर्गुण राम को समझा जाय। कोई कथंचित् गुरुशरण में भी जाते हैं, उनकी भी कथा आप लोक ऐसी समझें कि वे लोक भी विचारादि विना मुखरूप मांदर (बाजा) से गोरी (शुद्ध निर्गुण) की बाजा बजाते (बोली बोलते) हैं। परन्तु इनके छवों चक्रों में सगुण एक माया बेधी (व्याप्त) रहती है। और सच्चा अहिंसा आदि धर्मरूप बैल विना केवल देहरूप कोल्हु को धोते मांजते हैं इत्यादि।

१ पादांगुष्ठाधार, २ मूलाधार, ३ गुह्याधार, ४ बिन्दुस्थानाधार, ५ उड्डीयानबन्धाधार, ६ नाभिमण्डलाधार, ७ हृदयाधार, ८ कण्ठाधार, ९ क्षुद्रघण्टिकाधार, १० जिह्वामूलाधार, ११ जिह्वाऽग्राधोधार, १२ ऊर्ध्वदन्तमूलाधार, १३ नासिकाग्राधार, १४ नासिकामूलाधार, १५ भ्रूमध्याधार, १६ नेत्राधार; ये सोलह धारणा आदि के लिये आधार कहे गये हैं। कहिं चक्रोंको ही विशेष रूपसे ध्यानके आधार कहे हैं। शरीर में पैरसे जानु तक पृथिवी का स्थान है, जानुसे गुदा तक जलका है, गुदा से हृदय तक अग्निका है, हृदय से भ्रूमध्य तक वायुका है, वहाँसे आगे आकाश का स्थान है। पृथिवी में ब्रह्मा की, जल में विष्णुकी, अग्निमें रुद्रकी, वायु में ईश्वर की, आकाश में निर्गुण ब्रह्मकी धारणाका भी वर्णन है। और बाहर भीतर भेदसे वा सगुण निर्गुण भेदसे दो लक्ष्य (ध्येय) कहे गये हैं॥

प्रत्याहारः ।

'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'

यम नियमादि से शुद्ध चित्त का विषय से असंबन्ध और अन्तर्मुख होने पर इन्द्रियों को भी चित्तके स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार है। अर्थात् चित्त के आत्माभिमुख होने पर बाहर के इन्द्रियों से बाहर के विषयों का ज्ञान नहीं होना प्रत्याहार है॥ नारदीय विष्णुपुराण में लिखा है कि,

"शब्दादिष्वनुषक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित् ।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥
विषयेषु प्रसक्तानि इन्द्रियाणि मुनीश्वराः ।
समाहृत्य निगृह्णाणि प्रत्याहारस्तु स स्मृतः ॥"

जाबालदर्शनोपनिषद् में लिखा है कि,

'इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥'

धारणादि ।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।' योगद० ३।१

उक्त धारणा के देशों में चित्त का बन्धन को धारणा कहते हैं।

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' ३।२

उस धारणा के देश में ध्येयाकार वृत्ति जब एकतान (देरतक एकाकार) हो तब ध्यान कहाता है,

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।' ३।३

वह ध्यान ही ध्यानाकार से शून्यकी नाईं होकर ध्येयाकार ही रहे

तब समाधि कहाता है । समाधि का साधन साध्य दो स्वरूप होता है । साधन कालमें भावना के अधीन ध्येयाकार वृत्ति रहती है, और साध्य (फल) समाधिकाल में भावना बिना ध्येयाकार वृत्ति होती है, अर्थात् ध्येयका अपरोक्ष ज्ञान सविकल्प योगकालमें होता है । फिर निर्विकल्प काल में उस वृत्तिका लय होता है, केवल वृत्ति की वासना (संस्कार) रहती है । यद्यपि भावना से असत पदार्थका भी ज्ञान होता है, जैसे कामी विरही को स्त्रीका ज्ञान होता है, उसको प्रेतादि का ज्ञान होता है, तथापि जहाँ पदार्थ का बाध होवे वहाँ भावनाजन्य ज्ञान भ्रमरूप होता है, जहाँ बाध नहीं हो, वहाँ भावनाजन्य ज्ञान भी यथार्थ होता है, इसीसे लिखा है कि,

'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ।'

योगद० १।४७।४८

सूक्ष्म पदार्थ विषयक विकल्परहित समाधि से जो प्रत्यक्ष होता है, तमोगुण रजोगुण से अनभिभवरूप वैशारद्य (स्वच्छस्थिति) उसका होने पर योगी को अध्यात्मप्रसाद (सर्वार्थ विषयक युगपत् ज्ञान) होता है । और उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतंभरा (सत्यको विषय करनेवाली) होती है । सो प्रज्ञा शब्द अनुमानजन्य प्रज्ञासे विलक्षण विशेष अर्थको विषय करनेवाली होती है ।

'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।' ४

लौकिक प्रत्यक्षका अविषय सूक्ष्म व्यवहितादि भी समाधि प्रज्ञासे प्रकाशित होते हैं, यह और भी विशेषता है । और समाधि प्रज्ञाजन्य संस्कार अन्य संस्कारों को दबा देता है, इससे पूर्णयोग होने पर अन्य संस्कारों के फल नहीं होते हैं । परन्तु यह बात भी है कि प्रकृति आदि सूक्ष्म पदार्थों को वा कमलादि में वर्णित ब्रह्मादि को जो जैसा सुनता है और जैसा ध्यान करता है, उसको वैसा ही प्रत्यक्ष होता है, वैसाही सत्य

मालूम होता है, सो सब प्रत्यक्ष भावनामय ही रहता है। ब्रह्मरन्ध्र में सब को अपना इष्ट प्रत्यक्ष होता है सो भी भावनामय रहता है। साधन से चित्त के शुद्ध और स्थिर होने पर गुरु उपदेश सेवा स्वयं भावना बिना प्रत्यक्ष होता है सो यथार्थ ही होता है। भावनामय भिन्न २ दर्शन यथार्थ नहीं होता; क्योंकि वस्तु वा ज्ञान में विकल्प नहीं होता, क्रिया में विकल्प होता है, सो अन्यत्र निरूपित है।

उक्त सब ज्ञानों के अकल्पित यथार्थ नहीं होते भी तथा साक्षात् मोक्षका हेतु नहीं होते भी लौकिक फलसिद्धि आदि के सब ज्ञान कारण होते हैं। और अन्य अन्य प्रकारसे चिन्तन ध्यानादि करनेवालोंको भी जो अन्तिम अनुभव पदार्थाधीन एक प्रकारका ही होता है सो अनुभव यथार्थ होता है, जैसे बांये नेत्र से वा दहिने नेत्र से एक वस्तुको देखने पर नेत्रभेद वादीके मतमें भी एकही प्रकार का ज्ञान होता है, वा अनेकों मनुष्य के नेत्र से एक वस्तुका दोष बिना तुल्य ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार अनेक अनुभवी को अनेक प्रमाण से जो एक प्रकार का ज्ञान एक वस्तुका होता है सो सत्य होता है, अनेक प्रकार का नहीं। इससे समाधि ध्यानसे भी जो ईश्वरादि अनेक रूप समझे जाते हैं सो कल्पित ही रहते हैं, सब सत्य नहीं रहते। कहिं एक एक सत्यके आश्रित अनेक मिथ्या ज्ञान होते हैं, कोई एक ज्ञान सत्य होता है। कहिं सब के सब असत्य ज्ञान भी हो सकता है। इसीसे यथार्थ ज्ञान और मोक्ष दुर्लभ है।

सूर्यादि में संयमादि से जो अनेकों योगियों को एक प्रकार का भुवनादि का ज्ञान होता है सो सब प्रायः सत्य ही हो सकता है, जिससे पूर्वके योगी ऋषि लोक ज्योतिषादि की रचना की है। ईश्वर आत्मा आदि का जो वर्तमान कालमें ध्यानादि से मनुष्यों को ज्ञान होता है, सो यदि अपरोक्ष अनुभव पूर्वक स्मृतकृत

शास्त्र सन्तों के कथनानुसार होता है तो सत्य होता है, अन्यथा नहीं। यद्यपि भुवनादि भी मायिक हैं, तथापि व्यवहार कालमें जैसा है तैसा उनका ज्ञान प्रमाण है। और व्यवहारकाल में भी विरुद्ध एक ईश्वरादिकी अनेक २ रूपसे कल्पना आदि व्यवहार काल में भी अप्रमाण ही रहते हैं। और जहाँ नाम क्रिया उपासना आदि में भेद हो, परन्तु प्राप्य वस्तु एक हो, सत्य हो, वस्तु का स्वरूप एक सत्य हो, ज्ञान एक प्रकारका हो, वहां सब प्रमाणरूप है। क्योंकि कमल गुलाबादि के देश भेदसे नामादि भिन्न हो जाते हैं परन्तु गन्ध एक और यथार्थ ही रहता है। काशी में किसी रास्ते किसी तरफ से जाइये वह काशी ही है। इसी प्रकार से किसी साधन से सत्यका ज्ञान लाभ हो वह सत्य ही है। यहाँ यह भी जानने लायक बात है कि ध्यानादि के समय जो बहुत रूप प्रकाशादि दीखते हैं, सो सब भी मन मायाकृत ही रहते हैं, सत्यात्मा उनका प्रकाशक उनसे भिन्न ही उस समय भी रहता है, आत्मा सब ज्ञानोंका भी साक्षी है, निर्विकल्पक समाधिकाल में वृत्तियों (ज्ञानों) का लय होने पर भी वृत्तिका अभाव को आत्मा ही प्रकाशता है, उस समय कारण रूपसे वर्तमान जिस बुद्धि में आत्मा का प्रकाश पडता रहता है, वही साभास अन्तःकरणरूप बुद्धि समाधि से ऊठने पर उस प्रकाश स्वरूप अविषय वस्तुका कथञ्चित् स्मरण करती है, सो भी उस आत्म-प्रकाश से प्रकाशित होकरके ही स्मरण करती है, समाधि से ऊठने पर उपाधि सहित ही आत्माको बुद्धि समझती है, सो भी आत्मप्रकाश बलसे ही समझती है, अन्यथा नहीं; इसीसे योगसूत्र है कि,

'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।' ४।१८।१७।

चित्तकी वृत्तियाँ सदा ज्ञात ही होती हैं; क्योंकि उसका स्वामी (प्रकाशक) आत्मा सब परिणाम से रहित है। और आत्मा का

प्रतिबिम्ब सहित चित्त का सम्बन्ध के आधीन बाहर की वस्तुका प्रकाश होता है, इससे बाहरकी वस्तु कभी ज्ञात कभी अज्ञात रहती है। यद्यपि पुरुष (आत्मा) व्यापक है, इससे आत्मासे ही घटादि का भी प्रकाश होना चाहिये, तथापि बुद्धि स्वच्छ पदार्थ है, इससे पुरुष की चेतनता उसी में व्यक्त होती है, और बुद्धिको प्रकाशती है, बुद्धिद्वारा घटादि को प्रकाशती है, और अस्वच्छ होने से घटादि चेतनता को अभिव्यक्त नहीं कर सकते; इसीसे बुद्धि से उनका प्रकाश कहा जाता है। अपरिणामी होने से आत्मा में वस्तुतः कोई क्रिया नहीं है, इससे प्रकाश भी क्रिया रूप नहीं है, किन्तु आत्मा का स्वरूप ही है। वृत्ति द्वारा प्रकाशकर्तृत्व यद्यपि बुद्धि में है तथापि प्रतिबिम्ब मात्र से आत्मा में कर्तृत्व की प्रतीति योगमत में होता है। लिखा है कि,

'चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।'

योगद० ४।२२।

क्रियारूप संक्रमण बुद्धि में होता है, इससे क्रिया द्वारा संबन्ध रूप प्रतिसंक्रम बुद्धि का घटादि के साथ होता है, अपरिणामी चेतनात्मा में क्रिया के अभाव से प्रतिसंक्रम भी नहीं होता है, किन्तु चेतन का प्रतिबिम्ब से चेतनतुल्य हुई बुद्धि को चेतनात्मा स्वरूप से प्रकाशता है, इसस जलप्रतिबिम्बगत क्रिया की प्रतीति जैसे चन्द्रादि में होती है, तैसे बुद्धिगत प्रतिबिम्ब की क्रिया पुरुष में प्रतीत होती है, सो भी प्रतीतिरूप वृत्ति बुद्धि की होती है, आत्मा केवल प्रकाशरूप ही रहता है। इस प्रकार विवेक ज्ञान आत्मज्ञान है, अन्य नहीं। यह ज्ञान ही कल्याण का हेतु है, केवल चित्त का लय होना कल्याण का हेतु नहीं है। क्योंकि श्रुति में यह बात आई है कि सुषुप्ति काल में सब प्रजा ब्रह्म में प्राप्त हो जाती है, परन्तु ज्ञान विना वह प्राप्ति फलका हेतु नहीं होती। जैसे गाड़ी हुई अनन्त निधि द्रव्य के ऊपर ही मनुष्य हो, परन्तु जानकर खोदने, प्राप्त करने विना उससे कोई फल नहीं होता, तैसे ही नादानुसंधानादि से

चित्त का लय मात्र से कुछ फल नहीं होता, इस आशय से साहब ने कहा है कि (अनहद अनुभव की करि आशा) इत्यादि। इसस सद्गुरु से उपदेश की प्राप्ति परोक्ष ज्ञानपूर्वक योग से अपरोक्ष ज्ञान होता है, अथवा योग से चित्त के वश शान्त रहने पर उपदेश से अपरोक्ष ज्ञान होता है, सो मुख्य पुरुषार्थ का हेतु होता है। अत्यन्त विरक्त उत्कृष्ट जिज्ञासु को अभ्यास तीव्र वैराग्य से जैसे समाधि का लाभ होता है, तैसे ही ईश्वर के प्रणिधान (भक्तिविशेष) से भी समाधि का लाभ होता है, उसको भक्तियोग कहते हैं।

यद्यपि वेदान्त और योग में ईश्वर का स्वरूप को भिन्न प्रकार से कहा गया है, जिससे प्रतिपादन की प्रक्रिया में कुछ भेद है। तथापि अज्ञानी को ईश्वर की भक्ति करनी चाहिये, इस बात में भेद नहीं है, और ज्ञान होने पर भी आत्मरूप से ईश्वर का चिन्तन वेदान्त में कहा गया है कि जिससे ज्ञान दृढ हो, आत्मा में परिच्छिन्नता का सर्वथा अभाव निश्चय हो। और श्रुति सन्त सम्मत सत्यात्मज्ञान होने पर यद्यपि सत्य भेद की भावना नहीं रहती है, तथापि औपाधिक रूपवाला ईश्वर गुरु शास्त्र में ज्ञानी की भी भक्ति शरीर पर्यन्त रहती ही है। लिखा है कि,

'यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ ज्ञानप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये ॥'

जीवित पर्यन्त वेदान्त गुरु ईश्वर वन्दनार्ह हैं। ज्ञान से प्रथम ज्ञान की प्राप्ति के लिये पश्चात् कृतघ्नता की निवृत्ति के लिये वन्दना उचित है। भक्तियोग का उपदेश योगसूत्रकार ने किया है कि,

'तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥' १।२७।२८।

उस ईश्वर का वाचक ओंकार है। उसका जप और उसके अर्थ की भावना (चिन्तन) करनी चाहिये। इस जप भावना को प्रणिधान

तथा भक्ति कहते हैं, कर्मार्पण को भी प्रणिधान कहते हैं। भक्ति द्वारा चित्तनिरोध को भक्तियोग कहते हैं। इसका फल लिखा है कि,

'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' २९

उस भक्ति से प्रत्यक् चेतन (अन्तरात्मा) का ज्ञान होता है, और व्याधि आदि रूप योग के विघ्नों का अभाव होता है, इससे सिद्ध होता है कि विघ्नों का नाश आत्मानुभव द्वारा भक्ति समाधि मुक्ति का हेतु होती है, भक्तिद्वारा समाहित (एकाग्र) चित्तवाला को गुरु उपदेशादि से अनायास ही आत्मानुभव होता है, इसीसे लिखा है कि,

'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।' १।३२

उस विक्षेप का अभाव के लिये एकतत्त्व (ईश्वर) चिन्तन का पूर्ण अभ्यास करना चाहिये इत्यादि। इसी प्रकार विरक्त का चित्त की भावना (चिन्तन) से तथा प्रतिषिद्ध से अन्य जो इष्ट अभिमत हो उसकी भावनासे भी चित्तकी स्थिरता का उपदेश योगमें दिया गया है। और क्रियायोग लिखा है कि,

'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।' २।१

पापनाशक क्रियारूप तप, प्रणवादि का जपरूप स्वाध्याय, संपूर्ण स्वकर्म का ईश्वर में अर्पणरूप ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है। कनिष्ठ अधिकारी के लिये क्रियायोग का वर्णन है, क्रियायोग से पापकी निवृत्ति होनेपर अभ्यास वैराग्यादिसे ही वस्तुतः योग प्राप्त होता है, इससे कनिष्ठ के लिये क्रियाको भी योग कहा गया है। मन्त्रयोग, भक्तियोग मध्यम अधिकारी के लिये है। हठयोग भी कनिष्ठ के ही लिये है॥ इस प्रकार होनेवाला योग समाधि का स्थूल सूक्ष्म इन्द्रिय आत्मारूप विषय भेद से सवितर्कादि नाम भेद योग में वर्णित है, उसकी यहाँ कोई जरूरत नहीं है। जरूरत इतनी ही बात की है कि योगाभ्यास से चित्त जब अत्यन्त शुद्ध और वश हो जाता है, तब योगी के संकल्पानुसार काम करता है, योगी जहाँ उसे लगाना चाहे, वहाँ लगाता है, और शीघ्र तद्रूप हो जाता है,

स्वतन्त्र जहाँ तहाँ नहीं भागता, यही योग का फल है, सो योगी को होना चाहिये। इस प्रकार होने से आत्मा इन्द्रिय विषय सब का प्रत्यक्ष ज्ञान योगी को होता है उसे समापत्ति कहते हैं। जब जानने की इच्छा न हो, तब चित्त लीन हो जाय, वही निर्विकल्पक निर्बीज समाधि होता है। सविकल्प समाधि कालमें निरोधजन्य संस्कार से व्युत्थान (व्यवहार) जन्य संस्कार दबता है, और जब निरोधजन्य संस्कार का भी अभाव होता है तब निर्बीज समाधि कहाता है, परन्तु वैराग्य की वासना रहने से वह भी संस्कार शेष कहाता है। आत्मविषयक सविकल्प समाधि पूर्वक निर्विकल्प समाधि से मुक्ति होती है, और अनात्मविषयक समाधि उन में आत्मता दृष्टि आदि से प्रकृति भूतादि में ही मरकर जीव लीन होता है। पुराण के वचन हैं कि,

" दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिकाः॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते॥ "

इन्द्रिय उपासक दशमन्वन्तर ज्वर दुःख रहित रहते हैं। भूतोपासक पूर्ण सौ मन्वन्तर रहते हैं। अहंकारोपासक हजार मन्वन्तर, बुद्धि के उपासक दश हजार मन्वन्तर, अव्यक्तोपासक सौ हजार मन्वन्तर ज्वर रहित रहते हैं, बाद जन्मादि पाते हैं। और निर्गुण आत्मा को पाकर नित्य मुक्त हो जाते हैं। और चिकित्सा (वैद्यक) शास्त्र में जैसे रोग, रोग का हेतु, आरोग्य, आरोग्य का हेतु; इस चार रूप से संक्षिप्त पदार्थ होते हैं। तैसे ही योगशास्त्र में हेय, हेय हेतु, हान, हानहेतु; ये चार संक्षिप्त पदार्थ हैं। तहाँ विवेकी की दृष्टि से संसार के सुख, दुःख, दुःख के साधन ये सब दुःखरूप हैं। इनमें अतीत नष्ट हो चुके, वर्तमान भोग से नष्ट होते हैं। इससे भावी दुःख हेय (उपाय से नष्ट करने योग्य) हैं। अविवेकी भावी

दुःख को नहीं समझता है, योगी विवेकी ही उसे समझते हैं; और उससे रहित होनेके लिये उपाय करते हैं। द्रष्टा और दृश्यका संयोग हेय दुःख का हेतु है, यद्यपि आत्मा असंग है, इससे दृश्य के साथ उसका संयोग नहीं हो सकता, तथापि बुद्धि में उसका प्रतिबिम्ब होता है, इससे बुद्धि चेतनतुल्य होकर सब व्यवहार करती है। उसकी वृत्तियों का सब पदार्थ से संबन्ध होता है, इससे बुद्धि में ही पुरुष संबन्ध का भी भ्रम होता है। इससे अविवेक जन्य द्रष्टा दृश्य का संबन्ध हेय दुःख का हेतु है। और अज्ञान रहित विवेक ज्ञान से संयोग की निवृत्ति हान है, विवेक ज्ञान हान का हेतु है, परोक्ष ज्ञानसे मिथ्या अपरोक्ष ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, इससे श्रवण मनन के बाद निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक श्रुतार्थ की भावना से प्रकृष्ट अपरोक्ष अनुभवरूप विवेक ज्ञान से मिथ्या ज्ञान के दग्धबीजतुल्य होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह योग का सिद्धान्त है, सो आत्मविवेकादि अंश में ठीक ही है। वेदान्त के अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ में योग की अन्य रीति लिखी हुई है।

" त्रिपञ्चाङ्गान्यथो वक्ष्ये पूर्वोक्तस्य हि लब्धये।
तैश्च सर्वैः सदा कार्यं निदिध्यासनमेव तु॥" १००

त्रिपञ्च (त्रिगुणितपञ्च) पन्द्रह निदिध्यासन के अंग (साधन) पूर्वोक्त मोक्ष की प्राप्ति के लिये कहूंगा; उन अंगों द्वारा सदा निदिध्यासन (ध्यान समाधि) करना चाहिये।

" नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
तस्माद् ब्रह्मनिदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्॥" १०१

नित्य अभ्यास के बिना सत् चित् आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती, इससे जिज्ञासु अपना कल्याण के लिये चिरकाल तक ब्रह्म का ध्यान करे।

" यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालता।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥

प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥ " २–३

यम नियमादि क्रम से कहे गये हैं।

" सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ " ४

बाधसमानाधिकरण से सब जगत ब्रह्म ही है, ऐसा जानकर विनाशित्वादि दोष दूषित विषयों से इन्द्रियों का निरोध को यम कहते हैं, सो बार २ अभ्यास योग्य है।

" सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात् क्रियते बुधैः ॥ " ५

प्रत्यगभिन्न ब्रह्माकार वृत्तिका प्रवाह अन्य वृत्ति का अभाव को नियम कहते हैं, इस नियम से श्रेष्ठ आनन्द मिलता है, इससे पण्डित लोक नियम से इसका सेवन करते हैं।

" त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वाऽवलोकनात् ।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः ॥ " ६

प्रपञ्चरूपता को त्याग कर चिदात्मा में प्रपञ्च की उपेक्षा (अनादर) को त्याग कहते हैं, सो चिन्तन काल में भी मोक्षरूप होने से महापुरुषों से पूज्य है।

" यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः ॥ " ७

शब्द की प्रवृत्ति का कारण जाति गुण क्रिया संबन्ध का अभाव से जो ब्रह्म मौन (मन वचन का अविषय ज्ञानयोग प्राप्य) है, उस रूप से विवेकी सदा स्थिर रहे।

" वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोपि शब्दविवर्जितः ॥

इति वा तद्भवेद् मौनं सतां सहजसंज्ञितम् ।
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥" ८-९

प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का चिन्तनरूप चौदहवां अंग के साथ उक्त मौन का अभेद की शंका से मौन का अन्य लक्षण लिखा गया है कि जाति आदि का अभाव से ब्रह्म जैसे वाक् का विषय नहीं है, तैसे अनिर्वचनीय होनेसे जगत भी वाक का विषय नहीं है, ऐसा जान कर वाद विवाद का त्याग-पूर्वक सहजा स्थितिरूप मौन सत्पुरुषों में रहता है, वाणी का मौन अज्ञों में रहता है ।

'आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥' १०

जिसमें सत्य जगत तीनों काल में नहीं है, जिससे यह जगत व्याप्त है सोई विजन (एकान्त) देश है ।

'कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टो ह्यखण्डानन्द अद्वयः ॥' ११

ब्रह्मा आदि सब भूतों का निमेषमात्र में कलनसे (उत्पत्ति आदि का हेतु होनेसे) अखण्ड अद्वय ब्रह्म ही काल है । भाव है कि हठयोग का आरम्भ के लिये वसन्त वा शरद्काल का नियम लिखा है कि शरद् वा वसन्त में योगारम्भ से योगसिद्धि मिलती है, योगी रोग रहित रहता है इत्यादि । परंतु ब्रह्म का निदिध्यासन रूप योग में वा अङ्ग में काल की अपेक्षा नहीं होती है, ब्रह्म ही सब कालों से शुभ काल है, इत्यादि ।

'सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत् सुखनाशनम् ॥' १२

यस्मिन् सुखे (जिस सुखस्वरूप में) चिन्तनं नैव भवेत् (हिताहितादि की चिन्ता न हो) वही ब्रह्म अजस्र (नित्य) आसन रूप है । सुख को नष्ट करनेवाला अन्य आसन आसन नहीं है ।

'यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम् ॥' १४

जो सब भूत का मूल कारण है और चित्त का बन्धन (कारण-अज्ञान) जिसके आश्रित है, वा जिसकी प्राप्ति के लिये चित्त को एकाग्र किया जाता है, वही मूलबन्ध राजयोगी को सेवन योग्य है ।

'अङ्गानां समतां विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते ।
नोचेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्ककाष्ठवत् ॥' १५

स्वभाव से विषम शरीरावयवों को भी अधिष्ठान दृष्टि से सम समझे, यदि अंग की विषमता परब्रह्म में नहीं लीन हो सके तो शुष्क काठ के तुल्य सीधा रहना अंगों की समता नहीं है ।

'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥
दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥' १६-१७

ज्ञानदृष्टि से जगत को ब्रह्म रूप देखे इस अर्थ को प्रथम श्लोक से कहने पर शंका हुई कि वृत्ति की प्रवृत्ति का निमित्त (कारण) जाति गुणादि का ब्रह्म में अभाव होने से प्रत्यक्ष जगत का ब्रह्मरूप से दर्शन (ज्ञान) नहीं हो सकता, तब दूसरा पक्ष कहते हैं कि जिसमें सब त्रिपुटी का लय होता है, उस ब्रह्माकार मन की वृत्ति करना चाहिये । अर्थात् लयाधार रूप से प्रपञ्चातीत ब्रह्म को जानना चाहिये, केवल नासिकाग्र को नहीं देखना चाहिये ।

'चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥' १८

मन के अधीन प्राण रहता है । इससे चित्तादि सब वस्तु में ब्रह्म की भावना से मन की सब वृत्तियों का निरोध से प्राण का निरोध प्राणायाम है ।

'निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनः ॥' १९–२०

प्रपञ्च का निषेध रेचक है, अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति पूरक है, इस वृत्ति की स्थिरता कुम्भक है, परन्तु यह ज्ञानी के लिये है; अज्ञानी के लिये नासिका-पीडन ही प्राणायाम है।

'विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥' २१

विषयों में अस्ति भाति प्रिय आत्मा को जान कर उस चेतनात्मा में मन की स्थिरता प्रत्याहार है, मुमुक्षु इसका अभ्यास करे।

'यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥' २२

जहाँ २ मन जाय, वहाँ २ सत्ता आदिरूप ब्रह्म को जानकर उसमें मन को स्थिर करना श्रेष्ठ धारणा है।

'ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥' २३

मैं ब्रह्म हूँ इस श्रेष्ठ वृत्ति द्वारा देहादि की चिन्ता से रहित होकर स्थिति को ध्यान कहते हैं, सो परमानन्द दाता है।

'निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ॥' २४

विषयानुसंधान (चिन्तन) रहित मन की वृत्ति से और ब्रह्माकार वृत्ति से जो वृत्ति का अत्यन्त विस्मरण उसे समाधि कहते हैं। यद्यपि वृत्ति का विस्मरण काल में अज्ञान रहता है, तथापि ब्रह्मज्ञान के बाद

वृत्तिका विस्मरण भी ज्ञानसंज्ञक होता है; क्योंकि अज्ञान का ब्रह्मज्ञान से अभाव हो जाता है, इससे फिर अज्ञान की सत्ता नहीं होती ।। इस 'समाधि' का प्रकार तथा स्थान वाक्यसुधा ग्रन्थ में लिखा है कि,

'उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दवस्तुनि ।
समाधिं सर्वदा कुर्याद् हृदये वाऽथवा बहिः ॥' २२

बाहर वा भीतर वर्तमान सब संसार में नामरूप भाग को त्याग कर सच्चिदानन्द में बाहर वा हृदय में मन को स्थिर करे ।

'सविकल्पोऽविकल्पश्च समाधिर्द्विविधो हृदि ।
दृश्यशब्दानुवेधेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥' २३

सविकल्प निर्विकल्प भेद से समाधि दो प्रकार के होता है, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप त्रिपुटी का भान सहित ब्रह्माकार चित्त की स्थिति को सविकल्प कहते हैं, त्रिपुटी का भान रहित को निर्विकल्प कहते हैं । सो सविकल्प भी दृश्यानुवेध शब्दानुवेध भेद से भी दो प्रकार के होता है ।

'कामाद्याश्चित्तसादृश्यात् तत्साक्षित्वेन चेतनाम् ।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥
असंगः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीति शब्दविद्धोऽयं सविकल्पः समाधिकः ॥' २४-२५

चित्त के तुल्य उत्पत्ति नाशवाला होने से चित्त के रहते रहने से कामादि चित्त की ही वृत्ति हैं, सुषुप्ति आदिमें आत्मा के रहते भी कामादि नहीं रहने हैं, इससे आत्मा के धर्म ये नहीं हैं । इसप्रकार कामादि का साक्षी रूप से चेतन का ध्यान को दृश्यानुविद्ध समाधि कहते हैं । असंग सत् चित् आनन्द स्वयंप्रकाश द्वैत रहित ब्रह्म मैं हूं । इस प्रकार शब्द से युक्त शब्दानुविद्ध होता है ।

'स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दावुपेक्ष्य तु ।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निर्वातस्थितदीपवत् ॥' २६

स्वरूपानुभवानन्द में चित्त के एकाग्र होने से दृश्य शब्द की उपेक्षा पूर्वक निर्विकल्प समाधि निवातस्थ दीपतुल्य होता है। जैसे हृदय में तीन प्रकारके समाधि कहे गये हैं, इसी प्रकार बाहर किसी वस्तु में नामरूप को छोड़कर उसका साक्षीरूप से ध्यान दृश्यानुविद्ध होता है। सत् चित् अखण्ड वस्तु एकरस है इत्यादि शब्द सहित बाहर शब्दानुविद्ध होता है। बाहर में भी ब्रह्मानन्द का अनुभव से मन को स्तब्ध (निश्चल) होना बाहर का निर्विकल्पक है॥ अद्वैत ब्रह्माकार वृत्ति रहे, परन्तु उसका भान न रहे, तब अद्वैत भावना रूप अवस्था कही जाती है। और जब वृत्ति का अपना उपादान कारण सात्विक अन्तःकरण में लय हो जाय, तब उसे अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्पकावस्था कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में वृत्ति सहित अन्तःकरण का अज्ञान में लय होता है, और विदेह मोक्षावस्था में वृत्ति अन्तःकरण सहित अज्ञान का अभाव रहता है। इससे प्रमाता आदि का भान सहित द्विविध सविकल्प समाधि के वा द्विविध निर्विकल्प समाधि के लक्षणों की सुषुप्ति वा विदेह मुक्ति में अतिव्याप्ति नहीं है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में यह भेद है कि जीवन्मुक्ति में मन का बाध होने पर भी उसका स्वरूप रहता है। और विदेह मुक्ति में मन का स्वरूप अत्यन्त नष्ट हो जाता है। इस पूर्व कही रीति से जो वेदान्त में यम नियमादि और समाधि के भेद लिखे हैं, सो उत्तम अधिकारी के लिये हैं; तथा '**पवन गहे कस मलिन धोय।**' बसन्त ११ इत्यादि वचनों से जो प्राणायामादि का साहेब ने अनादर किया है। ११३ शब्द से साध्य साधनरूप जगत को मिथ्या बताया है, सो भी उत्तम अधिकारी के ही लिये है। अन्य अधिकारियों के लिये योगग्रन्थों में तथा जीवन्मुक्ति विवेकादि में आसनादि निरूपित हैं। इससे भाव है कि उत्तम अधिकारी वेदान्त वर्णित यमादि का अभ्यास करे, तो उसीसे निदिध्यासन का परिपाक द्वारा अद्वैत ब्रह्मरूप से स्थिति रूप निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि होती है, और मन्द मध्यम को अन्य यमादि तथा क्रियायोग का

अभ्यास करना चाहिये। उसीसे उन्हें धीरे २ समाधि का लाभ अवश्य होता है। मन्द पुरुष से वेदान्त वर्णित योग हो नहीं सकता, इसीसे माण्डूक्य कारिका में लिखा है कि,

'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥'

प्रकरण ३।३९

यद्यपि यह योग सब बन्धनों का संबंध से रहित है तथापि वेदान्त के ज्ञान से रहित योगियों से यह योग दुर्दर्श है; क्योंकि वे लोक अभय में ही भय देखते हैं।

'मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥'

प्र० ३।४०

जिन उत्तम पुरुषों की दृष्टि से संसार मन आदि मिथ्या है, उनकी दृष्टि से अभय मोक्ष शान्ति स्वभाव से ही सिद्ध है। परन्तु जिन योगियों की दृष्टि से संसार मन आदि आत्मा से भिन्न सत्य हैं, उनको मन का निग्रह के अधीन ही अभय, दुःखनाश, प्रबोध, अक्षय शान्ति (मोक्ष) है; क्योंकि अभ्यास से उनके मनका भी नाश होता है। मनका नाशविषयक योगवासिष्ठ के वचन हैं कि,

'द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपोऽदेहमुक्तितः॥'

योगवा० प्र० ५।९०

सरूप अरूप दो प्रकार के मन का नाश होता है। जीवन्मुक्ति में सरूप नाश होता है, विदेहमुक्ति में अरूप नाश होता है। नाश रहित विद्यमान मन का और सरूप नष्ट का लक्षण लिखा है कि,

'प्राकृतं गुणसंभारं समेत्य बहु मन्यते।
सुखदुःखाद्यवष्टभ्य विद्यमानं मनो विदुः॥

सुखदुःखदशाधीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम्।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं चित्तं तस्य मृतं विदुः॥'

योगवा० प्र० ५।९१

प्रकृति के गुण संभारों (परिणामों) को प्रत्यक्ष वा प्राप्त करके सुख दुःखादि को बहु अवष्टभ्य (सत्य जानकर) जो जीव मन्यते (मनन करता है) उसके मनको महात्मा लोक विद्यमान जानते हैं। और जैसे पर्वत को श्वास नहीं कुछ कर सकता, तैसे जिसको सुख दुःख दशा साम्य दशा से नहीं हटा सके, उसके चित्त को मरा हुआ जानते हैं।

'भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते॥
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तो रघूद्वह।
विदेहमुक्तावेवासौ विद्यते निष्कलात्मनः॥'

योगवा० प्र० ५.९२

आशा आदि का आश्रय मन के नष्ट होने पर फिर जन्म का अभाव ही जीवन्मुक्त का लक्षण है, यही मन का सरूप नाश है। और अरूप मन का नाश कला रहित को विदेह मुक्ति में होता है इत्यादि॥ इस मुक्ति का हेतु निर्विकल्प समाधि में लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद; ये चार विघ्न होते हैं, उनका निवारण योगी को करना पड़ता है। निद्रा वा आलस्य से ध्येयाकार वृत्ति का अभाव को लय कहते हैं। लक्ष्यके सूक्ष्म होने आदि से लक्ष्याकार न होकर अन्याकार होना वा अन्तर्मुख नहीं होकर बहिर्मुख होना विक्षेप है। रागादि को कषाय कहते हैं, जो यद्यपि मूढ क्षिप्त चित्त के धर्म हैं, तथापि रागादि की वासना योगी के चित्त में भी रहती है, सो यद्यपि अनुद्बुद्ध रहते हानिकारक नहीं होती तथापि उद्बुद्ध वासना हानि करती है, उसका निवारण करना पड़ता है, और समाधि में प्रवृत्त होने पर बाह्य पदार्थ का संबन्धजन्य दुःख का अभाव होता है, तिससे आत्मानुभवादि विना भी आनन्द की प्रतीति

होती है, तथा सविकल्प समाधि में भी आनन्द होता है, उस आनन्द में आसक्त होने पर निर्विकल्पक समाधि नहीं होता. इससे उस आनन्दरूप रस का आस्वाद रूप रसास्वाद भी विघ्नरूप है, उपाय करने से जब चित्त लय विक्षेप रहित होकर सत्य ब्रह्माकार से स्थिर होता है, तब वही जीवन्मुक्ति कही जाती है । लवण जल के तुल्य आत्मा और मन की एकता को साधनरूप योग कहा है, और मन प्राणादि उपाधियों के बाध होने से संकल्पादि का अभाव होने पर जीवात्मा परमात्मा में भेद का हेतु के नहीं रहने से जीव ब्रह्म की एकता रूप समतावस्था फलरूप समाधि कहा गया है ॥

हठयोगप्रदीपिका उपदेश ४ में लिखा है कि,

'राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥१॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥२॥
सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥३॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥४॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोभिधीयते' ॥५॥

इस पूर्व कही रीति से चित्त की एकाग्रता का हेतु गौण मुख्य योगों का संक्षिप्त विवरण हो चुका । सांख्ययोग में वर्णित विचारोपयोगी पदार्थों का आत्मा का आगे उल्लेख होगा ।

सांख्ययोगविचारः ॥ ३८ ॥

दृश्य पदार्थों का स्वरूप को कहनेवाला योगसूत्र है कि,

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।' २।१८

प्रकाश क्रिया स्थिति स्वभाव वाले क्रमसे सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण हैं; इनकी साम्यावस्था प्रधान कहाता है। ये तीनों गुण संयोग विभाग धर्मवाले हैं; इनका परस्पर अङ्गाऽङ्गीभाव (गुणप्रधानरूप) से संबन्ध होता है, तौ भी इनकी अपनी प्रकाशादि शक्ति असंकीर्ण (भिन्न) ही रहती है; ये तीनों मिलकर पृथिवी आदि की सृष्टि करते हैं। तुल्य जातीय और अतुल्य जातीय पदार्थ की सृष्टि की इनमें शक्ति है। सात्त्विक देवादि के शरीर की सृष्टि में सत्त्वगुण प्रधान रहता है, अन्य अप्रधान रहते हैं। तीनों गुण मिल करके ही भोग मोक्षरूप पुरुषार्थ को भी सिद्ध करते हैं, सो भी अयस्कान्त मणि की नाईं समीपता मात्र से पुरुष का उपकार करते हैं। और धर्मादि किसी कारण के विना ही एक गुण की प्रधानता दशा में अन्य गुण उसका अनुसरण क ते हैं, और ये ही तीनों गुण सूक्ष्म स्थूल भूतरूप तथा महत्तत्त्व अहंकार स्वरूप सूक्ष्म इन्द्रिय रूप और स्थूल श्रोत्रादि इन्द्रिय रूप परिणाम को स्वयं प्राप्त होते हैं, सो परिणाम भी पुरुष का भोग मोक्ष के लिये होता है, सुख दुःख (इष्टानिष्ट) रूप त्रिगुण बुद्धि के परिणामों का अविविक्त रूप से निश्चय को भोग कहते हैं। विवेक पूर्वक भोक्ता का निश्चय को मोक्ष कहते हैं, यह भोग मोक्ष भी बुद्धिकृत होता है, और बुद्धि में होता है; परन्तु जैसे योद्धा के जय पराजय का राजा में व्यवहार (कथन) होता है, तैसे ही बुद्धिकृत बुद्धिस्थित भोग मोक्ष का पुरुष में व्यवहार होता है; क्योंकि पुरुष ही राजा के तुल्य बुद्धिकृत फलों का भोक्ता (अनुभवकर्ता) है। सो फल भोक्तृत्व भी अविवेककृत ही है। जैसे रक्त पुष्प की समीपता

से उसका धर्म शुद्ध स्फटिक पत्थर में प्रतीत होता है, तैसे ही बुद्धि की समीपता से बुद्धि की शान्तादि वृत्तियाँ पुरुष में प्रतीत होती हैं। अथवा मलिन दर्पण में मलिन प्रतिबिम्ब को देखकर अज्ञ पुरुष जैसे शोचता है कि मेरा मुख मलिन हो गया है, तैसे ही बुद्धिगत प्रतिबिम्ब में विकार से पुरुष में विकार की प्रतीति होती है। यद्यपि वह प्रतीति भी बुद्धि में ही होती है; क्योंकि पुरुष तो निर्विकार तथा असंग है, तथापि सो भोग की प्रतीति बुद्धि को पुरुषत्व सिद्ध करती हुई होती है, इससे सुख दुःखादि वा इनका भोग वस्तुतः पुरुष में नहीं होते हैं, तौ भी बुद्धि में पुरुषत्व की सिद्धि से पुरुषवृत्ति अनुभव के समान होता है। और विपयय (भ्रम) रहित भी आत्मा भ्रमयुक्त के समान, अभोक्ता भी भोक्ता के समान, विवेक ज्ञान रहित भी विवेकी के समान प्रतीत होता है; क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व विवेक ज्ञानादि सब बुद्धि के धर्म हैं, अविवेक से पुरुष में प्रतीत होते हैं, इत्यादि भाष्यमें वर्णित हैं। उक्त गुणों का स्वरूप के भेद निश्चय कराने के लिये सूत्र है कि,

'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।' २।१९

शान्त घोर मूढ (सुख दुःख मोह) रूप स्थूल आकाशादि विशेष कहाते हैं, उनसे रहित सूक्ष्म शब्द स्पर्श रूप रस गंध पांच तन्मात्रा अविशेष हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय मन विशेष कहाते हैं, इनका कारण अस्मिता रूप अहंकार अविशेष कहाता है। स्थूल पृथिवी आदि जिसका सुख के हेतु हैं, उसके लिये शान्तरूप हैं, जिसका दुःख के हेतु हैं, उसके लिये घोर रूप हैं, जिसका मोह के हेतु हैं, उसके लिये मूढरूप हैं, और ग्यारह इन्द्रिय तथा पांच भूत केवल विकार (कार्य) रूप हैं, किसी तत्त्वान्तर के कारण नहीं हैं। और श्रवण स्पर्शनादि विशेष धर्मवाले हैं। और पांच तन्मात्रा अहंकार विशेष धर्म से रहित हैं। विकार के हेतुत्व तन्मात्रा अहंकार में हैं, इससे (विकार हेतुत्वमविशेषत्वम्) यह इनका लक्षण है। और तन्मात्राओं में पूर्व २ से पर २

सदा युक्त रहते हैं। इससे शब्द से युक्त स्पर्श रहता है, और शब्द स्पर्श से युक्त रूप रहता है, ऐसे रस गन्ध भी इनसे युक्त रहता है, इन पांचों से स्थूल भूत की उत्पत्ति सांख्यसूत्र में लिखी है, इससे स्थूल भूत का कारण सूक्ष्म भूत ही तन्मात्रा कहे जाते हैं। योगसूत्र भाष्यकारने लिखा है कि,

'शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रञ्च इत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चलक्षणाः।'

एक दो तीनादि लक्षण (धर्म) वाले तन्मात्र शब्द के अर्थ हैं। वेदान्त में भी भूतसूक्ष्म को ही तन्मात्रा कहते हैं। पुरुषार्थ क्रिया के योग्य को सत कहते हैं, पुरुष को भोग मोक्ष रूप पुरुषार्थ बुद्धि से होता है, इससे बुद्धि सत है, उसका भाव (रहना) सत्ता है। उस सत्ता रूप महत्तत्त्व से पञ्च तन्मात्रा अहंकार रूप अविशेष की सृष्टि होती है। महत्तत्त्व की उत्पत्ति अव्यक्त प्रधान नामवाली प्रकृति से होती है। योगभाष्य में तीन गुण का परिणाम रूप महतत्त्व और प्रधान को कहा है। महत्तत्त्व को लिङ्गमात्र नामवाला परिणाम कहा है, और प्रधान को गुणों की साम्यावस्था रूप अलिङ्ग परिणाम कहा है, और अन्य परिणाम पुरुषार्थक होते हैं, प्रधान रूप परिणाम पुरुषार्थक नहीं होता, यह भेद है। विवेक ज्ञान होने पर ये सब दृश्य विवेकी के लिये दृश्य नहीं रहते हैं (भोगादि के हेतु नहीं होते हैं), इससे नाश कहा जाता है, अविवेकी के लिये दृश्य का नाश नहीं कहा जाता, इससे प्रकृति में नित्यता सिद्ध होती है। सूत्र है कि,

'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।' यो० २।२२

मुक्त के प्रति नष्ट (अदृश्य) भी गुण कार्य अन्य के प्रति अनष्ट (दृश्य) ही रहते हैं। मुक्त अमुक्त के लिये साधारण (एक) होने से सर्वथा नष्ट नहीं होते हैं। पुरुष के लिये भोगापवर्ग दो कार्य गुण के करना रहता है,

विवेक होने पर कार्याधिकार की निवृत्ति होती है, उस समय पुरुष और गुण को कैवल्य प्राप्त होता है। सो लिखा है कि,

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।' योगसू० ४।३४

पुरुषार्थ के लिये कार्यकारण रूप गुण हुये हैं। सो पुरुषार्थ के समाप्त होंने पर अपने २ कारण में लय क्रम से प्रधान में लीन होते हैं। व्यवहार काल के संस्कारों का समाधिकाल में मन में लय होता है, मन का अस्मिता में, अस्मिता (अहंकार) का महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व का प्रधान में लय होता है, और इस प्रकार प्रतिप्रसव (लय) होने पर उस मुक्त के प्रति गुणों का कैवल्य (कार्यविमुक्ति) कहा जाता है। अथवा स्वरूप से स्थिर चेतन का ही मोक्ष होता है (अविवेक जन्य संसार की प्रतीति भी नहीं होती है, यही उसका मोक्ष है) और पुरुष के अनन्त होने से संसार में अनादि अनन्तता भी बनी रहती है। अज्ञान से संसार और ज्ञान से मुक्ति आत्मा की असंगता आदि में सांख्य योग वेदान्त की एक ही स्थिति है। संसार में सत्यता आत्मामें भेद ही वेदान्त से अन्य में भेद है। और हठयोग में हठयोग विना मुक्ति नहीं मानते हैं। हठयोगप्रदीपिका में लिखा है कि,

'ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्।
प्राणोपि जीवति मनो म्रियते न यावत्॥
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो।
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः॥'

सूर्य चन्द्र नाडी से चलना प्राण का जीवन है, अपना २ विषयों का ग्रहण इन्द्रियों का जीवन है, विषयाकार वृत्ति को पैदा करना मन का जीवन है। ब्रह्मरन्ध्र स्थिति वा गति विशेष को छोड़ कर अपने स्वरूप में स्थिति प्राण का मरण है, इन्द्रिय और मन का भी अपना २ व्यापार को त्यागना मरण है। इससे जब तक प्राण और मन तथा इन्द्रिय ये सब

जीते हैं तब तक ज्ञान वा मोक्ष कैसे हो सकता है, जो योगी प्राण मन इन्द्रिय का विलय करता है, वही मुक्त होता है, अन्य किसी प्रकार भी मुक्त नहीं होता । इसी अर्थ को कहनेवाले योगबीज ग्रन्थ के वचन हैं कि,

'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तोपि धर्मज्ञोपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥'

अनेकों विचार से भी मन वश में नहीं होता, इससे प्राण का जय होना ही मन का जय है । ज्ञाननिष्ठ विरक्त धर्मज्ञ जितेन्द्रिय देव भी योग बिना मुक्त नहीं हो सकता । और मरण काल में जैसी वासना प्रगट होती है, वैसी ही योनि आदि प्राप्त होते हैं । यह निर्विवाद है, और योग रहित ज्ञानी भी मरणकाल की विकलता को नहीं रोक सकता है, इससे विकलता वश वासना के प्रगट होने से योग रहित ज्ञानी का भी वासना के अनुसार जन्म होता ही है, सो योगबीज में लिखा है कि,

'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् ।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥
देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः ।
तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥'

और योगी तो योगबल से विकलता को रोकता है, इससे आत्म-भावना बनी रहती है । जन्म का हेतु वासना नहीं प्रगट होती है, इससे मुक्त होता है । इससे वाक्य के विचारादि जन्य ज्ञान भी योग द्वारा ही मुक्ति का हेतु होता है । ज्ञान भी निष्फल नहीं है, ज्ञान होने पर भी योग अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि योगबीज में लिखा है कि,

'देहान्ते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते ।
यादृशं तु भवेत्तत्तद् भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥

पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।'

ज्ञानी भी देह के अन्त होने पर संचित पुण्य पाप से फल पाते हैं। तौन २ फलों को भोग कर फिर ज्ञानी होने पर पुण्य का प्रभाव से सिद्ध का समागम होता है, फिर सिद्ध की कृपा से योगी होते हैं, तब संसार छूटता है, अन्य प्रकार से नहीं। फिर पार्वती जी का प्रश्न है कि ज्ञानी लोक ज्ञान से मुक्ति कहते हैं, आप योग से मुक्ति कहते हौ, सो दोनों बात कैसे बन सकती है, तब शिव जी ने कहा है कि,

'ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा।
सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम्॥
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्॥'

ज्ञानी लोक ज्ञान से मुक्ति कहते हैं; सो कहना ठीक है; परन्तु भाव है कि सब कोई तरवार से विजय कहता है, तो भी क्या युद्ध और वीर्य विना जय होता है, तैसे ही योग विना ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है। और वर्तमान योग रहित जिन जनकादिकों में अप्रतिबद्ध ज्ञान सुना जाता है, उन में भी जन्मान्तर कृत योगज संस्कार का ही वह फल था; क्योंकि,

'जैगीषव्यो यथा विप्रस्तथा चैवाऽसितादयः।
क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः॥
संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः।
धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः॥
मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शाण्डिली च तपस्विनी।
एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि॥
ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः।'

जैगीषव्य असितादि ब्राह्मण, जनकादि क्षत्रिय, तुलाधारादि वैश्य पूर्वजन्म कृत योग से ही परम सिद्धि पाये । धर्मव्याधादि स्वत शूद्र और पैलवकादि तथा मैत्रेयी आदि स्त्री और इनसे अन्य अनेकों नीचयोनि गत जीव भी पूर्वजन्म में अभ्यास योग से ही श्रेष्ठ ज्ञाननिष्ठा पाये ॥ और जो पुराणादि कहता है कि ब्राह्मण से अन्य को ज्ञान नहीं होता सो कथन भी योगी से अन्य के लिये है, योगी के लिये नहीं । जो जन्मान्तर के योगी नहीं हो और वर्तमान जन्म में योगाभ्यासी हो सो भी क्रम से ब्राह्मण योनि को पाकर पूर्ण योगी और मुक्त होता है । गरुडपुराण कहता है कि,

'योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मान्तराहतः ।
योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकः क्रमः ॥
स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् ।
ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् ॥
अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम् ।
ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत् ॥'

जन्मान्तर कृत योग विना स्त्री शूद्र होती है; फिर वैश्य होकर कृपा हीन क्षत्रिय होती है, फिर वह क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मण होता है, तब यज्ञ करके संन्यासी ज्ञानी योगी होकर मुक्त होता है । योग का अधिकार सब को है, इससे योग से सब को मुक्ति होती है । किसी प्रकार योगभ्रष्ट होने पर भी हीन गति नहीं होती, सो गीता में लिखा है कि,

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
अथवा योगिनामेव कुले भवति सोऽर्जुन' ॥ ४।४२

योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र धनी घर में जन्म लेता है, वा योगी के ही घर में जन्म लेता है ॥ इत्यादि कथन हठयोगी का है सो ठीक नहीं; क्योंकि अज्ञान जन्य संसार से मोक्ष का साधन ज्ञान ही हो सकता है, सो श्रुति

स्मृति आदि में अति प्रसिद्ध है, '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः स्यात्**'॥ '**तरति शोकमात्मवित्।**' छां० ७।१।३

ज्ञान विना मुक्ति नहीं होती, आत्मज्ञानी सब शोक को तर जाता है। इत्यादि श्रुति कहती है। और,

'**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।**' भ० गी० ४।३९

'**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।**' भ० गी० २।५९

ज्ञान का लाभ करने परा शान्ति को तुरन्त पाता है। परम तत्त्व का अपरोक्ष होने पर इसके रागादि निवृत्त हो जाते हैं। और वार्तिक में लिखा है कि,

'**कारणस्याप्यविद्याया वस्तुबोधाद्विनाशतः।**
यतोऽविद्याविनाशार्थे प्रपञ्चविलयोऽफलः॥'

संबन्धवा० ३९१

'**व्यतीतानेकजन्मोत्थवासनानामनन्ततः।**
तासां निरोधोऽसंभाव्यो जन्मन्येकत्र मानवैः॥'

बृ० संबन्धवार्तिक ४५९

'**सर्वानर्थाभिसंबन्धे ह्यविद्यैवास्य कारणम्।**
वासनानामपि यतो सैव यस्मादपेक्षते॥'

बृहदारण्यकसम्ब० वा० ४६४

संसार का कारण अविद्या का आत्मज्ञान से नाश होता है, इससे अविद्या का नाश के लिये योग से प्रपञ्च का विलय करना निष्फल है॥ और अतीत अनेक जन्म में उपार्जित वासना के अनन्त होने से ज्ञान विना एक जन्म में उनका निरोध (नाश) भी मनुष्यों से होना असम्भव है॥ और इस जीव को सब अनर्थ का संबन्ध में अविद्या ही कारण है, जिससे वासना का संबन्ध में भी अविद्या की ही अपेक्षा होती है, इत्यादि।

इससे सिद्ध हुआ कि अपरोक्षात्मज्ञान के बाद वासना का बीज ही नहीं रहता है, फिर वासना के अधीन ज्ञानी का जन्म कहना हठी का हठ मात्र है। और कर्म योग उपासना भक्ति आदि आत्मज्ञान के साधन हैं, उनसे ही राजस तामस वृत्ति का निरोधरूप योग सिद्ध हो जाता है। और प्राण का लय वा ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति ही ज्ञान वा मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है; क्योंकि श्रवण विचारादि विना ज्ञान नहीं होता है। यदि श्रवण विचारादि विना प्राण वा मन के लय से ज्ञान होवे तो मूर्छा वा सुषुप्ति में सबको ज्ञान होना चाहिये, इससे ज्ञान ही अज्ञान वासना कर्मादि के नाशक है। किन्तु प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक से जाग्रत स्वप्नादि काल में भोगादि का जनक वासनाभास की निवृत्ति नहीं होती है; किन्तु ज्ञानाग्नि से दग्ध होते भी भोग जनक और पुनर्जन्मा-जनक प्राणादि कर्मादि प्रारब्ध भोग तक रहते हैं, प्रारब्ध का नाश के साथ इन सबका अत्यन्त नाश होता है, इससे मरण काल में ज्ञानी में वासना का उद्बोध (प्रगटता) कहना सर्वथा असंगत है। योग की प्रशंसामात्र कहा जाय तो बन सकता है॥ और–

'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।'
कठ० १।२।१२।

'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि।' कैवल्यो० १।२।

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।' याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० १।

'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः।
योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्।
शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये॥
आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्धयति॥'
काशीख० स्कन्दपु० अ० ४१।

'योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति॥'
कूर्मपु० अ० ११।

'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥' योगवा०

अध्यात्मयोग की प्राप्ति से सर्वात्मदेव को जान कर धीर पुरुष हर्ष शोक को त्यागता है॥ श्रद्धा भक्ति ध्यान योग से आत्मा को जानो। यह परम धर्म है जो योग से आत्मदर्शन हो। श्रेष्ठ द्विज अग्निष्टोम यागादि सब कर्म को त्यागकर, योगाभ्यास में तत्पर और शान्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है॥ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य स्त्री शूद्र सब को पवित्र करनेवाला, कर्म का नाश और मुक्ति के लिये योग से अन्य साधन नहीं है। आत्मज्ञान से मुक्ति होती है, सो ज्ञान योग विना नहीं होता; और वह योग चिरकाल तक अभ्यास से ही सिद्ध होता है। हे राम! संसार विष का वेग रूप विषूचिका दुःसह है, सो योगरूप पवित्र गारुड मन्त्र से निवृत्त होनी है। इत्यादि वचनों से चित्त की एकाग्रतारूप योग में ज्ञान की साधनता सिद्ध होती है, तथा भक्तियोग ज्ञानयोग में मोक्ष की साधनता भी युक्त ही है, इससे कोई विरोध नहीं है। और हठयोग तो कनिष्ठ अधिकारी के लिये उपयोगी होता है, और कनिष्ठ के लिये भी यह नियम नहीं है कि आसन प्राणायाम मुद्रा षट्कर्म करे तभी ज्ञान चित्त की स्थिति वा मोक्ष उसको होता है, किन्तु भक्तियोग, कर्मयोग, जपयोग, सत्संगादि अनेकों अन्तःकरण के शोधक सुगम साधन हैं, जिनसे कनिष्ठ अधिकारी को भी कल्याण होता है। और पा० १।४८-४९। योगसूत्र जो यह कहता है कि, निर्विचार समाधि के विशद होने पर सत्य को प्रकाशने वाली प्रज्ञा होती है, सो श्रुत अनुमान प्रज्ञा का विषय सामान्य से अन्य विशेष अर्थ को विषय करती है, इत्यादि। इससे भी यह नहीं सिद्ध हो सकता कि, हठयोगी को ही आत्मा का

विशेष अपरोक्ष ज्ञान होता है, अन्यको नहीं होता; क्योंकि वह योगसूत्र का कथन दूर व्यवहित स्वर्गादि विषय के लिये है कि उनका शब्द वा अनुमान से सामान्य रूप से परोक्ष ज्ञान होता है, और योगी को समाधि का बल से दूर व्यवहित का भी अपरोक्ष ज्ञान होता है। और अपना स्वरूप तो दूर व्यवहित है नहीं, इससे किसी को निदिध्यासन से किसीको श्रवण विचार से भी उसका अपरोक्ष ज्ञान दशम ज्ञान की नाईं होता है, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥

बहुत लोकों का कथन तथा समझ है कि जिसको अणिमादि सिद्धि होती है, उसीको ज्ञान वा मोक्ष होता है, सो भी योगभाष्यादि से विरुद्ध है; क्योंकि,

'क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम।' पाद ३।५२

सूक्ष्म कालरूप क्षण और उसका क्रम में संयम (धारणाध्यानु-समाधि) से विवेकज ज्ञान होता है, सो तारक होता है, पूर्णरूपवाला होता है। उस विवेकज का लक्षण लिखा है कि,

'तारकंसर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमञ्चेति विवेकजं ज्ञानम।' ५४

तारक विवेकज ज्ञान सब वस्तु को सर्वथा प्रकाशता है। इसके बाद भाष्य है कि, 'प्राप्तविवेकज ज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा।'

सूत्र है कि 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम।' ५५

अर्थ है कि, उक्त विवेकज ज्ञान प्राप्त हो वा नहीं प्राप्त हो; परन्तु बुद्धिरूप सत्त्व और चेतन पुरुष इन दोनों में तुल्य शुद्धि होने पर पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति होती है। यद्यपि पुरुष नित्य शुद्ध है तथापि अशुद्ध बुद्धि से अविवेक काल में पुरुष में भी अशुद्धि प्रतीत होती है, जब बुद्धि शुद्ध होती है, तब बुद्धि पुरुष दोनों में तुल्य शुद्धि होने से विवेकज ज्ञान होने पर मुक्ति होती है। वह विवेकी चाहे ईश्वर (ज्ञान

क्रियादि शक्तिवाला) होय, वा अनीश्वर (शक्तिरहित) होय, आत्मविवेक होने पर मुक्ति अवश्य होती है। भाष्यकार ने कहा है कि,

'कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकज्ञानभागिन इतरस्य वा।'

योगवासिष्ठ में लिखा है कि, अज्ञानी भी किसी द्रव्य क्रिया युक्ति आदि से आकाश में गमनादि को प्राप्त कर लेता है, इससे वह मुक्त नहीं हो सकता, और तत्त्वज्ञान को द्रव्यादि की कोई जरूरत नहीं होती, केवल तत्त्वज्ञान परमात्मपद की प्राप्ति का हेतु होता है, इत्यादि। इससे यह सिद्ध होता है कि, मोक्ष वा ज्ञान में सिद्धि की जरूरत नहीं है; किन्तु विवेक वैराग्यादि आत्मज्ञान के हेतु हैं। और आत्मज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, इसीसे साहब ने भी ७१ रमैनी में आकाशगमनादि सिद्धियों का ज्ञानादि युक्त के लिये अनादर ही किया है।

इस पूर्व वर्णित रीति से योगदर्शन में ईश्वर, जीव, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, एकादशेन्द्रिय, पांच महाभूत; ये छब्बीस पदार्थ माने गये हैं। और सांख्य में एक ईश्वर को छोड़कर ये ही पचीस पदार्थ माने जाते हैं।

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिगणः।' सांख्यद० १।६१

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥'

सांख्यका० २२

कारण को प्रकृति कहते हैं, कार्य को विकृति कहते हैं। सत्त्वादि तीन गुण की साम्यावस्था रूप प्रधान केवल प्रकृति (कारण) है, महत्तत्त्व, अहंकार, पांच तन्मात्रा पूर्व २ की अपेक्षा विकृति हैं, और उत्तर २ की

अपेक्षा प्रकृति हैं। पांच भूत ग्यारह इन्द्रिय किसी तत्त्व के, कारण नहीं हैं। इससे ये केवल विकृति कहे जाते हैं। और उदासीन नित्य होने से पुरुष (आत्मा) कारण कार्य कुछ नहीं कहा जा सकता; किन्तु चेतन असंग नाना है, इससे बंध मोक्ष की व्यवस्था होती है। केवल कारण दृष्टि से आठ प्रकृति कही जाती है। वा प्रधान केवल प्रकृति, महत्तत्त्वादि सात प्रकृति विकृति, अन्य सोलह केवल विकृति कहाते हैं।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥'
सांख्यका० ३

'अष्टौ प्रकृतयः । षोडशविकाराः ॥' कपिलसू० २-३

और पुरुष के उदासीन होने से उसमें बन्धन अविवेककृत है, स्वभाव से बन्धन हो तो मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि,

'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।' सांख्यद० १।७

स्वभाव से बद्ध के लिये मोक्षसाधन का उपदेश ही नहीं बन सकता। स्वभाव से ऊष्ण अग्नि शीत नहीं हो सकती। ईश्वरगीता में लिखा है कि,

'यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः ।
न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ॥'

स्वाभाविक बन्ध के नहीं रहते भी बन्ध मोक्ष की व्यवस्था के लिये भेद माना गया है। और अभेद बोधक श्रुतियों का आत्माओं की सजातीयता में तात्पर्य कहा गया है।

'नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ।' सांख्यद० १।११५

और ईश्वर विषयक सांख्य का मत है कि, ईश्वर बद्ध वा मुक्तरूप नहीं सिद्ध हो सकते; क्योंकि बद्ध होयँ, तो अन्य जीव की नांई अज्ञ होंगे, अज्ञ में जगत्-कर्तृत्व का असंभव होगा, मुक्त होयँ तो भी इच्छा आदि का अभाव से जगत्-कर्ता नहीं हो सकते। इससे स्वतन्त्र प्रकृति ही जगत्

करनेवाली है, चेतन की सत्ता से चेतन तुल्य होकर पुरुष का भोग और मोक्ष को सिद्ध करती है। अ० १।८९ सूत्र से वर्तमान विषय के साथ नेत्रादि का संबन्धजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष बनाने पर भूत भावी पदार्थ विषयक योगीके ज्ञान में उस प्रत्यक्ष लक्षण की अव्याप्ति का निवारण के लिये लिखा है कि,

'योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्नदोषः।' १।९०

'लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः।' सांख्यद० १।९१

विषय इन्द्रिय का संबन्ध से प्रत्यक्ष होता है, यह बाह्य प्रत्यक्ष का लक्षण है, योगी का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्षरूप नहीं होता है, इससे दोष नहीं है। अथवा सत्कार्यवाद का स्वीकार होने से कारणरूप से वर्तमान भूत भावी वस्तु के साथ संबन्ध के लिये सामर्थ्य योगी के चित्त में रहता है, जिससे संबन्ध पूर्वक ही भूत भावी का ज्ञान भी योगी को होता है, इससे इन्द्रिय का संबन्ध बिना भी योगज धर्म से चित्त का संबन्ध से योगी को प्रत्यक्ष ज्ञान होने से दोष नहीं है। फिर शंका हुई कि, यदि इन्द्रिय वा चित्त का संबन्धजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होवे, तो नित्य सर्व वस्तु विषयक ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जायगा, तो इस शंका का उत्तर है कि– 'ईश्वरासिद्धेः।' १।९२ प्रमाणाभाव से ईश्वर की असिद्धि है। और ईश्वर की असिद्धि से ही ईश्वर के ज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण की अव्याप्ति रूप दोष नहीं है। और श्रुति स्मृति में जो ईश्वर विषयक वाक्य हैं, सो मुक्त पुरुष की वा उपासना से सिद्ध पुरुष की प्रशंसारूप हैं।

'मुक्तात्मनः प्रशंसोपासासिद्धस्य वा।' १।९५

इस प्रकार नित्य ज्ञानवाला नित्य ईश्वर का निषेध किया गया है। और सब कल्प में नवीन २ एक २ अनित्य ईश्वर का स्वीकार किया गया है। ज्ञान से मुक्ति बताकर प्रकृति में लीन का जन्म लिखा है कि,

' न कारणलयात्कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । ' ३।५४ **' स हि सर्ववित् सर्वकर्ता । '** ३।५६ **' ईदृशेश्वरसिद्धिस्सिद्धा । '** ५७

कारण में लीन पुरुष जन्मकाल में सामान्य विशेषरूप से सब वस्तु को जाननेवाला सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ रूप होते हैं, वही श्रुतिसिद्ध ईश्वर हैं। और उस ईश्वर पुरुष, अदृष्ट (धर्मा धर्म) को सृष्टि के कारण रूप होते भी प्रकृति स्वतन्त्र ही रहती है; क्योंकि,

' निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । '

योगद० ४।३

ईश्वर अदृष्टादि निमित्त कारण प्रकृति के प्रेरक नहीं होते हैं; क्योंकि उसमें रजोगुण स्वयं प्रवृत्ति स्वभाववाला है। ईश्वरादि निमित्त सब केवल प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक मात्र को हटाते हैं। जैसे क्यारी के जल में स्वयं बहने का स्वभाव रहता है, खेतवाला बांध काट देता है तो जल स्वयं बहने लगता है, तैसे सांख्य योग मत में ईश्वरादि के रहते भी कार्य के लिये प्रकृति की स्वयं प्रवृत्ति होती है ॥

' नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः । ' सांख्यद० ५।२ **' स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् । '** ३ **' लौकिकेश्वरवदितरथा । '** ४ **' पारिभाषिको वा । '** ५ **' न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् । '** ६

कर्मफलदाता नित्य ईश्वर की जरूरत नहीं है, कर्म ही से फल की सिद्धि हो सकती है। और अपना कुछ उपकार बिना ईश्वर कर्माधिष्ठाता भी नहीं हो सकते, लोक में अपना प्रयोजन से ही कर्ता वा अधिष्ठाता देखा जाता है। यदि अधिष्ठाता होने से ईश्वर को भी कुछ फल हो तो लौकिक राजा आदि के तुल्य ही ईश्वर सिद्ध होंगे। और ईश्वर में अधिष्ठाता होने से फल मानने पर फल की इच्छा रहने से बद्ध सिद्ध होंगे। ईश्वर शब्द पारिभाषिक सिद्ध होगा। राग विना प्रवृत्ति नहीं हो सकने से राग रहित भी ईश्वर को नहीं कह सकते; इत्यादि उक्तियों से भी सांख्य में ईश्वर का निषेध किया

गया है। किसीने ‘ ईश्वरासिद्धेः ’ इत्यादि सूत्रों का अर्थ किया है कि, यदि योगी को भी इन्द्रिय संबन्ध से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ईश्वर की असिद्धि होगी; क्योकि ईश्वर इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं हैं, इससे इन्द्रिय विना भी ईश्वर का ज्ञान योगी को प्रत्यक्ष ही होता है। किसीने ‘ ईश्वरासिद्धेः ’ इस सूत्रको नास्तिक कृत पूर्वपक्षरूप माना है, अर्थ किया है कि नास्तिक का कहना है कि ईश्वर की असिद्धि से ईश्वर ज्ञान में अव्याप्ति शंका नहीं हो सकती; उत्तर सूत्र बताया है कि, ‘ मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ’ मुक्तबद्धरूप ईश्वर के नहीं होनेसे उन दोनों से विलक्षण भिन्न ईश्वर की सिद्धि होती है, इससे ईश्वरासिद्धि की सिद्धि नहीं हो सकती। इससे ईश्वरप्रत्यक्ष में अव्याप्ति है। परन्तु बद्ध मुक्त का ज्ञान संबन्ध जन्य होता है, लक्षण का लक्ष्य है, ईश्वर ज्ञान नित्य है, वह लक्ष्य नहीं है, ऐसा मानने पर दोष नहीं है, इत्यादि। परन्तु इन दोनों पक्षो में अक्षरों का बहुत खैंचतान करना पड़ता है, और ‘ ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ’ इस सूत्र में ईदृश पद भी नित्येश्वर के अभाव पक्ष में ही सार्थक होता है। ईदृश पद से बोध होता है कि अन्य प्रकार के ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती; किन्तु प्रकृति में लीन ही पुरुष सृष्टि के आदिकाल में (कल्प का आरम्भ में) सर्वज्ञ ईश्वर रूप सिद्ध होते हैं, इससे ऐसे ईश्वर की सिद्धि हुई, नित्य की नहीं। इसी मत को निरीश्वर सांख्य कहते हैं। उक्त योगमत सेश्वर सांख्य कहाता है। और २५ पचीस पदार्थवाद २६ छब्बीस पदार्थवाद रूप से भी इन्हीं दोनों मतों की चर्चा महाभारतादि में भी की गई है। इससे स्पष्ट प्राचीन अर्थों को छोड़ कर सूत्रार्थ में नवीन खैंचतान भी व्यर्थ है। और सांख्य में धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य; ये चार बुद्धि के सात्विक धर्म हैं। अधर्म, अज्ञान, राग, अनैश्वर्य; ये चार तामस धर्म हैं। इन आठों में एक विवेक ज्ञान मोक्ष का हेतु है, अन्य सात बन्धन के हेतु हैं।

'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥'

सांख्यका० २३

निश्चय स्वरूप बुद्धि है, उसके धर्मादि सात्विक कार्य हैं, अधर्मादि तामस हैं।

'ज्ञानान्मुक्तिः । बन्धो विपर्ययात् ।' सांख्यद० ३।२३-२४

'रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद् विमोचयत्येकरूपेण ।' सांख्यद० ३।७२

ज्ञान से मुक्ति होती है, भ्रम से बन्धन होता है। प्रधान सातरूप से अपने आपको कोशकार की नाईं बांधता है। एक ज्ञानरूप से मुक्त करता है। अहंकार भी सात्विक, राजस, तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। सात्विक को वैकारिक, और राजस को तैजस, तथा तामस को भूतादि कहते हैं। सात्विक से ग्यारह इन्द्रियों की, तामस से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है; राजस दोनों में निमित्त होता है। बुद्धि, अहंकार और मन; इन तीनों की प्राणादि पांच वायु वृत्ति (कार्य) माने गये हैं। क्योंकि अन्तःकरण की सत्ता से ही प्राणों की सत्ता रहती है। और मन ही को चित्त शब्द से भी सांख्ययोग में कहा जाता है। उस मन को भी किसीने व्यापक, किसीने एकदेशी माना है। व्यापकता पक्ष में सम्पूर्ण मन को अभ्यास से शुद्ध होने पर सर्वज्ञता होती है। और अदृष्टाधीन मन की वृत्ति (परिणाम) संकोच विकाशवाली गमनागमनयुक्त होती है। प्राणेन्द्रिय रूप उपाधि और वृत्ति सहित मन सब देह बन्ध मोक्षादि के योग्य होता है। एकदेशी पक्ष में खास मन से ही गमनादि सब व्यवहार होते हैं।

'घटप्रसादप्रदीपकल्पं संकोचविकाशि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः, तथा चान्तराभावः संसारश्च

युक्त इति, वृत्तिरेवास्य विभुनः संकोचविकाशिनीत्याचार्यः।'
योगभाष्ये ४।१०

घट घर के अन्दर दीपप्रभा की नाईं शरीर मात्र में रहनेवाला मन है, तभी बीच में शरीर का अभाव और संसार बनता है, यह किसीका मत है। परन्तु योगाचार्य के मत में चित्त की वृत्ति ही संकोच विकाशवाली है।

'न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत्।' सांख्यद० ५।६९

करण और इन्द्रियरूप होने से तथा गति श्रुति से भी वास्यादि चक्षुरादि के तुल्य मन एकदेशी है, विभु नहीं है। एक काल में त्वगादि अनेक इन्द्रियों से ज्ञान होने से अणु रूप भी मन नहीं है, इत्यादि। जैसे मन की विभुता आदि में मतभेद है तैसे ही प्रकृति महत्तत्त्व अहंकार के स्वरूप में भी मतभेद है। और सत्त्व रज तम को पुरुषार्थक होने से गुण कहा जाता है, जिसका अन्यार्थकत्व शेषत्व अर्थ है; परन्तु संयोग विभागवाला होने से वस्तुतः सत्त्वादि द्रव्य हैं। सत्त्व रज तम को सुख दुःख मोहरूप भी धर्म धर्मी में अभेद की दृष्टि से कहा जाता है। वस्तुतः सत्त्वादि अनन्त व्यक्ति स्वरूप द्रव्य हैं। अनन्त व्यक्ति सत्त्व, अनन्त व्यक्ति रज और अनन्त व्यक्ति तम हैं; परन्तु जाति दृष्टि से तीन कहे जाते हैं। अनन्त सत्त्वादि व्यक्तियों में भी कोई व्यक्ति व्यापक है, कोई अणुरूप है। इन्हीं के अव्यक्त, प्रधान, ब्रह्म, अक्षर, क्षेत्र, तम, माया, ब्राह्मी, विद्या, अविद्या, प्रकृति, शक्ति, अजा; ये सब नाम हैं। आकाश की प्रकृति (कारण) व्यापक है, अन्य की नहीं। हिरण्यगर्भ के उपाधि महत्तत्त्व अहंकार व्यापक है, अन्य जीव के उपाधि एकदेशी हैं। यह सांख्य का सिद्धान्त है। प्रकृति आदि चौवीस जड़ हैं। पचीसवां पुरुष अनादि अनन्त अनेक विभु निर्गुण चेतन रूप है। बुद्धि के साथ अविवेक से कर्ता भोक्ता है, वस्तुतः असंग है। इन पचीस तत्त्वों को जाननेवाला विवेकी किसी आश्रम वेषादि में रहने पर मुक्त होता है।

'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
मुण्डी जटी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥'

गौडपादीयसांख्यभाष्ये ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के दुःख होते हैं । शारीरिक मानस दो प्रकार का आध्यात्मिक होता है । वात पित्त कफ की विषमता से रोगजन्य दुःख को शारीरिक कहते हैं; काम क्रोध लोभ मोहादि जन्य दुःख को मानस कहते हैं । और मनुष्य पशु पक्षी आदिरूप जो अण्डजादि भूत (प्राणी) उनसे होनेवाला दुःख को आधिभौतिक कहते हैं । पृथिवी जलादि को श्रुति में देव कहा गया है । पुराणादि में यक्ष राक्षस विनायकादि देव कहे गये हैं । इनसे जन्य दुःख को आधिदैविक कहते हैं । इन तीनों दुःख से अत्यन्त रहित होना मोक्ष माना गया है । मोक्ष में सुख वर्णन का दुःखाभाव में ही तात्पर्य माना गया है । ब्रह्मलोक में प्राप्ति रूप अवान्तर मुक्ति में सुख माना गया है । परन्तु इस मत में सुख पदार्थ नहीं हैं, दुःखनिवृत्ति को ही सुख भी कहा जाता है ।

'दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलभ्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ॥
दुःखं कामसुखापेक्षा सुखं दुःखात्ययः स्मृतः ।
दुःखनिवृत्तेर्गौणः विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥'

सांख्यद० ५।६७–६८

दुःख ही है, सुख नहीं; क्योंकि दुःख का ज्ञान होता है । दुःखार्त का दुःखाभाव को सुख कहते हैं । काम सुख की इच्छा दुःख है, उनका नाश सुख है । दुःख की निवृत्ति से मोक्ष में सुख का गौण व्यवहार होता है, सो भी मन्द के लिये मुक्ति की प्रशंसा समझना चाहिये ॥

पांच अभिबुद्धि मानी जाती है । अभिबुद्धि, अभिमान, इच्छा, कर्तव्यता, क्रिया; इन पांचों को अभिबुद्धि कहते हैं । यह कार्य मुझे अवश्य करना

चाहिये, ऐसी कर्माभिमुख इच्छा को अभिबुद्धि कहते हैं । मैं कर्ता हूं इस वृत्ति को अभिमान कहते हैं । मन का व्यापार को इच्छा वा संकल्प कहते हैं । ज्ञानेन्द्रिय की वृत्ति को कर्तव्यता, और कर्मेन्द्रिय की वृत्ति को क्रिया कहते हैं । धृति, श्रद्धा, सुखेच्छा, विविदिषा, अविविदिषा; ये पांच कर्मयोनि कहे जाते हैं । वचन कर्म में स्थिरता मर्यादा की रक्षा धृति है । अनसूया, ब्रह्मचर्य, यजन, याजन, तप, दानादि श्रद्धा का लक्षण है । प्रायश्चित्त परायण अर्थेच्छु जो विद्या कर्म तप का सेवन करता है, सो सुखेच्छा है । आत्मा प्रकृति का ज्ञान की इच्छा विविदिषा है । वेदादि-विषयक ज्ञान के प्रतिबन्धक को अविविदिषा कहते हैं । धृति आदि चारों बन्धन के हेतु हैं, केवल विविदिषा मोक्ष का हेतु है । और,

'हृदि प्राणो गुदेऽपानो व्यानः सर्वशरीरगः ।
उदानः कण्ठदेशे च समानो नाभिसंस्थितः ॥'

इस वचन के अनुसार हृदय में प्राण, गुदा में अपान, देहभर में व्यान, कण्ठ में उदान, और नाभि में समान; ये पांच प्राण माने गये हैं । और,

'उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुत्कृज् ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः ॥'

इसमें वर्णित डकार, नेत्रोन्मीलन, छींक, जम्भाई के हेतु नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त नामक वायु का तथा शरीरव्यापी धनंजय का पांच में ही अन्तर्भाव है । और वैकारिक, तैजस, भूतादि, सानुमान, निरनुमान; ये पांच कर्मात्मा (कर्मकर्ता) हैं । शुभ कर्म कर्ता वैकारिक है, अशुभ कर्म कर्ता तैजस है, मूढ कर्म कर्ता भूतादि है, शुभ मूढ कर्म कर्ता सानुमान है, अशुभ मूढ कर्म कर्ता निरनुमान है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश; ये पांच प्रकार की अविद्या प्रसिद्ध है । और अट्ठाइस प्रकार की अशक्ति होती है, सो ग्यारह

इन्द्रियवधसे, और प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य, पार, सुपार, पारावार, अनुत्तमाम्भ, उत्तमाम्भ नामक नव तुष्टि तथा ऊहादि नामक आठ सिद्धि का विपर्ययरूप सत्रह बुद्धिवध से सिद्ध होती है। सांख्य में इनका विस्तार से वर्णन है। और दश मूलिकार्थ माने गये हैं। प्रकृति पुरुषको मूल कहते हैं, इनके धर्मोंको मूलिकार्थ कहते हैं। दोनों में अस्तित्व धर्म है, १ प्रकृति में एकत्व है, २ पुरुष में अर्थवत्त्व है, ३ प्रकृति में परार्थत्व है, ४ पुरुष में जडभिन्नत्व, ५ अकर्तृत्व है, ६ योग ७ वियोग ८ दोनों के धर्म हैं, बहुत्व पुरुष के धर्म हैं, ९ जीवन्मुक्त का शरीर की संस्कार मात्र से स्थितिरूप पुरुष का धर्म है १०। पूर्ववर्णित पांच विपर्यय, अट्ठाइस अशक्ति, नव तुष्टि, आठ सिद्धि; इन पचासों को बुद्धिसर्ग कहते हैं। दश मूलिकार्थ सहित साठ पदार्थ सांख्य में माने गये हैं। पांच तन्मात्राओं से ब्रह्मादि की सृष्टि को अनुग्रह सर्ग कहते हैं। भूतसर्ग चौदह प्रकार के होते हैं। प्राकृतिक, वैकृतिक, दाक्षिण; ये तीन प्रकार का बन्ध है। आठ प्रकार के प्रकृतियों में आत्मत्वाभिमान प्राकृतिक बंध हैं, संन्यासी को भी शब्दादि में आसक्तिरूप वैकृतिक बन्ध है। दक्षिणा देनेवाले काभी गृहस्थों में दक्षिणाबन्ध रहता है। मोक्ष भी तीन प्रकार के होते हैं। एक ज्ञान से, दूसरा राग की निवृत्ति से, तीसरा धर्माधर्म रूप दुःख का नाश से मोक्ष होता है, सो उपाय रूप है। तीनों दुःख की अत्यन्त निवृत्तिरूप मुख्य चौथा मोक्ष है।

'पञ्चाभिबुद्धयः। पञ्च कर्मयोनयः। पञ्च वायवः। पञ्च कर्मात्मानः। पञ्चपर्वा अविद्या। अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः। नवधा तुष्टिः अष्टधा सिद्धिः। दशमूलिकार्थः। अनुग्रहः सर्गः। त्रिविधो बन्धः। त्रिविधो मोक्षः।' कपिलसूत्राणि।

सांख्य योग शास्त्र में चित्त वृत्ति का निरोध रूप योग, ज्ञान से मुक्ति, प्रकृति लीन का मोक्षाऽभाव। आत्मा में असंगता सत्यता चेतनता नित्यमुक्तता निर्गुणता, चित्त में संकोच विकाशिरूपता और वैराग्यादि का जो

प्रतिपादन है, सो सब सन्त श्रुति सम्मत है, जिज्ञासु के लिये उपयोगी है। पुरुष में बहुत्व, प्रकृति में स्वतन्त्रता, त्रिगुण में स्वतन्त्र द्रव्यरूपता अनेकता नित्यता आदि का कथन है, सो सब सन्त श्रुति असम्मत है। और पुरुष के असंग होने से पुरुष में बन्धादि अविवेक से ही सांख्य योग मत में प्रतीत होते हैं। जैसे जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब जल के धर्म सूर्य में मिथ्या प्रतीत होता है, तैसे ही बुद्धि में आत्मप्रतिबिम्ब के रहने से बुद्धि के धर्म कर्तृत्वादि आत्मा में प्रतीत होते हैं। इस प्रकार अविवेक कृत बन्धमोक्ष जन्ममरणादि को मान कर भी,

'जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद्युगपत प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।'

सांख्यका० १८

यह सांख्य का कथन सर्वथा अयुक्त है। कारिका का भाव है कि एक का जन्म वा मरण से सब का जन्म वा मरण नहीं होता। एक आंख कान आदि से सब जीव नहीं देखता सुनता आदि है। इससे जन्म मरण और इन्द्रियरूप करण का पुरुषों के प्रति नियम है, और एक की प्रवृत्ति से सब की प्रवृत्ति नहीं होती। कोई सात्विक कोई राजस कोई तामस होता है, इससे पुरुष (आत्मा) बहुत है, एक नहीं। इत्यादि। परन्तु जब जन्म मरण देखना सुनना प्रवृत्ति सात्विकत्वादि बुद्धि के धर्म हैं, आत्मा में अविवेक से मिथ्या प्रतीत होते हैं, तो आत्मा में इन हेतुओं से किसी प्रकार भी बहुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे एक सूर्य के अनेक जलपात्र में अनेक प्रतिबिम्ब होते हैं। उनकी उत्पत्ति नाश स्वरूप भिन्न २ होते रहते हैं, परन्तु सूर्य एक रहते हैं। पात्र, पात्रगत प्रतिबिम्ब उनमें क्रिया आदि में भेद रहते भी सूर्य में भेद की आवश्यकता नहीं होती है, एक ही सूर्य अनेक प्रतिबिम्बादि सहित अनेक घट का प्रकाश करते हैं, तैसे ही एक आत्मा अनेक बुद्धि आदि का प्रकाश करता है, आत्मा में भेद की कोई जरूरत नहीं है। बुद्धि में तो आत्मा का आभास प्रतिबिम्ब निश्चित ही है।

आत्मा में भी यदि बुद्धि का प्रतिबिम्ब माना जाय तौ भी यह दोष है कि सब आत्मा व्यापक और शुद्ध है, इससे सब आत्मा में सब बुद्धि का प्रतिबिम्ब होगा, फिर जन्ममरणादि और सुखदु:खादि का भोग भी सब बुद्धि द्वारा सब आत्मा में होंगे। इससे बहुत पुरुष मानने पर भी जन्म मरणादि की व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि पुरुष में प्रतिबिम्ब नहीं माना जाय, किन्तु बुद्धि में ही पुरुष का प्रतिबिम्ब माना जाय, तौ भी पुरुष बहुत्व पक्ष में निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि सब बुद्धि सात्विक पदार्थ है, इससे उसमें भी विभु स्वरूप सब आत्माओं की समीपता निमित्तक चेतन तुल्यता होगी. तब किस बुद्धि द्वारा किस आत्मा को भोग होय, यह व्यवस्था नहीं हो सकेगी। और आत्मा के असंग होने से अदृष्टादि द्वारा व्यवस्था की शंका भी नहीं हो सकती। इससे विभु असंग अनेक आत्मा मानना निष्फल है। और सत्वादि को द्रव्य कहना आदि भी सन्त श्रुति विरुद्ध है; क्योंकि,

'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।' श्वेता० १।३

इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर की शक्ति रूप से प्रकृति का वर्णन है। और,

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' श्वेता० ४।१०

इत्यादि में प्रकृति को ही माया कहा गया है, इससे ईश्वर की माया में ही आवरण विक्षेप दो स्वभाव है। विक्षेप से रजोगुण सत्वगुण का ग्रहण है, आवरण स्वभाव तमोगुणरूप है, इससे तीनों गुण शक्ति स्वभाव विशेष रूप है, द्रव्यरूप नहीं; इससे गुणों की अनेक व्यक्ति मानकर संयोगादि का वर्णन भी विरुद्ध है। और (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदा० ३।९।२८) इत्यादि श्रुति से ब्रह्मात्मा में आनन्दरूपता सिद्ध है, तथा अनुभव सिद्ध है। उसमें चिद्रूपता आनन्दरूपता में विरोध कहना अत्यन्त असंगत है; क्योंकि जैसे एक अग्नि को ऊष्ण प्रकाश रूप होने में कोई विरोध नहीं है, तैसे सत् चित् आनन्द रूपता में भी कोई विरोध नहीं है। और जल में प्रविष्ट ऊष्ण प्रकाश स्वरूप अग्नि के प्रकाश स्वरूप की प्रतीति नहीं होती

है, मणि के अन्दर तेजोभाग की ऊष्णता नहीं मालूम पडती है, नेत्र रूप तेज् में काष्ठादि गत तेज में ऊष्णता प्रकाश कुछ भी नहीं प्रतीत होता है; परन्तु रहता है, तैसे ही सुषुप्ति में तमोगुण के बलसे चित आनन्द की प्रतीति नहीं होती है, जाग्रत स्वप्न में तमोगुण के कुछ कम होने पर चित्रूप प्रतीति होती है। समाधि आदि काल में रज तम के अभाव से सच्चिदानन्द पूर्ण प्रतीत होता है, इससे सदा अप्रतीति से भी आनन्दरूपता का निषेध नहीं हो सकता।

'सुखमस्वाप्समित्येवं सुखस्य स्मरणे सति।
तन्मूलभूत आनन्दः प्रकाशो जीव इष्यते॥'

इत्यादि वचन के अनुसार सुषुप्ति के बाद का स्मरण से जीवात्मा में प्रकाश और आनन्दरूपता की सिद्धि होती है, इससे आनन्द का निषेध विरुद्ध है, और माया शक्ति वाला चेतन ईश्वर के बिना जड़ प्रकृति मात्र से संसार की रचना आदि नहीं बन सकते, इससे विभु ईश्वर भी अवश्य है। इसी प्रकार प्राणों को अन्तःकरण की वृत्ति (व्यापार) रूप कहना विरुद्ध है; क्योंकि अन्तःकरण के संकलपादि रूप व्यापार हैं। और प्राण स्वयं उत्क्रमण गमनादि व्यापारवाला है, सो श्रुतिसिद्ध है। विशेष ब्रह्मामृतादि ग्रन्थों से जानने योग्य है।

जीव का पारमार्थिक स्वरूप ॥ ३६ ॥

जीव का पारमार्थिक स्वरूप अखण्ड विभु सच्चिदानन्द स्वरूप एक ही है। ऐसी ही सन्त श्रुति की सम्मति है, इसीसे श्रुति कहती है कि,

'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥'

तैत्तिरीय० २।६।१

ब्रह्म को यदि असत् जानता है, तो स्वयम् असत् होता है, जो ब्रह्म

को सत् जानता है, उसको महात्मा लोक सत् ब्रह्मरूप ही जानते हैं। इसी स्वरूप की दृष्टि से सद्गुरु कबीर साहबने लिखा है कि,

'कोई राम रसिक रस पीवहुगें, पीवहुगें सुख जीवहुगें।

शब्द० ४२

'जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, सब घट रहल समाई।' ४५

इत्यादि। इसी पारमार्थिक स्वरूप में माया अविद्यादि रूप उपाधि के अधीन ईश्वर जीवभाव व्यावहारिक भी अनादि सिद्ध है। तिस में व्यावहारिक जीव सूक्ष्म शरीर सहित इस संसार में मोक्ष पर्यन्त गमनागमनादि करता है। वासना, कर्मजन्य धर्माधर्मादि का आश्रय सूक्ष्म शरीर ही होता है। व्यावहारिक जीव का भी केवल स्वरूप में क्रिया आदि नहीं हो सकते। लिखा है कि,

'तदापीतेः संसारव्यपदेशात्। सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः। नोपमर्देनातः। अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा।'

ब्रह्मसूत्र अ० ४।८।११

आपीतेः (मोक्ष से पूर्व कालतक) जीव में संसार का वर्णन से श्रोत्रादि का आश्रय सूक्ष्म तेज आदिरूप सूक्ष्म शरीर मोक्ष पर्यन्त जीव के साथ रहता है। इतर (अन्य) भूत सहित तेजरूप यह सूक्ष्म शरीर, स्वरूप और प्रमाण में अति सूक्ष्म रहता है। इससे नेत्रादि का विषय नहीं होता है और सूक्ष्म नाडी आदि द्वारा भी निकलता है। और सूक्ष्म होने ही से स्थूल देह का अग्नि आदि से उपमर्द (नाश) होने पर भी सूक्ष्म का नाश नहीं होता है, और इसी सूक्ष्म देह की सत्ता (रहने) से स्थूल शरीर में ऊष्णता (गरमी) की प्रतीति होती है। इससे केवल जीव का स्वरूप में संसार की गति आदि भी किसी ने माना है सो ठीक नहीं हो सकता। वस्तुतः प्राण का संबन्ध से जीव नाम अनाम का होता है और गमनादि क्रिया का हेतु प्राण ही है, सो सूक्ष्म शरीर के अन्दर है, इससे सूक्ष्म शरीर सहित ही जीव संसार में गमनादि करता है,

मुक्तावस्था में शरीर रहित होने से क्रिया रहित ही पारमार्थिक स्वरूप से रहता है। इससे केवल जीव के स्वरूप में क्रियाशक्ति भी मानना भूल है। एकदेशी होने विना क्रिया नहीं हो सकती, और एकदेशी क्रिया शक्तियुक्त अनित्य ज्ञानवाला जीव नित्य मुक्त हो नहीं सकता। यदि सादि और अनन्त मुक्ति विवेक ज्ञानजन्य मानी जाय तो सो भी नहीं बन सकती; क्योंकि विवेक ज्ञान के नष्ट होने पर फिर भी संसारी हो सकता है। बड़े २ ज्ञानियों में भी क्रिया ज्ञान शक्ति के रहते स्वप्न में उनकी अयोग्य प्रवृत्ति होती है, इससे मुक्त में क्रियाशक्ति हो तो विवेक ज्ञान के नष्ट होने पर वह अवश्य संसारी होगा। यह दोष सांख्ययोग मत में भी है, बुद्धि का परिणामरूप विवेक के [1]प्रवृत्ति स्वभाववाली प्रकृति मुक्त को भी बांधेगी। यदि कहा जाय कि प्रकृति जिसको मुक्त करती है, उसके प्रति अदृश्य हो जाती है, तो सो कहना सत्य है; परन्तु जबतक विवेक ज्ञान रहेगा, तभी तक अदृश्य रहेगी, ज्ञान के नष्ट होने पर अदृश्य नहीं रह सकती। सत् कार्यवाद होते भी स्वरूप से कार्यरूप ज्ञान सदा रह नहीं सकता है। इससे ज्ञानाग्नि से समूल सूक्ष्म समाज का नाश ही वा बाध ही अवस्था भेद में मुक्ति का व्यञ्जक होता है, और आत्मा नित्य मुक्त ही है। मिथ्या ज्ञानजन्य संसार की सत्य ज्ञान से निवृत्ति होने पर आश्रय नाशक अग्नि की नाई ज्ञानाग्नि भी समूल अन्तःकरणादि को नष्ट करके नष्ट होती है, इससे पुनरावृत्ति नहीं होती, यही श्रुति सन्त सम्मत सिद्धान्त ठीक है। ज्ञानाग्नि से सब के नष्ट होने पर भी जो नहीं नष्ट होता, सोई सच्चिदानन्द आत्मा है। यद्यपि,

'आत्मा वै जायते पुत्रः। किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा।'

बृहदा० ४।४।२२

इत्यादि श्रुतियों में पुत्र और देह को भी आत्मा कहा गया है, तथापि

---

१ नष्ट होने पर.

पुत्र गौण आत्मा कहाता है, तहाँ भी अपना देहादि सहित स्वरूप का संबन्ध और पिताकृत ऋण का उद्धारादि कर्तृत्व हेतु है। वस्तुतः अपने को आत्मा कहा जाता है, और शरीर में भ्रम से आत्मता सिद्ध है। इससे गौण और भ्रमसिद्ध आत्मता की दृष्टि से पुत्रदेह को आत्मा कहा गया है।

'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥'

कठ० १।२।२१

शरीर में भी वस्तुतः अशरीर, अस्थिर में भी स्थिर महान् विभु जिस चेतनात्मा को जानकर धीर लोक शोक रहित मुक्त होते हैं, वही मुख्यात्मा है। चेतनात्मा ही एकदेशी पदार्थों की अपेक्षा से ब्रह्म (बड़ा) कहा जाता है, साक्ष्य दृश्य पदार्थ की अपेक्षा साक्षी कहाता है, विकारी माया की अपेक्षा कूटस्थ (निर्विकार) कहाता है, जड़ की अपेक्षा चेतन और अनात्म की अपेक्षा आत्मादि कहाता है, और अपेक्षा विना अनामादि कहा जाता है। और,

'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥'

लिङ्गपु० अ० ७०।९६

सुषुप्ति में कारणोपाधिवाला जिससे ब्रह्म में प्राप्त होता है, इससे 'आप्नोतीति आत्मा' कहा जाता है। स्वप्न में सूक्ष्मोपाधिवाला जाग्रत की वासनाओं का ग्रहण (प्रकाश) करता है, इससे 'आदत्ते' इति आत्मा कहाता है। जाग्रत में स्पष्ट उपाधि सहित होकर विषयों को भोगता है, इससे 'अत्ति' इति आत्मा कहाता है, और उपाधि रहित चेतनात्मा का निरन्तर भाव (सत्ता) है, इससे 'अतति' (निरन्तर रहता है) इति आत्मा कहाता है। यहाँ प्रथम तीन प्रकार के व्यावहारिक स्वरूप का

वर्णन है। अन्तिम भेदरहित पारमार्थिक स्वरूप का वर्णन है, जो स्वरूप जीव ईश्वर में एक रस रहता है। उसी में अविद्या माया से मिथ्या भेद की प्रतीति होती है। भेद सहित की बोधक श्रुति आदि है कि,

'सर्वः सर्वज्ञः सर्ववित्। यस्य ज्ञानमयं तपः॥' मुण्डक० १।१।९

'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता।' प्रश्न० ४।९

'साक्षिणः पुरतो भाति लिङ्गदेहेन संयुतः।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः॥'

वाक्यसुधा १६

सब पदार्थ को सामान्य विशेषरूप से जाननेवाला ईश्वर हैं, जिनका ज्ञानमय ही तप होता है। और यह द्रष्टा आदि स्वरूप जीव है, साक्षी के सामने प्रकाशनेवाला चेतन की छाया सहित लिङ्ग (बुद्धितत्त्व) व्यावहारिक जीव है, जो देह से संयुक्त रहता है। और,

'एष पुरुषोऽन्नरसमयः।' तैत्तिरी० २।१

'पञ्चम्याहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति।' छा० ५।९।१

इत्यादि श्रुति में माता के गर्भरूप पुर में बसने से शरीर को पुरुष कहा गया है। शरीररूप पुर में बसने से व्यावहारिक जीव को पुरुष कहा जाता है, तथा विभु होने से शरीर बुद्धि रूप पुर में वर्तमानता से मुख्य चेतनात्मा को भी पुरुष कहा जाता है, तिस में उत्पत्ति विकारादि रहित मुख्यात्मा रूप पुरुष स्वयं प्रकाश है, असंग है; क्योंकि परिणामी ससंग वस्तु का अवश्य नाश होता है। इसीसे व्यावहारिक ससंग जीव का नाश, यद्यपि अग्नि आदि से नहीं होता है, तथापि ज्ञान से उपाधि का नाश होने पर जीवत्व का बाध होने पर परब्रह्मरूपता की प्राप्ति होती है। संगी पदार्थ का नाश वा परिणाम अवश्य ही किसी दशा में किसी से होता है, यह नियम है; अन्यथा संगीपन व्यक्त (प्रगट) नहीं हो

सकता । सब संगी का नाश वा परिणाम का हेतु एक नहीं होता; परन्तु कोई हेतु अवश्य रहता है । वहाँ किसके साथ किसको कैसा संग.है, सो सब से दुर्ज्ञेय है । इसीसे प्रकाश का संग से अंधकार का नाश होता है । ज्ञान का संग से अज्ञान का नाश होता है, प न्तु उस संग की प्रतीति नहीं होती है । वह संग सूक्ष्म होने से अव्यक्त होता है । और चेतनात्मा रूप पुरुष असंग है, इससे सर्वथा असंग आत्मा का नाश वा परिणाम कभी किसीसे नहीं होता है, न वह आत्मा किसीके नाशादि का हेतु होता है । इससे नाश्य नाशक भावादि संबन्ध आत्मभिन्न प्रवाहानादि वा स्वरूप अनादि वस्तुओं में ही है । लिखा है कि,

‘ नोदेति नास्तमेत्येषा नो वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं तथाविधान्यानि भासयेत्साधनं विना ॥ ’

‘ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ’
कठ० १।२।१८

‘ आत्माऽयं केवलः स्वच्छः शुद्धः सूक्ष्मः सनातनः ।
अस्ति सर्वान्तरः साक्षाच्चिन्मात्रस्तमसः परः ॥ ’
कूर्मपु० ईश्वरगी० अ० २।४

‘ यथा प्रकाशतमसोः सम्बन्धो नोपपद्यते ।
तद्वदैक्यं न संबन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः ॥ ’ ईश्वरगी० २

‘ असङ्गो ह्ययं पुरुषः । ’ बृहदा० ४।३।१५

‘ एष ह्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः अगृह्यो नहि गृह्यते । ’ ४।४।२२

उदय अस्त आदि रहित चिति शक्ति (आत्मा) साधन के बिना ही अन्य को प्रकाशती है । यह आत्मा कभी जन्मता मरता नहीं है, और सबको प्रकाशता है, किसीसे अन्य रूप नहीं होता है ! इसीसे अज

नित्य अपक्षय रहित पुराण है। शरीर का नाशसे नष्ट नहीं होता है। यह केवल स्वच्छादि स्वरूप और अज्ञान से पर है। जैसे प्रकाश और अन्धकार का परस्पर एकतारूप संबन्ध नहीं होता है, तैसे ही प्रपञ्च और परात्मा का भी संबन्ध नहीं होता है। यह पुरुष असंग सर्वान्तर्ज्योति अग्राह्य स्वरूप है। इस रीतिसे चेतनात्मा पुरुष सर्वथा असंग है, तथापि जड़ मिथ्या पदार्थों के प्रकाशक होने से कल्पित विषय विषयी भावादि संबन्ध माने गये हैं।

'विषयो विषयित्वं च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते ।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः ॥'

म० भा० आश्वमे० अ० ५०।८

'छायाऽहंकारयोरैक्यं तप्तायःपिण्डवन्मतम् ।
तदहंकारतादात्म्याद्देहश्चेतनतामियात् ॥
अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः ।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं च त्रिविधं क्रमात् ॥
सम्बन्धिनोः सतो नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु ।
कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्तेते क्रमादुभे ॥'

वाक्यसुधा० ७–९

यहां विषय विषयीभाव संबन्ध कहा जाता है। पुरुष विषयी (प्रकाशक) है। अन्तःकरण विषय है। चेतन की छाया और अहंकार इन दोनों की एकता तप्त लोहपिण्ड के तुल्य रहती है। और उस अहंकार का देह के साथ तादात्म्य संबन्ध से देह भी चेतनता को प्राप्त करता है, सो सब संबन्ध अध्याससिद्ध हैं। चितिच्छाया, देह, साक्षी; इन तीनों के साथ अहंकार का अध्यासजन्य तादात्म्य रहता है। तहां छाया के साथ स्वाभाविक (उत्पत्तिकाल से ही) संबन्ध रहता है। शरीर के साथ कर्मज रहता है, आत्मा के साथ केवल भ्रान्तिजन्य रहता है। सम्बन्धियों

के रहते स्वभाविक संबन्ध की निवृत्ति नहीं होती है; किन्तु संबन्धी के अभाव से संबन्ध का अभाव होता है। और कर्मक्षय से कर्मज की निवृत्ति होती है, ज्ञान से भ्रान्तिजन्य की निवृत्ति होती है। इस पूर्व कथन से यह भी सिद्ध हुआ कि सर्वथा असंग आत्मा से स्वच्छ अन्तःकरण का विशेष (अधिक) प्रकाश होता है। और अन्तःकरण से इन्द्रिय द्वारा घटादि का भी विशेष प्रकाश होता है, तथा अन्तःकरण के सङ्गवाला होने से तद्गत छाया द्वारा चेतनात्मा संगवाला के समान प्रतीत होता है। और शरीर तथा आत्मा की एकता (तादात्म्य-अभेद) संबन्ध के सदृश सब संसार के मिथ्या (मायिक) होने से भी सत्य संसर्ग रहित आत्मा है, उसमें भेद भी मन मायाकृत ही है, इत्यादि विचार सत्संगादि से सत्यात्मा का ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे उस भ्रान्ति का हेतु अविद्या की निवृत्तिपूर्वक अक्षय शान्ति परमानन्द की प्राप्ति सब अनर्थ की निवृत्ति होती है। भ्रम भी अविद्यारूप ही होता है, इससे अनादि अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति होने पर कोई भ्रम रह नहीं सकता, इससे ज्ञान के साधनों का अभ्यास से ज्ञान की प्राप्ति करना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। इसी अर्थ का बीजक ग्रन्थ में मुख्य रूप से प्रतिपादन है, इससे मतभेद पूर्वक कुछ ज्ञान की चर्चा की गई है।

बहुवादी मतभेद से, कीन्हा आतमविचार।
एक सत्य निरुवार हित, जो है सब में सार ॥१॥

साधन सहित विचार करि, आतम उर धरि राम।
चलिये नित सत पन्थ में, पाइय सुख विश्राम ॥२॥

हरि बिनु भ्रम संसार में, व्यापि रहा सब ठाम।
बिनु विचार नहिं नशत सो, मिटत न मन से काम ॥३॥

काम क्रोध मद लोभ छल, मत्सर मोह सरूप।
भई अविद्या एक तिहि, नाशिय लहि निज रूप ॥४॥

विनु गुरु कृपा न ज्ञान विनु, हनूमान हरि पाय ।
ताते सतगुरु शरण गहि, काटिय भ्रम समुदाय ॥५॥
कविवर परम कबीर गुरु, मोह सकल तत्काल ।
हरत देत विज्ञान वर, क्षण में करत निहाल ॥६॥
श्री मोहन मदहरण गुरु, रमिता गुरु श्रीराम ।
श्री हरिहर गुरु हृदय के, हरत सकल मति वाम ॥७॥'

॥ इति श्री बीजक सुरहस्यं समाप्तम् ॥



श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

अथ
विशेष-कथा-भागः

मङ्गलाचरणम् ।

नैदाघे किरणे वारि यथा यस्मिन्निदं जगत् ।
तं वन्दे परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ १ ॥
यस्य स्मरणमात्रेण यान्ति विघ्नाः सदा लयम् ।
तं वन्दे बुद्धिदं नित्यं यशोराशिं गुरुं स्वकम् ॥ २ ॥
यानाश्रित्य सुमन्दोऽपि द्वन्द्वमुक्तो भवत्यलम् ।
तान् सर्वान् भद्रकान् वन्दे शान्तये चित्तवारिधेः ॥ ३ ॥
चित्तवारिधिशान्त्यर्थं यत् किञ्चित्प्रवदाम्यहम् ।
तुष्यतु तेन सर्वात्मा परमात्मा सदोन्मुखः ॥ ४ ॥

(रमैनी ८ के अन्तर्गत)

(१)

'तत्त्वमसि' इस उपदेश का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् अ० ६ में है। कथा है कि– अरुण के पुत्र का पुत्र श्वेतकेतु थे, पिता की आज्ञा से बारह वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में जाकर बारह वर्ष में सब वेदों को पढ कर पिता के पास में आये; परन्तु आत्मज्ञान विना अभिमानी रहे; सो देखकर, ज्ञानी पिता (उद्दालक) जी ने पूछा कि, क्यों अभिमानी हो, क्या वह उपदेश अपने गुरु से तुमने पूछा है कि, जिस एक के सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है, इत्यादि । पुत्र ने कहा कि, यह उपदेश कैसा है । पिता ने कहा कि, जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सब उसके कार्य

ज्ञात होते हैं; क्योंकि विकार वाणीमात्र है। मिट्टी के सब विकारों (कार्यों) में मिट्टी ही सत्य है। इससे मिट्टी के ज्ञान से ही उनका ज्ञान हो जाता है, इत्यादि। फिर पुत्र ने कहा कि, यह उपदेश हमारे गुरु नहीं जानते हैं, जानते तो अवश्य कहते, अब आप ही कहें। इसके बाद 'सदेव सोम्येद-मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस वचन से एक सत्यात्मा को बता कर, सृष्टि का संक्षेप से वर्णन पूर्वक, पिता ने कहा है कि, वही सत्य सबका मूल कारण है, इससे वही सत्य है, उसीके ज्ञान से सबका ज्ञान होता है; परन्तु भूमि से बाद में उसके कारण को समझो। फिर भूमि के कारण का कारण (हेतु) को समझो, इस प्रकार परंपरा से सब के मूल कारण को समझो, और उस परम सूक्ष्म कारणरूप ही यह सब जगत है; क्योंकि वही सत्य है, वही सब के आत्मा है। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' हे श्वेतकेतो! तुम भी वही सत्यात्मा हो अर्थात् तेरा आत्मा भी वही सत्य है, इत्यादि। इसी अर्थ को फिर भी पूछने पर कैक बार समझाया है ॥१॥

(२)

छान्दोग्य के अ० ७ में कथा है कि— ज्ञान प्राप्ति के लिये नारदजी सनत्कुमार के पास गये हैं। और उपदेश सुनाने को कहा है, तब सनत्कुमारजी ने कहा है कि, आत्मविषयक जो कुछ आप जानते हो सो कहो; उसके बाद आपके अज्ञान विषय को मैं कहूंगा। तब नारदजी ने सब वेद इतिहास पुराणादि का वर्णन किया है कि, इन सब विद्याओं को मैं जानता हूं; परन्तु मन्त्रादिरूप वाक्यों को ही जानता हूं, आत्मा को नहीं जानता हूं; क्योंकि आप ऐसे महापुरुषों से सुना हूं कि, आत्मज्ञानी शोक रहित हो जाता है। और मैं अज्ञानी होने से शोचता हूं, तापयुक्त हूं, आप मुझे शोक के पार कीजिये। तब सनत्कुमारजी ने वेदादि को नाम (शब्द) रूप बताकर, क्रमशः सूक्ष्म पदार्थ को बताते हुए अन्त में ब्रह्म को सुखस्वरूप भेद रहित बताया है। सर्वत्र व्यापक आत्मा कहा है, उससे अन्य को विनश्वर तुच्छ कहा है, इत्यादि ॥२॥

(३)

नारदीय पु० अ० ३३ में कथा है कि– नारदजी ने सनकजी से पूछा है कि, किस कर्म से योगियों का योग की सिद्धि होती है। तब सनकजी ने उत्तर दिया कि, तत्त्व का चिन्तन करनेवालों ने उत्तम मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से कहा है। और वह ज्ञान मूलक (भक्तिजन्य) होता है। और सुकर्मवालों को भक्ति प्राप्त होती है। हजारों जन्मों में दान यज्ञादि विविध कर्म जिसने किया है, उसीको हरि में भक्ति होती है। भक्ति के लेशमात्र से भी अक्षय परम धर्म होता है। उत्तम श्रद्धा से सब पाप नष्ट होता है। सब पापों के नष्ट होने पर बुद्धि निर्मल होती है, वही बुद्धि विद्वानों से ज्ञान शब्द से कही जाती है, ज्ञान मोक्षप्रद कहा गया है। और वह ज्ञान योगी को होता है। क्रियायोग विना ज्ञान नहीं होता। इससे मन वचन कर्म से परपीड़ा रहित होकर, विभु विष्णु की पूजा भक्ति सहित करें। और अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनीर्ष्या, दया; ज्ञानयोग, कर्मयोग दोनों के साधक हैं। सब के आत्मा विष्णु हैं. ऐसा समझ करके ही योगाभ्यास करे। अपने समान सब प्राणी को माननेवाले ही विष्णु के पर भाव को जानते हैं। यदि क्रोधादि से दुष्ट मनवाला देवपूजा करता है, तो उससे विष्णु नहीं प्रसन्न होते, जिससे वह धर्मपति कहाते हैं। कामादि से दुष्ट मनवाला दम्भी यदि पूजा करता है, तो वह व्यर्थ है। तिससे शमदमादि साधनों में तत्पर होकर, सर्वात्मा विष्णु की पूजा करे, मन वचन कर्म से सबके हित में रत रहे, सोई क्रियायोग (कर्मयोग) कहा जाता है, इत्यादि ॥३॥

(४)

योगवासिष्ठ प्रकरण २ सर्ग एक में कथा है कि– शुकदेव जी अपने से ही परम तत्त्व को समझे थे। परंतु अपने विचार में विश्वास नहीं होने से, व्यास जी से पूछा कि, यह संसाराडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है,

कैसे नष्ट होता है इत्यादि। तब व्यास जी ने यथार्थ अमल तत्व का उपदेश दिया, और संसार को कल्पित (मिथ्या) बताया, तब स्वयं ज्ञात इस उपदेश में भी शुकदेवजी को पूर्ण विश्वास नहीं हुआ। तब व्यास जी पुत्र के अभिप्राय को समझ कर बोले कि, मैं वेद्य वस्तु को तत्त्वतः नहीं जानता हूं, राजा जनक तत्त्वतः जानते हैं, उनके पास जा। तब सुमेरु पर्वत पर से शुकदेव जी जनकपुर पहुंचे। तब उनके वैराग्यादि की परीक्षा करके, जनक जी ने पूछा कि,

'निःशेषितजगत्कार्यप्राप्ताऽखिलमनोरथः।
किमीप्सितं तवेत्याशु कृतस्वागतमाह तम्॥'

आपने सब जगत् के कार्य को समाप्त किया है, सब मनोरथ प्राप्त किया है, आपको जो इप्सित है, सो शीघ्र कहो; स्वागत करके ऐसा जनक जी ने कहा। शुकदेव जी बोले कि-

'संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो।
कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाऽऽशु मे॥'

इस प्रश्न का जो उत्तर व्यास जी ने दिया था, सोई उत्तर जनक जी ने भी दिया। तब शुकदेव जी बोले कि, इस तत्त्व को मैं स्वयं विवेक से समझा था, पिताजी ने भी यही कहा, आप भी यही कहते हो, शास्त्र भी यही कहता है कि,

'यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात्।
क्षीयते दग्धसारोऽयं निःसार इति निश्चयः॥'

जनक जी बोले कि,

'अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत्।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते॥
व्यासादधिक एवाहं व्यासशिष्योऽसि तत्सुतः।
भोगेच्छा तानवेनेह मत्तोप्यत्यधिको भवान्॥'

इत्यादि ॥४॥

(५)

देवी भागवत स्कन्ध० १ अ० १० अ० १४ आदि में कथा है कि–कलविंक पक्षी का पुत्र स्नेहजन्य आनन्द को देखकर, पुत्र के लिये सौ वर्ष तप करने के बाद, अग्नि के लिये अरणि मन्थन व्यास जी करते थे, और उसी समय घृताची नामक अप्सरा आई, उसे देखकर व्यास जी कामातुर हुए। इन्हें काम से मोहित जानकर अप्सरा शुकी रूप होकर वहाँ से चल गई, तोभी काम को नही रोक सके। उस अरणि (लकड़ी) में ही वीर्य गिरा, उससे शुकदेवजी का जन्म हुआ, और बृहस्पति से शास्त्रों का अध्ययन किये। जनक जी के कहने से विवाह भी किये; परन्तु फिर योग में स्थिर होकर पिता को भी त्याग दिये। तब पुत्र का वियोग से अत्यन्त शोकातुर व्यासजी को देख कर छाया शुकदेव बनाकर नारदजी ने व्यास जी को शान्त किया, इत्यादि।

यही कथा म० भारत शान्तिपर्व अ० ३२३ और ३२४ में कुछ भेद से है। कथा है कि— मेरु पर्वत के शृङ्ग पर पार्वती सहित शिव जी विचरते थे, और वहाँ ही व्यास जी उत्तम पुत्र के लिये तप करते थे। वे शिवजी की आराधना करते थे, तब प्रसन्न होकर शिव जी बोले कि, आकाश वायु तेजादि समान तेरा पुत्र होगा। वर पाने पर अरणि मन्थनादि की कथा पूर्व समान ही है। शुकदेव जी के जन्म होने पर, महा तेजस्वी उन्हें देखकर, गंगा पानी से तर्पण किया, और देव ऋषि लोक भी यथायोग्य स्तुति सत्कारादि किये। अ० ३२५ में है कि, मोक्ष के विचार से शुकदेव जी व्यासजी के पास गये तब व्यासजी ने उन्हें राजा जनक के यहाँ भेज दिये। वहाँ ज्ञान की प्राप्ति करके शुकदेव जी फिर उत्तराखण्ड को ही पधारे। और अ० ३२९ इत्यादि में है कि, नारदजी के उपदेश से योगाभ्यासादि किये, इत्यादि। नारदीय पु० पूर्व सं० अ० ५८ में भी यह कथा है॥५॥

(६)

याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद बृहदारण्यकोपनिषद अ० ४ में है। प्रथम अ० ३ में कथा है कि– राजा जनक बहुत दक्षिणावाला 'अश्वमेध' (राजसूय) यज्ञ से यजन किये, उसमें कुरु पंजाब के बहुत ब्राह्मण एकत्रित हुए। राजा को जानने की इच्छा हुई कि, इनमें कौन अतिशय विद्वान् हैं। इसे समझने गौओं के एक सिंग में पांच पाद सुवर्ण में ढलाकर हजार गौ उनके सामने गोष्ठ में रखवाये, और प्रणामपूर्वक बोले, आप सब भगवान् रूप ब्राह्मण हैं; परन्तु जो आपमें अतिशय ब्रह्मनिष्ठ हैं सो इन गौओं का ग्रहण करे। कोई जब उसके लिये नहीं प्रवृत्त हुआ, तब याज्ञवल्क्य जी ने शिष्य को कहा कि, इन गौओं को ले चलो। फिर अन्य ब्राह्मण सब अपना अपमान समझ कर बहुत विवाद प्रश्न किये हैं; परन्तु सब याज्ञवल्क्य जी से पराजित हुए हैं, और यथायोग्य उत्तर पाये हैं।

यह कथा वायु पु० अ० ६० में भी है। याज्ञवल्क्य जी ने सबका उत्तर दिया है, और याज्ञवल्क्य जी का प्रश्न का उत्तर कोई नहीं दे सका है। गार्गी ने प्रश्न करके याज्ञवल्क्य जी के महत्त्व को समझ कर ब्राह्मणों को समझाया कि, कोई इनसे विवाद नहीं करो, तौ भी शाकल्य ने बहुत प्रश्न किये, मुनि ने उत्तर दिया, और मुनि का एक प्रश्न का शाकल्य उत्तर नहीं दे सका, जिससे उसका शिर फट गया; क्योंकि ऐसा ही नियम करके मुनि ने प्रश्न किया था, यदि इसका उत्तर नहीं दोगे तो शिर फटेगा। 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्यादि मुनि का कथन है। अन्त में 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह सबको समझाया है। इसके बाद चतुर्थ अध्याय में कथा है कि– याज्ञवल्क्य जी स्वयं राजा के यहाँ गये हैं, और उनके प्रश्न के अनुसार समझा कर अन्त में स्वयं-प्रकाश असङ्ग आत्मा का वर्णन किया है। शरीरी जीव के कर्मादि के अनुसार गति बता कर, निःष्काम ज्ञानी की मुक्ति का वर्णन किया है।

भेद रहित आत्मा मन से समझने योग्य है। आत्मा में भेद माननेवाला बार २ मृत्यु पाता है। भेद रहित आत्मा को समझने के लिये शम दमादि साधन हैं, इत्यादि उपदेश देकर कहा है कि, यह आत्मा ही अजर अमर अमृत अभय ब्रह्म है, जो इस प्रकार जानता है, सो अभय ब्रह्म ही होता है। महाभारत शान्तिपर्व अ० ३१० से ३१८ तक याज्ञवल्क्य जनक का संवाद है कि, जिसमें सांख्ययोग की रीति से तत्त्वादि का वर्णन है। और अ० ३१८।७६ का श्लोक है कि,

'स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते।
उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः॥'

कालस्य (कालेन) काल से वह डूबता है कि जब एकता नहीं समझता। और वह काल से उबरता है कि जो समता से युक्त रहता है, इत्यादि ॥६॥

(७)

दत्तात्रेय जी की कथा मार्कण्डेय पुराण अ० १६ आदि में है कि - प्रतिष्ठानपुर में कोई कौशिक नामा ब्राह्मण था। सो पूर्वजन्म के पाप से कुष्ठ रोगवाला था, क्रोधी था। परन्तु उसकी स्त्री पतिव्रता थी, सब प्रकार से सेवा आज्ञा पालन करती थी। उस कामी ब्राह्मणने एक दिन किसी वेश्या को देखा और रात्रि के समय वहाँ जा नहीं सकता था, तब स्त्री से कहा कि, मुझे वेश्या के पास पहुंचावो, कम से कम मैं उसे देखूंगा, वह मुझे देखेगी। यह सुन कर पतिव्रता पति को कान्धे पर लेकर चली, और माण्डव्य नामक ऋषि चोर न होते भी चोरपन की शंका से राजा द्वारा शूली पर चढाये थे। सो उसी रास्ते में जीवनयुक्त कष्ट में थे। रात्रि के समय अन्धकार होने से उस पतिव्रता के पति का पैर उनके देह में लग गया। तब माण्डव्य शाप दिये कि, जिसका पैर लगा है, सो सूर्य को देखते ही मर जायगा। पतिव्रता बोली कि, सूर्योदय ही नहीं होगा कि,

जिससे मेरा पति मरेगा । फिर सूर्योदय नहीं होने से सदा रात्रि रहने लगी, यज्ञादि कर्म बन्द हो गये, तब देव सब चिन्ता युक्त हुए । तब प्रजापति ने कहा कि, एक तेज दूसरा तेज ही से शान्त होता है, इससे अत्रिमुनि की स्त्री पतिव्रता अनसूया से ही फिर सूर्योदय होगा । इस बात को सुन कर देव सब अनसूया से प्रार्थना किये, तब अनसूया उसे समझाया कि, दिन होने बिना देवताओं में घबराहट है, सूर्योदय होने दो, मैं तेरा पति को जीवित कर दूंगी । उसने स्वीकार किया, तो अनसूया की स्तुति से सूर्योदय हुआ, और उसका पति मर कर फिर जीवित हुआ । इसके बाद ब्रह्मा आदि त्रिदेव अनसूया के पास आकर वर मांगने के लिये कहे तो अनसूया ने कहा कि, आप तीनों मेरा पुत्र होवें, यही मेरी इच्छा है । फिर ब्रह्मा चन्द्रमा हुए, विष्णु दत्तात्रेय हुए, शिव दुर्वासा हुए । यही चन्द्रमा गुरुपत्नी से बुध को उत्पन्न किया, और दत्तात्रेय जनसंघ को छोड़ कर, जल में रह कर तप करने लगे । परन्तु उनके साधु स्वभाव से ब्राह्मणों के बालक वहाँ भी साथ नहीं छोडते थे, तब मायामयी एक स्त्री को साथ में लिये जल से निकले, तौ भी साथ नहीं छोडने पर कल्पित मदिरा पीने लगे तब सब साथ छोड़ दिये, इत्यादि । और दत्तात्रेय की ही उपासना से सहस्त्रार्जुन सिद्धि पाया था । तथा मन्दालसा के चौथा पुत्र अलक इनके उपदेश से ज्ञानयोग पाया था, इत्यादि । इस कुष्ठी और पतिव्रता की कथा, ब्रह्म पु० खं० १। अ० ५३ में अन्य रूप से है । वहाँ अनसूया का वहाँ जाने की कथा नहीं है; किन्तु ब्रह्मा आदिक ही उसे समझाये थे और कुष्ठी के मरने पर दिव्य रूप से उसे जीवित किये थे, इत्यादि ॥

भविष्य पुराण, पर्व ३ अ० १७ में कथा है कि– अनसूया सहित अत्रि ऋषि तप करते थे, तब ब्रह्मा आदि तीनों देव ऋषि से वर मागने के लिये कहने गये । ऋषि कुछ नहीं बोले, तब उनकी स्त्री के पास जाकर तीनों देव कुछ कुचेष्टा करते हुए, रति के लिये कहे, और बलात्कार करना चाहे । तब

ऋषिपत्नी ने शाप दिया कि, तुम तीनों मेरा पुत्र होगे, और तपोबल से तीनों को पुत्र बनाया।

'महादेवस्य वै लिङ्गं ब्रह्मणोऽस्य महच्छिरः।
चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा॥
भविष्यति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तमः।'

यह अनसूया देवी की उक्ति है। यहाँ भाव है कि, सात्विक विष्णु का अवतार महाप्रतिव्रता का पुत्र दत्तात्रेय महाविरक्त ज्ञानी थे, इससे (दत्तात्रेय वही रस स्वादा) उक्ति उचित ही है। और माण्डव्य ऋषि की कथा स्कन्द पु० खं० ५-३ अ० १९८ में है कि- किसी राजा के द्रव्य चोराय के चोर सब माण्डव्य ऋषि के आश्रम में छिपे थे। राजपुरुष सब आकर ऋषि से पूछा, तब ऋषि कुछ उत्तर नहीं दिये, इससे चोर सहित ऋषि को पकड़ कर ले गये। फिर ऋषि को भी राजा शूल पर चढ़ा दिया; परन्तु योग तप के प्रभाव से शीघ्र प्राणत्याग नहीं हुआ, तब राजा शूल पर से उतारा, और क्षमा मांगा, बाद में ऋषि का शरीर छूटा, इत्यादि।

वसिष्ठ और राम मिलकर जो कथा गाये उसका बीजमात्र योगवासिष्ठ में इस प्रकार है कि- श्रीरामचन्द्र जी विद्यागृह (गुरुकुल) में सब विद्याओं का अध्ययन करके घर आये, और वहाँ आकर तीर्थयात्रा के लिये श्री दशरथ जी से आज्ञा मांग कर, शुभ दिन में भाइयों के सहित यात्रा किये, और सब दिशाओं में बार २ विचरे, और सब पृथिवी को देख कर घर आये। सुखपूर्वक घर में रहने लगे। बाद भरत जी मामा के पास रहने लगे, और लक्ष्मण शत्रुघ्न सहित रामजी घर रहने लगे। और विराग की भावना से चिन्तित दुःखी कृश हो गये। उस समय सोलह वर्ष से कुछ कम ही उमर थी, चिन्ता दुःख के मारे शारीरिक व्यवहार, नित्य कर्मादि से भी उपराम के समान हो गये कि, जिससे उनके मातापिता सब चिन्तित हुए, और पूछने पर भी दुःख का कारण नहीं बताते थे। तब

दशरथ जी ने श्रीवशिष्ठ जी से पूछा कि, राम का दुःख के क्या कारण है ? वसिष्ठ जी ने शोच विचार कर कहा कि, हे राजन् ! इसमें भारी कारण है, अलप करण से सन्त लोक हर्ष विषादादि के वश नहीं होते हैं; परन्तु आप को दुःख की कोई बात नहीं है। इस वचन को सुनकर दशरथ जी चुप होकर दुःख सहित समय बीताने लगे, और सुख समय की प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय में यज्ञ में उपद्रव करनेवाले राक्षसों से विघ्नयुक्त महर्षि विश्वामित्र जी यज्ञरक्षा के लिये राजा के पास आये कि, राक्षसों से यज्ञ की रक्षा किया जाय। श्री दशरथ जी ने श्री विश्वामित्र जी की पूजा आदि करके पूछा कि, श्रीमान् किस कार्य के लिये आये हैं, सो आप कहें, मैं अवश्य करूंगा, आप महामान्य महर्षि हैं, इत्यादि। तब विश्वामित्रजी हर्षयुक्त होकर बोले कि, आपका यह वचन उचित ही है। और कार्य मेरा यह है कि, सिद्धि के लिये मैं यज्ञ करता हूँ, उसमें राक्षस विघ्न करते हैं। और यह कर्म ऐसा है कि, इसमें शाप देना उचित नहीं है। आपकी सहायता से यह यज्ञ पूर्ण हो सकता है। और आपका बड़ा पुत्र राम राक्षसों का नाश करनेवाला है, उन्हें ही मुझे आप दो। हमसे रक्षित होकर वही राक्षसों का नाश करेंगे। और मैं भी उनका बहुत कल्य ण करूंगा कि, जिससे वे तीनों लोक में पूज्य होंगे, इत्यादि।

राजा दशरथ इस बात को सुन कर, एक मुहूर्त निश्चेष्ट दुःखी होकर बोले कि– बालक राम अभी युद्ध योग्य नहीं हैं, अन्य मन्त्री योद्धा हैं, उन्हें ले जाइये। इनके सहित मैं इन्द्र से भारी योद्धाओं के साथ युद्ध करूंगा। और बालक राम अभी क्या करेंगे। और दूसरी बात है कि, इस समय राम स्वयं कृश दुःखी हैं। राक्षसों के साथ युद्ध करना बडे बलियों के लिये भी कठिन है, इससे मैं राम को नहीं दूंगा, इत्यादि। इस बात को सुन कर श्री विश्वामित्र क्रुद्ध हुए, जिससे हलचल हो गया। सो देखकर श्री वसिष्ठजी ने विश्वामित्रजी के प्रभावादि श्रीदशरथजी के प्रति समझा कर, उन्हें देने में लाभ समझाया, तब उनसे राम लक्ष्मण दोनों

भाई बुलाने गये। प्रतिहार बोलाने गया, थोडी देर में आकर, रामजी के विषाद को सुनाया। फिर विश्वामित्रजी बोले, कि यदि ऐसी बात है तो रघुनन्दन को आप सब यहाँ शीघ्र लावो। यह रघुपति का मोह आपत्ति रागादि से नहीं है। यहां आने पर हम सब क्षणभर में मोह को दूर कर देंगे कि जिससे मोह रहित सुखी होकर अपना व्यवहार करेंगे। तब दशरथजी ने दूत को भेजा, तबतक रामजी स्वयं भाइयों के सहित घर से चल चुके थे। आकर पिता और मुनियों को प्रणाम करके, भूमि में बिछाये हुए कपड़े पर बैठ गये। तब श्री दशरथजी बोले, कि तुम विवेकी हो, दुःखी नहीं होवो; तुम्हारे समान लोक वृद्ध विप्र गुरु से कथित पवित्र स्थान को पाते है, इत्यादि। श्री वसिष्ठजी बोले, कि तुम वीर हो, कठिन विषय-शत्रुओं को जीते हो। अज्ञ तुल्य मोहसागर में क्यों डूबे हो?। विश्वामित्रजी बोले, कि चित्त कृत नेत्र की चञ्चलता को त्याग कर कहो कि, किन हेतुओं से किन विषयों में कैसे तुम मोहित हो, इत्यादि। कहने से तुम अपना अभिमत इष्ट शीघ्र पावोगे। इस उचितार्थयुक्त वचन को सुन कर, रामचन्द्रजी ने दुःख को त्याग दिया। और आश्वासन पाकर बोले कि, हे भगवन्! आपके पूछने पर मैं अज्ञ भी इस समय सब कहूंगा। सत्पुरुष के वचन का उल्लंघन कौन करेगा। ऐसा कह कर रामचन्द्रजी ने संसार के दुःख लक्ष्मी जीवनादि के दोषों का वर्णन किया। और पूछा कि, कौन वह स्थिति का स्थान है कि जहाँ शोक नहीं है, जीवन्मुक्त कैसे रहते हैं, इत्यादि। तब विश्वामित्रजी ने कहा कि, तुम स्वयं सूक्ष्मबुद्धि से सब बात जानते हो, केवल परिमार्जन मात्र की जरूरत है, इत्यादि। और फिर कहा कि, रघुवंशी के कुलगुरु श्री वसिष्ठजी इनका चित्त की विश्रान्ति के लिये युक्त कहें, इत्यादि। तब वसिष्ठजी महाराज विचारादि के लिये उपदेश देकर एकात्मा का उपदेश अनेक युक्तियों से दिया। और कहा कि, सांख्यवादी के मत में जो पुरुष है, योगवादी के मत में जो ईश्वर है; इसी प्रकार जो तत्तन्मत में काल शिवादि हैं, सो सब आत्मज्ञानी के आत्मा हैं ॥८॥

(९)

श्री कृष्णजी उद्धवजी को जो समझाया है, सो कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध० ११ अ० २७-२८ में है। उद्धव के पूछने से अध्याय २७ में क्रियायोग का वर्णन किया है कि, जिसमें वैदिक तान्त्रिक मन्त्रों द्वारा द्विजों के कर्तव्य रूप पूजा का कथन किया है। और मूर्ति देव प्रतिष्ठा आदि के फल बताया है। अ० २८ में कहा है कि, प्रकृति और पुरुष के साथ विश्व को एकस्वरूप देखता हुआ दूसरे के स्वभाव कर्म की प्रशंसा निन्दा नहीं करे; क्योंकि जो दूसरे के कर्म स्वभाव की प्रशसा निन्दा करता है सो असत्य में अभिनिवेश से अपने स्वार्थ से गिर जाता है। निद्रा से प्राप्त तैजस में जैसे शरीरस्थ पुरुष मिथ्या स्वप्न देखता है। नष्ट चेतनतावाला मूर्छित प्राणी माया वा मृत्यु को प्राप्त होता है। तैसे ही नाना अर्थ को सत्य देखनेवाला संसार स्वप्न को माया मरण को प्राप्त होता है। अवस्तु (मिथ्या) द्वैत का कितना कौन वस्तु भद्र (शुभ) है। और कितना कौन अभद्र है; क्योंकि जो वचन से कहा जाता है, मन से ध्यात है, सो मिथ्था है। और छाया के व्यापारादि तुल्य भ्रमरूप असत् है, तो भी संसार में कार्य करनेवाला है। ऐसे ही देहादि असत् होते भी मरण मोक्ष पर्यन्त भय देते हैं। वस्तुतः आत्मा ही माया द्वारा विश्वरूप से प्रगट होता है, प्रभु होकर प्रगट करता है, रक्षित होता है, रक्षा करता है; वही विश्वात्मा हरा जाता है, ईश्वर होकर हरता है। तिससे आत्म-स्वरूप सृज्यादि भिन्न से अन्य कोई पदार्थ निरूपित (सिद्ध) नहीं हो सकता। अध्यात्मादि पदार्थों की प्रतीति भी आत्मा में मिथ्या ही है। इसे मायाकृत समझो। मुझसे वर्णित इस ज्ञान विज्ञान की निपुणता को जाननेवाले, किसीकी निन्दा स्तुति नहीं करते हैं। किन्तु लोक में सूर्य के समान असङ्ग होकर विचरते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष अनुमानागमादि से, अपने विवेक से आदि अन्तवाला सब वस्तु को असत् जान कर, यहाँ असङ्ग होकर विचरे।

फिर, उद्धवजी ने पूछा है कि, स्वयंप्रकाश द्रष्टा आत्मा को वा अनात्म दृश्य देह को जन्म दुःखादि संसार नहीं है, फिर किसको है, जो दीखता है। अव्यय निर्गुण स्वयंप्रकाश अनावृत आत्मा है. सो अग्नि तुल्य है, लकडी तुल्य देह है; यहाँ संसार किसको है। भगवान् ने कहा है कि, जबतक देहेन्द्रिय प्राण के साथ अध्याससिद्ध संबन्ध आत्मा को है, तबतक अविवेकी को मिथ्या संसार भी सफल है, सो स्वप्न समान है। सत्य अर्थ के नहीं रहते भी विषयों के ध्यान करनेवालों का संसार नहीं निवृत्त होता है, कि जैसे स्वप्न में अर्थ विना भी अनर्थ की प्राप्ति होती है। जागने से स्वप्न की निवृत्ति के समान आत्मज्ञान से सब अनर्थों की निवृत्ति होती है, इत्यादि ॥९॥

(१०)

राजा जनक का विदेह कहाने की कथा, विष्णुधर्मोत्तर पुराण खण्ड १ अ० ११७ में है कि– निमि नामक राजा के पहले वसिष्ठजी पुरोहित थे। राजा के निरन्तर याग से उपराम होकर विश्राम करना चाहते थे। और राजा यज्ञ कराने को कहा तब ऋषि ने विश्राम लेनेको कहा। फिर राजा बोला कि, पारलौकिक कर्म में समय की प्रतीक्षा उचित नहीं है, इससे यदि आप नहीं यज्ञ करा सकते हैं, तो अन्य पुरोहित बनाकर, उनके द्वारा यज्ञ करूंगा। इस बात को सुनकर वसिष्ठजी ने शाप दिया कि, श्रान्त मुझको छोड़कर अन्य पुरोहित करना चाहते हो, इससे तुम विदेह होगे (मरोगे)। फिर निमि भी शाप दिया कि, धर्मकार्य में विघ्न करते हो, और दूसरा पुरोहित भी नहीं चाहते हो, इससे तुम भी विदेह होगे। फिर विदेह होकर दोनों ब्रह्माजी के पास गये। तब ब्रह्माजी ने निमि को सब जीवों के नेत्रों में वास दिया। और वसिष्ठजी फिर मित्रावरुण के पुत्र हुए, इत्यादि ॥

देवी भागवत स्कन्ध ६ अ० १५ में भी यह कथा है कि– वसिष्ठजी के शाप से निमि राजा विदेह हुए, और इससे उनके वंशज विदेह कहाये, इत्यादि। तो भी जनकजी में ज्ञान के प्रभाव से देहाभिमान के अभाव से

उनमें विशेष विदेहता का वर्णन किया है । और उनके ज्ञान का प्रभाव शास्त्र तथा लोक में भी प्रसिद्ध है, इत्यादि ॥१०॥

(रमैनी १३ के अन्तर्गत)

(१)

'मुये गये की' कथा कठ उपनिषद् में है कि– प्राणी के यह आत्मा मारने से नहीं मरता है, न जन्मता मरता है, यह अज नित्य है, तो भी उपाधि से भिन्न के समान होकर, छाया और आतप के समान विलक्षण हुआ है । शरीररूप रथ के स्वामी हैं, जिसमें बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रिय घोडे हैं, विषय सडक है । अज्ञानी क इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती हैं; इससे मरने पर संसार में कर्मादि के अनुसार प्राप्ति होती है । विज्ञानी इन्द्रियों को वश में करके संसार मार्ग के अन्त तक पहुंचता है, इत्यादि ॥१॥

(रमैनी १४ के अन्तर्गत)

(१)

वामन अवतार की कथा विष्णु धर्मोत्तर पुराण खं० १ अ० २१ में है कि– प्रथम स्वायंभुव मन्वन्तर में विश्वभुग् देवेन्द्र हुए । उनके दायाद बन्धु घोर असुर सब हुए । और उन असुरों के राजा वाष्कलि नामा असुर हुआ, सो इन्द्र के राज्य को बलात्कार से हर लिया । तब इन्द्र ब्रह्मा जी के शरण में गये । ब्रह्मा जी इन्द्र सहित विष्णु भगवान् के शरण में गये, और सब वृत्तान्त सुनाये । तब भगवान् बोले, कि मैं इन्द्र के राज्य को लौटाऊंगा, आप अपने लोक में जाइये । मैं वामन रूप से वाष्कलि के पास जाऊंगा । तब वह मुझे देखकर विस्मित होगा । उसी समय

इन्द्र भी जाकर उससे याचना करें, कि हे वाष्कले ! मेरा तीनों लोक तुम बल से हर लिये हो, तहाँ इस अति लघु वामन के पैर से तीन पग भूमि मुझे अग्निस्थापन के लिये शीघ्र दो। इस प्रकार इन्द्र के कहने पर वह अवश्य तीन पग भूमि देगा। ऐसा कहने पर ब्रह्माजी अपने घर गये। भगवान् वामन रूप से वाष्कलि के पास गये। वह भगवान् को देखकर आश्चर्य में था ही कि, इन्द्र भी पहुंचे। वाष्कलि ने इन्द्र का सत्कार किया, आगमन का कारण पूछा, तब इन्द्र बोले, कि दूसरे की भूमि में नहीं रहना चाहता हूं, इससे अग्निस्थापन के लिये इस वामन के पद से तीन पाद भूमि मुझे दो। वाष्कलि ने कहा, कि अच्छा, इसके तीन पाद में आप सुख से रहो। फिर भगवान् ने बढकर तीनों लोक का ग्रहण किया, इत्यादि ॥

यही कथा पद्मपुराण में कुछ भेद से है। वहाँ खं० १ अ० ३ में अदिति के गर्भ से भगवान् के प्रादुर्भाव का वर्णन है। और मत्स्य पुराण अ० २४४ इत्यादि में भी यह कथा है। वहाँ भी अदिति के गर्भ से प्रगट होने का वर्णन है, और विरोचन के पुत्र बलि से इन्द्र के राज्य को लौटाया है। इसीसे कबीर साहब भी कहते हैं कि,

'वामन रूप छल्यो बलि राजा।'

और श्रीमद्भागवत अष्टम स्कन्ध अ० १८ में भी वामन भगवान् का जन्म अदिति देवमाता से ही लिखा है। असुरों से अपने पुत्रों का राज्य हरण होने पर अदिति दुःखी हुई और अपने पति से दुःख की बात सुनाई, तब उन्होंने एक व्रत बताया कि, जिससे विष्णु भगवान् अदिति को दर्शन दिये और उसके गर्भ से अवतार लेकर बलि के यज्ञ में गये। और स्वयं अ० १९ में तीन पाद भूमि मांगा है। फिर बलि ने और माँगने के लिये कहा है, तब भगवान् ब्राह्मण के धर्म संतोषादि का वर्णन किये हैं, तब बलि देने के लिये वचन दे चुका। उस के बाद उसके गुरु कहने लगे कि, ये देव के पक्षपाती विष्णु हैं, दो पग में

ही सब लोक ले लेंगे, तीसरे पग के लिये क्या गति है । तुम्हें महादु.ख होगा, नहीं दो । शोच विचार कर बलि ने कहा कि, झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं है; इससे सब दुःख सहन स्वीकार है; परन्तु न नहीं कह सकते । इसके बाद गुरु शाप दिये, तोभी बलि ने दान दिया। और भगवान् दो पैर से सब संसार लिये, एक पैर से उसका देह लिये, सुतल लोक में प्रसन्नतापूर्वक भेज दिये । इन्द्र को स्वर्ग में स्थिर किये, इत्यादि ।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण खं० १ अ० ५५ में वामन अवतार की कथा है कि– नरसिंह भगवान् जब हिरण्यकशिपु को मार दिये, तब प्रह्लाद के पौत्र विरोचन के पुत्र बलि ऊग्र तप करके सुरासुर से अजेयता का वर ब्रह्मा जी से पाकर, दैत्यों का राजा होने पर इन्द्र को पराजित करके स्वर्ग का राज्य करने लगा । तब इन्द्र कश्यप के शरण में गये, कश्यप इन्द्र सहित ब्रह्माजी के शरण में गये । ब्रह्मा के कहने से भगवान् विष्णु के शरण में गये, तब भगवान् ने कहा कि मैं देवरूप होकर बलि को ठगूंगा । फिर कश्यप द्वारा अदिति के वामन रूप पुत्र भगवान् हुए । उसके बाद बलि राजा पालिग्राम में अश्वमेध यज्ञ करने लगा । तब बृहस्पति जी अपने बांयें कांधे पर रखकर उन्हें यज्ञ में ले गये । ब्रह्मपुराण की रीति से आप गये, और भगवान् यज्ञ की स्तुति किये । धर्मात्मा बलि सुन्दर स्वरूप भगवान् को यज्ञस्थान में ले गया । वहाँ जाकर भगवान् ने तीन पाद भूमि माँगा । फिर बलि ने गुरु के रोकने पर भी प्रदान किया, तब बढ कर तीनों लोक का ग्रहण किये, और दानवों को मार डाले, बलि को पाताल में रहने को हुकुम दिये, इत्यादि ॥१॥

(२)

हँसाऽवतार की कथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण खण्ड २ अ० २२६ में है कि– कृतयुग (सत्ययुग) में प्रजा ज्ञाननिष्ठ थी, समर्थ प्रभुत्व युक्त थी। फिर कृतयुग के अन्त में परिग्रह में प्रवृत्त हुई, जिससे लोभ द्वेषादि की उत्पत्ति होने पर विवेक ज्ञान लुप्त हो गया । तिससे धर्म का नाश हुआ,

धर्म का नाश होने से लोक भी नष्ट हुआ। फिर नष्ट होता हुआ लोक को देखकर भगवान् हंस रूप होकर भूमि में विचरने लगे। और किसी देश में ऋषियों को भी ज्ञान विना मोह युक्त चिन्तायुक्त देखकर, उनसे कुशल पूछा।' ऋषि लोक बोले कि, ज्ञान विना कुशल कैसे हो। हंस भगवान् बोले कि, मैं ज्ञान दूंगा। ऋषि लोक बोले कि, ज्ञान के नाश से सब संसार का नाश न हो जायगा; इसलिये ज्ञान देकर सब की रक्षा करें। और अपने स्वरूप का भी परिचय दें कि, आप कौन हैं। तब भगवान् अपना परिचय देकर ज्ञान दिया। फिर ऋषिलोक शिष्यों को ज्ञान दिये, इत्यादि ॥२॥

(रमैनी २७ के अन्तर्गत)

ब्रह्मा विष्णु का ईश्वरत्व के लिये विवाद और शिवलिङ्ग की प्रगटता की कथा अनेक प्रकार की है। भविष्य पुराण खं० १ अ० १५३ में कथा है कि– कल्प के आदि में सृष्टि पालन करते हुए ब्रह्मा विष्णु शिव तीनों को अभिमान हुआ कि, मैं ही महान् हूं।

'विवादस्तु महानासीत्कञाम्बुनगौकसाम्।
अहं कर्ता विकर्ताऽहं पालकोऽहं महाप्रभुः॥'

कमलज (ब्रह्मा), अम्बु (जल) ओक (स्थान) वाला विष्णु, नग (पर्वत) स्थान वाला शिव को आपस में महान् विवाद हुआ कि, मैं ही कर्ता आदि हूं। इतने में मोह तमरूप अज्ञान का प्रवेश हुआ। तब ब्रह्मा आदि व्याकुल हुए। फिर दर्प नष्ट होने पर, सूर्य स्वरूप ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ। उसका अन्त खोजने के लिये ब्रह्मा ऊपर गये, शिव नीचे गये, विष्णु चारों तरफ गये। पता नहीं लगने पर उस तेजःस्वरूप को प्रणाम करके स्तुति करने लगे। इत्यादि ॥१॥

लिङ्गपुराण अ० १७ में ब्रह्मा जी का कथन है कि,

'हिरण्यगर्भो रजसा तमसा शंकरः स्वयम् ।
सत्त्वेन सर्वगो विष्णुः सर्वात्मत्वे महेश्वरः ॥

और ब्रह्मा जी कहे हैं कि, इस कमलेक्षण विष्णु को सोया हुआ देख कर हाथ से मार कर मैंने पूछा कि, तुम कौन हो; तब जाग कर मुझे देखकर विष्णु बोले कि, वत्स पितामह, तेरा स्वागत है, तब मैंने कहा कि, जगत् कर्ता मुझको तुम पुत्र शिष्य के समान वत्स क्यों कहते हो ? तब विष्णु बोले कि, मैं जगत् के कर्ता धर्ता हूं, तुम मेरे अंग से उत्पन्न हुए हो; परन्तु मुझे भूल गये हो, इत्यादि । इसके बाद दोनों का युद्ध होने लगा, तब दोनों के सामने प्रकाशमय लिङ्ग प्रगट हुआ, उसके तेज से विष्णु मोहित हो गये, और हम से बोले कि, इसको परीक्षा करें, मैं नीचे जाता हूं, आप ऊपर जावो । वराह हंस रूप से ऐसा ही किया गया । नहीं पता लगने से चिन्ताग्रस्त दोनों को समझाने के लिये, ओंकार और वेद प्रगट हुए, कि जिससे विष्णु ओर ब्रह्मा परमेश्वर को समझ सकें । और स्तुति करने लगे, इत्यादि ॥

अ० १९ में है कि, शिव जी प्रसन्न और प्रगट होकर बोले हैं कि,

'त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुभवाख्यया ।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलः परमेश्वरः ॥' इत्यादि

अ० २० में ब्रह्मकल्प की कथा है कि- भगवान विष्णु शेष पर सोये थे । वहाँ दैवयोग से ब्रह्मा आये, और विष्णु से बोले कि, इस समुद्र में सोने वाला आप कौन हो । विष्णु अपने को जगत्-कर्ता बता कर, ब्रह्मा से पूछे कि- आप कौन हो । ब्रह्मा बोले कि, जैसे आप कर्ता हो वैसे ही मैं भी कर्ता हूं । मेरे अन्दर सब संसार है देखो । फिर विष्णु ब्रह्मा के मुख द्वारा पैठ कर, सब जगत् को देख कर बाहर निकल आये । और ब्रह्मा को अपने मुख में पैठने के लिये कहे । जब ब्रह्मा विष्णु के मुख में पैठे तब विष्णु सब द्वारों को बन्द करके सो गये । फिर ब्रह्मा सूक्ष्मरूप होकर, विष्णु के नाभि

कमल नाल से निकले। फिर दोनों को विवाद होने लगा। तब शिवजी आये, इत्यादि ॥

कूर्म पुराण अ० २५-२६ में कथा है कि- उपमन्यु के बताने से कृष्ण भगवान् पुत्र के लिये शिव जी की उपासना-तप किये; फिर प्रगट होकर शिव पार्वती वर दिये। उसके बाद भगवान् कृष्ण शिव जी के साथ कैलास गये, और वहाँ कुछ दिन ठहरे; फिर नारद जी के द्वारा पता लगने पर गरुड जी द्वारिका में लाये। तब भगवान् का दर्शन के लिये ऋषि लोक आये। वहाँ शिवलिङ्ग की पूजा करते हुए कृष्ण जी को देख कर, मार्कण्डेय ऋषि ने उनसे पूछा कि, लिङ्ग क्या है? तब भगवान् ने कहा कि, पहले एकार्णव काल में मैं महाविष्णुरूप से सोया था, इतने में चतुर्मुख ब्रह्मा को भी देखा, दोनों को ईश्वरता के विषय में विवाद होने पर एक लिङ्ग प्रगट हुआ, और आकाशवाणी हुई कि, विष्णु नीचे जायँ, ब्रह्मा ऊपर जायँ। जो इसका पता लगा लेगा सो ईश्वर होगा, वैसा ही करने पर' दोनों को पता नहीं लगा। फिर शिव जी अपने जटिल वेष से प्रगट हुए, और पालन सृष्टि के लिये आशीर्वाद दिये। स्वयं ब्रह्मा जी का पुत्र होने के लिये वर दिये, इत्यादि ॥

शिवपुराण सं० १ अ० ६ इत्यादि में भी ब्रह्मा विष्णु का विवाद युद्ध का वर्णन है। भयानक युद्ध से घबड़ा कर देव सब शिवजी के शरण में गये हैं। तब शिव जी ने गणेशादि को युद्धस्थान में भेजा; परन्तु ये लोक कुछ कर नहीं सके। इन दोनों के अस्त्र से अग्नि उत्पन्न हुई, तब उस अग्नि को भी दबानेवाला ज्योतिर्मय शिव दोनों के मध्य प्रगट हुए। उसे देख कर दोनों विचार किये कि, इसके आदि अन्त को समझना चाहिये, इत्यादि। अन्त नहीं पाने पर सत्य बोलने से विष्णु पूज्य हुए। और झूठ बोलने से ब्रह्मा अपूज्य हो गये, इत्यादि। उसके बाद सकुटुम्ब लिङ्गरूप शिव की पूजा ब्रह्मा विष्णु किये। प्रसन्न होकर शिवजी ने उस दिन का शिवरात्रि नाम धरा, और अपने को व्यापक ब्रह्म आत्मा रूप उन दोनों को समझाया,

तथा ओंकार का उपदेश दोनों को दिया। वायुपुराण में भी अ० ५५ में लिङ्गरूपता की कथा है। और अ० २४ में भी अन्य रूप से यह कथा है ॥१॥

(२)

'पार्वती जी से शिवजी मोहित हुए सो बात स्कन्द पुराण खण्ड ३-२ अ० २० में है कि—

'कीलितो देवदेवेशः शंकरश्च त्रिलोचनः।
गिरिजया महाभाग पातितो भूमिमण्डले ॥' इत्यादि ॥

देवी भागवत स्कन्ध ४ अ० १९ में विष्णु भगवान् स्वयं ब्रह्मा जी से मायाजन्य अपने मोह का वर्णन किये हैं कि—

'वयं मायाऽऽवृताः कामं न स्मरामो जगद्गुरुम्।
परमं पुरुषं शान्तं सच्चिदानन्दमव्ययम ॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शिवोऽहमिति मोहिताः।
न जानीमो वयं धातः परं वस्तु सनातनम ॥'
अ० १८।६० ।

'परतन्त्रोऽस्म्यहं नूनं पद्मयोने निशामय।
तथा त्वमपि रुद्रश्च सर्वे चान्ये सुरोत्तमाः ॥'
स्क० ५।१।४७ ।

'मायया मोहिता मन्दाः प्रवदन्ति मनीषिणः
करोति स्वेच्छया विष्णुरवतारानेकशः ॥
मन्दोऽपि दुःखगहने गर्भवासेऽतिसंकटे।
न करोति मतिं विद्वान् कथं कुर्यात् स चक्रभृत् ॥'

स्क० ५।१२।६ में माया की उक्ति है कि—

'नाहं पतिवरा नारी वर्तते मे पतिः प्रभुः।
सर्वकर्ता सर्वसाक्षी ह्यकर्ता निःस्पृहः स्थिरः।

निर्गुणो निर्ममोऽनन्तो निरालम्बो निराश्रयः।
सर्वज्ञः सर्वगः साक्षी पूर्णः पूर्णाशयः शिवः॥ '

और स्क० ५ अ० ३३ में ब्रह्मा आदि में माया की अधीनता का और लिङ्गप्रादुर्भावादि का वर्णन है। इससे कहा गया है कि– ' तीन लोक मोहिन सब झारी ' ॥२॥

(रमैनी ४५ के अन्तर्गत)

विष्णुधर्मोत्तर पु० खं० १ अ० ५३। हिरण्याक्ष का वध की कथा है। लिंगपु० अ० ९४ में भी अन्य रूप से है। और पद्मपु० उत्तरखं० अ० २४७ में भी यह कथा है। तथा म० भा० शां० अ० २०९ में कुछ भेद युक्त है कि–अदिति और दिति दोनों कश्यपजी की स्त्री थीं। अदिति ने इन्द्रादि देवों को उत्पन्न किया, और दिति ने हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु दो भयंकर पुत्र को पैदा किया। फिर ब्रह्माजी ने देवों के राजा इन्द्र को बनाया, और दानवों के राजा हिरण्याक्ष को बनाया। इन्द्र को स्वर्ग दिया, और हिरण्याक्ष को पाताल दिया। बाद में पक्ष रहने के कारण पर्वत सब पृथिवी को छोड़ कर आकाश में ही भावी वश उड़ने लगे कि जिससे भूमि हिलने लगी, और पाताल जल से भर गया। फिर हिरण्याक्ष युद्ध करके स्वर्ग को दखल किया। तब देव सब विष्णु भगवान् के शरण में गये। देवासुर से अजेयता का वर हिरण्याक्ष को मिल था। इस से भगवान् को वराह रूप होकर दैत्यसभा में जाना पड़ा, और वहाँ जाकर सब दैत्यों को चक्र से मारना पड़ा, जिससे हिरण्याक्ष का मरण हुआ॥

और श्रीमद् भागवत स्कन्ध ३ अ० १२ आदि में कथा है कि–ब्रह्मा जी मनु को उत्पन्न करके सृष्टि करने के लिये आज्ञा दिये तो आज्ञा का स्वीकार करके भी मनु ने कहा कि, सब प्राणी का आधार पृथिवी महाजल में डूबी है, इसे ऊपर करने के लिये

यत्न किया जाय तो सृष्टि हो सकती है। इस बात को सुन कर और भूमि को जल में निमग्न देख कर ब्रह्मा जी शोचने लगे कि, क्या करना चाहिये, और ध्यान किये कि जिसके हृदय से मैं हुआ हूं, वह ईश्वर इस कार्य को सिद्ध करे। इस प्रकार ध्यान करते हुए ब्रह्मा जी के नासिका से अंगुष्ठाग्र मात्र का एक बराह निकला, और वह उनके देखते २ में हस्ती के समान हो गया। ब्रह्मा और सब ऋषि आश्चर्ययुक्त हुए कि यह क्या है! फिर भगवान् को समझ कर सब स्तुति किये, और भगवान् जल में पैठे। वहाँ से पृथिवी को लाते समय हिरण्याक्ष गदा से युद्ध के लिये तयार हुआ तो उसको मार डारे, इत्यादि ॥

लिंगपु० अ० ९४ में कथा है कि - अंधकासुर के पिता हिरण्याक्ष ने देवताओं को जीत कर इस पृथिवी को रसातल में जाकर इसे बन्दी किया था, तब उस दैत्य से पीडित ब्रह्मादि देव भगवान् विष्णु के पास जाकर समाचार सुनाये। तब भगवान् दैत्यों के सहित हिरण्याक्ष को मार कर बराह रूप से भूमि लाये, इत्यादि ॥

रावण को श्रीरामचन्द्र मारे सो अति प्रसिद्ध कथा है। कंस को श्री कृष्ण जी ने मारा है ॥१॥

रमैनी ४७ के अन्तर्गत

जरासन्ध की कथा महाभारत सभापर्व अ० १७ आदि में है कि- राजा युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ के विचार होता था, उसमें जरासन्ध से विरोध का भय था; उसके नाशसे ही निर्विघ्न यज्ञ हो सकता था। इसी प्रसंग में भगवान् कृष्ण से युधिष्ठिर प्रश्न किये, कि जरासंध कैसा और कौन है। भगवान् बोले कि, बृहद्रथ बडा प्रतापी राजा थे, काशीराज की दो लड़की के साथ विवाह किये, और दोनों में तुल्य वर्ताव का नियम किये; परन्तु बहुत यज्ञादि करने पर भी पुत्र नहीं हुआ। एक दिन काक्षि-

वान् गौतम के पुत्र चण्ड कौशिक मुनि वहाँ आये। पत्नीसहित राजा सेवा करके मुनि को प्रसन्न किया। मुनि राजा से वर माँगने के लिये कहे, तब राजा पुत्र विना दुःख बताया। राजा की बात को सुन कर मुनि आम का वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। फिर उनके गोद में एक रस से पुष्ट आम गिरा, उस आम को अभिमन्त्रित करके मुनि राजा को आम दिये, और कहे कि, तेरा मनोरथ सिद्ध होगा। राजा दोनों रानी के लिये आम दिया, फिर काट कर दोनों आधा २ आम खाई, गर्भवती हुई। फिर एक २ आँख नाक हाथ पैर वाला दोनों के पुत्र दो खण्ड रूप सप्राण हुए, दोनों रानी देख कर भयभीत हुई। और दासी द्वारा राजभवन से बाहर दोनों खण्ड को वस्त्र से ढाँप कर, धरवाय दिया। उसी समय जरा नामक राक्षसी मांस की इच्छा से आई, और दोनों खण्डों को जोड़ दिया, तब जुट कर लड़का बन गया, और रोने लगा, फिर लोक पहुंचे। और जरा भी राजा के प्रति लड़का का समर्पण किया, इसीसे वह जरासन्ध कहाता है, और प्रतापी हुआ है, और मातापिता के मरने पर सब राजाओं को पराजित किया है, इत्यादि ॥

परस्पर विचार करके, भीम अर्जुन को साथ लेकर भगवान् जरासन्ध के नगर के पास गये। फिर संन्यासी का रूप धर के तीनों राजा के पास पहुंचे, राजा देख कर सत्कार किया, फिर रहने के लिये जगह देकर, अर्द्ध रात्रि में इन लोकों के पास पहुंचा। और स्वरूप देख कर कहा कि, आप सब कौन हैं, किस प्रयोजन से आये हैं, संन्यासी तो नहीं मालूम होते हैं, इत्यादि। वे दोनों भाई तो मौन ही रहे, परन्तु भगवान् बहुत कुछ कह सुन कर परिचय दिये, और अपना प्रयोजन युद्ध बताये। राजनीति के अनुसार राजा द्वन्द्व युद्ध का स्वीकार किया। कार्तिक के परिवा से त्रयोदशी तक बराबर युद्ध हुआ। चतुर्दशी को राजा कुछ श्रान्त हुआ, फिर भगवान् के समझाने से, जरासन्ध के देह को जोडा हुआ जान कर एक २ हाथ से एक २ पैर को धर कर भीम ने बीच से फाड़

डाला। फिर बँन्धे हुए सब राजाओं को भगवान् छोड़ाये, और राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में सहायता करने के लिये कह कर राजपुत्र को गद्दी देकर चले आये, इत्यादि ॥१॥

सभापर्व में ही अ० ३६ से अ० ४५ तक 'शिशुपाल वध की कथा है कि,—राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में सब राजा निमन्त्रित हुए, और आये, भगवान् कृष्ण भी आये। बाद में विचार हुआ कि आये हुए सभी का अर्घादि द्वारा सत्कार होना चाहिये; क्योंकि आचार्य ऋत्विक् सम्बन्धी स्नातकादि जो एक वर्ष पर अपने घर आते हैं, उन्हें अर्घ दिया जाता है। इस कारण से इन एक २ राजाओं के लिये अर्घ लाना चाहिये। इस प्रकार भीष्म जी के कहने पर युधिष्ठिर बोले कि, हे पितामह! प्रधान अर्घ आप किसके लिये फरमाते हैं। भीष्म जी बोले कि, हरएक प्रकार से भगवान् कृष्ण प्रधान हैं, इनके लिये मुख्य अर्घ चाहिये। फिर सहदेव ने भगवान् के लिये उत्तम अर्घ लाये, भगवान् कृष्ण भी अर्घ पूजा का स्वीकार किये; परन्तु शिशुपाल उस पूजा को नहीं सह सका। इससे भीष्म युधिष्ठिर को डांट फटकार कर भगवान् कृष्ण को भी फटकारा, कि कृष्ण न वृद्ध हैं, न आचार्य हैं, न ऋत्विगादि हैं। वृद्ध उनके पिता, द्रोणाचार्यादि के रहते, कृष्ण की पूजा उचित नहीं है, इससे आज्ञा देनेवाला भीष्म अनुचित किया है, और युधिष्ठिर भी अनुचित किया है। तथा कृष्ण भी अनुचित किया है कि, इतने वृद्ध आचार्य गुरु राजा आदि रहते, स्वयं उत्तम पूजा का स्वीकार किया है, इत्यादि। इससे इन सब राजाओं का अपमान हुआ है। ऐसा करना था तो सब को क्यों बोलाये, इत्यादि कह कर शिशुपाल उठकर चला। तब युधिष्ठिर उसके पीछे दौड़े, शान्ति से

१ विष्णु पु० अंश ४।१४। में है कि, वसुदेव जी के पृथा श्रुतदेवा श्रुतकीर्ति श्रुतश्रवा राजाऽधिदेवी नामकी बहिनें थीं; उनमें श्रुतश्रवा का चेदिराज दमघोष से विवाह हुआ, जिससे शिशुपाल का जन्म हुआ, जो पहले हिरण्यकशिपु और रावण हो चुका था।

बोले कि, भीष्म धर्मज्ञ हैं, आप व्यर्थ कटुभाषणादि नहीं करें। सब राजा भगवान् की पूजा को स्वीकार करके बैठे हैं। आप भी क्षमा करें, इत्यादि। भीष्म जी बोले कि, इसके आगे नम्रता सान्त्वना की जरूरत नहीं है, कि जो कृष्ण की पूजा को नहीं सह सकता। क्षत्रियों में वही पूज्य होता है कि, जो विजयी हो। भगवान् कृष्ण विजयी ज्ञानी आदि सब कुछ हैं। इससे सर्व पूज्य हैं, इत्यादि। सहदेव बोले कि, महा-पराक्रमी कृष्णजी की पूजा को जो नहीं सह सकते, उन बलियों के मस्तकों पर मैं पैर धरता हूं, और वे ही वध्य होंगें, इत्यादि। फिर कोई नहीं बोला। और साधु २ आकाशवाणी हुई, इत्यादि। फिर सहदेव ने सब पूज्यों को पूजा, बाद में कुछ लोक शिशुपाल के पक्षपाती होकर, यज्ञ में विघ्न करने का विचार करने लगे। क्षुब्ध राजाओं को देख कर युधिष्ठिर ने भीष्म जी से पूछा कि, यज्ञ का अविघ्न और प्रजा का हित के लिये उपाय बताइये। भीष्म जी बोले कि, भय नहीं करो, अभय मार्ग का स्वीकार हम लोकों ने पहले ही किया है। भगवान् शिशुपाल का तेज को हरना चाहते हैं, और सर्व समर्थ हैं, इत्यादि। इस बात को सुन कर, फिर भी शिशुपाल ने भीष्मादि का बहुत अपमान किया, निन्दा किया। तब उसके क्रूर रूक्ष वचनों को सुनकर क्रुद्ध भीम युद्ध के लिये उठना चाहते थे, तब भीष्म जी ने पकड़ लिये। और भीम के प्रति बोले कि, जब चेदिराजकुल में यह जन्म लिया था, तब चार भुजा तीन नेत्र वाला था, और जन्मते ही गदहा का शब्द के तुल्य शब्द किया था, चिल्लाया था, जिससे बन्धु सहित इसके माता पिता भयभीत होकर इसे त्यागने का विचार करने लगे, और सब चिन्तायुक्त हुए, तब आकाश-वाणी हुई कि, हे राजन्! इसका पालन करो, इससे डरो नहीं, यह बड़ा बलि होगा, अभी इसकी मृत्यु का समय नहीं है; परन्तु शस्त्र से इसे मारनेवाला जन्म ले चुका है। इस बात को सुनकर पुत्रस्नेहयुक्त इसकी माता बोली कि, जो देव वा ईश्वर, इस अव्यक्त वाणी को मेरे

पुत्र के विषय में कहा है, उससे मैं कर जोर कर पूछती हूं कि इसका मृत्यु कौन है, यथार्थ रूप से यह भी बताय दो । मैं सुनना चाहती हूं । तब फिर आकाशवाणी हुई कि, जिसके गोद में जाने से इसके दो भुजा भूमि में गिर जायंगे, और ललाट का नेत्र लुप्त होगा, सोई इसकी मृत्यु-रूप होगा । इन सब समाचारों को सुन कर, सब राजा आये, गोद में लिये तो कुछ नहीं हुआ, फिर द्वारका से कृष्ण राम आये, तब कृष्ण भगवान् के गोद में रखते ही दो बाहु गिर गये, एक नेत्र लुप्त हो गया । फिर इसकी माता भयभीत होकर, भगवान् से वर माँगी कि, मेरा पुत्र के अपराध को क्षमा करना । भगवान् ने सौ अपराध क्षमा का वर दिया, इत्यादि ॥

इस बात को सुनकर शिशुपाल बोला कि, हे भीष्म ! यदि तुम्हें बन्दी की तरह स्तुति ही करना है, तो कृष्ण की स्तुति को छोड़कर इन बड़े २ राजाओं की स्तुति करो, या द्रोणादि की स्तुति करो, इत्यादि । तब भीष्म जी बोले कि, इन राजाओं की इच्छा से मैं जीता हूं; परन्तु इन्हें मैं तृणतुल्य नहीं समझता हूं । इस बात को सुन कर राजा सब क्रुद्ध हुए, कुछ वादविवाद हुआ, तब भीष्म बोले कि, जिनकी हम लोगों ने पूजा की है, सो कृष्ण वर्तमान हैं, जिन्हें शीघ्र मरना है, सो कृष्ण को ही युद्ध के लिये पुकारे, इत्यादि । इस बात को सुनकर शिशुपाल युद्ध की इच्छा से भगवान् से बोला कि, हे कृष्ण ! तुम्हे युद्ध की इच्छा से पुकारता हूं, पाण्डवों के सहित तेरा नाश करूंगा । क्योंकि अपूज्य को इन्होंने पूजा है, इत्यादि । फिर भगवान् राजा सब से कहे कि, यह मेरा अतिशय शत्रु है, इत्यादि । और इसके बहुत अपराध सहे हैं, अब नहीं सह सकते । फिर भगवान् का वचन सुनकर राजा सब उसकी निन्दा करने लगे, और शिशुपाल हँसने लगा, कुछ कुशब्द बोलने लगा, फिर भगवान् ने चक्र का स्मरण किया, और इसका सौ अपराध क्षमा किया, अब नहीं कर सकते, ऐसा राजाओं से कहकर शिर काट लिया, फिर यज्ञ कराया, इत्यादि ॥२॥

सहसा-अर्जुन की कथा हरिवंश ग्रन्थ, १।३३ में कथा है कि-कृतवीर्य नामका राजा के कार्तवीर्य अर्जुन नाम वाला पुत्र हुआ। वह दश हजार वर्ष अत्रिजी के पुत्र दत्त मुनि की आराधना और परम दुश्चर तप किया। तब दत्त जी उसको चार वर दिये। पहला युद्धादि के समय हजार बाहु होना। दूसरा अधर्म में प्रवृत्त होने पर, महात्माओं के द्वारा निवारण होना। तीसरा उग्र युद्ध से भूमि को जीत कर, अपने धर्म से सबका अनुरञ्जन करना। और चौथा संग्राम में बहुत शत्रुओं को मारने पर किसी महान पुरुष से वध होना। वह अर्जुन ८५ हजार वर्ष तक चक्रवर्ती राजा हुआ। पांच ही बाण में बल (फौज) सहित रावण को मुग्ध करके बाँध लिया; फिर पुलस्त्य जी के कहने से छोड़ दिया। और चित्रभानु (अग्नि) देव की याचना से उनकी तृषा भूख की निवृत्ति के लिये, वह सब राज्य अग्निदेव को दे दिया, फिर अग्निदेव सब जगत् को जलाता हुआ वरुण के आपव वसिष्ठ नामक पुत्र के आश्रम को जला दिया। इससे उनके शाप से परशुराम जी द्वारा मारा गया, इत्यादि॥

स्कन्द पु० खण्ड० ६ अ० ६६ में कथा है कि- ऋचीक ऋषि के पुत्र यमदग्नि थे। उनके छोटा पुत्र परशुरामजी थे। एक दिन परशुराम जी सब भाई कन्द मूल के लिये जंगल में गये थे। इतने में सहसार्जुन राजा ऋषि के आश्रम में आया, ऋषि को प्रणाम किया; परस्पर कुशल प्रश्नादि होने पर, राजा जाने के लिये आज्ञा माँगा। मुनि ने कहा कि, देवार्चन के समय आप अतिथि आये हो, जो कुछ मैं देता हूं सो आप अपने हाथ से भोजन करो। राजा कहा कि, मेरे साथ में सेना है। ऋषि ने कहा कि, मैं सबको भोजन दूंगा॥ तब परशुराम जी भगवान् की उपासना से जो गौ पाये थे, उस कामधेनु का बल से ऋषि ने सबको भोजन कराया॥

पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २४१ में कथा है कि- ऋषि ही इन्द्र की उपासना से कामधेनु गौ, और राम पुत्र पाये थे॥ फिर कामधेनु की महिमा को देख कर, राजा को उसे लेने की इच्छा हुई। ऋषि से मांगने

लगा, बेंचने को कहा, तब ऋषि स्वीकार नहीं किये। फिर ऋषि को मार डाला, और उनकी स्त्री को भी २७ बार मारा, और गौ को ले चला; परन्तु गौ नहीं जा सकी, इससे छोड़ गया। बाद में परशुराम जी आये, और सब समाचार सुन कर, और माता के ऊपर २७ प्रहार देख कर २७ बार निःक्षत्रिय करने का प्रण किया, तथा सहस्रार्जुन से युद्ध करके उसका नाश किया॥

महाभारत शान्ति प० अ० ४९ में, और स्कन्द पु० खण्ड ६।६५ में कथा है कि– भृगु ऋषि के पुत्र ऋचीक बड़े यशस्वी तपस्वी थे, सो कभी तीर्थयात्रा के प्रसंग से गाधिराजा के स्थान भोजकट गये, और वहाँ राजा की कन्या को देख कर राजा से कहा कि, यह कन्या मुझे दो, राजा शाप के भय से और उनकी दशा देख कर भी कहा कि, सात सौ श्याम कर्ण घोड़ा जो देगा, उसे यह कन्या दी जायगी, ऐसा नियम है। यह सुन कर वह ऋषि कानकुब्ज देश में गंगा किनारे जाकर जप करने लगे, उसी से सात सौ घोड़ा की प्राप्ति हुई, वह लेकर राजा को दिया, फिर राजा कन्या दे दिया। फिर विवाह के बाद काम रहित वह मुनि अपनी स्त्री के पास में जाकर कहा कि, मैं तो तप के लिये जाऊंगा, तुम्हारी क्या इच्छा है सो कहो। फिर वह अपनी माता से सलाह लेकर, अपने लिये और अपनी माता के लिये पुत्र मांगा, तब ऋषि अपनी स्त्री के लिये ब्राह्म तेजमय चरु (हविः) विशेष तैयार किये, और शाशु के लिये क्षात्र तेजमय चरु बनाये। और अपनी स्त्री के हाथ में दोनों चरु समझा कर दिये; परन्तु जब वह अपनी माता के पास दोनों चरु ले गई, तब उसकी माता ने समझा कि, ऋषि अपनी स्त्री के लिये कुछ अच्छा ही चरु बनाया होगा, इससे अपनी पुत्री का चरु आप खा गई, और अपना चरु अपनी पुत्री को दिया, फिर गर्भ होने पर ऋषि अपनी स्त्री के देह में क्षात्र तेज को देख कर, समझ गये कि, यह चरु में हेरफेर किया है, तब बोले कि, तुम्हारा पुत्र बहुत क्रूर होगा, सो सुन कर उसने बहुत प्रार्थना

किया कि, आप ऐसे महापुरुष का पुत्र क्रूर नहीं होना चाहिये, तब ऋषि बोले कि, पुत्र नहीं तो पौत्र अवश्य क्रूर होगा, इससे यमदग्नि शान्त हुएं, और उनके पुत्र परशुराम क्रूर हुए, इससे क्षत्रियों का नाश किया। और ब्राह्म तेज से उत्पन्न, विश्वामित्र प्रथम शान्त हुए; परन्तु शिकार आदि राजधर्म में प्रवृत्त होने से पीछे बहुत क्रूर हो गये, और वसिष्ठ जी की कामधेनु के लिये बहुत उपद्रव किये, फिर तपस्वी हुए, इत्यादि ॥

और पद्मपुराण उत्तर खण्ड अ० २४२ में कथा आई है कि- इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रियों को परशुराम जी नहीं मारते थे; क्योंकि ये उनके मातामह कुल के थे; परन्तु रामचन्द्र जी के बल प्रताप को सुन कर युद्ध के लिये आये थे, इत्यादि ॥ ३ ॥

(४)

रावण का बीतने की कथा देवी भागवत स्क० ९।१५। और ब्रह्मवैवर्त पु० प्रकृति खण्ड अ० १३ में है कि- भगवान से नारद जी ने पूछा कि, तुलसी नारायण की प्रिया कैसे हुई, इत्यादि। तब नारायण भगवान् ने उत्तर दिया कि, दक्ष सावर्णि मनु के वंश में वृषध्वज राजा हुए, सो केवल शिवपरायण हुए, शिव जी का भी उसमें बहुत स्नेह हुआ; परन्तु वह राजा अन्य देव की पूजा को छोड़ दिया, इससे सूर्य शाप दे दिये कि, तुम श्रीरहित होवो, तब शिव जी सूर्य को मारने के लिये त्रिशूल लेकर दौड़े, सूर्य भगे, ब्रह्माजी के यहां गये, ब्रह्मा भी भगे, फिर दोनों विष्णु भगवान् के यहाँ गये, शिवजी भी वहाँ पहुंचे; परन्तु भगवान् की महिमा से शान्त हूए। भगवान् के पूछने पर शिवजी बोले कि, सूर्य मेरे भक्त को शाप दिये हैं, उसकी क्या गति होगी। भगवान् बोले कि, वैकुण्ठ की आधि घड़ी में दैव युग से इक्कीश युग बीत गये, वृषध्वज और उसके पुत्र भी मर गये। उसके पौत्र धर्मध्वज कुशध्वज है, अभी भक्ति तप परायण हैं। (अ० १६-१४) वे दोनों लक्ष्मी की आराधना से धनी हुए, कुशध्वज की स्त्री मालावती की पुत्री वेदवती हुई, वह भगवान्

की प्राप्ति के लिये तप करती थी, तहाँ ही रावण पहुंचा, और अत्याचार करना चाहा, तब उसने शाप दिया कि, मेरे ही निमित्त से तेरा नाश होगा, और अपना शरीर छोड़ दिया, वही सीता हुई । रामजी के वनवास होने पर, अग्निदेव ने रामजी से कहा कि, यह सीताहरण का समय आया है, इस सीता को मेरे यहॉं न्यास (धरोहर) रखो, और छाया सीता को अपने पास रखो, ऐसा ही किया गया । रावण छाया सीता को हरा, जिससे उसका नाश हुआ । अग्निपरीक्षा के समय सच्ची सीता फिर रामजी के पास में आई, और छाया सीता तप करने गई, फिर वही द्रौपदी हुई ॥

अ० १७–१५ में है कि– धर्मध्वज की माधवी नामक स्त्री से तुलसी नामक पुत्री हुई, वह भी तपस्विनी हुई ॥ अ० १८–१६ इत्यादि में है कि, उस तुलसी का शंखचूड नामक दानवेन्द्र से विवाह हुआ । वह दानवेन्द्र सब देव को युद्ध में पराजित किया, तब देव सब विष्णु भगवान् के शरण में गये । भगवान् ने विश्वास दिलाया और कहा कि, मैं युक्ति से उसका नाश करूंगा । उसके पास में एक कवच है, उसके रहते उसका नाश नहीं हो सकता, तथा उस की स्त्री पतिव्रता है, उस के पतिव्रत नष्ट होने विना भी उसका नाश नहीं हो सकता; ऐसा कह कर शिवजी को उसके साथ लडने के लिये आज्ञा दिये, और देव सब को भी आज्ञा दिये । बहुत युद्ध हुआ; परंतु वह नहीं मरा, तब भगवान् ब्राह्मण रूप होकर उसके कवच मांग लाये, और शंखचूड़ का रूप बना कर वह कवच पहर कर तुलसी के पास गये, उससे युद्ध में अपना विजय बता कर उसका धर्म को नष्ट किये । तब शंखचूड मारा गया, उसकी हड्डी से शंख पैदा हुआ । रतिविलास से प्रथम तुलसी ने भगवान् से पूछा कि, युद्ध में कैसे विजय पाये ? तब भगवान् बोले कि, सब दानव तो मारे गये, परन्तु ब्रह्मा जी अन्त में मेल कराय दिये । फिर रतिविलास के समय तुलसी समझ गई कि, यह मेरा पति नहीं है, इससे शाप देने के

लिये तैयार हुई, तब शाप के भय से भगवान् अपना स्वरूप प्रगट किये, तो भी शोकवश शाप दिया कि, तुम्हारा हृदय पत्थर के समान है, दूसरे के दुःख को नहीं समझते हो, इससे तुम [1]पत्थर होवो, फिर भगवान् उसे समझाये कि, तेरा यह देह पवित्र गण्डकी नदी होगी, और केश पवित्र पुष्प तुलसी होंगे, इत्यादि। तुलसी शंखचूड की कथा शिव पु० संहिता २ खं० ५ अ० २७ से ४१ तक में है, सो शिव माहात्म्य विशेष रूप है। तुलसी को शिवजी ने जाकर समझाया है, इत्यादि॥ यहाँ तुलसी की कथा प्रसंग से है। रावण के जीतने में वेदवती सीता ही कारण है॥ और यद्यपि पूर्व रीति से सीता ही द्रौपदी हुई थी; परन्तु स्कन्द पु० खं० ४ पूर्वार्ध अ० ४९ में लिखा है कि,

'उमापि च जगद्धात्री द्रुपदस्य महीभुजः।
यजतो वह्निकुण्डाच्च प्रादुश्चक्रेऽतिसुन्दरी॥
पञ्चापि पाण्डुतनयाः साक्षाद्रुद्रवपुर्धराः।
अवतेरुरिह स्वर्गाद् दुष्टसंहारकारकाः॥'

अर्थात् द्रौपदी उमारूप थी और युधिष्ठिरादि रुद्ररूप थे, तथा विष्णु रूप कृष्ण इनके सहायक थे॥ शत्रु से दुःख प्राप्त होने पर जंगल में द्रौपदी ने सूर्य की आराधना किया, तब सूर्य भगवान बटुली, करछी ढापना दिये, और कहे कि, जितने को भोजन कराना चाहोगी, उतने को इससे भोजन करा सकोगी। परन्तु जब तुम भोजन कर लेगी, तब यह बटुली खाली हो जायगी, इत्यादि॥ और वनपर्व के आरम्भ में महाभारत की कथा है कि, युधिष्ठिर जब वन में चले हैं, तब बहुत ब्राह्मण भी साथ लगे हैं। फिर धौम्य ऋषि से युधिष्ठिर ने पूछा है कि, इनकी रक्षा के लिये क्या करें, पास में धन तो है नहीं; तब ऋषि सूर्यदेव की उपासना बताये कि, इसीसे रक्षा साधन की प्राप्ति होगी। फिर युधिष्ठिर के उपासना स्तुति

---

१ यही शालिग्राम हुए। जिसका जिकिर रमैनी ७५ में आया है।

करने पर सूर्य प्रगट हुए, और तामें की बटुली दिये, और कहे कि, जबतक द्रौपदी नहीं खायेगी तबतक इसका अन्न अक्षय होगा, बारहमें वर्ष तुम्हें राज्य मिलेगा, इत्यादि कहकर लुप्त हो गये ॥४॥

(५)

महाभारत आदि पर्व अ० १८ में कथा है कि- पाण्डु राजा महावन में विचरते समय मैथुन युक्त मृगयूथप को देखकर पांच बाण से मृग और मृगी को मारा; परन्तु उस मृग रूप में किंदम नामक मुनि थे, इससे मनुष्य की वाणी द्वारा बहुत बात करके राजा को शाप दिये कि, मैथुन रूप अनुचित काल में मुझे मारे हो, इससे तुम भी कामासक्त होते ही मरोगे। इस बात को सुनकर राजा बहुत पश्चात्ताप किया, और भूषणादि उतार कर संन्यासी होने का विचार करने लगा। तब कुन्ती उसकी स्त्री बोली कि, यदि आप त्यागोगे, तो मैं भी अभी प्राण त्याग करूंगी। और आप अन्य आश्रम में भी रह कर तप कर सकते हैं, कि जिसमें हम सब भी रह सकते हैं, तब पांडु मान गये। और उत्तरखण्ड में जाकर बहुत काल तक तप किये। फिर यह विचार हुआ कि पुत्र विना सुगति नहीं होती है, किसी प्रकार पुत्र होना चाहिये। फिर अपने मन की बात कुन्ती से सुनाये, तब बहुत कुछ कह सुन कर कुन्ती बोली कि, मैं बचपन में दुर्वासा ऋषि की सेवा से मन्त्र प्राप्त किया है, कि जिससे आव्हान करने पर जिस देव को चाहें सो देव आ सकते हैं। आप जिस देव को कहें उस देव का आह्वान करें। फिर राजा क्रम से धर्म, वायु, इन्द्र देव का आह्वान के लिये कहा कि, जिससे युधिष्ठिर भीम अर्जुन हुए। बाद में दूसरी स्त्री माद्री के कहने से राजा ने कुन्ती को मन्त्र बताने के लिये कहा, फिर माद्रि मन्त्र पाकर अश्विनीकुमार का आह्वान किया कि, जिससे नकुल सहदेव हुए। ये ही पांडुपुत्र पाण्डव कहाये, इन्हीं के पूर्वोक्त प्रभावादि के आशय से कहा गया है कि,

'दुर्योधन अभिमान हि गयऊ। पाण्डव केर भेद नहिं पयऊ॥' ५

(६)

दुर्योधन के विषय में महाभारत आदि पर्व अ० ११५ में कथा है कि- पाण्डु के बड़ा भाई धृतराष्ट्र की स्त्री गांधारी ने भूख श्रम से पीडित व्यासजी की सेवा करके उन्हें प्रसन्न किया, तब व्यासजी प्रसन्न होकर वर देने लगे, तब गान्धारी ने अपने पति के समान सौ पुत्र मांगे। फिर गर्भ होने पर दो वर्ष तक गर्भ का धारण किया। और दुःखयुक्त हुई, बाद में कुन्ती के पुत्र का जन्म सुन कर, और अपना उदर की स्थिरता को देख कर, चुपके से अपना पेट पीटने लगी, जिससे मांस का पिण्ड लोह पिण्ड समान पैदा हुआ। उसको बिगने का विचार कर रही थी। इतने में व्यास जी आये, और गांधारी से बोले कि, तुम क्या करना चाहती है। वह अपनी बात कह सुनाई, व्यासजी बोले कि, मेरी बात झूठ नहीं हो सकती है। इस पिण्ड को जल से सींचो, सींचने से सौ पुत्र होंगे। फिर घृत से पूर्ण कुण्डों में गुप्त स्थानों में रखो, क्रम से सौ भाई पैदा होंगे। फिर सींचने से अङ्गुष्ठ पर्व मात्रों के प्रथम विभक्त हुए, इत्यादि। कुण्ड में रखने पर सब से पहले दुर्योधन का जन्म हुआ और महान् अशकुन हुआ। तब गणक लोक कुल का कल्याण के लिये उसे त्यागने को कहा; परन्तु पुत्रमोह से धृतराष्ट्र त्याग नहीं सके, इत्यादि ॥ ६ ॥

(रमैनी ५५ के अन्तर्गत)

(१)

रामजी, लक्ष्मणजी सीताजी का जाने की कथा अध्यात्मरामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ७ आदि में है कि- वाल्मीकि ऋषि लवकुश सहित जानकीजी को रामजी के पास ले गये, और कहे कि, जानकी पतिव्रता है, ये दोनों आपके पुत्र हैं, इत्यादि। लोकों का विश्वास के लिये शपथ

करते समय जानकीजी ने कहा कि, जिस प्रकार मैं राम से अन्य को मन से भी नहीं स्मरण करती हूं, तो तैसे ही भूमिदेवी मुझे विवर (मार्ग) देने योग्य है। ऐसा सीताजी के कहने पर, दिव्य पुरुषों और भूमिदेवी सहित एक सिंहासन प्रगट हुआ। भूमि देवी जानकी जी का स्वागत कह कर आसन पर उन्हें बैठाई। और उनका भूमि में प्रवेश हो गया, इत्यादि ॥

सर्ग आठ ८ में कथा है कि– उसके बाद कुछ दिन बीतने पर ऋषि वेषधारी काल रामजी का दर्शन के लिये आया। और लक्ष्मणजी से कहा कि, अतिबल महर्षि का मैं दूत हूं, राम को देखना चाहता हूं। उस महर्षि मुख्य की बात बहुत देर तक राम से कहना है। फिर लक्ष्मणजी ने शीघ्र जाकर रामजी से उसका आगमन की बात कही। तब रामजी ने लक्ष्मण से कहा कि, मुनि को शीघ्र लावो। फिर लक्ष्मणजी मुनिवेषवाला काल को रामजी के पास ले गये। मुनि मधुर वचन से रामजी को कहा कि, आपकी वृद्धि हो। फिर उस मुनि की विधिपूर्वक पूजा रामजी ने किया, कुशल पूछा, इत्यादि। फिर रामजी ने कहा कि, जिस कार्य से यहाँ आये हो सो कहो। तब मुनि बोले कि, यह वचन, दो ही के रहते कहने का है। और अन्य का सुनने के नहीं है, जो इसे सुने देखेगा वह आपका वध्य होगा। तब रामजी इस बात को स्वीकार किया। और लक्ष्मणजी को कहा कि तुम द्वार पर रहो, यहाँ कोई आने नहीं पावे, जो आवेगा वह मुझ से मारा जायगा, इत्यादि। फिर रामजी और काल की बात होने लगी। इतने में दुर्वासाजी आये और लक्ष्मण से बोले कि, राम को शीघ्र देखावो, मुझे भारी काम है। लक्ष्मणजी बोले कि, कौन काम है कहिये, मैं करूंगा; रामजी किसी काम में व्यग्र हैं, एक मुहूर्त प्रतीक्षा कीजिये। मुनि क्रुद्ध होकर बोले कि, हे लक्ष्मण! यदि राम को शीघ्र नहीं देखावोगे, तो देश सहित वंश को भस्म करूंगा। सो सुनकर लक्ष्मणजी ने समझा कि, सबका नाश से एक मेरा नाश कारणवश श्रेष्ठ है, ऐसा निश्चय करके दुर्वासाजी

का समाचार, रामजी से लक्ष्मणजी ने कहा। फिर रामजी ने काल को बिदा किया। शीघ्र दुर्वासाजी का दर्शन किया, प्रणाम करके प्रयोजन पूछा। मुनि ने चिरकालिक उपवास व्रत की समाप्ति के लिये भोजन मांगा। रामजी ने भोजन कराया, भोजन करके मुनि अपने आश्रम पर गये। बाद में पहली बात को स्मरण करके रामजी दुःखी हुए। तब लक्ष्मणजी बोले कि, मेरी चिन्ता नहीं कीजिये, मेरा वध कीजिये; आपकी प्रतिज्ञा का भंग से मुझे भी नरक होगा, इत्यादि। ऐसा लक्ष्मणजी के कहने पर रामजी ने मन्त्रियों से भी पूछा; मन्त्रियों ने कहा कि, लक्ष्मण को आप त्यागो; परन्तु प्रतिज्ञा नहीं त्यागो, अन्यथा धर्म निष्फल होगा, धर्म के निष्फल होने से सबका नाश होगा, इत्यादि। इसके बाद रामजी ने लक्ष्मण का त्याग किया। और कहा कि, सत् पुरुषों का त्याग वा वध तुल्य है। इसके बाद लक्ष्मणजी रामजी को प्रणाम करके सरयू किनारे गये और वहाँ से स्वर्ग गये, इत्यादि। फिर नवम अध्याय में प्रजा सहित रामजी का स्वर्गयात्रा का वर्णन है।

वाल्मीकि रामायण उत्तर काण्ड अ० ९७ में भी इसी प्रकार सीताजी का भूमि में प्रवेश वर्णन है। और सर्ग १०३ इत्यादि में काल के आगमनादि और लक्ष्मण जी के स्वर्ग गमन की कथा है। फिर आगे सब भाइयों के पुत्रों का राज्याभिषेकादि की और रामजी के स्वर्गारोह की कथा है॥ १॥

कुरुवंशी होने से दुर्योधनादि को ही कौरव कहा गया है। एक भीम के द्वारा ये सब भाई अठारह दिन के युद्ध में मारे गये हैं, सो कथा महाभारत की है॥

भोज प्रबन्ध की टीका में भोज की कथा है कि-राजा भोज के पिता भोज के बचपन में ही मर गये थे, और मुञ्ज नाम के उनके चाचे के हाथ में उन्हें सौंप गये थे। किसी ज्योतिषी से उनका सौभाग्य सुन कर

ईर्ष्या से उनका चाचा, एक मन्त्री को उन्हें मारने के लिये कहा; परन्तु मन्त्री दयावश उन्हें नहीं मार कर, राजा को समझाया कि, उन्हें मार दिया ! बाद में मुञ्ज ने पूछा कि, मरते समय उसने क्या कहा, तब भोज का खून से भोज का ही लिखा हुआ यह श्लोक मन्त्री ने देखाया कि,

'मान्धातेति महीपतिः कृतयुगेऽलङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वाऽसौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते !,
नैकेनापि समं गता वसुमती मन्ये त्वया यास्यति ॥'

इस को पढकर मुञ्ज विकल हुआ, तब उसी समय एक योगी आया। उसने कहा कि, मन्त्रबल से मैं मृतक को भी जीवित करता हूं। और कुछ होमादि का साधन लेकर गया, और वह भोज को साथ में ले आया, फिर मुञ्ज भोज को राज्य देकर, प्रायश्चित्त के लिये तप करने गया, और भोज राजा धारानगरी में रह कर अच्छी तरह राज्य किया, इत्यादि ॥

और पाण्डु को पूर्व वर्णित मुनि का शाप था कि, कामासक्त होते ही मरोगे, इससे कभी माद्री के साथ वन में विचरते थे, वहाँ ही कामासक्त होते ही मर गये ॥

हरिश्चन्द्र की कथा मार्कण्डेय पु० अ० ७ में है कि– सतयुग में हरिश्चन्द्र राजर्षि हुए। एक दिन किसी मृग पर धावा करते थे, इतने में किसी स्त्री का शब्द सुन पड़ा कि मेरी रक्षा करो। मृग को छोड कर राजा बोला कि, भय नहीं करो, मेरे राज्य में कौन अन्यायी है। और वहाँ जिस विद्या को शिवादि भी नहीं सिद्ध किये थे, उस विद्या को विश्वामित्र सिद्ध करते थे, इससे उस विद्या ही का वह शब्द था, कि जिससे सिद्धि में विघ्न हो, वह विघ्न ही राजा में भी प्रवेश किया, इससे राजा और कुछ भी बोला, तब विश्वामित्र क्रुद्ध हुए, और विद्या सिद्धि

नष्ट हुई, फ़िर विश्वामित्र राजा को डांटने लगे, तब राजा कहा कि, भय-भीत की रक्षा राजा का धर्म है, इससे मैं बोला, इत्यादि। तब ऋषि बोले कि, यदि तुम दाता राजा है, तो जो मांगता हूं सो दो। राजा कहा कि, हँ दूंगा, तब प्रथम राजसूय यज्ञ की दक्षिणा मांग कर, फिर राजा रानी पुत्र के शरीर मात्र को छोड़ कर सब कुछ मांग लिये, और बोले कि, मेरे राज्य से निकल जावो, और राजसूय की दक्षिणा दो, इत्यादि। तब राजा काशी में जाकर, तीनों शरीर को बेंच कर दक्षिणा दिया, और पुत्र के मरने पर दोनों प्राणी चिता में जलने के लिये तयार हुए, तब देव ऋषि सब प्रसन्न होकर बचाये। और राजा की विपत्ति को सुनकर, वसिष्ठ जी विश्वामित्र को शाप दिये कि, जिससे विश्वामित्र बक हो गये, और विश्वामित्र के शाप से वसिष्ठ जी आडी नाम के पक्षी हुए, और पक्षी होकर भी दोनों युद्ध उपद्रव करते रहे, तब ब्रह्मा जी फिर पूर्वरूप बनाये, और समझाये तब मेल हुआ, इत्यादि॥

देवी भागवत स्क० ६ अ० १२-१३ कथा है कि- पुत्र रहित हरिश्चन्द्र ने वरुण के प्रति नरमेध यज्ञ की प्रतिज्ञा करके पुत्र का लाभ किया था, फिर पुत्र का मोह से उसके बचपन में यज्ञ नहीं किया, फिर होश होने पर, मरण के भय से पुत्र के जंगल में भाग जाने पर, वरुण के शाप से रोगग्रस्त होने पर. किना हुआ शुनःशेप द्वारा हरिश्चन्द्र यज्ञ करने लगे, तब दुःखी शुनःशेप को देख कर, विश्वामित्र जी ने छोड़ देने को कहा; परन्तु राजा नहीं छोडा, फिर मन्त्रोपदेश देकर वरुण से ही छोड़वाया, और उसी क्रोध से हरिश्चन्द्र के राज्य को छल करके हर लिया। और इसी कारण से वसिष्ठ जी से भी बैर हुआ।

स्कन्ध ७ अ० १६ से २७ तक में कथा है कि- पूर्वोक्त रीति से वचन नहीं मानने के कारण हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र क्रुद्ध थे ही, फिर भी राजा की प्रशंसा वसिष्ठजी से सुनकर उसे सत्य से गिराने के लिये बहुत यत्न किये; परन्तु राजा सत्य से नहीं गिरा, तब फिर सब प्रसन्न हो गये, इत्यादि॥

ब्रह्मपु० गौतमी माहात्म्य खं० अ० ३४ में कथा है कि-राजा हरिश्चन्द्र के पास में नारद और पर्वत ऋषि गये, राजा उन से पुत्र का फल पूछा; उन्होंने कहा कि, पुत्र विना गति नहीं होती, पिता यदि उत्पन्न जीवित पुत्र का मुख देख लेता है, तो मनुष्य लोक और अन्तरिक्ष लोक के सब भोगों को प्राप्त करता है । राजा कहा कि, मुझे कैसे पुत्र होगा, तब मुनि बोले कि, यदि वरुण प्रसन्न होवें तो श्रेष्ठ पुत्र दे सकते हैं । राजा वरुण को तुष्ट किया, प्रगट होने पर उन से पुत्र माँगा, तब वरुण बोले कि, पुत्र तब दूंगा कि, यदि उसी पुत्र से तुम मेरा यज्ञ करो । राजा स्वीकार किया, पुत्र हुआ; परन्तु टालमटोल करके पुत्र को युवराज बनाय दिया । फिर वरुण के कहने से यज्ञ करने के लिये तैयार हुआ, तब पुत्र ही जंगल में भग गया । वरुण क्रुद्ध होकर, जलोदर के लिये शाप दिये । तब राजा का पुत्र ही अजिगर्त ब्राह्मण के मध्यम पुत्र को कीन लाया, और राजा को यज्ञ करने के लिये दिया, तब राजा के मन में हुआ कि, पूज्य ब्राह्मण द्वारा कैसे यज्ञ किया जाय । फिर आकाशवाणी हुई कि, इस ब्राह्मण द्वारा यज्ञ करो, इस के वध विना ही तेरा यज्ञ पूर्ण होगा, फिर वैसाही हुआ ॥

इन यज्ञ दानादिकों से ही हरिश्चन्द्र की अन्तरिक्ष में पुरी छाई रही ॥ श्रीमद् भागवत स्क० ९।७ में भी हरिश्चन्द्र की कथा है ॥

(रमैनी ७५ के अन्तर्गत)

दशरथकुल (घर) आदि में अवतार लेकर आने की कथा, ब्रह्म पुराण उत्तर खण्ड अ० २४२ में इस प्रकार की है कि- प्रथम स्वायंभुव मनु द्वादशाक्षर मन्त्र को जपता हुआ भगवान् विष्णु की पूजा हजार वर्ष किये, तब भगवान् प्रगट होकर वर मांगने के लिये कहे, तब मनु ने तीन जन्म में भगवान् को अपने पुत्र होने के लिये वर मांगे, जिससे दशरथ और वसुदेव रूप मनु हुए, और राम कृष्ण रूप विष्णुदेव हुए,

अब कलि के अन्त में शम्भल ग्राम में मनु ब्राह्मण होंगे, तब उनकी मुक्ति होगी। उस ब्राह्मण से कल्कि भगवान् होंगे।

रावण से पीडित देवताओं की प्रार्थना से दशरथ जी के यज्ञ हविष द्वारा कौसिल्या में प्रगट होकर, विश्वामित्र का यज्ञ की रक्षा करके सीता को विवाह कर, परशुराम को जीत कर, बारह वर्ष अयोध्या में रहकर, पिता के वचन से राम जी ने चौदह वर्ष वनवास किया। जयन्त काक वन में जानकी जी को देख कर मोहित होकर स्तन में चोंच मारा, तब रामजी ने कुशमय अस्त्र छोडा कि जिससे कहीं नहीं शरण मिलने पर, राम के ही शरण में आने पर बचा, और सूर्पणखा के नाक कान को राम जी अपने ही काट लिये; क्योंकि वह सीता को खाने के लिये दौडी थी। बाद में खर दूषणादि को मारने पर सीता का हरण हुआ, तब रावण से क्षत गृध्र का संस्कार करके मतंग ऋषि के आश्रम में गये, फिर शबरी के यहाँ गये, उसके फल पूजा आदि का स्वीकार करके कबन्ध को मार कर, गोदावरी के पास गये, और उससे सीता के विषय में पूछा कि, जानती हो तो कहो; परन्तु वह कुछ नहीं बोली, तब रक्त जलता का शाप दिये। फिर उसका विनय और ऋषियों की स्तुति से कहे कि, शबरी के स्नान करने से यह शाप से मुक्त होगी, फिर वैसा ही हुआ। बाद में सुग्रीव से मित्रता आदि होने पर समुद्र किनारे गये, और बाणों से समुद्र को सूखा दिये। फिर समुद्र पूजा स्तुति आदि किया, तब वरुणास्त्र से समुद्र को भर दिये। और समुद्र के वचन से सेतु बना कर लंका गये, रावण को मारा, इत्यादि॥

कबीर साहब कहते हैं कि, यह सब मायामय लीला हैं। निर्गुण सर्वात्मा राम के साथ लगो कि, जिससे जन्म मरण छूटे॥

वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड अ० १५ में कथा है कि– राजा दशरथ जब **पुत्रेष्टि यज्ञ** का आरम्भ किये हैं, तब सब देव महर्षि भाव का प्रतिग्रह के लिये वहाँ आये, और ब्रह्मा जी से बोले कि, आपके वर का प्रभाव

से रावण हम सबको पीडित करता है, तीनों लोक को उद्विग्न करता है, इत्यादि । उसका नाश के लिये उपाय करने के आप योग्य हैं । सो सुन कर ब्रह्मा जी बोले कि, उसका नाश के यह उपाय है कि, वर मांगने के समय देवासुरादि से अवध्यता का वर उसने माँगा है । परन्तु अनादर से मनुष्यों का नाम नहीं लिया है, इससे वह मनुष्य से मरेगा । इस बात को सुन कर देवादि सब आनन्द हुए, और उसी समय विष्णु देव भी आ गये, ब्रह्मा जी से मिल कर स्थिर हुए, तब देव सब स्तुति करके बोले, कि हे विष्णो ! सब लोक का हित की इच्छा से हम सब आप से कहते हैं, कि दशरथ जी की स्त्रियों में आप चार रूप से पुत्र होयँ, और मनुष्य रूप होकर दुष्ट रावण को युद्ध में मारे, हम सब आपके शरण में प्राप्त हैं इत्यादि । फिर विष्णु भगवान् ने राजा दशरथ को पिता स्वीकार किया, और देवादि से कहा कि, आप लोक भय त्यागे, मैं रावण को मारूंगा, इत्यादि ।

अ० १६ में इष्टि से पायस की प्राप्ति और पायस के खाने से कौसिल्या आदि के गर्भ का वर्णन है । अ० १८ में रामादि के जन्म का वर्णन है । इत्यादि और रामायण की रीति से सूर्पणखा के नाक आदि लक्ष्मण जी ने काटा है । तथा सूखाने से पहले ही समुद्र प्रगट हुआ है, इत्यादि ॥१॥

विष्णु देव का देवकी के गर्भ में आने की कथा भागवत स्क० १० का आरम्भ से ही है कि पृथिवी दृप्त (दर्पयुक्त) नृप रूप असुरों के सैकडों हजार फौजों के भार से दब कर, रोती हुई गौ रूप से ब्रह्मा जी के शरण में गई, और अपना दुःख सुनाई, तब ब्रह्मा जी अन्य देव और शिवजी सहित समुद्र किनारे जाकर, पुरुष सूक्त से विष्णु भगवान् की स्तुति किये । फिर समाधि में आकाशवाणी सुन कर, ब्रह्मा जी ने देव सब से सुनाये कि, जो वाणी मैं सुना हूं सो आप सब सुनिये और वैसा ही शीघ्र कीजिये । भगवान् पहले ही भूमि का दुःख को जान गये हैं । और आप लोक भी अंशों से यदुकुल में जन्मिये, इत्यादि । फिर कथा है कि, यदु-

वंशी क्षत्रियों की राजधानी मथुरा थी। वहाँ कभी ऊग्रसेन की पुत्री देवकी के साथ विवाह करके चलने के लिये वसुदेव जी रथ पर चढे। और उग्रसेन का पुत्र कंस बहन का प्रिय करने की इच्छा से घोडों के बागडोर को रथ हांकने के लिये पकड़ा। फिर आकाश वाणी हुई कि, जिसको तुम रथ द्वारा पहुंचाते हो, इसी का अष्टम गर्भ तेरी मृत्युरूप होगा। सो सुन कर, कंस देवकी को मारने के लिये तैयार हुआ, तब बहुत कुछ कह सुन कर, वसुदेव जी ने उसे समझाया कि, इस के पुत्र से आपको भय है, इस लिये इस के पुत्रों को मैं आप को समर्पण करूंगा। तब कंस ने उसे छोड़ दिया। फिर देवकी का पहला पुत्र हुआ तो वसुदेव जी कंस के पास ले गये; परन्तु कंसने कहा कि, अष्टम से भय है तो इसको क्यों मारे, ऐसा कह कर लौटा दिया। इस के बाद नारद आकर कंस को समझाये कि, नन्दादि गोप और उनकी स्त्रियां, तथा वृष्णि वसुदेवादि और इसकी स्त्रियाँ, बन्धु आदि प्रायः देव सब हैं, और सब असुरों को मारने के लिये यत्न कर रहे हैं। सो सुन कर कंस यदुवंशियों को देव समझ कर, और देवकी के गर्भज को विष्णु जान कर, देवकी वसुदेव को बांध दिया, और देवकी के पुत्रों को विष्णु की शंका से मारने लगा। माता पिता आदि को भी बांध दिया। अपने राज्य करने लगा। उस के बाद सप्तम गर्भ हुआ सो विष्णु की माया द्वारा देवकी के गर्भ से खैंच कर, वसुदेव जी की ही स्त्री रोहिणी जो गोकुल में कंस के भय से रहती थी, उस के उदर में किया गया। उससे बलराम जी हुए। और विष्णुदेव की माया रूप नन्द जी की पुत्री हुई। और अष्टम गर्भ से विष्णु भगवान् कृष्ण रूप हुए। इन के जन्म के बाद अर्धरात्रि में हीं वसुदेव जी इन्हें नन्द जी के यहाँ रख आये. और उनकी पुत्री को ले आये। जिसे सबेरा होने पर देख कर कंस आकाश वाणी को झूठ समझा; इत्यादि। और कृष्ण भगवान को गोद खेलाने का सौभाग्य यशोदा को मिला, देवकी को नहीं मिला ॥२॥

हिरण्यकशिपु का वध की कथा विष्णु धर्मोत्तर पुराण खण्ड १ अ०

५४ में है कि–हिरण्याक्ष के मारे जाने पर, हिरण्यकशिपु घोर तप जपादि किया, तब प्रसन्न होकर देवादि सहित ब्रह्मा जी आकर वर माँगने के लिये कहे, तब उसने वर माँगा, कि देवासुरादि शस्त्रास्त्रादि से भी मेरा मरण नहीं हो। ब्रह्मा जी एवमस्तु कह कर अपने लोक में गये, तब देव सब ब्रह्मा जी के पास गये, और कहने लगे कि, इस वर से यह असुर अवश्य देववध करेगा; इससे इसका वध के उपाय बताइये। तब ब्रह्मा जी बोले कि, तप का फल इसको अवश्य मिलेगा, फिर भगवान् इसका नाश करेंगे। इसके बाद वह असुर उपद्रव करने लगा, देवलोक में भी अपना आधिपत्य किया। तब देव लोक भगवान् के शरण में त्रास हुए। फिर भगवान् नृसिंहरूप होकर, उसकी सभा में गये; और दानवों को नष्ट किये, उसे पछाड कर मारा, इत्यादि। लिंगपु० अ० ९५ में भी यह कथा है। पद्मपु० ख० १ अ० ४७ में है। उत्तर खं० २३८ में है। शिवपु० सं० २ खं० ५ अ० ४३ में रूपान्तर से है॥

विष्णुपुराण अंश १ अ० १७ में कथा है कि– कश्यपजी की स्त्री दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु था। वह इन्द्रादि को जीत कर राज्य करता था। उसके पुत्र प्रह्लाद थे, सो गुरुकुल में पढते थे। एक दिन पिता के पास में गये। उनसे पिता पूछा कि, जो अबतक पढे हो, उसका सार स्वरूप कुछ कहो। उन्होंने कहा कि, सबका सार विष्णु है, सोई मेरे मन में स्थिर है; उसी अनादि अनन्त को मैं प्रणाम करता हूं, इत्यादि। इस बात को सुनकर हिरण्यकशिपु अध्यापकों पर रंज हुआ कि, आप लोकों ने इसको क्या उलटा पढाया है। उन लोकों ने कहा कि, इसका यह स्वाभाविक समझ है, हमारा पढाया हुआ नहीं है। फिर पिता प्रह्लाद से पूछा कि, यह उपदेश तुम्हें कौन दिया है। प्रह्लाद ने कहा कि, सबका उपदेशक विष्णु है, उसके बिना कौन किसको उपदेश देता है। इसके बाद प्रह्लाद को मारने के लिये बहुत यत्न किया गया। परन्तु बचते गये। और अन्तमें नृसिंह भगवान् प्रगट होकर हिरण्यकशिपु को मारे।

भागवत स्कन्ध ७ में आरम्भ में ही प्रश्न हुआ है कि, सम सबके प्रिय भगवान् इन्द्र के लिये असुरों को कैसे मारा। तब शुकदेवजी ने कहा है कि, निर्गुण अज अव्यक्त भी भगवान् अपनी मायाके गुण में पैठ कर बाध्य बाधकता को प्राप्त हुए हैं। और अविवेक से कल्पित यह संसार है, इत्यादि। इसके बाद जय विजय के शापादि की कथा है, वही हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु हुए हैं। वराहावतार नृसिंहावतार द्वारा मारे गये हैं। तिसकी कथा विस्तार युक्त है ॥ २ ॥

(३)

गोवर्धन पर्वत का कर से धारण की कथा भागवत स्क० १० पूर्वार्ध अ० २४-२५ में कथा है कि- एक समय इन्द्रयाग के लिये यत्न करते हुए गोपों को देख कर कृष्ण भगवान् ने अजान के समान पूछा कि, यह आप लोक क्या करते हो, इसका क्या फल है, इत्यादि। तब नन्दजी बोले कि, पर्जन्यरूप भगवान् इन्द्र हैं, मेघ उन्हीं की मूर्ति हैं; सो प्राणी के जीवन-रूप जल वर्षाते हैं'। इससे उस इन्द्र को हम सब और अन्य लोक भी उनसे सिद्ध द्रव्यों द्वारा क्रतुओं (यज्ञों) से पूजते हैं, इत्यादि। सो सुनकर, इन्द्र के क्रोध को पैदा करते हुए, कृष्णजी ने नन्दजी से कहा कि, कर्म से ही जन्मादि सब होता है, ईश्वर भी कर्ता ही को फल देता है, अकर्ता को नहीं देता। फिर कर्मानुसारी प्राणी को इन्द्र से क्या जरूरत है, इत्यादि। और हम सबको देश ग्राम तो कुछ है नहीं, वनवासी हैं। इससे जो इन्द्र का यज्ञ के लिये साधन है, उससे गौ ब्राह्मण पर्वत की ही पूजा किया जाय, यही हमें अच्छा प्रतीत होता है, इत्यादि। इस बात को हरि प्रेरणा से नन्दादि सब मान गये, इन्द्र यज्ञ को छोड़ दिये; और कृष्णजी के कथनानुसार किये। तब इन्द्र क्रुद्ध होकर अकाल में भी बहुत वृष्टि के लिये मेघों को हुकुम दिये; और कहे कि इन गोपों की सम्पत्ति को नष्ट करो तो अतिवृष्टि होने लगी, तिससे पीडित गोपादि को देखकर, सात दिन तक कृष्ण भगवान् गोवर्धन पर्वत को हाथ पर धरे रहे, और

४४

गौ गोपादि उसके नीचे आराम से ही रहे, सो देखकर इन्द्र, अभिमान रहित हुए, और मेघों का निवारण किये, इत्यादि ॥ ४ ॥

मत्स्य होकर जल में विचरने की कथा मत्स्य पुराण अ० १ में है कि— प्रथम राजा मनु ने पुत्र को राज्य देकर तप किये। और मलयाचल के पास में शमादि सहित उत्तम योग प्राप्त किये। तब ब्रह्मा वर देने आये। तब मनु नें वर माँगा कि, प्रलय काल की प्राप्ति होने पर, स्थावर जंगम प्राणी की रक्षा में मैं समर्थ होऊं, यही वर मुझे दिया जाय। ब्रह्मा जी 'एवमस्तु' कह कर अन्तर्हित हो गये। फिर कभी अपने आश्रम में राजा पितृ तर्पण करते थे, तब हाथ में जल सहित सफरी मछली गिरी। दयावश उसकी रक्षा के लिये उसे जलपूर्ण घड़ा में रख दिये। दिन रात में वह सोलह अंगुल बढ़ गई। और राजा से बोली कि, दया करके मेरी रक्षा करो। फिर बड़ा कुण्डा में रखा। तब रात्रिभर में तीन हाथ बढ कर बोली कि, रक्षा करो। फिर राजा कूप में रखा। तब वहाँ नहीं समा सकी, तब तालाव में रखा, वहाँ भी बहुत बढने पर गंगा में रखा, गंगा में भी अतिवृद्धि देखकर समुद्र में रखा, और समुद्र में भी उसकी अतिवृद्धि देखकर, भयभीत होकर राजा बोला कि, आप कौन हो, क्या आप भगवान् वासुदेव हो, दूसरा कोई इस प्रकार का मत्स्य कैसे हो सकता है। मत्स्यरूप तुम जगन्नाथ ही हो, इससे तुझे नमस्कार करता हूं। मत्स्यरूप होकर मुझे दुःखी क्यों करते हो। ऐसा कने पर साधु २ कहकर मत्स्यरूप भगवान् बोले कि, तुम मुझे पहचाने हो, कुछ दिन में पृथिवी जल में डूब जायेगी। तब देव समुदाय से निर्मित यह नौका यहाँ आयेगी, और मैं भी आऊँगा। उस समय सब प्राणी का बीज-समुदाय की रक्षा के लिये, सब प्राणी को इस पर रख कर रक्षा करना। युगान्त वायु से जब नौका व्याप्त होगी, तब मेरे शृंग में नौका को बांधना। फिर प्रलयान्त में प्रजापति सर्वज्ञ मन्वन्तर के स्वामी देव पूज्य होंगे। अ० २ मनु के पूछने पर प्रलयादि का वर्णन करके भगवान् लुप्त हो गये। फिर प्रलय होने पर

मत्स्यरूप भगवान् मनु के पास में प्रगट हुए। और रस्सीरूप से शेष प्रगट हुए, इत्यादि।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अ० २४ में कथा है कि- राजा परीक्षित ने पूछा है कि, भगवान् हीन मत्स्य स्वरूप का धारण जिस लिये किये सो कहिये। तब शुकदेवजी ने कहा है कि, गो विप्र देव साधु धर्म की रक्षा के लिये भगवान् सब प्रकार के शरीर धरते हैं। और निर्गुण होनेसे बुद्धि के गुणों से लिप्त नहीं होते। और प्रथम ब्रह्मा के सो जाने से नैमित्तिक प्रलय हुआ, जिससे भूरादि लोक समुद्र में डूब गये। और निद्रा युक्त ब्रह्मा के मुख से निकले हुए वेदों को पास में स्थिर हयग्रीव असुर ने हर लिया। सो जानकर भगवान् ने असुर रूप का धारण किया। और सत्यव्रत नामवाला कोई राजर्षि भक्त था। सो तप किया था, जो इस कल्प में सूर्य का पुत्र और मनु है। एक समय कृतमला नदी मे तर्पण करते हुए सत्यव्रत के अंजलि में एक सफरी आ गई, तो वह नदी का जल में ही छोड़ दिया। तब वह सफरी बोली, जाति घातक मच्छलियों से भयभीत मुझको नदी के जल में कैसे त्यागते हो। तब राजा कलश में धर कर आश्रम में लाया; फिर वह मछली बढने लगी, राजा बड़ा जलाशय में रखता गया, अन्त में समुद्र में धरने गया तब मत्स्य बोला कि, यहाँ तो बली मकरादि खा ही जायेंगे। इस प्रकार मोहित होकर राजा ने पूछा कि, आप कौन हो, आप तो भगवान् मालूम होते हो, आपको नमस्कार है। आप जिस कार्य के लिये यह रूप धरे हो सो जानना चाहते हैं, इत्यादि। तब भगवान् बोले कि, आज से सातवें दिन भूर्भुवरादि लोकत्रय प्रलय समुद्र में डूबेगा, उस समय हम से प्रेरित कोई नौका आयेगी, तुम ऋषियों के सहित सब के छोटे बड़े बीजों को लेकर, उस नौका पर चढकर, ऋषियों के तेज से अव्याकुल होकर एकार्णव में विचरोगे। बली वायु से कांपती हुई नाव को वासुकी से उपस्थित मेरे शृंग में तुम बाँधना। जब तक ब्रह्मा की रात्रि रहेगी तबतक ऋषियों के साथ तुम को इस समुद्र में तैराते हुए मैं

विचरूंगा, और मेरी महिमा रूप परब्रह्म को भी तुम पूछ कर, मेरी कृपा से हृदय में प्रकाशित समझोगे, इत्यादि । फिर वैसा ही हुआ। और हैयग्रीव को मार कर वेदों को लेकर फिर जागने पर ब्रह्माजी को दिया, इत्यादि ॥

पद्मपु० उत्तर खं० ६ अ० २३ में कथा है कि– कश्यपजी से दिति अदिति द्वारा दैत्य देव की उत्पत्ति होने पर, मकर नामक महाबली असुर ब्रह्मलोक में जाकर, और ब्रह्मा को मोहित करके सब वेद हर लाया। तब सब देव की प्रार्थना से भगवान् विष्णु मत्स्यरूप से उसे मार कर वेद लाये ॥ ५ ॥

(६)

कच्छप अवतार की कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अ० ५–६ में है कि– जब युद्ध में असुरों से मारे गये देव सब गिरने लगे और मरने लगे, तथा दुर्वासा के शाप से इन्द्र सहित सब लोकश्री (लक्ष्मी) रहित हो गये। फिर यज्ञादि क्रिया नष्ट हो गई । तब यह देखकर, इन्द्र वरुणादि देव विचार कर भी कर्तव्य का निश्चय नहीं कर सके, तब सब देवगण मेरु के शिखर पर ब्रह्म सभा में गये । और प्रणाम पूर्वक ब्रह्माजी को अपनी दशा सुनाये । फिर ब्रह्माजी ने इन्द्रादि को सत्त्व प्रभा रहित देखकर और लोकों को अमंगलप्राय देखकर असुरों को उससे विलक्षण देखकर फिर समाहित मन से पर पुरुष का स्मरण करता हुआ, देव सब से कहा कि, जिसके अवतार अंश कला से हम सब रचे गये हैं, उसीके शरण में हम सब चलें । ऐसा कहकर देव सहित ब्रह्मा तम से परे साक्षात् भगवान् के स्थान में गये और देववाणी से स्तुति किये । तब भगवान् विष्णु प्रगट हुए । फिर स्तुति नमस्कार करके ब्रह्माजी ने कहा कि, जिस कार्य के लिये हम सब आये हैं, उसे आप सिद्ध करो, हमारा कल्याण करो । फिर भगवान् ने कहा कि, अभी जावो, आप सब असुरों से सन्धि (मेल)

करो, और, अमृत की उत्पत्ति में शीघ्र यत्न करो, कि जिसके पीने से मृत्युग्रस्त प्राणी भी अमर होंगे। क्षीर समुद्र में तृणलता औषधि डार कर मन्दर को मन्थान, और वासुकि को नेत्र (रस्सी) बना कर, मेरी सहायता से समुद्र को मथो, दैत्य क्लेश भागी होंगे; और आप सब फल ग्राहक होंगे, इत्यादि। ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। फिर भगवान् को प्रणाम करके ब्रह्मा और शिवजी अपने २ स्थान में गये, और अन्य देव सब बलि के पास गये, और भगवान् की बताई हुई बात उससे कहे। असुर सब उस बात को मान गये। समुद्र मथने के व्यापार में लगे। मन्दगिरि को उखाड़ कर ले चले। रास्ते में गिर गया, तब भगवान् पहुंचाये। अ० ७ में है कि– मथते समय गणेश कृत विघ्न से पर्वत नीचे धँस गया। तब सबको विषादयुक्त देख कर, महान् कच्छप होकर भगवान् ने पर्वत को ऊपर किया और पृष्ठ पर धारण किया, इत्यादि॥

पद्मपु० खं० १ अ० ४ में कथा है कि– पृथिवी पर विचरते हुए दुर्वासाऋषि एक विद्याधरी के हाथ में अतिसुगन्ध माला देखकर, जटा में बांधने के लिये, वह माला उससे मांग लिये। कुछ दिन उसे लिये विचरते रहे। फिर ऐरावत पर चढ़ कर जाते हुए इन्द्र को वह माला प्रेम से दिया। इन्द्र लेकर उस माला को हाथी के शिर पर डार दिये, हाथी भूमि में डार दिया। तब क्रुद्ध होकर ऋषि शाप दिया कि, तेरा ऐश्वर्य नष्ट होगा, इत्यादि। जिससे सब रत्नादि नष्ट हो गये, इत्यादि॥

पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २३१ में है कि– दुर्वासाजी कभी मेरु पर्वत पर गये। फिर इन्द्र को देखने की इच्छासे चले। तब हाथी पैर जाते हुए इन्द्र को देखकर, पारिजात की माला इन्द्र को दिये। इन्द्र उसे हाथी के शिर पर रख दिये, हाथी उसे भूमि में बीग दिया। इससे दुर्वासा क्रुद्ध होकर, त्रैलोक्य की सम्पत्ति का नाश के लिये शाप दिया। इससे इन्द्र की लक्ष्मी आदि नष्ट हो गई; तब समुद्र का मथन के विचार हुआ। तब कूर्मरूप होकर भगवान् ने मन्दर का धारण किया, इत्यादि॥

स्कन्द पु० खं० २–४ अ० ८ में भी कथा है कि– दुर्वासा के शाप से इन्द्रादि देव ऐश्वर्य रहित हो गये, तब समुद्र के मथने पर ऐरावतादि रत्न उत्पन्न हुए, और हरितकी आदि दिव्य औषधियाँ लक्ष्मी तुलसी उत्पन्न हुईं, इत्यादि ॥६॥

(७)

द्वारावती (द्वारिका) में शरीर छोड़ने की कथा महाभारत मौसल पर्व में है कि, यादव कुमार सब साम्ब को स्त्री रूप बना कर ऋषियों के पास ले गये, और पूछे कि, यह बभ्रु की स्त्री पुत्र की इच्छावाली है, कौन सन्तान पैदा करेगी। ऋषि लोक क्रुद्ध होकर बोले कि, यह घोर लोहा का मूसल को पैदा करेगा, और सो तुम सबका नाशक होगा, फिर ऋषि सब भगवान् के पास आये, भगवान् वृत्तान्त सुन कर सब को सुनाये, एक दिन के बाद साम्ब ने मूसल पैदा किया, राजा उसे चूर्ण कराकर समुद्र में बिगवाया, और नियम किया गया कि, आज से मद्यपान कोई नहीं करे। परन्तु वहाँ काल प्रवेश किया, उत्पात अशकुन होने लगे, जिस ग्रहदशा में महाभारत हुआ था, छत्तीस वर्ष पर उसी दशा को भगवान् ने देखा, फिर सब को तीर्थयात्रा के लिये आज्ञा दिया, तब प्रभास क्षेत्र में जाकर सब बसे, परन्तु वहाँ सब मांस मद्यादि खाने पीने लगे, फिर किसी दिन सभा में ही वादविवाद होते २ आपस में युद्ध हो गया। प्रथम अस्त्र शस्त्र से लड़े, अस्त्रशस्त्र नष्ट होने पर, उस लोहचूर्ण से जो तृण हुआ था, उसी से मारने लगे, और वह तृण वज्र तुल्य मृत्यु का हेतु हुआ। फिर दारुक आया, भगवान् बभ्रु को स्त्रियों की रक्षा में नियुक्त किये। परन्तु बाद में उसे भी मरा हुआ देख कर, और बलरामजी को वहां छोड़ कर, और दारुक को अर्जुन के पास भेज कर, आप द्वारिका गये। पिता से सब समाचार सुनाये, और अर्जुन के साथ जाने के लिये कह कर, फिर वहाँ गये तब तक बलराम जो भी शरीर त्याग दिये थे। फिर आप भी जरा भिल्ल के बाण लगने पर देह त्यागे, इत्यादि ॥७॥

जगन्नाथपुरी में जगन्नाथ का पिण्ड गाडने की कथा ब्रह्मपुराण अ० ४३ में है कि-एक बार श्रीलक्ष्मीजी ने भगवान् से प्रश्न किया कि, योग यज्ञादि तो कल्याण के कठिन साधन हैं ही, कोई सुगम स्थान' तीर्थ बताइये कि, जहाँ जाने से सहज में कल्याण हो। तब भगवान् बोले कि- सुखसाध्य सुफल दाता तीर्थ रूप पुरुषोत्तमपुरी है, परन्तु उसका भेद कोई नहीं जानता है, ब्रह्मा भी सब संसार को प्रगट करके मेरे ध्यान में लगे, तो मैं प्रगट होकर उन से पूछा कि, किस कार्य के लिये ध्यान कर रहे हो, फिर उन्हों ने कहा कि, योगादि की अपेक्षा सुगम साधन तीर्थस्थान बताइये, तो उनको भी मैंने यही पुरुषोत्तम स्थान बताया। यह स्थान दक्षिण समुद्र के किनारे है, वहाँ एक अक्षय बट भी है, तथा देव निर्मित एक मूर्ति है, अक्षय बट की छाया में ही जाने से मनुष्य ब्रह्महत्या पाप से मुक्त होता है, और मूर्ति के दर्शन से मेरे लोक में जाता है, मुक्त होता है; परन्तु इस प्रकार अनायास ही मेरे भवन में लोकों को जाता हुआ देख कर, यमराज मेरे (भगवान् के) पास में आये, और स्तुति करने लगे, तब पूछने पर उन्हों ने कहा कि, इस पुण्य स्थान में जो इन्द्रनील मणिमयी श्रेष्ठ सर्व कर्म फलप्रदा प्रतिमा है, प्रेमभाव से उसे देख करके ही श्वेत नामक आपके भवन में सब चले जाते हैं, इससे मैं अब अपना व्यापार नहीं कर सकता हूं। इस लिये कृपा करके उस प्रतिमा को हर लीजिये। इस बात को सुन कर, यम से मैंने कहा कि, उस प्रतिमा को मैं बालू से गुप्त कर दूंगा। फिर बालू से उसे ढांप कर, यम को यमपुरी में भेज दिया, इत्यादि। इसी पुरुषोत्तम स्थान में अवन्तिकापुरी के राजा इन्द्रद्युम्न ने पवित्र स्थान जान कर, अश्वमेध यज्ञ किया, और भगवान् का दर्शन पाय, तथा कृष्ण बलभद्र सुभद्रा की मूर्तियों की स्थापना किया इत्यादि। नारदीय पु० उ० खं० अ० ५२ इत्यादि में भी यह कथा है। उस मूर्ति को गाडने की दृष्टि से वा कृष्णजी की शरीर दृष्टि से कहा गया है कि- 'लै जगन्नाथ पिण्ड नहिं गाड़ा' ॥ ब्रह्मपु० अ० ६७ में ब्रह्माजी का कथन

है कि, आदि कल्प में अव्यक्त जन्मवाला मैं विश्वकर्मा से कहा कि, भगवान् वासुदेव की एक पत्थर की मूर्ति बनावो कि, जिसका दर्शन करके राक्षसादि से भयभीत मनुष्यादि और इन्द्र पर्यन्त देव भी स्वर्ग में निर्भय होकर बसें। फिर उस प्रतिमा का निर्माण होने पर इन्द्र उसे अपने लोक में ले गये। और उसीकी पूजाके बल से वृत्रादि असुरों को नष्ट किये। फिर त्रेता में रावण हुआ। वह तप के बल से इन्द्र को भी जीत कर, उस प्रतिमा को ले आया। और विभीषण की प्रार्थना से पूजने के लिये, विभीषण को दे दिया। फिर रावण को मार कर राम जी उस प्रतिमा को लाये। और निजलोक की यात्रा के समय समुद्रेश को दे गये। वही प्रतिमा कृष्णावतार के समय समुद्रेश के द्वारा समुद्र के किनारे पुरुषोत्तम पुरी में की गई॥ और अ० ७२।२६ का श्लोक है कि,

'उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ द्विजोत्तमाः।'

क्षीरशायी भगवान् ने बलराम और कृष्णावतार के लिये श्वेत कृष्ण दो बाल उखारे। जिससे उनके दो बाल तुल्य ये दोनों हुए। इससे कबीर साहब पूर्ण तत्त्व के साथ लगने को कहते हैं ॥ ८॥

स्कन्दपु० खं० ६ अध्याय २५१ में कथा है कि– तारकासुर के उपद्रव से देव सब पार्वतीजी की रति में विघ्न किये, तब क्रुद्ध होकर शाप दिया कि—

'मर्त्यलोकं च संप्राप्य प्रतिमासु च सर्वशः।
सर्वे देवाश्च वरदा लोकानां प्रभविष्यथ॥ १॥
यस्माद्विष्णो महेशानस्त्वयाऽपि न निषेधितः।
तस्मात्त्वमपि पाषाणो भविष्यसि न संशयः॥ २॥
हरोऽप्यश्ममयं रूपं प्राप्य लोकविगर्हितम्।
लिङ्गाकारं विप्रशापान्महद् दुःखमवाप्स्यति॥ ३॥
निम्नगा गण्डकी नाम ब्रह्मणो दयिता सुता।
पाषाणसारसंभूता पुण्यदात्री महाजला।
तस्याः सुविमले नीरे तव वासो भविष्यति॥ ४॥

रमैनी ८१ के अन्तर्गत

(१)

ब्रह्माजी का धिया (पुत्री) के साथ नशाने की कथा ऐतरेय ब्रा० १३।९ में है कि– प्रजापति ने अपनी पुत्री को भार्या रूप से ध्यान किया कि, जिसका दिव नाम था, या उषा नाम था । रजोदर्शनयुक्त मृगीरूप उसके प्रति मृगरूप होकर प्रजापति प्राप्त हुए, इत्यादि ॥

और स्कन्दपु० खं० ३-१ अ० ४० में कथा है कि– वाक् नामक अपनी पुत्री से भोग की इच्छा ब्रह्मा ने किया, तो वह लज्जा से हरिणी हुई । फिर ब्रह्मा हरिण रूप होकर धावा किये; तब शिवजी व्याधरूप होकर, ब्रह्मा के शिरों को पिनाक से काट दिये । फिर सावित्री गायत्री की प्रार्थना से जीवित किये ॥

शिवपु० सं० २ खं० २ में कथा है कि– ब्रह्माजी की मानसपुत्री संध्या नाम वाली हुई । उसे देखकर ब्रह्मा मोहित हुए । तब उनके पुत्रों के सामने ही शिवजी ने उन्हें बहुत फटकारा । फिर ब्रह्माजी ने स्वयं तप किया और दक्ष से तप करवाया कि जिससे ऐसी स्त्री हो, कि जो शिव को मोहित करे । फिर दक्ष से सती उत्पन्न हुई । और उससे शिवजी का विवाह के समय ब्रह्मा भी मोहित हुए, और पश्चाताप करने लगे कि, जो दूसरे का अहित चाहता है, उसको अपना भी अहित होता ही है, इत्यादि ॥ और वर्णन है कि, सती का विवाह के समय सती का मुख देखकर, तथा पार्वती का विवाह के समय पार्वती का पैर को देखकर, ब्रह्मा को धातुपात हुआ । और दोनों समय रुद्र मारने के लिये तैयार हुए, तब देव ऋषि सब बचाये । सती का विवाह के समय जो धातुपात हुआ, उससे मेघों की सृष्टि हुई । पार्वती का विवाह के समय ब्रह्मा जी के वीर्य से बालखिल्या ऋषि सब उत्पन्न हुए । और तंत्रवार्तिक में लिखा है कि, विधिनिषेधादि मनुष्य के लिये है, देव प्रजापति के लिये नहीं; इससे

कोई दोष नहीं । और प्रजापालन करने से प्रजापति सूर्य का नाम है, सो अरुणोदय वेला में उषा (प्रभात) को प्राप्त होते हैं, इत्यादि काल्पनिक अर्थ में तात्पर्य है, इत्यादि ॥ १ ॥

(२)

ब्रह्मपु० खं० गौतमी माहात्म्य अ० १६ में ब्रह्मा जी का कहना है कि,' मैं सब कन्याओं में भी अति सुन्दर कन्या रच कर, गौतम जी के पास में पालने के लिये रख दिया, और कह दिया कि, इसे पालो । परन्तु जब युवती हो जाय तब मेरे पास लाना । उसे पोस कर निर्विकार वह मुनि मेरे पास लाये, उसे देख कर, सब देव ऋषि को उसे पाने की इच्छा हो गई । तब मैंने कहा कि, सम्पूर्ण पृथिवी की प्रदक्षिणा करके जो प्रथम आवेगा, उसी से इसका विवाह होगा । सब देवादि भूमि की प्रदक्षिणा करने गये, और गोतम जी अर्द्ध प्रसूता गौ तथा शिवलिङ्ग की प्रदक्षिणा करके ब्रह्माजी के पास गये, और ब्रह्माजी भी पृथिवी की प्रदक्षिणा मान कर विवाह कर दिये । देव सब धीरे २ आये । और अपने २ लोक में गये । परन्तु इन्द्र काम से मोहित होकर ऋषि के आश्रम में ब्राह्मण के वेष से रहने लगे । एक दिन सबेर (प्रभात) के संध्या आदि करके गोतम ऋषि शिष्यों के सहित आश्रम से बाहर गये । और इन्द्र ऋषि का रूप धर कर, अहल्या के साथ रति में प्रवृत्त हो गये । इतने में ऋषि भी बाहर से लौट कर आये, तो अहल्या को नहीं देखा, और गृह के रक्षक सब कहने लगे कि, आश्चर्य है कि, ऋषि अनेक रूप से रहते हैं, भीतर भी हैं और बाहर से भी आ रहे हैं, इत्यादि । सो सुन कर ऋषि भीतर चले, तब इन्द्र बिड़ाल होकर घूमने लगे । डरती हुई अनजान अहल्या भी आई, तब शुष्क नदी होने के लिये अहल्या को शाप दिये । फिर प्रार्थना करने पर बोले कि, गौतमी नदी से संगम होने पर अपने रूप को पावोगी और इन्द्र को सहस्र भग का शाप दिये । फिर बोले कि, गौतमी में स्नान करके सहस्राक्ष होवोगे ॥ ब्रह्म पु० खं० १ अ० ५६ में यही कथा रूपान्तर से है ॥ प्रायः इस प्रकार की परिमित कथायें,

तत्तन्माहात्म्य के प्रसङ्ग से बहुत रूप हो गई हैं। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ४८ में कथा है कि– गौतमजी स्नान करने गये थे, इतने में उनका रूप धरके सहस्राक्ष इन्द्र आये, और अहल्या समझ गई; परन्तु दुष्ट भाव से व्यभिचार किया, और भाग जाने के लिये कही, परन्तु तब तक ऋषि आ गये, और अफल (वृष्ण रहित) होने के लिये इन्द्र को शाप दिये, और प्राणियों से अदृश्य होकर भस्मशायिनी निराहार रहने का शाप [1]अहल्या को दिये, और हजार वर्ष के बाद वहाँ रामचन्द्र के जाने से शाप से मुक्ति के लिये कहे, और वैसाही हुआ, इत्यादि॥ और अध्यात्मरामायण बालकाण्ड सर्ग ५ में है कि, गौतम के ब्रह्मचर्य से संतुष्ट ब्रह्मा गौतम को लोकसुन्दरी कन्या अहल्या दिये, और कभी गौतम के बाहर जाने पर, इन्द्र गौतम के वेष से घर में जाकर व्यभिचार किये, और मुनिवेष से ही बाहर निकलते समय मुनि उन्हें देख कर, सहस्र भग के लिये शाप दिये, और अहल्या को तप भजन करती हुई अदृश्य रूप से शिला में निराहार रहने का शाप दिये, और अनेक हजार वर्ष के बाद जब राम लक्ष्मण सहित इस आश्रम में आयेंगे, तेरा आश्रम रूप शिला पर चढेंगे, तब तुम पाप से मुक्त होगी, राम की परिक्रमा स्तुति नमस्कार से शाप से मुक्त होगी, इत्यादि॥२॥

(३)

चन्द्रमा की कथा मत्स्यपु० अ० २३ में है कि– ब्रह्मा जी अत्रि ऋषि को सृष्टि करने के लिये आज्ञा दिये, तब तीन देव की उपासना आदि रूप तप ऋषि ने किया, जिससे सोम (चन्द्रमा) उत्पन्न हुए। फिर ऋषि देवादि सोम को अपना स्वामी बनाये, दक्ष कन्या प्रदान किये, फिर सोम राजसूय यज्ञ किये। यज्ञ की समाप्ति होने पर, सोम के

१ तंत्रवार्तिक में (अहल्यायां मैत्रेयामिन्द्रो जारः) यहां प्रतापी होने से सूर्य को इन्द्र कहा गया है, और अहनि (दिन) में लीन होने से रात्रि को अहल्या कहा है, उसे नष्ट करने से सूर्य जार है, व्यभिचार से नहीं, इत्यादि विचार है॥

रूप से मोहित होकर, लक्ष्मी, सिनीवाली, द्युति, तुष्टि, प्रभा, कुहू, कीर्ति, धृति, आदि देवियाँ अपने २ पतियों को छोड़ कर, स्वयं सोम को सेवने लगीं, और सोम भी उनमें आसक्त हुए, और उनके पति लोक भी कुछ कर नहीं सके। उस के बाद देवगुरु की पत्नी तारा को किसी बाग में देख कर, सोम उसे पकड़ लिया, तारा भी उस में अनुरक्त हो गई। देव गुरु भी कुछ कर नहीं सके, दीनतापूर्वक मांगे, तो भी सोम नहीं दिया, तब शिवजी क्रुद्ध होकर युद्ध करने लगे, फिर ब्रह्मा जी के समझाने से युद्ध उपरत हुआ, और बृहस्पति को तारा मिली॥ पद्मपु० खं० १ अ० १२ में भी सोम की यह कथा है॥ विष्णुपुराण अंश ४।६ में कथा है कि– ब्रह्मा के पुत्र अत्रि और अत्रि के पुत्र सोम (चन्दमा) हुए। ब्रह्मा जी उन्हें सब औषधि द्विज नक्षत्रों के राज्याभिषेक करके राजा बनाये। फिर सोम ने राजसूय यज्ञ किया। जिससे प्रतिष्ठा के बढ जाने से उनमें मद का प्रवेश हो गया, और मद से देवगुरु बृहस्पति की स्त्री तारा को हर लिये, और बृहस्पति ब्रह्माजी की प्रेरणा द्वारा सब देव ऋषि के कहने पर भी नहीं दिये। फिर बृहस्पति के द्वेषी शुक्राचार्य चन्द्रमा के पक्ष में हो गये, और सब दैत्य दानव भी चन्द्रमा के पक्ष में हुए। और अंगिरा के शिष्य रुद्र बृहस्पति के पक्ष में हुए, तथा सब देव भी बृहस्पति के पक्ष में हुए। इस प्रकार तारा के लिये महान् युद्ध हुआ, जिससे सब संसार भयभीत होकर ब्रह्मा जी के शरण में गया, तब ब्रह्मा जी युद्ध को रोक कर, तारा को बृहस्पति के प्रति दिलाये। बृहस्पति ने उसे गर्भवती देख कर, गर्भ को त्यागने के लिये कहा। फिर उसने इषीकास्तम्ब में गर्भ को त्यागा, गर्भ (बालक) को सुन्दर देख कर, सोम बृहस्पति दोनों को लेने की इच्छा हुई, परन्तु पूछने से सोम का वीर्यज ठहरा, इससे सोमपुत्र बुध कहाये॥ देवी भागवत स्क० १।११ में कथा है कि– तारा चन्द्रमा को यजमान जानकर, उनके घर में गई, और वहाँ दोनों कामासक्त हो गये, और

बृहस्पति के कहने से चन्द्रमा नहीं दिये, तब युद्ध होने पर भृगु ऋषि के कहने से दिये, इत्यादि ॥ ३ ॥

(४)

महाभारत आदिपर्व अ० ६७ में कथा है कि– वसुदेव जी के पिता शूरसेन थे, उनकी पृथा नाम की अपनी पुत्री थी, उसे अपनी फुआ (पिता की बहन) का पुत्र कुन्तिभोज के प्रति अर्पण किये; क्योंकि कुन्तिभोज अपत्य रहित थे, और शूरसेन प्रथम से करार (प्रतिज्ञा) किये थे कि, प्रथम जो अपत्य होगा, सो मैं आपको दूंगा, पृथा ही फिर कुन्ती कहाने लगी। और वहाँ दुर्वासा ऋषि की बड़ी सेवा भक्ति उसने किया, तब ऋषि प्रसन्न होकर बहुत मन्त्रादि कुन्ती को बताये। फिर एकान्त में मन्त्र की परीक्षा के लिये कुन्ती ने मन्त्रपूर्वक सूर्य देव का आह्वान किया, तब (हरि) सूर्य देव मनुष्य शरीर से आये, और मोह से रति के लिये प्रवृत्त हुए, जिससे कर्ण की उत्पत्ति कुन्ती की कुमार अवस्था में ही हुई ॥ देवी भागवत स्क० २।६ में भी है कि, कुन्ती शूरसेन की पुत्री थी, कुन्तिभोज उसे दत्तक लेकर, अपनी पुत्री माने थे, और कुन्तिभोज के ही घर में कुन्ती ने दुर्वासा की सेवा से मन्त्र प्राप्त किया था, इत्यादि ॥ ४ ॥

(शब्द ३ के अन्तर्गत)

(१)

इसकी कथा प्रथम आ गई है कि, तुलसी का पति शंखचूड़ था, उसके मरने पर उसकी हड्डी से शंख हुआ, वही शंखासुर था। और भागवत स्कन्ध १० पूर्वार्ध अ० ३४ में भी कुबेर के अनुचर शंखचूड़ का वध की भी कथा है कि, वह गोपियों को ले भागा था, फिर उसे मुष्टिका से ही मारकर भगवान उसके शिर में रत्न था, सो ले लिये ॥ १ ॥

(२)

और स्तम्भ फोर कर बाहर होने की, नख से उदर विदारने की कथा, श्रीमद् भागवत स्क० ७ अ० ८ में है कि-- प्रह्लाद असुर के लड़कों को भी भगवद्-भक्ति का उपदेश दिये, सो सुन कर उनके पिता उन्हें मारने के लिये निश्चय किया, और बहुत फटकारा, और कहा कि, क्रुद्ध होने पर हम से ईश्वर सहित तीनों लोक कांपता है, और तुम किसके बल से मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है, इत्यादि। तब प्रह्लाद बोले कि, वह भगवान् मेरा ही बल नहीं है, किन्तु आपका भी बल वही हैं, और सब बलियों का बल है। स्थावर जंगम पर अवर ब्रह्मादि सब उसके बश में हैं, भगवान् ही सृष्टि आदि करते हैं, आसुर भाव आप छोड़ो तो कोई आपके के शत्रु नहीं हैं, इत्यादि। इन बातों को सुन कर, हिरण्यकशिपु क्रुद्ध होकर बोला कि, अब तुम अवश्य मरने की इच्छावाला हो, इसीसे अधिक विरुद्ध कथा करते हो, इत्यादि। और तुमने जो हम से भिन्न जगदीश्वर कहा है, सो कहां है, यदि सर्वत्र है, तो इस स्तम्भ में क्यों नहीं दिखता है, अब मैं तेरा शिर काटूंगा, जिसे तुम अपना रक्षक मानता है, देखें कि वह तुम्हारी रक्षा करता है. इत्यादि कह कर, तरवार लेकर, आसन पर से उठा, और अपनी मुष्टि से स्तम्भ में मारा, उसी समय उस स्तम्भ में भयानक शब्द हुआ, जिससे सब डर गये, और प्रथम कुछ नहीं दिखा, फिर अद्भुत स्वरूप नृसिंह दिख पड़े। जिससे वह असुर आश्चर्य में पड गया, अपनी मृत्यु की शंका करने लगा, गदा लेकर युद्ध के लिये तैयार हुआ, एक बार भगवान् के हाथ में जाकर भी निकल गया। फिर नृसिंह जी की गर्जना से उसकी आँखें ढप गईं, तब भगवान् पकड़ कर, अस्त्रादि से अवध्यता का वर के कारण से द्वार के ऊपर अपने जंघे पर गिरा कर नखों से उदर फार दिये, इत्यादि ॥ २ ॥

(३)

कंस वध की कथा श्रीमद् भागवत स्क० १० पूर्वार्ध अ० ४४ में है कि- चाणूर मुष्टिकादि मल्लों के नष्ट होने पर कंस ने क्रुद्ध होकर कहा

कि, दुर्वृत्त वसुदेव के पुत्रों को यहां से निकालो, गोपों के धन हर लो, दुर्बुद्धि नन्द को बांधो, और वसुदेव को शीघ्र मारो, इत्यादि। सो सुन कर क्रुद्ध कृष्णदेव, उछल कर अति शीघ्रता से कंस के ऊंचे मचान पर चढ गये, फिर उन्हें प्रवेश करते हुए देख कर, अपना मृत्यु समझ कर, कंस ढाल तरवार, आसन पर से ऊठ कर लिया। फिर तरवार लेकर घूमता हुआ कंस को कृष्णजी ने बल से पकड़ लिया। और केशों में पकड़ कर, मंच पर से नीचे गिराया, और आप उसके ऊपर गिरे। इतने में उसका प्राण छूट गया, इत्यादि ॥ ३ ॥

(शब्द ३० के अन्तर्गत)

वाल्मीक ऋषि की कथा स्कन्दपु० खं० ५ अ० २४ में है कि—भृगुवंश में सुमति नामक ब्राह्मण था, कौशिकी उसकी स्त्री थी, अग्निशर्मा उसका पुत्र था। कभी अकाल पड़ने पर वह सुमति स्त्री, पुत्र सहित दक्षिण दिशा में गया। और अहीर चोरों के साथ जंगल में रहने लगा। इससे अग्निशर्मा को चोरों के साथ संगति हो गई। उस मार्ग से आनेवालों को वह पापी अग्निशर्मा मारने लगा। किसी समय तीर्थयात्रा के प्रसंग से सप्तर्षि भी उसी मार्ग से आये। उन्हें मारने की इच्छापूर्वक अग्निशर्मा ने कहा कि, वस्त्र छाता आदि धर दो, और तुम सब मारे जावोगे। अत्रि ऋषि बोले कि, हम सब तीर्थयात्रा में जा रहे हैं, हम सबको दुःख देना रूप पाप तेरे मन में क्यों भावता है। अग्निशर्मा बोला कि, मेरे माता पिता पुत्र हैं, उनके पालन का भाव मेरे मन में रहता है। ऋषि बोले कि, जाकर पिता आदि से पूछो कि, तुम सब के लिये मैं पाप करता हूं, सो किस २ को लगेगा। अग्निशर्मा को कुछ होश हुआ। जाकर पूछा। सब कह दिये कि, पाप तुम को होगा, मैं क्या जानता हूं। यह सुनकर ऋषियों के शरण में आया। ध्यान और रामनाम महामन्त्र ऋषि बताये।

वह ऐसा ध्यानस्थ हुआ कि, उसके ऊपर बल्मीक (दीमक) हो गया। इससे वाल्मीक कहाया ॥

और स्कन्दपु० खं० ६ अ० १२४ में कथा है कि– चमत्कारपुर में माण्डव्य वंश के लोहजंघ नामक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री पतिव्रता थी, माता पिता जीवित थे। एक समय अकाल पड़ने पर, आनर्त देश में गया। वहाँ भी भोजन वस्त्र की प्राप्ति नहीं होने पर, माता आदि की रक्षा के लिये, चोरी डकैती करने लगा। फिर अच्छा समय होने पर भी लोहजंघ का वही काम जारी रहा। उसी समय तीर्थयात्रा में जाते हुए सप्तर्षि उसे मिल गये, उन्हें वह मारने दौड़ा। फिर उसके यज्ञोपवीत को देखकर ऋषि सब बोले कि, तुम ब्राह्मण होकर यह कुकर्म क्यों करते हो। उसने कहा कि, कुटुम्ब का पोषण के लिये यह कर्म करता हूं। ऋषियों ने कहा कि, जाकर सब से पूछो कि, इस पाप के वे सब भागी हैं कि नहीं। इस बात को सुन कर वह भयभीत हुआ। और जाकर सब से पूछा, तो पाप के भागीपन को सब नहीं स्वीकार किया। फिर वह पश्चात्ताप करता हुआ ऋषियों के पास में आया, और अपना कल्याण के लिये प्रार्थना किया। तब हंसी के स्वभाववाला पुलह मुनिने उससे कहा कि, 'झाटघोट' यह मन्त्र सब सिद्धि को देनेवाला है, इसीको सदा जपो। फिर मुनि सब वहाँ से चले गये। वह उसको जपते २ देहादि को भूल गया। उसके देह पर बल्मीक हो गया, इससे बाल्मीक कहाया, महासिद्ध ज्ञानी हुआ, इत्यादि ॥

स्कन्दपु० खं० ७ अ० २७८ में है कि– शमीमुख नामा ब्राह्मण के वैशाख नामा पुत्र था। गुरु सेवा से अन्य कोई शुभ कर्म नहीं करता था। 'माता पिता के वृद्ध होने पर, चोरी आदि से माता पिता आदि को पालने लगा। कभी सप्तर्षि मिल गये, तो उन्हें भी मारना चाहा। तब वे लोग बोले कि, जिसका पोषण के लिये पाप करते हो, उससे पूछो कि, वह पाप के साझी हिस्सेदार हैं कि नहीं। पूछने पर, पिता आदि बोले कि,

'एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥' इत्यादि'।

सो सुनकर, वैशाख ऋषियों के पास में गया, विनय करने पर (झाटघोट) मन्त्र 'सुनाये, उसीको जप कर वह बाल्मीक ऋषि हुआ, इत्यादि ॥

(शब्द ३७ के अन्तर्गत)

(१)

पीपाजी की कथा भक्तमाल में है कि- पीपाजी प्रथम राजा थे, और दुर्गा के भक्त थे। फिर संसार से उपराम होकर, दुर्गाजी से भगवद्भक्ति का उपाय पूछा। तब दुर्गाजी ने कहा कि, तुम रामानन्दजी का शिष्य होवो, तब भगवद्भक्ति मिलेगी। फिर राजा काशी में रामानन्दस्वामी के यहाँ शिष्य होने के लिये गया, तब कुछ परीक्षा करके स्वामीजी ने शिष्य बना दिये, और साधुसेवा के लिये आज्ञा देकर घर लौटा दिये। तब राजा घर जाकर साधुसेवा करने लगा। फिर एक वर्ष के बाद स्वामी रामानन्दजी उनके मकान पर (घर) शिष्यों के सहित गये। तब पीपाजी भी विरक्त साधु हो गये। परन्तु बारह रानी में से छोटी रानी सीता उनका साथ नहीं छोड़ा, वह भी विरक्ता हो गई, और दोनों परम उदार चरित्र किये; तथा भक्ति बल से परम सिद्धि पाये, इत्यादि ॥१॥

(२)

कविचक्रवर्ती जयदेवजी की कथा भक्तमाल में है कि- जयदेवजी रामकृष्ण गीतगोविन्द के कर्ता परम भक्त हुए हैं। उनको कभी मार्ग में ठग मिल गया। उस समय उनके पास में कुछ द्रव्य था। ठगों ने पूछा कि, तुम कहाँ जाते हो, जयदेवजी ने कहा कि, जहाँ तुम जावोगे, वहाँ ही

मैं भी जाता हूं। और उन ठगों को ठग जानकर भी जो कुछ द्रव्य था, सो उन्हें दे दिया, कि पाप का जड़रूप धन को त्यागना ही उचित है। ठगों ने समझा कि यह कपटी है, हमें द्रव्य देकर, फिर नगर में जाकर हमें पकड़वा देगा। इससे इसे मार डालना चाहिये। फिर कुछ विचार कर जयदेवजी के हाथ पाँव काट कर, निर्जल कूप में उन्हें डाल दिया। प्रारब्ध का फल समझ कर जयदेवजी प्रसन्न ही रहे। फिर दैवयोग से वहाँ एक राजा आया। उन्हें कूप से निकाल कर, सज्जन भक्त समझ कर, अपने घर ले गया। और सेवा करने लगा। फिर राजा को सन्तसेवी जानकर, वे ठग सब भी सन्त का वेष बना कर वहाँ आये। जयदेवजी उन्हें पहचान गये, तो भी उनकी पूर्ण सेवा के लिये राजा को आज्ञा दिये। परन्तु ठग भी जयदेवजी को पहचान लिये। इससे भय के मारे शीघ्र विदाई मांगने लगे। तब जयदेवजी ने पूर्ण द्रव्य दिलवा कर, विदा करवाये। और सिपाही को कहे कि इनके घर तक इन्हें पहुंचावो, ये मेरे भाई हैं, इत्यादि। फिर पहुंचानेवाला सिपाही रास्ते में उनसे पूछा कि, जयदेवजी से आप सबको कौन सम्बन्ध है कि, जिससे इतना सत्कार करवाया है। ठगों ने कहा कि, हम सब एक राजा के पास नौकर थे। एक अपराध में राजा ने इन्हें मारने का हुकुम हमें दिया, हमने इनके हाथ पैर काट कर छोड दिया। इसीसे सत्कार करवाये हैं। इतना कहते ही ठग सब भूमि में धँस गये। सो सुनकर जयदेवजी हाथ पैर पटकने लगे, फिर ईशकृपा से पूर्व तुल्य हाथ पैर युक्त हो गये, इत्यादि ॥२॥

(३)

नामदेवजी की कथा भक्तमाल में है कि— छिपा वामदेव भक्तजी के नाती (दौहित्र) नामदेव भक्त हुए हैं। जिनके विषय में कहा जाता है कि

'नामदेव के छाजन छाया। मन्दिर फिराया गाय जिलाया॥

नामदेवजी के घर में अचानक ही अग्नि लग गई, तब अग्नि से बची हुई वस्तु को भी नामदेवजी ने स्वयं अग्नि में डाल दिया कि, 'हे भगवन्-

स्वरूप अग्निदेव ! यह भी मैं आपको भेंट करता हूं, इसका स्वीकार कीजिये, इस आपके घर में अन्य तो आही नहीं सकता है। ' फिर इस' भावना से प्रसन्न होकर भगवान् स्वयं उनके घर आये। और उत्सव के समय नामदेवजी भगवद् मन्दिर में गये। तहाँ विचारा कि जूता को बाहर छोडने से उसमें मन लगा रहेगा, इससे उसे कमर में बांध लिया। सो जान कर, अन्य लोकों ने उन्हें धक्का देकर निकाल दिया। फिर नामदेवजी ने प्रसन्नता पूर्वक मन्दिर के पीछे जाकर भजन करने लगे, तो जड से मन्दिर फिर गया। नामदेवजी के सन्मुख हो गया। और नाना के कहिं जाने पर, नामदेवजी भगवान् को भोग लगाये, परन्तु भगवान् प्रगट होकर दूध नहीं पिये, तो नामदेवजी भी भोजन नहीं किये, तीसरे दीन भी भगवान् के दूध नहीं पीने पर नामदेवजी चाकू से अपना गला काटना चाहा। तब प्रेमवश भगवान् प्रगट हुए, और दूध पीये। और उनके नाना के आने पर, यह वृत्तान्त सर्वत्र फैल गया। सो सुनकर यवन बादशाह परीक्षा के लिये मरी हुई गौ को जिलाने के लिये कहा, तो वह भी भगवत्-कृपा से जीवित हो गई, इत्यादि ॥३।

(शब्द ४० के अन्तर्गत)

(१)

कपि (हनुमान्) जी की कथा ब्रह्मपु० गौतमी मा० अ० १४ में है कि– ब्रह्मगिरि के पास में अञ्जन नामक पर्वत है, किसी मुनि के शाप से भ्रष्ट अप्सरा अञ्जनी नामक बानरी होकर वहाँ रहती थी, उसका पति के नाम केसरी था, सो कभी दक्षिण समुद्र के तरफ चला गया, और उस के बाद अञ्जन पर्वत पर अगस्त्य मुनि आये, और अञ्जनी की पूजा से प्रसन्न होकर, वर मांगने के लिये कहे, तब अञ्जनी ने लोकोपकारक बली पुत्र मांगा, फिर उसके बाद वायुदेव आये, और कामवश होकर,

उससे रमण किये, जिससे हनुमान जी की उत्पत्ति हुई । और वायुदेव के कहने से, अञ्जनी गौतमी में स्नान किया, उससे शाप से मुक्त हो गई ॥

भविष्य पु० पर्व ३। अ० १३ में है कि, शिव जी मानसरोवर के उत्तर पर्वत पर गये, और वहाँ ही अञ्जनी रहती थी, तथा उस के पति केसरी रहता था, केसरी के मुख में किसी प्रकार रुद्र के घोर तेज प्रवेश किया, और वायुदेव भी केसरी के देह में प्रवेश किये, उसके बाद वह केसरी कामातुर होकर अञ्जनी से रति किया, जिससे हनूमान् जी की उत्पत्ति हुई । फिर कुरूप देख कर माता त्याग दिया, तब हनुमान जी ने उछल कर सूर्य को पकड़ा, फिर रावण युद्ध किया, कि जिससे सूर्य को छोड कर रावण से ही लड़ने लगे, तब रावण डर कर भगा, इत्यादि ॥

शिव पु० संहिता ३। अ० २० में है कि– मोहिनी रूप का दर्शन से जो शिव जी का वीर्य गिरा था, उसी को सप्तर्षि लोक पत्ते में रख दिये थे, उसी को अञ्जनी में उसके कान द्वारा स्थापित किये कि जिससे रुद्रावतार हनुमान हुये, इत्यादि ॥१॥

(२)

ब्रह्मवैवर्त पु० ब्रह्मखं० अ० ८ में नारद जी की कथा है कि– ब्रह्मा जी ने सनकादि आदि की उत्पत्ति करके, उन से सृष्टि करने के लिये कहा, तो वे लोक सृष्टि नहीं करके तप.परायण हो गये । उस के बाद अन्य ऋषियों की और नारद जी की सृष्टि करके, सृष्टि करने के लिये कहा तो, नारद जी ने कहा कि, पहले मेरे पूर्वजों को लाइये, और मैं इस सृष्टि में नहीं लगूंगा, इत्यादि । तब ब्रह्मा जी ने ज्ञान का लोप (अभाव) होने का, कामी गन्धर्व होने का और दासीपुत्र होने का शाप दिया । फिर नारद जी ने तीन कल्प तक अपूज्यता का शाप दिया, इत्यादि ॥ अ० २३ में हैं कि, शाप से मुक्त होने पर फिर भी नारद जी ब्रह्मा जी के पुत्र हुए, तब फिर भी ब्रह्माजी विवाह के लिये

कहे, परन्तु किसी प्रकार विनयादि से छुटकारा पाये और तप के लिये पधारे ॥२॥

(३)

लिङ्ग पु० अ० ९८ में है कि, सहस्रनामादि द्वारा शिव जी की पूजा करने से विष्णु भगवान् को चक्र मिला था ॥ और उत्तरार्द्ध अ० ४ में,

अन्यभक्तसहस्रेभ्यो विष्णुभक्तो विशिष्यते ।
विष्णुभक्तसहस्रेभ्यो रुद्रभक्तो विशिष्यते ॥
रुद्रभक्तात्परतरो नास्ति लोके न संशयः ।' श्लो० २०

इसी की पुष्टि के लिये, उत्तरार्द्ध अ० ५ में है कि, त्रिशंकु की स्त्री पद्मावती मन वचन शरीर से सदा विष्णु भगवान् के भजन करती थी। कभी द्वादशी के उपवास पूर्वक पति के साथ विष्णु भगवान् के मन्दिर में सोई थी, स्वप्न में भगवान् बोले कि, क्या चाहती है, तब पद्मावती बोली कि, वैष्णव पुत्र चाहती हूं इत्यादि। फिर भगवान् तथास्तु कह कर फल दिये, जागने पर फल देख कर, पति से वृत्तान्त सुना कर, फल खा गई, कि जिससे अम्बरीष की उत्पत्ति हुई, पिता के मरने पर अम्बरीष मन्त्रियों पर राज्यभार को छोड़ कर तप किये, हृदय में भगवान् की धारणा परायण हुए। तब भगवान् इन्द्र रूप होकर वर देने आये। अम्बरीष बोले कि, मैं आप की आराधना नहीं करता हूं, न आप से कुछ चाहता ही हूं, तब भगवान् अपना स्वरूप को धारण किये, तब राजा स्तुति करने लगा, फिर भगवान् वर माँगने के लिये कहे, तब वर माँगा कि जैसे आप भव (शिव) के भक्त तत्परायण हैं, वैसा ही मैं आप का भक्त होऊं, इत्यादि। फिर तथास्तु, ऐसा कह कर, और सब दुःख से रक्षा के लिये शिव से प्राप्त चक्र राजा को देकर गुप्त हो गये। फिर राज्य करता हुआ राजा की श्रीमती नाम की पुत्री हुई। कुछ दिन के बाद नारद पर्वत दोनों ऋषि राजा के यहाँ आये, राजपुत्री को देख कर दोनों एकान्त में

राजा से उस के लिये प्रार्थना किये, राजा दोनों को प्रणाम करके कहा कि, यह कन्या दोनों में से जिसको वरेगी, उस को मैं दूंगा। तथास्तु, इस प्रकार कह कर, कलह आने का वचन देकर दोनों गये, और विष्णु लोक में भगवान् विष्णु के पास पहुंचे। एकान्त में नारद जी भगवान् से बोले कि, आपका भक्त अम्बरीष की कन्या से मैं और पर्वत दोनों विवाह के लिये कहा, तब राजा बोला है, कि कन्या जिसको वरेगी उस के साथ मैं विवाह कर दूंगा, इससे आप मेरा हित करे, और पर्वत के मुख को बानर के समान कर दें। यदि मेरी भलाई चाहें। तथास्तु, ऐसा कह कर, भगवान् नारद को बिदाय किये, अपने को कृतकृत्य मान कर मुनि अयोध्या चले। बाद में पर्वत भी एकान्त में सब समाचार सुना कर, भगवान् से बोले कि, नारद के मुख को गोलांगूल के समान कर दें, तब उन से भी तथास्तु कह कर विदा किये, फिर दोनों अयोध्या पहुंचे तब राजा दोनों को देख कर नगरी की सजावट विवाह के समान करके सभा में कन्या को बुलाया, और कहा कि, इन दोनों महात्माओं में से जिसे चाहती हो, उसे बरो। कन्या दोनों के मुख को विकृत देख कर कांपने लगी। पूछने पर बोली कि, ये नारद पर्वत मुनि नहीं है, उन दोनों को मैं देखती ही नहीं हूं; किन्तु इन दोनों के बीच में एक षोडश वर्ष के सुन्दर पुरुष को देखती हूं, इत्यादि। नारद पर्वत उस मध्यगत पुरुष के लक्षण कन्या से पूछे तो वह बताई। बाद में दोनों चिन्ताग्रस्त हुए, शोचने लगे कि, यह किसकी माया है, इत्यादि। कन्या उस मध्यगत पुरुष को वरी, और तुरन्त अदृश्य हो गई। भगवान् के यहाँ पहुंच गई। फिर दोनों मुनि भगवान् के यहाँ चले, सो जान कर भगवान् श्रीमती को लुप्त कर दिये, दोनों ऋषि जाकर बोले कि, हमारा आपने क्या प्रिय किया, हमें मोहित करके आप ही कन्या ले आये। भगवान् अंगुलियों से कान बन्द करके बोले कि, आप यह क्या बोल रहे हैं, इत्यादि। फिर मुनि बोले कि, बानरादि के मुख आप क्यों किये?

भगवान् बोले कि, आप दोनों के कथनानुसार दोनों का हित ही किया। मुनि बोले कि, वह कन्या कौन ले गया। भगवान बोले कि, मायावी अनेकों महापुरुष हैं, कोई ले गया होगा, इत्यादि। तब मुनि बोले कि, आपका दोष नहीं है, किन्तु अम्बरीष की ही माया है। ऐसा कह कर, राजा के पास में चले, और जाकर बोले कि, तुम हमें बोला कर अन्य किसी को कन्या दिये हो, इससे अपने को यथार्थ रूप से नहीं जानोगे, तम तेरा अभिभव करेगा, इत्यादि। तब राजा के प्रति तमोराशि प्रगट हुआ, इतने में तम के प्रति विष्णुदेव का चक्र धावा किया, तब तम और चक्र मुनियों के पीछे लगा, फिर मुनि लोकों में भ्रमते हुए, त्राहि २ करके भगवान् के शरण में प्राप्त हुए। भगवान् ने चक्र और तम का निवारण किया, और भगवान बोले कि, ऋषि का वचन अन्यथा नहीं हो सकता, इससे जब अम्बरीष के वंश में मैं राम होऊंगा, तब यह तम मुझे प्राप्त होगा, इत्यादि। इसके बाद शोकयुक्त दोनों मुनि चले गये। जन्म भर ब्रह्मचर्य का नियम किये, और रामाऽवतार में विष्णु अपने को भूल गये। नारद पर्वत कुछ दिन में विष्णु की माया को समझ कर, उसकी निन्दा करके रुद्रभक्त हो गये, इत्यादि ॥३॥

(४)

शिवपुराण सं० ३ अ० १९ में कथा है कि– ब्रह्मा जी के पुत्र अत्रि जो ब्रह्मा जी की आज्ञा से ही तप करते थे। एक परमात्मा से पुत्र के लिये प्रार्थना करते थे। तप के तेज बढने पर, सब देव सहित ब्रह्मा विष्णु भगवान् के पास गये, फिर सब शिव जी के पास गये, उनसे सब समाचार सुनाने पर, तीनों देव अत्रि जी के पास गये। अत्रि ऋषि ने तीनों को नमस्कार किया, और सत्कार करके बोले कि, मैंने तो एक ईश्वर का ध्यान किया था, आप तीनों कैसे आये। त्रिदेव बोले कि, आपका ध्यान के अनुसार ही आये हैं, हम तीनों तुल्य हैं, तीनों के अंश से आप के पुत्र होंगे। रुद्र के अंश से दुर्वासा हुए, सो अम्बरीष की

परीक्षा के लिये एकादशी की पारणा समय द्वादशी के दिन थोड़ा पहले पहुंचे, और भोजन के लिये निमन्त्रण पाकर, स्नान करने गये, वहां देर कर दिये, तब तक राजा जल पी लिया, इससे आने पर ऋषि क्रुद्ध हुए, तब चक्र चलना चाहा, इतने में आकाशवाणी हुई कि, दुर्वासा को साक्षात् शिवरूप समझो, और चक्र को शान्त करो, ये परीक्षा के लिये आये हैं, इस ऋषि के शरण में प्राप्त हो, नहीं तो प्रलय होगा। फिर राजा चक्र की स्तुति किया, चक्र शान्त हुआ, इत्यादि । यही दुर्वासा रामचन्द्र जी की परीक्षा के लिये कालागमन के समय गये थे । और इनके स्नान-समय में कभी लंगोटी दह गई थी, तब द्रौपदी अपने कपड़े में से फाड़ कर पड़दा के लिये दी थी कि, जिससे वस्त्रापहरण के समय वस्त्र का ढेर लगा, इत्यादि ॥

श्रीमद् भागवत स्क० ९ अ० ४-५ में भी नाभाग पुत्र अम्बरीष की कथा है, सो दूसरे प्रकार से है । वहाँ है कि- एकादशी उपवास के बाद राजा पारणा के लिये तैयार था, तब दुर्वासा आये, और आवश्यक क्रिया के लिये निमन्त्रित होने पर गये, परन्तु जप ध्यान में देर हो गया, तो राजा अन्य विद्वानों से पूछ कर जल से पारणा किया। आने पर ऋषि इस बात को जान कर क्रोधपूर्वक जटा से कृत्या (मारक देव) को उत्पन्न किये। फिर चक्र उस कृत्या को नष्ट करके ऋषि के पीछे लगा । ब्रह्मा जी शिव जी के यहाँ ऋषि गये, कोई रक्षक नहीं हुए, भगवान् विष्णु के यहाँ गये, वे भी अपने को भक्ताधीनता बताये, रक्षा नहीं किये, और अम्बरीष के यहाँ भेजे, फिर अम्बरीष के पाद पकड़ने से ऋषि का प्राण बचा, इत्यादि ॥४॥

(५)

विष्णु पु० अं० ३ अ० ५ में है कि- याज्ञवल्क्य ऋषि ब्रह्मरात के पुत्र थे, और व्यास जी के शिष्य वैशंपायन के शिष्य थे । एक समय ऋषि सब महामेरु पर सभा किये, और नियम किये कि, इस सभा में

जो ऋषि नहीं आवेगा, उस को सात रात में ब्रह्महत्या की प्राप्ति होगी। वहाँ वैशंपायन जी नहीं जा सके, और अपने भगिने को पैर से थोड़ा मारा, वह छूते ही दैवयोग से मर गया, तब वैशंपायन जी ने सब शिष्यों को कहा कि, इस ब्रह्महत्या की निवृत्ति के लिये तुम सब व्रत करो। तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि, इन अल्प तेजवाले ब्राह्मणों को कष्ट देने से क्या फल है, मैं ही इस व्रत को करूंगा। तब गुरु ने कहा कि, इन ब्राह्मणों के अवमान करने वाला, इन्हें अल्पतेजा कहने वाला, तेरे ऐसा शिष्य से हमें काम नहीं है, जो हम से पढे हो, सो हमें फेर दो। याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि, मैंने तो भक्ति से कहा था; परन्तु आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो अपनी विद्या लीजिये, ऐसा कह कर रुधिर युक्त मन्त्रों को त्यागा, अन्य शिष्य तित्तिर बन कर उस विद्या का ग्रहण किये, सो तैत्तिरीय श्रुति हुई। फिर तप करके याज्ञवल्क्य जी ने सूर्य से यजुर्वेद पढ़ा, सूर्य अश्वरूप होकर पढाये, इससे उसका वाजी शाखा नाम पड़ा ॥३॥

(४)

विष्णु पु० अंश २ अ० १३ में जड़ भरत की कथा है कि– राजा भरत राज्य छोड़ कर, सालग्राम नामक तीर्थ में विरक्त रूप से रहते थे, और अहिंसादि धर्म मनोनिरोध में पूर्ण स्थिति वाला भक्तियुक्त थे। योग जप तप कर्म में पूर्ण स्थिति पाये थे। एक दिन नदी में स्नान करने गये, स्नान करके संध्या आदि कर चुके, इतने में पूर्ण गर्भवती एक मृगी वहाँ जल पीने आई, उस के जल पी लेने पर, सिंह का भयानक शब्द हुआ कि, जिससे डर कर वह मृगी पानी में कूद पडी, और उस का गर्भ (बच्चा) नदी में गिर गया, आप वह नदी के पार होकर भय और व्यथा से मर गई। उसे मरी हुई देख कर राजा उसके बच्चा को आश्रम में लाकर पोषने लगे, और उस में स्नेह से आसक्त हो गये। इससे मर कर मृग हुए, परन्तु तपोबल से स्मृति बनी रही, इससे जातिस्मर मृग हुए, मृगत्व का हेतु कर्म को भोग कर, जातिस्मर ब्राह्मण हुए। बहुत अच्छा

कुल में जन्म हुआ, आत्मदर्शी ज्ञानी योगी जन्म से ही हुए, इससे सङ्ग के भय से जड़ (अज्ञ) तुल्य रहने लगे, पिताके पढाने आदि पर भी पढना आदि पसन्द नहीं किये। पिता के मरने पर जो कोई काम करावें सो काम कर देते थे, और जड उन्मत्त के समान रहने लगे। उन्हें वैसा देख कर सौवीर राजा के क्षत्ता (सारथी) उन्हें देवी का बलिदान देना चाहा, तो देवी उस क्षत्ता को ही नष्ट कर दिया। फिर वह राजा उपदेश लेने के लिये कपिल जी के आश्रम में जाने के लिये तैयारी किया, तब सिपाही लोग उस महात्मा को भी मोटा देख कर वेगार में पकड लिया, और पालकी ढोने में लगा दिया। पापक्षय की इच्छा से वे भी कहारों के साथ पालकी ढोने लगे, परन्तु उस काम से नहीं परिचित होने के कारण, तथा भूमि देख कर चलने से, पालकी टेढी हो जाने पर, राजा कहा कि- संभार कर चलो, मोटे तो हो क्या इतना परिश्रम भी नहीं सह सकते हो। फिर ब्राह्मण ने कहा कि, ये स्थूलता आदि देह के धर्म हैं, मुझ में स्थूलता आदि नहीं हैं, इत्यादि। फिर राजा चकित होकर, पालकी से उतर गया, और पाँव पड़ के उनसे ही उपदेश लिया॥ नारदीयपु० पूर्व खं० अ० ४८ में, और श्रीमद् भागवत स्क० ५ अ० ७ इत्यादि में भी यह कथा विस्तार से है॥ भागवत में चक्रनदी (गंडकी) के पास पुलहाश्रम के उपवन में भरतराज का निवास लिखा है॥४॥

(५)

विष्णु पु० अंश १ अ० ११ में ध्रुव की कथा है कि- स्वायंभुव मनु के उत्तानपाद पुत्र थे। उत्तानपाद की प्यारी सुरुचि नामक स्त्री से उत्तम नामक पुत्र हुआ, और सुनीति नामक स्त्री से ध्रुव नामक पुत्र हुआ। कभी राजा उत्तम को गोद में खेला रहा था, उसी समय अपमानित सुनीति के पुत्र ध्रुव भी राजा के गोद में जाने के लिये यत्न करने लगे। सुरुचि के सामने राजा उनका आदर नहीं किया, और सुरुचि बोली कि,

तुम व्यर्थ यत्न करते हो, तुम दूसरी स्त्री के गर्भज हो, मेरा गर्भज पुत्र तुम होता, तो राजासन मिलता, इत्यादि। सो सुन कर क्रुद्ध होकर ध्रुव माता के पास गये। पूछने पर माता से सब बात कहे, फिर क्रोध की शान्ति के लिये मातः बहुत समझाया; परन्तु नहीं माने और प्रण किये कि, मैं वह यत्न करूंगा कि, जिससे सब जगत से पूज्य स्थान को प्राप्त करूंगा, ऐसा कह कर घर से निकल पडे। फिर बाहर जंगल में उन्हें सप्तर्षि मिले, (लिंगपु० अ० ६२) के अनुसार विश्वामित्र मिले, (श्रीमद् भागवत स्क० ४ अ० ८-९) के अनुसार नारद जी मिले, और ऋषियों को ध्रुव प्रणाम किये, ऋषियों ने कहा कि, इस चार पांच वर्ष की अवस्था में तुम्हें वैराग्य का क्या कारण है, तब उन्हों ने अपनी कथा कह सुनाई। ऋषि लोक चकित हुए, और भगवान् की भक्ति उपासना का उपदेश दिये, मन्त्र बताये कि, जिससे साधन करके ध्रुव राज्यसिद्धि आदि पाये, इत्यादि ॥५॥

(६)

शिवपु० सं० २ खं० २ अ० २४ आदि में शिवजी की स्त्री सती की कथा है कि- एक समय सती सहित शिवजी भूमि पर विचरते थे। तब दण्डकारण्य में सीता के विरहयुक्त रामचन्द्रजी को देखे, और दूर ही से लक्ष्मणजी सहित रामजी को प्रणाम करके, जय २ कह कर चल दिये। सो लीला देखकर मोहयुक्त सती बोली कि, आप स्वयं परब्रह्म सबका सेव्य प्रणम्य वेदान्तवेद्य हो। विरह व्याकुल ये दोनों कौन हैं कि, जिनको प्रणाम करके आनन्द में मग्न हो रहे हो, स्वामी को सेवक के प्रति प्रणाम करना उचित नहीं है। शिवजी बोले कि, वरदान के प्रभाव से (मैं विष्णु को वर दिया हूं कि तुम हम से पूज्य अजेय होंगे, इस वर के प्रताप से) मैं आदर से प्रणाम किया हूं। और ये रघुवंश में उत्पन्न दशरथ पुत्र राम लक्ष्मण हैं। लघुभ्राता शेष के अवतार लक्ष्मण हैं। बड़ा भाई राम पूर्णांश विष्णु हैं; भूमि भार हरण के लिये अवतार लिये हैं,

इत्यादि ॥ इन सब बातों को सुनकर भी सती के मन में विश्वास नहीं हुआ । तब शिवजी बोले कि, तुम राम की परीक्षा करके देख लो, तबतक मैं बट तर बैठता हूं । जिस प्रकार विश्वास हो सो करो । शिवाज्ञा पाकर सती चली और सीता का वेष बनाई कि, विष्णु होंगे तो मुझे समझेगें, अन्यथा सीता ही समझेगें, और राम के आगे गई । तब शिव २ जपते हुए रामजी विहँस कर सती को प्रणाम किये, और बोले कि, शिवजी कहाँ हैं, तुम अकेली वन में कैसे आई । यह रूप क्यों बनाई है, सो कहो । सती इस बात को सुन कर चकित हुई; शिवजी की बात को सत्य समझ कर लज्जित हुई । फिर अपना रूप धर कर, रामजी से बोली, कि गण सहित विचरते हुए शिवजी आपको दूर से प्रणाम कर के वट तर बैठे हैं । और वे आपको विष्णु बताये, तो मेरे मन में विश्वास नहीं हुआ । इससे उनकी आज्ञा से मैंने आपकी परीक्षा की है, और अब आपको विष्णु समझती हूं । तो भी मैं पूछती हूं कि, आप शिव के प्रणम्य कैसे हुए । तब रामजी बोले कि, एक समय शिवजी ने अपने लोक में विश्वकर्मा को बोलाकर, अपनी गोशाला में एक महान् भवन् बनवाये, सिंहासन बनवाये, फिर ब्रह्मा इन्द्रादि सब देवदेवी ऋषि आदि को बोलवा कर, राज्याभिषेक सामग्री को मँगवा कर, विष्णु को राज्याभिषेक किये । अपना सब ऐश्वर्य दिये । और भक्तवत्सल शिव बोले कि, आज से यह विष्णु मेरी आज्ञा से लोकेश और मेरा वन्दनीय हो गये, इत्यादि । तथा सब से कर्ता धर्ता सब से अजेय और हम से भी अजेय होंगे, इत्यादि । और उन्हीं की आज्ञा से मैं चार रूप से अवतार लिया हूं । तथा विष्णु गोप वेष से रहते हैं, अब तेरा दर्शन हुआ कल्याण होगा । इन वचनों को सुनकर सती को शान्ति हुई, परन्तु अपनी सीता रूपता को समझ कर शोक भी हुआ । चिन्तायुक्त सती शिवजी के पास में जाकर प्रणाम किया, परीक्षा का प्रकार पूछने पर नहीं कहा । शिवजी ध्यान से समझ कर, सती में स्त्री-भाव का त्याग किया । उसके बाद आकाशवाणी हुई कि, हे शिव ! तुम धन्य हो, तुम बिना ऐसा कौन कर सकता है, इत्यादि ॥

इसके बाद कथा है कि– प्रयाग में किसी यज्ञ में शिवजी सती के पिता दक्ष को प्रणाम नहीं किये थे, इससे दक्ष उन पर रुष्ट थे। इस कारण से दक्ष अपने यज्ञ में अन्य देवों को बोलाये, परन्तु शिवजी और सती को नहीं बोलाये। तो भी चन्द्रमा से पिता के यज्ञ का समाचार सुनकर, शिवजी की आज्ञा लेकर, पिता के यज्ञ में गई। और शिव क अपमान से प्राण का त्याग किया, इत्यादि ॥६॥

(शब्द ५९ के अन्तर्गत)

पार्वतीजी के पुत्र गणेशजी के विषय में अनेक प्रकार की कथा है। ब्रह्म वैवर्तपु० गणेशखं० की कथा है कि– पार्वती के साथ विवाह होने पर, शिवजी रतिपरायण हो गये। उनकी यह दशा देखकर सब देव चिन्ताग्रस्त हुए, और ब्रह्माजी सहित विष्णु भगवान् के पास गये। ब्रह्माजी भगवान् से समाचार सुनाये। भगवान् बोले कि, कोई चिन्ता की बात नहीं है। परन्तु सब दे मिलकर, ऐसा यत्न करो कि जिससे शिव का वीर्य भूमि में गिरे। यदि पार्वती की योनि में वीर्य गिरेगा, तो उससे उत्पन्न पुत्र सुर असुर सबका नाशक होगा। इस बात को सुनकर, देव सब शिवजी के दरवाजे पर जाकर, पृथक् २ पुकारने लगे कि, शिवजी क्या कर रहे हैं, इत्यादि। सो सुनकर शिवजी को उठने की इच्छा हुई, परन्तु पार्वती के भय से उठ नहीं सके। फिर भी देवताओं के भय समझ कर उठे, तब डर लज्जा सहित शिव के वीर्य भूमि में गिरा, उसको भूमि नहीं सह सकी, तब अग्नि में दे दिया। अग्नि शर का जंगल में दिया। वहाँ वह वीर्य बालक रूप हो गया। उससे कृतिका को प्राप्त हुआ। यही बालक स्वामी कार्तिकेय कहाया। शिवजी शीघ्र बाहर आये। और देव सब से कहा कि आप सब भगो। बाद में पार्वती आई तो किसी को नहीं देखने से क्रोध को रोक रखी। और शिव पार्वती कार्तिकेय को नहीं देखे।

इससे पार्वती पुत्र के लिये व्याकुल हुई, तब शिवजी पुत्र के लिये व्रत का आदेश दिये। व्रत की समाप्ति होने पर, फिर रतिपरायण हुए, तो स्वयं विष्णु भगवान् वृद्ध ब्राह्मण होकर पुकारा कि, मैं भूखा हूं, कुछ खाने को दो। फिर महादेव और पार्वती उठकर चले। और महादेवजी के बिन्दु आसन पर ही गिरा, उससे विष्णु के अंश रूप गणेश हुए। कुछ बात करके ब्राह्मण लुप्त हो गया। फिर पार्वती पुत्र की चिन्तायुक्त हुई। तब आकाशवाणी हुई कि, पार्वती शान्त होवो, घर में जाकर देखो बालक है, सो भगवान् स्वरूप ही है। पार्वतीजी ने उस पुत्र को घर में देखा, और शिवजी को भी देखाया। फिर उस पुत्र के उत्सव में देव सब आये, और शनि भी आये। ऋतुकाल के भंग करने से शनि को अपनी स्त्री का ही शाप था कि, जिसे तुम देखोगे, वह नष्ट हो जायगा। इससे शनि नीचे शिर करके पार्वती के पास में गये; तो पार्वती के पूछने पर, शिर नीचे करने का कारण पार्वती को सुनाये। परन्तु पार्वती को नहीं विश्वास हुआ, इससे बोली कि, मेरा पुत्र को देखो। फिर गले के पास में शनि के देखते ही गणेश का गला कट गया। तब हाहाकार मचा। फिर विष्णु भगवान् ने हस्ती के शिर को जोड़ कर, अपनी शक्ति से जीवित किये, इत्यादि।

इसके बाद शिववीर्य को अमोघ जान कर कार्तिकेय का खोज किया गया। तब देव सब कृतिका के घर से उन्हें लाये॥ एक समय दुर्वासा जी हरि का प्रसाद रूप माला इन्द्र को दिये थे, जिसके धारण का सर्वपूज्यता फल होना था। इन्द्र प्रमादवश उस माला को अपने हस्ती के गला में डार दिया था। उसी हस्ती का गला गणेश के गले में लगा। और कार्तवीर्य अर्जुन यमदग्नि ऋषि के आश्रम में गया, तब कामधेनु के बल से ऋषि उसका पूर्ण सत्कार किये। फिर अर्जुन को कामधेनु की इच्छा हो गई, और मुनि नहीं दिये। इससे वह मुनि को मार दिया। फिर मुनि के पुत्र परशुरामजी शिवजी से वर पाकर, उसे मार कर शिवजी का दर्शन के

लिये गये, और उस समय शिवजी पार्वती के साथ एकान्त में थे। इससे गणेशजी ने थोडा ठहरने के लिये कहा। फिर कुछ बाद होने पर परशुराम जी ने परशु से एक दांत तोड़ दिये, इत्यादि ॥

स्कन्दपु० खं०, ६ अ० १४२ में कथा है कि- एक समय सब मनुष्य तप ध्यान ज्ञानादि के प्रभाव से स्वर्ग में जाने लगे। तब इन्द्र शिवजी से प्रार्थना किये कि, सब मनुष्य मेरे स्थान को घेर रहे हैं, आप कोई उपाय करो कि, जिससे ऐसा नहीं होवे। तब शिवजी पार्वतीजी के तरफ देखने लगे। फिर पार्वती ने अपने देह के मैल से चतुर्भुज गणेश को उत्पन्न किया, और सब गणों के स्वामी बनाया, तथा हुकुम दिया कि, तुम सब शुभ कार्यों में विघ्न करना। स्वर्ग मोक्ष परायण हों, उनके कार्यों में भी विघ्न करना।फिर गणेश विघ्न करने लगे; इसीसे सब कार्य में उनकी पूजा प्रथम की जाती है ॥ महाभारत शान्तिपर्व अ० ४९ में भी यह कथा है ॥

स्कन्दपु० खं० १-२ अ० २७ में कथा है कि- देवताओं की स्तुति से दयायुक्त पार्वतीजी ने शरीर के उद्वर्तन के मल से हस्ती के मुखवाला मनुष्य को बनाया। फिर शिवजी पार्वती से बोले कि, यह तेरा पुत्र मेरे समान होगा, और भक्ति पूजा आदि रहित के कार्यों में यह विघ्न करेगा, इत्यादि ॥

स्कन्दपु० खं० २ ७ अ० ८ में कथा है कि- दक्ष ने यज्ञ की दीक्षा लेकर, शिवजी को बोलाने के लिये कैलास गया, तो भृत्यादि के प्रति स्वामी का उत्थान के निषेध समझ कर, शिवजी ने उत्थानादि नहीं किया। इस तत्त्व को समझने बिना दक्ष रुष्ट होकर चले आये। फिर शिवजी के रोकने पर भी सती उस यज्ञ में गई। और यज्ञ में शिवजी के भागादि को नहीं देखकर प्राण का त्याग किया, इत्यादि ॥ और तारकासुर को ब्रह्मांजी वर दिये कि, शिवजी का पुत्र से अन्य कोई तुम्हे नहीं मार सकेगा। उसने समझा कि, सती के मरण से स्त्री-पुत्र रहित शिव हैं। परन्तु फिर पार्वती द्वारा पुत्र होनेसे उसका नाश हुआ ॥ और पार्वती के अति रति परायण होनेसे गर्भस्राव होते जाता था। तब देव सब अग्निदेव को भेजकर रति में विघ्न किये कि, जिससे पुत्र हो, इत्यादि ॥

लिङ्गपु० अ० १०४ में कथा है कि- दैत्यादि भी यज्ञादि करके देवलोक में जाने लगे। तब देव सब शिवजी की स्तुति किये। १०५ फिर स्तुति प्रणाम करके स्थिर देव सबको देखकर, शिवजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। तब निर्भय होकर ब्रह्माजी बोले कि, शुभ कर्मादि में असुरों से निर्विघ्नता के लिये प्रथम आपकी प्रार्थना की गई थी। इस समय देवापकारी के यज्ञादि में विघ्न के लिये आपसे प्रार्थना है। इस बात को सुन कर शिवजी आप ही अपना एक दूसरा गणेशरूप शरीर बनाय लिये। वही गणेश महेश्वर के पुत्र कहाये, इत्यादि॥

भविष्यपु० पर्व १ अ० २२ में कथा है कि- स्वामी कार्तिकेय स्त्री पुरुष का लक्षण रूप एक ग्रन्थ बनाते थे। उसमें गणेश ने विघ्न किया, तब कार्तिकेय ने एक दांत उखाड़ लिया, और मारने के लिये भी तैयार हुए। तब शिवजी ने आकर रोका, और क्रोध का कारण पूछा। तब कार्तिकेय बोले कि, पुरुष का लक्षण लिखा हूं। स्त्री का लक्षण लिखने में इन्हों ने विघ्न किया है, यही क्रोध का कारण है। शिवजी बोले कि, मेरा लक्षण कहो। उन्होंने कहा कि, आप कपालपाणि होंगे, सो अविचार का फल होगा। यह सुनकर शिवजी उस ग्रन्थ को समुद्र में फेंक दिया। उसके बाद किसी देवसमाज में, ब्रह्मा और रुद्र को विवाद हुआ कि, मैं बड़ा हूं, मैं बड़ा हूं; फिर शिवजी ने कहा कि, मैं तेरी उत्पत्ति को जानता हूं, मुझे कोई नहीं जानता। तब ब्रह्मा के पञ्चम शिर ने हंस कर कहा कि, मैं तुमको जानता हूं। तब रुद्र ने नख से उस शिर को काट डारा, और वह कपाल शिवजी के हाथ में ही स्थिर हो गया। फिर दोनौ पुरुषों को उत्पन्न किये युद्ध होने लगा। आकाशवाणी से युद्ध की निवृत्ति होने पर दोनों का मेल हुआ। फिर ब्रह्मा समुद्र से उस लक्षणरूप ग्रन्थ को बनाने के लिये कहे, समुद्र बनाया, सो सामुद्रिक विद्या हुई, इत्यादि॥

भविष्यपु० पर्व० ३ अ० १२ में कथा है कि - प्रलय के बाद अनन्त सृष्टि देखकर महालक्ष्मी विस्मित हुई। और भगवान् से बोली कि, इसकी गणना हम से कैसे हो सकती है; तो सो सुनकर भगवान् स्वयं दो स्वरुप हो गये। एक चतुर्भुज गणेश हो गये, सोई सब सृष्टि की गणना के ईश्वर गणेश ईश्वर भव नाम से विख्यात हुए। और दूसरा जो निरञ्जन चतुर्भुज रहे सो योगियों के ध्येय परमात्मा रहे। एक बार ब्रह्मा से उत्पन्न होकर शिवजी ने गणेशजी की पूजा की, गणेश के प्रसन्न होने पर वर मांगा कि, मेरा पुत्र होवो। तब गणेश पार्वती के देह से उत्पन्न हुए, इत्यादि ॥

स्कन्दपु० खं० १ अ० १० में कथा है कि - हस्ती पर चढे हुए गणेशजी को शिवजी नहीं जानते थे कि, यह पार्वती का पुत्र है। इससे बहुत दिन तक युद्ध करने पर भी अजेय समझ कर हाथी सहित गणेश को त्रिशूल से मार डालने पर, पार्वतीजी के कहने से जीवित किये, और हाथी के मुख जोड़ दिये कि, जिससे गजानन हुए ॥

शिवपु० संहिता २ खं० ४ में कथा है कि - एक समय पार्वती से उनकी सखियों ने कहा कि, शिवजी के आज्ञाकारी गण बहुत हैं, हम सबके कोई नहीं है। इससे कोई उपाय करना चाहिये। तब पार्वतीजी ने अपने देह के मैल से सुन्दर बालक बना कर दरवाजे पर रखा, और हुकुम दिया कि, मकान के भीतर किसी को नहीं आने दो। इसके बाद शिवजी गये, तो उन्हें डंडों से मार कर हटा दिया। फिर सब देव उससे युद्ध किये, कोई पार नहीं पाये, तब शिवजी बहुत छलबल पूर्वक त्रिशूल से शिर काट दिये। फिर पार्वतीजी को पता लगा, तो प्रलय करने के लिये तैयार हुई। बहुत विनयादि करने पर बोली कि, यदि मेरा पुत्र जीवित हो जाय तब में मान सकती हूं। तब शिवजी ने गणों को हुकुम दिया कि, उत्तर तरफ

जाओ। जो प्राणी पहले मिले, उसका शिर ले आवो। गणों को दैवयोग से एक हस्ती मिला, उसी के गला काट लाये, उसे जोड़ कर देव सब जीवित किये, इत्यादि ॥ १ ॥

(शब्द १०३ के अन्तर्गत)

(१)

नारदमुनि के वदन छिपाने की कथा प्रथम भी आई है। और शिवपु० सं० २–१ अ० २ आदि में कथा है कि– एक समय नारदजी के मन में तप करने की इच्छा हुई, तब गंगाजी के किनारे, हिमाचल के ऊपर जहां महादिव्य आश्रम था, महागुफा थी वहां गये, और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अपरोक्ष अनुभव जिससे हो उस समाधि का अनुष्ठान करने लगे। आसन लगाकर मौन होकर तपनिष्ठ हुए। उन्हें इस प्रकार देखकर इन्द्र कांप उठे कि, यह मुनि मेरा राज्य चाहता है। फिर तप में विघ्न करने के लिये इन्द्र ने काम का स्मरण किया। काम शीघ्र उपस्थित हुआ, तब इन्द्र ने उसकी प्रशंसा करके समाचार सुनाया। तप में विघ्न करने के लिये आज्ञा दिया। तब अभिमान सहाय सहित काम जाकर सब उपाय किया, परन्तु ईश्वरानुग्रह स्थान के प्रभाव से मुनि के मन में विकार नहीं हुआ; क्योंकि उस स्थान में प्रथम शिवजी ने भी तप किया था, और उस स्थान को वर दिया था कि, इस स्थान में कामका प्रभाव नहीं चलेगा, इत्यादि। इससे हतोत्साह होकर काम इन्द्र के पास में गया। मुनि के प्रभाव को सुनकर इन्द्र चकित हुए। नारदजी भी वहां बहुत दिनों तक तप करके तप को पूर्ण समझ कर तप से उपराम हुए। शिव की माया से मोहित होकर काम का विजय के अभिमानी हुए। और अपनी महिमा सुनाने कैलास गये, शिवजो को प्रणाम करके गर्व सहित महिमा सुनाये। भक्तवत्सल शिव जी ने कहा कि, ऐसा कहीं नहीं बोलना, विशेष

कर विष्णु देव के आगे इस की चर्चा नहीं करना, पूछने पर भी यह बात कहने लायक नहीं है, इत्यादि। परन्तु शिव माया से मोहित मुनि इस उपदेश को नहीं मान कर ब्रह्म लोक में गये, ब्रह्मा जी को नमस्कार करके अपनी कथा सुनाये, उन्हों ने भी मना किया, परन्तु नहीं मान कर विष्णु लोक में गये। विष्णु भगवान् इन्हें देख कर, आगे आकर मिले। आगमन के कारण पूछे, मुनि सगर्व अपनी महिमा कहे। भगवान् भी इन की प्रशंसा किये, शिव और शिव की माया को प्रणाम करके बोले कि, नैष्ठिक ब्रह्मचारी आप हैं, आपको कामविकार कैसे हो सकता है, इत्यादि। नारद हंस कर बोले कि, आपकी कृपा है तो काम का प्रभाव क्या है। और वहाँ से विदा हुए। मुनि के जाने पर भगवान् ने अपनी माया से उन के मार्ग में ही सौ योजन का विस्तार युक्त एक नगर रचे। उस में शीलनिधि नाम का राजा, और उस की कन्या रचे, उस का स्वयंवर के सामान रचे। मुनि उस नगर को देख कर, उस राजा के पास गये। राजा इन का सत्कार करके कन्या का शुभाशुभ पूछा। नारद लक्ष्मीरूप उस कन्या को देख कर काम से मोहित हो गये, और सर्वेश्वर इस का पति होगा, इस प्रकार राजा से कह कर, विष्णु भगवान् के पास सौन्दर्य के लिये गये, भगवान् सब सौन्दर्य दिये, प न्तु मुख बानर का दिये, लौट कर मुनि उस नगर में आये, तब वहाँ ब्राह्मण रूप से दो रुद्रगण रक्षा के लिये रहते थे, सो मुनि के साथ लगे। और व्यंग रूप में सत्य बात कह दिये, परन्तु मोहवशता से मुनि समझ नहीं सके, बाद में श्रीमती कन्या भी जयमाला लेकर आई, सो इन का रूप देख कर क्रुद्ध हुई, और लौट गई, किसी राजाको भी नहीं वरी, बाद में भगवान् राजा रूप से आये, उन्हें वह वरी। फिर नारद जी शाप दिये कि, जिस रूप से कन्या को स्वीकार किये हो, सोई रूप धरना होगा, स्त्री के वियोगवश दुःख सहोगे। वानर सहायक होंगे, इत्यादि। रुद्रगण को राक्षस होने का शाप दिये, मोह मिटने पर पश्चात्ताप किये, और गणों को कहे कि, शिव का ही अपर शरीर से मृत्यु पाकर शाप से मुक्त होगे, इत्यादि ॥१॥

(२)

सभापर्व अ० ४३।१

'न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥'

इस महाभारत के अनुसार, यद्यपि कृष्ण भगवान् के गोद में आने ही से शिशुपाल के अधिक भुजा गिर गये थे । तथापि कबीर साहब उसे मायाशक्ति से उखाड़ना ही मानते हैं ॥

इसीसे स्कन्दपु० खं० ५-२ अ० ५ में कथा है कि- कुण्डिनपुर-निवासी भीष्मक राजा को आकाशवाणी हुई कि, तुम अपनी पुत्री रुक्मिणी को चतुर्भुज पुरुष के प्रति देना, उसके बाद शिशुपाल के पिता उसके पास गया, राजा पूछा कि, कौन चतुर्भुज है कि, जिसको आकाशवाणी के अनुसार पुत्री दिया जाय, उसने कहा कि, मेरा ही पुत्र चतुर्भुज प्रसिद्ध है । फिर राजा उसके साथ विवाह के लिये निश्चय करके सर्वत्र निमन्त्रण दिया, उस में भगवान् भी गये, और रूक्मिणी को हर कर ले चले, उस का भाई युद्ध के लिये तैयार हुआ, तो अपना चतुर्भुज रूप दिखाये, फिर वह प्रणाम करके लौट गया, इत्यादि ॥२॥



(कहरा १२ के अन्तर्गत)

(१)

शृङ्गी ऋषि की कथा महाभारत वनपर्व अ० ११० में है कि- विभाण्डक नामवाला काश्यप ऋषि महाह्रद में तप करते थे, उर्वशी अप्सरा को देख कर जल में ही उनका वीर्यपात हो गया, कोई मृगी पानी पीने आई, सो वीर्य सहित पानी पी गई, फिर उस अमोघ वीर्य से ऋष्यशृङ्ग हुए । वह मृगी प्रथम देवकन्या थी, उसे ब्रह्मा का शाप था

कि, मृगी होकर मुनि को पैदा करके शापमुक्त होगी, उस मुनि के शिर में सिंग भी था, इसीसे ऋष्यशृंग कहे जाते थे। वह मुनि पिता से अन्य मनुष्य को कभी देखे ही नहीं थे। इससे नित्य ब्रह्मचारी थे। इसी समय में दशरथ जी के मित्र अंगदेश के राजा लोमपाद के राज्य में अनावृष्टि हो गई, पुरोहित के साथ विरोध होने से ब्राह्मण सब उस समय राजा को त्याग दिये थे। पूछने पर एक मुनि राजा को उपदेश दिया कि, ब्राह्मण क्रुद्ध है, इसके लिये कुछ प्रायश्चित्त करो, और वनवासी ऋष्यशृंग को स्त्रियों द्वारा मँगावो, यदि तेरे राज्य में वह आयेंगे तो अवश्य वृष्टि होगी। अ० ११२–११३ फिर राजा वेश्याओं को धन देकर भेजा, वेश्या सब नौका पर फल मिष्टान्नादि लेकर गई, और मुनि के पिता की अनुपस्थिति काल में लोभाय कर मुनि को ले आई, उन के आते ही वृष्टि हुई, राजा शान्ता नामक लडकी से उन का विवाह कर दिया, और उन का पिता की शान्ति के लिये, उन के मार्ग में लोकों द्वारा सत्कारादि का बन्दोबस्त किया कि, जिससे वे भी आकर शान्ति पूर्वक लौट गये। और पुत्र से कह गये कि, पुत्र हो जाने पर, राजा का हित करके फिर वन में आना, इत्यादि ॥

वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग १० में भी यह कथा कुछ भेद सहित है। मुनि का शाप के भय से मन्त्री आदि ऋष्यशृंग को नहीं ला सके थे, तब राजा वेश्या द्वारा मँगवाया था ॥१॥

(२)

ब्रह्मा जी के शिर फोरने की कथा कूर्मपु० उ० अ० ३१ में है कि– एक बार ऋषियों ने ब्रह्मा से पूछा कि, परम तत्व क्या है, तब माया से मोहित होने के कारण अपने को ही परम तत्त्व बताये। फिर नारायणांश त्रिलोचन शिव प्रगट होकर बोले कि, तुम क्या आज उलटा कह रहे हो। मेरी शक्ति से आप सब कुछ करते हो, इत्यादि। विवाद होने पर सब वेद भी शिव को ही पर तत्त्व बताया, परन्तु ब्रह्मा नहीं समझे, और

कहने लगे कि, सदा स्त्री के साथ रहनेवाला शिव परतत्त्व कैसे हो सकते हैं; इतने में अमूर्त प्रणव स्वरूप शिव प्रगट होकर ब्रह्मा को समझाये कि, देवी आगन्तुक है, भगवान् अपने स्वरूप में सदा रहते हैं, इत्यादि। तो भी नहीं मानने पर भैरव रुद्र प्रगट होकर ब्रह्मा के पञ्चम शिर काट लिये, इत्यादि ॥

'ब्रह्मपु० गौतमी मा० अ० ४३ में कथा है कि– देवताओं से हार कर दैत्य सब भागे जाते थे, तब ब्रह्मा के पञ्चम गर्दभ का शिर बोला कि, तुम सब कहाँ भागे जाते हो, जो देव सब आते हैं, उन्हें मैं क्षण मात्र में खा जाऊंगा, इस बात को सुन कर देव सब विष्णु भगवान् से बोले कि, ब्रह्मा के इस नीच शिर को चक्र से काट दीजिये, विष्णु भगवान् ने कहा कि, इसे चक्र से काटने पर कटा हुआ भी यह चराचर को खा जायगा। शिव जी इसे काट कर धारण कर सकते हैं, फिर शिव जी ने उसे काट कर भूमि में धरना चाहे, तब भूमि बोली कि, इस पापमय शिर को मेरे ऊपर रखोगे, तो मैं रसातल चली जाऊंगी। इससे शिव जी को हाथ में ही रखना पड़ा, इत्यादि ॥

स्कन्द पु० अवन्तिका मा० ख० ५ अ० २ आदि में कथा है कि- ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर शिव जी वर मांगने के लिये कहा, तब ब्रह्मा ने वर मांगा कि, मेरा पुत्र होवो, तब शिव जी ने कहा कि, अच्छी बात है, परन्तु इस अनुचित वर के कारण मैं तेरा पञ्चम शिर कारण वश काटूंगा, उसके बाद ब्रह्मा हवन करते थे, उसी समय एक रक्तबिन्दु उनके ललाट से गिरा, उससे पंचवदन रुद्र प्रगट हुआ, सो ब्रह्मा के पञ्चम शिर काटा, इत्यादि ॥

स्कन्द पु० खं० ७ अ० २४८ में है कि, सृष्टि करते समय एक अद्भुत रूपवाली स्त्री उत्पन्न हुई, उसे देख कर ब्रह्मा जी मोहित हुए, और रति के लिये उससे प्रार्थना करने लगे, इतने में ही उनके पञ्चम गर्दभ रूप शिर उसी पाप से गिर गया, इत्यादि ॥२॥

(वसन्त ३ के अन्तर्गत)

(१)

राजा वेन की कथा विष्णुपु० अंश १ अ० १३ में है कि– वेन अपने मातामह के संग से दुष्ट चित्तवाला होकर, यज्ञादि सत्कर्मों को बन्द कर दिया। ऋषियों के समझाने पर भी नहीं माना, तब ऋषि सब अभिमन्त्रित कुश से उसे मार दिये। फिर राजा के विना प्रजा में उपद्रव देखकर, वेन के वामा उरु (जंघा) को मथे, उससे पापमय निषाद के प्रगट होने पर वेन के दहिना हाथ को मथे कि जिससे भगवदंशरूप पृथु हुए। और धर्म से पृथिवी तथा प्रजा का पालन किये, इत्यादि॥ पद्मपु० खं० २ अ० २८ आदि में पृथु की कथा है॥

हरिवंश १।५ में कथा है कि– वेन को शापादि से मार कर, ऋषियों ने प्रथम उसके वामभुजा को मथा, उससे ह्रस्व कृष्ण वर्ण के पापमय निषादादि प्रगट हुए। फिर दहिना भुजा के मथने पर, पवित्र पृथु राजा उत्पन्न हुए, कि जिनकी पुत्री पृथिवी कहाई। वेन और पृथु की कथा श्रीमद्भागवत स्क० ४ अ० १४ आदि में विस्तार से है। तहाँ भी उरु मथने से निषाद की उत्पत्ति का वर्णन है। और दोनों बाहु मथने से पृथु और उनकी स्त्री अर्चि हुई है॥१॥

(चांचर २ के अन्तर्गत)

(१)

नारद के मुख मांडने की कथा देवी भागवत स्क० ६ अ० २६ आदि में है कि– सृंजय नामवाला राजा की पुत्री दमयन्ती थी। नारद पर्वत ऋषि राजा के यहाँ चातुर्मासे में निवास किये। नारदजी के गान सुनकर दमयन्ती मोहित हुई, और नारद भी मोहित हुए। सो देखकर पर्वत ने

नारद को वानर मुखता के शाप दिये। नारद उन्हें स्वर्गाऽगमन के शाप दिये। फिर नारद के विवाह होने पर, दोनों परस्पर शापानुग्रह किये।

महाभारत शान्तिपर्व अ० ३० में कथा है कि- नारद पर्वत मामा भगिना थे। दोनों पृथिवी पर विचरते समय संकल्प नियम किये, कि शुभ वा अशुभ जो मन का भाव हो सो छिपाना नहीं। बाद में सृंजय राजा के यहाँ रहने लगे। राजा अपनी पुत्री को सेवा में नियुक्त किया। नारद को काम व्याप्त हुआ। परन्तु लाजके मारे पर्वत से नहीं कहे। पर्वत तपोबल और व्यवहार से समझे, तब नारद को शाप दिया, कि तुम नियम का भंग किये हो। इससे यह कुमारी तेरी स्त्री होगी। और विवाह के बाद आपका बानर का स्वरूप होगा। फिर नारद पर्वत को शाप दिये कि, तुम स्वर्ग नहीं जा सकोगे। फिर पर्वत इस लोक में विचरने लगे, नारद कन्या पाये। विवाह के बाद उनकी स्त्री उन्हें बानररूप देखने लगी। परन्तु उनमें प्रीतिवाली रही। फिर कभी पर्वत नारद को देखे, तब प्रणाम करके बोले कि, कृपा करके शापानुग्रह करें।" नारद बोले कि, प्रथम तुम शाप दिये हो, तब मैं दिया हूं। और तुम पुत्रतुल्य हो, तुम्हे शाप देना उचित नहीं था। बाद दोनों मुनि परस्पर के शापानुग्रह किये। तब नारद की स्त्री उन्हें दिव्यरूपवाला पुरुषान्तर समझ कर भगी। फिर पर्वत के समझाने से समझी। बाद में पर्वत स्वर्ग गये; नारद घर गये, इत्यादि ॥ १ ॥

(कथाओं से प्रतीत होता है कि, नारद पर्वत एक २ व्यक्ति सतयुग से द्वापरान्त तक नहीं थे; किन्तु नाम एक २ था, व्यक्ति अनेक रही। चरित्रों में भेद रहा। इसी प्रकार ब्रह्मा विष्णु महेश व्यास शुकादि के विषय में भी प्रतीति होती है। या एक २ व्यक्ति होते भी कवि कल्पित अनेक हो सकते हैं, अथवा उपाधियाँ हो सकती हैं। इससे चरित्र भेदादि में संदेह को जगह नहीं है। और व्यक्ति भेद से ही सद्गुरु कबीर साहब ने जिस नामवाला को कहीं सिद्ध महात्मा मुक्त कहा है, उसी नाम वाला को कहीं संसारी बद्ध भी कहा है, इत्यादि)

(साखी १८७ के अन्तर्गत)

विन्ध्य के चलते (बढने से) धरती बेहाल हुई थी। सो कथा देवी भागवत स्क० ११।२ इत्यादि में है कि- पर्वतों के मान्य विन्ध्य पर्वत के घर दैवयोग से नारदजी गये। तब विन्ध्य ने अतिथि सत्कार करके आगमन का कारण पूछा। नारदजी बोले कि, मैं सुमेरु और लोकपालों के पास से आ रहा हूं। फिर शोकयुक्त होकर, श्वांस लेने लगे। सो देखकर विन्ध्य ने पूछा कि, श्वांस लेने का क्या कारण है। मुनि बोले कि, हिमाचल शिवजी का श्वसुर होने से पूज्य है, कैलास शिवजी का स्थान ही है, निषध गन्धमादनादि भी अपने २ स्थान में श्रेष्ठ ही हैं; परन्तु सुमेरु को अभिमान है कि, ग्रह नक्षत्र सहित सूर्य मेरी प्रदक्षिणा करते हैं, इस कारण से सबसे मैं ही बड़ा हूं। मेरे समान कोई नहीं है। उसी अभिमानी के अभिमान को स्मरण करके उच्छ्वास आता है; परन्तु मुझे इससे क्या मतलब (फल) है। मैं अपने घर जाता हूं। ऐसा कह कर नारदजी ब्रह्मलोक चले गये। और विन्ध्य चिन्ता से व्याकुल हुआ, कि मेरु को किस प्रकार मैं जीतूं। फिर उसके मन में आया कि, बढ़कर सूर्य का मार्ग को मैं रोक दूं, कि जिससे अभिमान का जड़ कट जाय, और वैसा ही किया। फिर सूर्य के मार्ग रुकने से, सब लोकों में कोलाहल होने पर, देव सब शिवजी के पास गये, फिर वहाँ से विष्णुलोक में गये। तब विष्णु भगवान् के उपदेश से काशी में अगस्त्य मुनि के पास गये। तब अगस्त्य मुनि विन्ध्य के पास गये, वह नम्र होकर प्रणाम किया। और मुनि उसे लांघ कर दक्षिण गये, और कह गये कि, जबतक मैं नहीं लौटता हूं तबतक ऐसा ही रहो। स्कन्दपु० काशीखण्ड के आदि में ही यह कथा रूपान्तर से है।

पद्मपु० खं० १ अ० १९ में कथा है कि- मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य को देखकर, विन्ध्य ने सूर्य से कहा कि, जैसे आप मेरु की प्रदक्षिणा

करते हो, ऐसे मेरी भी करो। सूर्य बोले कि, मैं अपनी इच्छा से मेरु की प्रदक्षिणा नहीं करता हूं; किन्तु ऐसा मेरा मार्ग ही बना है, इत्यादि। तब विन्ध्य मार्ग रोकने के लिये उठा, फिर देवताओं की प्रार्थना से अगस्त्यजी वारण किये, इत्यादि। (यह कथा अगस्त्य तारा की दक्षिण स्थिति, विन्ध्य की पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक लम्बाई, ब्राह्मण की महिमा को लेकर प्रसिद्ध हुई है) ॥ १ ॥

‘वेद हुं केर कहल नहिं करई। जरत हिं रहै सुस्त नहिं परई॥’

रमैनी ६१

‘वेद कहै सो नहीं करै, समुझै और कि और।
चौरासी के धार में, कबहुं न पावै ठौर॥’

परिशिष्ट साखी ६५

वेद कहते हैं कि—

‘संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥’

ऋग्० १०।१९१।२। अथर्व० ६।६४।१

‘समानो व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहा सति॥’

ऋ० १०।१९१।४ अथर्व० ६।६४।३

‘यूयं धर्मेण संगताः संयुक्ता भवत। सत्यं हितं वदत। युष्माकं मनांसि संजानताम्-एकं समानमर्थमवगच्छन्तु, न विरुद्धम्। यथा पूर्वे देवाः संजानानाः सम्यक् पश्यन्तः स्वं भागमुपासते, नान्यस्य तथा कुरुत॥’

युष्माकमाकूतिः- संकल्पः- भावः, समाना-सरला-एकविधा भवतु। हृदयानि-अन्तःकरणानि-समाना-तुल्यानि भवन्तु।

मनः-मननं विचारः समानमस्तु। यथा सति-सज्जने, एतानि सुसहानि (सुलभानि) भवन्ति, तथा युष्माकं भवन्तु ॥ '

आप सब सम्यक् मिलकर चलें, बोलें; मन अच्छी तरह समझें, प्रथम के देव विद्वानादि जैसे अपना २ भाग ही लेते थे, तैसे करें ॥ आप सबके भावादि सरल निष्कपट तुल्य हों, जैसे सज्जनों में होते हैं ॥

'तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥'

ऋ० १०।१५४।२

तप के प्रभाव से जो विषयादि से अनाधृष्य (अपराजित) हैं। और स्वर् (स्वर्ग-सुख) पाये हैं, और जो महत् तप किये हैं वा करते हैं, तिनको ही प्राप्त हो, उनका ही संग करो ॥

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' कठ० १।१।२७

धन से तृप्त करने योग्य मनुष्य नहीं हैं ॥

'अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन।' बृहदा० २।४।२

धन से तो अमृतत्त्व (मोक्ष) की आशा नहीं है ॥

'तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।'

प्रश्न० १।१६

तिनको वह निर्गुण ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है कि, जिनमें कपट झूठ माया नहीं है ॥

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।'

मुण्डक० ३।५

यह आत्मा सदा सत्य तप सम्यक् ज्ञान ब्रह्मचर्य से पाने लायक है ॥

'स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥'

मुण्डक० ३।२।१

वह आत्मज्ञानी इस ब्रह्म स्वरूप परम धाम को जानता है, कि जिसमें संसार निहित (स्थापित-स्थिर) भासता है, तोभी जो शुभ्र (शुद्ध) है॥ जो धीर उस ज्ञानी पुरुष की उपासना भक्ति करते हैं, सो इस शुक्र (वीर्य-रेतः) को नहीं पाते हैं; शरीर रहित मुक्त होते हैं, इत्यादि॥

'य ईं चकार न सो अस्य वेद, य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातु र्योना परिवीतो, बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥'

जो मनुष्य ईं (गर्भ) किया, विषयोपभोग से गर्भ के कारण हुआ, सो इस गर्भ के दुःखादि को नहीं जानता है। जो इस गर्भ को देखा सो तिससे हिरुक् (दूर) ही रहा, वह गर्भ माता की योनि में परिवीत (आवृत) रहता है॥ इससे बहुत प्रजा वाला निर्ऋति (यमलोक) में गया॥

'बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते, इति परिव्राजकाः।' निघण्टु० १।१२।८

'न विजानामि यदि वेदमस्मि निरायः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा माऽऽगन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥'

यदि वेदं (यद्यपीदं) यह विश्व मैं ही हूं, तो भी तैसा नहीं जानता हूं। जिससे निराय (मूढ चित्त) हूं, अविद्यादि से संनद्ध (बद्ध) होकर, वा मन से बद्ध होकर मन के साथ चलता हूं। जब ऋत (ब्रह्म) की प्रथमजा (प्रथमा अनुभूति) माऽऽगन् (मुझे मिलेगी) आदित (तभी) इस वेदवाणी का भाग (आनन्द) को पाऊंगा॥ अन्तर्मुख-वृत्ति से ही आनन्द होता है, अन्यथा नहीं॥ ऋ० १।१६४।३७। अथर्व० ९।१०।१५

'अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभितो अमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचिना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न चिक्युरन्यम्॥'

ऋ० १।१६४।३८ अथर्व० ९।१०।१६

अमर्त्य (आत्मा) मर्त्य (देह) के साथ सयोनि (समान स्थान-

वाला-परिच्छिन्न) होकर, और स्वधा (भोग देह माया) से गृभित (गृहीत) होकर, अपाङ (नीचे) और प्राङ् (ऊपर) एति (जाता है) और ता (तौ) वे दोनों (देह और आत्मा) शश्वन्तौ, (अपृथक् होते भी) विषूची (विरुद्ध स्वभाववाले) हैं। और वियन्तौ-विरुद्ध गति प्राप्तिवाले हैं। तो भी मनुष्य अन्य (देह) को निचिक्युः (जानते हैं), आत्मा को नहीं जानते, इत्यादि ॥

'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥'

ऋग्० ८।५८।२

जैसे एक ही अग्नि बहुधा दीप्त होती है, एक सूर्य (ईश्वर वा देव) जगत् गोलकादि में अनुप्रविष्ट होकर बहुधा प्रादुर्भूत होता है, एक ही उषा (प्रभातदीप्ति) इस सब जगत को प्रकाशती है, तैसे ही एक ब्रह्म इस सब रूप हुआ है, और सब को प्रकाशता है, इत्यादि ॥

'स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ॥'

श्रीमद्भा० ३।२८।४३

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनु न तदामो अश्नुते, शृतास इद्वहन्तस्तत्समासते ॥'

ऋ० ९।८३।१॥ साम० ५६५।८७५

हे ब्रह्मणस्पते ! (वेद विद्यादि पालक) प्रभो ! तेरा वितत (व्यापक) पवित्र स्वरूप है, इससे प्रभु होकर सब का गात्र (देह) को सर्वतः व्याप्त होते हो। परन्तु तप से अतप्त देहवाला आम (अपक्क) मनुष्य उसको नहीं पाता है, किन्तु शृतास (पक्क) ही साधनों को पावता हुआ उस स्वरूप को पाता है ॥

'यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥'

ऋ० ५।४५।१४

जो मोहादि को त्यागा जागा, उसी को ऋक् चाहते हैं, साम मिलते हैं। और उसी को यह सोम (विद्यायुक्त ईश्वर) कहते हैं कि, मैं तेरा सख्य (मित्रताभाव) में न्योक (नियत स्थानवाला अचल) हूं, इत्यादि ॥

'स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षे याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥' अथर्व० १३।३।१३

स्मरणादि से वरुण (पाप तापादि वारक) वह परमेश्वर सर्वात्मा ही सायंकाल में दीप्त प्रकाश युक्त अग्नि होता है, प्रातःकाल में उदय होता हुआ मित्र नेत्रानुग्राहक होता है। वही सविता (जगत् स्रष्टा) होकर अन्तरिक्ष में जाता है, और इन्द्र होकर मध्य आकाश में तपता है ॥

'न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः। इदं यद् विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ॥' ऋ० १०।१०७।८

भोजयिता न मरे न व्यर्थ (निकृष्ट गति) पाये न नष्ट होता है, न वे भोजयिता व्यथित होते हैं। और यह जो विश्वभुवन स्वर्ग है, यह सब उनको दक्षिणा ही देती (प्राप्त कराती) है ॥

'अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरति हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः।' निरुक्त १।८

अध्वर यह यज्ञ का नाम है, तहाँ ध्वरति पद गत ध्वृ धातु हिंसा अर्थ में है, उसका निषेध रूप ही अध्वर (यज्ञ) है, इत्यादि ॥

'स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥' ऋ० ५।५१।१५

सूर्य चन्द्रमा के समान दीप्त शान्त होकर कल्याणपथ का अनुसरण

करेंगे, और दानशील अहिंसक निष्कपट विद्वान के साथ पुनः २ संगत होंगे, मिलेंगे; कृपण हिंसकादि से नहीं मिलेंगे, न मिलना चाहिये ॥

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥'
शुक्लय० १९।३०

यमनियमादि महाव्रत से ज्ञानयोगादि की योग्यता रूप दीक्षा पाता है। उस दीक्षा से श्री उदारता विद्यादि रूप दक्षिणा पाता है। और दक्षिणा (दक्षिणया) से श्रद्धा श्रत् (सत्य) को धारण करनेवाली निर्मल बुद्धि विश्वास) पाता है, उससे सत्य ब्रह्म प्राप्त होता है ॥

'यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणः, त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥'
शुक्लय० ८।३६

जिस सत्यात्मा ईश्वर से जात (उत्पन्न) वा अन्य (अजात) कोई पर (भिन्न सत्तावाला वा उत्तम) नहीं है। वा जात प्रपञ्च जिससे पर (उत्तम) अन्य (भिन्न) नहीं है।

'एकं वा इदं विबभूव।' ऋ० ६।४।२९
'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।' ऋ० १०।९०।२
'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।'
ऋ० १९।१२९।३

वायु आदि रहित स्वधा (माया) सहित वह एक ही था, उससे अन्य पर कुछ नहीं था ॥ जो परमात्मा सब भुवन (लोक शरीरादि) में पैठा, वही षोडशी (षोडश कला उपहित) प्रजापति, प्रजा (उत्पन्न मूर्ति) से संरराणः (सम्यक् रमता हुआ) अग्नि सूर्य चन्द्ररूप तीन ज्योतियों को सेवता प्रकाशता सिद्ध करता है ॥

'कः स्विदेकाकी चरति, क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं, किं वाऽऽवपनं महत् ॥'

'सूर्य एकाकी चरति, चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥'

शुक्लय० २३।९-१०

सूर्य (आत्मा) ही एकाकी चरति (रहता जानता है) । पुनः (फिर) उससे चन्द्रमा उत्पन्न होता है । हिम (अज्ञान मोह) का ज्ञानाग्नि भेषज (नाशक) है । भूमि (मनुष्य देह) महत् आवपन (मोक्षफल के बीज़ साधनों के वपनस्थान) है । तथा मर्त्यलोक कर्मबीज प्ररोह का स्थान है, इत्यादि ॥

'दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा, सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥' शुक्लय० ३६।१८

'द्यौः शान्तिः ।' शु० ३६।१७ इत्यादि में वर्णित शान्ति मुझे मिले, और हे शान्ति ! विदृत (विदीर्ण भिन्न भावयुक्त) होने पर भी मुझे ऐसा तुम दृंह (दृढ अभिन्न करो) कि जिससे सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, और सब प्राणी को मैं मित्र की दृष्टि से देखूं । ऐसा होने पर मित्र की दृष्टि से ही हम देखेंगे, इत्यादि ॥

प्रलय सृष्टि आदि का सामान्य रूप से वर्णन हो सकता है, विशेष रूप से नहीं । इसीसे ऋग्वेद का मन्त्र कहता है कि—

'क अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव ॥'

अद्धा (सत्य) रूप से कौन जानता है, वा कौन यहाँ विशेष रूप से कह सकता है, कि यह सृष्टि किस निमित्त उपादान कारण से हुई है । सर्वज्ञ माने गये देव भी इसकी विसर्जन (सृष्टि) से अर्वाग् (पश्चात्) सिद्ध हुए हैं । अथ (अतः) इससे जिससे हुआ है उसको कौन जान सकता है ॥ ऐसा होने पर भी सत् चिद् आनन्द अनन्त अप्रमेय आत्म-

स्वरूप से मोक्ष हेतु ज्ञान का भी वेदादि में वर्णन है; क्योंकि जिस ज्ञान से प्रबल राग द्वेष मोहादि का अभाव होता है; सोई ज्ञान शान्ति सुख मोक्ष का हेतु है। ईश्वर माया आदि का विशेष ज्ञान शान्ति आदि का हेतु नहीं हैं। और इन्हें अनिर्वाच्यादि समझ कर शान्त हो जाय तो कोई हानि नहीं हैं। पिता के जन्मादि वा निज जन्मादि को विशेष रूप से पुत्र नहीं जाने, तो कोई हानि नहीं है। किन्तु पिता के साथ अपने सम्बन्ध कर्तव्य, अपना स्वरूप को नहीं जाने तो हानि है, वही बात ईश्वर के साथ जीवों की है। और स्वरूप को जानना अति दुर्लभ है। श्रुति कहती है कि—

'शृण्वन्तो बहवो यं न विद्युः।' कठ० १।२।७
'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्।' कठ० २।४।१

ऋग्वेद अ० २ का मन्त्र है कि—

'अनच्छये तुरगातु जीव मेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येनासयोनिः॥'

तुरगातु (शीघ्रगामी) अनत् (श्वांसवाला) एजत (कम्पादिकर्ता) यह जीव (जीवनयुक्त देह) शये (शयन करता है, रहता है), और समाधि आदि काल में पस्त्यानां (गृहों के) मध्य (बीच में) ध्रुवं (निश्चल) आ (तिष्ठति)। और मृतस्य (मृत शरीर के सम्बन्धी भी) जीव, मर्त्येन (मृत देह के) साथ, असयोनिः (असधर्मा) अमर्त्य (अमरणधर्मा, नित्य) ही रहता है। और स्वधाभिः (कर्मानुसार प्राप्त अन्नों से) चरति (वर्तता है)। इससे जीव देह का विवेक बताया गया है। अथवा अनत्, एजत्, तुरगातु शरीरं, ध्रुवं जीवमहं शये। अर्थात् जीव सहित शरीर के श्वांस कम्प गतियुक्त होने पर भी मैं सर्वात्मा अन्तर्यामी स्वरूप से, जीव के देहरूप घरों में आशये (अच्छी तरह शयन करता हूं, रहता हूं)। यह सद्गुरुरूप परमात्मा की उक्ति है॥ और

अमर्त्यं (नित्य) जीव (प्राणी) मर्त्यं (प्राण रहित) वस्तु की स्वधाभिः ('भोज्यादि से) मर्त्य देहादि के असयोनिः (असधर्मा विवेकी) होकर विचरता है, सुखी होता है। और प्राणी की हिंसा द्वारा स्वधादि की प्राप्ति से अविवेकी दुःखी होता है, इत्यादि॥

इन वेदवचनों के अनुसार कर्मादि नहीं करने से, और नहीं समझने से जीव दुःखी, स्थिरता रहित होता है। भर्तृहरि कहते हैं कि,

'तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं,
क्षुधार्तः शाल्यन्नं कवलयति सूपादिसहितम्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं,
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥'

पिपासा से मुख के सूखने पर शीत मधुर जल पीता है, भूख से दुःखी होकर दालादि सहित भात खाता है, कामाग्नि के प्रदीप्त होने पर स्त्री का गाढ आलिङ्गन करता है। इस प्रकार व्याधि का प्रतीकार (निवारण) को ही सुख समझकर मनुष्य भ्रान्त होता है। सच्चिदानन्द को नहीं समझता है॥

'दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव।
सर्वं यस्मान्मधुरं तं मधुरतरं को न जानाति॥ १॥
द्रविणं दयितं सुतोऽपि दयितः शरीरं दयितं युवतिर्दयितैव।
सर्वं यस्माद्दयितं तं दयिततरं को न जानाति॥ २॥
अधरं रुचिरं नयनं रुचिरं दन्ता रुचिरा नासाऽपि रुचिरैव।
सर्वं यस्माद्रुचिरं तं रुचिरतरं को न जानाति ॥ ३॥ कविः

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।' तै० ब्रा० ३।१२।९।७
'त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम्।

'अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥'

श्रीमद्भा० १२।६।३३

'अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत् ।
कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एवहि कारणम् ॥'

श्रीमद्भा० ८।१८

'आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृङ् मुनिः ।
ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥'

श्रीमद्भा० ७।१४।४४

अज्ञानादि से ही दधि आदि में स्वतन्त्र मधुरता, धनादि में प्रियता, अधरादि में रुचिरता भासती है। अतिमधुर अतिप्रिय अतिसुन्दर आत्म-परमात्मतत्त्व ज्ञान' विराग समाधि सुखादि को कोई नहीं जानता है॥ और वेदादि रूप सदुपदेश के अज्ञानी उस विभु आत्मा को नहीं समझता है। और जिसको देह गेहादि से जन्य अहं ममादि रूप दुर्जनता नहीं रहती है, वही वेदवेत्ता होकर, जो विष्णु (ब्रह्मात्मा) का परमपद (स्वरूप) है, उसको प्रत्यक्ष जानता है॥ परन्तु विष्णु की माया का बल आश्चर्यरूप है, कि जिससे यह जगत् स्नेह (राग-ममता) से बँधा है, कौन किसके पति पुत्रादि हैं। इस ममता में मोह (माया) ही कारण है॥ सत्य दृष्टिवाला मुनि उस माया को आत्मानुभव में हवन करे, तब आत्मानुभव से आत्मा में स्थिर इच्छादि रहित होकर, सब क्रियादि से उपराम होय, इत्यादि॥

हनूमान गुरुभक्ति से, वेदतत्त्व को जानि।
सुखमय जग विचरैं सदा, तजै भेदमय ग्लानि॥१॥

सुकरम से कुकरम हनै, ज्ञानि भक्ति [1]तम हानि ।
करि विचरै वा थिर रहै, बनै न कहुँ अभिमानि ॥२॥

यही मोक्ष औ सुख सदा, विनु इच्छा स्थिति जोय ।
मोह द्रोह जामें नहीं, सदा प्रगट हरि सोय ॥३॥

कः शत्रुर्वेद खेददानकुशलो [2]दुर्वासनानां चयः ।
किं मित्रं सततोपकाररसिकस्तत्त्वावबोधः सखे ॥१॥

(जगन्नाथ कविः)



---

१ ज्ञानभक्ति से अज्ञान अभिमानादिरूप तम की हानि (नाश) करके विचरे वा समाधिस्थ होय, इत्यादि ॥

२ दुःख देने में चतुर दुष्ट वासनाओं का समूह है, और सदा उपकार में रसिक (प्रेमी) तत्त्वज्ञान है, इत्यादि ॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सद्‌गुरु कबीर साहब और उनका
रहस्यवाद

गणपतिं गणनायकमाश्रये, भवहरं च भवं शिवमद्वयम् ।
परगुरुं परमेश्वरमव्ययं, नहि यतोऽस्ति परं किमपि क्वचित् ॥१॥

यं चाक्षरं सुमतियोगविरागगम्यं,
ब्रह्मेश्वरादिनिगदैर्निगदन्ति सन्तः ।
तं पावनं स्वमनुभिः खलु पावयन्तं,
रामं ,भजामि भजतां भवमुक्तिहेतुम् ॥२॥

अभ्यासयोगसुनृतादिमहाव्रतैश्च,
यं सत्यमादिपुरुषं पुरुषा लभन्ते ।
तं सर्वपूर्णवपुषं पुरुषं पुराणं,
रामं भजामि भजतां भवमुक्तिहेतुम् ॥३॥

योगीन्द्रयोगजतनुं गतसर्वमोहं,
द्रोहाभिमानजगुणैर विलिप्तदेहम् ।
ध्येयं विशुद्धहृदयैः कुजनैरलभ्यं,
रामं गुरुं हि सततं मनसा स्मरामि ॥४॥

धर्माधर्मविमृष्टशुद्धहृदयं धर्मावतारं ध्रुवं,
धर्मध्यानसमाधिलभ्यधिषणं धर्मस्य रूपं परम् ।
कान्तं कोमलकामकामिततनुं कल्याणकल्पद्रुमं,
वीरं विश्वविजेयसर्वरिपुके धीरं कबीरं भजे ॥५

श्रीसद्गुरु कबीर साहब स्वाभाविक सिद्ध थे, परम विज्ञानयुक्त थे, यह बात परंपरागत है, और उनके कैक वचनों से भी यही बात सिद्ध होती है। प्रगट रूप से संसार में उनकी स्थिति काल में अविवेकी राजा प्रजा से अनुचित व्यवहार उनके साथ किया गया है। तहाँ स्वाभाविक सिद्धि से ही सद्गुरु विजय पाये। और उनका ज्ञान भक्ति आदि का स्वरूप स्वाभाविक होते हुए भी परंपरागत ज्ञान भक्ति धर्म के सत्मार्गों से अविरुद्ध था। परन्तु कल्पित मिथ्या आडम्बरों (विस्तारों) के कट्टर विरोधी थे। लोकहित के परम उपयोगी थे और हैं। सम्भव है कि, अधिकारी का अभाव से तथा कालचक्र की ऊग्रता से, उनसे निर्दिष्ट मार्ग कुछ रूपान्तर का धारण कर लिया हो। जैसे वैदिक मार्गादि में भी आज परिवर्तन के समान प्रतीत होता है। परन्तु सद्गुरु का कहना है कि,

'वेद कहै सो नहिं करै, समुझै और कि और।
चौरासी के धार में, कतहु न पावै ठौर॥'

परिशिष्टसा० ६५

'वेद नकल है जो कोइ जानै।
जो समझै तो भलो जु मानै॥'

रमैनी ६८

वेद का उपदेश को नहीं समझ मानकर, जो उलटा और कुछ समझता है, सो चौरासी लाख योनि रूप संसार के धारा में बहता है। परन्तु वह वेद भी संसार वन का ही नकल है, संसार के समान अगम अपार है, जो कोई मनुष्य विवेकी सद्गुरु द्वारा वेद के सार तत्त्व को जान कर विचारता है, समझता है, वही मनुष्य सत्य तत्त्व को मानता है, आत्मनिष्ठ होता है।

सद्गुरु कबीर साहब के प्रगट का स्थान काशी से पश्चिम लहरतारा स्थान अब भी वर्तमान है। प्रथम वहाँ घोर जंगल था

कि, जहाँ महापुरुष प्रगट हो सकें। उस स्थान में जिस नीरु नीमा को मिले थे, उसका स्थान रूप नीरुटिल्हा कबीर चौरा के पास ही वर्तमान है, वहाँ नीरु नीमा के समाधि स्थान भी हैं। और,

'निझरु नीरु जानि परिहरिया।' रमैनी ३१

निझरु (अविनाशी तत्त्व) को नीरु ने समझ कर भी त्याग दिया। इस अक्षरार्थ के अनुसार सद्गुरु ने नीरु को विवेक भ्रष्टरूप से वर्णन किया है। किसी २ महात्माओं के कथनानुसार नीरु को चेताने के ही लिये उसके घर साहब आये थे। नीरु पूर्वजन्म के भक्त थे, इस में संशय नहीं है। सद्गुरु का वहाँ मिलना तक ठीक है; परन्तु उससे पहले का वृत्तान्त किसीको पता नहीं है कि, कहाँ से आये, कैसे आये। बात यह है कि,

'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।'

मिलने के बाद नीरु पुत्र मान लिये, और लोक भी अपनी भावना के अनुसार मानने लिखने लगे, और अब भी लिखते ही जाते है। परन्तु साधनानुष्ठान विना अद्भुत सिद्धि, अद्भुत रीति से शरीर का त्याग, शरीर को त्यागने पर उसका लुप्त हो जाना आदि उन में अलौकिकता सिद्ध करते हैं। शरीर त्याग के बाद कैक महात्मा से मिलन भी उनकी अलौकिकता में ज्वलन्त प्रमाण है। बहुत क्या कहा जाय, श्रद्धालु शुद्ध हृदयवाला भक्तों को अब ही दिव्य देह से दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। कारण है कि, सद्गुरु साहब निवृत्ति मार्ग के प्रधान अधिकारी हैं, और शास्त्रादि के अनुसार अधिकारी अवतारी पुरुष एक कल्पपर्यन्त अपने सूक्ष्म स्वरूप में वर्तमान रहते हैं, भक्तों की भक्ति के अनुसार समय २ पर प्रगट होते हैं, यह परम सत्य सिद्धान्त है; बहुधा अनुभूत है, प्रगट है ॥

सद्गुरु का ज्ञानादि मार्ग वेदादि सत्शास्त्र के अनुसार होने से अनादि है। इसीसे उन्होंने कहा है कि,

'लाई लावनहार की, जाकी लाई पर जरै।
बलिहारी लावनहार की, छप्पर बांचै घर जरैं॥'
साखी ७०

परंपरा से लाया (प्राप्त) ज्ञान धर्मादि मार्गों को शिष्यों के प्रति प्राप्त करानेवालों की बलिहारी है कि, जिनकी लाई हुई ज्ञानाग्नि से पर (अनात्मभेद) जल जाय, और उसी लावनहार की सच्ची बलिहारी है कि, जिनकी ज्ञानाग्नि से छप्पर (छाया आनन्दप्रद) व्यापक ब्रह्मात्मा बच जाय, और तीन देहरूप घर जल जायँ। क्योंकि,

'निगम रसाल चार फल लागा, तामें तीन समाई।' शब्द ४२

वेदरूप आम्रवृक्ष में अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों फल निरूपित हैं; परन्तु उन में तीन मायिक नश्वर हैं। एक ब्रह्मात्म स्वरूप मोक्ष ही सत्य है, सो अविवेकी के लिये दूर से दूर है, इत्यादि। यद्यपि सद्गुरु को वेदादि पढने का अवसर नहीं मिला था, तथापि वेदों के गूढ तत्त्व का विचार, उसके विपरीताचारी पर उनका फटकार बीजक में पूर्ण रीति से है। (देखो, संस्कृत टीका आदि सहित बीजक।)

'शीर सींग कछुवो नहिं वाको, पूंछ कहाँ वह पावै।
सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिर बनौरी गावै॥'
शब्द ७२

उस परमात्मा को शिर आदि ध्रुव अंग नहीं हैं, तो वह अध्रुव अंग पूंछ कहाँ पा सकता है। अर्थात्

'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।' तैत्तिरीय २.५

'चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः।'

ऋ० मं० ४ अ० ८ अनु० ५ सूक्त० ५

इत्यादि कल्पित स्वरूप का वर्णन है। ब्रह्म में आश्रयता से पूंछपन कल्पित है। इसी प्रकार शिंगादि भी कल्पित हैं, सावयव वस्तु सत्य नहीं है, तो भी पण्डित लोक सावयव को ही सत्य प्राप्य मानकर, उसकी

प्राप्ति के लिये कर्मादि व्यवहार में लगते हैं। और बड़े २ कवि भी बनौरी (कल्पित) को ही सत्य गाते हैं। यह आश्चर्य की बात है। जिन्हें वैदिक ज्ञान के लिये गुरु, अध्ययनादि की आवश्यकता नहीं हो, उन्हें शरीर के लिये भी माता पिता आदि की आवश्यकता नहीं हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, और माता पिता की आवश्यकता हो तो कोई हानि नहीं है। माता पिता विना प्रगटित भगवान् नृसिंह और माता पिता से प्रगटित भगवान् रामचन्द्र में कुछ भेद नहीं है। गर्भगत वामदेवजी को गुरु विना ज्ञान का वर्णन है। और शुकदेवजी विना उपदेश के विरागी थे। सिद्ध महात्मा अवतारी पुरुषों को अपनी शक्ति समझ से नापना अच्छा नहीं होता। सिद्ध अवतारी माता पिता विना भी अनेकों शरीर धर सकता है; परन्तु इस समय लोक ज्यादा अपनी बुद्धि से सबको नापना और कुछ भली बुरी कहना लिखना आरम्भ किये हैं, जिस लेख का भी ज्यादा द्रव्य उपार्जन उद्देश्य लक्ष्य हो गया है। इससे किसी प्रकार रोचकता होनी चाहिये, सत्य झूठ का कोई विचार नहीं रखते हैं। सद्गुरु साहब के कुछ समीप काल में महात्मा नाभादासजी हुए हैं, सो केवल सद्गुरु की महिमा और बीजकादि ग्रन्थ में वर्तमान रमैनी शब्द साखी आदि को ही हिन्दू तुरुक दोनों के लिये सम प्रमाण रूप बताये हैं। और बड़ी उदारता पूर्वक दो तीन स्थान में प्रसंग से सद्गुरु का वर्णन किये हैं, जिसमें स्त्री पुत्रादि कहीं नहीं लिखे हैं, न हिन्दी के लेखक पुराणे महात्मा ही स्त्री पुत्रादि की चर्चा किये हैं। परन्तु अबके लेखक स्त्री आदि का स्वप्न देखने लगे हैं। कोई तो दो स्त्री का वर्णन करते हैं, तो कोई उसमें एक को वेश्या बताते हैं। यद्यपि यह बात पाप अविवेकमय है, तथापि स्वतन्त्र मुण्ड का तुण्ड को रोक कौन सकता है। देखिये,

' कहहिं कबीर सुनहु नर लोई। भूतवक पूजले भूतवे होई ॥ '
शब्द ५७

यह बीजक का वचन है। इसीकी छाया से कोई महात्मा लिखे हैं कि,

'कहहिं कबीर सुनहु री लोई। अब तेरी परतीति न होई॥'

बीजक वचन का अर्थ है कि, हे नर लोको! सुनो भूत (प्रेत) को पूजनेवाला भूत होता है। उसके रूपान्तर का अर्थ होता है कि, कबीर साहब अपनी लोई स्त्री से कहते हैं कि, अब तेरा विश्वास नहीं होता है।

'कहइत मोहि भेल युग चारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥
वंशहि आगि लगि वंशहि जरिया। भरम भुला नल धंधे परिया॥'

रमैनी ५०

साहब का कहना है कि, हिन्दू तुरुक के प्रति गुरुरूप से कहते मुझे चार युग हो गये, कि हिंसा आदि को त्यागो, मोह ममता आदि को छोड़ो; परन्तु कोई समझता नहीं है; किन्तु ममतापूर्वक कहता है कि, मेरा पुत्र है, मेरी नारी है, इत्यादि। इससे जैसे वांस के रगड से अग्नि उत्पन्न होती है, और उससे वांस जल जाते हैं, तैसे भ्रमयुक्त ममता व्यवहार करनेवाले नष्ट होते हैं, तोभी भ्रम से रास्ते को भूलकर उसी व्यवहार में लोक पड़े हैं, इत्यादि॥

इसी रमैनी का ऐसा अर्थ लगाकर कि, कबीर साहब कहते हैं कि, मुझे कहते चार युग हो गये; परन्तु मेरा पुत्र मेरी स्त्री ये सब कुछ समझते ही नहीं हैं। फिर उनकी स्त्री पुत्रादि लोक सिद्ध करने लगे। गुरु'ग्रन्थसाहब में कबीर साहब के नाम पर जो वचन हैं, उनमें बहुत वचन कबीर साहब के वचनों की छाया लेकर संग्रहकर्ता गुरु अर्जुनदेव से रचे गये हैं। जिनमें साफ पंजाबी भाषा वर्तमान है और कुछ अंश बीजक के आनुपूर्वी नहीं लेकर कैक शब्दों से कुछ २ भाग लेकर रचे गये हैं। उनमें पञ्जाबी भाषा कम है, सो विचारमान देखकर सहज में समझ सकते हैं। चाहे वे सब कबीर साहब के ही वचन हों तौ भी भाषा और भाव में देशभेद से बहुत भेद हो गया है। हो सकता है कि, जबसे संग्रह किया गया है, तब से भेद नहीं हुआ हो; परन्तु संग्रहकाल में ही भेद हो चुका है। आग्रह की बात दूसरी है॥

अब उक्त रमैनी तथा अन्य वचनों से विचार कर देखा जाय कि, कबीर साहब का रहस्यवाद क्या है। अर्थात् स्वयंसिद्ध और बचपन से ही विरक्त श्रीगुरु रामानन्दजी के सत्संगी अटल ब्रह्मचारी कबीर साहब थे, इसमें संशय नहीं है। और श्री गुरु रामानन्दजी यद्यपि सगुण राम के तात्पर्य से रामनाम सुनाये थे। परन्तु सद्गुरु ने उसका निर्गुण परब्रह्म अर्थ लगाया, और इसीका बीजकादि में वर्णन किया है। साधारण भजनों में भी उसीका वर्णन मिलता है। इससे उनका रहस्यवाद रूप असली बीजक आदिक ही हैं। रहस्य गुप्त को कहते हैं, सो गुप्त धन (निर्गुण राम) बीजक में पूर्ण रीति से वर्णित है। लिखा है कि,

'दृश्यमान सो विनशये, अदृश्य हि लखै न कोय।
नाही कोइ गाहक है, जाहि मिले सुख होय॥' ३३८

इन्द्रियों के विषय दृश्य सब पदार्थ विनश्वर हैं। और अदृश्य आत्मतत्त्व को कोई अविवेकी समझते नहीं है, न उस आत्मा सत्यधर्म के कोई अधिक लोक गाहक होते हैं कि, जिन्हें वह प्राप्त हो, और सुख हो। परम रहस्य स्वरूप अद्वैत ब्रह्मात्मा तो है ही; परन्तु निष्काम सात्विक धर्म्य कर्म भक्ति उपासना भी रहस्य ही है। इसीसे तो सब मनुष्य उसे कर नहीं सकते। साहब ने कहा है कि,

'कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया। झूठी नाम सांच लै धरियां॥
रजगति त्रिविध कीन्ह प्रकाशा। कर्म धर्म बुधि केर विनाशा॥'
रमैनी ३१

गुह्यों में निर्गुण अतिगुह्य तत्त्व है। और सद्गुरु ने कहा है कि,

'एक शब्द में सब कहा, सब ही अर्थ विचार।
भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार॥ ३६८

रहस्य वस्तु के ही लिये विशेष विचार मीमांसा की आवश्यकता होती है। इसीसे धर्म मीमांसा और ब्रह्ममीमांसा रूप शास्त्र भी सिद्ध हुए हैं। हिन्दी की मीमांसा या उपनिषद् ही पारमार्थिक बीजक है, यही

रहस्य ज्ञानेच्छु के लिये अवश्य द्रष्टव्य है। आश्चर्य है कि, साक्षात् रहस्य-वाद को लोक छूते नहीं है; किन्तु उसकी छाया को ही साक्षात् साहब का रहस्यवाद समझते हैं। यद्यपि बहुत महात्मा अन्यान्य रूप से रहस्य का वर्णन किये हैं। उनके रहस्य वचन का किसी को व्याख्यान करना हो तो भले ही कर सकता है, तथापि कबीर साहब का नाम लेकर उनकी छायामय वाणी से अनुचित व्यवहारों का वर्णन सर्वथा अनुचित है, उनकी वाणी की छाया का भी अर्थ सहज में नहीं समझा जा सकता। और उसका लौकिक स्त्री पुत्रादि अर्थ नहीं हो सकता। देखिये,

'सन्तो घर महँ झगरा भारी।
रातिदिवस मिली उठि उठि लागे। पांच ढोंटा एक नारी॥'

शब्द २०

हे सन्तो! देहरूप घर में भारी झगरा फैला है, जहाँ झगरने वाले पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप पांच लड़के हैं, और एक कुबुद्धिरूप स्त्री है। इसकी छाया लेकर यदि कोई कवि काव्य रचेगा, तो उससे कबीर साहब के पांच लडके नहीं सिद्ध हो सकते; कोई अज्ञ समझ ले, वह दूसरी बात है। कमाल आश्चर्य को कहते हैं। कमाल कमाली आश्चर्यमय सद्गुरु के धार्मिक पुत्र पुत्री थे, और लोई शिष्या थी, ब्रह्मचारिणी थी, सो सम्प्रदायं से प्रसिद्ध है। रहस्यता के विषय में गीता कहती है कि,

'गहना कर्मणो गतिः।' ४।१७
'अव्यक्ता हि गति र्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।' १२।५

और,

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥'

ऋग० मं० १० अ० ७ सू० ९०

विराट रूप में जो पुरुष अनन्त शिर आंख पैरादि वाला है, सो सम्पूर्ण भूमि को ढांप करके भी दशांगुल आगे तक स्थिर है, अर्थात्

स्थूल सूक्ष्म भूत कोशादिसे भी व्यापक है, और अध्यात्मरूप में नाभि मण्डल से हृदयमण्डल तक तथा त्रिकुटी स्थान से अधिपति चक्र (चोटी) तक व्यक्त व्यापक है। इसी अर्थ को सद्गुरु ने साधारण भजन में अध्यात्म दृष्टि से कहा है कि,

'सतगुरु चरण भजसि मन मूरख, का जड जन्म गमावसि रे।
कर परतीति जपसि उर अन्तर, निशदिन ध्यान लगावसि रे॥
द्वादश कोश बसत तोर साहब, तहाँ सुरति ठहरावसि रे॥'

इत्यादि

स्थूल सूक्ष्म भूत अहंकार महत्तत्त्व से परे प्रकृतिस्थ सगुण साहब है, और नाभि से द्वादश अंगुल पर हृदय में सुषुप्ति में साहब बसता है तथा समाधिकाल में त्रिकुटी से द्वादश अंगुल पर अधिपति चक्र में साहब बसता है और मिलता है। श्रुति में दोनों कमलों को छोड़कर बीच के जगह को दशाङ्गुल कहा गया है, और सद्गुरु ने कमल सहित स्थान को द्वादशाङ्गुल कहा है, इत्यादि रहस्य की कथा है। इस कथा का विस्तार की आवश्यकता यहाँ नहीं है। सद्गुरु की साधारण से साधारण वाणी रहस्यमयी है, यह देखाने के लिये, तथा सनातनता समझाने के लिये कुछ चर्चा की गई है, इससे इस रहस्यवाद को कहीं अन्यत्र से प्राप्त बताना भारी अज्ञान है, और इस देश के प्राचीन रहस्य गौरवादि के अपरिचयादि के सिवा और क्या कहा जा सकता है। सद्गुरु के रहस्य उपदेशों का अक्षरार्थमात्र में आग्रहवाला, धर्मरक्षा के लिये सगुण रामरूप महात्मा द्वारा दण्ड का अधिकारी भी हो सकता है। देखिये, आगे का वचन कैसा है,

'देखहु लोगा हरि कि सगाई। माय धरि पूत धिया संग जाई।'

इत्यादि। शब्द ७३

इससे बहुत मननों की आवश्यकता है, बात मात्र की नहीं॥

कुछ भूल की बात है कि, सद्गुरु के भक्तों ने महिमा रूप में गाया कि, (काशी में हांसी करवाये, वेश्या संग लगाये)। अत्यन्त महिमा की बात को बढने पर सद्गुरु ने असंगता के लिये मायामयी वेश्या का संग किया, (अपनी आत्मशक्ति से वेश्या सहित लोगों को देखाया) इत्यादि। जैसे महात्मा दत्तात्रय जी ने अपने को मद्यपरूप देखाये थे, और असंगता के लिये जलमग्न रहते थे, इत्यादि पुराणों में प्रसिद्ध कथा है। इसी रूप में सद्गुरु का वर्णन भक्तोंने किया है, सो सत्य हो या असत्य हो, इसमें मेरा आग्रह नहीं है। मस्ताना हाथी के प्रति सिंहरूप देखानेवाला बावन कसनी सहनेवाला सद्गुरु के लिये यह लीला भी असम्भव नहीं है। महिमा, वर्णन में कुछ अंश असत्य हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि महिमा का वर्णन में प्रायः सत्यासत्य का संमिश्रण (मेल) हो जाता है; परन्तु इस वर्णन का ही सायत बुरा परिणाम हुआ कि, दूसरे लोक उस वेश्या को सद्गुरु की आभास वाणीद्वारा उनकी स्त्री सिद्ध करने के लिये उतारु हो गये हों।

दूसरी भूल है कि, कबीर साहब का संप्रदाय के सन्त लोक प्रायः अपनी रचनाओं में अपना नाम की छाप नहीं लगा कर, सद्गुरु का नाम की छाप लगाये हैं। उसमें प्रसिद्ध कबीरपरिचय, ब्रह्मनिरूपण, पञ्चग्रन्थी आदि-ग्रन्थ हैं। फतुहा स्थान के श्रीगुरु दयालदास जी साहब कबीर परिचय के कर्ता हैं। रामरहस्दास जी साहब पञ्चग्रन्थी के कर्ता हैं। परन्तु आजके लेखक इन सबको कबीर साहब के ग्रन्थ मान बैठे हैं। भारी आडम्बर अन्य रचित ग्रन्थों का ही है, सद्गुरु का बहुत गंभीर भावयुक्त उपदेश है, सो प्रायः प्रगट है। और अन्य देशों में अन्य महात्माओं से कुछ सद्गुरु की छाया ली गई है, कुछ रचना उनके नाम पर स्वयं की गई है, इत्यादि॥ सद्गुरु के रहस्यमय उपदेशों में बीजक मुख्य है, उसका प्रथम लेख प्रायः कैथी अक्षरों में हुआ था, फिर पाछे नागरी अत्तर में लेख हुआ और कैथी में वर्णमात्रा का कुछ ठीक हिसाब

नहीं रहता है, इस कारण से तथा अर्थ की गंभीरता आदि से कहीं २ पाठ में भेद हो गया है; परन्तु भावार्थ, ग्रन्थार्थ, वाक्यार्थ में भेद नहीं हुआ है; सामान्य मनुष्य की समझ में कठिन से कठिन हो गया है; परन्तु विचारमान कुछ सत्संग करने पर सहज में समझ सकता है। मेरी समझ में बीजक का एक ही प्रकार की आनुपूर्वी अर्थसंगति के अनुसार है, जो भरसक सद्गुरु के शिष्य तत्त्वाजीवा को मिला था। और अन्य आनुपूर्वी अन्य शिष्यों के द्वारा आ रही है, उसके कैक भेद हैं, अर्थ संगति कम मिलती है। भाव है कि, वेद मन्त्र को माननेवाले प्रथम दो प्रकार के मीमांसक हुए हैं। श्री कुमारिल भट्टजी के अनुयायी वेदमन्त्र को सार्थक मानते हैं, और प्रभाकर जी के अनुयायी वेदमन्त्र को निरर्थक पाठमात्र से पुण्यार्थक हुं फट, इत्यादि के समान मानते हैं। इसी प्रकार से बीजक को माननेवालों में भी भेद था, और है। मन्त्ररूप माननेवाले अर्थ की संगति नहीं मिलाते हैं, प्रतीत अर्थ को भी पाठजन्य पुण्य की अपेक्षा गौण समझते हैं। परन्तु कुछ दिन से उस पाठ का भी लोक अर्थ करने मानने लगे हैं। संगतिवाला पाठ का तो अभी तक मौखिक ही अर्थ होता रहा, अब टीका हुई है। सद्गुरु कबीर साहब ने अपने साधारण भजन में सार्थक ही बताया है, निरर्थक नहीं,

'सन्तो बीजक मत परमाना,
कैयक खोजी खोज थके हैं, विरला जन पहिचाना॥'

यह भजन बहुत बडा है, अन्त का पद है कि,

'कहहिं कबिर कर्ता में सब है, कर्ता सकल समाना।
भेद विना सब भरम परे हैं, बूझत सन्त सुजाना॥'

कैक कारणों से आनुपूर्वी आदि के भेद होने पर भी सद्गुरु की साक्षात् वाणी ही उनका मुख्य रहस्यवाद कहा जा सकता है। अन्यत्र

संगृहीत उस मूल की अपेक्षा सहित ही प्रमाण है। जैसे श्रुति की अपेक्षा से ही स्मृति प्रमाण होती है। नियम है कि, प्रथम वक्ता की अपेक्षा पश्चाद् वक्ता करता है, भावी वक्ता की अपेक्षा पूर्ववक्ता नहीं करता है, इत्यादि ॥

सद्गुरु से वर्णित कर्म की रहस्यता।

शास्त्र का कथन है कि,

'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥'
मनुः २।४

लौकिक कथन है कि,

'नहि प्रयोजनं विना मन्दोऽपि च प्रवर्तते।'

इच्छा रहित की कोई क्रिया कहिं देखी नहीं जाती है। जो कुछ कोई करता है सब काम की ही चेष्टा है। प्रयोजन के विना मन्द पुरुष भी नहीं प्रवृत्त होता है। क्रीड़ा जल ताडनादि का भी कुछ फल रहता ही है, इस अवस्था में स्वर्ग भोगादि की कामना रहित को अहिंसादि साधुसेवा दानादि कर्म और व्रतादि करना असम्भव तुल्य प्रतीत होता है, तो भी सद्गुरु ने कहा है कि,

'अर्थ विहूनी सँवरो नारी, परजा समरे पुहुमी झारी।' रमैनी ९

नारी (शास्त्र गुरु देवादि के वशवर्ती कर्मी जीव) कर्म का फलरूप अर्थ (प्रयोजन) से विहून (रहित) होने पर, अर्थात् निष्काम शुभ सात्विक कर्म करते रहने पर सम्हलती (सुधरती) है। और संसार बन्धन को नष्ट करके मोक्ष पाती है। भजन है कि,

'भाइ कोइ सतगुरु सन्त कहावै, नयनन अलख लखावै।
डोलत डिगै न बोलत विसरै, जब उपदेश दृढावै।

प्राण पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूंधे पवन न रोकै, नहि अनहद अरुझावै।
यह मन जाय जहाँ लग जबही, परमातम दरशावै।
करम करै निःकरम रहै जो, ऐसी युक्ति लखावै।
सदा विलास त्रास नहिं मन में, भोग में योग जगावै।
धरती त्यागि अकाशहुं त्यागै, अधर मड़इया छावै।'
शून्य शिखर के सार शिला पर, आसन अचल जमावै।
भीतर रहा सो बाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै।
कहहिं कबीर बसा है हंसा, आवागमन मिटावै॥'

हे भाई! कोई विरला सन्त सतगुरु कहाते हैं, जो नयनों में (सब इन्द्रियों की वृत्तियों में) वृत्ति की साक्षीरूप से अलख (अदृश्य) आत्मा का अनुभव कराते हैं। (प्रतिबोधं विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते) इस केन श्रुति का भी यही भाव है। तथा प्रत्यक्ष दृश्य जगत में नाम रूप अंश को छोड कर जो सच्चिदादि अंश को अदृश्य आत्मस्वरूप समझाते हैं, सो सद्गुरु हैं।

'अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥' वाक्यसुधा

वह अलख आत्मा शरीरादि के डोलने से नहीं डोलता है। श्रुति कहती है कि,

'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥'
कठ० १।२।२१

शरीर में रहते भी शरीर रहित, अनवस्थित में भी स्थिर स्वरूप महान विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक रहित हो जाता है। बोलते समय भी आत्मा भूलता नहीं है।

'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।
योगद० ४।१८

चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात ही होती हैं; क्योंकि उसका प्रभु आत्मा अपरिणामी होने से सदा अखण्डरूप से प्रकाशमान स्वयंप्रकाश रहता है। इस आत्मा का चिन्तनाभ्यासी भी बोल चालादि व्यवहार में उसे नहीं विसरता है। परन्तु इस स्वरूप का परिचय सद्गुरु के उपदेशों का दृढतापूर्वक ग्रहण करने से होता है।

'आचार्यवान् पुरुषो वेद।' छा० ६।१४।२

प्राण से भी पूज्य क्रिया का अविषय आत्मा की प्राप्ति के लिये सद्गुरु सहज समाधि सिखाते हैं, जिस सहज समाधि में द्वार निरोधादि नहीं करना पड़ता है; किन्तु यह मन जब जहाँ कहिं जाता है, तब वहाँ सब जगह परमात्मा का दर्शन करना कराना पडता है, और शुभ विहित कर्म करते रहने पर भी फलेच्छा रहित होने से निःकर्म (संन्यासी) रहना होता है। सद्गुरु ऐसी ही युक्ति बताते हैं।

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥'

भ० गी० ४।२०-२१

फलेच्छा रहित कर्म करने से मन में सदा आनन्द रहता है, भय नहीं होता है; क्योंकि फलेच्छावाला को फल की प्राप्ति होने पर क्षणिक सुख होता है। फल की अप्राप्ति, फल का नाश होने पर दुःख ही होता है, और फलेच्छा विना निज कर्तव्य बुद्धि से या ईश्वर गुरु की प्रसन्नता के लिये उनकी आज्ञा से करनेवाला को फल होने न होने पर सदा ही कर्तव्यपालनादिजन्य आनन्द ही होता है। पतिव्रता स्त्री सत् पुत्र शिष्यादि को कर्मफल नहीं प्रिय होता है; किन्तु पति आदि की प्रसन्नता, उनकी आज्ञा का पालन ही प्रिय होता है। पति आदि की प्रसन्नता, कर्तव्य-पालन, संतोषादि को भी फल मान लें, तो सब कर्म सकाम कहे जा

सकते हैं; परन्तु शास्त्र में इन्हें फलरूप नहीं माना गया है। स्त्री पुत्र धन स्वर्गादि फलरूप माने गये हैं। पूर्वोक्त स्मृति ईश्वर प्रीति संतोषार्दि में भी फल दृष्टि से सब कर्म को कामजन्य कहा है। आस्तिक भक्त को तो इससे भी फल की इच्छा नहीं होती है कि, वह अपने कर्म के विषय में सर्वज्ञ ईश्वर को कर्मफलदाता समझता है, और यह भी समझता है कि, मेरा या संसार का कर्म के उचित फल का ज्ञान जितना ईश्वर को है, उतना ज्ञान मुझे या अन्य किसी को हो नहीं सकता, फिर एक ईश्वर के फल ज्ञाता दाता रहते, उचित फल का ज्ञान विना उस की इच्छा करना अनुचित है, इत्यादि। इससे ईश्वर से प्राप्त उचित भोग और व्यवहार में रहते भी वह सर्वात्मा ईश्वर के चिन्तनादिरूप योग ही करता रहता है। केशव कवि का कहना है कि,

'अभिअन्तर ब्रह्म विचार सदा, मुख सांच हिये करुणा धन है।
अघनिग्रह संग्रह धर्मकथा, निपरिग्रह साधुन का गुण है॥
कह केशव भीतर योग जगै, इत बाहर भोगमई तन है।
मन हाथ भये जिन के तिन के, घर ही वन है वन ही घर है॥'

निष्काम कर्म से मन के पवित्र होने पर विचार काल में धरती (मूलाधारादि) को, और आकाश (त्रिकुटी भँवरगुफा आदि) को त्याग कर अधर (हृदयाकाश) में विवेकी जीव स्थिर होता है। फिर समाधि काल में शून्य (आकाश) के शिखररूप सार (सत्य) आत्मा शिला पर अचल आसन लगाता है। और बाहर भीतर एक अखण्ड तत्त्व को देखने लगता है। इस प्रकार सर्वथा स्ववश होकर आवागवन रहित हो जाता है, इत्यादि। इस प्रकार का रहस्य कर्म मार्ग से ब्रह्मनिष्ठ के लिये मोक्ष का वर्णन सद्गुरु साहब ने किया है। और,

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति।' छा० २।२३।१

यह श्रुति है। निर्गुणोपासना निर्गुणात्मज्ञान की रहस्यता तो सर्वमान्य है ही। परन्तु,

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' तैत्तिरीय २।४
'चौंतिस अछर से निकलै जोई। पापपुण्य जानैगा सोई॥'
रमैनी २४
'कहहिं कबीर तेइ छूत निर्बर्जित, जाके संग न माया।'
शब्द १३

इत्यादि वचनों के अनुसार मन वचन का अविषय चौंतिस अक्षर का अवाच्य, पापपुण्य (दुःखसुख) रूप माया से भिन्न परमानन्द परम पवित्र गुह्य तत्त्व को मन वचन से समझने समझाने के विषय में महात्माओं का अनुभव इस प्रकार का है कि,

'संग रहा तो क्या हुवा, समझा नहिं गुरु बैन।
शिष्य कहा गुरु मर गया, सूगा समझा सैन॥'

इससे सैन लक्षणा आदि द्वारा परोक्ष वा अपरोक्ष रूप से समझ कर निर्गुणोपासना आत्मनिष्ठा की सिद्धि में कोई संशय की बात नहीं है। सैन समझने के लिये योग्यता की आवश्यकता होती है। योग्यता के लिये अधःपातादि से अपने को आप बचाना होता है।

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।' भ० गी० ६।५
'करु बहिया बल आपनी, छाडु बिरानी आश।
जिहि अँगना नदिया बहै, सो कस मरै पियास॥'
साखी २७३

अधःपात से अपने को बचा कर आत्मप्राप्ति सत्यात्मानुभव करने के बाद शान्ति सुख ही निजस्वरूप शेष रहता है॥

'सतगुरु का यह अस उपदेशा। मिटता जाते सकल कलेशा॥
निर्गुण राम निकट में भासै। सो सब शोक मोह भ्रम नाशै॥
राग द्वेष मद सहज नशाई। नशत सकल तम जिमि रवि पाई॥
चिदानन्दघन साहब सांचा। ताके दरश काल से बाँचा॥
हनूमान यह सुमति विचारी। जाते गयो भेद दुख भारी॥'

बीजक के कुछ शब्दों का प्राचीन पाठ के अनुसार विचार

' सतगुरु '

' सतगुरु वचन सुनहु हो सन्तो । ' साखी २५७

' सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । ' छा० ६।२।१

इस श्रुति के अनुसार सत्‌शब्द ब्रह्म का बोधक है। और भ० गीता अ० १७।२६–२७ के अनुसार सद्भाव साधुभाव श्रेष्ठ कर्म यज्ञ दान तप में स्थिति सत् कहा जाता है। गॄ शब्दे, क्र्यादि धातु से गुरु शब्द होता है। इससे सत् ब्रह्म और सद्भावादि का उपदेशक को सतगुरु कहते हैं। तथा सत्स्वरूप को सतगुरु कहते हैं, और सद्भावादिवाला सतपुरुष ही सच्चा शिष्य होता है, जिसे सुनने के लिये आज्ञा दी गई है ॥

' कबीर '

कोश के अनुसार विद्वान् साधु आदि का वाचक सत् शब्द है, और कवि शब्द उसका पर्याय वाचक है, काव्यकर्ता आदि का भी बोधक है। और, (' कविर्मनीषी ' ईशोप० ८) इस उपनिषद् के अनुसार ईश्वर का भी बोधक है। और, ' ईर गतौ, अदादि, वा ईर क्षेपणे, चुरादि ' से ईर शब्द होता है। ईर्ते, ईरयति, वा ईरः, परमेश्वरः, अन्तर्यामी। जो कवि होता हुआ व्यापक अन्तर्यामी हो उसे ' कवीर ' कहते हैं। उसीके स्थान में हिन्दी में ' कबीर ' पढते हैं। और हिन्दी में बीर भाई को कहते हैं, क सुख को कहते हैं। इससे सुखस्वरूप सबका भाई इत्यादि अर्थ भी हो सकता है ॥

' साहब '

सह अव्यय साथ अर्थ को कहता है। व, सदृश वाचक है; इन दोनों का समास (मेल) से सहव, शब्द होता है। इससे स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर साहव होता है। अर्थ होता है कि, जो व्यापक होने से सब के साथ की नाईं है, और असंग नित्य मुक्त होने से वस्तुतः किसीके साथ नहीं है, सो सर्वात्मा ईश्वर साहव है। इसीको लोक साहेब,

साहिब भी उच्चारण करते हैं। अथवा 'षह मर्षणे, चुरादि' से, सर्वं साहयतीति साह,' और सबको सहनेवाला की नाई जो हो सो साहेव वा साहिव कहाता है।

'बीजक'

सत्य, कारणादि का वाचक बीज शब्द है। 'बीजं कायति, कथंयति' इस अर्थ में क प्रत्यय करने से बीजक शब्द बनता है। जो सच्चा कारण को बतावे सो बीजक है। लोक में गुप्त धन आदि को बतानेवाली पुस्तक को बीजक कहते हैं। तैसे पांच कोशादि से गुप्त जीव का स्वरूप को बीजक ग्रन्थ बताता है॥ इसमें 'कहहिं कबीर', इस प्रकार जहाँ लेख रहता है, वहाँ कबीर साहब का बोध होता है; वह वचन गुरुमुख उपदेशरूप रहता है। 'कहैं कबीर,' पद से बहुत कवि आदि का भी बोध होता है। 'कबिरन' पद से केवल कवियों का बोध होता है। 'दास कबीर,' पद से उपासक देव भक्तादि का बोध होता है। कबिरन, गुरुअन, गुरुआ से अज्ञ गुरु का बोध होता है। 'जोलहा दास कबीर,' से अच्छा पद को प्राप्त जीव, देवभक्तादि का, और 'कबीरा' पद से सामान्य जीव का बोध होता है, और सर्वत्र ही आभास मात्र से ग्रन्थकर्ता की प्रतीति द्वारा ग्रन्थ में छापा भी लगता है। और भगवान् कृष्ण में शिशुपालादि जैसे गोपत्व का आरोप करते थे, तथा भगवान् भी आरोपित गोपत्व से अपना व्यवहार कथनादि करते थे। तथा पूज्य नन्दजी और यशोदाजी को पिता माता भी कहते थे। और कर्ण में जैसे राधापुत्रता का व्यवहार होता था। तैसे ही सद्गुरु कबीर साहब में जोलाहापन, और नीरू नीमा के पुत्रपन था। जिसका स्वयं भी व्यवहार करते थे॥

'रमैनी'

रमा शब्द लक्ष्मी का वाचक संस्कृत है। और ऐन शब्द फारसी है। प्रत्यक्ष, ठीक, केवल न्याय, तद्रूप, वहीः इत्यादि अर्थ को कहता है, और उस ऐन को जाननेवाला को अथवा ऐन सहित को ऐनी कहते हैं। और

रम धातु क्रीड़ा अर्थ में है, उससे रमा बना है। इससे रमा का निश्चय, रमण क्रिया आदि का जिसमें वर्णन हो उस प्रकरण को 'रमैनी' कहते हैं। रमैनी के ही स्थान में रमयनी वा रमयणी नाम भी हो गया है॥

'अविगत–अविगति'

नष्ट वा प्रकाश रहित को विगत कहते हैं। और स्वयंप्रकाश अविनाशी अविगत कहाता है। और गति गमनादि क्रिया प्राप्ति ज्ञानादि को कहते हैं। विशेष क्रियादि को वा विशेष क्रियादि सहित को विगति कहते हैं। क्रियादि रहित नित्यप्राप्त ज्ञानस्वरूप अगम्य अपार अगह को अविगति कहते हैं। यह शब्द दूसरी रमैनी में है।

'राम'

'रमु क्रीडायाम्,' धातु से राम शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है कि, जिसमें योगी महात्मा रमें (आनन्द पावें), जो स्वयं सब में रमे (व्यापक हो) और अपना आनन्द लेश से अन्य को रमावे (आनन्दित करे) सो राम है॥

(धनी) धनी शब्द यद्यपि लोक में धनवान का वाचक है, तथापि बीजक में धन्या (श्रेष्ठ स्त्री) के स्थान में धनी कहा गया है। रमैनी १५॥ (घाई) व्याधा काछिपने की टाटी को कहते हैं। (करगी) देश की बोली है। समीप को कहते हैं॥ (निझरु) नाश रहित अनादि। झरना, प्रवाह को नीझर वा निझरु कहते हैं॥ (सुस्मृति) रमैनी ३२ में सुमृति पाठ से सुस्मृति का अनुमान हुआ है॥ (छल) कपट। मिथिला में था, रहा, इस अर्थ में प्रयोग होता है। (नबी) रसूल महम्मद साहब, पैगम्बर, औलिया। (हबी) ईश्वर। (विमलख) आंख को विमल करनेवाला सुरमा। (हल) मगध की बोली 'था'। (देह हलाये) देह को पतला करने से। (धिंगाधिंगी) उघार-नग्न रहना। (विढईं-बेरही) मसालेदार गर्म रोटी। (मेहर) दया। (मेहरबान) दयालु। (तरुवर) मेरुदण्ड। (नेवाज-निवाज) इन्द्रियों को वश में करने का साधन।

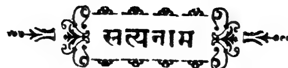
(गुजारना) अर्ज करना । (फा०) (बिसमिल) घायल । (खुतुवा) फा०– प्रशंसा, घोषणा, मुहावरा, पढना । इसीके स्थान में कुतुबा है । [1]कुतुब बहुवचन किताब का वाचक है । (पाट) कपडे की चौडाई को कहते हैं। (मिसकीन–मसकीन) दीन–गरीब । (करीम) दयालु ईश्वर । (दारी) व्यभिचारी-स्त्रीपरायण । (बहिया) साथी । (गोणी–गोण) बोरा । (छैव) अन्त । (लाई) लपट अग्नि–ले आई हुई वस्तु । (सालिम) आत्मसमर्पक । (नूर) प्रकाश–आकाश । और पोंगरा–सहना इत्यादि शब्दों के प्रसंगानुसार अर्थ किये गये हैं, अन्य अर्थ भी हो सकते हैं ॥

भाषा और अक्षरादि विचार ।

बीजक ग्रन्थ में संस्कृत हिन्दी अरबी मागधी मैथिली पञ्जाबी गुजराती आदि बहुत भाषा संमिलित है । जैसे कि, विधिना, अस्थूल, आदि संस्कृत भाषा है । हिन्दी भाषा तो बहुत है, सो स्पष्ट है । दिल, नूर, आदि अरबी भाषा है । हल, था इस अर्थ में मागधी भाषा है । तैसा ही अमीर अर्थ में मीरा है । छल, था अर्थ में मैथिली है । मुसले मुसलमान अर्थ में । कक्का आदि ककारादि अर्थ में पञ्जाबी भाषा है । हता, था अर्थ में गुजराती है ॥ क्षत्रिय, अर्थ में क्षत्री शब्द है, इससे एक देश संस्कृत का है, एक देश अपभ्रंश है । इसमें अनेक भाषा का तथा संस्कृत हिन्दी अक्षरों का संमिश्रण होने से ही इस में हिन्दी का पूर्ण नियम नहीं है । और चौतीसी में ङ, ण, क्ष, के विना चौतीसी बन नहीं सकती, इस से हिन्दी में इनका लेख नहीं होते भी ग्रन्थकार ने इन अक्षरों को लिखा है । यद्यपि किसी २ लेख में ये नहीं भी मिलते हैं, तथापि वह लेखक का दोष प्रतीत होता है । जैसे कि, कुन्ती के स्थान में प्रायः कुन्ता लिखते हैं, इत्यादि ॥

---

१ महात्मा को भी कुतुब कहते हैं ।



श्री सद्‌गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

सद्‌गुरु कबीर साहब कृत

बीजक

पू. स्वामिश्री हनुमानदासजी साहब षट्‌शास्त्री विरचित
स्वानुभूति व्याख्या तदनुवाद सहित ।



मङ्गलाचरणम् ।

स्मारंस्मारं निखिलभुवनेऽसारतां तद्विरक्तः,
ध्यायंध्यायं परमविमलं देवमन्तर्निषण्णम् ।
पायंपायं निजहृदि लसत्सच्चिदानन्दपेयं,
गायंगायं निजगुरुगुणान् सर्वदा निर्वृतः स्याम् ॥१॥

सब भुवन (संसार) में असारता (मिथ्यात्व) का बार २ स्मरण करके, और उससे विरक्त होकर, तथा अन्तर्निषण्ण (भीतर स्थित) देव (अन्तर्यामी-ईश्वर) का बार २ ध्यान करके, और अपने हृदय में सुशोभित सत् चित् आनन्द स्वरूप पेय (ज्ञेय) ब्रह्म को बार २ विचार समझ कर, फिर जिनकी कृपा से ये सब बातें होती हैं, उन अपने सद्‌गुरुजनों के गुणों (उपकारों) को बार २ गाकर मैं सदा निर्वृत (सुखी) रहूंगा ॥ १ ॥

इससे विवेकादि युक्त ज्ञान के अधिकारी, और सबन्धादिरूप ग्रन्थ के अनुबन्ध (ग्रन्थ में प्रवृत्तिजनक) की सूचनापूर्वक ध्येय ज्ञेय गुरु का स्मरणरूप मङ्गलाचरण किया गया है ।

विश्वस्योद्भूतिहेतुः स्थितिलयविधौ यः समर्थोऽद्वितीयः,
सत्याऽशोकस्वरूपः सकलकरणागोचरः स्वप्रकाशः।
जाग्रत्स्वप्नादिसाक्षी निरवधिपरानन्दरूपोऽविनाशी,
हृत्काशीवासिदेवस्तमहमविदं यत्कृपातो नुमस्तान् ॥२॥

सत्य और शोक (दुःख) रहित स्वरूप, तथा सब करण (इन्द्रिय) के अगोचर (अविषय) स्वरूप, स्वयंप्रकाश, जाग्रदादि अवस्थाओं का साक्षी (प्रकाशक), निरवधि (व्यापक) श्रेष्ठ आनन्दस्वरूप, अविनाशी जो सबके हृदयरूप काशी (ज्ञानस्थान) में बसनेवाला देव, अद्वितीय (सहायक रहित) होते भी संसार की उत्पत्ति का हेतु होता है. तथा इसकी स्थिति (पालन) प्रलय का विधान में भी समर्थ होता है, तिस अद्भुत देव को हमने जिनकी कृपा से जाना उनके प्रति हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥

अध्येतव्या निखिलनिगमा यस्य सद्बोधसिद्ध्यै,
कर्तव्यं तद्विविधविधिना कर्मजातं सदैव।
मीमांसा सा श्रुतिशिखरिणां मस्तकानां यदर्था,
भक्त्या भव्ये तदतिलघुना ह्यर्पयद्भ्यो नमोस्तु ॥३॥

जिस सर्वात्मा ब्रह्म के संशयादि रहित सच्चा ज्ञान की सिद्धि के लिये सब निगम (वेद) अध्येतव्य (पढने योग्य) हैं, और ज्ञानजनक अन्तःकरण की शुद्धि के लिये वह वेदादि में वर्णित कर्मजात (समूह) जिसके लिये सदा कर्तव्य हैं, और वेदरूप शिखरी (पर्वत) की तथा उनके मस्तक (शिर) उपनिषद की वह प्रसिद्ध मीमांसा जिसके लिये होती है, भक्तिमात्र से भव्य (योग्य शुभ) पुरुष के प्रति उस ब्रह्म का अतिलघु उपाय से अर्पण (अनायास प्राप्ति) करनेवाले गुरुओं के प्रति नमस्कार हो ॥ ३ ॥

यद्वाचमाकर्ण्य सुधावधीरणीं नैवाद्रियन्तीह बुधाः सुधामपि।
तं देशिकेन्द्रं प्रणमामि योगिनं ज्ञानावतारं खलु ब्रह्मणोऽपि हि ॥४॥

इस संसार में बुध (पण्डित) लोक, सुधावधीरणी (अमृत का तिरस्कार करनेवाली) जिनकी वाणी को सुनकर फिर सुधा का भी आदर नहीं करते हैं,

स्वर्गादि नहीं चाहते हैं, उस ब्रह्म का ही निश्चित ज्ञानांशावताररूप, योगी, देशिकेन्द्र'(गुरुवर) को नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

यहाँ तक नमस्कार है ।

मायाकृतं द्वन्द्वमनन्तपारं भयावहं तर्तुमपारयन्तम् ।
विलोक्य योऽद्वन्द्वपदं प्रदर्श्य भयापहस्तं गुरुमाश्रयेऽहम् ॥५॥

अनन्त अपार भयङ्कर मायाकृत (जन्य) द्वन्द्व (जन्म मरणादि) संसार-सागर को स्वयं तरने में असमर्थ होता हुआ पुरुष को देखकर जो सद्गुरु द्वन्द्व-रहित स्थान–वस्तु को देखाकर भयनाशक होते हैं, उस सद्गुरु का मैं शरणागत हूं ॥ ५ ॥

वाणीं यस्य बुधा निपीय विमलां गायन्ति सर्वोज्वलां,
सर्वानन्दकरं ह्यलौकिकयशः स्वानन्दमग्ना मुहुः ।
ध्यायन् यस्य पदारविन्दमनघं भक्तश्च मोमुच्यते,
ग्राहाज्जन्मजरादितो द्रुततरं वन्दे कबीरं हि तम् ॥६॥

बुध (पण्डित) लोग जिस गुरु की विमल वाणी को निपीय (हृदयंगत करके–प्रेम से सुनकर) आत्मानन्द में मग्न होकर, फिर सब से विशद सब को आनन्ददाता अलौकिक यश को बार २ गाते है । और गुरुभक्त जिनके निर्दोष चरणकमलों का ध्यान करता हुआ जन्म-जरा-मरणादि ग्राह से अतिशीघ्र ही अतिशय मुक्त होता है, उस कबीर गुरु की मैं बन्दना करता हूं ॥ ६ ॥

मूर्तिर्यस्य मनीषया हृदि धृता धैर्यं च धर्मं क्षणाद्,
दत्ते शान्तिमनुत्तमां च विततां विस्तारयन्ती यशः ।
स्वर्गं मोक्षसुखं च मोक्षमतुलं तद्धेतुविद्याधनम्,
अन्यद्यच्च सुवाञ्छितं तमनघं वन्दे कबीरं गुरुम् ॥७॥

बुद्धिद्वारा हृदय में रखी गई जिस गुरु की मूर्ति क्षण मात्र में धैर्य और धर्म का प्रदान करती है, तथा यश का विस्तार करती हुई विस्तृत सर्वोत्तम

शान्ति देती हैं, और स्वर्ग, जीवन्मुक्ति का सुख, अनुपम विदेहमुक्ति का सुख, इसके कारण विद्यारूप धन वा विद्या सहित धन देती है। और अन्य भी जो कुछ सुवांच्छित वस्तु हैं, सो सब देती है, तिस अनघ कबीर गुरु की मैं वन्दना करता हूं ॥ ७॥

यहां तक शरणागतिपूर्वक वन्दना है॥

पेयं सुधासमरसं वचनं यदीयं गेया गुणाश्च सततं भवबन्धमुक्त्यै।
ध्येया सदैव सुजनैर्विमला यदीया मूर्तिर्वरा तमहमाप्तवरं प्रपद्ये ॥८॥

संसारबन्धन से मुक्ति के लिये सुधातुल्य माधुर्ययुक्त जिनके वचन सज्जनों को सदा पेय (सादर से सुनने योग्य) हैं, और जिनके गुण सदा गाने योग्य हैं, और जिनकी श्रेष्ठ विमल मूर्ति सदा ही ध्यानार्ह (ध्यान के योग्य) है, उस आप्तवर (सत्यवक्ताओं में श्रेष्ठ) के मैं शरणागत हूं ॥ ८॥

समरसं विरसं भववारिधौ सुशरणं रसशालिनमव्ययम्।
श्रुतिविदा विहितं विदुषां वरं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥९॥

सम (तुल्य या अशेष) रस (आनन्द) रूप, संसारसमुद्र में रहते भी विरस (विरक्त) सुन्दर शरण (रक्षक) आत्मानन्द से प्रकाशित अव्यय वेदज्ञ से विदित (ज्ञात) विद्वानों में वर कविवर कबीर का ही मै सेवन करता हूं ॥ ९॥

कलुषहं करुणाकरसत्कथं त्वकथकायविराजितमोक्षदम्।
करुणया धृतकायमकायकं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥१०॥

पापनाशक, दया की खानरूप सत्कथावाला और अकथनीय शरीर से विराजमान होता हुआ मोक्षदाता अज्ञ जीवों पर दया से धृतकाय (शरीरधारी) होने पर भी वस्तुतः अकाय (अशरीर) कविवर कबीर का ही मैं सेवन करता हूं ॥ १० ॥

कुसरणौ प्रतिपद्य विमोहतः कुरमणे रमणाय कृतेहितम्।
निजदृशि प्रतिपाद्य प्रबोधकं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥११॥

विमोह (अज्ञान) से कुमार्ग में जाकर कुरमण (निन्दित स्थान विषयादि) में रमण (क्रीडा) के लिये कृतेहित (चेष्टा करनेवाला) को निजात्मा अपना ज्ञानमार्ग में लाकर समझानेवाला कविवर कबीर का ही सेवन करता हूं ॥ ११ ॥

समुदयास्तविहीनमनीहं विमलबोधमयं गततापम् ।
गतमलं क्षयवृद्धिविहीनं विधुवरं हि भजे सुकबीरम् ॥१२॥

आभासमात्र से उदयास्त (जन्ममरण) होने पर भी सच्चा उदयास्त से रहित अनीह (इच्छारहित) विमल ज्ञान स्वरूप तापरहित विमल क्षयवृद्धिरहित विधुवर (चन्द्रवर–शान्तिप्रदवर) श्रेष्ठ कबीर को ही भजता हूं ॥ १२ ॥

न वज्रधारी न च योऽसुरारिर्गतिर्न यस्याभ्रमुवल्लभेन ।
तथापि धीरं परमं कबीरं भजेऽहमिन्द्रं खलु देवदेवम् ॥१३॥

जो वज्रधारी नहीं हैं, और असुरों के शत्रु नहीं है, जिनकी गति (यात्रा) अभ्रमुवल्लभ (ऐरावत) से नही होती, तौ भी परम धीर कवीररूप इन्द्र (ऐश्वर्यवान्–कामादि के नाश में समर्थ) देवों का देव को ही मै भजता हूं ॥१३॥

यहाँतक सद्गुरु के वचनानुमार समर्थ सर्वात्मा रामरूप से गुरुभक्ति का वर्णन है ॥

विरक्तं सुशीलं गतग्रन्थिवर्गं गतस्नेहसंदेहलेशं परेशम् ।
पवित्रं परं पावनं पापदूरं नमस्यामि तं शाश्वतं श्रीकबीरम् ॥१४॥

विरक्त, सुन्दर शील (स्वभाव) वाला, कामाध्यासादिरूप ग्रन्थि (बन्धन) समूह से रहित, राग संशय का लेश से भी रहित परमेश्वररूप परं (अत्यन्त) पवित्र, पावन (पवित्रकर्ता) पाप से रहित, सनातन, उस श्री कवीरगुर को नमस्कार करता हूं ॥ १४ ॥

उदारं गुणागारसंतोषयुक्तं दयागारदैन्यादिहीनं सुशान्तम् ।
गरिष्ठं वरिष्ठं सदा ब्रह्मनिष्ठं हितं भाषमाणं भजेऽहं कबीरम् ॥१५॥

उदार (सरलस्वभाव–दाता), गुण (अहिंसा क्षमा आदि) का घर, संतोष-युक्त, दया का घर, दीनता आदि से रहित, अत्यन्त शान्त, अतिशय गुरु-गंभीर, अतिशय उरु (बड़ा), सदा ब्रह्मनिष्ठ, हितवक्ता सद्गुरु कबीर को मै भजता हूं ॥ १५ ॥

असक्तं जितद्वन्द्वदोषं सुयुक्तमहिंसाक्षमासत्यसौम्यैकमूर्तिम् ।
शमाद्यैः सुयुक्तं मदाद्यैर्वियुक्तं गतद्रोहलेशं भजेऽहं कबीरम् ॥१६॥

आसक्तिरहित, रागद्वेषादि द्वन्द्व दोषों को जीतने वाला, योगयुक्त, अहिंसा क्षमा सत्य सौम्य (सुन्दर-कोमलता) की एक मूर्ति (आकार), शमदमादि से अत्यन्त युक्त, मदादि से रहित, द्रोह लेश से रहित कबीर को मै भजता हूं ॥१६॥

गुरुं ब्रह्मभावेन वै मन्यमानं वदन्तं तथा शिष्यवर्गेषु शश्वत् ।
मुनिं ज्ञानविज्ञाननिष्ठं स्थविष्ठं समं निस्पृहं संश्रयेऽहं कबीरम् ॥१७॥

गुरु को ही ब्रह्म रूप से मानने वाला, और सम स्वभाव के शिष्य समूहों में सदा उसी प्रकार कहने वाला, मनन शील, ज्ञान विज्ञान में स्थिर, अतिशय स्थूल (विभु), सम (सब के लिये तुल्य), इच्छारहित कबीर गुरु का मै शरण लेता हूं ॥१७॥

यद्दर्शनं दोषगणान्निहन्ति करोति सर्वं खलु मङ्गलं च ।
तं निर्मलं शुद्धतमं सुवृत्तं वन्दे सदाऽहं सुगुरुं कबीरम् ॥१८॥

जिनका दर्शन (ज्ञान वा विचारादिरूप) ग्रन्थ (उपदेश) राग द्वेष मोह रूप दोष के गण (समुदाय) को नष्ट करता है, और सब मंगल (कल्याण) को अवश्य करता है, उस निर्मल अत्यन्त शुद्ध सद्वृत्तिवाला सद्गुरु कबीर की मैं सदा बन्दना (स्तुति) करता हूं ॥१८॥

शमो दमस्तोषविशुद्धसत्त्वाऽहिंसादयामैत्रिमनीषितादि ।
तपःक्षमासत्यविवेकितादिसद्रत्नपूगोऽस्ति भजे हि यस्य ॥१९॥

संतोष विशुद्ध सत्त्व (मन वा सतोगुण) अहिंसा दया मित्रता मनीषिता (विद्वत्ता) आदि तथा तप क्षमा सत्य विवेकितादि और शम दम ये ही सब जिन के श्रेष्ठ रत्नों के समुदाय हैं, उनको मैं भजता हूं ॥१९॥

स्पर्द्धादिहीनं गतगर्वखर्वं सदैव मान्यं बुधसज्जनानाम्।
दीने दयादानयुतं शरण्यं भजे सदाऽहं सुगुरुं कबीरम् ॥२०॥

विरोध मत्सरादि रहित, गर्वरूप लघुता रहित, ज्ञानी सज्जनों के सदा ही मान्य, दीन (गरीब) पर दया दानयुक्त, शरणागत का हित रक्षक, सद्गुरु कबीर को मैं सदा भजता हूं ॥२०॥

संसाराब्धौ प्रचलितमहाकामकोपादिभङ्गात्,
त्रस्तान् स्रस्तान् स्वपरमगुरो पाहि लालप्यमानान्।
जीवान् दृष्ट्वा सपदि करुणाव्याप्तचित्तोऽभवद्यो,
मोहध्वान्तावरणहरणे संप्रवृत्तो नुमस्तम् ॥२१॥

संसारसमुद्र में वेग से चलते (उछलते) हुए जो महान् काम क्रोधादि रूप भग (तरंग) हैं उससे त्रस्त (भीत) और अपना लक्ष्य स्थान से च्युत (गिरे) हुए, तथा 'हे सर्वात्मा रूप परमगुरो! हमारी रक्षा करो!' इस प्रकार बार २ पुकारते हुए जीवों को देख कर जो सद्गुरु झटिति शीघ्र, दयाव्याप्त (पूर्ण) चित्तवाला हुए, तथा मोहान्धकार जन्य आवरण का नाश में सम्यक् प्रवृत्त हुए, उन को हम नमस्कार करते हैं ॥२१॥

अहिंसाशौचाद्यैः शमदमदयादाननिवहै-
र्विमृष्टस्वान्ता ये विगतमदमोहाः सुमनसः।
असारं पश्यन्तो जगदिदमपारं त्वनुपलं,
हितं तेषामुक्तं गुरुवरकबीरैश्च जगतः ॥२२॥

अहिंसा सत्यादि शौच संतोषादि से, तथा शमदम दया दानादि के समुदाय से जो सुन्दर मन वाले इस अपार जगत को अनुपल (सदा) असार (मिथ्या) देखते हुए, विमृष्ट (शुद्ध) स्वान्त (मन) वाले, मद मोह रहित हैं, गुरुवर

कबीर साहब ने उनका हितकर वचन कहा है, तथा सब संसारी का हित कहा है ॥२२॥

ब्रह्मा चतुर्मुखो यो नो विष्णुर्यो न चतुर्भुजः ।
शिवस्त्रिनयनो यो नो तं कबीरं नमाम्यहम् ॥२३॥

जो गुरु चार मुख वाला नहीं होते भी ब्रह्मा (वेदज्ञ) हैं, जिनकी वाणी वेदरूप है । जो चारभुजावाला नहीं होते भी विष्णु (उपदेश द्वारा रक्षक) हैं । जो तीन नेत्रवाला नही होते भी शिव (कल्याणस्वरूप आत्मनिष्ठ योगी) हैं, उस कबीर साहब को मैं नमस्कार करता हूं ॥२३॥

स्वाम्नायशिखरैस्तुल्या वाणी यस्य विराजते ।
तं सर्वसुहृदं हृद्यं कबीरं गुरुमाश्रये ॥२४॥

सुन्दर वेदों के शिखर (उपनिषद) के समान जिनकी वाणी शोभती है, सबके मित्र, हृदय का प्यारा, उस कबीर गुरु का मै शरणागत हूं ॥२४॥

यत्पादकमलं पोतं विधायैवात्र सज्जनाः ।
भवन्ति भवपारं तं कबीरं गुरुमाश्रये ॥२५॥

सज्जन लोग इस संसार में जिनके चरण कमल को पोत (नौका) करके ही संसार से पार होते हे, उस कबीर गुरु का मैं शरण लेता हूं ॥२५॥

यच्छरणं हरते भवतापं यच्चरणं तरणं भवसिन्धोः ।
यद्वरणं वरमानसतोषं तं हि भजे करुणाभकबीरम् ॥२६।

जिन का शरण (स्थान) प्राप्त होने पर भवताप को हरता है, जिनका चरण संसारसमुद्र का तरण (नौका) हैं जिनका वरण (गुरुरूप से स्वीकार) श्रेष्ठ मन का संतोष शान्तिरूप है, उस दया से दीप्त कबीर गुरु को भजता हूं ॥२६॥

पूर्वेषां स गुरुरिति वचनाद्यः परः शास्ति सत्यम्,
आचार्यस्य वपुषि स विलसत्यागमोऽप्याह तथ्यम् ।
देवानां च परतमरमणः सत्तमोऽद्वैतपथ्यो,
वन्दे तं हि निखिलनिगमैर्ज्ञेयमेकं कबीरम् ॥ २७ ॥

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इस योगसूत्र, और 'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः' इस आगम वचन के अनुसार, काल से अखण्डित होने से पूर्व गुरुओं का भी गुरु वह परमात्मा हो, परिपक्व (निवृत्त) मल (पापादि) वाले जो हैं, उनके प्रति मोहादि का उत्सादन (नाश) का कारण रूप शक्ति की प्राप्ति कराकर वही परमात्मा आचार्य मूर्ति में स्थिर होकर उन्हें परं तत्त्व में जोड़ता है। इससे वह परमात्मा ही सत्य वस्तु का उपदेश देता है, तथा आचार्य का शरीर में वह विराजता है, यह आगम भी तथ्य (सत्य) ही कहता है। देवताओं के भी अतिशय श्रेष्ठ स्वामी आश्रय, अत्यन्त सत्य ('पथोऽनपेतः पथ्योऽद्वैतश्चासौ पथ्यः') अद्वैत स्वरूप और ज्ञानमार्ग से लभ्य जो है, तिस स्वरूप सकल वेद से ज्ञेय उस कबीर की ही मैं वन्दना करता हूं ॥२७॥

यहाँ तक गुरु के स्वभाव धारणा स्वरूपादि का कथनपूर्वक स्तुति आदि है।

पठित्वा सकृदेवाहं यद्वाक्यं श्रद्धयाऽभवम् ।
महाग्राहाद् भ्रमान्मुक्तस्तस्मै किन्नु ददाम्यहम् ॥२८॥

मैं जिनके वाक्य (जन्त्री जन्त्र अनुपम बाजे) इत्यादि को सकृद् (एक) ही बार श्रद्धा से पढ़ कर महाग्राह तुल्य भ्रम से रहित हो गया, उन को मैं क्या दूँ. यह नु (प्रश्नार्थ) है) ॥२८॥

क्योंकि देने योग्य—

मनो नास्ति वशेऽस्माकं कायश्च क्षणभङ्गुरः ।
किञ्चिद्धनादिकं नास्ति यदस्ति तत्कृतं तव ॥२९॥

मन हम लोगों के वश में नहीं है, शरीर क्षणभङ्गुर–विनश्वर है, देने योग्य नहीं है, धनादि कुछ अपना नहीं है, जो कुछ है सो आपका किया हुआ है ॥२९॥

अतो मे प्रणतिः शश्वत् पादयोस्ते दयानिधे ।
विधेयं मे मनस्तादृक् त्वत्स्वरूपे हि यद्वसेत् ॥३०॥

हे दयानिधे ! इस कारण से तेरे चरणों में सदा मेरी प्रणति (प्रणाम) है, कि मेरा मन तैसा करना कि जो मन अर्पण करने पर सदा तेरे स्वरूप ही में बसे ॥३०॥

यह सद्गुरु का उपकार वर्णन पूर्वक विशेष प्रार्थना है ॥

मन्त्रं यदीयमवलम्ब्य भवाब्धिमध्ये,
शिक्षातरिं च सुतरां गुरुकर्णधाराम् ।
लब्धुं सदास्मि सबलो भवभीतिमुक्त-
स्तं नौमि तं च गुरुमद्वयमात्मरूपम् ॥३१॥

जिनके मन्त्र को पाकर, धारण करके, संसारसमुद्र में गुरुरूप कर्णधार से युक्त सुख से तरने वाली वा अति सुन्दर, शिक्षा रूप नौका को प्राप्त करने के लिये मैं सदा समर्थ हूं, संसार का भय से मुक्त हूं, तिस मन्त्रदाता और शिक्षा दाता अद्वैत आत्मरूप गुरु को नमस्कार करता हूं ॥३१॥

[1]दीक्षाप्रदं गुरुवरं खलु मोहनाख्यं,
शिक्षाप्रदं च रमितागुरुमाशुतोषम् ।
विद्याप्रदं हरिहरं बुधबोधनालं,
वन्दे च यैर्गुरुवरैः प्रतिबोधितोऽहम् ॥३२॥

मन्त्र वेषादिरूप दीक्षा के दाता श्री १०८ मोहनदासजी सा० गुरुवर की मैं वन्दना करता हूं । और धर्मज्ञानादि के शिक्षा (उपदेश) दाता श्री १०८ रमितादासजी सा० आशुतोष (शीघ्र प्रसन्न होनेवाला) गुरु की वन्दना करता हूं । तथा पण्डितों को भी समझाने में अलं (समर्थ) श्री १०८ हरिहरकृपालु जी म० शास्त्रीय विद्यादाता गुरु की वन्दना करता हूं. और अन्य भी जिन

१ 'स्नानाद्दानाज्जपाद्धोमात्संयोगाद्देवकर्मणः । शिरसो वपनाच्चैव दीक्षितः पुरुषोभवेत्' ॥ शाम्ब० पु० अ० ३५ ॥ 'दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्म-वासना । व्याख्याता तेन दीक्षेति । चान्यत्र ॥

गुरुवरों से मैं, उपदेशादि द्वारा प्रतिबोधित (सचेतादि) किया गया हूँ, उनको भी मैं वन्दना करता हूं ॥३२॥

गुरुरात्मवतामात्मा शास्ता धाता पितामहः ।
वन्द्यश्च पूजनीयश्च तस्मा अस्तु नमो नमः ॥३३॥

आत्मवानों (वशी मनवालों) के गुरु ही आत्मा (अतिप्रिय) शास्ता (उपदेशक-शासनकर्ता) धाता (पोषक पिता) पितामह (दादा) वन्दना योग्य पूज्य है, तिस गुरु के प्रति बार २ नमस्कार हो ॥३३॥

ईशो मेशः सुरेशश्च गणेशः सर्वदेवताः ।
विधिः सरस्वती सूर्यस्तस्मिन्नेव समाहिताः ॥३४॥

महेश लक्ष्मीश इन्द्र गणेश अन्य सब देव ब्रह्मा सरस्वती सूर्य भी तिस गुरु मे ही समाहित स्थिर वा ध्याननिष्ठ हैं । इससे गुरु की वन्दना से सब की बन्दना, प्रसन्नता सिद्ध है ॥३४॥

अथ सम्बन्धः ।

इयं प्रवृत्तिर्मननात्मिका मम श्रुतस्य वाक्यस्य गुरोर्गरीयसः
उपासनैव क्रियते मया त्विय स्मृतिर्यथा स्यात्सततं गुरोर्गुरोः ॥१॥

गरीयस (अत्यन्त महान्) गुरु के श्रुत (सुना हुआ) वाक्य (उपदेश) का मननरूप यह मेरी प्रवृत्ति (लेख) है। और मुझ से यह उपासना ही की जाती है कि जिस प्रकार गुरु का गुरु की सदा स्मृति हो ।।१॥

क्योंकि श्रवण मननादि विना—

लब्ध्वाऽत्र मानुष्यमतीव दुर्लभं योषिद्धिरण्यादिपरैः कुबुद्धिभिः ।
शिरःस्थितो मृत्युरतीव दुर्धरो न दृश्यते नैव च सोऽत्र वार्यते ॥२॥

स्त्री सुवर्णादि को श्रेष्ठ समझनेवाले कुबुद्धि लोक से इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यता को पाने पर भी अत्यन्त दुर्धर (दुःख से धारण योग्य) शिर पर स्थिर मृत्यु नहीं देखी जाती है, न वह मृत्यु उनसे हटाई जाती है ॥२॥

मृत्युं प्रपश्येद्यदि चान्तिकस्थं भयङ्करं दुर्विषहं च सर्वैः।
आहारनिद्रादिसुखं न भायात् कथं नरः स्यात्तु विकर्मकारी ॥३॥

मनुष्य यदि सब से दुर्विषह (दुःख विशेष से सहने योग्य) असह्य, और भयङ्कर मृत्यु को अन्तिकस्थ (पास में स्थिर) देखे तो इसे आहारनिद्रादि का सुख भी नहीं भावे (रुचे), तो फिर वह विकर्म (विरुद्ध कर्म) करनेवाला कैसे हो सकता है। और विरुद्ध कर्म करता है, इससे मृत्यु को नहीं देखता है ॥३॥

वैराग्यसद्बोधविवर्जितो नरः काम्यादिकर्मादिषु संरतः सदा।
बद्धः पुनः कर्ममयैः कुपाशकैः प्रपच्यते वै नरकेषु जन्मसु ॥४॥

वैराग्य सच्चा ज्ञान से रहित, सकाम निषिद्ध कर्मोपासना में सदा संरत (संलग्न) मनुष्य, कर्ममय (कर्मरूप) निन्दित पाशक (जाल कपट) से फिर बन्धाकर, जन्मसु सत्सु (जन्मों के होने पर) नरकों में पकता (पीडित होता) है ॥४॥

अतश्च बोधाय तथा विरक्तये कुर्यात्सुयत्नं खलु सद्विवेकवान्।
ताभ्यां च भक्त्या परमात्मलाभतो भवेत्सुतृप्तो ननु निर्वृतः सदा॥५॥

इसलिये प्रथम सत्यात्मा के विवेकी होकर, वह सत्य का विवेकवाला ज्ञान और वैराग्य के लिये सुन्दर उपाय अवश्य करे, और उस ज्ञान वैराग्य से तथा भक्ति से परमात्मा की प्राप्ति होने पर अवश्य ही तृप्त और सदा सुखी होगा ।.५॥

आर्ताश्च जिज्ञासुजनार्थकामुका बुधा भजन्त्येव परेश्वरं सदा।
आर्ताः सुखार्थं निजबोधलब्धये जिज्ञासवो बोधविशुद्धये बुधाः॥६॥

रोगादि से दुःखी, ज्ञान की इच्छावाले जन, धनादि अर्थ के कामी, और ज्ञानी सज्जन सदा परमात्मा को ही भजते है। तहाँ आर्त पुरुष दुःख की निवृत्ति पूर्वक सुख के लिये भजते हैं, जिज्ञासु आत्मज्ञान के लिये भजते हैं, ज्ञानी ज्ञान की विशुद्धि (परिपक्वावस्था, पूर्णता) के लिये भजते हैं। ' चतुर्विधा भजन्ते माम्, ' इत्यादि भ० गी० के वचन हैं ॥६॥

[1]अज्ञानतो यद्धि विकर्म जायते तन्नाश्यते जातु सुकर्मणा ह्यपि।
ज्ञानं विना नैव तु कर्मसंचयः संक्षीयते जातु सुकर्मणा क्वचित्॥७॥

अज्ञान असामर्थ्य से ही जो विरुद्ध कर्म (पाप) हो जाता है, वही सुकर्म (प्रायश्चित्त दानभजनादि) से भी जातु (कभी) नष्ट होता है। परन्तु अन्य का संचय (समूह) तो ज्ञान के बिना सुकर्म से भी कभी कहीं भी नहीं नष्ट होता है॥७॥

अनन्यभावेन बुधो भजँस्ततो विशुद्धविज्ञानयुतो विराजते।
न तत्र भेदो न च कामजं भयं जन्मादिजं तत्र भयं न जायते॥८॥

तिसी कारण से बुध (विवेकी पुरुष) अनन्य भाव (सर्वात्मरूप) से परमात्मा को भजता हुआ, फिर विशुद्ध (निर्मल अपरोक्ष) विज्ञान (अनुभव) से युक्त होकर विराजता है, फिर उसमें भेद नहीं रहता है, न उसमें कामजन्य वा जन्मादि जन्य भय उत्पन्न होते हैं॥८॥

ज्ञानं विना मुक्तिसुखस्य कामुका ज्ञेया जनैस्ते ननु बालिशा नराः।
कर्मानुसारेण भवन्ति ते सदा सुखस्य दुःखस्य च भाजनानि वै॥९॥

जो मनुष्य ज्ञान के विना ही मोक्षसुख के कामुक (इच्छावाले) हैं, सो सज्जनों से बालिश (बालक–मूर्ख) ज्ञेय (समझे जाने योग्य) हैं। और वे लोग अपने कर्मों के अनुसार सदा सुख और दुःख का भाजन (पात्र–अधिकारी) होते हैं, मुक्ति के नहीं॥९॥

क्योंकि—

न कर्मणा कर्मनिबर्हणं भवेदनन्तकल्पार्जितकर्मसंचयः।
अनन्त एवास्ति तथैव वासनाऽप्यनन्तरूपा खलु विद्यते सदा॥१०॥

---

१ 'प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्। कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते॥' याज्ञवल्क्यस्मृ०॥

कर्म से कर्मों का नाश नहीं हो सकता है। अनन्त कल्पों में उपार्जित कर्मों का संचय (समूह) अनन्त ही है, तिसी प्रकार वासना भी सदा अनन्त स्वरूप ही रहती है ॥१०॥

ज्ञानाच्च तुष्टौ नहि कर्म तिष्ठति सवासनं नश्यति मूलनाशतः।
तुष्टाश्च तिष्ठन्ति हि दम्भवर्जिता बन्धेऽनृतत्त्वं ह्यवबुध्य तत्त्वतः ॥११

ज्ञान से तुष्टि (संतोष तृप्ति) होने पर तो कर्म नहीं रह जाता है; क्योंकि कर्मादि का मूल (कारण) अज्ञान के नाश से वासना सहित कर्म नष्ट हो जाता है। और तुष्ट (तृप्त) ज्ञानी लोक संसार में वास्तविक मिथ्यात्व जान कर दम्भादि से रहित होकर स्थिर होते हैं ॥११॥.

ज्ञानाद्विमुक्तिं श्रुतयो वदन्ति बन्धेऽनृतत्त्वं स्फुटमेव तेन।
तथैव शश्वद् गुरवो वदन्ति ज्ञानस्य सिद्धयै लघुसाधनानि ॥१२॥

श्रुति सब ज्ञान से विमुक्ति (संसारबन्धन का सर्वथा अभाव) कहती है, इससे रज्जु सर्पादि के समान संसाररूप बन्ध में मिथ्यात्व स्पष्ट ही है, और तिसी प्रकार गुरु सब भी सदा कहते हैं। और ज्ञान की सिद्धि के लिये लघु (सुगम) साधनों को गुरु सब कहते हैं, यह श्रुति से सद्‌गुरु में विशेषता है॥ यद्यपि उत्तर ज्ञानादि से पूर्व ज्ञानादि की भी निवृत्ति होती है। मित्र का दर्शन से शोक की निवृत्ति होती है, तथापि उत्तर ज्ञानादि तत्त्वज्ञानरूप से पूर्व ज्ञानादि के नाशक नहीं होते, और तत्त्व ज्ञान से जो निवृत्त होता है सो मिथ्या ही होता है, उत्तर ज्ञानादि विरोधिगुणादि रूप से पूर्वज्ञानादि के नाशक होते हैं, और सत रोग का औषधि से कारण में लयमात्र होता है, नाश नहीं होता, और कारण सहित बन्ध का बाध मोक्ष शब्द का अर्थ है। इसी से सत अन्तःकरणादि का भक्ति से अभाव कहना भी युक्त नहीं है, और (नाऽभावो विद्यते सतः) सत का अभाव नही होता, इस गीतावचन से भी विरुद्ध है ॥१२॥

शमादिसिद्धयै ननु योगमभ्यसेन्निष्कामकर्मादिकमाचरेत्सदा।
शमादिसिद्धौ गुरुपादसेवया बन्धाद्विमुक्तो निजबोधतो भवेत् ॥१३॥

इससे शमदमादि साधन की सिद्धि के लिये ही सदा योग का अभ्यास करे, निष्काम कर्मोपासना करे। शमादि की सिद्धि होने पर श्रेष्ठ गुरु के चरणों की सेवा द्वारा आत्मज्ञान से संसार से मुक्त होवे ॥१३॥

सद्भक्तिकर्मादिषु योगवर्त्मसु सदाऽप्रवृत्ताविह मूढचेतसाम्।
भवेत्प्रवृत्तिर्ह्यवशं कुवर्त्मसु बलात्प्रकृत्या नरके निपातनम् ॥१४॥

सत्पुरुषादि की भक्ति में सदा अप्रवृत्ति होने पर, मोहयुक्त चित्तवाले मनुष्यों की इस संसार में कुमार्ग में ही अवश्य प्रवृत्ति होगी; बलात्कार से प्रकृति (स्वभाव) से नरक में निपातन (निक्षेपण) होगा ॥१४॥

ततो ह्यहिंसादियुतेषु कर्मसु सद्भक्तियोगेषु शमादिलब्धये।
भवेत्प्रवृत्तो न नरो विकर्मसु नात्मावधातेषु कदापि संचरेत् ॥१५॥

तिसी कारण से मनुष्य, अहिंसादि से युक्त कर्म, सद्भक्तियोग में ही, शमदमादि की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होय। और कब ही भी विरुद्ध कर्म आत्मघातों में नहीं प्रवृत्त होय ॥१५॥

सत्यात्ममिथ्यात्मभिदां निरीक्ष्य गौणात्मभेदं निपुणो विलोक्य।
तेषामहिंसामथ तद्विहिंसां निरीक्ष्य तेषां हननं न कुर्यात् ॥१६॥

निपुण (विवेकी) पुरुष, सत्यात्मा (चेतन) मिथ्यात्मा (देह) का भेद को जान कर, गौणात्मा (पुत्र) का भेद को देख कर, और उनकी अहिंसा विशेष हिंसा को समझ कर, उनका हनन नहीं करे ॥१६॥

मुख्यात्मनोऽज्ञानमथो विपर्ययो हिंसा तदीया कथिता कवीश्वरैः।
अखण्डसौख्यैकरसेन बोधनं भवेदहिंसा विहिता मुनीश्वरैः ॥१७॥

मुख्यात्मा का अज्ञान और विपर्यय (विपरीत ज्ञान) ही उसकी हिंसा कवीश्वरों से कही गई है। और अखण्ड सुख एकरस रूप से उसको जानना जनाना उसकी अहिंसा मुनीश्वरों से विहित है ॥१७॥

विकर्मवृत्त्या तमसा प्रवृत्त्या हठैर्विपीड्यास्य विपातनं वा।
मिथ्यात्मदेहस्य भवेद्विहिंसा ततोऽन्यथा स्यादविहिंसनं च ॥१८॥

विरुद्ध कर्म में स्थिति वा विरुद्ध कर्म का आचरण रूप राजस प्रवृत्ति से, तथा तामस मोहकृत प्रवृत्ति से, वा हठों से इस शरीर को विशेष पीडित कर के इसका विपातन (नाश) करना ही मिथ्यात्मा रूप देह की विहिंसा होती है, और उससे अन्य प्रकार की अहिंसा है ॥१८॥

गौणात्मपुत्रस्य च शिष्यवृत्तेरशिक्षणं स्याद‌तिलालनं च।
विहिंसनं तस्य च शिक्षणादि भवेदहिंसा विहिता श्रुतौ या ॥१९॥

गौणात्मा रूप पुत्र और शिष्यवृत्तिवाला को शिक्षा (सदुपदेश) नहीं देना, अत्यन्त लालन (दुलार प्यार) करना उसकी हिंसा होती है। और शिक्षा आदि करना उसकी अहिंसा होती है, जो श्रुति में विहित है ॥१९॥

आत्मावहिंसनमिदं त्रिविधं वदन्ति,
तस्मात्परं च विविधं मनसा वचोभिः।
कायेन हिंसनमिदं कथितं परेषां,
हेयं सदा भवति तच्च बुधैर्विविच्य ॥२०॥

विद्वान् लोक यह वर्णित तीन प्रकार की आत्महिंसा कहते हैं, और उससे भिन्न मन वचन शरीर से अन्य की यह अनेक प्रकार की हिंसा पण्डितों से कही गई है। सो विवेक करके विद्वानों से सदा त्यागने योग्य होती है ॥२०॥

हित्वैव हिंसनमिदं स्वपरात्मनोर्वै,
कुर्याद्धितं सुमनसा वचसा शरीरैः।
एतद्धि धर्ममनघाः परमं वदन्ति,
तस्यैव साधनमिमे खलु सर्वधर्माः ॥२१॥

अपनी तथा पर की आत्मा की यह वर्णित हिंसा को त्याग करके ही सुन्दर मन वचन शरीर से सब का हित ही करे। अनघ (पापरहित) महात्मा लोक इसी को परम धर्म कहते हैं। अहिंसापूर्वक हिताचरण रूप इस परम धर्म के ही ये प्रसिद्ध सत्यादि सब धर्म साधन रूप हैं ॥२१॥

यथाशक्ति ह्यहिंसैव कर्तव्या सर्वसज्जनैः।
अशक्ये लघु चाश्रित्य महत्तद्धिंसनं त्यजेत् ॥२२॥

सब सज्जनों के यथाशक्ति (शक्तिभर) अहिंसा ही कर्तव्य (धर्म) है। इससे अशक्य (शक्ति से बाहर) हिंसा के विषय में भी विचारपूर्वक लघु (अल्प) हिंसापक्ष का आश्रयण करके भारी हिंसापक्ष को त्यागे ॥२२॥

आत्महिंसा न कर्तव्या कदाचिदपि सज्जनैः।
जीवन् सर्वं नरः कुर्यान्मृतः किं स करिष्यति ॥२३॥

सज्जनों से आत्महिंसा (देहनाश) कभीभी करने योग्य नहीं है। जीता हुआ मनुष्य सब धर्मादि कर सकता है, वह मरने पर क्या करेगा ॥२३॥

अहिंसाद्यैः सुसंसाध्य शुद्धं चेतो निजात्मनि।
स्थापयेन्नैव चान्यत्र भवबन्धविमुक्तये ॥२४॥

अहिंसा आदि से चित्त को अच्छी तरह शुद्ध करके संसार बन्धन से मुक्ति के लिये उसे अपनी आत्मा में ही स्थिर करे, और अन्यत्र न लगावे ॥२४॥

कायेन विहितं कर्म हिंसाकल्कादिवर्जितम्।
कामदम्भादिकं त्यक्त्वा शुद्ध्यै कुर्यादगर्वितः ॥२५॥

हिंसा और कल्क (दुष्ट भाव) आदि से रहित विहित कर्म को काम दम्भ (कपट) आदि को त्याग कर गर्व रहित होकर शुद्धि के लिये शरीर से करे ॥२५॥

शास्त्रैश्च विहिते मार्गे जुगुप्सा चेद्भवेत्क्वचित्।
स्वप्रियत्वाद्धि धर्मस्य तमधर्मं परित्यजेत् ॥२६॥

चेत् (यदि) शास्त्रों से विहित भी किसी हिंसादि युक्त मार्ग में जुगुप्सा (निन्दा) बुद्धि हो तो ('वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्'॥ मनुः २।१२) इस वचन के अनुसार वेद स्मृति सदाचार के समान धर्म के स्वप्रियत्व भी लक्षण है। इससे ही उस अप्रिय स्वरूप अधर्म को त्याग दे ॥२६॥

अशक्तो विहिते मार्गे निन्दितं न समाचरेत्।
तत्रापि च परीक्षेत देशकालादि सर्वतः ॥२७॥

विहित मार्ग में अशक्त (असमर्थ) भी पुरुष निन्दित कर्म का आचरण नहीं करे, और उस निन्दित कर्म में देशकालादि की सर्वत्र परीक्षा (विचार) करे ॥२७॥

कायेन मनसा वाचा यद्यत्कर्म समाचरेत्।
बुद्ध्या विशुद्धया नित्यं तद् ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥२८॥

शरीर मन वचन से जो २ कर्म करे, विशुद्ध बुद्धि से उस का सदा ब्रह्म में अर्पण करे ॥२८॥

सर्वं करोति वै ब्रह्म मायया सुविकल्पितम्।
वस्तुनः क्रियते नैव न करोत्यद्वयत्वतः ॥२९॥

माया से अनेक प्रकार के कल्पित सब कर्मादि को माया द्वारा ब्रह्म ही करता है, और वस्तुतः अद्वय (अद्वैत) होने से न कुछ किया जाता है, न कोई करता है ॥२९॥

द्वितीयाभिनिवेशेन भयं भवति नान्यथा।
आभजेत ततोऽद्वैतं गुरुदेवात्मविन्मुनिः ॥३०॥

आत्मभिन्न द्वैत में आग्रह से भय होता है, अन्य प्रकार से नही होता; तिससे गुरु परमात्मा आत्मा को जाननेवाला मुनि (मननशील पुरुष) अद्वैत को सम्यक् भजे ॥३०॥ क्योंकि -

योऽस्त्यात्मा यश्च रामो विभुविभवशाली गुणनिधिः,
यश्चास्ते सर्वदेवो दिवि भुवि विलासी सुखनिधिः।
सत्रं भूत्वा प्रकृत्या विलसति सदा यो गुणपरः,
तद्दैवस्यैव भक्त्या पुनरपि गुणान्धो न भवति ॥३१॥

जो आत्मा है, और जो विभु विभवशाली (व्यापक, सर्वज्ञत्वादि सम्पत्ति से सबको वश में करनेवाला) गुणों का निधि (आश्रय पोषक) है, और

(आत्मैव देवताः सर्वाः । मनुः १२।११९) इस वचन के अनुसार जो स्वर्ग भूमि में विलास (लीला) करनेवाला सब देवरूप है, सुखनिधि है । और जो गुणों से पर (भिन्न) होते भी प्रकृति (माया) से सर्वरूप होकर सदा लीला करता है, उस देव की भक्ति से ही जीव फिर भी गुणान्ध (अविवेकी) नहीं होता है ॥३१॥

वेधोविष्णुहरेष्वेवं त्रिगुणेष्वपि कुत्रचित् ।
तावन्मात्रे ह्यलं बुद्धिं कृत्वा सक्तो निबध्यते ॥३२॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश में इसी प्रकार अन्य किसी त्रिगुण पदार्थ में भी तावन्मात्र (व्यक्तिविशेष मात्र) में ही पूर्ण बुद्धि करके उनमें आसक्त पुरुष बँधता है ॥३२॥

तत्रापि च विवेकेन परिपश्यँश्चिदव्ययम् ।
तत्तत्तत्त्वमपि ध्यायन् मुच्यतेऽहिंसको नरः ॥३३॥

और उस ब्रह्मादि में, त्रिगुण पदार्थ में भी चेतनस्वरूप अविकारी ब्रह्म को देखता हुआ अहिंसक मनुष्य तत् २ (तिस २) त्रिगुण तत्त्व (पदार्थ) का ध्यान करता हुआ भी मुक्त होता है ॥३३॥ इस लिये–

सर्वेभ्यः सारमादद्यान्मध्ये नैव वसेत् क्वचित् ।
अन्तप्राप्तौ सयत्नः स्यान्मानुष्यं तस्य शोभते ॥३४॥

जो मनुष्य सब पदार्थ में से चेतनात्मा सार का ग्रहण (ज्ञान) करे, कहीं बीच में (त्रिगुण में) न बसे (आसक्त नहीं होय), संसार का अन्त की प्राप्ति के विषय उपाय सहित रहे, उसकी मनुष्यता शोभती है ॥३४॥

गुरुं हि मत्वा भवमानवं जना भवन्ति तुच्छस्य फलस्य भागिनः ।
शुद्धं विदित्वा ननु बोधदृष्टितो महाफलं प्राप्य पलायते भवात् ॥३५॥

भक्तजन गुरु को संसार का मनुष्य मान कर तुच्छ फल के भागी होते हैं। और विवेक दृष्टि से शुद्ध स्वरूप ही जान कर मनुष्य महान मोक्ष फल की प्राप्ति करके संसार से भग जाता (पार होता) है ॥३५॥

लोकेषु देवेषु जनेषु चैवं शनैर्विदित्वा परमात्मरूपम् ।
स्वान्तेषु चैवं परिचिन्तयन् तं जनो विमुक्तो भवति त्वसङ्गः ॥३६॥

इसी प्रकार लोक देव मनुष्यादि में धीरे २ परमात्मस्वरूप को जान कर, और इसी प्रकार अपने अन्तःकरणों में उसका अच्छी तरह विचार करता हुआ जन असङ्ग और विमुक्त होता है ॥३६॥

आत्मैव वेधा च हरो हरिश्च गुणं समाश्रित्य पृथङ् न तादृक् ।
इदं समस्तं जगदात्मरूपं तेष्वस्ति बोधश्च बलं नचात्र ॥३७॥

आत्मा ही गुण का आश्रयण करके ब्रह्मा और हर तथा हरि है, पृथक् है; परन्तु वस्तुतः तादृक् (वैसा) नहीं है। यह समस्त जगत आत्मरूप है, परन्तु उन ब्रह्मा आदिकों में ज्ञान तप आदि का बल है, और अन्य इस संसार में ज्ञान वा बल नहीं है। यह व्यावहारिक भेद है ॥३७॥

यदा जनो भिन्नतया निषेवते गुणाँस्तदा सेव्यतया स पश्यति ।
गुणात्मिकेयं ननु बन्धनप्रदा माया तयाऽसौ त्ववशं निबध्यते ॥३८॥

जब मनुष्य आत्मभिन्नरूप से किसी को सेवता है, तब वह गुणों को ही सेव्यरूप से देखता है। और गुणस्वरूप यह माया ही बन्धन देनेवाली है, इससे वह पुरुष उस माया से जबरन बांधा जाता है ॥३८॥

यदा जनो भेदमपास्य दूरतो निषेवते क्वापि परं चिदव्ययम् ।
तदा विधूयात्मविबोधतो ह्यमूं परात्परे ब्रह्मणि मोदते सदा ॥३९॥

जब मनुष्य भेद को दूर से त्याग कर कहीं भी श्रेष्ठ चेतन अव्यय तत्त्व को सेवता है, तब वह आत्मज्ञान से उस माया को नष्ट करके प्रकृति से पर ब्रह्म मे सदा आनन्द करता है ॥३९॥

आत्मैव रामः स च कृष्ण उच्यते ब्रह्मैव चात्मा न ततः पृथग् हि सः ।
योग्यादिभिर्ध्येयतया विवक्षितो रामेति शब्देन निगद्यते परः ॥४०॥

आत्मा ही राम है, और वही कृष्ण कहा जाता है। और ब्रह्म ही आत्मा

है, वह आत्मा उस ब्रह्म से पृथक् नहीं है। योगी आदि द्वारा ध्येय रूप से विवक्षित परमात्मा ही 'राम' इस शब्द से कहा जाता है ॥४०॥

अरींश्च कर्षन् स हि कृष्णशब्दभाग् ब्रह्मेति वृद्धेरभियोगतो भवेत्। प्राणान् विकर्षन् स च जीवशब्दको मायां वशीकृत्य परेश्वरो भवेत् ॥४१॥

कामादि अरियों का नाश करता हुआ वही आत्मा कृष्ण शब्द को भजता है (कृष्ण कहाता है)। वृद्धि के अभियोग (संबन्ध) से अर्थात् विभुत्व से 'ब्रह्म' इस नामवाला होता है। प्राणों का धारण करने से वही 'जीव' नामवाला होता है, और माया को वश में करके 'परेश्वर' (परमात्मा) कहाता है॥ इसी आशय से (राम कृष्ण की छोड़िन आशा) इत्यादि वर्णन है॥ और लिङ्गपु० अ० ७०।९७। 'ऋषिः सर्वगतत्वाच्च शरीरी सोऽस्य यत् प्रभुः। स्वामित्वमस्य यत्सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात्' ॥ इत्यादि का भी यही भाव है ॥४१॥

स्वयं न जीवो न च वा परेश्वरस्तथापि रामो रमतेऽत्र सज्जनः। धैर्येण सद्धारणया च संयुतो विभेदमुक्तः स यतिर्विराजते ॥४२॥

स्वयं स्वरूप से तो आत्मा न जीव है, अथवा न परमेश्वर है, तौ भी राम है जिससे इसमें सज्जन रमता है, और धैर्य श्रेष्ठ धारणा से युक्त भेद से रहित वह रमनेवाला यति विराजता है ॥४२॥

उपाधिभेदान्निखिला भिदा भवेदुपाधिभेदो हि गुणप्रभेदतः। गुणेषु भेदो मलशुद्धिभेदतस्तयोस्तु भेदः कृतकर्मतो भवेत् ॥४३॥

अविद्या मन मायादि उपाधि के भेद से जीवेश्वरादि सब भेद होता है, और गुणों के भेद से उपाधियों के भेद होता है। मल और शुद्धि के भेद से गुणों में भेद होता है। किये हुए शुभाशुभ कर्म से शुद्धि और मल का भेद होता है ॥४३॥

कर्मादिभेदः खलु पूर्वदोषत उपाधिभेदाच्च हि तत्र भिन्नता। चक्रेण तुल्या परिवर्तमानता हीत्थं त्वनादिः किल वर्तते भवे ॥४४॥

पूर्वजन्म के रागद्वेषादि दोष से ही कर्मादि का भेद होता है, और उपाधि भेद से ही उस दोष में भी भिन्नता होती है, इससे इसी प्रकार की हो चक्र के समान अनादि ही वर्तमानता (स्थिति) संसार में है ॥४४॥

तत्रैव मूढः परिवर्तमानो बिभेति शश्वन्निजकर्मदोषात् ।
विद्वान् विलूयात्र विभेदजातं विराजते दोषभयादिमुक्तः ॥४५॥

मूढ पुरुष उस चक्रतुल्य संसार में ही सर्वथा रहता भ्रमता हुआ, अपने कर्मों के दोष से (विपरीतता से) सदा डरता है, और विद्वान् (ज्ञानी) पुरुष भेद समूह को नष्ट करके दोष भयादि से रहित होकर यहाँ विराजता है ॥४५॥

अनादिभेदस्य भवस्य मूलतो निवृत्तये वित्तिरलं निजात्मनः ।
विचारवैराग्यशमादितश्च सा प्रलभ्यते कामकलाविवर्जितैः ॥४६॥

अनादि भेदवाला संसार की मूल से निवृत्ति के लिये निजात्मा की वित्ति (अनुभव) ही अलं (समर्थ) है, और वह वित्ति काम की कला (अंश मूल वृद्धि) से रहित पुरुषों से विचार वैराग्य शमादि साधनों द्वारा लाभ (प्राप्त) की जाती है ॥४६॥

निजात्मनस्तावदयं विचारः सर्वैर्विधेयो ननु बोधसिद्धये ।
आत्माऽस्त्यणुः किं स हि देहमात्रे किंवा विभुः सर्वजनानुविद्धः ॥४७॥

बोध (ज्ञान) की सिद्धि ही के लिये प्रथम निजात्मा का यह विचार सब का कर्तव्य है कि आत्मा अणु स्वरूप है, कि वह देहमात्र (देहभर) में है। अथवा सब जन में व्यापक विभु है ॥४७॥

तस्यात्यणुत्वे हि कथं त्विहस्थाः सूर्यं प्रपश्यन्ति जना दिविस्थम् ।
गत्वेन्द्रियं नैव निवेदयेत्तं जडत्वतो नैव मनोपि तस्मात् ॥४८॥

और उस आत्मा के अत्यन्त अणुत्व ही स्वीकार करने पर तो यहाँ स्थिर मनुष्य आकाश में स्थिर सूर्य को कैसे देखते हैं, यह शंका होती है। यदि कहा जाय कि नेत्र इन्द्रिय सूर्य के पास जाकर सूर्य को देखती है, और उस जीवात्मा के प्रति आकर निवेदन करती (समझाती) है, तो इन्द्रिय में जडता

होने से इन्द्रिय जाकर उसको नहीं समझा सकती; और तिसी जडता से मन भी नहीं समझा सकता ॥४८॥

गत्वा नचात्मापि हि बुध्यते तं, गत्वाऽऽगतौ संहननं विनश्येत् । आलातवद् भ्राम्यति चात्मचेतः, कथेति वेद्या ननु वेदबाह्या ॥४९॥

अणु आत्मा भी सूर्य के पास में जाकर के ही उस सूर्य को नहीं जानता है; क्योंकि संहनन (शरीर) को छोड़ कर जाने आने में शरीर ही नष्ट हो जायगा । और आत्मा का चित्त वा आत्मा सहित चित्त, आलात (उल्का) भ्रमण की नाईं भ्रमता है । इस कथा को तो वेद से बाहर की (अप्रमाणिक) जानना चाहिये ॥४९॥

स्वान्तस्य नेत्रस्य तु तैजसत्वात्स्वच्छत्वतो वृत्तिरथो प्रदीप्तिः । मूलं ह्यहित्वैव तु वर्ततेऽलं दूरात्सुदूरे सति तायमाना ॥५०॥

स्वान्त (मन) और नेत्र के तैजसत्व (प्रकाशमयत्व) और स्वच्छता से मन की वृत्ति (परिणाम) और नेत्र की प्रदीप्ति (प्रकाश) तो हृदय वृत्ति मूल को त्यागने बिना ही सत् आत्मा में ही विस्तृत होकर आत्मसत्ता से ही दीपादि प्रभा की नाईं दूर से दूर सूर्यादि देश में अच्छी तरह जाती है, रहती है ॥५०॥

प्रदीपवत्तच्च निजात्मनोऽन्यथा संकोचविस्तारयुतं विवेकिभिः । प्रदृश्यते नात्मनि संभवेत्तथा ध्रुवं ह्यनित्यत्वमुखास्तथा सति ॥५१॥

और संकोच विस्तार (विकाश) युक्त वह मन और नेत्र तो निजात्मा से अन्य प्रकार का प्रदीप की नाईं विवेकियों से जाना जाता है; क्योंकि आत्मा में वैसा संभव नहीं है, और तथा सति (वैसा संकोचादि होने पर) आत्मा में अनित्यत्वमुखा (अनित्यत्वादि दोष) अवश्य ही प्राप्त होंगे ॥५१॥

अतो नचात्मा खलु देहमात्रे विभुः सदा सर्वत एव विद्यते । तेन त्विहस्थोपि रविं प्रपश्यति चित्तेर्व्यवस्था ननु बुद्धिभेदतः ॥५२॥

और इसीसे आत्मा देहमात्र में ही नहीं है; किन्तु विभु है, सदा सर्वत्र

ही वर्तमान है। इसी से तो इस भूमि पर स्थिर पुरुष सूर्य को प्रत्यक्ष देखता है। इस प्रकार आत्मा के एक विभु होते भी वित्ति (ज्ञान) की व्यवस्था (भिन्नता आदि का नियम) बुद्धि रूप उपाधि के भेद से ही होती है ॥५२॥

कोई बुद्धि को ही आत्मा कहे, तब कहा जाता है कि--

आत्मा न देहो न मनो न बुद्धिर्नेवेन्द्रियं प्राणमुखा न केपि।
जडत्वदृश्यत्वविकारयोगादात्मास्त्यसङ्गश्चितिमात्ररूपः ॥५३॥

जडता दृश्यता विकार का संबन्ध होने से देह रूप आत्मा नहीं है, न मन रूप है, न बुद्धिरूप है, न प्राणादि कोई भी आत्मस्वरूप हैं; किन्तु असङ्ग चैतन्य मात्र स्वरूप आत्मा है ॥५३॥

ज्ञातत्वयुक्तं च स एव पश्यति नतोऽन्यथा सर्वजगत् स पश्यति।
सर्वान् विकारांश्च विकारिणं तथा स्वयंप्रकाशः स विकारहीनः ॥५४॥

और (ज्ञातोऽयं घटः) यह घट जाना गया, इस प्रकार ज्ञातत्व सहित को वह आत्मा ही देखता है, और उस ज्ञातत्व से अन्यथा (अज्ञातत्व) रूप से भी सब जगत को वह देखता है, तथा मन आदि के सब विकार और विकारी को भी देखता है। और आप स्वयंप्रकाश, सब विकार से रहित है। योगदर्शन में लिखा है कि, चेतनात्मा के अपरिणामी होने ही से चित्त की सब वृत्ति ज्ञात ही होती है ॥५४॥

भूमेः परोऽयं च ततः परोऽयमित्थं प्रधावन् हि जनस्त्विहान्ते।
नेतः परं वेद्मि किमस्ति किन्नो ह्यास्ते त्वनन्तं किमपि प्रजाने ॥५५॥

भूमि से पर (दूर श्रेष्ठ) यह समुद्र वा अन्तरिक्ष है, उससे पर यह है; इस प्रकार मन से इस संसार में दौड़ता हुआ मनुष्य अन्त में समझता और कहता है कि, इससे पर को नहीं जानता हूं कि क्या है, और क्या नहीं है; किन्तु सामान्य रूप से यह जानता हूं कि, सबका आधाररूप कोई अनन्त वस्तु है ॥५५॥

इत्थं ह्यनन्तं प्रवदन्ति सर्वे जानन्ति सर्वे च विकारसंघान्।
मनोमुखानां नहि ते विकारैर्जातु प्रवेद्या ह्यखिला भवेयुः ॥५६॥

इस प्रकार सब लोक अनन्त का कथन करते हैं, और सब मन आदि के विकारसंघ को जानते हैं। और वे मन आदि के सब विकार विकारों से कभी जानने योग्य नहीं हो सकते, इससे अविकारी आत्मा सिद्ध होता है ॥५६॥

रविश्चक्षुषो देवतेत्याह शास्त्रं प्रकाशो रविर्नास्ति तेनानवस्था।
तथैवाऽयमात्मा स्वयं ज्ञानरूपो जगद्भासयन् वर्तते तैरसङ्गः ॥५७॥

सूर्य नेत्र की देवता है, यह शास्त्र कहता है, और सूर्य स्वयंप्रकाश है, इस से उन्हें सजातीय दूसरा प्रकाश की अपेक्षा नहीं होने से अनवस्था आदि दोष नहीं है। तैसे ही स्वयं ज्ञानस्वरूप (सजातीय विजातीय प्रकाश की अपेक्षा रहित) यह आत्मा जगत को प्रकाशता हुआ भी, जगत के पदार्थों से असङ्ग रहता है ॥५७॥

सदेकं विभुर्निर्भयं निर्विकारं, श्रुतं यच्छ्रुतौ ज्ञानमात्रं निरीहम्।
तदेवाभयं निर्गुणं निर्विकल्पं, निजात्माऽस्ति देवोऽद्वयो दोषहीनः ॥५८॥

जो एक निर्भय निर्विकार ज्ञान मात्र (स्वरूप) निरीह (निष्क्रिय) सत् (ब्रह्म) श्रुति (वेद) में सुना गया है, वही अभय निर्गुण निर्विकल्प (भेदरहित) ब्रह्म, विभु अद्वय दोषहीन निजात्मा रूप देव है ॥५८॥

योऽसङ्गः सर्वसाक्षी निरवधिपरानन्दरूपोऽद्वितीयः,
इच्छादिद्रष्टृरूपस्तनुमतिमनः प्राणसंघप्रदीपः।
सर्वस्मात्प्रेष्ठरूपो विहरति किरन् सौख्यलेशं पुरेषु,
सर्वज्योतिःप्रशान्तौ विलसति च यो ज्योतिषा स्वेन सात्मा ॥५९॥

असङ्ग, सब का साक्षी, सीमा रहित श्रेष्ठ आनन्दरूप, अद्वितीय इच्छा आदि के द्रष्टारूप, देह बुद्धि मन प्राण संघ का प्रदीप (प्रकाशक) सब

से अत्यन्त प्रेष्ठ (प्रियतम) रूप, जो देव, पुर (शरीर) सब में सुख का लेश देता (फैलाता) हुआ विहार करता है, और सूर्यादि सब ज्योतियों की शान्ति होने पर भी जो सुषुप्ति आदि में अपना ही ज्योति (प्रकाश) से प्रकाशित (शोभित) रहता है वही आत्मा है ॥५९॥

यश्चेन्द्रियैर्बाह्यगुणान् प्रपश्यति,
बुद्ध्येन्द्रियं तामपि भासयन् स्वयम् ।
शुद्धो ह्यसौ तत्र गुणस्य विस्तृतिः
मायामनोऽध्यासमयैरुपाधिभिः ॥६०॥

जो आत्मा इन्द्रियोंद्वारा बाहर के गुण (विषय) को देखता है, और इन्द्रियों को बुद्धिद्वारा देखता है, और उस बुद्धि को स्वय साक्षात्प्रकाशता हुआ भी वह शुद्ध ही है, उस में गुण का विस्तार माया मन का अध्यासरूप उपाधि से है, स्वयं नहीं ॥६०॥

यस्मादुदेति लयमेति च यत्र विश्वं,
मायामयं हि सुचिरं परिपाल्यते च ।
शास्त्रैकवेद्यसुखबोधसदात्मको यो,
ज्ञात्वा तमेव सुचिरं परिमोदतेऽलम् ॥६१॥

मायामय संसार जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है, और जिससे बहुत चिरकाल तक परिपालित (रक्षित) रहता है, और जो केवल शास्त्र उपदेश से समझने योग्य सुख ज्ञान सत् स्वरूप है, उसी को जान कर पुरुष सुचिरं (अनन्त काल तक) अच्छी तरह आनन्दित होता है ॥६१॥

पृष्टस्तमेव निजशिष्यवरेण सादरं,
तत्त्वादिसर्वविरसेन रसात्मलब्धये ।
हृष्टो दयादिगुणपूर्णकलेवरो गुरु-
स्तत्त्वं ह्युवाच तदिदं सुजनैर्निशम्यताम् ॥६२॥

शरीरादि सब पदार्थ से विरस (विरक्त) अपने शिष्यों में श्रेष्ठ शिष्य से आनन्दरूप आत्मा की प्राप्ति के लिये उस आत्मा को ही आदरपूर्वक पूछे जाने पर, दयादि गुण से पूर्ण देहवाला प्रसन्न सद्गुरु जिस तत्त्व को कहा, उसी उपदेशरूप इस वचन को सज्जन लोग सुनें ॥६२॥

अथवाऽपृष्ट एवेदं प्रोक्तवान् सर्वसिद्धये ।
श्रुत्वा मत्वा च तत्सर्वं सर्वे सिद्धा भवन्तु वै ॥६३॥

अथवा पूछने विना ही सब के प्रयोजन की सिद्धि के लिये यह कहा है, उस सब उपदेश को सुन कर सब ही सिद्ध होवें ॥६३॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येन दशमोऽसीति वाक्यतः ।
सोऽयमित्यादिसद्वाक्यैरपरोक्षा मतिर्यथा ॥६४॥
तथैव सद्गुरोर्वाक्याद्विचारसहितादिह ।
अपरोक्षात्मविज्ञानमुत्तमस्योपजायते ॥६५॥

तत् (ब्रह्म) त्वम् (तूं) असि (है) इत्यादि वाक्य (उपदेश) से, 'तूं दशमा है' इस वाक्य से, 'सोऽयं देवदत्त.' वह देवदत्त यह है, इत्यादि सत्पुरुषों के वाक्य से जैसे अपरोक्ष मति (ज्ञान) होती है ॥ तैसे ही विचार सहित सद्गुरु के वाक्य से इस संसार में उत्तम शिष्य को अपरोक्ष आत्मज्ञान होता है ॥६४-६५॥

उत्तमस्य प्रबोधार्थमाद्यं काण्डं शुभं कृतम् ।
द्वितीयं मध्यमार्थं तच्छब्देति यन्निगद्यते ॥६६॥

उत्तम का प्रबोध (ज्ञान) के लिये आद्य (पहला) शुभ काण्ड 'रमैनी' किया गया है। और दूसरा वह काण्ड मध्यम शिष्य के लिये किया गया है, जोकि 'शब्द' इस शब्द से कहा जाता है ॥६६॥

कनिष्ठार्थानि चान्यानि सन्ति यानि लघूनि वै ।
अन्त्यं सर्वस्य सारात्म सर्वार्थं विद्यते शुभम् ॥६७॥

जो अन्य लघु २ (छोटे २) काण्ड हैं, सो सब कनिष्ठ शिष्यों के लिये हैं. और सब के सार रूप शुभ अन्त्य (साखी) काण्ड सब के लिये है ।।६७।।

श्रुत्वा सर्वं नरो भक्त्या ध्यात्वा गुरुपदाम्बुजम् ।
आत्मानं हरिमव्यक्तं ज्ञात्वाऽध्यक्षं विमुच्यते ।।६८।।

मनुष्य भक्तिपूर्वक सब प्रकरण को सुन कर, गुरुपदकमल का ध्यान करके अव्यक्त (अप्रकट) आत्मस्वरूप हरि को प्रत्यक्ष जान कर मुक्त होता है ।।६८।।

हिंसां दम्भं मदं हित्वा लब्ध्वा सुकृतमुत्तमम् ।
शोधयित्वा स्वकं स्वान्तं हरिमत्राञ्जसा मिलेत् ।।६९।।

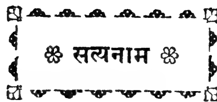
हिंसा दम्भ गर्व को त्याग कर, उत्तम सुकृत (धर्म) को पाकर, अपना मन को शोध कर, इस देह संसार में हरि को शीघ्र तत्त्वतः मिलता (पाता) है ।।६९।।

रसोद्रेकं जनः श्रुत्वा कृतं हनुमता शुभम् ।
रसान्मुक्तो रसं प्राप्य रसायामपि राजते ।।७०।।

मनुष्य हनूमानदास कृत शुभ रसोद्रेक को सुन कर, राग से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द को पाकर रसा (पृथिवी) पर भी शोभता (जीवन्मुक्त) होता है ।।७०।।

।। इति रमैनी रसोद्रेकः सटीकः संपूर्णः ।।





श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सद्गुरु
कबीर साहबकृत बीजक।
स्वानुभूतिव्याख्या तदनुवाद सहित।



सृष्टिप्रकरण १। रमैनी १।

जीव रूप एक अन्तरबासा। अन्तर ज्योती कीन्ह प्रकाशा ॥

जीवात्मैको[1] वसत्यन्तर्भासयन्निखिलं जगत्।
अन्तर्ज्योतिर्हि भूतानां सर्वेषां विमलं महः ॥ १ ॥

विविध विघ्न हरि जीवको, करता नित्य सुखारि।
ता बीजक गुरुदेव की, चरण कमल बलिहारि ॥१॥

सब भूत (प्राणी) के भीतर का ज्योति (प्रकाश) विमल मह (तेज) रूप एक जीवात्मा ही सब जगत को प्रकाशता हुआ, सब के भीतर बसता है ॥१॥

---

१ 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ॥ श्वेता० ६।११॥ 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' ॥ बृ० ४।३।७॥ 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' ॥ ४।४।१६॥

इच्छा रूप नारी अवतरी । तासु नाम गायत्री धरी ॥
तिहि नारि के पुत्र तिनि भाऊ । ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊं ॥

प्रकाशकोऽद्वयः सैव त्वन्तर्यामी परेश्वरः ।
साक्षी सर्वस्य विश्वस्य स सत्यानन्दविग्रहः ॥ २ ॥
वाय्वग्निरविवत्सैक उपाधिषु विभिद्यते ।
आभासैर्बुद्धिमायासु तच्छास्त्रेऽत्रापि च स्फुटम् ॥ ३ ॥
अनौपाधिकतत्त्वस्य ज्ञानान्मोहतिरस्कृतौ ।
जीवन्मुक्तो विमुक्तश्च जीवो ब्रह्मत्वमश्नुते ॥ ४ ॥
मायाऽऽविष्टस्य तस्यैव त्विच्छात्मैवोत्तमा वधूः ।
अवतीर्णा हि गायत्री नाम्ना साऽऽसीद्युता सती ॥ ५ ॥
त्रयस्ते भ्रातरस्तस्याः पुत्रा जाता अयोनिजाः ।
प्रभावैरसमाः[१] सर्वे ब्रह्मविष्णुहराभिधाः ॥ ६ ॥

वही सबके प्रकाशक अद्वैत है, और अन्तर्यामी परमेश्वर है, और सब संसार का साक्षी (द्रष्टा) सत्य आनन्द स्वरूप वही है ॥२॥ वह एक आत्मा वायु अग्नि सूर्य के समान बुद्धि माया रूप उपाधियों में आभासों द्वारा भिन्न हो जाता है, सो रहस्य उपनिषदादि-रूप शास्त्र और इस ग्रन्थ में भी स्पष्ट वर्णित है ॥३॥ उपाधिरहित तत्त्व (सत्यात्मा) के ज्ञान से मोह (अज्ञान) का तिरस्कार (नाश) होने पर यह जीव जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ॥४॥ माया में आविष्ट (प्रविष्ट) उसी आत्मा की इच्छारूप उत्तम स्त्री अवतीर्ण (उत्पन्न) हुई । फिर अवतीर्ण हुई सती (देवी) ही गायत्री नामसे युक्त हुई ॥५॥ ब्रह्मा विष्णु हर नाम वाले, सब प्रताप (तेज) से

१ 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्'॥ कैवल्योपनिषद् ८ ॥ 'त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् । सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति' ॥ भा० स्क० ४।७।५४॥

तब ब्रह्मा पूछल महतारी । के तव पुरुष तुं केकर नारी ॥
हम तुम तुम हम और न कोई । तुम हिं पुरुष हमहि तोर जोई ॥

जनिं लब्ध्वा विकल्प्यैतज्जगच्चैव चराचरम् ।
जिज्ञासायां पुरा ब्रह्मा त्वपृच्छद् भ्रातृसन्निधौ ॥ ७॥
मातरं विनयेनैव को भर्ता तव विद्यते ।
भवति ! कस्य भार्याऽसि ब्रूहि श्रोतुं क्षमं यदि ॥ ८॥
श्रुत्वा तच्चाब्रवीन्माता तत्त्वदृष्ट्या न लोकतः ।
यस्त्वं माऽहमहं त्वं च नान्यः सत्योऽत्र विद्यते ॥ ९॥
आवयोरात्मरूपे हि भिदालेशो न विद्यते ।
सदैव मत्स्वरूपस्त्वं त्वदात्माऽहं न संशयः ।
पुरुषो ब्रह्मदृष्ट्या त्वं भार्या तेऽहं गुणात्मिका ॥१०॥

किसी के तुल्य नहीं; किन्तु सब से बड़े, वे तीनों भाई उस गायत्री के अयोनिज (मानस) पुत्र हुए ॥६॥

पुरा (प्रथम) जन्म लेकर, और इस चराचर जगत की कल्पना करके ही जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होने पर ब्रह्मा जी ने भ्राताओं की समीपता रहते ही में माता को विनय (नम्रता) पूर्वक पूछा कि, हे भवति (पूज्ये) ! तुम किसकी स्त्री है, तेरा भर्ता (स्वामी) कौन है, सो कहो; यदि सुनने योग्य है तो ॥७-८॥ इस बचन को सुन कर तत्त्व (सत्य) दृष्टि से माता बोली (कहिस) कि जो तुम हौ सो मैं हूं, और जो मैं हूं सो तुम हौ, यहाँ अन्य सत्य नहीं है ॥९॥ हम दोनों का आत्मस्वरूप में भेद का लेश भी नहीं है, सदा ही मेरा स्वरूप तुम हौ, तेरा आत्मा मैं हूं, इस में संशय नहीं है । ब्रह्मदृष्टि से तुम पुरुष हौ, गुणात्मक मैं तेरा (ब्रह्मात्मा) की भार्या हूं ॥१०॥

साखी।

बाप पूत की एके नारी। एके माय बिआय।
ऐसा पूत सपूत न देखा। बाप हिं चीन्है धाय ॥१॥

ईशजीवात्मनोरेवं मायैका महिला मता।
जननी पुत्रवर्गस्य सैवावस्थाप्रभेदतः ॥११॥
तादृशाश्च सुपुत्रा नो दृश्यन्ते भुवनत्रये।
बहवो ध्यानतो येऽत्र जानीयुः पितरं निजम् ॥१२॥
असङ्गं सच्चिदानन्दं भिन्नं तु मतिविभ्रमात्।
स्वात्मनश्च सदाऽभिन्नं कर्तारं मायया किल ॥१३॥
आत्मैव योषा पुरुषो निगद्यते काङ्क्षादिकामादिसमाश्रयात् किल।
स्वयं न योषा पुरुषश्च कथ्यते मास्यञ्जगन्मातृतया स उच्यते ॥१४॥
स एव मायापरिमोहितश्च तोकादिभावैः परिवर्तमानः।
कर्मादियोगं विदधन् पितापि ज्ञानेन मुक्तः परितृप्तिमेति ॥१५॥१॥

इस प्रकार ईश्वर और जीवात्मा की एक माया महिला (स्त्री) मानी गई है, अवस्थाभेद से ही पुत्र समूह की माता मानी गई है ॥११॥ और तादृश (तैसा) बहुत सुपुत्र तीनों लोक में नहीं दीख पड़ते, कि जो इस संसार देह में ध्यान से असङ्ग सच्चिदानन्द अपनी आत्मा से सदा अभिन्न मति (बुद्धि) का भ्रम से ही भिन्न माया से ही कर्ता रूप अपना पिता को जानें ॥१२-१३॥ काङ्क्षादि (प्रबल कामादि, और काम (वीर्य) आदि के सम्यक् आश्रयण से आत्मा ही स्त्री और पुरुष कहा जाता है, जगत् को मास्यन् (मापता हुआ, अपने अधीन करता हुआ) माता रूप से कहा जाता है। और स्वयं स्वरूप से स्त्रीपुरुषादि नहीं कहाता है ॥१४॥ वही आत्मा माया से मोहित होकर तोक (पुत्र-अपत्य) आदि भाव से स्थिर होता है, कर्मादि का सम्बन्ध को करता हुआ पिता भी होता है, और

ज्ञान से मुक्त होकर सर्वथा तृप्ति पाता है। अर्थात् उपाधियों से आत्मा में स्त्री आदि पन कल्पित होते हैं, ज्ञान से उनकी निवृत्ति होती है; परन्तु इस ज्ञान के अधिकारी बहुत कम होते हैं ॥१५॥

अक्षरार्थ है कि– सब जीवों का पारमार्थिक (सत्य) स्वरूप एक है, सो सब भूत भौतिक के अन्दर बसनेवाला है। और भीतर में ज्योति रूम से रह कर सब का प्रकाश कर रहा है। बुद्धि आदि उपाधियों में भेद है, आत्मा में नहीं, सो ९४ शब्द और १० कहरा आदि में स्पष्ट है ॥ और यहाँ जीव के पारमार्थिक स्वरूप का कथन से वस्तु का निर्देशरूप मंगल सिद्ध है, इसीसे गणादिकृत दोष भी नहीं है, और परोक्षादि भ्रम का निवारण के लिये परम तत्त्व का जीवरूप पद से कथन किया गया है ॥ मायी उस ज्योतिस्वरूप से इच्छास्वरूप नारी ने अवतार लिया, उसका गायत्री नाम धरा गया ॥ उसी के पुत्र ब्रह्मा आदि नामवाले तीनों भाई हुए ॥,

विशेष विचार :– माया शब्द से यहाँ अनिर्वचनीय (अकथ) भावरूप वस्तु को कहा जाता है, जो कि (न सदासीन्नासदासीत् तदानीं किन्त्वभूत्तमः) इस श्रुति में तम कहा गया है। लोक में भी मायावी से निर्मित वस्तु को माया कहा जाता है। और ब्रह्मात्मा को भी ब्रह्मा विष्णवादि शब्द से गुणसंबन्ध काल में कहा जाता है, सो (रजगुण ब्रह्मा, शब्द ८२) इत्यादि शब्द में और शास्त्र में प्रसिद्ध है। जीव (देवविशेष) रूप भी ब्रह्मा आदि होते हैं, सो भी साधारण जीवों से विलक्षण सामर्थ्य-वाले होते हैं, सो (ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा) इत्यादि रमैनी से सिद्ध है, और यहाँ की कथा देवी भागवत स्क० ३ अ० ३, ४, ५, ६, में देखने योग्य है ॥ वहाँ गायत्री, ब्रह्मविद्या, माया, आदि शब्दों से भी माया-विशिष्ट चेतन (आभास) का ग्रहण है ॥ और समष्टि व्यष्टि इच्छाद्वारा संसार होता है। ज्ञानद्वारा समूल इच्छा की निवृत्ति से व्यष्टि जीव की

मुक्ति होती है, यह भाव है। सृष्टिवर्णन का तटस्थ लक्षण द्वारा आत्मबोध कराने में तात्पर्य है ॥

तब (जन्म लेने पर) ब्रह्मा जी ने महतारी (माता) से पूछा कि, तब (तेरा) पुरुष (पति) के (कौन) है, और तुम किसकी स्त्री है ॥ तब माता बोली कि, हम से तुम हौ और तुम से हम हैं, अर्थात् माया रूप इच्छा से तुम में जीवत्व है, और जीवादि भाव विना चेतन में इच्छा नहीं हो सकती; इससे तुम से हम हैं, और इसी प्रकार बीजाङ्कुर भाव से संसार अनादि है ॥ अथवा तेरा स्वरूप हम हैं, और मेरा स्वरूप तुम हौ, हम तुम में भेद नहीं है, और अन्य कोई भी सत्य नहीं है। सबकी सत्ता एक चेतन रूप ही है, इससे तुम चेतनात्मा पुरुष हौ, और माया रूप में चेतनात्मा की जोई (स्त्री) हूं। (के तोर पुरुष केकर तुम नारी ॥ तुम हि से पुरुष) यह पाठ भेद है। और तुम से अनेकों पुरुष होंगे। हम से ही तुम सबके लिये अनेकों स्त्रियां होगीं; परन्तु अभी हम तुम से अन्य कोई नहीं है, आत्मा एक ही है, इत्यादि अर्थभेद है ॥ (विशेष देखिये देवी भागवत में)

ईश्वर और जीव रूप पिता और पुत्र की माया रूप एक ही नारी है। ईश्वर उसी में कर्म बीज को धरता है, और व्यावहारिक जीव उससे भोग पाता है। और वही माता होकर सब देही को बिआती (पैदा करती) है। परन्तु ऐसा सपूत (लायक) पुत्र (जीव) बहुत नहीं दीखते, जो शुद्ध पिता को ध्यान से समझे ॥ यद्यपि जीवेश्वर भाव अनादि है, तथापि माया की उपशक्ति अवस्था परिणामादि के अधीन ही हैं ॥ और ध्यान से शुद्ध स्वरूप को समझने पर अनादि भी परिणामशील अज्ञानादि नष्ट होते हैं। परिणामी होने से ज्ञानावस्था के अभावात्मक परिणाम को वा शुद्धात्मा में लयात्मक परिणाम को अपुनरावृत्तिरूप से धारण करते हैं ॥१॥

प्रथम रमैनी से केवल जीव के स्वरूप में इच्छा की प्रतीति होती है, तिस प्रतीति का निवारण करते हुए, पूर्ववर्णित अर्थ का संक्षेप से अनुवाद पूर्वक विशेष अर्थ को दूसरी रमैनी से कहते हैं कि–

रमैनी २ ।

अन्तर जोति शब्द एक नारी । हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ॥
ते तिरिये भग लिङ्ग अनन्ता । तेउ न जानल आदिउ अन्ता ॥

एकोऽयं वर्तते ह्यन्तर्ज्योतिरात्मा परं महः ।
सत्यश्चापरिणामी वै ह्यखण्डानन्दविग्रहः ॥१६॥
द्वितीया वर्तते माया शब्दादिजननी च सा ।
परिणामिन्यनित्या चासत्या शब्दादिरूपिणी ॥१७॥
ताभ्यामेव च जायन्ते हरिब्रह्ममहेश्वराः ।
यशस्विनो महावीर्यास्तपःस्वाध्यायतत्पराः ॥१८॥
सत्वादिगुणशालिन्या मायया सहिता हि ते ।
सृजन्ति विविधं लोके वनितापुंमयं जगत् ॥१९॥

वह एक सत्य और अपरिणामी अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा ही अन्तर की ज्योति और श्रेष्ठ तेज रूप है ॥१६॥ और शब्दादि को उत्पन्न करने वाली दूसरी वस्तु माया है, सो परिणामवाली और अनित्य असत्य और शब्दादि रूप वाली भी है ॥१७॥ यशस्वी, महान् वीर्य (प्रभाव शक्ति) वाले, तप अध्ययन में तत्पर, ब्रह्मा विष्णु महेश, उस आत्मा और माया दोनों से उत्पन्न होते हैं ॥१८॥ सत्वादि गुणवाली माया के सहित ही वे ब्रह्मा आदि भी लोक में अनेक प्रकार के स्त्रीपुरुषमय जगत को रचते हैं ॥१९॥

---

१ 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'। तैत्तिरीय ब्रा० ३।१२।९।७॥ 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'। भगवद्गी० १३।१७॥

बाखरि एक विधाते कीन्हा । चौदह ठहर पाठ सो लीन्हा ॥
हरि हर ब्रह्मा महतो नाऊं । तिन पुनि तीन बसावल गाऊं ॥

तेभ्यश्च जज्ञिरे चातः स्त्रीपुंसाः खल्वनन्तशः ।
तेऽपि हा न विदुर्देवं सर्वस्याद्यन्तलक्षणम् ॥२०॥

विचाराद्यैस्तथा मातुर्ज्ञात्वा तं श्रवणाद्विधिः ।
अन्येभ्य उपदेशार्थं दयया प्रेरितो मुहुः ॥२१॥

वेदांश्चकार शुद्धात्मा पश्यन्त्यादिक्रमेण सः ।
परायाः 'ब्रह्मरूपाया वैखरीशब्दलक्षणान् ॥२२॥

तेषामेव तु वेदानां पठनं पाठनं तथा ।
भुवनेषु च सर्वेषु प्रावर्तत पुरा सदा ॥२३॥

स्वभूशंभुविधातारो महान्तस्तावदीरिताः ।
तेषां वाचस्ततः सर्वैः प्रमाणत्वेन संधृताः ॥२४॥

और इसीसे उन लोगों से अनन्त स्त्रीपुरुष का समुदाय उत्पन्न हुए। परन्तु खेद की यह बात है कि, वे सब भी सब का आदि अन्त स्वरूप आत्मदेव को नहीं जान सके ॥२०॥ शुद्धात्मा वह विधि (ब्रह्मा) माता से और अपने विचारादि से उस आत्मा को जान कर, और दया से मुहुः (बार २) प्रेरित होकर, अन्य लोकों के प्रति उपदेश के लिये परा वाणी से पश्यन्ती मध्यमा वाणी के क्रम से वैखरी शब्दरूप वेदों को रचा ॥२१-२२॥ तब उन वेदों का ही पठन और पाठन (पढना पढ़ाना) सब भुवनों में पुरा (प्रथम) सदा प्रवृत्त हुआ ॥२३॥ क्योंकि विष्णु शिव ब्रह्मा जो ही मुख्य महापुरुष कहे गये हैं, तिससे उन के वचनों को सब लोक प्रमाण रूप से धारण किये ॥२४॥

१ 'सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत् । ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम् ॥ वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः' ॥ नन्दिकेश्वर-कारिका ॥ ईश्वर से इच्छा विना जीव माया के व्यक्त होने पर, बिन्दुरूप अव्यक्त हुआ, उससे आकाश में व्यापक परा वाक् हुई, जो मूलाधार में व्यक्त होती है, उसी रूप प्रथम जगत् था । नाभि में पश्यन्ती योगी को और हृदय में मध्यमा अयोगी को भी व्यक्त होती है ॥

तिन पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा । छौ दर्शन छ्यानवे पाखण्डा ॥
पेटहि काहु न वेद पढ़ाया । सुनत कराय तुरुक नहिं आया ॥

वैकुण्ठमथ कैलासं सत्यलोकं च ते त्रयः ।
ग्रामान् संवासयामासुः स्वकीयस्थितये सदा ॥२५॥
अज्ञानां भोगसिद्ध्यर्थं तज्ज्ञमोक्षार्थमेव च ।
ब्रह्माण्डं सह खण्डैस्ते रचयामासुराद्दताः ॥२६॥
षट् [1]दर्शनानि पाषण्डास्तथा षण्णवतिः पुरा ।
जातानि गुणभेदेन किञ्चित्तत्रोच्यते शृणु ॥२७॥
केचिद्‌गर्भे न वै वेदान् पठित्वा लेभिरे जनिम् ।
लभन्ते न तथा केपि छिन्नशिश्नाग्रका बुध ! ॥२८॥

और उन तीनों महापुरुषों ने वैकुण्ठ और कैलास तथा सत्यलोक रूप ग्रामों को अपनी सदा स्थिति के लिये बसाया ॥२५॥ सब लोकों से आद्दत (सत्कृत) वे ब्रह्मा आदि, अज्ञानियों का भोग की सिद्धि के लिये तथा तज्ज्ञ (ज्ञानी) का मोक्ष के ही लिये खण्डों के सहित ब्रह्माण्ड को रचे ॥२६॥ पुरा (पहले) गुणों के भेद से छौ दर्शन (धर्म संप्रदाय) और छ्यानवे पाखण्ड (वेषधारी) उत्पन्न हुए, तिसमें कुछ कहा जाता है, उसको सुनो ॥२७॥ हे बुध (पण्डित)! कोई गर्भ में (पेट में) ही वेदों को पढ कर जन्म नहीं लिये हैं, और कोई भी छिन्न शिश्न (लिङ्ग) अग्रवाला (सुन्नतयुक्त) होकर जन्म नहीं लेते हैं ॥२८॥

---

१ यद्यपि पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक; ये छौ दर्शन संस्कृत में प्रसिद्ध हैं। षड्दर्शन समुच्चय, सर्वदर्शन संग्रहादि में बहुत दर्शन के भेद हैं। तथापि हिन्दी के कवि लिखे हैं कि, 'योगी जंगम सेवडे, बुध संन्यासी शेख। दादू दरशन राम विनु, सबे कपट के भेख ॥' 'योगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश। छठमा कहिये ब्राह्महि, छौ घर छौ उपदेश ॥' 'दश संन्यासी बारह योगी, चौदह शेख बखान। अठारह ब्राह्मण औ जंगम, चविश शेवड़ा जान ॥' 'पाषण्डाः सर्वलिङ्गिनः।' अमरकोश ॥ 'दर्शनं नयनस्वप्नबुद्धिधर्मोपलब्धिषु।' मेदिनीकोश ॥

नारी मोचित गर्भ प्रसूति । स्वांग धरे बहुते करतूती ॥
तहिया हम तुम एके लोहू । एके प्राण वियापै मोहू ॥

सर्वे प्रसूतिकाले वै जाता गर्भाः समाः सदा ।
प्रकल्प्य विविधान् वेषान् श्रैष्ठ्यं तैरेव मन्वते ॥२९॥

तावद्भिः कृतकृत्यत्वमहो मोहस्य विस्तृतिः ।
अज्ञानादेव संजाताः पाखण्डा नैव तत्त्वधीः ॥३०॥

जन्मकाले वयं यूयं ह्यसृङ्मांसादिसंहतौ ।
शरीरे प्राणसंघे च कृतात्मधिषणाः खलु ॥३१॥

आस्म भेदस्तु बोधने मनुष्ये नान्यथा क्वचित् ।
ततो बोधं विना सर्वे स्त्रियोपि पुरुषाश्च वा ॥३२॥

तुल्या नास्त्यत्र संदेहो मोहाद्यैरावृत्तत्वतः ।
केन ज्ञानेन चात्रैते जन्मना भिन्नतां गताः ॥३३॥

किन्तु प्रसूति (जन्म) काल में सब गर्भ (शिशु-बच्चे) सदा सम (तुल्य) ही उत्पन्न होकर, फिर अनेकों प्रकार के वेषों को बनाकर उन्हीं से श्रेष्ठता मानते हैं ॥२९॥ और तावत् (वेषमात्र) से अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अहो (आश्चर्य स्वरूप) मोह का विस्तार है। अज्ञान से ही पाखण्ड अच्छी तरह उत्पन्न हुए हैं, और तत्त्वज्ञान अच्छी तरह नहीं हुआ है ॥३०॥ जन्म काल में हम आप सब ही रक्तमांसादि का संघात रूप शरीर में और प्राणों के समूह में ही आत्मबुद्धि किये रहे और मनुष्य में भेद तो ज्ञान से होता है, और प्रकार से कहीं भी भेद नहीं होता; तिस कारण से और मोहादि से आवृत्त रहने से ज्ञान के बिना सब स्त्री वा पुरुष तुल्य ही हैं, इसमें संशय नहीं है, और किस ज्ञान से ये सब यहाँ जन्म से ही भिन्नता (भेद) को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् किसी ज्ञान से नहीं ॥३१-३३॥

एके जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयऊ न्यारा॥
भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया॥

मायैका जननी वाऽमून् जनयामास देहिनः।
आत्मबोधं विना केन बोधेन भिन्नता भवेत्॥३४॥
सुबोधेन हि ये पूर्णाः पुरुषास्त उदाहृताः।
सर्वश्रेष्ठाश्च मान्यास्ते तथा वेदा वदन्ति वै॥३५॥
अहो तथापि मोहेन जनित्वैव भगान्नरः।
बालो भूत्वा पुनस्तत्र सक्तः पुंस्त्वं प्रमन्यते॥३६॥
इत्थंभूता नराः केऽपि नादृश्यं सर्वसाक्षिणम्।
आत्मानं क्वापि विन्दन्ति कर्हिं वर्षशतैरपि॥३७॥

अथवा माया रूप एक माता ने इन सब देहधारियों को जन्माया है, आत्मज्ञान के बिना किस ज्ञान से भिन्नता होगी॥३४॥ जो सुन्दर ज्ञान से पूर्ण हैं, वे ही पुरुष कहे गये हैं। और वे ही सर्व श्रेष्ठ और मान्य हैं; इसी प्रकार वेद कहते हैं॥३५॥ आश्चर्य है कि तौ भी नर (मनुष्य) भग (योनि) से जन्म लेकर, बालक होकर, मोह से फिर तत्रैव (उस भग में ही) आसक्त हुआ भी अपने में पुंस्त्व (पुरुषत्व) मानता है॥३६॥ इस प्रकार के कोई भी मनुष्य, अदृश्य सर्वसाक्षी आत्मा को सैंकड़ों वर्षों में भी कहीं भी कभी नहीं पाता है॥३७॥

---

१. 'न त विदाथ यत इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव। निहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप् उक्थशासश्चरन्ति'। (ऋग्वेद म० १० अ० ६ स० ८२) अज्ञानरूप निहार, मिथ्या जल्प (कथन) से आवृत्त, प्राणपोषणपरायण, आप उक्थ (सामवेद का भागविशेष) गाते हैं; परन्तु उसे नहीं जानते कि, जिससे वे सब भूत हुए हैं। और वह अह ज्ञान का विषय से भी अन्य है और उसके अन्दर है॥

अविगति की गति काहु न जानी। एक जीभ कित कहौं बखानी ॥
जो मुख होय जीभ दश लाखा। तो कोइ आय महन्तो भाखा ॥

अनन्तो महिमा तस्याऽगृह्यस्य वै निजात्मनः।
एकया जिह्वया तावत् कथंकारेण कथ्यते ॥३८॥
जिह्वावक्त्राणि स्युः कस्य नियुतानि दशात्र चेत्।
तथाप्यस्याल्प एवासौ महिमा कथ्यते हि तैः ॥३९॥
इत्थंभूतात्मतत्त्वं हि न लभ्यं पशुधर्मिभिः।
अहो तथापि लोकोऽयं पशुधर्मे प्रवर्तते ॥४०॥
भगासक्त्यभिमानादिः पशुधर्मो निगद्यते।
तेन रामं नरोऽज्ञात्वा संसारेऽत्र निमज्जति ॥४१॥
रामं ज्ञात्वा महाप्राज्ञा ह्युत्तरन्ति भवार्णवम्।
रामनाम विना मूढो मुहुर्भ्रान्त्वा निमज्जति ॥४२॥

इन्द्रियों से ग्रहण के अयोग्य उस निजात्मा की महिमा अनन्त है, एक जिह्वा से तावत् (सब) महिमा किस प्रकार कहा जाय ॥३८॥ यदि इस संसार में किसीके दश नियुत (लाख) जिह्वा सहित मुख हों, तौभी उन मुखों से इस आत्मा की अल्प ही वह महिमा कही जाती है ॥३९॥ इस प्रकार के स्वरूप वाला (अनन्त महिमा वाला) आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप, पशुधर्मी (विषयी पामर) से लभ्य (प्राप्ति योग्य) नहीं है। आश्चर्य है कि तौ भी यह लोक पशुधर्म में प्रवृत्त होता है ॥४०॥ स्त्री आदि में आसक्ति अभिमानादि पशुधर्म कहाता है, तिसी से मनुष्य राम को नहीं जानकर इस संसार में डूबता है ॥४१॥ महाज्ञानी लोक राम को जान करके ही संसारसागर को तरते हैं। और मूढ पुरुष रामनाम बिना बार २ भ्रम कर डूबता है ॥४२॥

साखी ।

कहहिं कबीर पुकारि के, ई बैली व्यवहार ।
रामनाम जाने बिना, बूड़ मुआ संसार ॥ २ ॥

सकृदेव प्रपन्नस्य सर्वभूताऽभयं यतः ।
स रामः सर्वभृत् साक्षी ज्ञानमात्रेण रक्षति ॥४३॥
यस्याऽज्ञाने न केऽप्यत्र संतरन्ति भवार्णवम् ।
तं सर्वसुहृदं रामं वन्दे सच्चित्सुखात्मकम् ॥४४॥
यन्नामवित्त्या सततं च भक्त्या स्मृत्या च यस्यात्र निजात्मरूपम् ।
सदाऽप्रबुद्धं त्वधुनाऽनुबुद्धं स्यात्तं भजे राममजं हरिं च ॥४५॥२॥

एक बार ही शरण में प्राप्त को जिस राम से सब प्राणी से अभय होता है, (सर्वत्र आत्मदृष्टि मे भय का अभाव होता है) सब का धारण पोषण करनेवाला साक्षी स्वरूप वह राम ज्ञानमात्र से पूर्ण रक्षा करता है ॥४३॥ जिसके अज्ञान रहते कोई भी यहाँ (लोक में) संसारसागर को नहीं तरते हैं, सत् चित् सुखस्वरूप सबके सुहृद् उस राम की मैं वन्दना करता हूं ॥४४॥ जिसका नाम की वित्ति (ज्ञानोपासना) से, और जिसकी सदा भक्ति से, और स्मृति (ध्यान) से, इस संसार में सदा अप्रबुद्ध (सोया हुआ) भी निजात्म-स्वरूप अधुना (इस समय) अनुबुद्ध (जाग्रत्–ज्ञात) होता है, उस अज हरि और राम को भजता हूं ॥४५॥

अक्षरार्थ– सब के भीतर रहनेवाला ज्योतिरूप एक आत्मा है, और शब्दादि नामरूप वाली नारी (माया) भी एक है, उसी का प्रगट स्वरूप गायत्री होती है, इससे ताके (आत्मा सहित माया के) [1]हरि ब्रह्मा त्रिपु-

१ विशिष्ट में इच्छा से त्रिगुण का विस्तार होता है । इच्छा भी चिदाभास सहित माया का परिणाम रूप होती है, आत्मा अपरिणामी असङ्ग है ॥ और, ' स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत् ' । तैः० ब्रा० २।२।४।२॥ इत्यादि के अनुसार गायत्री आदि शब्दपूर्वक सृष्टि में भी तात्पर्य हो सकता है ॥

रारी पुत्र हुए हैं। फिर माया सहित उन तिरिये (तीनों) से [1]अनन्तों भंगलिङ्गवाले स्त्रीपुरुष रूप प्राणी हुए। परन्तु तेउ (वे भी) गुरुविचारादि विना सबके आदि अन्त स्वरूप आत्मा को नहीं जान सके॥

यहाँ यह विशेष बात है कि, यद्यपि (ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा) विष्णुपु० अंश ६।५।४) इसके अनुसार ऐश्वर्यादि का वाचक भग शब्द है, तथापि (भगं योनिः) इत्यादि कोश के अनुसार योनि आदि का भी बाचक है। और अवयव द्वारा अवयवी का बोधक है। इसी प्रकार लिङ्ग शब्द यहाँ पुरुष का बोधक है। और चिन्ह शिवमूर्ति अनुमान उपस्थादि का वाचक है॥

विधाता (ब्रह्मा) जी ने वेदरूप एक बाखरी (वैखरी) वाणी को रचा, तब चौदहों ठहर (भुवनों) में लोकों ने उसी का पाठ लिया (ज्ञान के लिये सब लोक उसे पढ़ने लगे); क्योंकि हरिहरादि महान नाम वाले हुए, इससे उन के वचन में सब की श्रद्धा हुई। वे लोक फिर वैकुण्ठादि रूप तीन गाम बसाये॥ देवी भागवत स्क० ३ अ० ६-७ में ब्रह्मलोकादि की सृष्टि का बसने का वर्णन है। देव मानव पाताल लोक भी तीन ग्राम का अर्थ हो सकता है॥

विशेष बात यह है कि, यद्यपि कहिं २ चौक, अंगनाई घर को बाखरी कहते हैं, तथापि यहां पाठादि शब्द के साहचर्य (साथ) से उसका वैखरी वाणी अर्थ किया गया है। और ईश्वर से व्यक्त हुआ बिन्दु (चिदचित्-संबंध) से जो प्रथम शब्द होता है उसे परा वाक्-शब्दब्रह्म कहते हैं, वह मूलाधार में व्यक्त होता है, उसे योगी ही जानना है, नाभि में व्यक्त हुआ

१ उन तीनों में अनन्त भग (ऐश्वर्यादि) के लिङ्ग चिन्ह थे, इत्यादि भी योजना हो सकती है॥

पश्यन्ती कहाता है, हृदय में व्यक्त हुई वाक् मध्यमा कहाती है। उच्चारण कर्ता से अन्य को भी सुनने योग्य शब्द को वैखरी कहते हैं ॥

फिर उन ब्रह्मा आदिकों ने पृथिवी के नव खण्ड और ब्रह्माण्ड को रचा। यद्यपि मायी ईश्वर से ब्रह्माण्डादि की सृष्टि आगे कही गई है, तथापि यहाँ का वर्णन ब्रह्मा आदि में ईश्वराऽभेद दृष्टि से है, अथवा ब्रह्माण्डादि में खण्ड धर्म व्यक्ति आदि की रचना व्यवस्था में यहाँ के कथन का तात्पर्य है ॥ फिर संसार में योगी, जङ्गम, शेवड़ा, संन्यासी, दरवेश (शेख) और ब्राह्मण नामधारी छौ दर्शन (धर्म) हुए। फिर १२ योगी १८ जंगम २४ शेवड़ा १० संन्यासी १४ दरवेश (शेख) और १८ ब्राह्मण रूप ९६ पाखण्ड हुए ॥ और पाखण्ड फैलने ही से कोई माता के गर्भ से वेद पढ कर नहीं आया, न तुरुक सुन्नत कराकर आया; किन्तु प्रसव (जन्म) काल में माता रूप नारी से मोचित (त्यागा जन्माया गया) जो गर्भ (लड़का) सो फिर बहुत करतूत (कल्पित) स्वांग (वेष) को धरता है, वही वस्तुतः पाखण्ड है ॥

तहिया (जन्मकाल में) हम तुम सभी एक समान रुधिर प्राणादिवाला शरीर के अभिमानी थे, और मोह भी सब में एक प्रकार का ही व्यापा था, और संसार के जनी (स्त्री) जना (पुरुष) सब भी एक सा थे। वा एक मायारूप जनी (स्त्री) ने संसार को जना (उत्पन्न-किया) तो जन्मकाल में ही कौन ज्ञान से कोई न्यारा (श्रेष्ठादि) हुआ, वा हो सकता है ॥ (आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। ज्ञानं नराणामधिको हि लोके ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥ नरसिंहपु० अ० १६।१३) आहारादि मनुष्यों के पशुओं के तुल्य ही हैं, लोक में ज्ञान ही मनुष्य के पशु से अधिक है, ज्ञान धर्मादि रहित मनुष्य पशु तुल्य ही हैं ॥ यद्यपि (जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च) इस अत्रि स्मृति में जन्म से ही ब्राह्मणता लिखा है, तौ भी वह सामान्य बात है; क्योंकि शमदमादि रूप

गीता में वर्णित ब्राह्मण का स्वभाव जन्म से नहीं हो सकता। और वसिष्ठ स्मृति में लिखा है कि, (योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम्। विद्याविज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥ अ० ६।२१। नानृग् ब्राह्मणो भवति न वणिग् न कुशीलवः। न शूद्रप्रेषणं कुर्वन् न स्तेनो न चिकित्सकः ॥ अ० ३।४) योगादि ब्राह्मण के लक्षण हैं ॥ ऋगादि का ज्ञान से रहित, वणिक् कुत्सित शीलवाला (चारण) आदि ब्राह्मण नहीं होता इत्यादि ॥ इससे सब के एक ब्रह्मस्वरूप होते भी, अहिंसक, हिंसक का, निरामिष, सामिष का, सच्चा, झूठा का, साधु, चोर का, विरक्त, रागी का, ज्ञानी, अज्ञानी का भेद तो उचित है। परन्तु जन्म मात्र से नहीं ॥

आश्चर्य है कि यह प्राणी भगद्वारा संसार में आया, और आकर बालक हुआ, और फिर भोग में आसक्त होकर के ही, जिसका भग भोगा उसका पुरुष (स्वामी पति) कहाया। इससे अविगति (अग्राह्य-अगम-अपार) आत्मा की गति (मर्म महिमा) को काहु (किसी) ने नहीं जाना ॥ वह महिमा अनन्त है, तथा नहीं जाननेवाले भी अनन्त हैं, एक जिभ से कहाँतक व्याख्यान करके मैं कहूं[1] ॥ यदि किसीके मुख जीभ दश लाख हों तौ भी कुछ ही महत्व (महिमा) उस महान् पुरुष से भी कहा जा सकता है, सम्पूर्ण नहीं। (आत्मबोधेन ये पूर्णाः पुरुषास्त उदाहृताः) यह आत्मपुराण के वचन हैं।

कबीर साहब पुकार कर कहते हैं कि, ये भगभोगादि में आसक्ति, मिथ्या अभिमानादि, बैलतुल्य जड़ लोकों का व्यवहार है। और इसीसे ये संसारी लोक रामनामवाला को जाने विना भवसागर में डूब मरे ॥ ई बैली, के स्थान में, ई ऊले, पाठ भेद है। अर्थ है कि, यह जीव उस पाखण्ड व्यवहार को लिया। वा इस लोक परलोक में भी यही व्यवहार हुआ; इत्यादि ॥२॥

---

१. भाव है कि यह समझने की बात है, कहने की नहीं। समझाने के लिये इसारा ही हो सकता है, अन्य नहीं। आगे की बात सम्भावना मात्र है। अविगति की गति भी समझने की वस्तु है।

माया सहित चेतनात्मा से गायत्री ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति को सुनकर शंका हुई कि जैसे सामर्थ्ययुक्त गायत्री ब्रह्मादि की उत्पत्ति मायी चेतन से होती है, तैसे मायी चेतन की उत्पत्ति भी किसी अन्य से होनी चाहिये; परन्तु उसकी उत्पत्ति अन्य से मानने पर अन्योन्याश्रयादि दोष की प्राप्ति होगी, इससे गायत्री ब्रह्मा आदि में ही किसीको अनादि अविनाशी सत्य ईश्वर मानना उचित है। यदि गायत्री ब्रह्मादि की उत्पत्ति मानी भी जाय तो जिज्ञासा होती है कि उनसे भी प्रथम कोई उत्पन्न हुआ था, या नहीं; यदि उत्पन्न हुआ था, तो कौन था, और ब्रह्मादि भी कहाँ थे; इत्यादि। तब कहते हैं कि—

रमैनी ३

प्रथम अरम्भ कौन के भाऊ। दूसर प्रगट कीन्ह सो ठाँऊँ॥
प्रगटे ब्रह्म विष्णु शिव शक्ती। प्रथम हिं भक्ति कीन्ह जिव उक्ती॥

आरम्भो ह्यभवत् केषां तावदेतद् विचार्यताम्।
प्रभवन्ति यतश्चैते द्वितीयो विद्यते स कः॥४६॥
अभिव्यक्तविचारो हि प्रथमः क्रियतां त्वया।
अभिव्यक्ताश्रयस्याथ द्वितीयः स विधीयताम्॥४७॥
वेधोविष्णुहराः शक्तिर्ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
मायया परिणामिन्या ह्याविरासन् युगादिषु॥४८॥

तावत् (तबतक-प्रथम) आप से यह तत्त्व विचारा जाय कि, किन पदार्थों का आरम्भ (उत्पत्ति) हुआ है। और जिससे ये (आरम्भवाले) होते हैं, सो दूसरा कारण कौन है॥४६॥ तुझे अभिव्यक्त (प्रगट कार्य) का विचार ही प्रथम करना चाहिये। और अभिव्यक्त के आश्रय का वह विचार दूसरा करो॥४७॥ इस विचार से ही समझो कि, ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ति ये सब, अपरिणामी ब्रह्म से ही परिणामवाली माया द्वारा युगों के आदि में आविर्भूत (प्रगट) हुए॥४८॥

प्रगटे पौन पानि औ छाया। बहु विस्तार के प्रगटी माया॥
प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा। पृथिवी प्रगट कीन्ह नौ खण्डा॥

जीवत्वं स्वेषु संकल्प्य भक्तिं चक्रुश्च ते पुनः।
मातरिश्वा पयश्चैव तेजोऽपि व्यानगात्मनः॥४९॥
महाकाशस्वरूपेण स्वयं मायाऽभवत् किल।
आत्मसत्ताप्रकाशाभ्यां जानीहि मतमुत्तमम्॥५०॥
जरायुजाण्डजातानि ब्रह्माण्डानि सहस्रशः।
पृथिवी तत्र खण्डानि प्रादुरासन् पुरा ततः॥५१॥
सिद्धाश्च साधकाः सर्वे जनाः संन्यासिनस्तथा।
प्रादुर्भूयालगन् सर्वे देवे नाशविवर्जिते॥५२॥
देवा नरा मुनीनां च संघा वै भूतजातयः।
प्रादुर्भूय तमन्विष्य परां ग्लानिमुपागताः॥५३॥

और फिर वे लोग अपने में जीवत्व की कल्पना करके भक्ति किये। और मातरिश्वा (वायु) जल तेज भी आत्मा ही से व्यक्त हुआ।॥४९॥ आत्मा की सत्ता और प्रकाश से माया ही स्वयं महाकाश स्वरूप से व्यक्त हुई, यह उत्तम मत जानो।॥५०॥ पुरा (प्रथम) माया सहित उस आत्मा से ही, जरायुज (पिण्डज), अण्डज, हजारों ब्रह्माण्ड, पृथिवी उस में नौ खण्ड प्रगट हुए॥५१॥ सिद्ध और साधक तथा सब संन्यासी लोक ये सब प्रगट होकर नाशरहित देव में लगे हुए उसके आश्रित रहे।॥५२॥ देव मनुष्य और मुनियों के संघ (समूह) प्राणी सामान्य भी उत्पन्न होकर, अनात्म दृष्टि से उस अविनाशी देव को खोज कर अत्यन्त ग्लानि (दुःख) पाये॥५३॥

१ 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा।' बृह० ४।५।१४॥ स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।' श्वेता० ६।९॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं महत्॥' श्वेता० ३।१७

प्रगटे सिद्ध साधक संन्यासी । ये सब लागि रहे अविनाशी ॥
प्रगटे सुर नर मुनि सब झारी । ताही खोज परे सब हारी ॥

साखी ।

जीव शीव सब प्रगटे, वह ठाकुर सब दास ।
कबिर और जानै नहीं, राम नाम की आश ॥३॥

अनात्मानं हि यं मत्वा लेभिरे नैव केचन ।
तमात्मत्वेन मत्वा तु लभन्तेऽत्र विवेकिनः ॥५४॥
तटस्थेशाश्च जीवाश्च सर्वेऽमी मायिनो निजात् ।
प्रादुरासन्नजाद्देवादतः, सर्वेश्वरो हि सः ॥५५॥
ज्ञानिनो न तमन्यं तु पश्यन्ति वै निजात्मनः ।
विविक्तं तं परिज्ञाय वर्तन्ते निश्चिताः [1]स्वयम् ॥५६॥
अविनाशिनमात्मानं ज्ञात्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
श्रेयः प्रेयस्ततश्चैव पश्यन्ति ज्ञानिनः खलु ॥५७॥

अनात्मा मान कर जिसको कोई भी नहीं पाये, उसीको आत्मस्वरूप से मनन करके तो यहाँ विवेकी लोग पाते हैं ॥५४॥ मायी (मायायुक्त) निज (नित्य) अजन्मा देव से ये सब जीव और तटस्थ ईश्वर प्रगट हुए हैं । इससे वह देव ही सर्वेश्वर है ॥५५॥ ज्ञानी लोक तो उसको अपनी आत्मा से अन्य (भिन्न) नहीं देखते हैं, और विविक्त (पवित्र-असङ्ग) उसको जान कर स्वयं निश्चित (संशयरहित) रहते हैं ॥५६॥ और ज्ञानी लोक इन्द्रियादि रहित अविनाशी आत्मा को जान कर, उसी से श्रेय (मोक्ष) और प्रेय (लोकसुख) भी देखते हैं ॥५७॥

१ ' आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्व विदितम् । ' बृह० ४।५।६। ' ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः '। श्वेता० ६।१३। ' सर्वतः सर्वसत्वानि सर्वात्मा सर्वसम्भवः। सर्व विलीयते यस्मिन् तद्ब्रह्म मुनयो विदुः ॥ ' सांख्यतत्त्वविवेचन ।

सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं च तम् ।
विज्ञायैतन्मया भूत्वा जायन्ते नैव ते पुनः ॥५८॥
सर्वमुत्पद्यते यस्माद्यस्मिंस्तिष्ठति लीयते ।
तस्याशां कुर्वते तेऽत्र त्वाशामुक्ता भवन्ति च ॥५९॥
रामं ज्ञात्वा मरुन्नाथं मायानाथं जगत्पतिम् ।
अनाथं सर्वनाथं च जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥६०॥
श्रुतं श्रुतौ स्मृतं सर्वस्मृतिसंघे परं महः ।
यत्तं राममहं वन्दे स्वनुभूतं महात्मभिः ॥६१॥३॥

रमैनीरसोद्रेके सृष्टिनिरूपणं नाम प्रथमः प्रवाहः ॥ १ ॥

सबका प्रभु (स्वामी) ईशान (ईश्वर) सबका शरण-रक्षक उस को जान कर एतन्मय (इस रूप) होकर वे लोक फिर नहीं जन्मते हैं ॥५८॥ जिस से सब उत्पन्न होता है, जिस में स्थिर रहता और लीन होता है, उसी की आशा ने लोक करते हैं, और इस संसार में आशा से मुक्त रहित होते हैं ॥५९॥ देवताओं का स्वामी, माया का स्वामी. संसार का स्वामी, स्वयं स्वामी रहित और सब का स्वामी राम को जान कर वे ज्ञानी जीवन्मुक्त होते हैं ॥६०॥ जो परम महः (तेज) वेद में सुना गया है, स्मृतिसंघ में कहा गया है, महात्माओं से अत्यन्त अनुभूत है, उस तेज स्वरूप राम की मैं वन्दना करता हूं ॥६१॥

अक्षरार्थ–सत्यात्मा का बोध के लिये, प्रथम यह विचार करो कि सृष्टि के आदि काल में किसका आरम्भ (जन्म) हुआ। दूसरा विचार करो कि जो इन कार्यों को प्रगट किया सो जन्म देनेवाला ठाम (आश्रय) कौन है ॥ और विचार से ही समझो कि एकदेशी आदि होने से ब्रह्मादि और शक्ति (गायत्री सरस्वती आदि) ये सब उत्पन्न हुए हैं, सत्य अधिष्ठान ये नहीं है। इसीसे अपने में जीवत्व की उक्ति (कल्पना) करके ये लोक भक्ति किये हैं। अथवा अन्य जीवों की उक्ति (कथन) है कि

ब्रह्मा आदि प्रथम ही भक्ति (तप आदि) किये हैं। सो इतिहासादि में प्रसिद्ध है ॥ और पवन जल छाया (कान्ति तेज) उत्पन्न हुए। बहुविस्तारं (आकाश) रूप से माया स्वयं प्रगट हुई। (यहां, प्रथम आरम्भ किसका हुवा, दूसरा जो प्रगट किया सो कौन था, उसका स्थान क्या था, इस प्रकार मूल ग्रन्थ से ही प्रश्न करके उत्तर रूप आगे का भाग हो सकता है कि, ब्रह्मा आदि प्रगट हुए, और निराधार आत्मा माया द्वारा सब को प्रगट किया, इत्यादि) ॥ ब्रह्माण्ड प्रगट हुवा, उसमें अण्डजादि प्राणी हुए। पृथिवी प्रगट हुई, उस में नौ खण्ड किये गये। सिद्ध (योगी) आदि प्रगट हुए, और ये सब अविनाशी आत्मदेव में लगकर स्थिर [1]हुए ॥ देवादि सबके सब प्रगट हुए, और उस देव को दूर दूसरा समझ कर उसके खोज में सब हार परे (हैरान हुए) ॥

अण्डजादि जीव ब्रह्मादि शिव (तटस्थ ईश्वर) सब प्रगट हुए, और वह अविनाशी सच्चा ठाकुर (स्वामी) है, और अन्य सब उसी के दास हैं, इससे कबीर (ज्ञानी गुरु) और (अन्य) को जगदीशादि नहीं समझते हैं; किन्तु एक रामनामवाला की आशा रखते हैं ॥ या कबीर साहब कहते हैं कि, अविवेकी लोक और कुछ नहीं समझते, रामादि नाममात्र की आशा रखते हैं ॥ वे ठाकुर, ऐसा पाठ हो तब अर्थ है कि, अविवेकी के लिये वे ब्रह्मादि ठाकुर हुए, इत्यादि ॥३॥

यहाँ यह विशेष बात है कि, आरम्भ, परिणाम, विवर्त ये तीन वाद कार्यविषयक हैं (कारणाद्भिन्नत्वेनासत आत्मलाभ आरम्भः। सतत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः। अतत्त्वतोऽन्यथाभावो विवर्तः। ये आरम्भादि के लक्षण हैं, उत्पत्ति से प्रथम अत्यन्त असत् का कारण से भिन्न होना

१ सब प्रपञ्च आत्मा में भासता है, इससे वही सबका आश्रय है, सर्वत्र वर्तमान है। ज्ञानी उसे समझते है; अन्य नहीं ॥

रमणादि निरूपण प्रकरण २

इस रमैनी प्रकरण में जीवों के संसार में रमण का वर्णनपूर्वक मोक्ष के लिये उपदेश देना है। परन्तु रमण के स्थानादि का वर्णन विना रमण का वर्णन ठीक नहीं हो सकता; इससे चेतनात्मा जीव शिव भूत भौतिक लोक परलोकादि का कार्य कारण रूप से संक्षिप्त वर्णन करके, अब उपदेशादि का वर्णन करते हैं कि--

रमैनी ४

प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा। कर्ता गावै सिरजनहारा ॥

विश्वस्य प्रथमे भागे काले कृतयुगात्मके।
येऽभूवन् गुरवस्ते वै विचारं व्यदधुर्मिथः ॥१॥
विचारेण परिज्ञाय साश्चर्यं ते त्विदं विदुः।
अहो स्वयमयं कर्ता स्रष्टारं मन्यतेऽन्यकम् ॥२॥

आरम्भ है, वस्तुतः कारण को अन्यथा होना परिणाम है, भ्रम से मिथ्या अन्यथा भाव विवर्त है ॥ परिणाम और विवर्तवाद में कार्य प्रगट होता है, उत्पन्न नहीं होता। इस रमैनी में प्रगट पद का बहुत बार प्रयोग है, और आरम्भ का एक बार है, इससे स्थूल दृष्टि से आरम्भ का, और माया के परिणाम तथा चेतन के विवर्त का स्वीकार ही प्रतीत होता है ॥३॥

संसार का पहला भाग सतयुगरूप काल में जो गुरु लोक हुए, वे ही लोक मिथः परस्पर विचार किये ॥१॥ और विचार से तत्त्व को समझ कर भी वे लोक आश्चर्यपूर्वक, इस बात को जान सके कि, अहो (आश्चर्य) है कि, स्वयं यह कर्ता आत्मा अन्य (अनात्मा) को सृष्टि-कर्ता मानता है ॥२॥

कर्महिं फँ कै जग बौराया । शक्ति भक्ति लै बान्धिन माया ॥

शंका (जिज्ञासा) हुई कि वह शक्ति तथा माया कैसी है कि जिससे जीव बंधता है, और समझता नहीं है, तब कहते हैं कि—

अद्‌बुद रूप जाति की वाणी । उपजी प्रीति रमैनी ठानी ॥

संगायन भजते तं च तस्यैव प्राप्तये मुहुः ।
वित्ताद्यर्थं च कर्माणि कुरुते नात्मचिन्तनम् ॥३॥
[1]कर्माण्येव तु कुर्वाणो लोकः कामादिनाऽमुहत् ।
शक्तिभक्त्या ततो माया बध्नादेनं गुणात्मिका ॥४॥
अनिर्वाच्यस्वरूपा सा मिथ्याऽश्चर्यात्मिका खलु ।
शब्दखाद्यात्मिका जात्या सदा लोकाय रोचते ॥५॥
प्रीतौ तस्यां तु जातायां तत्रैव रमणं जनाः ।
प्रारभन्त विमोहेन न कदापि चिदात्मनि ॥६॥

और उसी को सम्यक् रीति से गाता हुआ भजता है, और उस अनात्मकर्ता की प्राप्ति के लिये, तथा वित्त (धन) आदि के लिये बार २ कर्म करता है, आत्मचिन्तन नहीं करता है ॥३॥ और कर्म ही करता हुआ यह कामी लोक (जन) कामादि से मोहित हुआ है, तिससे त्रिगुण रूप माया इसको शक्ति की भक्ति से बांध दिया है ॥४॥ अनिर्वचनीयस्वरूप, आश्चर्यस्वरूप, शब्दतन्मात्रादि आकाशादि स्वरूपवाली मिथ्या माया ही लोक (जन) को जाति (जन्म) से सदा रुचती (अच्छी लगती) है ॥५॥ और मोह से उस माया में प्रीति होने पर, मनुष्य उसी में रमण का आरम्भ किये, चेतनात्मा में कभी नहीं

१ ‘ अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ’ मुण्डक १।२।९

गुणि अन गुणी अर्थ नहिं आया । बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया ॥
जो चीन्हैं तिहि निर्मल अङ्गा । अनचीन्हे नर भये पतङ्गा ॥

साखी ।

चीन्ह चीन्ह क्या गावहू, वाणी परी न चीन्ह ।
आदि अन्त उतपति प्रलय, आपु हि कै कै लीन्ह ॥४॥

मायायां रममाणाश्च सगुणं वाऽगुणं विभुम् ।
तत्त्वं नैव व्यजानंश्च स्वार्थोऽपि सिद्ध्यति स्म नो ॥७॥
बहवो गुणिनो ये वा मायया बद्धमानसाः ।
विचार्यापि न जानीयुरर्थतत्त्वं कदापि ते ॥८॥
अजानन्तो जनाः सर्वे महत्यग्नौ पतङ्गवत् ।
नश्यन्ति ज्ञानिनो नैव निर्मलाङ्गा भवन्ति ते ॥९॥
ज्ञायतां ज्ञायतामत्र तस्मादात्मानमात्मना ।
मायां ज्ञात्वा जहीह्येनां शब्दगानेन किं [1]भवेत् ॥१०॥

रमते हैं ॥६॥ माया में रमने वाले सगुण वा निर्गुण विभु ईश्वर आत्मा को, उसके तत्त्व (रहस्य) को नहीं जान सके, कुछ स्वार्थ भी नहीं सिद्ध हुआ ॥७॥ अथवा माया से बन्धनयुक्त मनवाले जो बहुत गुणी लोक हुए, सो विचार करने पर भी अर्थतत्त्व को कभी नहीं जान सके ॥८॥ अर्थतत्त्व को नहीं जानते हुए सब मनुष्य महान अग्नि में पतङ्ग के समान मायिक वस्तु में नष्ट होते हैं, और ज्ञानी लोक नहीं नष्ट होते हैं; किन्तु वे लोक निर्मल अङ्ग (अवयव-स्वरूप) वाले होते हैं ॥९॥

तस्मात् (जिससे आत्मज्ञान विना नाश होता है तिससे) इस

१ 'फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥' मनुः अ० ६।६७–७४

यावन्न सद्गुरोः सारशब्दः परिचितस्त्वया ।
शब्दखाद्यात्मिका माया यावत्परिचिता न च ॥११॥
[1]आत्मनस्तावदाद्यन्तौ स्वयमेव करोषि च ।
उत्पत्तिप्रलयौ स्वस्य संकल्पयसि चात्मना ॥१२॥
मायामयं सर्वमिदं विदित्वा त्यक्त्वा च मोहं ममतां सुदूरे ।
ज्ञात्वा निजैकं शिवबोधरूपं संसारबन्धाद् विनिमुच्यसेऽङ्ग !
॥१३॥४॥

संसार में वह आत्मा भवद्भिः (आप लोकों से) ज्ञायताम् २ (अवश्य जाना जाय) । और अपनी आत्मा (मन) से उस आत्मा और माया को विवेकपूर्वक जान कर इस माया को त्यागो; केवल शब्दगान से क्या होगा ॥१०॥ जबतक सद्गुरु का सारशब्द तुमसे परिचित नहीं हुआ (पहचाना नहीं गया है) और शब्द आकाशादि रूपवाली माया नहीं पहिचानी गई है ॥११॥ तबतक अपना आदि अन्त (जन्ममरण) तूं आप ही करते हो, अपनी उत्पत्ति तथा प्रलय की भी अपने मन से संकल्पादि आप करते हो ॥१२॥ और अङ्ग ! भोः, इस सब संसार को मायामय (मिथ्या) जान कर, मोह और ममता को अति दूर में त्याग कर, अपना एक कल्याण ज्ञानस्वरूप को जान कर संसारबन्धन से मुक्त होगे ॥१३॥ ४

अक्षरार्थ–संसार का प्रथम चरण (पाद) रूप सतयुग के गुरु लोक विचार किये, और उन लोकों ने समझा कि, स्वयं कर्ता रूप जीव अन्य सिरजनिहार (कर्ता) को गाता है। अथवा आप सत्यकर्ता को समझ कर, उसे गाने (कहने सुनने) के लिये उपदेश दिये ॥ परन्तु संसारी लोक तो सकाम कर्म ही कर २ के बौराय गया; इससे शक्ति की भक्ति रूप रस्सी से माया सब को बांध दिया, वाममार्ग

१ ' आत्मनो जायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते। स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः ॥ '

हिंसा आदि में फंसा दिया ॥ (कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः) प्रजावाले द्रव्य चाहनेवाले ऋषि लोक कर्म से मृत्यु पाये, यह श्रुति का कथन है। और (नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम्। भा० स्क० ७।२९।३४) केवल कर्म कर्म का प्रतीकार (वारक) रूप एकान्ततः (नियम से) नहीं है ॥

वह शक्ति और माया अद्‌बुद (आश्चर्य) स्वरूप है, इसीसे क्या उस में सत्यादि वाणी जाती है, अर्थात् सत्यादि नहीं कही जाती, या वह कथन मात्र है, वा शब्दादि कार्यरूप है। अज्ञान से उसी में प्रेम होने से लोकों ने उसी में रमैनी (रमण का निश्चय रमण) ठाना ॥ इससे गुणी (सगुण) अनगुणी (निर्गुण) वस्तु नहीं प्राप्त हुआ। अथवा गुणिअन (गुणियों ने) गुणी (विचारा) परन्तु अर्थतत्त्व नहीं प्राप्त हुआ। और बहुत लोक तो माया को भी नहीं समझ सके, सगुण निर्गुण को समझना तो दूर रहा ॥ परन्तु जो लोक समझते हैं उन का अंग (स्वरूप) निर्मल होता है, अन्य लोक जानने बिना पतङ्गतुल्य हुए और होते हैं ॥

केवल गानेवाला से कहते हैं कि, सत्यात्मा माया को विवेकपूर्वक चीन्हों २ (अवश्य पहचानो); केवल गाते क्या हो, या किसको गाते हो, उसे चीन्ह कर गावो। तुम्हें तो अभी वाणी (शब्द वा माया) भी नहीं चीन्ह (समझ) परी है। बिनु समझे ही गाते हैं, और आत्मा से अन्य आदि की कल्पना, तथा अपनी उत्पत्ति प्रलयादि (जन्ममरणादि) तुम अपने ही अज्ञान से कर लिये हो ॥ (स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥ ईश्वरगीता, २।६। स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ॥ कैवल्योपनिषद्) आत्मा स्वयं कर्म करता है, उस का फल भोगता है, संसार में भ्रमता है, उससे मुक्त होता है ॥ माया से परिमोहित वह आत्मा शरीर धर कर सब कर्मादि करता है, इत्यादि ॥४॥

पूर्व रमैनी में कहा गया है कि, संसारी जीव कर्म कर २ के बौराये और विषयादि में रमने लगे; सो सुन कर शंका हुई कि, जीव कबसे बौराये हैं, और अबतक भूल से मुक्त क्यों नहीं हुए, क्या भूल की निवृत्ति का उपाय नहीं है, वा है सो अज्ञेय असाध्य है? यदि ज्ञेय साध्य है तो जानने वाला सबको क्यों नहीं समझाया कि, जिससे सब जीव मुक्त हो जाते, इत्यादि; तब कहते हैं कि-

रमैनी ५

कहँ ले कहौं युगन की बाता। भूला ब्रह्म न चीन्है बाटा॥
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई। बिबि अक्षर लै युक्ति बनाई॥

अनन्तयुगमारब्धं वर्तते खल्विदं जगत्।
उच्यतामस्य किं वृत्तमनन्तं वर्तते हि तत्॥१४॥
ब्रह्मात्मैव त्वयं जीवो ब्रह्मा वाऽनन्तकालतः।
भ्रान्तत्वान्नैव सन्मार्गमपश्यद्धि कदाचन॥१५॥
सारशब्दादिकं मायामपि यो नैव बुद्धवान्।
किं तेन ज्ञायते स्वात्मा ब्रह्मरूपो निरामयः॥१६॥
कदाचिन्मातृवाक्येन विचारध्यानतस्तथा।
हरिब्रह्महराणां हि मनस्सु प्रत्यभादयम्॥१७॥

यह संसार अनन्त युगवाला है, और प्रवाह रूप से आरब्ध (उत्पत्तिवाला) ही है। इसका वृत्त (चरित्र) कौन कहा जाय; क्योंकि वह वृत्त भी अनन्त है॥१४॥ ब्रह्मरूप ही यह जीव, वा ब्रह्मा ही अनन्त काल से भ्रान्त होने से सत्‌मार्ग को कभी नहीं देखा॥१५॥ जो जीव सार शब्द (सत्य उपदेश) आदि को और माया को भी नहीं समझा, तिससे ब्रह्मस्वरूप निरामय (निरोग) अपनी आत्मा क्या जानी जायगी॥१६॥ किसी समय माता का वाक्य से और अपना

विधि अक्षर का कीन बँधाना । अनहद शब्द ज्योति परमाना ॥
अक्षर पढ़ि गुणि राह चलाई । सनक सनन्दन के मन भाई ॥

सत्यात्मा नित्यनिर्बाधश्चिदानन्दघनात्मकः ।
निर्द्वन्द्वो निर्मलः शश्वदजरामरविग्रहः ॥१८॥
अन्येषामुपदेशाय ते मनस्सु व्यचिन्तयन् ।
अकारोकारयोः सन्धिं चक्रुश्चोङ्कारसिद्धये[1] ॥१९॥
संसाध्योङ्कारशब्दं ते तं च हृत्सु समादधुः ।
तस्य च शब्दमुख्यस्य शब्दगम्ये निरञ्जने ॥
ज्योतिरात्मनि निःसीमे संकेतं व्यदधुर्बुधाः ॥२०॥
तमक्षरं पठित्वा ते विचार्य च पुनः पुनः ।
ज्ञानोपासनयोर्मार्गांश्चक्रुश्चरमचारुदान् ॥२१॥

विचारपूर्वक ध्यान से, विष्णु ब्रह्मा और शिवजी के मन में सदा बाध-रहित, चिदानन्द घन स्वरूप, द्वन्द्वरहित, निर्मल, सदा अजर अमर स्वरूप यह सत्यात्मा प्रकाशित (प्रतीत) हुआ ॥१७-१८॥ फिर अन्य जीव का उपदेश के लिये वे लोक मन में विचार किये। और ओम्, इस शब्द की सिद्धि के लिये, अकार उकार का सन्धि किये (अर्थात् दोनों को मिला कर म् सहित ओम् शब्द बनाये) ॥१९॥ और ते बुधाः (वे पण्डित) ब्रह्मा आदि ओङ्कार शब्द को सिद्ध करके उसको हृदय में धारण किये, और शब्द से गम्य (जानने योग्य) निरञ्जन विभु ज्योति (ज्ञान) स्वरूप आत्मा में उस शब्द मुख्य (प्रधान शब्द) का संकेत (वाच्य वाचक का नियम) किये ॥२०॥ और वे लोक उस अक्षर को पढ कर, बार २ विचार कर, चरम (अन्तिम)

१ ' ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ ' नारदीयपु० ५१।१०

वेद् कितेब कीन्ह विस्तारा । फैलि गेल मन अगम अपारा ॥
चहुं युग भक्तन बांधल बाटी । समुझि न परल मोटरी फाटी ॥

सनकस्य मनस्येवं सनन्दनमतौ तथा ।
प्रत्यभात् प्रत्यगात्माऽयं चित्स्वरूपो निरञ्जनः ॥२२॥
अन्येषां च मनस्स्वेवं कञ्चित्कालं सनातनः ।
सनातनेन मार्गेण भाति स्म परमेश्वरः ॥२३॥
ततो बुद्धिभ्रमादन्ये वेदशास्त्राण्यनेकशः ।
सविस्तराणि संचक्रुर्मनसो विस्तृतिर्यतः ॥२४॥
तेन संशयसंग्रस्तं जनस्यैतन्मनोऽभवत् ।
अगम्यापाररूपं सद् विकल्पाकारसंकुलम् ॥२५॥
मनसो निग्रहायाऽलं सज्जनास्तु चतुर्युगे ।
भक्ता मार्गान् हि संचक्रुः शम्बलं व्यदधुस्तथा ॥२६॥
तथापि विस्तृतेस्तेषां तत्त्वं नैवेह गम्यते ।
लभ्यते न क्वचिच्छान्तिर्विस्तारान्मतिविभ्रमाद् ॥२७॥

चारु (शोभन-मोक्ष) देने वाले ज्ञान और उपासनाओं के मार्गों को बनाये ॥२१॥ इस प्रकार सनक जी के मन में और सनन्दनजी की बुद्धि में चित्स्वरूप निरञ्जन यह अन्तरात्मा प्रत्यक्ष हुआ ॥२२॥ और अन्य के मन में भी इसी प्रकार कुछ काल तक सनातन मार्ग से सनातन (अनादि) परमेश्वर भासता रहा ॥२३॥ उसके बाद अन्य लोग बुद्धि में भ्रम से विस्तारयुक्त अनेकों वेदशास्त्र बनाये, जिससे मन का विस्तार हो गया ॥२४॥ तिससे मनुष्य का यह मन संशय से ग्रस्त (कवलित) अगम्यापाररूप होकर विकल्प रूप आकारों से व्याप्त हुआ ॥२५॥ फिर मन का निग्रह के ही लिये सज्जन भक्त लोक चारों युग में मार्ग बनाये, और पूर्ण शम्बल (बाट खर्च) साधन का भी विधि धारणादि किये ॥२६॥ तथापि (तौभी) उस वेदादि का और मार्ग का भी विस्तार होने से यहाँ तत्त्व (सत्य वस्तु) नहीं

भय भय पृथिवी दहुं दिशि धावै। स्थिर न होय न औषध पावै ॥
होय भिस्त जो चित न डोलावै। खसम छोड़ि दोजख को धावै ॥

"द्विधा श्रुतिः स्मृतिश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते"।
महाविचारसद्भाग्यान्निश्चयं कोऽपि गच्छति ॥२८॥

निश्चयाभावतश्चान्ये भयभीता जना मुहुः।
पृथिव्यां दिक्षु धावन्ति लभन्ते न स्थितिं क्वचित् ॥२९॥

सद्गुरोः शरणे सम्यक् स्थितेर्लाभं विना नराः।
आत्मज्ञानौषधं नैव लभन्ते क्वापि कर्हिचित् ॥३०॥

गुरुं सुहृदमन्विष्य शरणे स्थीयते यदि।
लभ्यते वै जनैर्मोक्षः स्वर्गलाभे किमस्त्युत ॥३१॥

हा तथापि जना मूढाः स्वामिनं गुरुमीश्वरम्।
असङ्गं स्वं परित्यज्य धावन्ते नरके स्वयम् ॥३२॥

मिलता है, और विस्तार से तथा प्रति में भ्रम रहने से कहीं शान्ति नहीं मिलती है ॥२७॥ श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) भी द्विधा (भेद विरोधयुक्त) हैं। इससे निश्चय ज्ञान नहीं प्राप्त होता है, महान् विचार और श्रेष्ठ भाग्य (प्राक्तन सुकर्म) से ही कोई निश्चय ज्ञान पाता है ॥२८॥ और निश्चय ज्ञान के अभाव से भयभीत अन्य मनुष्य, पृथिवी पर और दिशाओं में बार २ दौडते हैं, कहीं स्थिति नहीं पाते हैं ॥२९॥ और सद्गुरु के शरण में अच्छी तरह एक स्थिति की प्राप्ति विना मनुष्य आत्मज्ञानरूप औषध को कभी कहीं नहीं पाते हैं ॥३०॥ यदि सुहृद सद्गुरु को खोज कर उन के शरण में स्थिर हुवा जाय, तो मनुष्य को मोक्ष अवश्य मिले, स्वर्ग मिलने में तो कहना ही क्या है ॥३१॥ हा! (खेद है) कि तौभी मूढ मनुष्य अपना स्वामी असंग गुरु ईश्वर को त्याग कर स्वयं नरक में दौडते (जाते) हैं ॥३२॥ राग और मद से

पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई॥
भक्ता भक्तिन कीन्ह शिंगारा। बूड़ि गेल सब मांझहिं धारा॥

पुष्णन्ति देहं ममतां च कुर्वते सर्वेण भावेन कुबुद्धयो नराः।
ज्ञानं विना रागमदान्धबुद्धयो घोरातिघोरे नरके पतन्ति च ॥३३॥

पूर्वकाये[1] हृदि स्वस्मिन्नत्यन्तं निकटेऽस्ति या।
तस्या[2] हंसगतेर्मर्म केऽपि पश्यन्ति सज्जनाः ॥३४॥
ज्ञानिनां च विमुक्त्यर्थं रहस्यं नैव बुध्यते।
भक्तवेषं विधायापि ते ब्रुडन्ति भवार्णवे ॥३५॥
स्त्रियो वा पुरुषा वापि शृङ्गारैकपरायणाः।
वेषासक्तिविमोहाभ्यां भवमध्ये ब्रुडन्ति हि ॥३६॥५॥

अन्धी बुद्धिवाले कुबुद्धि मनुष्य सब भाव (स्वभाव मानसवृत्ति प्रकार) से देह को पोषते हैं, तथा ममता करते हैं, और ज्ञान विना भयानक से अति भयानक नरक में गिरते हैं ॥३३॥

अपने ही में शरीर का पूर्व भाग रूप हृदय में जो हंसों (विवेकियों) की गति (मार्ग-स्थान) है, उस हंस गति का रहस्य (भेद) को कोई सज्जन ही जानते हैं ॥३४॥ और ज्ञानी की मुक्ति का रहस्य जिन से नहीं जाना जाता है, वे लोग भक्त का बेष बना कर भी भवसागर में डूबते हैं ॥३५॥ शृङ्गारमात्र परायण या स्त्री हो अथवा पुरुष हों, परन्तु वेष की आसक्ति और विशेष मोह से भवमध्य में डूबते ही हैं ॥३६॥

---

१ 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।' कठ० २।४।१२। 'एष म आत्मा अन्तर्हृदयेऽणीयान्।' ३।१४।३। 'आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।' कठ० १।२।२०। 'यदा पूर्वदले विश्रमते तदा भक्तिपुरस्सरं धर्ममतिर्भवति।' इत्यादि। ध्यानबिन्दू० ९४

२ 'आत्मप्रबोधतो यस्माद्धत्यविद्यामय पुमान्। तस्माद्धंस इति प्रोक्तः पण्डितैर्वेदवादिभिः॥' आत्मपु० अ० ९।६०२॥

साखी ।

बिन गुरु ज्ञान द्वन्द्व भई, खसम कही मिलि बात ।
युग युग सोइ कहवैया, काहु न मानी बात ॥ ५ ॥

गुरुं ज्ञानं विना चैवं द्वन्द्वानि जज्ञिरे यदा ।
स्वामिनो रक्षकाः सर्वे मिलित्वा गुरवस्तदा ॥३७॥
हितं तथ्यं प्रियं वाक्यं प्रोचुः स्थित्यैर्जनान् प्रति ।
प्रतियुगे च वक्तारो वचः कैश्चिन्न मन्यते ॥३८॥
आत्मना वा प्रकल्प्यात्र मिथ्याभूतं पतिं निजम् ।
मोहात्तस्यैव वक्तारो भवन्ति सर्वदा जनाः ॥३९॥
वाचाऽऽरब्धं वदन्तीमे तं तथा मन्वते नहि ।
सद्गुरोरुपदेशं वा तत्त्वं शृण्वन्ति नो शठाः ॥४०॥
गुरुं विना नैव सदा हृदिस्थं तत्त्वं जनैर्जातु निभाल्यते वै ।
द्वन्द्वैस्ततस्ते परिभूयमाणा वावद्यमाना विमुखा भ्रमन्ति
॥४१॥५॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमैनीरसोद्रेके रमणादिनिरूपणं नाम द्वितीयः प्रवाहः ॥२॥

गुरु और ज्ञान के विना, जब इस प्रकार द्वन्द्व उत्पन्न हुए, तब सब रक्षक स्वामी गुरु मिल कर स्थिति के लिये मनुष्यों के प्रति हित सत्य प्रिय वाक्य कहे, और प्रतियुग (सब युग) में हितादि के वक्ता लोक होते हैं; परन्तु उन का वचन किसी से माना नहीं जाता है ॥३७–३८॥ अथवा अपना मन से मिथ्या स्वरूप (मिथ्या प्राप्त) अपना पति की यहाँ कल्पना करके, मोह से मनुष्य सब सदा उसी के वक्ता होते हैं ॥३९॥ वाचारब्ध (मिथ्या कथनमात्र) स्वरूप कार्य को ये लोक कहते हैं, और उसको वैसा (मिथ्या) नहीं मानते हैं, अथवा शठ लोग सद्गुरु का उपदेशरूप तत्त्व सत्य वचन को नहीं सुनते हैं ॥४०॥

सदा हृदय में स्थित भी आत्मतत्त्व गुरु विना मनुष्यों से कभी नहीं देखा (समझा) जाता है, तिससे द्वन्द्वों से पराजित वादादि परायण वे लोक आत्मविमुख होते हैं ॥४१॥५॥

अक्षरार्थ– अनन्त युगों की बात कहाँ तक कहूं, ब्रह्मरूप जीव वा ब्रह्मा भूला है, सन्मार्ग को नहीं चीन्हता है, या जीव ब्रह्म को भूला है, ज्ञानमार्ग को नहीं समझता है, माता का उपदेशादि से हरिहरादि के मन में सन्मार्ग सत्यात्मा भासा (समझ में आया) तब अन्य के प्रति उपदेश के लिये बिबि (दो) अक्षर को लेकर, उनका सन्धि (संयोग) पूर्वक युक्ति (उपाय) बनाये, रामादि शब्द दो दो अक्षर के सिद्ध किये ॥

सन्धियुक्त उस दो अक्षर का अनहद (विभु) शब्द से जानने योग्य ज्योतिमात्र वस्तु में बन्धान (संकेत) किया ॥ और उस अक्षर को पढ विचार कर कर्म उपासना ज्ञान के मार्ग चलाये, सो मार्ग और सत्यात्मा सनक सनन्दनादि के मन में भी भाया (भासा- अच्छा प्रतीत हुआ) यहाँ तक ठीक रहा, और हुआ । (सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषश्च क्षमार्जवम् । ज्ञानं शमो दया दानमेष धर्मः सनातनः ॥ गरुड पु० आचारका० १।२२१।२४) इत्यादि वचनों में सत्यादि सनातन धर्म (मार्ग) कहे गये हैं ॥

फिर लोगों ने वेद और किताब (ग्रन्थ) का विस्तार किया, जिससे उस शब्दसमुद्र में मन भी अगम्य अपार रूप से फैल गया ॥ फिर चारों युग के भक्तों ने उस मन को समेटने के लिये, और तत्त्व समझने के लिये, बहुत बाटी (मार्गों) को बांधा (सिद्ध किया,) और बाट खर्च भक्ति योगादि को बांधा (उनका धारण किया) तौभी बहुत लोकों को तत्त्व नहीं समझ पड़ा; क्योंकि मोटरी फाट गई (बात बहुत फैल गई) ॥ और (विस्ताराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः । परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ म० भा० शा० अ० २९८।३७।

वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यन्ते द्वापरादिषु । ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः ॥ मत्स्यपु० अ० १४४।११। एकं यदि भवेच्छास्त्रं ज्ञानं सुनिश्चितं भवेत् ।, बहुत्वादिह शास्त्राणां ज्ञानं तत्त्वं सुदुर्लभम् ॥ नृसिंहपु०) शब्द कर्मादि का सब विस्तार दुःखयुक्त है, संक्षेप सुखद है, सब विस्तार दूसरे के लिये हैं, अपने लिये हित त्याग को ही जानते हैं ॥ एक ही वेद द्वापरादि में चार प्रकार किये जाते हैं, फिर दृष्टिभ्रम से ऋषिपुत्रों करके वेद भिन्न होते हैं ॥ शास्त्र यदि एक होता, तो ज्ञान भी सुनिश्चित होता। यहाँ शास्त्र के बहुत होने से तत्त्वज्ञान दुर्लभतर है ॥ इन वचनों से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है ॥

नहीं समझ पड़ने से ही अत्यन्त भयभीत होकर (डर कर) लोग सब पृथिवी पर दिशाओं में दौड़ते हैं, सद्गुरु के पास में स्थिर नहीं होते हैं, इसीसे सब रोग का नाशक ज्ञानौषध नहीं पाते हैं ॥ यदि यह जीव विवेकपूर्वक सद्गुरु के पास में स्थिर होकर, उनके उपदेश से चित्त को न डोलावे (न हटावे) तो, इस को भिसत (बिहिस्त) स्वर्ग मोक्ष होयँ, परन्तु यह तो सच्चा खसम को छोड कर विवेकादि विना स्वयं नरक में दौड़ता (शीघ्र जाता) है, उसी का ध्यान करता है ॥ तुरुक मत में स्वर्ग मोक्ष को बिहिस्त कहते हैं ॥

गुरु स्वामी के शरण में स्थिर हंस (विवेकी) की गति (मार्ग-मुक्ति) और मोक्ष का स्थान, शरीर के पूर्वभाग हृदय में हैं, सो अत्यन्त समीप है; परन्तु उसका मर्म कोई २ बूझते हैं ॥ और ज्यादा भक्त भक्तिन लोकों ने तो शिंगार (विचित्र वेष) का ही धारण किया है, इससे ज्ञानादि विना सब लोक संसार के मध्य धार में बूड़ गये ॥ (पूर्वदले पुण्ये मतिः) हृदय कमल के पूर्वदल पर मन की स्थिति से पुण्यबुद्धि पूर्वक सद्गति होती है, यह हंसोपनिषद का कथन है ॥ और आत्मा का हृदय स्थान वेदादि में भी स्पष्ट निरूपित है, सो वहाँ द्रष्टव्य है ॥

गुरु और ज्ञान की प्राप्ति विना जब संसार में द्वन्द्व भई, तब खसम

(रक्षक स्वामी गुरु) लोकोंने मिल कर, सत्य निर्द्वन्द्वता का हेतु रूप बात कही (समझाई) और सोई बात को युग २ में सदा कहनेवाले गुरु लोक होते हैं; परन्तु कोई अविवेकी उस बात को नहीं माना ॥ अथवा गुरु ज्ञान विना द्वन्द्व होने पर, वेषधारी आदि मिलकर, मिथ्या खसम की बात कहने लगे, युग २ में उसी को कहने वाले हैं, उसे वाचारब्ध नहीं समझते, न सद्गुरु के वचन को मानते हैं, इत्यादि ॥५॥



मोक्षावस्थानिरूपण प्रकरण ३

प्रथम कहा गया है कि, गुरु ज्ञानादि विना द्वन्द्व हुआ, इससे उसकी निवृत्ति का हेतु विचार की प्रक्रिया (रीति) को बताते हुए, आत्मज्ञान के लिये कहते हैं कि-

रमैनी ६

बरण हु कौन रूप औ रेखा । दूसर कौन आहिं जो देखा ॥

ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम् ।
आकाशमिव भूतेषु रूपाकृतिविवर्जितम् ॥ १ ॥
निर्भेदं [1]सुमनोगम्यमवाच्यं जातिवर्जितम् ।
स्वप्रकाशं निराधारं नामादिभ्यः परं शिवम् ॥ २ ॥

रूप आकाररहित ब्रह्म, सब भूतों में आकाश की नाईं सब देहों में और बाहर भीतर स्थित है ॥१॥ और भेदरहित, अवाच्य (वाणी का अविषय) जातिरहित, स्वयंप्रकाश, निराधार, नामादि से पर, शिव (कल्याण) रूप ब्रह्म शुद्ध स्थिर मन से गम्य (समझने प्राप्त करने योग्य) है ॥२॥

१ 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।' कठ० २।४।११

औ ॐकार आदि नहिं वेदा। ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥
नहिं तारागण नहिं रवि चन्दा। नहिं कछु होत पिता के बिन्दा॥

वर्ण्यते किं तदा तत्र रूपं संस्थानमेव वा।
कश्चान्योऽस्ति ततो यो वै तज्जानीयाद् विचक्षणः॥ ३॥
ओङ्कारमूलको वेदो यस्मिन्नैव प्रवर्तते।
कुलगोत्रादिभेदो हि कथं तत्रेति कथ्यताम्॥ ४॥
विदितः प्रतिबोधं योऽमतश्चास्ते स्वयंप्रभः।
अमृतत्वं भवेत्तस्य ज्ञानात्स्वान्तनिरोधनात्॥ ५॥
एवं सति यया बुद्ध्या देहोऽहमिति मन्यते।
अनात्मन्यात्मता भ्रान्त्या सा स्यात्संसारबन्धिनी॥ ६॥
यत्र सूर्यो न वै भाति चन्द्रस्तारागणो न च।
नास्ति जनयिता यस्य वीर्यबिन्द्वादिकारणम्॥ ७॥

तदा (तो-इस अवस्था में) उस ब्रह्मात्मा में रूप वा आकार किसीसे क्या वर्णन किया जाता है, और उस सर्वात्मा से अन्य विद्वान् कौन है, कि जो विचक्षण (विद्वान्) उसे जानेगा ॥३॥ ओङ्कारमूलक (ओङ्कार जन्य) वेद भी जिस में नहीं प्रवृत्त होता है (नेति नेति कहता है) उसमें कुल गोत्रादि का भेद सब किस प्रकार से हो सकते हैं, यह कोई कहो ॥४॥ जो स्वयंप्रकाश और अमत (मन बुद्धि का अविषय) आत्मा प्रतिबोध (सब बुद्धिवृत्ति) में विदित (प्रकाशित) होता है, मन का निरोध से उस का ज्ञान से ही मोक्ष होगा, और होता है ॥५॥ ऐसा होने पर भी अनात्मा में आत्मपन की भ्रान्ति रूप जिस बुद्धि से मनुष्य "देहोऽहम्" मैं स्थूलादि हूं ऐसा मानता है, सो बुद्धि ही संसारबन्धनवाली होगी और होती है ॥६॥(न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। कठ०२।५।१५,श्वे०६।१४) इत्यादि श्रुति के अनुसार जिस में सूर्य नहीं प्रकाश करते हैं, न चन्द्रमा प्रकाशते हैं, न तारागण प्रकाशते हैं, और (न चास्य कश्चिज्जनिता।

नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना। को धरु नाम हुकुम को बरना॥
नहिं कछु होत दिवस औ राती। ताकर कहहु कौन कुल ज़ाती॥

भूमेरपां न सम्बन्धो वियत्पवनयोर्न च।
तस्य नामानि के चक्रुः प्रभो कस्याऽऽज्ञयाऽथवा॥ ८॥

दिवारात्र्यादिभेदो नो यस्मिंस्तत्त्वे हि विद्यते।
तस्य जातिः कुलं वापि किं कथं चेति कथ्यताम्॥ ९॥

विदिताऽविदितस्थूलह्रस्वादिभ्यो विलक्षणम्।
जन्मादिविक्रियाहीनं ज्ञायतां तत्परं पदम्॥१०॥

अस्य मतिर्न तर्केणाऽवरेण गुरुणा न च।
लभ्यते सद्विवेकाद्यैः सद्गुरोर्वचनाद् ध्रुवम्॥११॥

श्वेता० ६।९) इसके अनुसार जिसके जनयिता (पिता) वीर्य (शुक्र) का बिन्दु (कण) आदि का कारणरूप कोई नहीं है ॥७॥ और जिस में असंगता से भूमि जल का संबन्ध नहीं है, और आकाश वायु का सम्बन्ध नहीं है, तस्य प्रभोः (उस प्रभु) के नाम भी कौन किये, अथवा किस की आज्ञा से किये ॥८॥ जिस तत्त्व (सत्य) में दिन रात्रि आदि का भेद भी नहीं है, उस की जाति वा कुल भी क्या है सो कहो ॥९॥ अन्य देव (तद्विदितादथोऽविदितादधि। केन० १।३ अस्थूलमनणुः। बृ० ३।८।८) इत्यादि के अनुसार जो परपद (श्रेष्ठात्मवस्तु) ज्ञाताज्ञात स्थूलह्रस्वादि से विलक्षण स्वयंप्रकाश है, वही परम पद समझो ॥१०॥ (नैषा तर्केण मतिरापनेया। कठ० १।२।९) इत्यादि के अनुसार, इस आत्मा की मति (ज्ञान) तर्क से नहीं प्राप्त होती है, और न अवर (अश्रेष्ठ) गुरु से प्राप्त होती है, किन्तु सद्गुरु का वचन से सद्विवेकादि द्वारा अवश्य प्राप्त होती है, इससे विवेकादि की और सद्गुरु की प्राप्ति करनी चाहिये ॥११॥

सद्गुरु से उपदेश की प्राप्ति और विचारादि के बाद का कर्तव्य को फल की प्रशंसा सहित वर्णन करते हैं कि–

साखी।

सहज शून्य मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोत।
बलिहारी ता पुरुष की, निरालम्ब जो होत॥ ६॥

सहजधारणयाऽथ समाधिना विषयशून्यकृते मनसि स्वयम्।
स्मृतिपथे च कृता मनसाऽमुना स्फुरति वै चितिरद्वयलक्षणा॥१२॥
विषयभावमपास्य तदात्मना भवति यः पुरुषः सुविचक्षणः।
स्तुतिगिरां विषयः सहि मुक्तधीरहह कुत्र जनैः खलु लभ्यते॥१३॥

सहजेन स्वभावेन शून्ये स्वहृदयेऽथवा।
सुविचारे कृते ज्योतिरात्मानन्दोऽभिलक्ष्यते॥१४॥
ज्ञात्वा तं यो निरालम्बो वर्तते भेदवर्जनात्।
स एव पुरुषो धन्यो विमुक्तो भवबन्धनात्॥१५॥

ये वीतरागाश्च जितेन्द्रियास्तथा सुखे च दुःखे च समानवृत्तयः।
त्यक्तारिमित्रादिकुबुद्धयो नरास्सुखेन ते शान्तिपदस्य भागिनः
॥१६॥६॥

सहजा (राजयोगरूप) धारणा, और समाधि से मन के विषयशून्य (रहित) करने पर, फिर उस मन से स्मृति (विचार चिन्तन) पथ (मार्ग) से की गई अद्वयस्वरूप चितिशक्ति (आत्मा) स्वयं ही स्फुरित (प्रगट) होती है ॥१२॥ जो सुन्दर ज्ञानी पुरुष उस आत्मा में विषयरूपता (ज्ञानविषयता) को त्याग कर, तिस स्वरूप से स्थिर होता है, वही मुक्त बुद्धिवाला पुरुष स्तुति रूप वचनों का विषय है, अर्थात् स्तुति

योग्य है, अहह (अत्यन्त अद्भुत) वह मनुष्यों को कहाँ मिलता है। अर्थात् नहीं मिलता है, सोई दुःख की बात है ॥१३॥ अथवा सहज (अनागन्तुक-द्वेषादिरहित) स्वभाव (स्वरूप) से अपना हृदय रूप शून्य (निर्जन स्थान) में सुविचार करने पर ज्योतिः स्वरूप आत्मानन्द अभिलक्षित (प्रत्यक्ष) होता है ॥१४॥ जो पुरुष उस आत्मानन्द को जान कर, भेद का त्याग से निरालम्ब (निराधार-निर्विषय) रहता है, भवबन्धन से विमुक्त वही पुरुष धन्य है ॥१५॥ जो मनुष्य वीतराग (विरक्त) और जितेन्द्रिय, तथा सुख और दुःख में समान वृत्तिवाले, और शत्रु मित्रादि भावरूप कुबुद्धि के त्यागी होते हैं, वे लोक सुख (आनन्द) से शान्तिपद (शान्ति स्थान वस्तु) के भागी (पात्र) होते हैं ॥१६॥६॥

अक्षरार्थ - गुरुज्ञान विना ब्रह्मात्मा में किस रूप रेख (आकार) का वर्णन करते हैं। वह रूपादि रहित है, सो गुरु से समझो। जो उसे देखा, और देख कर वर्णन करता है सो दूसरा कौन है, वह आत्मा है कि अनात्मा है, इस प्रकार विचारो, और (विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। बृ० ४।५।१५ नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा। बृ० ३।७।२३ स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता। श्वेता० ३।१९) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आत्मा को घटादि के समान जानने के लिये कोई साधन नहीं है। वह अन्य का द्रष्टा है, उस का द्रष्टा ज्ञाता नहीं है, इससे वह रूपादि रहित स्वयं प्रकाश है (अपाणिपादो जवनो ग्रहीता। ३।१९) इत्यादि वचन के अनुसार हाथादि रहित होते भी माया से सर्व सामर्थ्ययुक्त है॥ और वस्तुतः (वेदः प्रणव एवाग्रे। भा० स्क० ११।१७।११) इत्यादि वचनों के अनुसार ओङ्कार (प्रणव) जिस का आदि (कारण) है, सो वेद भी (यतो वाचो निवर्तन्ते। तैत्तिरीय० २।४) इत्यादि वचन के अनुसार, जिस में प्रवृत्त नहीं होता है, अन्य वस्तु की नाईं जिसको शक्तिवृत्ति से नहीं कह सकता है, उस में कुल गोत्रादि का भेद क्या कहते हो; क्यौंकि (भिदामित्र मन्यमानः

शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति। नृसिंहोत्तरता० खं० ८) इत्यादि वचन के अनुसार भेद को माननेवाला सैकड़ों हजारों भेद को पाकर मृत्यु पाता है ॥

तारा चन्द्र सूर्यादि का संबन्ध वा प्रकाश जिस में नहीं है, न पिता के बिन्दु आदि किसी कारण का सम्बन्ध है ॥ न जल भूमि थिर (आकाश) वायु का सम्बन्ध है, उस का नाम कौन धर सकता है, और किस के हुकुम से कौन नामादि का वर्णन कर सकता है, तथा उसके प्रति किसी का हुकुम (आज्ञा) का भी वर्णन कौन विवेकी कर सकता है ॥ और दिनरातादि का कुछ भी भेद जिस में नहीं है, उस का कुल वा जाति कौन है, सो कहो, अर्थात् कुलादि उसके नहीं हैं ॥

जो पुरुष श्रवणादि करके निदिध्यासन की अवस्था विशेष रूप सहज समाधि द्वारा मन को शून्य (हृदयाकाश) में स्थिर करता है, या सहज धारणा आदि द्वारा मन को विषयादि से शून्य (रहित) करता है, फिर उस मन से जातिभेदादि रहित तत्त्व को सुमिरते (चिन्तनादि करते) में एक ज्योतिः स्वरूप आत्मा प्रगट (व्यक्त) होता है; साहब कहते हैं कि, जिसके हृदय में ज्योतिः प्रगट हुई, और जो निरालम्ब (विषयविषयी भाव ज्ञाताज्ञेयादि भेद रहित) हुआ, उस पुरुष की मैं बलिहारी (धन्यवाद) मानता हूं। (मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। कठ० २।४।११। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यद्विजानाति स भूमा। छा० ७।२४।१) मन से ही यह पाने लायक है, इसमें नाना (भेद) कुछ नहीं है। जिस में अन्य कुछ देखता जानता नहीं है, सो भूमा (ब्रह्म) है, इत्यादि भी वचन हैं ॥६॥



उक्त निरालम्ब स्थिति का फल मुक्ति का सप्तमी रमैनी से वर्णन करते हैं कि–

रमैनी ७

तहिया होत पवन नहिं पानी । तहिया सृष्टि कौन उतपानी ॥
तहिया होते कलि नहिं फूला । तहिया होत गर्भ नहिं मूला ॥

[1]आलम्बे तं निरालम्बं सर्वालम्बविवर्जितम् ।
यस्यैवालम्बनाद् भूयः क्वापि लम्बो न लम्बते ॥१७॥
निरालम्बे स्थितौ तावन्निरालम्बबुधस्य वै ।
जन्मादौ न समर्थः स्याच्छ्वसनो वारि वा क्वचित् ॥१८॥
विद्यया बाधितः सर्वो भूतसङ्घस्तदा भवेत् ।
शरीरस्य समुत्पत्तिर्विपत्तिर्वा कुतो भवेत् ॥१९॥
कर्मात्मा मुकुलो नैव जन्मात्मकुसुमं न च ।
कलहादिविवादश्च तदानीं नैव जायते ॥२०॥

सब आलम्ब (शब्दादि विषयता) से रहित निराधार उस आत्मा का आलम्बन करता हूं कि, जिसके आलम्बन (आश्रयण धारण) से ही फिर कहीं लम्ब (पतन) नहीं प्राप्त होता है ॥१७॥ निरालम्ब (निर्विषय) ज्ञानी की निराधार ब्रह्म में स्थिति होने पर, तावत् (सब) वायु वा जल उस ज्ञानी के कहीं जन्मादि में समर्थ नहीं हो सकते; क्योंकि (ब्रह्म सꣳस्थोऽमृतत्त्वमेति । बृ० ४।४।२२) ब्रह्मनिष्ठ मुक्ति पाता है ॥१८॥ और उस ब्रह्मनिष्ठा काल में सब भूत (पृथिवी-आदि) का समुदाय आत्मज्ञान से बाधित (मिथ्या कार्याऽसमर्थ) हो जाता है, तो शरीर की समुपपत्ति (जन्म) वा विपत्ति (मरण) किस से हो ॥१९॥ तब कर्म स्वरूप मुकुल (कलि) नहीं रहता है, और न जन्मरूप फूल

१. आलम्बे (आश्रये) सर्वालम्बविवर्जितम् (सर्वशब्दावाच्यम्) न लम्बते (न प्राप्नोति) ॥

इसी कारण से–

तहिया होत विद्या नहिं वेदा । तहिया होत शब्द नहिं स्वादा ॥
तहिया होत पिण्ड नहिं बासू । नहिं धर धरणी गमन अकाशू ॥
तहिया होते गुरु नहिं चेला । गम्य अगम्य न पन्थ दुहेला ॥

सर्वेषां मूलभूतं यदज्ञानं तच्च नश्यति ।
गर्भे वासः कुतस्तस्य कुतः कामादिसम्भवः ॥२१॥
[1]कामादीनामभावे हि भवबन्धो न विद्यते ।
खिद्यते न जनो भूयो विद्या वेदा निरर्थकाः ॥२२॥
शब्दादिविषया नैव तेषां स्वादो न विद्यते ।
न शरीरं न तत्रास्य भवेद् वासः कथञ्चन ॥२३॥

होता है, और उस समय कलहादि रूप विवाद भी नहीं होता है ॥२०॥ और जन्मादि सब का मूल कारण स्वरूप जो अज्ञान सो भी नष्ट हो जाता है, तो तिस ज्ञानी का गर्भ में वास किससे हो, और कामादि का संभव (जन्म) कैसे हो सकता है, इससे कामरहित ज्ञानी अवश्य मुक्त होता है ॥२१॥ कामादि का अभाव होने पर संसारबन्धन नहीं रहता है, और मनुष्य फिर दुःखी नहीं होता है, काम रहित के लिये विद्या वेद निरर्थक (निष्फल) हो जाते हैं, उन की जरूरत नहीं रहती है ॥२२॥ उस अवस्था में शब्दादि विषय नहीं रहते हैं, न उन का स्वाद (आस्वादन–भोग) रहता है, न शरीर होता है, न उस में इस ज्ञानी का किसी प्रकार वास होता है ॥२३॥ और शरीर के अभाव से, शरीर की रक्षा के लिये

१. ' योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ' । बृह० ४ । ४ । ६ ॥ ' उभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ' । बृ० ४ । ४ । २२ ॥ ' यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति, एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ' । कठ० २ । ४ । १५ ॥

निरालम्बस्थितिरूप जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति ब्रह्मात्मा की प्राप्ति से होती है। इससे उस की प्राप्ति की रीति को कहना चाहिये, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि–

साखी

अविगति की गति का कहौं, जाके गाम न ठाम।
गून विहूना पेखना, का कहि लीजै नाम ॥७॥

शरीराभावतो नाऽत्र क्रिया काप्युपयुज्यते।
भ्वाकाशगमनाद्यात्मा गात्रत्राणाय सम्मता ॥२४॥
नापि तत्रोपयुक्तः स्याद् गुरुः शिष्योपि कश्चन।
गम्यागम्यौ न मार्गौ स्तः कठिनौ बाधितत्त्वतः ॥२५॥
ग्रामो न विद्यते यस्य वासो वाऽपि कथञ्चन।
अदृश्याग्राह्यरूपस्य निरालम्बस्य तत्त्वतः ॥२६॥
जातिक्रियागुणाद्यैश्च विहीनस्यात्मनः खलु।
प्राप्तिः का कथ्यतां धीरैर्ज्ञप्तिर्वाऽविषयात्मनः ॥२७॥
गुणत्रयात्परश्चायं सर्वोपाधिविवर्जितः।
इति ज्ञप्तिर्भवेत्तस्य नेति नेत्यादिवाक्यतः ॥२८॥

सम्मत (मानी गई) पृथिवी आकाश में गमनादि स्वरूप कोई क्रिया भी इस अवस्था में उपयुक्त (सफल) नहीं होती है ॥२४॥ उस अवस्था में गुरु वा कोई शिष्य भी नहीं उपयुक्त होता है। और बाधित होने से कठिन (दुर्गम) गम्यागम्य (विहित निषिद्ध) मार्ग भी नहीं रहते हैं ॥२५॥ अदृश्य अग्राह्य (दर्शन ग्रहण के अयोग्य) तत्त्वतः (वस्तुतः) निराधार जिस आत्मा के ग्राम नहीं है, न किसी प्रकार भी कोई बसने का स्थान घर वा उस में स्थिति है ॥२६॥ जातिक्रिया-गुणादि से रहित तिसी आत्मा की प्राप्ति धीर पुरुषों से क्या कही जाय, या अविषय स्वरूप की ज्ञप्ति (ज्ञान) भी क्या कही जाय ॥२७॥ सब

¹गुणक्रिये च सम्बन्धो जातिरूढी तथैव च।
नात्मन्येते हि विद्यन्ते नाम किं प्रोच्य गृह्यताम् ॥२९॥
न यस्य नामापि च नो गुणादयो विशुद्धविज्ञानघनस्य सर्वथा।
न देशकालौ नहि सङ्गसंकथा तदात्मने वै विदुषे नमो नमः ॥३०॥
इति हनुमद्दासविरचिते रमैनीरसोद्रेके मुक्तिदशावर्णनं नाम तृतीयः प्रवाहः ॥३॥

उपाधि (देहादि) से रहित यह शुद्धात्मा गुणत्रय (तीन गुण) से पर (भिन्न) है। नेति नेति, इत्यादि वाक्य से ऐसी ज्ञप्ति (ज्ञान) तिस आत्मा की हो सकती है ॥२८॥ गुण क्रिया और सम्बन्ध, तैसे ही जाति रूढि ये सब आत्मा में नहीं हैं, तो विशेष नाम क्या कह कर गृहीत हो (लिया जाय); क्योंकि शुक्ल, पाचक, पिता, ब्राह्मण, आकाशादि नाम गुणादि से ही लिये जाते हैं ॥२९॥ जिस विशुद्ध विज्ञानघन ब्रह्मात्मा के नाम नहीं है, और गुणादि नहीं है, न देश काल है, न सङ्ग की संकथा है, तिस स्वरूप ज्ञानी के प्रति भी बार २ नमस्कार है ॥३०॥

अक्षरार्थ-(तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। ब्रह्मसू० अ० ३।१।१) अज्ञानी जीव शरीरान्तर की प्राप्ति में सूक्ष्म जल तेज आदि भूतों से मिल करके ही शरीर छोड़ते समय, रंहति (चलता है); क्योंकि वासनादि से सब भूतादि जीव के साथ लगे रहते हैं, और तहिया (उस निरालम्ब अवस्था मोक्षावस्था) में पवन पानी आदि जीव के साथ नहीं रहते हैं, वासना कामादि के अभाव से इन का संग छूट जाता है, तो उस अवस्था में सृष्टि (शरीर) को कौन उत्पन्न करे। तथा कौन उत्पात सृष्टि में होवे ॥ और इसीसे उस अवस्था में वासनारूप कलि और कर्म रूप फूल, वा कर्म रूप कलि और जन्म रूप फूल नहीं होते हैं, इसीसे कलि (कलहादि) का फूल (विकाश) नहीं होता है। इसीसे किसी प्रकार गर्भवास नहीं होता है, न कामादिरूप गर्भ रहते हैं। क्योंकि सबका मूल (अविद्या) नहीं रह जाती है ॥

---

१. 'षष्ठीगुणाक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः। नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते' ॥ नैष्कर्म्यसिद्धिः। अ० ३। १०३ ॥ षष्ठीत्यस्य संबन्ध इत्यर्थः ॥

निरालम्बावस्था में विद्या वेदादि की जरूरत नहीं रहती है, इससे मानों ये नहीं रहते हैं। न शब्दादि विषय रहते हैं, न उन का स्वाद (भोग) रहता है ॥ नहीं शरीर होता है, न शरीर में वास होता है। न धर (शरीर) की धारणा (धारणा करनेवाली) क्रिया रूप आकाशादि में गमन होता है ॥ गुरु शिष्य भाव भी नहीं होते हैं, न गम्य अगम्य दुहेला (दो प्रकार के वा कठिन) जन्म मरण रूप वा विहित निषिद्ध रूप वा दक्षिणायण उत्तरायण आदि रूप मार्ग रहते हैं ॥ इससे गमनागमन रहित होकर ज्ञानी मुक्त होता है ॥ अविगति (अदृश्य अग्राह्यादि) स्वरूप निरालम्ब आत्मा की गति (प्राप्ति ज्ञान वा आश्रय) क्या कही जाय, कि जिस के कोई ग्राम वा विशेष ठाम (स्थान) है ही नहीं ॥ वह गुण से विहून (रहित) है, इसी प्रकार उसे पेखना (देखना जानना) चाहिये, किस गुणादि को कह कर उस का विशेष नाम लिया जाय। अथवा गुण रहित में यह गुणमय संसार पेखना (मिथ्या खेल तमासा) है, फिर नाम क्या कह कर लिया जाय ॥७॥

महावाक्योपदेशादि प्रकरण ४

आत्मा के नामविशेष का अभाव सुन कर शंका हुई कि नाम विशेष विना उपदेश नहीं हो सकता, और उपदेश विना अपरोक्ष ज्ञान के अभाव से अज्ञान की निवृत्ति मुक्ति भी नहीं हो सकती, इत्यादि। तब कहते हैं कि—

रमैनी ८

तत्त्वमसी इनके उपदेशा। ई उपनिषद् कहै संदेशा ॥

एवं नामादिहीनस्य निर्गुणस्योपदेशनम्।
तत्त्वमसीति वाक्येन सम्यक् सद्भिर्निगद्यते ॥ १ ॥

इस प्रकार नामादि रहित निर्गुण का भी उपदेश तत् त्वम् असि (वह निर्गुण तूं है) इस वाक्य द्वारा सत्पुरुषों से सम्यक् (अच्छी तरह) कहा जाता है ॥१॥

ई निश्चय इन के बड भारी । याहि कि वर्णन करु अधिकारी ॥
परम तत्त्व का निज परमाना । सनकादिक नारद शुक माना ॥
यागवल्क्य औ जनक सँवादा । दत्तात्रेय वही रस स्वादा ॥

त्रिगुणेभ्यः परं यत्तत्त्वैवात्मा[1] न संशयः ।
सर्वे वेदा वदन्त्येवं वेदान्ताः संदिशन्ति च ॥ २ ॥
निरालम्बादिरूपो यः सोऽस्मदात्मेति निश्चयः ।
महानिश्चय एतेषां शिष्याणां च विमुक्तये ॥ ३ ॥
अतश्चास्यैव वाक्यस्य वर्णनाऽप्यधिकारिभिः ।
व्यासाद्यैः क्रियते लोके तस्यार्थो ध्रियते हृदि ॥ ४ ॥
सनकाद्यैः शुकेनापि नारदेन तथैव च ।
प्रमाणं परतत्त्वस्य त्विदमेवाहृतं सदा ॥ ५ ॥
याज्ञवल्क्यस्य संवादे जनकेन वृते पुरा ।
इदं वै दृश्यते तत्त्वमद्वैतानन्दलक्षणम्' ॥ ६ ॥

तीन गुण से पर (भिन्न) जो सद् वस्तु है सो तेरी आत्मा (स्वरूप) है इस में संशय नहीं है, सब वेद इसी प्रकार कहते हैं, और वेदान्त सब भी यही उपदेश करते हैं ॥२॥ और जो निरालम्ब (निर्विषय निराधार) आदि स्वरूप है, सोई हमारी आत्मा (पारमार्थिक स्वरूप) है, यही निश्चय इन शिष्यों की विमुक्ति के लिये महानिश्चय (अपरोक्षानुभव) है ॥३॥ इसी कारण से इसी वाक्य का वर्णन व्यासजी आदि अधिकारी (नेता) से भी लोक में किया जाता है, और उस का अर्थ हृदय में धारण किया जाता है ॥४॥ और इसी प्रकार सनकादि ऋषि शुकदेव जी नारद जी से भी पर तत्त्व का यही प्रमाण सदा आदृत (सत्कृत) हुआ है ॥५॥ पुरा वृत्त (पहले सिद्ध स्वीकृत) जनक के साथ याज्ञवल्क्य जी के संवाद (कथा) में भी अद्वैतानन्द स्वरूप यही तत्त्व दीखता है ॥६॥ और

---

१ ' अयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः ' ॥ छा० ८ । ७ । १ ।

वही वसिष्ठ राम मिलि गाई । वही कृष्ण उद्धव समुझाई ॥
वही बात लै जनक दृढाई । देहे धरे विदेह कहाई ॥

शंका हुई कि देह रहते विदेह कैसे कहा सकता है, विदेह तो मरने पर ही हो सकता है; तब कहते हैं कि–

साखी ।

कुल अभिमाना खोय के, जियत मुआ नहिं होय ।
देखत जो नहिं देखिया, अदृष्ट कहावै सोय ॥ ८ ॥

अयमेव रसस्तावद् दत्तात्रेयेण धीमता ।
स्वादितः कृतकृत्येन विरक्तेन समाधिना ॥ ७ ॥
श्रीरामेण मिलित्वा च वसिष्ठोऽपि महामुनिः ।
संजगावमुमेवार्थं श्रीकृष्ण उद्धवेन च ॥ ८ ॥
श्रीकृष्णो बोधयामास यमर्थं ह्युद्धवं प्रति ।
तत्तत्त्वं विधिवज्ज्ञात्वा जनको राजसत्तमः ॥
सति देहे विदेहत्वं जीवन्मुक्तो ह्यवाप्तवान् ॥ ९ ॥
देहाभिमानिनां मृत्युः प्राणोत्क्रान्त्यादिलक्षणः ।
दिष्टक्षये भवत्येव नैव स ज्ञानिनां क्वचित् ॥१०॥

बुद्धिमान विरक्त कृतकृत्य दत्तात्रेय जी ने भी समाधि द्वारा इसी रस (आनन्द) का स्वाद लिया (अद्वैत आत्मा का अनुभव किया) ॥७॥ और महामुनि वसिष्ठ जी ने श्रीराम जी के साथ मिल कर इसी अर्थ को गाया । और श्रीकृष्ण जी उद्धव भक्त से मिल कर गाया ॥८॥ श्रीकृष्ण जी जिस अर्थ को उद्धवजी के प्रति समझाया, राजाओं में अत्यन्त श्रेष्ठ जनक जी उसी तत्त्व को विधिपूर्वक जानकर, जीवन्मुक्त होकर देह रहते ही अभिमानादि रहित होने से विदेहता को पाये ॥९॥

दिष्ट (भाग्य–दैव) के नाश होने पर, प्राण के उत्क्रमणादि (निकलनादि) रूप मृत्यु देहाभिमानी की अवश्य होती है । वह मृत्यु ज्ञानी की

अभिमानानि संत्यज्य स्वात्मनिष्ठो भवेदतः।
अन्यथा भवचक्रोऽयं कदापि न नशिष्यति ॥११॥
अभिमानं समं त्यक्त्वा यो जीवति विमुक्तधीः।
म्रियते न कदाप्येष साक्षिरूपेण तिष्ठति ॥१२॥
या हि पश्यति सर्वं चिद् दृश्यते नैव केनचित्।
अदृश्योऽसौ स्थितः स्वात्मा साक्षिरूपो निरञ्जनः ॥१३॥
तस्य ज्ञानाद् भवेत्तज्ज्ञः साक्षिरूपोऽव्ययः स्वयम्।
अदृश्यश्चाप्रमेयश्च विदेहो नाऽत्र संशयः ॥१४॥

कहीं नहीं होती। श्रुति कहती है कि (न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। बृ० ४।४।६) कामरहित ज्ञानी के प्राण नहीं निकलते, वह ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में लीन होता है, इत्यादि ॥१०॥ इससे अभिमानों को त्याग कर आत्मनिष्ठ होना चाहिये। अन्य प्रकार से यह संसारचक्र कभी नहीं नष्ट होगा ॥११॥ जो विमुक्त बुद्धिवाला सम (सब) अभिमान को त्याग कर जीता है, सो कभी नहीं मरता है। साक्षी चेतन रूप से स्थिर रहता है ॥१२॥ जो चेतन सभी को देखता है, किसीसे देखा नहीं जाता है, वही साक्षी स्वरूप निरञ्जन (निर्लेप) अदृश्य अपनी आत्मा स्थित है ॥१३॥ उसी के ज्ञान से तज्ज्ञ (ब्रह्मज्ञानी) पुरुष स्वयं साक्षी स्वरूप अव्यय अदृश्य और अप्रमेय तथा विदेह होता है, इसमें संशय नहीं है ॥१४॥८॥

अक्षरार्थ– इनके (निरालम्ब स्थितिवालों के) शिष्यों के प्रति उपदेश है कि तत् (वह नामादि रहित निर्गुण) त्वम् (तूं ही) असि (है) अर्थात् तेरा ही आत्मा अविगति है। इस उपदेश से भी विशेष ज्ञान होता है। और यही संदेश (खबर) सब उपनिषद् कहती हैं ॥ इन महात्माओं के यही भारी निश्चय है, इसी का वर्णन अधिकारी (मुख्याचार्य) लोक करते हैं ॥ और परम तत्त्व के इसी निज (खास) प्रमाण को सनकादि नारद शुकदेवादिकों ने माना है ॥ यहाँ (अयमात्मा ब्रह्म। बृ० ४।४।५।

अहं ब्रह्मास्मि । बृ० १।४।१०) इत्यादि उपदेशों से भी आत्मज्ञान में तात्पर्य है ।। तत्त्वमसि, यह वाक्य छान्दोग्य अ० ६।८ इत्यादि में है ।।

याज्ञवल्क्य और जनक के संवाद में यही तत्त्वमसि की कथा है। दत्तात्रेय जी इसी रस (आनन्द) का स्वाद लिया । वसिष्ठ जी राम जी मिल कर उसी बात को गाये हैं। कृष्ण जी उसी बात को उद्धव के प्रति समझाया है ।। जनक जी इसी बात का दृढ निश्चय करके देहधारी रहते विदेह कहलाये ।।

जो पुरुष कुल (गृह गोत्रादि के वा सब) अभिमान को खोय (त्याग) कर जीता है, सो कभी मुआ नहीं होता है । जो सब को देखता है और किसी से नहीं देखिया, नहीं देखा गया है; वही अदृष्ट (अदृश्य) स्वयं-प्रकाश आत्मा साक्षी कहाता है ॥ या जो कुल अभिमानादि को त्याग कर, जियत मुआ (जीवित वा मृतक) नहीं होता, सो जीवनादि के अभिमान रहित पुरुष, सब को देखता हुआ भी किसी को नहीं देखता है । इसीसे अदृष्ट (अदृष्टि) सब इन्द्रिय से रहित (जितेन्द्रिय) कहाता है ॥८॥

देहाभिमानादि रहित ज्ञानी की मुक्ति को सुन कर शंका हुई कि, यही मुक्ति का हेतु है, वा ऋद्धि सिद्धि देवभक्ति आदि है । और विशेषरूप से कहना चाहिये कि किसको बन्धन होता है, किसको कैसे मुक्ति होती है, इत्यादि । तब कहते हैं कि -

रमैनी ९

बांध्यो अष्ट कष्ट नव सूता । यम बांध्यो अजनी के पूता ॥

जीवन्मुक्तेरसंप्राप्तौ बध्यन्ते सर्वजन्तवः ।
यमेनापरिमेयेन कालरूपेण सर्वदा ॥१५॥

जीवन्मुक्ति की प्राप्ति नहीं होने पर, काल (मृत्यु-महाकाल) रूप, अपरिमेय (अनन्त) यम से जीव सब सदा बांधा जाता है ॥१५॥ अविद्या

यम के वाहन बांध्यो जनी । बांध्यो सृष्टि कहाँ लौ गनी ॥
बांध्यो देव तैंतीस करोरी । समरत लोह बंध गौ तोरी ॥

सिद्धयो निधयश्चैवाऽविद्यादिक्लेशसंयुताः।
पुर्यष्टकप्रकृत्यष्टसमूहा ये भवन्ति ह ॥१६॥

सकामा भक्तयो वापि ह्यष्टधा नवधा गुणाः।
सूत्रभूता भवन्त्येते बध्नाति तैर्यमो जनान् ॥१७॥

तथैव ये भवन्त्येषामुपासनपरा नराः।
एतेषां पुत्रवद् भक्तास्तान बध्नाति स्वयं यमः ॥१८॥

अजायाः प्रकृतेर्भक्तास्तत्पुत्रा इव ये नराः।
तान् बध्नाति तथैवासौ यमो वै बलवत्तमः ॥१९॥

जनिमन्तं तु बध्नन्ति सर्वं तद्वाहनानि वै।
तमःकाममुखान्यङ्ग सृष्टिं च कलयामि किम् ॥२०॥

(अज्ञान विपरीत ज्ञान), अस्मिता (अविवेक), राग, द्वेष, अभिनिवेश (जीवनाशा मरणभय) रूप क्लेश सहित, अणिमा आदि आठ सिद्धि, और पद्मादि रूप निधि, मन आदि पुर्यष्टक, गन्धतन्मात्रादि प्रकृत्यष्टक; इन सब के जो समूह होते हैं, और जो सकाम नवधा भक्ति होती है, ये ही सब आठ प्रकार के और नौ प्रकार के गुण (रस्सी) होते हैं। और सूत्र (तन्तु डोरी) स्वरूप होते हैं। तिन से ही यम जनों को बांधता है ॥१६-१७॥ तिसी प्रकार जो मनुष्य इन प्रकृति आदि पदार्थों की उपासना में तत्पर रहते हैं, और पुत्र के समान इन के भक्त (प्रेमी) रहते हैं, तिनको यम स्वयं बांधता है ॥१८॥ तैसे ही जो मनुष्य अज (अनादि) प्रकृति के पुत्र तुल्य भक्त रहते हैं, उन को भी वह अत्यन्त बली यम बांधता है ॥१९॥ और हे अङ्ग ! तमोगुण कामादि रूप उस यम के वाहन ही सब जन्मवाले और सृष्टि (संसार) को बांधते हैं, गणना क्या करें ॥२०॥

राजा समरे तुरिया चढ़ी । पन्थी समरे नाम लै बढ़ी ॥

[2]देवांश्चासौ त्रयस्त्रिंशत्कोटिकान् बलवान् यमः ।
वाहनानि च बध्नन्ति काऽन्येषां बन्धने कथा ॥२१॥
एवं बन्धनयुक्तोपि स्मरणात् सुविचारणात् ।
मनसः सावधानाच्च दृढं बन्धं भिनत्त्यसौ ॥२२॥
महाराजसमो ज्ञानी स्वतन्त्रः प्राप्य तुर्यके ।
तमेव च स्मरञ् छश्वत्सावधानो भवेत् सदा ॥२३॥
उपासकः स्वसेव्यस्य गुणनामादिकं स्मरन् ।
अवलम्बेन तेनैव तत्त्वं स्मरति वै बुधः ॥२४॥

(कोट्यो द्वादशार्कस्य तथैकादश धूर्जटेः । कोट्योऽष्टौ वसूनां च द्वे कोटी दस्रयोर्मते ॥) इस कर्मकाण्ड के वचनानुसार, बारह कोटि सूर्य के ग्यारह कोटि रुद्र के आठ कोटि वसु के दो कोटि देववैद्य अश्विनीकुमार के भेद हैं । इन तैंतीस कोटि देव को भी वह बलवान् यम बांधता है, और यम के वाहन भी बांधते हैं, अन्य के बन्धन में तो कथा क्या है ॥२१॥ इस प्रकार जो बन्धनयुक्त है, वह भी, सत् शास्त्र गुरुवचन का स्मरण, सुन्दर विचार, और मन की सावधानता से दृढ बन्धन को नष्ट करता है ॥२२॥ महाराज के समान स्वतन्त्र ज्ञानी विश्वादि की अपेक्षा चतुर्थ अपने शुद्ध स्वरूप में प्राप्त होकर, और उसी का सदा स्मरण करता हुआ सदा सावधान होता है ॥२३॥ उपासक पुरुष अपना सेव्य (उपास्य) वस्तु के गुण नामादि का स्मरण करता हुआ, फिर बुध

१. 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् । बृह० १।४।१०। इस के अनुसार मनुष्य से भिन्न चेतन देव होते हैं । (विद्वांसो वै देवा :) यह शतपथ ब्राह्मण का कथन विद्वान की स्तुति रूप है । जैसे (यजमानो वै प्रस्तरः । ऐतरेयब्रा० ३ । ३ । ६ । ७) यह वाक्य दर्भ मुष्टि की स्तुति रूप है । इससे देव का अभाव कहना मोहमूलक है ॥

अर्थं विहूनी समरी नारी । परजा समरे पुहुमी झारी ॥

शनैः पान्थ इव प्राप्य स्वात्मदेवं निरञ्जनम् ।
तत्रस्थो मोदते चासौ सावधानो भवेत्तथा ॥२५॥
अर्थेच्छारहितो यश्च नारीवाऽस्ववशो नरः ।
कर्मठः सोपि संस्मृत्या परं तत्त्वमवाप्नुयात् ॥२६॥
अलमत्र बहूक्तेन त्वेतावन्तं विनिश्चिनु ।
अर्थत्यागेन निष्कामाः सर्वे शुद्धा भवन्ति हि ॥२७॥
पृथिव्यां सन्ति याः काश्चिद्देवलोकेपि सन्ति याः ।
प्रजास्ताः परिशुद्धेयुरर्थेच्छादिविवर्जनात् ॥२८॥
न यत्र रागो न च मोहमत्सरौ मानादिहीने गुणबन्धवर्जिते ।
न द्रोहरोषौ भयभोगभावना ज्ञेयः सदा सोऽत्र विमोक्षभाजनम् ॥२९

(विवेकी) होकर उस नामादि अवलम्ब द्वारा ही सत् तत्त्व का स्मरण करता है ॥२४॥ और पथिक के समान धीरे २ निरञ्जन स्वात्मदेव को प्राप्त करके, वह वहाँ स्थिर होकर आनन्द पाता है, तथा सावधान रहता है ॥२५॥ जो कर्मठ (कर्म में प्रवृत्त-कर्मशूर) पुरुष, स्त्री के समान परवश (देव शास्त्रादि के अधीन) है, सो भी अर्थ (द्रव्य-कर्मफल) की इच्छा से रहित होकर सम्यक् विचार स्मरणादि से परतत्त्व को पाता है ॥२६॥ इस विषय में बहुत कथन से अलम् (कुछ फल नहीं है) किन्तु इतना ही अर्थ, वा शब्द का निश्चय करो कि अर्थ (द्रव्य- कर्म का प्रयोजन-फल) का त्याग से सब निष्काम पुरुष शुद्ध ही होते हैं ॥२७॥ इससे पृथिवी में जो कोई प्रजा (मनुष्यादि) हैं, और देवलोक में भी जो प्रजा हैं, सो सब अर्थ की इच्छा आदि को त्यागने से अति शुद्ध हो सकती हैं ॥२८॥ मान (अभिमान) आदि से रहित, गुणकृत बन्धन से शून्य जिस पुरुष में राग (स्नेह) मोह (आसक्ति) मत्सर (अन्य शुभ से द्वेष-कृपणता) द्रोह (नाशेच्छा) क्रोध, और डर भोग की भावना

शंका हुई कि कर्म करने पर ईश्वर द्वारा अवश्य उस कर्म के फल का भोग होता है, फिर निष्काम कर्म करनेवाला भी कैसे शुद्धान्तःकरण वाला होकर मुक्त हो सकता है; तब कहते हैं कि–

साखी ।

बन्दि मनावे ते फल पावे, बन्दि दिया सो देइ ।
कहहिं कबीर तेइ ऊबरे, निशिदिन नाम हि लेइ ॥९॥

बन्धयुक्ता यतः सर्वे कामेनैव निरन्तरम् ।
शुभाशुभफलं तेन भुञ्जन्ते च भ्रमन्ति च ॥३०॥
ईश्वरो देववर्गो वा जीवैर्दत्तं ददाति हि ।
यतश्चैतैः कृतस्यैव फलदाता भवेत्प्रभुः ॥३१॥
देहि मे ते ददाम्येवं यजुर्वेदे स्फुटं श्रुतम् ।
दत्तमेव परस्मै च सुखं दुःखं च लभ्यते ॥३२॥
रागद्वेषौ व्युदस्यात्र यो नरः सततं स्मरेत् ।
गृह्णीयात् सारशब्दं च स तरेद् भवसागरम् ॥३३॥

नहीं है, सोई यहाँ विमुक्ति के भाजन (पात्र-अधिकारी) ज्ञेय (जाननेयोग्य) हैं ॥२९॥ कामरहित इसलिये मुक्त होते हैं कि, जिससे सब जीव काम से ही सदा बन्धनयुक्त हैं, और काम से ही शुभाशुभ फल भोगते हैं, तथा भ्रमते हैं ॥३०॥ ईश्वर वा देववर्ग भी जीवों से दिया हुआ जीव के प्रति देते हैं, जिस कारण से इन जीवों से किया हुआ कर्म का ही फलदाता प्रभु (ईश्वर) होते हैं ॥३१॥ यजुर्वेद में इन्द्र देव का वचन स्फुट सुना गया है कि, मुझे दो तब मैं तुझे दूंगा (देहि मे ददामि ते ३।५) इस प्रकार वह वचन है । लोक में भी दूसरे के प्रति दिया हुआ सुख और दुःख ही समय पाकर मिलता है, अन्य नहीं ॥३२॥ यहाँ जो मनुष्य

---

१. ' कामत्यागात्तु विज्ञानं सुखं ब्रह्म परं पदम् । कामिनां नहि विज्ञानं सनकोद्गीतमेव तत् ' ॥ अग्निपु० अ० ३८२ । १० ॥

सद्गुरुः कृपया प्राह संदेशं तं सनातनम् ।
यच्छ्रवणादितो धीरो भवबन्धाद्विमुच्यते ॥३४॥
अर्थादिकं यो निपुणं विहाय कामादिमुक्तः सततं परेशम् ।
भजेज्जपेत्तद्विमलं च नाम स बन्धमुक्तो हि तरेद् भवाब्धिम् ॥३५॥९॥

राग द्वेष को त्याग कर सदा सत्यात्मा का स्मरण करता है, और सारशब्द (उपदेश) का ग्रहण करता है, सो भवसागर तरेगा ॥३३॥ सद्गुरु साहब कृपा से ही उस सनातन संदेश (वाचिक-खबर) को कहते हैं कि, जिस के श्रवणादि से धीर पुरुष भवबन्धन से मुक्त होता है ॥३४॥ कामादि से मुक्त (रहित) जो जीव अर्थादि को निपुण (अत्यन्त) त्याग कर सदा परमात्मा को भजता है, और उनके विमल नाम को जपता है, बन्धन से रहित वह जीव संसारसमुद्र को तरेगा ॥३५॥

अक्षरार्थ– जीवन्मुक्ति के विना, अविद्यादि क्लेशयुक्त आठ सिद्धि आदि, और नव निधि आदि रूप सूतों से जीव बांधे जाते हैं। और अजनी (जन्मरहित–अजा) प्रकृति के पुत्र तुल्य सिद्धि आदि के दास भक्तों को यम स्वयं बांधता है ॥ और यम के वाहन कामादि जनी (जन्मवालों) को बांधता है, इन से सृष्टि बांधी है, गिन कर कहां तक कहा जाय। अणिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, सर्वकामावसायिता; ये आठ सिद्धि पुराणादि में लिखे हैं । दूर दर्शन श्रवणादि दश गौण सिद्धियाँ होती हैं ॥ (पद्मोऽस्त्रियां महापद्मः शंखो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥) इस शब्दार्णव कोश के अनुसार, स्त्रीलिङ्ग में अवर्तमान पद्म, महापद्मादि नामवाले नव निधियाँ हैं। (मनो बुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् । इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावतिवाहिकः ॥ योगवासिष्ठ ६।५१।५) मन आदि को आठ पुरी कहते हैं, और सब मिलकर अतिवाहिक देह कहाता है । (भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ भ० गी० ७।४) इस के अनुसार सूक्ष्म

तन्मात्रारूप ,भूमि आदि और मन आदि अाठ प्रकृतियाँ हैं। विशेष अन्यत्र द्रष्टव्य है ॥

तैंतीस करोड़ (कोटि) देव को भी यम और यमके वाहन बांधते हैं। अधिक जीवी होने से देव सब अमर कहाते हैं, परन्तु कामादि से जन्म मरणादि उन के भी होते ही हैं ॥ इन देव मनुष्यादि में जो कोई स्मरण विचारादि किये, वे लोक स्मरते ही लोहबन्धनतुल्य दृढ संसारबंधन मोहादि को यमबन्धन जन्ममरणादि को तोड़ (नष्ट) करके मुक्त हो गये; क्यों कि (तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् । बृ० १।४।१। आत्मचिन्ता समस्तानां दुःखानामन्तकारिणी । चिरसंभृतदुःस्वप्नसंसारभ्रमहारिणी ॥ योगवा० ६।२४।२।) देव ऋषि मनुष्य में जो २ ब्रह्मात्मा को समझा, सो तद्रूप हो गया। आत्मचिन्तन ही सब दुःख का और अनादि सिद्ध दुःस्वप्नरूप संसार भ्रम का नाशक है ॥ उन में राजा (स्वतन्त्र ज्ञानी) तुरीया (चतुर्थ) अवस्था में चढ (प्राप्त हो) कर स्मरण सुधार करते हैं। और पन्थी (पथिक) तुल्य उपासक अपने उपास्य का नाम लेता हुआ, और आगे की अवस्था ज्ञानमार्ग के तरफ बढता (जाता) हुआ स्मरण सुधारादि करता है ॥

अर्थ (द्रव्यादि) की कामना से विहूनी (रहित) नारी (परवश कर्मी) सत्य को स्मरती सुधरती है। और निष्काम होने पर पुहुमी (पृथिवी) पर रहनेवाली झारी (सभी) प्रजा सुधर जाती है ॥ क्योंकि (कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् । कामबन्धविमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ म० भा० शा० अ० २५०) काम ही एक बन्धन है, अन्य नहीं, इससे कामबन्धन से रहित जीव ब्रह्मभाव के लिये समर्थ होता है, इत्यादि ॥

बन्दी (भवबन्धयुक्त वा दास) जीव, मनावे ते (फल की इच्छा करने से) ही सुखदुःखादि फलों को पाता (भोगता) है; क्योंकि सो

(ईश्वर वा देवादि) भी इस बन्दी का दिया ही देते हैं, इससे जो पुरुष फलेच्छा आदि को त्याग कर नामनामी में अभेद दृष्टि पूर्वक सदा नाम लेता (धारण उच्चारण) करता है, दुष्कर्मादि को त्यागता है, सो अवश्य उबरता (मुक्त होता) है ॥९॥



पूर्व रमैनी में निष्काम कर्म को कल्याण का हेतुरूप कहा गया है; परन्तु उपासना भक्ति के विषय में मूल ग्रन्थ से यह साफ (प्रगट) निर्णय नहीं हुआ है कि यह भी निष्काम ही कल्याण का हेतु होती है। इससे दशम रमैनी से मानस कर्मरूप सकाम उपासनादि को बन्धन का हेतु बता कर मोक्ष के लिये निष्काम का वर्णन करते हैं कि--

रमैनी १०

राही लै पिपराही वही । करगी आवत काहु न कही ॥
आई करगी भौ अजगूजा । जन्म जन्म यम पहिरे बूता ॥

पथिकोपासकोऽप्यर्थं गृहीत्वोपासितस्म्भवम्[1] ।
पिप्पलं श्रुतिसंप्रोक्तं भवनद्या निरुह्यते ॥३६॥
बन्धप्रदस्य तस्याऽत्र ग्रहणे समुपस्थिते ।
न कोपि प्रोक्तवानेनं पथिकं सज्जनोपि हि ॥३७॥
करग्राहमिमं त्यक्त्वा भवनद्यास्तटं श्रय ।
न यापय वृथा कालं न कामवशगो भव ॥३८॥

पथिक तुल्य या पथिक रूप उपासक भी उपासनाजन्य, श्रुतिकथित पिप्पल (फल) का ग्रहण करके संसार नदी से बहाया जाता है ॥३६॥ बन्धन दाता उस फल का ग्रहण के उपस्थित (प्राप्ति) होने पर, यहाँ कोई सज्जन भी इस पथिक को नहीं कहा कि हाथ पकड़ने वाला

१. 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य'। बृहदा० ४।४।६

बुता पहिरि यम कै समाना । तीन लोक महँ कै पयाना ॥
बान्ध्यो ब्रह्मा विष्णु महेशू । सुर नर मुनि सब बाँधु गणेशू ॥

अतः कामफलान्येनं प्राप्य चाश्चर्यरूपताम् ।
प्राप्नुवन् सर्वजन्मादौ कालवेषं विधाय हि ॥३९॥
तेषां वेषात्मकः कालः कृत्वा परिकरं स्वयम् ।
ईयिवांस्त्रिषु लोकेषु [1]लोकानां बन्धनाय हि ॥४०॥
ब्रह्मविष्णुमहेशान् स बबन्धैव महाबलः ।
देवान् मुनीन् मनुष्यांश्च गणेशं च बबन्ध सः ॥४१॥
पवनं पावकं भूमिं ह्युदकं च बली यमः ।
वीरौ च चन्द्रमस्सूर्यौ बबन्ध हेलयैव सः ॥४२॥
सत्यमन्त्रविचारादीन् सर्वानन्विष्य हेलया ।
बबन्ध सोऽतिवेगेन कलनाय समुद्यतः ॥४३॥

इस फल को छोड़ कर संसारनदी का तट को पकड़ो, समय व्यर्थ नहीं बितावो, काम के वश में नहीं होवो ॥३७-३८॥ इससे काम (सकाम उपासनादि जन्य) फल ही आश्चर्य स्वरूपता को प्राप्त करके और सब जन्ममरणादि काल में काल (यम) का वेष करके इस सकाम जीव के प्रति प्राप्त हुए ॥३९॥ और उन काम फलों का वेष रूप काल स्वयं परिकर (आरम्भ-यत्न-परिवार) करके लोकों (जनों) को बांधने के लिये ही तीनों लोक में गमन किया (पहुंचा) ॥४०॥

महाबलवाला वह काल (यम मृत्यु) ब्रह्मा आदि को भी बांधा ही, और वह देव मुनि मनुष्यों को तथा गणेश को भी बांधा ॥४१॥ बली यम ने वायु अग्नि पृथिवी जल को बांधा । और वह हेला (अवज्ञा-अनादर) से ही वीर चन्द्र सूर्य को भी बांधा ॥४२॥ कलन (मारण) के लिये

१. 'दृश्यन्ते हि महात्मान ऋषयो दिव्यचक्षुषः । संसक्ताः सूक्ष्मभावेषु ते दोषास्तेषु संज्ञिताः' ॥ वायुपु० १२ । २९ ॥

बांध्यो पवन पावक थल नीरू । चान्द सूर्य बाँध्यो दुइ बीरू ॥
सांच मन्त्र बांधिन सब झारी । अमरित वस्तु न जानै नारी ॥

साखी ।

अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय ।
कहहिं कबिर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय ॥१०॥

सर्वेऽतः कामिनो मोहात् कान्तावत्परकामुकाः ।
अस्वतन्त्रा न जानन्ति ह्यमृतत्वं निजात्मकम् ॥४४॥

अमृतत्वस्य चाज्ञानात् सर्वे मग्ना भवार्णवे ।
कामेन विषमेनात्र नोन्मज्जन्ति कदाचन ॥४५॥

[1]इदानीमपि चेत्कामं त्यजेत्सर्वात्मना जनः ।
अस्य नैव पुनः क्वापि मरणं स्यात्कदाचन ॥४६॥

समुद्यत (तैयार) वह काल, सब सत्य मन्त्रविचारादि को हेला (लीला) से ही खोज कर अतिशीघ्र बांध दिया ॥४३॥ इसी से मोह से कान्ता (स्त्री) तुल्य अस्वतन्त्र, पर (अन्य) के कामुक (अभिलाषी) कामी सब निज स्वरूप अमृतत्व (मुक्ति) को नहीं जानते हैं ॥४४॥

अमृतत्व के अज्ञान से, विषम (तीव्र) काम करके इस संसार सागर में सब मग्न (डूबे) हैं, और कभी उतराते नहीं हैं ॥४५॥ यदि मनुष्य इस समय भी काम को सर्व स्वरूप से त्याग दे, तो इसका कहीं भी कभी फिर मरण नहीं होय ॥४६॥ सब कोई अनन्त चेतनघन आत्मा को भूल

१. 'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभीय मृत्योरात्मानं धीरममृतं युवानम्' ॥ अथर्ववेद० का० १।४।८ । ४४ ॥

विस्मृत्य चात्मानमनन्तचिद्घनं कामेन सर्वे खलु संसरन्ति हि ।
ब्रह्मा शिवो विष्णुमुखा हि देवताः कामेन बद्धा नहि तद्विपर्यये ॥४७॥
यत्रैव भेदोऽपि विभिद्यते तथा वियुज्यते रागमदक्रुधादिकम् ।
हृद्येव नित्यामृतपानतः सुधीर्मृत्योः सुदूरे वितते स मोदते ॥४८॥१०॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमैनीरसोद्रेके महावाक्योपदेशादिवर्णनं
नाम चतुर्थः प्रवाहः ॥४॥

कर के ही काम से ही संसरते (जन्मते मरते) हैं । ब्रह्मा शिव विष्णु आदि देव भी काम से ही बद्ध हैं, उस काम के विपर्यय (अभाव) निष्काम होने पर नहीं बद्ध होते हैं ॥४७॥ जिसी पुरुष में भेद भी नष्ट हो जाता है, तथा राग मद क्रोधादि हट जाते हैं, वह सुधी (पण्डित ज्ञानी) अपने हृदय में ही नित्यामृत का पान से मृत्यु से अत्यन्त दूर विभु स्वरूप में सुखी रहता है ॥४८॥

अक्षरार्थ- राही (कर्मावस्था से चलकर मोक्षभवन तक पहुंचने की सम्भावना वाला पथिक तुलउपासक) (तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति । मुण्डक ३।१।१) इस श्रुति वर्णित उपासनादि मानस कर्म के फल रूप पिपरा को लेकर (पिप्पल का फल तुल्य तुच्छ फल की इच्छा करके) ही संसार समुद्र में बहा और बहता है । और जबरदस्त उस इच्छा के करगी (पास में-मन में) आते समय ही किसी ने अज्ञों को कहा (समझाया) भी नहीं, कि यह इच्छा जन्मादि के कारण है इसे त्यागो, इत्यादि । या इच्छासागर में बहते हुए को कोई नहीं कहा कि इसके करगी (किनारे-तट पर) आवो, अन्य इच्छा त्याग कर मोक्षेच्छा करो, इत्यादि ॥ इससे वह जबरदस्त इच्छा जीवों के करगी (पास-मन) में आकर अजगूत (आश्चर्य) रूप का धारण किया । और वही हरएक जन्म में यम का बूत (स्वांग) पहिरी (धारण) किया, और कहती है, या यम की बूता (शक्ति) को

प्राप्त करती है ॥ और यम का बूत पहर कर समान (तैयारी) करती है, और तीनों लोक में पयान (यात्रा) करती है ॥

इस इच्छा (फल) रूप यम ने ब्रह्मा विष्णु महेश को बांधा है। तथा अन्य देव मुनि मनुष्य और गणेश सब को वश में किया है॥ वायु अग्नि भूमि जल को बांधा है, बडे वीर (तेजस्वी) चन्द्र सूर्य दोनों को भी बांधा है ॥ और सब सांच मन्त्र, (सत्य विचारादि) को झार कर (खोज २ कर) बांध दिया है, कामी के हृदय में उन्हें प्रगट नहीं होने देता है, इससे परवश नारी तुल्य कामी जीव अमृत वस्तु (आत्मा) को नहीं जानता है ॥

अमृत (आत्मा) को नहीं जानते हैं, इसी से सब लोय (लोग) संसार समुद्र में मग्न हो रहे हैं (डूब रहे हैं) । साहब का कहना है कि यदि अब ही भी कामो (इच्छा) नहीं हो, उस काम का सर्वथा अभाव हो जाय तो इन जीवों का फिर मरण नहीं हो । (कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः । तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥ आत्मपु० अ० ६।१३०।३। कोऽदात् कस्मा अदात्, कामोऽदात्, कामायाऽदात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ।। शुक्लयजुः सं० अ० ७।४८। कामो भूतस्य भव्यस्य सम्राडेको विराजते। कृष्णाय० तैत्तिरीय ब्रा० २।८।८।) क्योंकि कामों का हृदय में रहना ही संसार कहा गया है, और उन का सर्वथा नाश ही विद्वानों से मोक्ष कहा गया है ॥ कौन दिया किस को दिया, काम दिया काम को दिया, काम ही दाता ग्रहीता है, हे काम ! यह सब तेरा ही प्रपञ्च है, भूत भावी सब का एक काम ही राजा है ॥१०॥

मनोमायामहिमा प्रकरण ५

काम का त्याग से मोक्ष का वर्णन को सुन कर शंका हुई, कि यदि काम ही बन्धन का हेतु है, तो सब जीव उसे त्याग कर मुक्त क्यों नहीं होते; तब कहते हैं कि--

रमैनी ११

आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी । तीनि लोक महँ लागु ठगौरी ॥
ब्रह्महिं ठग्यो नाग कहँ जारी । देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी ॥

तामस्याः खलु मायाया गोष्ठ्या कामेन वै जगत् ।
उन्मत्तं वर्तते सर्वं [1]वञ्चनाऽतो जगत्त्रये ॥१॥
वञ्चकैः क्रियते सा च मनसाऽमार्गगामिना ।
मायया कर्मणा चैव कामेनापि दुरात्मना ॥२॥
[2]ब्रह्माणमपि मायैषाऽवञ्चयत् सृष्टिलालसा ।
अदहत्सर्वनागान् सा कुभोगैः कामरूपिणी ॥३॥

तामसी माया की गोष्ठी (संलाप-विचार) और काम से ही सब संसार उन्मत (उन्मादयुक्त) है, इसीसे जगत्त्रय (तीनों लोक) में वञ्चना (ठगौरी) लगी है ॥१॥ और वह ठगौरी कुमार्गगामी मन और माया, तथा पूर्व के कर्म और दुरात्मा काम; इन वञ्चक (खल धूर्तों) से की जाती है ॥२॥ सृष्टि की अत्यन्त इच्छावाली इस माया ने ब्रह्मा को भी ठगा। और काम (इच्छा आदि) रूप वाली वह माया ने ही कुभोगों से

१. ' यस्मिन् यस्मिंश्च संयुक्तो भूत ऐश्वर्यलक्षणे। तत्रैव सङ्गं भजते तेनैव प्रविनश्यति ' ॥ वायुपु० अ० १२ । २८ ॥

२. ' मुनीनामपि देवानां ब्रह्मादीनां हि शाश्वतः । अनुमानाच्च गम्येत सुखदुःखोपभोगिता ' ॥ आत्मपु० अ० १ । ८५० ॥

राज ठगौरी विष्णुहिं परी। चौदह भुवन केर चौधरी॥
आदि अन्त जाकि जनक न जानी। ताकी डर तुम काहे मानी।

देवांश्च सुखलोभेन वामासक्तान् विभूतिभिः।
शंभुं वञ्चयते स्मैवं संहारेणैव कर्मणा॥४॥
सर्वेषां भुवनानां तु पालनाकर्मणा हरिम्।
सर्वलोकप्रधानं साऽवञ्चयद् राजधर्मिणाम्॥५॥
यस्या धातापि नाद्यन्तौ स्वयं वेत्तीह तत्त्वतः।
अनिर्वाच्यस्वरूपायास्तस्यास्त्वं किं बिभेषि वै॥६॥
तस्या नैव भयं युक्तं प्रीतिस्तत्र न युज्यते।
भयेन वशगो भूत्वा भ्रान्तो भ्रमति सर्वदा॥७॥
उद्यताग्निशिखातुल्या माया तस्यां पतङ्गवत्।
प्रेम्णा पतति मूढो यः स याति यमसद्मनि॥८॥
निम्बजातस्य कीटस्य प्रियो निम्बो भवेद्यथा।
तथैव विषयासक्तो विषं वै मन्यतेऽमृतम्॥९॥

सब नागों को जलाया ॥३॥ सुख का लोभ से वामा (स्त्री) में आसक्त देवों को विभूति (अणिमादि ऐश्वर्य) से माया ने ठगा, और इसी प्रकार संहार रूप कर्म से शिवजी को ठग लिया ॥४॥ और सब भुवन (लोक) का पालन रूप कर्म से राजधर्मवाला सब लोक के प्रधान हरि (विष्णु) को ठगा ॥५॥ स्वयं ब्रह्मा भी जिस माया के आदि अन्त को वस्तुतः नहीं जानते हैं, अनिर्वचनीय स्वरूप तिस अनादि माया से ही तुम क्यों डरते हो ॥६॥ उससे डरना युक्त (उचित) नहीं है। और उसमें प्रीति करना भी न्याय (युक्त) नहीं होता; क्योंकि भयसे उसके वशवर्ती होकर भ्रमयुक्त जीव सदा भटकता है ॥७॥ उद्यत (ऊपर उठाई गई) अग्नि की शिखा के तुल्य माया है, जो मूढ उस में प्रेम से पतंग तुल्य गिरता है, सो यम के घर में जाता है ॥८॥ नीम में उत्पन्न कीडे को जैसे नीम प्रिय होता है,

वे उतङ्ग, तुम जाति पतङ्गा। यम घर कियहु जीव को सङ्गा।
नीम कीट जस नीम पियारा। विष को अमरित कहै गमारा।

मोहेनैव त्वया सौम्य यमगेहे निजात्मनः।
सम्बन्धः क्रियते तद्वत् विषयो भुज्यते विषम् ॥१०॥

यथा कोऽप्यतिमूढो हि विषं वै भाषतेऽमृतम्।
अकृतात्मा तथैवायं विषयान् भाषते हितान् ॥११॥

पीयूषविषसम्बन्धं यत्र जानाति बुद्धिमान्।
एकस्मिंस्तन्न चादत्ते विषं ज्ञात्वा तमञ्जसा ॥१२॥

सुखदुःखसमायोगं ज्ञात्वैवं विषयादिषु।
बुधा नाददते तांस्तु ज्ञात्वैव मरणप्रदान् ॥१३॥

विषेण च यथा सङ्गादमृतस्य निजा गुणाः।
विनश्यन्ति तथा सङ्गात्सौख्यादिर्दुःखतां व्रजेत् ॥१४॥

तैसे विषयासक्त पुरुष विषयविष को ही अमृत मानता है ॥९॥ हे सौम्य (मनोज्ञ)! मोह से ही तुम अपनी आत्मा का यमघर में सम्बन्ध करते हो। तैसे विषय रूप विष भोगते हो ॥१०॥ जैसे कोई अत्यन्त मूढ ही विषको ही अमृत कहता है, तैसे ही यह अकृतात्मा (अवश्यात्मा) विषयों को हित कहता है ॥११॥

बुद्धिमान् पुरुष जहाँ एक पदार्थ में पीयूष (अमृत) और विष का संबन्ध जानता है, तहाँ उस पदार्थ को वस्तुत – शीघ्र ही विष जान कर, उस का ग्रहणादि नहीं करता है ॥१२॥ इसी प्रकार बुध (विवेकी) लोक विषयादि में सुख दुःख का अच्छी तरह संबन्ध जान कर, और मरणप्रद समझ करके ही उनका ग्रहणादि नहीं करते हैं ॥१३॥ और जैसे विष के साथ सङ्ग से अमृत के अपने गुण सब नष्ट हो जाते हैं, तैसे दुःख के संग से सौख्य (सुख) आदि भी दुःखरूपता को प्राप्त होते हैं

और यद्यपि विषय से कुछ सुख भी होता है, तथापि उस सुख के साथ नाशादि का भयादि रूप दुःख भी अवश्य रहता है; इससे कहते हैं कि–

विष अमरित गौ एकै सानी । जिन जानी तिन विष कै मानी ।
विष के संग कौन गुण होई । किञ्चित लाभ मूल गौ खोई ॥
काह भयो नर शुद्ध विशुद्धा । बिनु परिचय जग बूड़ न बूद्धा ॥
मति के हीन कौन गुण कहई । लालच लागी आशा रहई ॥

विषयाख्यविषैः सङ्गाल्लाभः क इह देहिनाम् ।
अल्पेन सुखलाभेन मूलं सौख्यं विनश्यति ॥१५॥
मूलसौख्यविनाशे च वंशशुद्ध्या भवेत् किमु ।
आचारादिविशुद्धो वा किं करिष्यति मन्दधीः ॥१६॥
सर्वानन्दनिदानस्य स्वात्मनोऽनुभवं विना ।
भवाब्धावेव मज्जन्ति सर्वे नैव तु पण्डिताः ॥१७॥
यश्चात्ममतिहीनः स गुणं कं वा वदिष्यति ।
शमादिलक्षणं किम्वा ह्यमानित्वादिलक्षणम् ॥१८॥
स लोभेन स्वयंग्रस्त आशया पीड्यते सदा ।
यतोऽप्राज्ञेऽविरक्ते च लोभाशे सह तिष्ठतः ॥१९॥११॥

॥१४॥ विषय नामक विष के साथ संग से देही को यहां लाभ कौन होता है, उलटा तुच्छ सुख का लाभ से मूल सुख नष्ट हो जाता है ॥१५॥ और मूल सुख के नष्ट होने पर वंश की शुद्धि से क्या होगा। अथवा आचारादि से विशुद्ध भी मन्द बुद्धिवाला क्या करेगा ॥१६॥ सब आनन्द का निदान (आदि कारण- मूल) अपनी आत्मा का अनुभव विना सब भवाब्धि में ही डूबते हैं, पण्डित ही नहीं डूबते हैं ॥१७॥ और जो आत्मविवेकादि से हीन (रहित) हैं, सो शमदमादिरूप अथवा अमानित्व अदम्भित्वादि रूप कौन गुण को कहेगा ॥१८॥ वह स्वयं

साखी ।

मूये हौ मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल ।
स्वप्न सनेही जग भया, सहिदानी रहि बोल ॥११॥

कामलोभादिभिर्विद्वन् बहुकृत्वो मृतो भवान् ।
सत्यज्ञाने पुनस्त्वं हि मरिष्यसि पुनः पुनः ॥२०॥
एतस्य मरणस्यैव भेरी लोके निहन्यते ।
अतो यत्नो विधातव्यो येन मृत्युर्न बाधते ॥२१॥
हा लोकास्तं परित्यज्य स्वप्नवन् मायिकेषु ये ।
स्नेहं बध्नन्ति नश्यन्ति तेषां नामैव शिष्यते ॥२२॥
न ज्ञानं लभ्यते तैश्च न सौख्यं न परं पदम् ।
खिद्यन्ते ते मुधा शश्वत् कालपाशवशंगता ॥२३॥
मायावशे प्राप्य विमूढमानसाः सुवञ्चिताः कामविमोहजालकैः ।
भीताः प्रतीताश्च विलज्जिताः क्वचित् स्निग्धाः क्वचिन्मृत्युमुखे प्रयान्ति हि ॥२४॥११॥

लोभ से सदा ग्रस्त रहता है, और लोभ से ग्रस्त होकर आशा से सदा पीडित (दुःखी) होता है, जिससे अप्राज्ञ और अविरक्त में लोभ और आशा साथ रहते हैं ॥१९॥

हे विद्वन् (विवेकियों)! आप कामलोभादि से बहुकृत्व (बहुत बार) मरे हो, और अज्ञान के रहने पर फिर भी तुम बार २ मरोगे ॥ २० ॥ इस मरण की ही भेरी (ढोल) लोक में बाजती है। इससे सो यत्न करने योग्य है कि, जिस यत्न (उपाय) से मृत्यु नहीं बाधा करती है ॥ २१ ॥ हा ! दुःख, शोक की बात है कि जो लोक उस यत्न को त्याग कर, स्वप्नतुल्य मिथ्या मायिक पदार्थों में स्नेह बांधते (करते) हैं वे नष्ट होते हैं, उनका नाम ही शेष रह जाता है ॥ २२ ॥ उन्हें ज्ञान नहीं मिलता है, न सुख मिलता है, न मोक्ष मिलता है। वे लोक कालपाश

के वश में होकर व्यर्थ ही निरन्तर दुःखी होते हैं ॥ २३ ॥ विशेष मोह-युक्त मनवाले माया के वश में प्राप्त होकर, काम विमोह के जाल (समूहों) से अत्यन्त वञ्चित (विप्रलब्ध) होकर, ठगा कर, कहीं भीत (डरते हुए) और कहीं प्रतीत (प्रख्यात प्रसिद्ध) होते, कहीं लज्जित होते, कहीं स्निग्ध (वत्सल) होते मृत्यु के मुख में ही जाते हैं ॥ २४ ॥

अक्षरार्थ– यद्यपि काम का त्याग से मोक्ष होता है, तथापि यह सृष्टि (संसारी) सब आँधरी (तामसी माया- कुबुद्धि) की गुष्टि (गोष्ठी-कथा) से बौरी हुई है, इसीसे तीनों लोक में मनमाया कृत ठगौरी (वञ्चना) लगी है। वह माया आदि ठग ब्रह्मा को कामादि द्वारा ठगा। नागों को भोगाग्नि तथा जनमेजयकृत यज्ञाग्नि में जलाया, और अन्य देव सहित शिवजी को ठगा, मोहित किया ॥ चौदहों भुवन के चौधरी (स्वामी) विष्णु भगवान् में भी राज करना रूप ठगौरी ही माया से परी (प्राप्त हुई) या वाली, बलि आदि राजाओं को ठगना रूप ठगौरी रूप से माया विष्णु में प्राप्त हुई। जिससे चौदह भुवन के चौधरी को भी बदला देना पड़ा।

भय से भी जीव ठगाते हैं, इससे कहते हैं कि जिस माया के आदि अन्त को लोकजनक ब्रह्माजी ने भी नहीं जाना, उसका डर तुम क्यों मानते हो। अभयादि रूप दैवी सम्पत्ति का धारण करो। डर मानने से वह माया उत्तङ्ग (उच्च) अग्निशिखा तुल्य होती है, और तुम पतङ्ग जाति के तुल्य होते हो, और इसीसे यम का घर रूप संसार देह विषयादि में अपने जीवात्मा का संग आसक्ति किये हो। और जैसे नीम के कीड़े को नीम प्रिय लगता है, तैसेही विषय में आसक्त गमार (अज्ञ) विषय-विष को अमृत (सुखद) कहता है।

विष और अमृत जहाँ एकत्र मिले साने गये हों, वहाँ जिन लोगोंने उस बात को जानी, तिन लोगोंने उसे विष करके ही मानी; क्योंकि विष के साथ मिलने पर अमृत का अपना कौन गुण रह सकता है?

विषयुक्त अमृत के खाने से उदरपूर्ति मात्र किञ्चित् लाभ होता है, और मूल (देह) खोय (नष्ट हो) जाता है ।। इसी प्रकार विषयसंग से भी आत्मानन्द की थोड़ी अभिव्यक्ति होती है, फिर वह आनन्द अत्यन्त आवृत्त हो जाता है ॥ इससे (विषमिश्रं यथैवान्नं मूढस्य सुखदं भवेत् । एवं प्रेय इदं सर्वं मूढस्य सुखदं स्मृतम् ॥ आत्मपु० अ० ९।२७१) विष मिश्रित अन्न जैसे मूढ को सुखद मालूम होता है, तैसे ही यह सब प्रेय वस्तु मूढ को सुखद कहा गया है, अन्य को नहीं ।

यदि विषयसंगादि रहित परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई तो कुलगोत्रादि, योगाचारादि से शुद्ध-विशुद्ध होने पर भी मनुष्य को क्या फल मिला । आत्मपरिचय (ज्ञान) विना शुद्ध विशुद्ध भी संसारसागर में डूब ही गया, केवल बुद्ध (ज्ञानी) ही नहीं डूबे । अथवा डूबते हुए अपने को भी अज्ञ जीव नहीं बूझा (नहीं समझा) ॥ और जो पुरुष संगादि करके मति के हीन है, भावी हित को नहीं समझता है, वह शमादि वा अमानित्वादि किस गुण को कह सकता है, उसके मन में तो सदा लोभ (तृष्णा) लगा रहता है, और आशा बनी रहती है ॥

साहब का कहना है कि इन संग लोभादि के वश में होकर तुम लोग अनन्त बार मरे हो, और फिर भी मर कर किसी योनि आदि में जावोगे। और, इस मरण की ढोल बाज रही है । (मरण की प्रसिद्धि हो रही है) इससे संगादि को त्यागो । जो संसारी स्वप्नतुल्य मिथ्या वस्तु का स्नेही (प्रेमी) हुआ, सो नष्ट हुआ, बोल (बात) मात्र उसकी सहिदानी रह गई ॥

विशेष विवरण— यहाँ ब्रह्मा आदि माया से ठगे गये, इस कथन का यह तात्पर्य है कि पूर्वजन्म में जब वे लोक ब्रह्मा आदि पद के लिये सकाम तप आदि किये, उस समय माया ने ही इच्छा कराकर ठग दिया; नहीं तो उसी तप आदि से ज्ञानी मुक्त हो गये होते, कि जिससे सृष्टि

आदि के बखेड़े (झंझट) में नहीं पड़ना होता; और जब ब्रह्मा आदि माया से ठगा जाते हैं, तो अन्य जीव को निष्काम होना सहज नहीं है। निष्कामता के लिये बहुत विचार सावधानी आदि की आवश्यकता है। और, ' नाग कहँ जारी, ' के स्थान में (नाग कहँ जाई) यह प्राचीन पाठ है, तब अर्थ है कि नाग (सर्प) युक्त महाभयंकर शिवजी के पास में भी जाकर, देव सहित शिवजी को भी सती आदि रूप से माया ने मोहित किया। और 'आदि अन्त जाकि जनक न जानी', इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि जिस माया के आदि अन्त और जनक (पिता) की बात को किसी ने नहीं जानी है, उस अनादि अनिर्वचनीया का डर तुम सत्यात्मा होकर काहे मानते हो, थोड़ी देर के साथी का लेहाज डर माना जा सकता है, सदा के साथी मिथ्या माया का डर मानना उचित नहीं है। जनक, के स्थान में जलकण, पाठ भी मिलता है, तब अर्थ है कि जिस मायिक देवादि की उत्पत्ति नाश को महात्माओं ने जलकण, (ओस) के समान (तुच्छ) माना है, माया को भी चिदाकाश में जल-बिन्दु तुल्य माना है। उसका डर क्यों मानते हो, आत्मनिष्ठ होवो।

और शब्दप्रकरण में विष्णु भगवान् के अवतारों को मायारूप कहे हैं। यहाँ कहते हैं कि माया उन्हें ठग लिया है, तिसका भाव है कि सब देवादि में जो विशेष शक्ति होती है, सो ईश्वरीय मायाकृत ही होती है, उनके शरीरादि भी मायामय ही रहते हैं, इससे व्यक्त स्वरूप अवतारादि मायारूप होते हैं, वे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म नहीं हैं। और व्यावहारिक स्वरूप वाले देवादि को कामादि के वश में होना मायाकृत ठगौरी है, तथा ऐश्वर्यादि पाकर पक्षपात छलादि परायण होना भी मायाकृत ठगौरी है, उससे रहित होने के लिये यत्न का विधान में यहाँ तात्पर्य है ॥११॥

कामादिवश जीवों के बार २ जन्ममरणादि सुन कर शंका हुई कि, वेदादि जीव को अनादि जन्मादि रहित कहते हैं, फिर इसके जन्मादि क्या हैं; तब जन्मादि के स्वरूप को बताते हुए, ज्ञान विना संसार का वर्णन करते हैं कि—

रमैनी १२

माटिक कोट पषाणक ताला। सोई बन सोई रखवाला॥
सो बन देखत जीव डराना। ब्राह्मण वैष्णव एकै जाना॥

आत्मनो राजवर्यस्य बुद्धिर्वै नगरी शुभा।
सत्त्वांशोऽस्य गृहं तत्र स सुव्यक्तोऽत्र तिष्ठति॥२५॥
[1]मृण्मयश्चास्य देहोऽयं प्राकारो विद्यते महान्।
क्षणे भङ्गुरतायुक्तो वालुकागृहवन्मतः॥२६॥
मनः [2]पाषाणवच्चैतल्लिङ्गदेहस्तथैव च।
आमुक्तेः स्थायिरूपत्वाद् व्यक्ताऽव्यक्तस्वरूपतः॥२७॥

राजा रूप प्रधान, या राजाओं का राजाओं से वर्य (प्रमुख–श्रेष्ठ) आत्मा की बुद्धि ही शुभ नगरी है, तिसमें सत्त्वांश इस आत्मा का गृह है। वह आत्मा इस सत्त्वांश में सुन्दर व्यक्त (प्रगट) रूप से रहता है॥२५॥ कुछ क्षण व्यतीत होने पर विनश्वरतायुक्त, बालू का गृह तुल्य माना गया यह मिट्टीमय देह, इस आत्मा के महान् (भारी) प्राकार (कोट) है॥२६॥ यह मन पत्थर तुल्य स्थायी है, और लिङ्ग देह भी व्यक्त वा

१. 'मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च'। ब्रह्मसूत्र २।४।२१॥

२. 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव'। बृह० १।५।३॥ 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। ब्रह्मबिन्दूप०॥

ज्योंरि किसान किसानी करई । उपजै खेत बीज नहिं परई ॥

मन एव वनं चेदमशुद्धं स्याद्विकल्पनैः ।
विषयाक्तं भयस्थानं जीवसंसृतिकारणम् ॥२८॥
लिङ्गे चास्मिन् गृहे देहे कपाटयन्त्रिकादिकम्[1] ।
रक्षकं चास्य देहस्य जीवस्याविषयो मनः ॥२९॥
विकल्पवन्मनो दृष्ट्वा वनभूतं हि जीवकाः ।
तस्माद् भीता अनात्मानममन्वत हि रक्षकम् ॥३०॥
ब्राह्मणं वैष्णवं सर्वं ह्येकं कृत्वा त्वमन्वत ।
पूज्यं नैव स्वमात्मानं सर्वदुःखभयापहम् ॥ ३१ ॥
ब्राह्मणा वैष्णवाद्या वा ह्येकमन्यं स्म जानते ।
भुक्तये मुक्तये चैव स्वात्मानं नैव मुक्तये ॥ ३२ ॥

अव्यक्त (गुप्त वा प्रगट) रूप से स्थिर रहने से मन के समान ही पत्थर तुल्य है ॥२७॥ और विकल्पों से अशुद्ध, विषयों से व्याप्त, जीवों के संसार का कारण, भय का स्थान रूप यह मन ही बन (भूलने का स्थान) होता है ॥२८॥ जीव के अवशीभूत मन ही लिङ्ग (सूक्ष्म) देह में और इस स्थूल देहरूप गृह में किमारा (फाटक) छोटा यन्त्र (ताला) आदि स्वरूप है, और इस देह का रक्षक है ॥२९॥ अविवेकी जीव सब वनस्वरूप विकल्पवाला मन ही को देख कर, और उस से डर कर, किसी अनात्मा को ही उस भय से रक्षक माना ॥३०॥ और ब्राह्मण वैष्णवादि सबको एक करके इनको ही पूज्य माना, और सब दुःख भय का अपहरण (नाश) करनेवाली अपनी आत्मा को पूज्य नहीं माना ॥३१॥ अथवा ब्राह्मण वैष्णवादि सब लोक भोग और मोक्ष के लिये एक अन्य (अनात्मा) को ही जानने मानने लगे, और भोग को प्रारब्धाधीन समझकर, केवल

---

१. ' ह्रस्वं यन्त्रं यन्त्रिका । गुधूवीत्यादि त्रप्रत्ययान्तात्कः ' ।

छाड़ि देहु नर झेलिक झेला । बूड़े दोऊ गुरु औ चेला ॥

यथा कृषीवलः कश्चित् कृषिं कुर्याद्विचक्षणः ।
पलालस्यातिवृद्धिः स्यात्तत्र चान्नं लगेन्नहि ॥ ३३ ॥
तथैवानात्मभानेन ध्यानाद्येन भवेत् सदा ।
शरीरक्षेत्रवृद्धिर्वै बोधबीजं न जायते ॥ ३४ ॥
भो नरास्त्यज्यतामस्माद् भवाम्भोधौ विचेष्टनम् ।
क्रीडितव्यं तु नैवैवमत्रत्य वस्तुभिः क्वचित् ॥ ३५ ॥
अत्रैव क्रीडमानौ द्वौ गुरुशिष्यौ न्यमज्जताम् ।
व्यर्थवादविवादाद्यैः कालस्य यापने रतौ ॥ ३६ ॥
ज्ञानाभ्यासं विना यस्तु हठयोगरतो नरः ।
रक्षकः स्वेन्द्रियादीनां विकल्पवनबाधने ॥
हठेनैव प्रवृत्तोऽभूत् स न्यमज्जत् तृतीयकः ॥ ३७ ॥

मोक्ष के लिये केवल स्वात्मा का चिन्तन नहीं किये ॥३२॥ जैसे कोई बुद्धिमान्-चतुर, कृषीवल (कृषक-किसान) कृषि (खेती) करे। तहाँ पलाल (अन्न रहित काण्ड डांठ) की अत्यन्त वृद्धि होय, और उसमें अन्न नहीं लगे। तिसी प्रकार से अनात्म वस्तु के ज्ञान और ध्यानादि से सदा शरीररूप क्षेत्र की वृद्धि होती ही है, परन्तु बोध (अनुभव) रूप बीज नहीं होता है ॥३३-३४॥

हे मनुष्यों ! इसी कारण से (बोधरूप वा बोध का बीज नहीं लगने से) संसार समुद्र में विशेष भ्रमण छोड़ो, और इसी प्रकार यहाँ होनेवाली वस्तुओं से कहीं भी क्रीडा करने लायक (योग्य) नहीं है ॥३५॥ निरर्थक वादविवादादि द्वारा काल (समय) के यापन (बीताने) में प्रीति वाले, यहाँ ही क्रीड़ा करते हुए गुरुशिष्य दोनों डूब गये ॥३६॥ और अपने इन्द्रियादि का रक्षक (संयमी) हठयोग में रत जो मनुष्य, ज्ञानाभ्यास के विना ही हठ से ही विकल्प रूप वन की निवृत्ति में प्रवृत्त हुआ, सो

तीसर बूड़े पारथि भाई। जिन बन दाह्यो दावा लाई॥
भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ। काज न एक स्यार से भयऊं॥

एवं ये रक्षकाः केचित् क्रोधदावाग्निनाऽदहन्।
संसारवनमेतेऽपि न्यमज्जन् वै महाह्रदे॥ ३८॥
विवेकेन विना श्वेव भषित्वेवेह मानवः।
अज्ञस्य जम्बुकस्येव श्रुत्वा वाचो विनश्यति॥ ३९॥
श्रुतिपाठादि कुर्वाणा निष्फलं सफलं यथा।
लभन्ते न फलं सत्यं मोक्षं विज्ञानमन्तरा॥ ४०॥
नैकं कार्यं समीचीनं वञ्चकाद्भवत् क्वचित्।
कस्यापि भुवने लोकास्तं तथाप्यनुयान्ति हि॥ ४१॥
सालोक्यसामीप्यसरूपतादिभेदस्तु सत्कर्मविशेषसिद्धः।
न कर्मसिद्धस्य तु नित्यतेति विचार्य विज्ञो [1]विरतिं भजेद्धि॥४२॥

तीसरा भी डूब गया॥३७॥ इसी प्रकार जो कोई रक्षक (राजा आदि) क्रोध दावाग्नि से संसार वन को जलाये, वे लोक भी महासमुद्र में डूबे॥३८॥ जम्बुक तुल्य वञ्चक के वचन को सुन कर, मनुष्य विवेक विना कुत्ता के समान मानो भूँक २ कर इस संसार में विनष्ट होता है॥३९॥ निष्फल श्रवण पाठादि, या वेद पाठादि को सफल के समान करने वाले, विज्ञान विना सत्य फल मोक्ष नहीं पाते हैं॥४०॥ लोक में किसी का एक भी समीचीन (श्रेष्ठ) कार्य वञ्चक (ठग) से कहीं नहीं हुआ, तो भी लोक उस वञ्चक के ही पीछे जाते हैं॥४१॥ और सत् कर्म विशेष से सिद्ध ही सालो-

१. 'येषु येषु प्रदेशेषु मनो मज्जति बालवत्। तेभ्यस्तेभ्यः समाहृत्य तद्धि तत्त्वे नियोजयेत्' ॥ योगवा० ५।२९।५४॥ 'वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात्। संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहर॥ सम्यक् तत्त्वावबोधेन दुर्बोधे क्षयमागते। गलिते वासनावेशे विशोकं प्राप्यते पदम्'॥ योगवा० ६।२।२१-२२॥

साखी।

मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखहु हो, हस्ती सिंह हि खाय॥१२॥

मार्जारेण समं यद्वन्मूषिको न वितिष्ठते।
धूर्तैश्चैव [1]कुदेवैश्च तथैवायं जनो नहि॥४३॥
साधो निरीक्ष्यतामेतदाश्चर्यं विद्यते महत्।
हरिवत्सज्जनाञ्छिष्यान् धूर्ताः खादन्त्यनेकपः॥४४॥
नाशयन्ति ह्यमार्गेण स्वयं नष्टा भवन्ति च।
न तत्सङ्गो विधेयोऽतः सावधानेन भूयताम्॥४५॥
कुसङ्गमाच्चैव कुदेवपूजनात् सुखं न तिष्ठन्ति हि जातु दुर्धियः।
सिंहोऽप्यमार्गेण हि संपतन्नरो विनाश्यते धूर्तगजेन्द्रलीलया॥४६॥१२

इति हनुमद्दासविरचिते रमैनीरसोद्रेके मनोमायामहत्ववर्णनं नाम पञ्चमः प्रवाहः॥५॥

क्यादि मुक्ति का भेद है, और कर्म से सिद्ध को नित्यता नहीं हो सकती, ऐसा विचार कर विज्ञ (कुशल) पुरुष विरति (उपरमण-वैराग्य) को ही भजे ॥४२॥ जैसे मार्जार (बिलाव-बिलाई) के साथ मूसा स्थिर जीवित नहीं रहता है, तैसे ही धूर्त और कुदेव के साथ यह मनुष्य भी स्थिर नहीं रह सकता है ॥४३॥ हे साधो! यह महा आश्चर्य है, इसे देखो-समझो। हरि (सिंह) तुल्य सज्जन शिष्यों को धूर्त रूप अनेकप (हाथी) खाते (नाशते) है ॥४४॥ अमार्ग (कुमार्ग) से अन्य को नष्ट करने हैं, और स्वयं भी नष्ट होते हैं; इससे उनका सङ्ग करने योग्य नहीं है, सावधान (प्रमाद रहित) होकर रहो। ४५॥ दुर्बुद्धि मनुष्य कुसंग से और कुदेव की पूजा से कभी सुखपूर्वक नहीं रहते हैं। कुमार्ग से गमन करता हुआ सिंह तुल्य मनुष्य भी धूर्तरूप गजेन्द्र की लीला से विनष्ट किया जाता है॥४६॥

१. 'यथा बहवः पशवो मनुष्य भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति'। बृ० १।४।१०॥

अक्षरार्थ–यह स्थूल देह माटी का कोट (किला–घेरा) के तुल्य है। और मोक्ष पर्यन्त स्थायी सूक्ष्म देह मन वासनादि चिरस्थायी पाषाण के समान उस कोट के फाटक ताला आदि रूप हैं। जीवात्मा राजा है, बुद्धि नगरी है इत्यादि। और सोई सूक्ष्म देह मन आदि कोट का पास के वन तुल्य है, और रक्षक है, तथा इन्द्रियों के देवादि भी रक्षक हैं। इससे स्थूल सूक्ष्म का संबन्ध जन्म है, और इनका वियोग ही मरण है ॥

जैसे कोई नगर का स्वामी अपना ही वन को देख कर डरे, तैसे ही जीवात्मा, उस सघन वन तुल्य मन इन्द्रियादि का प्रपञ्च को देख कर डर गया, तब ब्राह्मण वैष्णवादि एक किसी तटस्थ देवादि को रक्षक जाना, और सकाम होकर भजनादि में लगे, निष्काम आत्मविचारादि से दूर रहे[१] ॥ तिससे ऐसी दशा हुई कि जैसे कोई किसान (वैश्य) किसानी (खेती) करे, और खेत उपजे (खेत में डांठ घास बढे) परन्तु उसमें बीज (अन्न) नहीं परे (लगे); तैसे ही तटस्थ देवादि के ज्ञान भक्ति आदि से शरीर संसार रूप खेत में पुत्रपौत्रादि धनादि की वृद्धि होती है, परन्तु ज्ञान मोक्ष रूप फल नहीं लगते हैं[२] ॥ इससे अब उपदेश देते हैं कि—

हे मनुष्यों ! इसलिये तुम अब भी इस संसार रूप झेलिक (झील– अगाध जल के) झेला (क्रीड़ा, कामादि) को छोड़ दो ॥ इसमें क्रीड़ा करनेवाले गुरु और चेला (शिष्य) दोनों बूड़ (डूब) गये। और

१ अथवा अन्य लोग डर गये; परन्तु सात्विक ब्राह्मणादि एकात्मा राम को जान कर निर्भय हुए ॥

२. अथवा आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी अनेक व्यवहार करते हैं, तौ भी उनके हृदय में आनन्द उपजता है; परन्तु वासनारूप बीज नहीं पडता है। किसान के सदृश व्यवहार करने पर भी कामी नहीं होते, इत्यादि ॥

जिन्हों ने क्रोधादि रूप दावानल लगाकर संसारवन को जलाया (प्रजा को पीड़ित किया) वे पारथि (रक्षक) राजा आदि, वा हठसे उस वन को दग्ध करने की इच्छा वाले योगी भी तीसरे डूबे ॥

जैसे सियार की बोली सुन कर कूकुर भूँक २ कर मरता है; परन्तु उस सियार से कुत्तों का कोई कार्य नहीं सिद्ध होता है। तैसे ही अज्ञ के वचनों को सुन कर; प्राप्य देवादि को दूर समझ कर, अविवेकी लोक पुकार २ कर मरते हैं; परन्तु कामी को अज्ञ गुरु देवादि से एक भी सच्चा फल नहीं मिलता है, कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है ॥१२॥ क्यों कि–

जैसे मूसा बिलाई के संग में एक जगह नहीं रह सकता, तैसेही कामी जीव कुदेवादि के साथ में कैसे रह सकता है, सो कहो। अर्थात् जहाँ रहना नहीं हो सकता, वहाँ प्रयोजन की सिद्धि अति दूर है। और हे सज्जनों! एक आश्चर्य देखो कि, सिंह तुल्य को हस्तितुल्य खाय रहा है ॥ जिज्ञासु सज्जन सिंह तुल्य है, अज्ञ कुदेवादि हस्ति तुल्य हैं। विवेक विना सज्जन भी कुसंग से नष्ट हो रहे हैं ॥१२॥



माया से सावधानी प्रकरण ६

माया आदि के संग से नाश होता है, इत्यादि वर्णन को सुन कर, शंका हुई कि, यदि ऐसी बात है तो महात्मा लोक उपदेश देकर संग का त्याग क्यों नही कराते हैं, तब उत्तर देते हैं, अथवा संग का त्याग के लिये स्वयं ही उपदेश देते हैं कि—

रमैनी १३

नाहिं प्रतीजै यहि संसारा। द्रव्यक चोट कठिन क मारा॥
सो तो शेषहुं जाय लुकाई। काहू को परतीति न आई॥

संसारिणो न सत्ये वै विश्वसन्ति कदाचन।
यतो द्रव्येच्छया ह्येते वर्तन्ते विह्वला[1] इव॥ १॥
भोः साधो न त्वया किञ्चित् सत्यमत्र प्रतीयताम्।
सुखदं वा पवित्रं वा कथञ्चिदप्यनामयम्॥ २॥
सत्यत्वादिप्रतीतौ हि बाधतेऽस्य स्पृहा भृशम्।
कठोराघाततुल्या सा भवत्येवाति दुःखदा॥ ३॥

संसारी लोक सत्य में कभी विश्वास नहीं करते हैं, जिस से ये लोक द्रव्य की इच्छा से विह्वल (विक्लव-अत्यन्त दुःखी) के समान रहते हैं ॥१॥ हे साधो ! तुम इस संसार में कुछ भी सत्य वा सुखदायी, वा पवित्र, या किसी प्रकार भी अनामय (अरोग) नहीं समझना ॥२॥ क्योंकि सत्य पवित्रादि पन की प्रतीति (ज्ञान-विश्वास) होने पर इस संसार की वस्तु की इच्छा भृश (अत्यन्त) बाधा (पीड़ा) करती है। और वह इच्छा ही कठिन आघात (मार) के समान दुःखद ही होती है ॥३॥ इस इच्छा

१. ‘अनर्थायार्थसम्पत्तिर्भोगौघो भवरोगदः। आपदः सम्पदः सर्वाः सर्वत्रानादरो जयः’॥ योगवा० ४।३२।५८॥

चले लोग सब मूल गमाई । यम की बाढि काटि नहिं जाई ॥
आजु काज है काल्ह अकाजा । चलेउ लादि दिगन्तर राजा ॥

अनयैवाविनाश्यात्मा शिष्यमाणो न लक्ष्यते ।
कस्यापि प्रत्ययो जातु नानया सुदृढोऽभवत् ॥ ४ ॥
मानुष्यमात्मतत्त्वं च मूलतत्त्वं विहाय ये ।
यान्त्यन्यत्र जनास्तेषां यमबन्धो न खण्ड्यते ॥ ५ ॥
मृत्युबंधविभेदात्मस्वात्मानन्दाप्तिलक्षणम् ।
कार्यं सिद्ध्यति चात्रैव नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥ ६ ॥
अहो प्राप्य स्वतन्त्रत्वं राजा जीवः प्रतिष्ठते ।
अन्यत्र पुण्यपापादि गृहीत्वा दुःसहं भरम् ॥ ७ ॥
साधयत्यत्र न स्वर्गं मोक्षं वा न कथञ्चन ।
स्वभावसिद्धसिद्ध्यर्थं विचारान् कुरुते सदा ॥ ८ ॥

तृष्णा से ही सब के नष्ट होने पर भी शिष्यमाण (बाकी रहने वाला) अविनाशी आत्मा लक्षित (प्रत्यक्ष) नहीं किया जा सकता; क्योंकि किसी का भी ज्ञान इस तृष्णा से कभी सुदृढ (संशयादि रहित) नहीं हुआ ।.४॥ और जो लोक मनुष्यता और आत्मतत्त्व को त्याग कर, दूसरे स्थानादि में जाते हैं, उनका यमबन्धन नहीं टूटता है ॥५॥

यमबन्धन का विभेदन (नाश छेदन) रूप और स्वात्मानन्द की प्राप्ति रूप कार्य यहाँ इसी जन्म में सिद्ध होता है; अन्यत्र नहीं होता, यह निश्चय है ।.६॥ अहो ! (आश्चर्य) है कि राजा जीव स्वतन्त्रता को इस जन्म में पाकर भी पुण्यपापादि रूप दुःसह, भारी भर (अतिशय भार) रूप पुण्य पापादि का ग्रहण करके अन्यत्र चलता है । ७॥ और यहाँ स्वर्ग वा मोक्ष को किसी प्रकार नहीं साधता है, किन्तु स्वभाव (प्रकृति) से सिद्ध वस्तु की सिद्धि के लिये सदा विचार करता है ॥८॥

सहज विचारे मूल गमाई। लाभ ते हानि होय रि भाई॥
ओछी मती चन्द्र गो अथई। त्रिकुटी संगम स्वामी बसई॥

प्रारब्धेन हि सिद्ध्यन्ति स्वभावात् सर्वसम्पदः।
तल्लाभार्थविचाराद्यैस्तल्लाभेन सुखेन च॥९॥
तुच्छेन महती हानिर्जायते सर्वदा नृणाम्।
एतावद्धि न जानन्ति मूढाः कर्मविमोहिताः॥१०॥
द्रव्यादिसङ्गमाच्चेयं मतिस्तुच्छा विनश्यति।
ह्रस्वो बुद्ध्यात्मचन्द्रो वा स्वेन्द्रियेषु विलीयते॥११॥
एवं जाते स्वयं स्वामी भ्रूमध्यं प्राप्य तिष्ठति।
गृह्णन् सदेन्द्रियैरर्थान् मोदं बाह्येषु मन्यते॥१२॥

प्रारब्धद्वारा स्वभाव से ही सब सम्पत्ति (धनादि लक्ष्मी) सिद्ध होती है। उनका लाभ (प्राप्ति) के लिये विचारादि से, उनके लाभ से और तज्जन्य तुच्छ सुख से मनुष्यों को सदा बड़ी हानि होती है, परन्तु पूर्वकर्म से विमोह युक्त मूढ जीव इतनी बात तत्त्व को भी नहीं जानते हैं॥ ९-१०॥ द्रव्यादि का सम्बन्ध से यह तुच्छ बुद्धि विनश जाती है, अथवा लघु बुद्धिरूप चन्द्र अपनी इन्द्रियों में विलीन होता है, इन्द्रिय द्वारा विषय में लीन (प्रवृत्त) होता है ॥११॥ ऐसा होने पर फिर यह स्वामी (जीव) इन्द्रियों द्वारा अर्थ (विषयों) का ग्रहण करता हुआ, भ्रुवों के मध्य (त्रिकुटी) में जाकर स्थिर होता है, और बाह्य विषयों में ही आनन्द मानता है (तत्तद्देवताग्रहान्वितैः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषयग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति। तत्र भ्रूमध्यंगतो जीव आपादमस्तकं व्याप्य कृषिश्रवणाद्यखिलक्रियाकर्ता भवति॥ पैङ्गलोप० अ० २॥ नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्निसंस्थितम्॥ नारदपरिव्रा० उपदेश० ५।३); क्योंकि देव का अनुग्रह आग्रह सहित श्रोत्रादि इन्द्रियों से शब्दादि अर्थरूप विषयों का ग्रहण

तब ही विष्णु कहा समुझाई । मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई ॥
तब सनकादिक तत्त्व विचारा । जैसे रंक पाव धन पारा ॥

तं निरीक्ष्य तथा विष्णुः सात्विकः पुरुषोत्तमः ।
उवाच सर्वजीवेभ्यः सादरं तत्त्वमुत्तमम् ॥ १३ ॥
गत्वा स्वे हृदये स्थित्वा त्वष्टधा मैथुनानि वै ।
त्यज्यन्तामात्मनश्चैव विचारः क्रियतां सदा ॥ १४ ॥
सनकाद्यैरिदं यैस्तु श्रुत्वा त्यागपुरस्सरम् ।
सुविचारः कृतस्तैर्हि स्वात्मा लब्धोऽजरोऽमरः ॥ १५ ॥
यथा रङ्को लभेत क्वाप्यपारं धनमुत्तमम् ।
अञ्जसा तेन मोदेत तथैते मोदमाप्नुवन् ॥ १६ ॥

रूप ज्ञान जाग्रदवस्था होती है । उस समय सामान्य रूप से आपाद मस्तक पर्यन्त देह में व्याप्त होकर भी भ्रूमध्य में प्राप्त ही जीव खेती श्रवणादि व्यापार करता है ॥ नेत्र में जाग्रदवस्था होती है, स्वप्न कण्ठ में, और सुषुप्ति हृदय में, तुरीय शिर में होता है ॥१२॥ फिर (योऽन्यदुःखानि विज्ञाय साधुवाक्यैः प्रबोधयेत् । स एव विष्णुः सत्त्वस्थो यतः परहिते स्थितः ॥ नारदीयपु० अ० ७।६८) जो अन्य के दुःख को जान कर सुन्दर वचनों से समझाते हैं, वे ही विष्णु हैं, जिससे पर के हित में स्थिर हैं । इस वचन के अनुसार सात्विक पुरुषोत्तम रूप विष्णु उस जीव को उस प्रकार देख कर, वैसे सब जीवों के प्रति आदर पूर्वक उत्तम तत्त्व कहे (बताये) कि अपने हृदय में जाकर, और स्थिर होकर आठ प्रकार के मैथुनों को आप लोग त्याग दें, और आत्मा का विचार ही सदा करें १३–१४॥ विष्णु का इस उपदेश को सुन कर जिन सनकादिकों से त्यागपूर्वक सुविचार किया गया, उनसे ही अजर अमर आत्मा भी प्राप्त किया गया ॥१५॥ जैसे रङ्क (दरिद्र) मनुष्य कहीं अपार उत्तम धन पावे,

भौ मर्याद बहुत सुख लागा । यहि लेखे सब संशय भागा ॥
देखिन उतपति लागु न बारा । एक मरै एक करै विचारा ॥

त्यागार्थं मैथुनादीनामुपदेशेन केऽपि वा ।
वेषिणस्त्यागमात्रेण तत्त्वप्राप्तिं प्रमेनिरे ॥ १७ ॥
यथा रङ्कोऽतितुच्छेन धनेनापि हि मन्यते ।
धनिकत्वं तथैतेऽपि मोक्षप्राप्तिं प्रमेनिरे ॥ १८ ॥
सुविचारेण ते मान्याः प्रतिष्ठां लेभिरे सदा ।
अक्षयं च सुखं तेन ज्ञानाच्च संशया गताः ॥ १९ ॥
वेषिणो वा प्रतिष्ठां च लब्धवन्तः सुखं तथा ।
संशयो गतवत्तेन विचारः क्रियतां कथम् ॥ २० ॥
आत्मनोऽनुभवादेव क्षणादुत्पत्तयोऽखिलाः ।
यैर्हि दृष्टास्त्वतत्त्वेन तेषां स्युः संशयाः कुतः ॥ २१ ॥

और उससे अञ्जसा (शीघ्र) आनन्दयुक्त हो जाय, तैसे त्याग विचार-वाले ये सनकादि भी आनन्द पाये ॥१६॥ अथवा मैथुनादि के त्याग के लिये उपदेश से कोई वेषधारी लोक त्याग मात्र से ही तत्त्व की प्राप्ति समझ लिये ॥१७॥ जैसे दरिद्र अति तुच्छ धन से भी धनीपन ही मानता है, तैसे ये लोक भी त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति ही समझ लिये ॥१८॥ वे मान्य सनकादिक सुविचार से सदा प्रतिष्ठा पाये, और उस सुविचार से ज्ञान होने से ज्ञान से संशय सब नष्ट हो गये, इससे अक्षय अविनाशी सुख पाये ॥१९॥ अथवा वेषधारी लोक उस वेष से ही प्रतिष्ठा और सुख पाये, तिससे संशय भी गया हुआ के तुल्य हो गया, तो विचार कैसे उनसे किया जाय ॥२०॥

जिन लोकों ने आत्मा के अनुभव से ही सब उत्पत्ति (सृष्टि) को भी अतत्त्व (असत्य) रूप से देख (समझ) लिया, फिर उनको संशय किससे होवें ॥२१॥ इस आत्मविवेक के विना एक अज्ञ (अज्ञानी)

मुये गये की कोइ न कहई । झूठी आश लागि जग रहई ॥

विवेकेन विनैतेनाऽज्ञ एको म्रियतेऽपरः ।
विचारं वै धनाद्यर्थं कुरुते नात्मनः खलु ॥ २२ ॥
प्रकृतौ वा विलीयापि स्वोत्पत्तिं लेभिरे पुनः ।
स्वल्पेनैव हि कालेन वेषादेरभिमानिनः ॥ २३ ॥
पुनश्चान्यान्यदेहाय विचारं ते प्रकुर्वते ।
न ज्ञानाय न मोक्षाय वेषाद्यैर्मुक्तताधियः ॥ २४ ॥
मृतानां च धनाद्यर्थं त्यक्त्वैव गच्छतां सदा ।
वार्तां कोऽपि न ब्रूतेऽतो जगदाशां न मुञ्चति ॥ २५ ॥
आशयाऽनृतयैवायं मृत्वा मृत्वापि जायते ।
कुतः शान्ति कुतो मोक्षं लभतां वै कुधीर्जनः ॥ २६ ॥
मृतानां चात्र देहानामनन्तानां न केऽपि वा ।
वार्तां संकथयन्तीह मिथ्याशा बाधते ततः ॥ २७ ॥

मरता है, और दूसरा अज्ञ धनादि के लिये विचार करता है, आत्मा का विचार नहीं करता है ॥२२॥ अथवा वेषादि के अभिमानी लोक प्रकृति में विलीन होकर भी थोडे ही काल में फिर अपनी उत्पत्ति (जन्म) पाये। केवल विराग का फल प्रकृति में विलय मात्र हुआ, मोक्ष नहीं ॥२३॥ वेषादि से ही मुक्तता बुद्धिवाले फिर अन्य अन्य देह के ही लिये विचार करते हैं, ज्ञान वा मोक्ष के लिये नहीं करते ॥२४॥ सदा धनादि अर्थ को त्याग करके ही जानेवाले मृतकों की कथा भी कोई नहीं कहता (समझाता-समझता) है, इससे संसारी लोक आशा को नहीं त्यागते हैं ॥२५॥ अनृत (झूठी) आशासे ही यह कुबुद्धि-जन जीव बार २ मर कर जन्मता है, तो शान्ति वा मोक्ष कहाँ से पावे ॥२६॥ अथवा यहाँ मरे हुए अनन्त देहों की बात भी कोई नहीं कहते, तिससे यहाँ मिथ्या देहादि की आशा दुःख देती है ॥२७॥

साखी

जरत जरत ते बाँचेहु, काहु करहु गोहार ।
विष विषया कहँ खायेहु, रात दिवस मिलि झार ॥१३॥

भोः सौम्यानन्तयोन्यादौ गर्भाद्यग्नौ पुनः पुनः ।
तापत्रयेण संतप्य भाग्येन मानवो भवान् ॥ २८ ॥
भूत्वा तिष्ठति सुस्वस्थ इदानीं सद्गुरोः खलु ।
कस्यापि स्तुतिमाह्वानं कुरुतां वै समादरात् ॥ २९ ॥
भुक्तस्य हृदि सक्तस्य विषयाख्यविषस्य च ।
वासनाद्यात्मना शश्वन् मिलित्वा तेन वै सदा ॥ ३० ॥
निवृत्तावेव सद्यत्नः कर्तव्यो नान्यभक्षणे ।
अन्यथा भवबन्धस्ते प्रत्यहं सुदृढो भवेत् ॥ ३१ ॥

अनन्तयोनौ नरकाग्निसंघके, तापैस्त्रिभिस्त्वं मुहुरत्र संज्वलन् ।
केनापि पूज्येन हि कर्मणा सखे मनुष्ययोनाविहजन्मलब्धवान् ॥३२॥
पुनर्यथा नो नरके निपातनं, न यातना स्याच्च तथा विधीयताम् ।
सद्यश्च मोहो ममता विधूयतां, सवासनोऽसौ विषयो विसृज्यताम्
॥ ३३ ॥ १३ ॥

हे सौम्य (प्रियदर्शन) ! भवान्, (आप) अनन्त योनि आदि में, गर्भादिरूप अग्नि में तीन ताप से संतप्त होकर इस समय भाग्य से मनुष्य होकर सुन्दर स्वस्थ (अरोग) स्थिर हौ । इस समय किसी सद्गुरु का ही सम्यक् आदर से स्तुति आह्वान (पुकार) करो ॥२८-२९॥ और तिस सद्गुरु से मिल कर, प्रथम का भोगा हुआ, और वासना आदि रूप से हृदय में सक्त (लिपटा हुआ) विषय नामक विष की निवृत्ति में ही सदा श्रेष्ठ यत्न करने योग्य है, अन्य विषय के भक्षण में नहीं; अन्यथा तेरा संसार बंधन प्रतिदिन सुदृढ होगा । ३०-३१॥ हे सखे ! (मित्र !) तुम अनन्त योनि और नरकाग्नि के समूह में यहाँ

तीन तापों से बार २ संज्वलित (तप्त) होते हुए, किसी पूज्य (पवित्र) कर्म से मनुष्य योनि में जन्म पाये हो ॥३२॥ फिर जिस प्रकार से नरक में निपातन न हो और यमयातना न हो, तैसा उपाय करो, और मोह ममता त्यागो । वासना सहित वह विषय त्यागो ॥३३॥

अक्षरार्थ– संसारी लोक सत्य में प्रतीजै (विश्वास) नहीं करते हैं, या संसारी में सत्य वचनादि का विश्वास नहीं है, तो महात्मा लोक संग त्याग कैसे करावें । यदि कहो कि विश्वास ही क्यों नहीं करते, तो सूनो; इन्हें द्रव्य की चोट (मार) की नाईं, द्रव्य की इच्छा ही कठिन मार लगी है, जिससे ये बदहोस हैं । अथवा हे सज्जनों ! इस संसार का विश्वास नहीं करो, यहाँ सत्यता सुखादि नहीं मानो; क्योंकि इस के विश्वास से द्रव्यादि की इच्छा कठिन मार की नाईं पीडित करती है । जिससे वह शेष (अविनाशी) आत्मा लुका (छिप) जाता है; इसीसे किसी कामी को उसकी प्रतीति (ज्ञान) नहीं आई (प्राप्त) हुई ॥ इससे वे लोक अपने मूल धन को गमा (खो) कर चल दिये, औ यम की वृद्धि वा बरहा (दृढ बन्धन) इनसे काटी नहीं जाती है ॥ इससे सदा जन्मते मरते हैं, इसलिये संसार में सत्यादि बुद्धि को त्याग कर, सत्योपदेशादि में विश्वासादि करना चाहिये, सो भी अति शीघ्र इसी देहमें करना चाहिये ॥ क्योंकि–

यम बन्धनादि का नाश (छेदन) और मूलधन परमानन्द की प्राप्ति रूप कार्य आज (इस देह में) ही हो सकता है, और काल (जन्मान्तर में) अकाज (असामर्थ्य, विघ्नादि) प्राप्त होते हैं । और यमबन्धन के नहीं कटने से इस जन्म के काज (व्यवहार) भी आगे के लिये विघ्नकारक होते हैं । श्रुति कहती है कि (इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । केन २।५) यहाँ यदि समझा तो सत्य सुख है, नहीं तो महान् विनाश है । और इस जन्म में कार्य की सिद्धि नहीं होने पर इस देह के राजा जीव कर्म वासनादि भारी बोझ लाद कर

किसी दिगन्तर देशान्तर में चला और चलता है ॥ और मूल धन को गमा कर सहज (स्वभाव) से प्राप्त वस्तु का विचार करता है; परन्तु रे भाई ! यहाँ के तुच्छ लाभ से भारी हानि होती है । या (अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते । भ० गी० १२।५) इत्यादि वचन के अनुसार जो अव्यक्तात्मा की प्राप्ति को दुर्लभ समझ कर, सहज (व्यक्त सगुण) देवादि का विचार करते हैं, उनके ज्ञानादि से ही लाभ समझते हैं, तहाँ अज्ञान कामादि की निवृत्ति विना उस लाभ से भी हानि होती है। क्योंकि (अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः । ईशो० ९) केवल सकाम कर्मी अन्ध तम में जाते हैं, उपासना में प्रीतिवाले उससे भारी अन्ध तम में जाते हैं । विभूति पाकर अभिमानादि के वश में होते हैं, इससे व्यक्त द्वारा भी अव्यक्त का ही विचार करना उचित है ॥

स्त्री पुत्र द्रव्यादि का संग से तथा अभिमानादि से जीवों की ओछी (तुच्छ) मति (बुद्धि) रूप चन्द्रमा भी विषय व्यक्त विचारादि में ही अथई गो (लुप्त हो गया ; अथवा गो (इन्द्रियों) में अथई (लीन होता है) फिर बुद्धि रहित स्वामी (जीव) सदा त्रिकुटी संगम में बसने लगा, हृदय में स्थिर होकर कभी सद्विचार नहीं किया ॥ तब इस की ऐसी दशा देख कर विष्णु (सात्त्विक पुरुषोत्तम) ने समझा कर कहा कि तुम सत्संगादि में जाकर, प्रथम आठ प्रकार के मैथुनों को जोतो (उनका त्याग करो); क्योंकि काम की दृष्टि से, देखना १, छूना २, क्रीड़ा करना ३, कुछ कहना ४, एकान्त में बात करना ५, मन में संकल्प करना ६, बुद्धि से निश्चय करना ७, और भोग करना ८; ये आठ प्रकार के मैथुन हैं, इनका त्याग परम पावन ब्रह्मचर्य है ॥

तब (फिर) उपदेश के बाद, जिन सनकादिकों (त्यागाश्रमियों) ने मैथुनों का त्यागपूर्वक आत्मतत्त्व का विचार किया, उन लोकों ने उस मूल धन को इस प्रकार प्राप्त किया कि जैसे कोई दरिद्र कहीं पारा

(पड़ा हुआ, वा अपार–बहुत) धन अनायास ही पा जाय। इससे त्यागपूर्वक विचार द्वारा आत्मप्राप्ति में सुगमता कही गई है॥ और उस त्याग विचार ज्ञान से ही लोक में बहुत मर्यादा (बड़ाई–प्रतिष्ठा) हुई। और बहुत (अविनाशी अनन्त) सुख लगा (प्राप्त हुआ) और यही (इस आत्मतत्त्व के) लेखे (देखने जानने) से सब संशय भग गया (नष्ट हुआ)॥ अथवा विष्णु के उपदेश को सुन कर त्याग के वेष-धारियों ने त्याग मात्र को ही तत्त्व विचारा (सत्य समझा) और जैसे दरिद्र कहीं पड़ा हुआ तुच्छ धन पाकर सुखी हो, तैसे वे लोक त्याग मात्र से सुख मान लिये; क्योंकि त्याग मात्र से ही इनकी मर्यादा हुई, इससे इन्हें बहुत सुख आराम, मिला, और इस प्रतिष्ठा आदि को लेखते (देखते) ही में मानो इन के सब संशयादि भग गये। इस पक्ष में अनधिकारी के त्याग की निष्फलता कही गई है॥

तत्त्व विचारादि करनेवाले विरक्त ज्ञानी संसार की उत्पत्ति आदि को भी देख लिये (जान गये); संसार को मायामात्र समझ गये, और समझने में बार (दिन) समय भी नहीं लगा॥ और जिस मोह से एक मरता है, उसी मोह में फंसने के लिये एक दूसरा विचार करता है। इस माया की महिमा को भी विचारवान् लोकों ने जान लिया॥ और धनादि को छोड़ कर ही मुये गये (मर कर गये) की कथा भी कोई नहीं कहता है, इससे झूठी वस्तु की आशा संसार में लगी रहती है॥ अथवा विवेकी लोक एक मन के मरने पर एक आत्मा का विचार करते हैं, मर कर गये की कोई बात भी नहीं करते, उन्हें मायामात्र समझते हैं, और मृतक की बातसे झूठी आशा लगी रहती है, जिससे जीव संसार में रहता है, मुक्त नहीं होता॥ अथवा केवल वेष विरागादि-वाले फिर उत्पत्ति देखिन, उस में देर नहीं लगी। वे लोक सदा एक शरीर से मरते हैं, और एक दूसरे देह के लिये विचार करते हैं, ज्ञान विना मुक्त नहीं हो सकते॥ न मालूम कितने बार ये लोक मर कर

गये, इसको कोई गिन कर कह भी नहीं सकता, तो भी जीवनादि की झूठी आशा जगत में लगी रहती है, यह अज्ञान की महिमा है ॥

हे मनुष्यों ! गर्भादि नरकादि में तीन ताप से जलते २ इस मानव देह में कुछ बचे (शान्ति पाये) हों। आगे के ताप की निवृत्ति के लिये किसी सद्गुरु सन्त का गोहार (पुकार-स्तुति) करो, और उन से मिल कर, जो प्रथम विषयरूप विष खा चुके हो, उसी की वासना आदि रूप विषों को रात दिन (सदा) झारो, नष्ट करो, और फिर नहीं खावो; क्योंकि ऐसा अवसर शीघ्र नहीं मिलेगा। (न विषं कालकूटाख्यं संसारो विषमुच्यते। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन संहरेत सुदारुणम् ॥ लिङ्गपु० अ० २६।९। विषया विषवैषम्या वामा कामविमोहदाः। रसाः सरसवैरस्या लुठन्नेषु न को हतः ॥ योगवा० नि० उ० स० ९३।३९) और कालकूट नामक विष विष नहीं है, किन्तु जन्मादि संसारही विष है, तिस कारण सब प्रयत्न से इस दारुणतर (अति भयंकर) संसार का नाश करना चाहिये ॥ विषय विष तुल्य विषमता युक्त हैं, स्त्रियाँ काम द्वारा मोहित करनेवाली हैं, और रस (राग) सरस को भी विरस करनेवाले हैं, इससे इन में पड़ा हुआ कौन नहीं नष्ट हुआ ॥१३॥



आँधरी, बिलाई आदि रूप से वर्णित माया आदि में प्रेमादि के त्याग के लिये दोषों का वर्णनपूर्वक आत्मप्रीति आदि का उपदेश देते हैं कि–

रमैनी १४

बड़ सो पापी आहिं गुमानी । पाखण्ड रूप छल्यो नल जानी ॥
बामन रूप छल्यो बलि राजा । ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा ॥
ब्राह्मण ही सब कीन्हो चोरी । ब्राह्मण ही कहँ लागल खोरी ॥

अविद्यावासनाद्यात्मा माया सा मलिनाशया ।
महापापात्मिका शश्वदहङ्कारविधायिनी ॥ ३४ ॥
अहङ्कारस्वरूपा च पाषण्डछलरूपिणी ।
तत्परा वञ्चनेऽज्ञानां विज्ञाच्च भयमेति सा ॥ ३५ ॥
विकृतां मानवाकारैर्मानवं ये तु जानते ।
तान् सा वञ्चयते माया बहुरूपं विधाय वै ॥ ३६ ॥
खर्वरूपेण मायैव बलिराजमवञ्चयत् ।
मायिनो ब्राह्मणाश्चैवं कस्य कार्याण्यसाधयन् ॥ ३७ ॥
वाच्यर्था नियतास्तासां स्तेननेन हि ते द्विजाः ।
कृतवन्तोऽखिलं चौर्यं त्वभवन् दोषभागिनः ॥ ३८ ॥

अविद्यावासनादिस्वरूप, मलिन भाव आश्रयवाली, महापाप स्वरूप यह माया सदा अहंकार को सिद्ध करनेवाली होती है ॥३४॥ अहंकार स्वरूपवाली और पाखण्ड छल रूपवाली वह माया अज्ञों की वञ्चना में तत्पर रहती है, और विज्ञ से डरती है ॥३५॥ और मनुष्याकार से विकृत (परिणत हुई) उस माया को जो लोक मनुष्य समझते हैं, उन्हें वह माया बहुत रूप करके ठगती ही है ॥३६॥ माया ही खर्व (वामन-ह्रस्व) रूप से बलिराजा को ठग लिया । इसी प्रकार मायी मायावी (ब्राह्मण-उपदेशक गुरु) भी किसके कार्यों को सिद्ध किये ॥३७॥ और (वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः । तां तु यः स्तेनयेद्वाचं सः सर्वस्ते-

ब्राह्मण कीन्हो ग्रन्थ पुराणा । कैसेहुं के मोहि मानुष जाना ॥
इक से ब्रह्म पन्थ चलाया । इक से हंस गोपाल हि गाया ॥
इक से शंभू पन्थ चलाया । इक से भूत प्रेत मन लाया ॥

केचिदल्पश्रुता ग्रन्थान् पुराणाद्यान्निजेच्छया ।
चक्रुर्मानवतायां वै कथञ्चित्स्वेषु सिद्धये ॥ ३९ ॥
मायत्वस्य हि गुप्त्यर्थं सन्तो मायामयाश्च ते ।
यद्वा ग्रन्थान् विनिर्माय त्वन्येषु सज्जनेष्वपि ॥ ४० ॥
कथञ्चिन्मानवत्वं हि मेनिरे नाधिकारिताम् ।
स्वर्गापवर्गयोस्तद्वच्छास्त्राणां वा कथञ्चन ॥ ४१ ॥
ते चैकेन प्रबन्धेन ब्रह्ममार्गं विनिर्ममुः ।
हंसं गोपालमेकेन गीतवन्तश्च सर्वथा ॥ ४२ ॥
शम्भुमार्गं तथैकेन चक्रुरेकेन ते पुनः ।
पुंसां मनांसि भूतादौ प्रेतादौ समयोजयन् ॥ ४३ ॥

यक्चरः ॥ मनुः ४।२५६।) इस स्मृति के अनुसार वचन में सब अर्थ नियत (स्थिर) हैं। वाक् मूलक, वाक्से निकले हैं, इससे वे मायावी द्विज (उपदेशक) लोक उन वचनों की चोरी से ही सब चोरी किये, और दोषभागी हुए ॥३८॥ कोई अल्प अध्ययन वाले मायावी, अपने में किसी प्रकार मनुष्यता की सिद्धि के लिये पुराणादि ग्रन्थों को अपनी इच्छा से किये ॥३९॥ अथवा वे लोक मायामय होते भी मायापन की गुप्ति (अप्रगटता-रक्षा) के लिये ग्रन्थों की रचना करके, अन्य सज्जनों में भी वे लोक किसी प्रकार मनुष्यता नहीं माने, न स्वर्ग मोक्ष के अधिकारिता माने, वा किसी प्रकार भी सत्शास्त्र के अधिकारिता भी तिसी प्रकार से नहीं माने ॥४०–४१॥ वे लोक एक प्रबंध (ग्रन्थ) से ब्रह्ममार्ग (ब्रह्मा की भक्ति-पन्थ) की रचना किये। एक से हंसावतार गोपाल को सर्व प्रकार से

इक से पूजा जैनि विचारा । इक से निहुरि निमाज गुजारा ॥
कोउ काहू का हटा न माना । झूठा खसम कबीरन जाना ॥
तन मन मारि रहू मोर भक्ता । सत्य कबीर सत्य है वक्ता ॥

एवं पूजाविचारं च जैनतन्त्रावचारणाम् ।
नम्रीभूय निमाजं यत् तत्सर्वं समसाधयन् ॥ ४४ ॥
एकैकेन प्रबन्धेन साधयन्तश्च ते खलु ।
कस्यापि वारणं नैवामन्यन्तेऽतः कुमार्गतः ॥ ४५ ॥
असत्यं स्वामिनं चैतेऽमन्यन्त खलु जीवकाः ।
गुरुभक्तजनेभ्यस्तु सत्यं सद्गुरुरुक्तवान् ॥ ४६ ॥
शरीरं स्वं मनश्चैवासत्यात्संरुध्य यत्नतः ।
सत्ये [1]सर्वात्मरूपे हि ध्रियतां तन्मनः सदा ॥ ४७ ॥
यः स्वयं सर्वदेवात्मा पत्राद्यात्मा[2] च विद्यते ।
कुलजात्यादिरूपश्च सर्वभूतगुहाशयः ॥ ४८ ॥

गाये ॥४२॥ एक से शिवमार्ग किये, तथा एक से पुरुषों के मन को वे लोक भूत प्रेतादि में लगाय दिये ॥४३॥

और इसी प्रकार देवपूजा आदि का विचार किये, जैन शास्त्र का विचार किये । नम कर जो निमाज होता है, सो सब सिद्ध किये ॥४४॥ एक एक ग्रन्थ से अनेकों मार्ग को ही सिद्ध करते हुए वे लोक इस कुमार्ग से किसी का वारण (निरोध) नहीं माना ॥४५॥ और ये अज्ञ जीव असत्य स्वामी को ही माना । किन्तु गुरुभक्त जनों के लिये सद्गुरु ने सत्य कहा है कि अपने शरीर और मन को असत्य से यत्न द्वारा रोक कर, उस मन को सर्वात्म स्वरूप सत्य में ही सदा धरो ॥४६-४७॥ जो चेतन

१ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। छा० ३।१४।१॥ 'नेह नानास्ति किञ्चन। कठ० २ ४।११॥

२ 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्'। मुण्ड० २।१।१०॥ 'भावाद्वैतमुपाश्रित्य सत्ताद्वैतमयात्मकम् । कर्माद्वैतमनादृत्य द्वैताद्वैतमयो भव'॥ योगवा० ५।२७॥ 'भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाऽद्वैतं न कर्हिचित् । अद्वैतं सर्वभूतेषु नाऽद्वैतं गुरुणा सह'॥ टीकास्था स्मृतिः ॥

सत्य क्या है ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि–

आपु हि देव आपु हि पाती । आपु हि कुल आपु हि है जाती ॥
सर्व भूत संसार निवासी । आपु हि खसम आपु सुखवासी ॥
कहइत मोहि भेल युग चारी । काके आगे कहौं पुकारी ॥

सर्वभूतनिवासो यः सर्वस्य प्रभुरव्ययः ।
न्यायकारी स राजास्ति राज्यवासी सुखी च सः ॥ ४९ ॥
स एवास्ते स्वयं ज्योतिः सत्यानन्दादिलक्षणः ।
ब्रुवतां तं गुरूणां च ह्यवर्तत चतुर्युगम् ॥ ५० ॥
कस्याग्रे कथ्यतां चायं दुर्लभाऽस्याधिकारिता ।
अन्येभ्यः कथितं सर्वं निष्फलं भवति ध्रुवम् ॥ ५१ ॥
सत्यं केऽपि न मन्यन्ते यान्ति चासत्यभाषिभिः ।
मिलित्वा तैश्च तिष्ठन्ति सर्वेऽसत्यपरायणाः ॥ ५२ ॥

स्वयं सब देव स्वरूप वा सब देव की आत्मा है तथा पत्रादि की भी आत्मा स्वरूप है, और कुल जाति आदि रूप है, तथा सब प्राणी के हृदय रूप गुहा में स्थिर है ॥४८॥ जो सब भूत में निवास करता है, सबका अविकारी प्रभु है, वही न्यायकारी राजा है, और राज्य में ,बसने वाला सुखी जन भी वही है ॥४९॥ वही स्वयंज्योतिः (स्वयंप्रकाश) ब्रह्म है, और सत्य आनन्दादि स्वरूप वाला आत्मा भी वही है। उसीको कहते हुए गुरुओं को चार युग हो गया ॥५०॥ यह आत्मा किसके आगे विशेषरूप से इस समय कहा जाय, इसके ज्ञान की अधिकारिता, इस समय दुर्लभ है, और अन्य (अधिकार रहित) के लिये कहा गया सब वचन अवश्य निष्फल होता है ॥५१॥ कोई सत्य को नहीं मानता है, और असत्यभाषी के साथ जाता है, और सब असत्यपरायण होकर असत्य भाषियों से मिलकर उनके साथ रहता है ॥५२॥

साखी ।

साँच हिं कोइ न मानई, झूठा के संग जाय.।
झूठहिं झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय ॥१४॥

नाप्नुवन्ति ततः सौख्यं मोक्षं चाज्ञाः कथञ्चन ।
भुञ्जते विषयांस्तुच्छानहो मायाकदर्थना ॥ ५३ ॥
मायामये स्वप्नमये हि जन्तवः सत्यादिबुद्ध्या खलु सक्तचेतसः ।
सत्यं न शृण्वन्ति न साधुसङ्गमे तिष्ठन्ति मूढा विषयेषु संगताः ॥५४॥
कुवञ्चकैर्वञ्चितबुद्धयस्ततः सुखैर्विहीनाः परितो भ्रमन्ति ते ।
स्वकर्मणा चार्जितमेव भुञ्जते तृणं फलं नैव सुखं सदव्ययम् ॥५५॥१४॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमैनीरसोद्रेके द्रव्यादिमायायां विश्वासाऽनर्हता वर्णनं नाम षष्ठः प्रवाहः ॥ ६ ॥

तिससे अज्ञ लोक सुख नहीं पाते हैं, और न मोक्ष पाते हैं; किन्तु तुच्छ विषयों को भोगते हैं, मायाजन्य कदर्थना (पीडा) आश्चर्य रूप है ॥५३॥ माया (कपट) मय, स्वप्न (मिथ्या) मय में ही सत्यादि बुद्धि से आसक्त चित्तवाले जन्तु सत्य वचन को नहीं सुनते हैं। और विषयों में प्राप्त आसक्त मूढ लोक साधु संगम में नहीं स्थिर होते हैं ॥५४॥ तिससे वे लोक कुवञ्चक (अत्यन्त धूर्त) से वञ्चित (नष्ट) बुद्धिवाले, और सुख रहित होकर सर्वत्र भ्रमते हैं, और अपने कर्म से उपार्जित तृण तुल्य तुच्छ फल को ही भोगते हैं, सत्य अव्यय सुख को नहीं भोगते ॥५५॥

अक्षरार्थ– सो (विषयवासना अविद्यादि रूपवाली तामसी माया) भारी पापात्मिका तथा अहङ्काररूपा है । पाखण्ड (छल मिथ्या वेषादि) स्वरूप-वाली है । मनुष्यरूपता को प्राप्त उस माया को विवेक विना जिन्होंने मनुष्य समझा, उन्हें उसने ठग लिया । अथवा पाखण्ड रूप होकर माया

ने मनुष्यों को ठगा, इस बात को महात्माओं ने ही समझा ।। जैसे कि वामन रूप होकर माया ने बलिराजा को ठगा। इसी प्रकार के मायावी वा मायारूप अन्य ब्राह्मण (उपदेशक) भी किस का काम किये। उलटा, वे ही ब्राह्मण सब प्रकार की चोरी किये। उसके खोरी (दोष) भी उन ही ब्राह्मणों को लगा ।।

उन मायावी ब्राह्मणों ने (उपदेशकों ने) बहुत ग्रन्थ पुराण किया, और मायारूप होते भी ऐसा लेख लिखा कि कैसहुं (किसी प्रकार) हमें भी लोक मनुष्य जाने। या उन लोकों ने किसी प्रकार मुझे मनुष्य समझा, मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं समझा, न हम लोकों के लिये कुछ अधिकार ही रखा। ब्राह्मण से अन्य में मनुष्यता ही किसी प्रकार माना, ज्ञान ध्यानादि का अधिकार नहीं बताया ।। और उन लोकों ने किसी एक ग्रन्थ पुराण से ब्रह्मा की उपासना आदि मार्ग को सिद्ध किया। किसी से हंसावतार को गाया, वा हंस नामवाले सूर्य को गाया। किसी ने गोपाल नामवाले को गाया ।। एक से शैव मार्ग चलाया, किसी एक से मनुष्यों के मन को भूत प्रेतादि में लाया (लगाया), भूतादि को देव बता कर, उन की पूजा बलिदानादि फरमाया ।।

एक ग्रन्थ से गणेशादि की पूजा का तथा जैनमत का विचार किया। या जैनियों ने एक से पूजा का विचार किया। कोई एक ग्रन्थ से निहुर कर निवाज को (इन्द्रिय निरोध का साधन विशेष को) गुजारा (करना सिद्ध किया) ।। और कोई भी किसी का हटा (निवारण) को नहीं माना। इससे सब कबीरन (जीवों, कवियों) ने झूठा खसम (स्वामी) को ही सत्य जाना ।। साहब का कहना है कि हे मोरभक्ता (गुरुभक्त लोकों)! उन झूठ खसम और मार्गों से अपने तन मन को मारे (रोके) रहो, सत्य कबीर (सद्गुरु) की बातों को ही सुनो; क्योंकि वे ही सत्य वक्ता हैं ।।

सत्य चेतनात्मा, आप ही सब देवरूप है, तथा पूजा करने वाला आप ही देव है। आप ही देवमूर्त्ति पर चढनेवाली पाती है, सब कुल जाति

रूप भी वही है; अर्थात् सबकी आत्मा एक है, वही सत्य है; भेद मिथ्या मायामात्र है ॥ वह आत्मा सब भूत (प्राणी) और संसार में एकरस बसने वाला है। और वह आप ही खसम (रक्षक राजा ईश्वर) है, तथा आप ही राज्य में सुख पूर्वक बसने वाली प्रजा है ॥ साहब का कहना है कि मोहि (सद्गुरु महात्माओं के) कहते चार युग हो गये, परन्तु झूठ के प्रपञ्च में पड़ा हुआ कोई सत्य तत्त्व को समझता नहीं है, तो किसके आगे पुकार कर कहा जाय ॥

झूठ का विस्तार मतवाद की वृद्धि से सत्य बात सत्य वस्तु सत्पुरुष को कोई नहीं मानता है, किन्तु सब कोई झूठा के साथ जाता है, एक झूठा दूसरा झूठा से मिलकर रहता है, इससे विवेक बिना यह अहमक (नादान-अविवेकी) मनुष्य बैल की नाईं खेह (तृण तुल्य तुच्छ विषय) खाता (भोगता) है। मानो धूल फांकता है ॥

विशेष विवरण– यहाँ किसीका दोषमात्र के कहने में तात्पर्य नहीं है, किन्तु मायामय से हटाकर आत्मनिष्ठ करने में तात्पर्य है। और वस्तुतः ईश्वर एक है, इससे पुराणादि में जो भेद का वर्णन है, सो भेद मायामय में है॥ महाभारत में भगवान् का वचन है कि, " माया ह्येषा मया सृष्टा, यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं, नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥ " शा० अ० ३३९।४५। हे नारद! जो मुझे देख रहे हो, यह मुझ से माया रची गई है। सब भूतों के गुणों से युक्त इस प्रकार मुझे जानने योग्य नहीं है ॥ उस मायामय में ही सत्यादि बुद्धिवाले उपदेशकादि भी मायामय रहते हैं। महाभारत में व्यास भगवान् का वचन है कि, " क्षितिं वा देवलोकं वा, गम्यतां यदि रोचते। अप्रमादश्च वः कार्यो, ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ॥ " शा० अ० ३३९।५५ हिमालय से भूमि पर जानेके लिये, जैमिनि आदि चार शिष्यों के आज्ञा मांगने पर, व्यासजी ने कहा कि, पृथिवी वा देवलोक में जहाँ जाने की इच्छा हो वहाँ जावो, परन्तु सावधान रहना, ब्रह्म (ब्राह्मण) बहुत छली हैं ॥१४॥

भवपन्थखेद प्रकरण ॥ ७ ॥

सांच को नहीं मानने से और झूठा के सङ्गादि से जो दशा जीवों की होती है, उसका वर्णन करते हैं कि—

रमैनी १८

उनइ बदरिया परिगौ संझा । अगुआ भूले वन खण्ड मंझा ॥

आनतो मोहमेघोऽयं तृष्णाविद्युत्समन्वितः ।
आलम्बते हृदाकाशे मायया जनितः सदा ॥ १ ॥
तावता वृद्धतात्मा वा संध्या मरणरूपिणी ।
उपस्थितातिवेगेन सर्वस्वहरणाय वै ॥ २ ॥
तस्मिन् भयावहे काले प्रधानं कुगुरुस्तथा ।
भेदभावरतश्चाज्ञो विश्वखण्डे विमोहतः ॥ ३ ॥
भ्रान्तो भ्रमति [1]सद्बुद्ध्या सुखबुद्ध्या वनैः समे ।
तच्छिष्याणां कथा कास्ति सदैतं ह्यनुगच्छताम् ॥ ४ ॥

मायाजन्य तृष्णारूप विद्युत् (तडित्) युक्त यह मोहरूप मेघ आनत (नव कर, नीचे) होकर हृदयरूप आकाश में ठहरता है ॥१॥ तावत् काल में ही वृद्धता रूप वा मरण रूप संध्या भी सर्वस्व (सब धन) हरण करने के लिये ही उपस्थित हुई ॥२॥ तिसी भयावह काल में भेदभाव में रत अज्ञ (अज्ञानी) प्रधान (मुख्य) मुखिया, तथा कुगुरु विमोह से बन तुल्य विश्व (संसार) के खण्ड (भाग) में सद्बुद्धि और सुखबुद्धि से भ्रान्त (भ्रमयुक्त) होकर भ्रमता है, तो सदा ही उसके पीछे चलने वाले, उसके शिष्यों की कथा क्या है ॥३–४॥

१. 'जनस्तपस्तथा सत्यमिति चाकृतकं त्रयम्' । ब्रह्मपु० २१।१९। 'वैकुण्ठः शिवलोकश्च गोलोकश्च तयोः परः। नित्यो विश्वबहिर्भूतश्चात्माकाशदिशो यथा' । ब्रह्मवैवर्तपु० ७.२०॥ इत्यादि स्तावक वाक्यों से सद्बुद्धि करके ॥

पिय अन्ते धनि अन्ते रहई। चौपरि कामरि माथे गहई॥

साखी।

फुलवा भार न लै सकै, कहै सखिन से रोय।
ज्यौं ज्यौं भींजै कामरी, त्यौं त्यौं भारी होय॥१५॥

एतेषां सम्मतः स्वामी स्वर्गादावधितिष्ठते।
एतेऽत्र मर्त्यलोकेषु पत्युर्विरहकातराः॥ ५॥
आत्मा पतिर्महिम्नि स्वे तिष्ठत्येते न तत्र च।
अहो दौर्भाग्यमेतेषामन्तिकस्थो न लभ्यते॥ ६॥
अलाभादन्तिकस्थस्य पत्युः सत्यस्य मानवाः।
अवस्थाभिर्युते देहे' वेदसंख्याभिरात्मताम्॥ ७॥
प्रकल्प्य करणे वान्तर्दुःखवृष्टिभिराऽऽर्द्रिताः।
लभन्ते न क्वचिच्छर्म भ्रमन्तोऽत्र निरन्तरम्॥ ८॥
यदा च पुष्पवत् फल्गु भरो न शक्यते हि तैः।
ग्रहीतुं स्वेष्टमित्रेभ्यो रुदित्वा कथ्यते तदा॥ ९॥

इनका सम्मत (स्वीकृत) ईश्वर स्वर्गादि में रहता है। और पति का विरह (वियोग) से अधीर ये लोक, मनुष्य लोक में यहाँ रहते हैं ॥५॥ आत्मस्वरूप पति अपनी महिमा (स्वरूप) में रहता है। और ये लोक उसमें नहीं रहते हैं, इनका दौर्भाग्य (दुर्दैव) आश्चर्य रूप है। पास में स्थिर वस्तु भी इन्हें नहीं मिलती है ॥६॥ सत्य पास में स्थिर पति के नहीं मिलने से, मनुष्य सब वेद (चार) संख्यावाली अवस्थाओं से युक्त देह वा अन्तःकरण में आत्मता की कल्पना करके दुःखरूप वा दुःख की वृष्टि से भींगता हुआ, यहाँ निरन्तर भ्रमता हुआ कहीं शर्म (सुख) नहीं पाता है ॥७-८॥ और जिस समय पुष्पतुल्य फल्गु (असार) तुच्छ भार भी उन लोकों से ग्रहण नहीं किया जा सकता, तदा (तब) अपने इष्टमित्रों से रो कर कहते हैं कि भो (हे मित्र!) यह देहरूप कम्बल दुःख समूह

शरीरकम्बलोऽयं भो दुःखौघैः पीड्यते मुहुः।
यथा यथा तथाऽयं वै भराक्रान्तो भवत्यलम् ॥ १० ॥
कर्ममार्गेषु गत्यर्थं सामर्थ्यं नैव विद्यते।
कथंकारं हि कर्तव्यं येन संप्राप्यते पतिः ॥ ११ ॥
वृद्धाः स्मो मृतकल्पाः स्मो लब्धो नैव पतिः प्रियः।
मृत्वा लप्स्यामहे नो वा चेत्यादि कल्पयन्ति ते ॥ १२ ॥
जीवन्मुक्तेरलाभाच्च शान्तिर्नैवेह लभ्यते।
न सुखं न समं ब्रह्म कालपाशवशंगतैः ॥ १३ ॥
यैर्नेह लब्धोऽखिललोकवल्लभः सदाऽन्तिकस्थः परमः प्रियः प्रभुः।
ते व्याधिभिश्चैव जरादिभिर्हता रोरुद्यमानाः सततं व्रजन्ति हि ॥१४-१५

(वा वेग) से ज्यों २ बार २ पीड़ित होता है, त्यों २ यह अत्यन्त ही भार से दबा जाता है ॥९-१०॥ कर्ममार्गों में चलने के लिये शक्ति भी नहीं है, किस प्रकार क्या करना चाहिये कि जिससे पति प्राप्त हो ॥११॥ वृद्ध हैं, मृतक तुल्य है, प्रिय (वल्लभ-अभीष्ट) पति (भर्ता) मिला नहीं है, मरने पर उसे पा सकेंगे कि नहीं, इत्यादि कल्पना वे लोक करते हैं ॥१२॥ जीवन्मुक्ति के अभाव से कालपाश के वश में प्राप्त पुरुषों को यहाँ शांति सुख सम ब्रह्म नहीं मिलता है ॥१३॥ जिन लोकों को सब लोक का प्यारा सदा पास में स्थिर परम भर्ता रूप प्रभु (स्वामी-ईश्वर) यहाँ नहीं मिला, वे लोक व्याधियों से और जरा आदि से हत (पीडित) होकर, बार २ रोते हुए ही सदा जाते हैं ॥१४-१५॥

अक्षरार्थ- मेघ को बर्षना होता है, तब भूमि के पास में उनय (नम) आता है, तैसे कुसंग कुविचारादि से मोह कामादि रूप मेघ (बदरी) सब के हृदयाकाश में उमड़ आया। और मेघ के रहते संध्या होने से अति अन्धकार हो जाता है, जिससे पथिक रास्ता भूल जाता है। तैसे ही मोहादि की वृद्धिकाल में ही वृद्धावस्था मरण की समीपता रूप संध्या

पड़ गई (आ पहुंची) तिससे अगुआ (अग्रगामी-गुरु-वा प्रधान-या मन) संसार वन के खण्ड (भाग) रूप लोकादि में सत्यादि बुद्धि से भूले (आसक्त हुए) अर्थात् वृद्धादि अवस्था तक विवेकादि नहीं हुए ॥

वनखण्ड में भूले रहने से, इनके पिया (पति) अन्ते (अन्यत्र) दूसरे लोक में रहता है, और धनी (धन्या) स्त्री तुल्य ये लोक अन्यत्र रहते हैं, और चौपरि (चार तह) वाला कम्बल तुल्य चार अवस्था वाले देह को अपने शिर पर धरे रहते हैं, अर्थात् इसी में आत्मता का अभिमान करते हैं। बाल, कुमार, युवा, वृद्ध अवस्था भी अपनी समझते हैं, इससे भींजा हुआ चौतह कम्बल को ढोनेवाली पति रहित भटकी हुई अबला की नाईं दुःखी होते हैं ॥

अत्यन्त वृद्ध वा रोगादि से पीडित होने के कारण जब फूलरूप भार को नहीं ले सकते, और कर्मादि वश देह का भार लदा रहता है, तब अपने मित्रों से रो,२ कर कहते हैं कि ज्यों २ देहरूप कम्बल भींजता (थकता) है, त्यों २ भारी होता है, और कर्तव्य अभी बहुत है, इत्यादि ॥ लिखा है कि— " विषादयुक्तो विषमामवस्थामुपागतः कायवयोऽवसाने। भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्ताञ् जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः ॥ " यो० वा० १।२७ " ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणि। न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान् मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥ " पञ्चदशी ७१।३३ शरीर की अवस्था के अन्त काल में विषादयुक्त विषमावस्था को प्राप्त वृद्ध प्राणी योग से आत्मदर्शनादि रूप धर्म से रहित अपनी भावनाओं का स्मरण करके यहाँ मन में दुःखी होता है। यहाँ ज्ञानी अज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के तुल्य होते भी ज्ञानी को धैर्य से क्लेश नहीं होता है, अधैर्य से मूढ दुःखी होता है ॥१५॥

रमैनी १६

चलत चलत अति चरण पिराना। हारि परे तहँ अति रिसियाना ॥
गण गन्धर्व मुनि अन्त न पाया। हरि अलोप जग धन्धे लाया ॥

कुवासनाभराक्रान्तो देहाभिमितिमान्नरः।
काम्यकर्मादिमार्गेषु व्रजन्नास्ते सुवर्त्मसु ॥ १५ ॥
तत्रैवं गच्छतस्तस्य मनोबुद्ध्यादिलक्षणः।
चरणो व्यथितोऽत्यन्तं सोऽपि खिन्नोऽतितप्यते[1] ॥ १६ ॥
खेदात्तापाद्विवेकस्य त्वभावेन स मन्दधीः।
क्रुध्यत्यजस्रमन्येभ्यः स्वापराधं न पश्यति ॥ १७ ॥
प्रकल्प्य चेश्वरं भिन्नं तत्र चायं विमूढधीः।
प्रकल्प्य बहुदोषांश्च तस्मै क्रुध्यति वै भृशम् ॥ १८ ॥
मुनयो गणगन्धर्वा यस्यान्तं न विदन्ति हि।
व्यक्तोऽसौ हरिरस्मांश्च संसारेषु क्षिपत्यलम् ॥ १९ ॥

कुवासना के भार से दबा हुआ देहाभिमानवाला मनुष्य सकाम कर्मादिरूप मार्गों में चलता हुआ भी, निष्कामता विचारादि सुमार्ग में नहीं रहता है ॥१५॥ इसी प्रकार उसी मार्ग में चलता हुआ उस का मन बुद्धि आदि रूप चरण (कर्मसाधन) अत्यन्त व्यथित हुआ, और वह भी खिन्न (कृश-दैन्ययुक्त) होकर अत्यन्त तपता (दुःखी होता) है ॥१६॥ खेद और ताप से तथा विवेक के अभाव से वह मन्द बुद्धिवाला सदा अन्य के प्रति क्रुद्ध होता है, अपना अपराध नही देखता है ॥१७॥ यह विमूढ बुद्धिवाला, भिन्न (तटस्थ) ईश्वर की कल्पना करके, और उस ईश्वर में भी बहुत दोषों की कल्पना करके, उस ईश्वर के प्रति अत्यन्त क्रोध करता है ॥१८॥ कहता है कि मुनि लोक और गणदेव गन्धर्वदेव भी

---

१ 'मखानां हि फलं स्वर्गः स्वर्गात्प्रच्यवनं पुनः। एवं संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमणं च निरन्तरम्' ॥ देवीभा० स्क० १ । १ । २३ ॥

गहीन बन्धन वाणि न सूझा । थाकि परे तहँ कछु नहिं बूझा ॥
भूलि परे जिव अधिक डराई । रजनी अन्ध कूप ह्वे आई ॥

अव्यक्तो वा स भूत्वाऽलं स्वक्रीडार्थं जगज्जनान् ।
व्यवहारे क्षिपन्नास्ते वदत्येवं क्रुधा जनः ॥ २० ॥

हा स्वयं बन्धनं कृत्वा गृहीत्वा बन्धनप्रदम् ।
वाचारम्भणमात्रं न संपश्यति जगत् खलु ॥ २१ ॥

सद्गुरोः सारशब्दं च विवेकेन न पश्यति ।
नात्मानं न परं चापि तत्त्वेनातो भ्रमत्यसौ ॥ २२ ॥

भ्रमणाद् व्यथितोऽमार्गे वृद्धत्वं समुपागतः ।
प्रष्टुं चापि न जानाति नैव किञ्चित्तु पश्यति ॥ २३ ॥

जिस हरि (ईश्वर) के अन्त (स्वरूप-अन्त्य) को नहीं जानते हैं, सो व्यक्त (प्रगट-सर्वज्ञ) हरि हम लोकों को संसार में अत्यन्त डारते (गिराते) हैं ॥१९॥ अथवा वह हरि अव्यक्त (अप्रगट विष्णु) रूप होकर, अपनी क्रीडा के लिये जगत के जीवों को व्यवहार में अतिशय डारते हुए स्थिर हैं । क्रोध से मनुष्य इस प्रकार कहता है ॥२०॥ (स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते । स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥ " यो० वा० नि० उ० स० १४३।४० इत्यादि वचनों के अनुसार खेद है कि स्वयं कर्मादि करनेवाला जीव, स्वयं बन्धन देनेवाली वस्तु का ग्रहण और बन्धन करके ही जगत को वाचारम्भण (कथन) मात्र (मिथ्या) नही देखता है ॥२१॥ और सद्गुरु के सारशब्द को विवेक से नहीं देखता (जानता) है, न आत्मा को न परमात्मा को ही तत्त्व (यथार्थ) रूप से जानता है, इसीसे वह भ्रमता है ॥२२॥ अमार्ग (कुमार्ग) में भ्रमण से थका हुआ, वृद्धता को प्राप्त मनुष्य कुछ पूँछना भी नहीं जानता है, और न कुछ देखता ही है ॥२३॥ इस प्रकार

माया मोह वहाँ भरपूरी। दादुर दामिनि पौन अपूरी॥
बरषै तपै अखण्डित धारा। रैनि भयावनि कछु न अहारा॥

एवं स्थिते महामोहे संसारेऽत्र स्थितो जनः।
अन्धकूपे महारात्रौ मृत्युकाले ह्युपस्थिते।
स बिभेत्यधिकं तत्र त्रातारं नैव पश्यति॥ २४॥
मायामयी विमोहाख्यजलैः पूर्णा जगत्सरित्
महाभयावहा तीक्ष्णा तत्र भाति सुदुस्तरा॥ २५॥
दुःश्राव्यो दर्दुरादीनां शब्दोपि श्रूयते तदा।
विद्युद्वच्च चलस्तत्र प्रकाशो दृश्यते तथा॥ २६॥
स्थिरं न लभते ज्ञानं न प्रकाशं कथञ्चन।
अतिवेगेन वातश्च वाति प्राणान् विघूर्णयन्॥ २७॥
तापैश्च तप्यतेऽजस्रं कोप्याहारो न लभ्यते॥
महाभयावहा रात्रिर्मृतिरेषाऽतिदुःखदा॥ २८॥

महामोह के स्थिर रहते, और महारात्रिरूप अन्धकूपरूप मृत्युकाल के उपस्थित होने पर इस संसार वन में स्थिर वह मनुष्य अधिक डरता है, और वहाँ रक्षक को नही देखता है ॥२४॥

वहाँ मायामयी मोह नामक जल से पूर्ण दुस्तर संसारनदी महाभयदायक और तीक्ष्ण (तीव्र) प्रतीत होती है ॥२५॥ तिस समय दर्दुर (मण्डूक) आदि के अप्रिय शब्द भी सुन पडते हैं। और तैसे ही विद्युत् के समान चल (चञ्चल) प्रकाश दीखता है ॥२६॥ स्थिर ज्ञान वा प्रकाश को किसी प्रकार नहीं पाता है। प्राणों को कँपाता हुआ वायु अतिवेग से बहता है ॥२७॥ प्राण अपूर्णता को प्राप्त होता है, वर्षा की हवा से कँपता है, तापों से निरन्तर तपता है, कोई आहार नहीं मिलता; इससे महाभय देनेवाली रात्रिरूप यह मृति (मरण) अति दुःखद है। लिखा है कि, "विष्ठायां यादृशं दुःखमसह्यं जायते कृमेः। तादृशं ब्रह्मलोकेऽपि मरणादौ प्रजायते"॥

साखी ।

सबै लोग जहँड़ाइया, अन्धा सबै भुलान।
कहा कोइ नहिं मानये, एक हिं माहँ समान ॥१६॥

तत्र मोहेन वर्षश्च भाति तापश्च संततम् ।
बुभुक्षा चातितीव्रा च नाहारो न सुखं तथा ॥ २९ ॥
कामान्धा हि जनाः सर्वे संमोहमिहिकाहताः
मायाद्यैर्वञ्चिता भ्रष्टाः सत्यं शृण्वन्ति नामृतम् ॥ ३० ॥
अतश्च खल्विमे सर्वे ह्येकस्मिन यममन्दिरे ।
मायामये भ्रमे चैव संविशन्ति परे नहि ॥ ३१ ॥
एकस्मिन् वा परे तत्त्वे विद्यन्ते सर्वशः समे ।
अर्था इति न कस्यापि जनाः शृण्वन्ति भाषितम् ॥ ३२ ॥
आजन्म यैर्नैव सतां सुवाक्यं. श्रुतं न दत्तं सुगुणेषु चेतः ।
ते ह्यन्तकाले यममन्दिरेषु, स्वयं व्रजन्त्यन्धधियो मनुष्याः
॥ ३३ ॥ १६ ॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमैनीरसोद्रेके मोहान्धधावनादिवर्णनं नाम सप्तमः प्रवाहः ॥७॥

आत्मपुराण अ० ४।७३९ कृमि को जैसा असह्य दुःख विष्ठा में होता है, वैसा ही मरणादि के समय ब्रह्मलोक में भी होता है ॥२८॥ वहाँ मोह से ही वर्षा और ताप सदा भासता है, अति तीव्र भूख लगती है, परन्तु आहारसुख नहीं मिलता ॥२९॥

कामान्ध, अत्यन्त मोहरूप मिहिका (मिहिका-हिम-तुषार) से हत (पीडित) माया आदि से वञ्चित (ठगे गये) भ्रष्ट (गिरे हुए) जन सब सत्य अमृत को ही नहीं सुनते हैं ॥३०॥ इसीसे ये सब मायामय एक यममंदिर में और भ्रम में ही घूसते (पैठते) हैं, परब्रह्म में नहीं ॥३१॥ और सर्वत्र सम एक पर तत्त्व (ब्रह्म) में ही सब अर्थ हैं, यह भी किसी के कथन को लोक नहीं सुनते हैं ॥३२॥ जिन लोकों ने जन्म से ही

सत्पुरुषों के सुवचनों को नहीं सुना, न सुन्दर गुण शमदमादि में चित्त दिया, वे अन्धबुद्धि मनुष्य मरणकाल में स्वयं यममंदिरों में जाते हैं ॥३३॥

अक्षरार्थ— देहाभिमानी को पूर्व कही रीति से काम्यकर्मादि मार्गों में ही चलते २ ही जब मन आदि रूप चरण (कर्मसाधन) थक गये, और पति नहीं मिला, न कोई स्थिर ठिकाना मिला, तो ये लोक तहाँ (उस वन-खण्ड में) ही हार कर पड़ गये। और अति रिसियाना (अत्यन्त क्रुद्ध हुए) और कहने लगे कि जिस हरि के अन्त को गण गन्धर्व मुनि भी नहीं पाये, सो अलोप (गुप्त या प्रगट) हरि संसारी जीवों को अनेकों धन्धा (व्यवहार) में लगा दिये हैं। लिखा है कि, " स्वकर्मफलयोगेन प्राप्य दुःखमचेतनः। निमित्तकारणे वैरं करोत्यल्पमतिः किल ॥ " देवीभा० स्क० ३।२०।४४ " कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः। देह-माभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ।। " श्रीमद्भा० स्क० ११।१०।२९ अल्पबुद्धि जड मनुष्य अपने कर्मफल के संबन्ध से दुःख पाकर निमित्त कारण में द्वेष मोह से व्यर्थ करता है ॥ दुःखरूप फल का हेतु कर्म को करनेवाला प्राणी फिर उन कर्मों से देहधारी होता है, तो वहाँ उस मरणशील को सुख क्या होता है ॥

साहब का कहना है कि इन जीवों ने स्वयं कामादि बन्धनों को गहा (पकड़ा) है, व्यर्थ ही ईश्वरादि पर क्रोध करने हैं। और मोहादि में फंसने से इन्हें सद्गुरु की सत्य वाणी नहीं सूझ पड़ी, न यह संसार मिथ्या वाणीमात्र सूझा (दीख पड़ा)। और यदि स्वस्थावस्था में ये सब बातें नहीं समझ में आई, तो अत्यन्त थाक पडने (वृद्ध होने) पर तो तहाँ (उस अवस्था में) कुछ समझ ही नहीं सके ॥ इस प्रकार जो जीव इस वनखण्ड में भूल पडा (आसक्तादि हुआ) सो अन्तकाल में अधिक डरता है, और मरणकाल तो मानो उस अज्ञ के लिये अन्धकूप की नाई महाभयावह रजनी रात्रिरूप ही आती है ॥

अज्ञ जीवों के हृदयों में वहाँ (मरण समय) माया (ममता) मोह (भ्रम-आसक्ति) अत्यन्त भरपूर (व्याप्त) हो जाते हैं। और दादुर (मेंढक) आदि के भयानक शब्द सुन पडते हैं। बिजुली के समान चञ्चल प्रकाश दीखता है। तथा दामिनी (बिजुली) के समान ही चञ्चल ज्ञान होता है। पौन (पवन) प्राणवायु अपूर्ण हो जाता है, उसकी शक्ति घट जाती है। कहिं वज्रपात सा दीखता है, वायु झकोरता है, वर्षा और ताप की अखण्ड धारा प्रतीत होती है, और उस भयावह रैनि (रात्रि) के समय क्षुधा अत्यन्त पीड़ित करती है; परन्तु कुछ भी आहार नहीं मिलता है॥ इससे अज्ञ के लिये वासनादि के अनुसार महादुःखद मरण-काल होता है॥ योगवासिष्ठ में लिखा है कि, "सुचिराभ्यस्तभावं तु वासनाखचितं मनः। यत्र तत्र भ्रमत् स्वर्गनरकादि प्रपश्यति।" ६।३२।३८॥ "स्वयं स्वप्न इवाभाति मृतस्य परलोकधीः। तमेव पश्यति चिरं न तत्राप्यस्ति सत्यता॥" ६।२।१४३।४०॥ बहुत देर तक अभ्यस्त स्वभावादिवाला वासनायुक्त मन, जहां तहां भ्रमता हुआ स्वर्ग नरकादि देखता है॥ मरे हुए पुरुष को स्वप्न के समान स्वयं परलोक की बुद्धि भी होती है, और उस स्वप्न तुल्य को देर तक देखता है, परन्तु उसमें भी सत्यता नहीं है॥१६॥

पूर्व कही रीति से जो अगुआ (गुरु) स्वयं वनखण्ड में भूले, सो अन्य सब लोकों को भी जहँडाये (पीड़ित किये, धोखे में डाले); इससे सब लोक अन्धा होकर भूले। और कोई भी सद्‌गुरु का कहा नहीं मानता है, इससे सब एक यममंदिर में समाता (पैठता) है। प्रकृति की उपासना करके प्रकृति में लीन होता है। अथवा एक आत्मा में सब समाया है, इस बात को कोई नहीं मानता है, न आत्मा में सब की समानता समझता है, इत्यादि ॥१६॥

अविवेकादि निरूपण प्रकरण ॥८॥

जहँडने में अविवेकादि रूप मुख्य कारणों का वर्णन करते हैं कि—

रमैनी १७

जस जिव आपु मिलै अस कोई। बहुत धर्म सुख हृदया होई ॥
जासो बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निर्वही ॥

भ्रान्तश्चायं जनो यद्वच्छोकसूर्येण तापितः।
वर्ततेऽवर्त्मना गच्छन् मुह्यमानः स्खलन् पतन् ॥ १ ॥
उत्पतन् निपतंश्चापि विसर्पन् सर्वतो भयात्।
तथा चेदस्य मिलति धर्मं सौख्यं च मन्यते ॥ २ ॥
तस्यैव वचनं ग्राह्यं मन्यते च विमूढधीः।
सार्द्धं गच्छति तेनैव विवेकेन विना सदा ॥ ३ ॥
अतो यस्मै हितं नित्यं श्रीरामेत्यमृताक्षरम्।
महद्भिः कृपया प्रोक्तं तच्च तस्मै न रोचते ॥ ४ ॥
रोचतेऽपि न च प्रीतिः स्थिरा भवति वै हृदि।
पुनर्मिलति कामेन कामिभिर्न तु सज्जनैः ॥ ५ ॥

यह भ्रान्त मनुष्य जैसे आप शोकरूप सूर्य से तपाया गया है, कुमार्ग से जाता हुआ मोहयुक्त है, और भय से स्खलन् (दौडता हुआ, भागता हुआ) पतन् (गिरता हुआ) ऊपर जाता हुआ, नीचे आता हुआ, सर्वत्र विविध चाल चलता हुआ है, तैसाही यदि कोई इसको मिलता है, तो धर्म और सुख मानता है ॥१-२॥ और वह विमूढ बुद्धिवाला विवेक विना उसीके वचन को ग्रहण योग्य मानता है, उसीके साथ सदा चलता है ॥३॥ इससे जिसके लिये महात्माओं ने हित नित्य श्रीराम इस प्रकार प्रसिद्ध अमृतरूप अक्षर (अविनाशी तत्त्व) को कृपा करके कहा, सो उसको अच्छा नहीं लगता है ॥४॥ अच्छा लगने पर भी फिर हृदय में

जिस विवेक के बिना प्रीति नहीं ठहरती, उसके लिये कहते हैं कि–

एके भाव सकल जग देखी । बाहर परु सो होय विवेकी ॥

उक्त विवेकादि विना गृहादि का त्याग भी व्यर्थ होता हैं; क्योंकि—

विषय मोह की फन्द छोडाई । तहाँ जाय जहँ काटु कसाई ॥

यश्च सर्वं जगद् दृष्ट्वा मायारूपं ततो बहिः ।
ज्ञात्वाऽऽत्मानं वसेत्तत्र स विवेकी भवेद् ध्रुवम् ॥ ६ ॥
अथवा योऽखिले विश्वे सत्तत्त्वमेकमद्वयम् ।
दृष्ट्वा भवति निर्द्वन्द्वः स विवेकी भवेन्मुनिः ॥ ७ ॥
सद्विवेके च वैराग्ये शमिताद्युदये तथा ।
अपरोक्षं हि विज्ञानं भवत्येव न संशयः ॥ ८ ॥
इयं च लभ्यते दृष्टिः सद्गुरोः समुपासनात् ।
सद्विवेकादिपूर्वं हि नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥ ९ ॥

स्थिर प्रीति भी नहीं रहती है । इससे फिर काम (इच्छा) से कामियों के साथ मिलता है, सज्जनों से नहीं मिलता ।।५।।

जो पुरुष सब जगत् को मायारूप देख (जान) कर, और उससे बाहर (भिन्न) आत्मा को समझ कर उस आत्मा में ही बसता (मन को लगाता) है, सो अवश्य पूर्ण विवेकी होता है ॥६॥ अथवा जो पुरुष सब संसार में अद्वैत एक सत् तत्त्व (वस्तु) को देख कर निर्द्वन्द्व होता है, वही मुनि विवेकी होता है ॥७॥ सत् का विवेक और वैराग्य तथा शमिता (शम) आदि के उदय (प्रगट-प्राप्ति) होने पर, अपरोक्ष विज्ञान ही होता है, इसमें संशय नहीं है ॥८॥ यह अपरोक्ष विज्ञान रूप दृष्टि सद्गुरु की सम्यक् उपासना से सद्विवेकादि पूर्वक ही पाई जाती है (मिलती है); अन्य प्रकार करोड़ों जन्मों से भी नहीं मिलती ॥९॥

आहिं कसाई छूरी हाथा। कैसहुं आवे काटै माथा॥

यद्यपि अज्ञ हिंसकादि गुरु कसाई हैं, तथापि—

मानुष बंड़े बड़ा ह्वै आया। एकहिं पण्डित सबहि पढाया॥

त्यक्त्वा गृहादिकं मूढा द्रव्याणि विविधानि च।
तत्र गच्छन्ति यत्रैनान् हन्त्यज्ञो मांसिको यथा॥१०॥
अज्ञोऽस्ति कौटिको नूनं क्षुरो हस्तेऽस्य विद्यते।
कथञ्चिदागतस्यासौ शिरश्छेदं करोति हि॥११॥
वञ्चयित्वा हि वेषेण मुण्डनं प्रविधाय च।
आत्मनो विमुखं कृत्वा शिरो हन्तीति मन्महे॥१२॥
महद्भ्योपि महान् भूत्वा वेषाद्यैरबुधो नरः।
घ्नन् प्लव इव लोकांश्चाभूदेकः पण्डितो ह्यसौ॥१३॥
स पाठयति सर्वांश्च विश्वस्तान् हन्ति सर्वशः।
हा नरैर्ज्ञायते नैवाऽविवेको बलवान् रिपुः॥१४॥

मूढ पुरुष गृहादि और अनेक प्रकार के द्रव्य को त्याग कर, तहाँ जाते हैं कि जहाँ इनको कोई अज्ञ मांसिक (कसाई) के समान मारता है॥१०॥ वह अज्ञ अवश्य कौटिक (कसाई) है; क्योंकि इसके हाथ में क्षुरा रहता है, और किसी प्रकार भी आये हुए का शिर काटता है॥११॥ वेषमात्र से ठग कर, और मुण्डन करके आत्मा से विमुख करके शिर काटता है, ऐसा हम लोक मानते हैं॥१२॥

अबुध (अज्ञ) मनुष्य भी वेषादि से ही महानों से महान् का अभिमानी होकर, और प्लव (चाण्डाल) के समान लोकों को नष्ट करता हुआ एक (मुख्य) पण्डित हुआ (कहाया)॥१३॥ वह सब लोकों को अपना पाठ पढाता है, सब विश्वासी को मारता है। खेद की बात है कि मनुष्य उसको समझते नहीं हैं, अविवेक बली शत्रु है॥१४॥

पढना पढहु धरहु जनि गोई । नहिं तो निश्चय जाहु विगाई ॥

इससे यह कर्तव्य है कि प्रथम सद्गुरु को खोज कर, सेवा से उन्हें प्रसन्न करके आत्माराम को सुनो, फिर—

साखी ।

सुमिरण करहु राम के, छाड़हु दुख की आश ।
तर ऊपर धरि चांपि है, कोल्हू कोटि पिचास ॥१७॥

नरेभ्यो वोत्तमा देवा देवेभ्यश्चोत्तमास्तु ये ।
जनिं लब्ध्वाऽभवन् प्राज्ञा एकं तेऽध्यापयन्ति हि ॥१५॥
अतोऽन्यत् पठनेऽप्यन्न पठितव्यं हि शिष्यते ।
तेभ्यस्तत्पठताजस्रं कालक्षेपो न युज्यते ॥१६॥
पठित्वा तच्च सद्युक्त्या सत्सङ्गाद्यैर्विचार्यताम् ।
छादितव्यं न तत्सद्भ्यो विस्मर्तव्यं न कर्हिचित् ॥
अन्यथा पठितं सर्वं निश्चितं नाशमेष्यति ॥१७॥
रामं स्मरत भो नित्यं त्यजताशां सुदुःखदाम् ।
अन्यथा सैव सर्वत्राऽप्यऽधश्चोर्ध्वं बहिस्तथा ॥१८॥

अथवा मनुष्यों से उत्तम देव हैं, और जो प्राज्ञ (ज्ञानी) जन्म लेकर देव सब से भी उत्तम हुए, वे लोक सब एक ही वस्तु पढाते (समझाते) हैं ॥१५॥ इससे अन्य कुछ पढने पर भी एक अन्य पढने योग्य बाकी है, उन ज्ञानियों से तुम सब वह सदा पढो, समय बिताना उचित नहीं होता ॥१६॥ उस वस्तु को ज्ञानी से पढ (श्रवण) करके श्रेष्ठ युक्ति सत्सङ्गादि द्वारा उसे विचारो, सत्पुरुषों से उसे छिपावो नहीं, कभी भूलो भी नहीं; अन्यथा वह पढ़ा हुआ भी सब अवश्य नष्ट हो जायगा ॥१७॥ हे सज्जनों ! राम का सदा स्मरण करो, अति दुःखदायी आशा को त्यागो । अन्यथा (नहीं त्यागने पर) तिलपीडक के समान वही आशा

गर्भेऽन्तश्च सदा चक्रे तिलपीडसमा मुहुः।
कोटिधा पीडयित्वा च भवतो नाशयिष्यति ॥१९॥
बन्धाद्विमुक्तेर्यदि वर्तते स्पृहा तदाखिलाशां त्यजतातिदूरतः।
रामं सदा तं स्मरतान्तरात्मनि सकृद्विभातं परतः परं शिवम् ॥२०॥
सैवान्तरात्माऽप्यवभाति दूरतः कामादिदोषाद्धतबुद्धितः सदा।
तदात्मनश्चैव सुखस्य लब्धये परिभ्रमञ्जीवगणश्च पीड्यते ॥२१॥

नीचे ऊपर तथा बाहर और अन्तर में गर्भरूप चक्र पर सब जगह बार २ करोड़ों प्रकार से पीडित करके तुम सब को नष्ट करेगी ॥१८-१९॥ यदि बन्ध से विमुक्ति की इच्छा है, तो सब आशा को दूर से त्यागो। सकृद्विभात (एकरस प्रकाशमान) पर से भी पर शिव (कल्याणरूप) उस (सर्वात्मा प्रसिद्ध) राम का अन्तरात्मा (मन) में स्मरण करो ॥२०॥ कामादि दोषों से नष्ट बुद्धिवालों से वह अन्तरात्मा भी राम सदा दूर में प्रतीत होता है, और उस राम स्वरूप सुख की ही प्राप्ति के लिये परिभ्रमण करता हुआ जीव समुदाय आशा आदि से पीडित होता है ॥२१॥

अक्षरार्थ- यह जीव जैसे आप अविवेकी है, तैसा ही जब इसको कोई मिलता है, तब इसके हृदय में बहुत धर्म और सुख प्रतीत होता है। विवेक विना सत असत पुरुष को भी नहीं पहचानता है॥ इसीसे जिस किसीसे सर्वात्मा राम की बात कही जाती है, तो उस बात में किसीकी प्रीति (प्रेम-श्रद्धा) नहीं निर्वहती (स्थिर होती) है, इसीसे लोक जहँड़ते हैं॥ योगवासिष्ठ० प्र० ५।८।१३। "संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः"॥ अपनी हृदय-गुहा के ईश्वर आत्मा को त्याग कर, अन्य देव के शरण में जो जाते हैं; सो हस्तस्थ कौस्तुभ मणि को त्यागने वाले रत्न चाहते हैं॥

जो पुरुष सब संसार को एक भाव (स्वभाव) से मिथ्या देख कर, इससे बाहर पड़ता (प्राप्त होता) है, सबसे भिन्न आत्मा को समझता है;

सो विवेकी होता है ॥ अथवा सब संसार में एक ही भाव (सत्य स्वरूप आत्मा) को जान कर बाहर पड़ता (असंग होता) है, सो विवेकी होता है। "सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा। यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते" ॥ यो० वा० ५।५६।२७। "सर्वमेवाहमेवेति तत्त्वज्ञो नावसीदति। न गृह्णाति पदार्थेषु विभागानर्थभावनाम्" ॥ ५।४९।३५। सब पदार्थ शब्द से रहित अथवा सब की सत्ता स्वरूप जो सदा आत्मा को जानता है, सो समाहित कहाता है ॥ सब में सत्य स्वरूप मैं ही हूं ऐसा निश्चयवाला ज्ञानी पदार्थों में भेदरूप अनर्थ की भावना नहीं करता है, इससे दुःखी नहीं होता है ॥

अविवेकी लोक गृह वित्तादिरूप विषय के मोहरूप फन्द (बन्धन) को किसी प्रकार छोडाय (त्याग) कर भी तहाँ स्वयं जाते हैं कि जहाँ इन्हें कसाई काटता है, अर्थात् अज्ञ के पास जाने से वह इन्हें आत्माराम से विमुख करके पीड़ित करता है ॥ और अविवेकी गुरु कसाई रूप ही आहिं (हैं); क्योंकि इसके हाथ में छूरी रहती है, और किसी प्रकार जो मनुष्य इसके पास में आता है, उसके माथा (शिर) यह काटता है। अर्थात् माथ मूँड़ कर वेषधारी मात्र बना देता है। अधिकार की परीक्षा वा धर्मज्ञानादि का उपदेश देना यह नहीं जानता है; इससे जिज्ञासु, विषयी आदि को आत्मधर्मादि विमुख करके नष्ट करता है ॥

वे कुगुरु लोक भी मनुष्यों में बडे से भी बड़ा बनकर आये हैं, श्रेष्ठ कुल जाति आश्रमादि के अभिमानी होते जन्मे हैं। लोकों के पास में प्राप्त हुए हैं, और वे ही एक (मुख्य) पण्डित कहा कर सबको अपना पाठ पढ़ा रखे हैं। या जिज्ञासु, विषयी आदि सबको एक पाठ पढाये हैं ॥ साहब का कहना है कि सज्जन के लिये अवश्य पढ़ने योग्य है, सो अभी बाकी है, उस आत्मविद्या अहिंसा आदि को पढो, और पढने पर भी उसे गोकर (छिपाकर) नहीं रखो (धरो) किन्तु सज्जनों में उसका प्रचार

करो, मननादि करो, नहिं तो निश्चय (अवश्य) तुम उसे बिगोय (भूल) जावोगे। अदृढ श्रुतमात्र ज्ञान को व्यवहारादि में गमा दोगे ॥

पढना है उसे पढ कर सर्वात्मा राम का सदा स्मरण करो। मनन विचार यादगारी रूप भजन करो, और दुःखरूप लोक विषयादि की आशाओं को त्यागो। नहीं तो वे आशा विषयादिक ही तर (अशुभ लोक गर्भादि) में और ऊपर (शुभ लोकादि) में धर कर चाँपेगें (पीडित करेगें)। स्वर्ग नरकादि में सर्वत्र मृत्यु पीड़ित करेगी, जैसे कोल्हू तिलादि को करोड़ों बार पींचता है, सोई दशा तेरी होगी॥ महाभारत में लिखा है कि, "स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत्। तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः" ॥ शा० २११।९। स्नेह (राग) युक्त होने से यह सब जगत् (जीव) अज्ञान जन्य भोगों से इस संसारचक्र में इस प्रकार बलात् पीडित होता है कि जैसे तिलपीडक से तिल पीड़ित होता है ॥१७॥

प्रथम मायाजन्य मोह अविवेकी गुरु से अनर्थ की प्राप्ति आदि का वर्णन हुआ है। अब उन्हीं से होनेवाले मत रूप मार्गों से होनेवाले अनर्थों का वर्णनपूर्वक, अनर्थों से बचने के लिये उपदेश देते हैं कि :—

रमैनी १८

अदभुत पन्थ बरणि नहिं जाई। भूले राम भुले दुनिआई ॥
जौ चेतहु तौ चेतहु भाई। नाहीं तो जिव यम ले जाई ॥

अद्भुतानन्तमार्गा हि मूढैरेव प्रवर्तिताः।
मानितास्तादृशैरेव चित्रवाक्यैः सुसंस्कृताः ॥२२॥

मूढों से ही आश्चर्यरूप अनन्त मार्ग प्रवर्तित हुए हैं (चलाये गये हैं) और चित्र (विस्मयजनक) वचनों से संस्कृत (भूषित) वे मार्ग

वर्तन्ते वर्णनानर्हा विस्ताराच्चित्ररूपतः ।
परस्परं विरुद्धत्वान्मार्गाभासा विमोहदाः[1] ॥ २३ ॥
तत्र सन्मार्गबुद्ध्या च रामं विस्मृत्य दुर्जनाः ।
सक्ता [2]व्यवहृतौ सन्ति लौकिक्यां न निजात्मनि ॥ २४ ॥
चेतितव्यं त्वया साधो ! चेत्यतां यदि रोचते ।
सावधानेन संचिन्त्य सतां मार्गेण गम्यताम् ॥ २५ ॥
अन्यथा त्वां यमो जीव ! यमधाम्नि प्रणेष्यति ।
सर्वं निर्यातयित्वा च संसारे क्षेपयिष्यति ॥ २६ ॥
सद्गुरोः सारशब्दं यो विवेकेन न पश्यति ।
नैवालोचयति ज्ञानं सद्भिश्च भाषितं भृशम् ॥२७॥

तादृश (तैसे) लोकों से ही मानित (स्वीकृत) भी हैं ॥ २२ ॥ परस्पर विरुद्ध होने से विमोहजनक वे मार्गाभास (असत मार्ग) सब विस्तार और विचित्ररूप वाला होने से वर्णन के योग्य भी नहीं हैं ॥ २३ ॥ और उसी में सत मार्ग की बुद्धि से दुर्जन लोक राम को भूल कर लौकिक व्यवहार में आसक्त हैं , निजात्मा राम में नहीं ॥ २४ ॥ हे साधो ! तुझे सत वस्तु समझना चाहिये, सावधान होना चाहिये; यदि रुचे तो चेतो, और सावधानी से विचार कर सत् पुरुषों के मार्ग से चलो ॥ २५ ॥ हे जीव ! अन्यथा तुम को यम यममन्दिर (घर) में ले जायगा, और सब पापविशेष को यातना (ताडना) द्वारा भोगा कर संसार में फैंक देगा ॥२६॥ जो पुरुष सद्गुरु के सार शब्द को विवेक से नहीं देखता है, न सतपुरुषों से अत्यन्त कथित ज्ञान का ही विचार दर्शन करता है। किन्तु यह अपनी बुद्धि से कल्पना करके असार (झूठ) का ही सदा

१ 'शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत्तदा। शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम्' ॥ म० भा० शा० अ० २८७ । १० ।

२ 'समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्' ॥

शब्द न चीन्है कथये ज्ञाना। ताते यम दीयो है थाना॥
संशय सावज बसै शरीरा। ते खायल अनबेधल हीरा॥

प्रकल्प्य निजमत्याऽयमसारं भाषते सदा।
तमेव[1] मन्यते ज्ञानं तत्त्वं सर्वैहितं तथा॥२८॥
ततो यमोऽस्य नाशाय स्थानं कृत्वेह तिष्ठति।
संशयाख्यमृगोऽप्यस्य हृदयान्नापसर्पति॥२९॥
तिष्ठंश्चासौ शरीरेऽस्य बोधसस्यं विनाशयन्।
मर्दयन् सद्विवेकादींश्चखादाखण्डरत्नकम्॥३०॥
स्वप्रकाशं सदानन्दं सर्वस्य ज्योतिरव्ययम्।
अच्छिद्रं मनसा ग्राह्यमग्राह्यं परमं शिवम्॥३१॥

कथन करता है, और उसीको ज्ञान, सत्य तथा सबका हित मानता है॥२७ २८॥ तिससे इसका नाश के लिये यम यहाँ स्थान बनाकर रहता है। और संशयनामा मृग भी उसके हृदय से नहीं हटता है॥ २९॥ और वह मृग इसके शरीर में रहता हुआ, ज्ञान रूप सस्य (फल) को नष्ट करता हुआ, सद्विवेकादि का मर्दन (नाश) करता हुआ, अखण्ड रत्न को भी खा गया॥ ३०॥ जो रत्न स्वप्रकाश, सदा वा सत्य आनन्द स्वरूप सब का ज्योति (प्रकाशक) अव्यय (विकारादि रहित) छिद्ररहित शुद्ध मन से समझने योग्य इन्द्रियों से अग्राह्य परम कल्याण रूप है॥ ३१॥

१ विवेकोऽस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भास्वरः। यस्य तेनापरित्यक्ता दुःखायैवाविवेकिता॥ योगवा० ४।१८।६७॥ 'कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः। तेऽप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च'॥ तेजोबिन्दूप० १।४६॥

साखी ।

संशय सावज शरीर महँ, संग हि खेल जुआर।
ऐसा घाई बापुरा, जीव हिं मारै झार ॥१८॥

संशयात्मशरव्यं च स्थित्वा सर्वकलेवरे।
क्रीडित्वा कैतवैर्जीवैस्तान् पराजयते ध्रुवम् ॥३२॥
संशयो घातुकः क्रूरो वर्तते बलवान् खलः।
पराजित्यापि सर्वान् यदयं हन्ति जनान् सदा ॥३३॥
यथाऽयं गृहपालुश्च शरारुर्वैह विद्यते।
विद्यते न तथा कोऽपि दुष्टो दोषगणेष्वपि ॥३४॥
संदेहयुक्तैर्नहि लभ्यते क्वचित् सुखं न शान्तिः स्थितिरक्षयाऽथवा।
श्रद्धा न सद्भक्तिविचाराणादिकं ततो जन! त्वं त्यज तं विवेकतः
॥ ३५ ॥ १८

संशय रूप शरव्य (लक्ष्य) सब देह में रह कर, और जीवों के साथ कैतव (द्यूत वा कपट) द्वारा क्रीडा करके उन जीवों को अवश्य पराजित करता है ॥ ३२ ॥ संशय घातुक (हिंसक) क्रूर (कठोर) और बलवान् खल (दुर्जन) है। जिससे यह सब जन को पराजित करके सदा नष्ट करता है ॥ ३३ ॥ यह संशय जैसा ग्रहण करने का स्वभाव वाला वा शरारु (घातुक) यहाँ है, दोष के गणों में तैसा दुष्ट कोई भी नहीं है ॥ ३४ ॥ संदेह (संशय) युक्त लोक कहीं सुख, शान्ति, अथवा अक्षय स्थिति, श्रद्धा सद्भक्ति, विचारादि नहीं पाते हैं, तिससे हे जन ! तुम उसे विवेक से त्यागो ॥ ३५ ॥

अक्षरार्थ :—अद्भुत (आश्चर्य) रूप पन्थ (मार्ग) संप्रदाय मत हैं, तथा आश्चर्य स्वरूप माया के मार्ग रूप संसार के व्यवहार भी अनिर्वचनीय हैं, इससे इनका यथोचित वर्णन नहीं किया जा सकता है। और इन मार्गों की अद्भुतता माया की विचित्रता से ही लोक आत्मा राम

को भूले हैं, उसके श्रवणादि भी नहीं करते हैं, और दुनिआई (संसार के व्यवहारों) में भुले (आसक्त) हैं, अथवा दुनियाई में फंसने से आत्मा राम को भूले हैं, तथा आत्मा राम और उचित व्यवहार को भी मार्गविस्तार से भूले हैं। हे भाई ! यदि चेतना चाहो तो शीघ्र चेतो, सावधानी से सत मार्ग सत्यात्मा को समझो, राम को भजो, नहीं तो हे जीव ! कुछ हो देर में तुमको यम (मृत्यु) ले जायगा, तब कुछ भी कर नहीं सकोगे ॥

लोक चेतने आदि विना सद्गुरु के सार (सत्य) शब्द को विवेक पूर्वक नहीं चीन्हते हैं, और अपने मन से कल्पित ज्ञान का या अनेक मार्ग के ज्ञान का कथन करते हैं, तिसीसे इन्हें पकडने के लिये यम ने थाना दिया है, डेरा गिराया है, और संशय रूप सावज (मृग) सदा शरीर में बसता है, तो (सो) संशय ही अनबेध हीरा (अखण्डानन्द राम) को खा गया है (छिपाया है) ॥ (सर्वेषामेव दोषाणामज्ञानं परमो मतः । अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० ३।२३९।२। यत्तु निःश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम् । म० भा० शा० अ० २८७) सब दोषों में अज्ञान बड़ा माना गया है, और अज्ञ श्रद्धा रहित संशयात्मा नष्ट होता है ॥ जो सम्यक् कल्याण है, सो असंशय स्वरूप ही है ।

संशय रूप सावज (संशययुक्त मन) शरीर के अन्दर हृदय में रहता है, और इस जीव के साथ रहता हुआ, इसी के साथ जूआ खेलता है। और यह ऐसा बापुरा (दुष्ट) घाई (घातक-पड़दा की टट्टी) है; कि सब जीवों को झार (खोज २) कर मारता है, इससे यह नष्ट करने योग्य शिकार रूप सावज है, और संग त्याग योग्य जूआरी तुल्य अपवित्र है ॥ (असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् । न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ मैत्रेय्युप० २।१६) संशयरहित की मुक्ति होती है, संशयाविष्ट चित्तवालों की मुक्ति अनेक जन्म के अन्त में भी नहीं होती, इससे सद्गुरु सत्यात्मा आदि में विश्वास लाना चाहिये ॥ १८ ॥



पूर्व वर्णित रीति से आत्माराम के अज्ञान मिथ्या ज्ञान संशयादि अनर्थ के कारण हैं; श्रेष्ठ धारणा सत्संग विचारादि से अज्ञानादि की निवृत्ति कल्याण के कारण हैं, सो न करके मनुष्य उलटा काम करते हैं, तिसका वर्णन और उपदेश करते हैं कि :—

रमैनी १९

अनहद अनुभव की करि आशा । ई देखहु विपरीत तमाशा ॥
इहै तमासा देखहु भाई । जहवाँ शून्य तहाँ चलि जाई ॥

मोहं नैव मृदित्वाऽयं शातयित्वा न संशयम् ।
नादाभ्यासरतो लोके लययोगपरो नरः ॥३६॥
करोति महदाश्चर्यं नादानुभवनाशया ।
तत्पश्यन्तु बुधाश्चित्रं विपरीतं हि कौतुकम् ॥३७॥
आनन्दं चिद्घनं त्यक्त्वा शून्ये गच्छत्यसौ नरः ।
विवेकादि विना नैव गच्छेत् स परमात्मनि ॥३८॥
प्रकृतौ गगनादौ वा महत्तत्त्वमुखे तथा ।
लीयते स विमूढात्मा[1] ज्ञानी ब्रह्मणि लीयते ॥३९॥

लोक में नाद (अनहद शब्द का श्रवण) का अभ्यास का प्रेमी, लययोग को श्रेष्ठ मानने वाला यह मनुष्य मोह का मर्दन (नाश) नहीं करके, तथा संशय का नाश नहीं करके अनहद नाद के अनुभव की आशा से महान् आश्चर्य करता है, उस चित्र (आश्चर्य रूप) विपरीत कौतुक (कौतूहल) को बुध (ज्ञानी) लोक देखें कि विवेकादि विना वह मनुष्य चेतन घन आनन्द को छोड़ कर शून्य (तुच्छ-खाली आकाश) में जाता है, परमात्मा में नहीं जा सकता ॥३६, ३७, ३८॥ वह विमोह युक्त मन वाला सूक्ष्म गगनादि रूप प्रकृति में वा तैसा महतत्त्वादि में लीन होता है। आत्मज्ञानी सच्चिदानन्द ब्रह्म में लीन होता है ॥३९॥

१ 'सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम् । यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः' ॥ गरुडपु० अ० ४९।५७॥

शून्यहिं वांछे शून्यहिं गयऊ । हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ ॥
संशय सावज सब संसारा । काल अहेरी सांझ सकारा ॥

हा ! तथापि च लोकोऽयं वांछित्वा शून्यमेव हि ।
तत्र गच्छति संत्यज्य [1]हस्तस्थमिव कौस्तुभम् ॥४०॥
आत्मानं तस्य बोधं च हृदिस्थं मणिमुत्तमम् ।
संशयैर्ग्रस्यते चातः कालपाशैर्न मुच्यते ॥४१॥
संशयात्मा मृगो लोके ज्ञानसस्यं ग्रसत्यलम् ।
कालश्च लुब्धको नित्यमाखेटं कुरुते ह्यतः ॥४२॥
मृगं त्यक्त्वा जनस्यैव करोति मृगयामसौ ।
अहर्निशं मनो यत्तद्दौर्भाग्यमतिदुःसहम् ॥४३॥
महाकालाच्च सर्वस्मात् त्रातारं ज्ञानमात्रतः ।
भक्त्यैव सुलभं रामं स्मरतान्यो न चिन्त्यताम् ॥४४॥

और खेद की बात है कि तो भी यह लोक (जन समुदाय) हाथ में स्थित उत्तम मणि कौस्तुभ के समान हृदय में स्थित आत्मा और उसके ज्ञान को त्याग कर, शून्य की ही इच्छा करके शून्य में ही जाता है, इससे संशयों से ग्रस्त होता है, और कालपाशों से मुक्त नहीं होता किन्तु बँधता है ॥४०–४१॥ संशय रूप मृग लोक में ज्ञान के फल को अत्यन्त ग्रस (खा) लेता (नष्ट करता) है, इसीसे काल रूप व्याध सदा आखेट (शिकार) करता है ॥४२॥ वह काल मनरूप मृग को छोड कर जन का ही जो मृगया (शिकार) करता है, सो अति दुःसह दौर्भाग्य है ॥४३॥ ज्ञान ध्यान मात्र से ही महाकाल और सब दुःखादि से रक्षा करने वाले भक्ति से सुलभ राम का ही स्मरण करो, अन्य की चिन्ता नहीं करो ॥४४॥

१ ' संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये । ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥ पो० वा० ५।८।१४॥ सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः । तत् परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः ' ॥५।४३।२६॥

इससे कहते हैं कि–

साखी।

सुमिरण करहु राम के, काल गहे हैं केश।
नहिं जानहु कब मारि हैं, क्या घर क्या परदेश ॥ १९ ॥

गृहीत्वेह केशेषु कालस्तिष्ठत्यतन्द्रितः।
ज्ञायते न कदा चायं मारयिष्यति कुत्र वा ॥४५॥
भक्तिं श्वः करणीयां त्वमद्यैव कुरु सत्वरम्।
माभूत्ते हि विलम्बोऽत्र लौकिके कर्मणि क्वचित् ॥४६॥
ज्ञात्वा हरिं त्वं सुविवेकतोऽञ्जसा ह्यत्यन्तिकस्थं शमनं तथोर्ध्वतः।
मूर्धस्थितं दुर्विषहं विबुध्य वै भजस्व तूर्णं हरिमात्मरक्षकम् ॥४७॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमैनीरसोद्रेके कुमार्गगतिवर्णनपूर्वकं रामभक्त्युपदेशवर्णनं नामाष्टमः प्रवाहः ॥ ८ ॥

तन्द्रा (आलस्यादि) रहित काल मानो केश पकड़ कर बैठा है, और यह पता नहीं है कि यह कब और कहाँ मारेगा ॥४५॥ इससे श्वः (काल्ह-दूसरे दिन) करने योग्य भक्ति को आज ही शीघ्र करो, और यहाँ कहीं लौकिक कर्म में ही तुझे विलम्ब नहीं हो ॥४६॥ सुन्दर विवेक से अत्यन्त पास में स्थिर हरि को जान कर, और ऊपर मूर्धा पर स्थिर असह्य यमराज (काल) को समझ कर अपना रक्षक हरि को शीघ्र भजो ॥४७॥

अक्षरार्थ– सत्संग विचारादि द्वारा राम के अनुभव से संशयादि का निवारण नहीं करके, बहुत लोक अनहद शब्द का अनुभव की आशा करते हैं, और घंटा मेघादि का शब्द के तुल्य उस अव्यक्त शब्द को सुनते हैं, इस विपरीत (उलटी) तमासा (खेल) को कोई देखो (समझो) और इससे बचो ॥ और हे भाई ! इस तमासा को ऐसा देखो

(समझो) कि इससे इसका अभ्यासी जहाँ शून्य (आनन्दादि से रहित) है, तुच्छ है, तहाँ चले जाते हैं, प्रकृति आकाशादि में लीन होते हैं ॥ इससे अज्ञान की निवृत्ति नहीं होने से ब्रह्म में नहीं लीन हो सकते ॥ इसी प्रकार आत्मभिन्न किसी अनहद (विभु) तत्त्व का अनुभव की आशा से भी शून्य में ही लीन होते हैं ॥ क्योंकि (यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति । छा० ३।४।१) जैसा क्रतु (संकल्प) वाला इस लोक में रहता है, मरने पर भी वैसा ही होता है ॥ और (अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् । कठ १।३।१५) आत्मा शब्दादि से रहित है, इससे वैसा ही चिन्तनादि से उसकी प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥

आश्चर्य है कि इस अमूल्य अवसर में लोक शून्य की ही वांछा (इच्छा) किया करते हैं, इससे उस शून्य ही में गये, और जाते हैं, जिससे हाथ में प्राप्त अवसर तथा वस्तु को छोड़ देने से, वे दोनों बे हाथ (अप्राप्त) हो गये, इसीसे संशय रूप सावज सब संसार में व्याप्त बना रह गया, और काल भी सांझ सबेरे शिकारी होता है ॥ तथा संशय रूप सावज से ही जन्म मरणादि रूप सब संसार होता है, इससे संशय रूप ही सब संसार है, और संशय रूप संध्या काल में ही काल अहेरी होना सकारा (स्वीकार किया) है, इससे संशयादि का अभाव हो तो काल भी नहीं कुछ कर सकता ॥

अन्य की आशा आदि को त्याग कर सर्वात्मा राम के स्मरण (भक्ति विचारादि) करो, काल केश (चोटी) पकड़ कर बैठा है, और यह भी नहीं जानते हो कि, वह कब मारेगा और कहाँ मारेगा, क्या घर में मारेगा, या परदेश में मारेगा, इससे भजन में देर नहीं करो । (न श्वः समुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद । शतपथब्रा० २।१।३।९। श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाऽकृतम् ॥ म० भा० शा० अ० २७५।१५) कलह की चिन्तना नहीं

करे, मनुष्य का कल्ह को कौन जानता है ॥ कल्ह के कार्य को आज करे, साम के कार्य को सबेरे करे, मृत्यु इस के कृताकृत की प्रतीक्षा नहीं करती है ।

विशेष विवरण– वस्तुतः सीमा रहित को अनहद कहते हैं, सो आत्मा ही है, परन्तु अन्तर के शब्द भी सदा अनेक रूप से सुन पडता है, अनहद जीवात्मा का लिङ्ग है, इससे उस को भी अनहद कहते हैं, और परा वाक् रूप तो सब शब्द अनहद (विभु) है ही । इससे यह भी अर्थ हो सकता है कि, अनहद (विभु) आत्मा के अनुभव की आशा (इच्छा) करके इस संसार को आत्मा से विपरीत तमासा रूप मिथ्या जानो । और ऐसा जान कर जहाँ शून्य (एकान्त) देश हो वहाँ चला जावो, जो शून्य देशादि की इच्छा किया, शून्यादि का सेवन किया, सो हाथादि वाला शरीर को छोड़ कर विदेह मुक्त हुआ, और अन्य संसार संशय का सावज हुआ इत्यादि ॥१९॥

दुःखयातनातारण प्रकरण ॥९॥

रमैनी २०

अब कहु राम नाम अविनाशी । हरि छोड़ि जियरा कतहुं न जासी ॥

यो गतः सो गतस्तात ! समयः स न चिन्त्यताम् ।
इदानीं भज रामं त्वं ह्यविनाशिनमव्ययम् ॥ १ ॥
स्मर ब्रूहि च तन्नामाहिंसादिव्रतमाचर ।
सर्वात्मानं हरिं त्यक्त्वा क्वचिन्न याहि भद्र हे ॥ २ ॥

हे तात ! जो समय गया सो गया, उस को नहीं शोचो, किन्तु इस समय अविनाशी अव्यय (निर्विकार) राम को ही तुम भजो ॥१॥ और हे भद्र ! उस राम के नाम का स्मरण कथन करो, अहिंसादि व्रत का आचरण करो, सर्वात्मा हरि को त्याग कर कहीं नहीं जावो ॥२॥

जहाँ जाहु तहँ होहु पतङ्गा। अब जनि जरहु समुझि विष सङ्गा॥

यत्र गच्छसि तत्रैव भवसि त्वं पतङ्गवत्।
तद् भूयो भव मा देव! त्वात्मनाऽऽत्मनि शम्यताम्॥ ३॥
शलभो हि यथा दीप्ते वन्हौ मोहेन दह्यते।
तथा त्वं विषये जन्तो! दह्येथाः स्वाविवेकतः॥ ४॥
पुनः पुनः सुदग्धोऽसि गर्भादौ विषयेषु च।
इदानीमपि चात्मानं ज्ञात्वा त्रायस्व सुव्रत!॥ ५॥
विषयैः सङ्गमादङ्ग! दह्यतां मा न गृह्यताम्।
मनसा जागती लोलकल्लोलभङ्गुरा गतिः॥ ६॥
रामनाम्नि मनो धृत्वा भक्त्या ज्ञात्वा तु तत्त्वतः।
भृङ्गं कीटो यथा ध्यात्वा गृहीत्वा स्वात्मभावतः॥
भृङ्गो हि जायते तद्वद्विद्वान् रामो हि जायते॥ ७॥

जहाँ जाते हो, वहाँ ही तुम पतङ्गतुल्य होते हो, हे देव! सो फिर नहीं होवो, किन्तु आत्मा से ही आत्मा (मन) में शांत होवो॥३॥ शलभ जैसे ज्वलित अग्नि में मोह से जलता है, हे जन्तो! (जीव!) अपने अविवेक से तैसे ही तुम विषय में जलोगे॥४॥ तुम बार २ गर्भादि में और विषयों में जले हो, हे सुव्रत! इस समय भी अपनी आत्मा को जान कर अपनी रक्षा करो॥५॥ और विषयों के सङ्ग से जलो नहीं, न संसार की चञ्चल महा तरङ्ग तुल्य नश्वर गति का मन से ग्रहण करो॥६॥

जैसे कीट भृङ्ग का ध्यान करके, और अपनी आत्मस्वरूप से भृङ्ग का ग्रहण (ज्ञान) करके भृङ्ग ही हो जाता है। तैसे ही विद्वान् भी रामनाम-वाला में मन लगा कर, भक्तिद्वारा तत्त्वतः (यथार्थ) जान कर राम ही हो जाता है॥७॥

राम नाम लौ लाया सो लीन्हा । भृङ्गी कीट समुझि मन दीन्हा ॥

हरौ तद्भावतां प्राप्ता विद्वांसो निर्मलेऽद्वये ।
[1]नावर्तन्ते पुनस्तेऽत्राविद्यामूलप्रहाणतः ॥ ८ ॥
नाममात्रे हि मूढास्तु मनो धृत्वा कथञ्चन ।
गृह्णन्ति विषयादीन् वा देवादीन् न हरिं हृदि ॥ ९ ॥
यथा भृङ्गो मनो दध्यात् कीटे तत्त्वाय मोहतः ।
तथैते विषयादौ हि मनो दधति मोहतः ॥१०॥
मोहाद् दुःखभरोऽत्यन्तं भवत्यत्र पुनः पुनः ।
तद्वेगेनाति खिद्यन्ते सर्वे वै मोहभागिनः ॥११॥
अतो बुद्ध्या विविच्यैव सत्यासत्यादि तत्त्वतः ।
यत्नो विधीयतां मुक्तौ मनो नैवानुगम्यताम् ॥१२॥

निर्मल अद्वैत हरि में तद्रूपता को प्राप्त वे विद्वान लोक अविद्यारूप मूल कारण का [1]नाश से यहाँ फिर नहीं आते हैं ॥८॥ मूढ लोक तो किसी प्रकार नाम मात्र में ही मन लगा कर भी विषयादि वा देवादि का हृदय में ग्रहण करते हैं, हृदय में हरि का ग्रहण नहीं करते हैं ॥९॥ जैसे भृङ्ग मोह से तत्त्वाय (कीटता के लिये) कीट में मन लगावे, तैसे ये मूढ भी मोह से विषयादि में मन लगाते हैं ॥१०॥

मोह से संसार में अत्यन्त दुःख का भार ही बार २ होता है, और सब मोहवाले मोह दुःख के वेग से अत्यन्त दीन पीडित होते हैं ॥११॥ इससे सत्य असत्यादि वस्तु को यथार्थ रूप से विवेक करके ही मुक्ति विषयक यत्न करो, मनके पीछे नहीं चलो ॥१२॥ अप्रशुद्ध मन को सब

१ 'न च पुनरावर्तते'। छा० ८।१५।१॥ 'तेषां न पुनरावृत्तिः'। बृ० ६।२।१५॥ 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। भ० गी० १५।६॥ धाम-शब्दार्थ आत्मैव ॥ 'इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये। सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते'॥ म० भा० अश्वमेधप० अ० ४४।२१॥

भौ अति गरु जे दुख के भारी। करु जिय यतन जो देखु विचारी॥
मन की बात है लहर विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥

अप्रशुद्धं मनो विद्धि सर्वानर्थस्य भाजनम्।
भवाब्धि तत्र जायन्ते कामाद्या वीचयः सदा॥१३॥
विकाराश्चेह कल्लोलास्तैर्ब्रुडन्ति कुबुद्धयः।
दृश्यते नास्य पारश्च भङ्गैर्नानाविधैरिह॥१४॥
मनःसंकल्पसंभूता काङ्क्षैव भवसागरः।
सम्पन्नस्तत्र सर्वात्मा राम [1]एव तरिर्दृढा॥१५॥
सर्वस्याधारभूतोऽसौ सर्वस्य परमः प्रियः।
तस्यैवाज्ञानतः कामस्ततोऽयं [1]भवसागरः॥१६॥

अनर्थ का पात्र संसार समुद्ररूप जानो, उसमें कामादिरूप वीचि (तरंग) सदा होते हैं॥१३॥ मन का विकार (परिणाम) वा जन्मादि रूप विकार ही यहाँ कल्लोल (महा तरंग) हैं। उनके कुबुद्धि लोक डूबते हैं। और नाना प्रकार के भंग (तरंग) से ही इस संसार का यहाँ पार नहीं दीखता है॥१४॥

मन के संकल्प से सिद्ध इच्छा ही भवसागर सिद्ध हुआ है, उसमें सर्वात्मा राम ही दृढ नौका हैं॥१५॥ वह राम ही सबका आधार स्वरूप हैं, सबका परम प्रिय (आत्मा) हैं, उसी राम का अज्ञान से संकल्प पूर्वक काम (इच्छा) होता है, तिससे यह भवसागर (जन्म मरणादि) होता है॥१६॥

१ 'ए शब्दो विश्ववचनो वश्चापीश्वरवाचकः। विश्वेषामीश्वरो योहि तेन रामः प्रकीर्तितः'॥ ब्रह्मवैवर्तपु०॥ शुद्धात्मा तु राम शब्दस्य लक्ष्यार्थ एव, निर्गुणो हि स्वरूपेण सर्वविद् भवति, ईश्वरस्तु मायावृत्त्येति विशेषः। निर्गुण एव तत्तद्गुणोपाधिविवक्षया ब्रह्मविष्णवादिशब्देनाप्यभिधीयते। अवतारास्तु सगुणात् सगुणा भवन्ति, भक्तभक्त्यधीना शैत्याधीना जले हिमतेवेत्यादि॥

साखी ।

इच्छा करि भवसागरे, वोहित राम अधार ।
कहहिं कबिर हरि शरण गहु, गोखुर वछ विस्तार ॥ २० ॥

गतानां शरणं तस्य सर्वोऽयं भववारिधिः ।
वत्सीयखुरवत्सद्यः स्ववतारो भवेद् ध्रुवम् ॥१७॥
युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ।
दूरसंत्यक्तयुक्तेस्तु महामत्तार्णवोपमः ॥१८॥
इच्छाकृतोऽयं ननु ते भवार्णव आधाररूपो हरिरत्र नौस्तव ।
तस्यैव सम्यक् शरणं प्रपद्यतां भजेत्तदा वत्सखुरेण तुल्यताम् ॥
॥१९॥२०॥

तिस राम का शरण (स्थान रक्षण) को प्राप्त लोकों का यह सब भवसागर बछड़ा का खुर तुल्य शीघ्र सुख से तरने योग्य अवश्य होगा ॥१७॥ योगवासिष्ठ प्र० ४।५७।३७ में लिखा है कि, युक्ति से चलनेवाला विद्वान् का संसार गोपद के समान है, और युक्ति को दूर त्यागनेवाला का महा उन्मत्त समुद्ररूप है ॥१८॥ इच्छाकृत ही यह तेरा भवार्णव (संसार) है, यहाँ तेरा आधार रूप नौका हरि हैं, उन्हीं का शरण सम्यक् पकड़ो, तो यह वत्सखुर की तुल्यता को प्राप्त होगा ॥१९॥२०॥

अक्षरार्थ– हे अविनाशी जीव ! जो समय गया सो गया, अब भी अविनाशी राम का नाम कहो (भजो) और उस राम रूप हरि (दुखःहर्ता) को छोड कर कहीं नहीं जावो ॥ क्योंकि हरि विना तुम अग्नितुल्य जिस विषय लोकादि में जाहु (जाते हो) वहाँ ही पतङ्गतुल्य होते हो (उन के सङ्ग से नष्ट होते हो) । अब समझ कर भी विषयों के सङ्ग करके नहीं जलो (नहीं नष्ट होवो) ॥

विवेकियों ने रामनाम में लौ (प्रेम) लगाकर सो (उस) राम को ही लिया (प्राप्त किया) और कीट जैसे भृङ्गी (भृङ्ग) को समझ कर

उसमें मन देता है, लगाता है। और तद्रूप ही हो जाता है। तैसे विवेकी लोक राम में मन लगा कर राम ही हो गये॥ अथवा अविवेकियों ने राम के 'नाम मात्र में प्रेम लगा कर सो (विषयाग्नि) हृदय से लिया, और जैसे भृङ्ग ही भ्रम से कीट को ध्येय समझकर उसमें मन लगावे, तैसे ये लोक माया विषयादि को ध्येयादि समझकर उनमें मन दिया (लगाया), स्वयं आनन्दस्वरूप होते उनसे आनन्द चाहा, इत्यादि॥

विषयाग्नि के सम्बन्ध से ही दुःखों के अत्यन्त भारी गरु (बोझ) प्राप्त हुआ है, इससे अपने जिय (मन) में विचार कर जो सुखद कार्य देखो (समझो) उसे करो, समझ कर सुखद मार्ग से चलो। करने चलने के लिये यत्न समझ कर करो। और विचारादि रहित अपने मन की बात (समझ-व्यवहार) विकार स्वरूप (दुःखद) लहर (तरंग-ज्वाला) रूप है, और ते (तिसीसे) संसार समुद्र के वार पार कुछ नहीं सूझता (दीखता) है। इससे विचारपूर्वक यत्न करो॥

अशुद्ध मन से जो जीव ने इच्छा किया, सोई इसके लिये भवसागर हुआ, अर्थात् इच्छा से संसार हुआ, सबका आधार रूप राम ही इसमें वोहित्त (नौका) है। इससे साहब का कहना है कि अन्य इच्छाओं को त्याग कर, अब भी उसी हरि (राम) की शरण पकड़ो, तो यह संसार का विस्तार गौ का वछड़ा का खुर तुल्य सुख से तरने योग्य होगा। इसमें डूबने का भय नहीं रहेगा, इत्यादि। "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं प्रोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मनमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः"। मण्डूक० २।२।५ जिसमें स्वर्गादि और सब प्राण सहित मन प्रोत (स्थित) हैं, उसी एक आत्माराम को जानो, अन्य वाणी को छोड़ो, यह आत्मा ही मोक्ष का आधार है॥२०॥

रमैनी २१

बहुते दुःख दुःख की खानी । तब बचिहहु जब रामहिं जानी ॥
रामहिं जानि युक्ति जो चलई । युक्तिहिं ते फन्दा नहिं परई ॥

अनन्तदुःखरूपेयमिच्छा दुःखाकरात्मिका ।
तज्जन्योऽयं भवस्तद्वद् दुःखमेव न संशयः[1] ॥२०॥
भक्त्या ह्यनन्यया रामं ज्ञात्वैवास्मात्सुदुःसहात् ।
सद्युक्त्या मुच्यते सम्यग् गुरुवाक्येन लब्धया ॥२१॥
रामं ज्ञात्वा सुयुक्त्या यस्त्वमानित्वादिरूपया ।
सम्यग् याति विवेकेन स बन्धं बाधते तया ॥२२॥
युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य शान्तिदान्त्यादिनिष्ठया ।
वर्द्धते ज्ञानवह्निर्वै यदि मन्दो भवेदसौ ॥२३॥
अपरोक्षानुभूतित्वं दृढं प्राप्य स एव तु ।
पापं दहति वै सर्वं भवबीजं भयावहम् ॥२४॥

यह इच्छा अनन्त दुःखरूप और दुःख का आकर (खानि) है, और उससे जन्य (उत्पन्न) यह संसार भी दुःख ही है, इसमें संशय नहीं है ॥२०॥ अनन्य भक्ति और गुरु वचन से प्राप्त श्रेष्ठ युक्ति से राम को सम्यक् (अच्छी तरह) जान करके ही इस अति दुःसह संसार से मुक्त होता है ॥२१॥ जो कोई अमानित्वादि रूप सुन्दर युक्ति से राम को जानकर विवेक से सम्यक् चलता है (कहीं जाता है, राम को प्राप्त करता है) सो उस युक्ति से ही बन्धन को नष्ट करता है ॥२२॥ शान्ति दान्ति में प्रेम स्थितिरूप युक्ति से चलनेवाला ज्ञानी की ज्ञानाग्नि यदि मन्द भी रहती है, तौ भी वह अवश्य बढती है ॥२३॥ फिर वही दृढ अनुभूतिरूपता को पाकर भयदायक संसार का बीजरूप सब पाप को जलाती है ॥२४॥

---

१ 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' । योगसूत्र० पाद० २।१५।

युक्तिहि युक्ति चला संसारा । निश्चय कहा न मानु हमारा ॥
कनक कामिनी घोर पटोरा । सम्पति बहुत रहल दिन थोरा ॥

सर्वे संसारिणश्चेह कान्ताकनककामुकाः ।
स्वयुक्त्या विचरन्तीह [1]गुरूक्तं सन्न मन्वते ॥२५॥
कनकं कामिनीमश्वं वासांसि विविधानि च ।
सम्पाद्यैव समे लोकाः सम्पत्तिं मन्वते पराम् ॥२६॥
न चिरं वर्तते साऽत्र तिष्ठत्यत्यल्पवासरान् ।
चौरादिभयसंयुक्ता दुःखमुक्ता न कर्हिचित् ॥२७॥
दुःखहानाय सम्पाद्य दुःखमूलमनर्थदाम् ।
अहो मूढतमो लोक एनयैवोन्मदायते ॥२८॥
निर्गर्वत्वं सुसम्पत्तौ वैदुष्येऽपि सुनम्रता ।
शक्तौ दानादिशीलत्वं यस्यास्ति मुक्त एव सः ॥२९॥

इस संसार में सब संसारी स्त्री सुवर्ण के कामुक (इच्छायुक्त) होकर अपनी युक्ति से विचरते हैं, गुरु से कथित सत्य को नहीं मानते हैं ॥२५॥ सुवर्ण स्त्री घोड़ा और अनेक प्रकार के वस्त्र का संपादन (उपार्जन, संग्रह) करके ही सब लोक उसको श्रेष्ठ सम्पत्ति मानते हैं ॥२६॥ वह सम्पत्ति यहाँ देर तक नहीं ठहरती है, अत्यन्त थोड़े दिन ठहरती है, और सदा चौरादि के भय से युक्त रहती है, कभी दुःख रहित नहीं होनी है ॥२७॥ आश्चर्य है कि अत्यन्त मूढ लोक दुःख का मूल रूप अनर्थ देनेवाली का दुःख नाश के लिये संपादन करके इसी सम्पत्ति से उन्मदिष्णु (पागल) के समान आचरण करता है ॥२८॥ सुन्दर सम्पत्ति होने पर गर्व रहितता, विद्वत्ता होते भी सुनम्रता, शक्ति (बल प्रभाव कोशादि) होने पर दान-रक्षा आदि का जिसको स्वभाव है सो मुक्त ही है ॥२९॥

१. 'आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं साधयति' । छा० ४।९।३।

थोरे हिं सम्पति गौ बौराई । धर्मराय की खबरि न पाई ॥
देखि त्रास मुख गौ कुम्हिलाई । अमरित धोखे गौ विष खाई ॥

अल्पयैव हि सम्पत्त्या मदान्धाः सर्वेदुर्जनाः ।
उन्मत्ता[1] अभवन्नैव सन्मार्गं तेऽविदुः क्वचित् ॥३०॥
उन्मत्तत्वान्न ये मूढाः संजज्ञुरन्तकस्य हि ।
वृत्तान्तमतितीव्रं ते त्रेसुर्दृष्ट्वैव तं भृशम् ॥३१॥
अशुष्यंश्च मुखान्येषां शुशुचुस्ते तदा तथा ।
अहो पीयूषबुद्ध्यैव भक्षितं विषमुल्बणम् ॥३२॥
विषयाऽऽख्यं नचात्माऽसौ हरिर्ज्ञातो महाऽमृतम् ।
भुज्यतेऽफलमस्माभिः[1] कृतं न सुकृतं यतः ॥३३॥

सब दुर्जन लोक अल्प सम्पत्ति से ही मदान्ध उन्मत्त ही हुए, वे लोक सत मार्ग कहीं नहीं समझे ॥३०॥ जो मूढ लोक उन्मत्त होने से यमराज के अत्यन्त तीव्र (दृढ) वृत्तान्त (वार्ता वा प्रकार) को प्रथम अच्छी तरह नहीं समझे, वे लोक उसे देख करके ही अत्यन्त डर गये ॥३१॥ इन लोकों के मुख उस समय सूख गये, और वे लोक सोचने लगे कि हम लोकों ने अमृत बुद्धि (समझ) से विषय नामक उल्बण (स्पष्ट-प्रत्यक्ष) विष खाय लिया। और महा अमृत आत्मारूप उस हरि को नहीं समझा, और जिससे सुकृत (पुण्य) भी नहीं किया, इसीसे अफल (प्रतिषिद्ध-निन्दित फल) भोगते हैं ॥३२-३३॥

१ 'विषयो बहुलः कस्य चेतः संक्षोभदो नहि । अपि ब्रह्मविदां चित्तं क्षोभयेत् किं कुटुम्बिनाम् ॥ दरिद्रो धर्मविज्ञानगन्धेन रहितोऽपि यः । न सोपि कुरुते पापं धर्मज्ञः किं पुनः पुमान्' ॥ आत्मपु० ५।६१-७१॥ 'श्रीमान् जननिन्द्यश्च शूरश्चाप्यविकत्थनः । समदृष्टिः प्रभुश्चैव दुर्लभाः पुरुषास्त्रयः' ॥ योगवा० १।१३।११

पश्चात्ताप और मुख सूखने में यह वक्ष्यमाण भी कारण है, क्योंकि–

साखी ।

मैं सिरजौं मैं मारऊं, मैं जारौं मैं खाँव ।
जल थल नभ महँ रमि रहौं, मोर निरञ्जन नाँव ॥२१॥

सत्ताप्रकाशमायाभिः सर्वकारी निरञ्जनः ।
कर्माद्यैर्यमरूपेण[1] सदा भाति च वक्ति च ॥३४॥
सृजाम्यहमिदं विश्वं मारयामि चराचरम् ।
संदह्य प्रलये सूर्यैरद्मि सर्वं न संशयः ॥३५॥
सर्गकाले जलं भूमिमाकाशं च जगत्त्रयम् ।
व्याप्यैवात्र सुवर्तेऽहं मन्नामास्ति निरञ्जनः ॥३६॥
पापिनां दण्डदश्चाहं धन्येभ्योऽहं च नाकदः ।
भव्यानां भोगदश्चाऽस्मि ज्ञानान्मोक्षो ह्यवाप्यते ॥३७॥

अपनी सत्ता प्रकाश माया द्वारा सब संसार को रचनेवाला निरञ्जन (माया के अवशीभूत ईश्वर) ही जीवों के कर्मादि से सदा यमरूप से प्रतीत होता है, और कहता है कि मैं इस विश्व को सिरजता (रचता) हूं, चराचर प्राणी को मारता हूं, प्रलय काल में सूर्यों द्वारा संदग्ध करके (पका कर) खाता हूं, इसमें संशय नहीं है ।३४–३५॥ सृष्टिकाल में जलादि और तीन लोक को व्याप्त करके ही यहाँ अच्छी तरह रहता हूं, निरञ्जन यह मेरा ही नाम है ॥३६॥ पापी को मैं दण्ड देने वाला हूं, और धन्यों (पुण्यवानों) के लिये नाक (स्वर्ग) दाता हूं । भव्य (योग्य शुभ) पुरुषों को भोग देता हूं, और ज्ञान से ही मोक्ष

१ ज्ञानी को न यमादि भासते हैं, न किसीसे भय होता है; क्योंकि ज्ञानी का निश्चय रहता है कि, 'किं करिष्यति मे मृत्युर्मृत्योरात्मस्वरूपिणः । न ह्यसावात्मनाऽऽत्मानं हन्तुमीष्टे कथञ्चन । ' आत्मपु० अ० १।६६४ 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति । ' बृहदा० १।४।१०

ज्ञानं विना नैव विमुच्यते नरो ज्ञानं नहि स्याच्च शमादिकं विना ।
वैराग्यहीनस्य शमादिकं न च न दोषदृष्ट्यादि विना विरक्तता ॥३८
सम्पन्मदैर्मत्तधियो न दोषान् पश्यन्ति न स्वान्तवशे चरन्तः ।
तेभ्योऽपि तेषां परिदर्शनार्थं सम्यग्घ्युवाचात्र गुरुर्दयालुः ॥
॥३९।२१॥

मिलता है ॥३७॥ ज्ञान विना मनुष्य मुक्त नहीं होता, और ज्ञान शमादि साधन विना नहीं होता, और वैराग्य रहित को शमादिक नहीं होते, दोषदृष्टि (दोष का ज्ञान) आदि विना विरक्तता (वैराग्य) नहीं होती ॥३८॥ सम्पत्ति के मद से मतवाली बुद्धिवाले विषयादि के दोषों को नहीं देखते हैं, न अपने मन के वश में चलनेवाले ही दोषों को देखते हैं। उन लोकों के प्रति भी उन दोषों का दर्शन कराने के लिये दयालु गुरु यहाँ उन दोषों को अच्छी तरह कहा है ॥३९॥

अक्षरार्थ– इच्छाजन्य संसार बहुत प्रकार का भारी दुःखरूप है, यह दुःख की खानि (आकर) रूप है, इस दुःखरूप दुःख की खानि संसार से तब ही बचोगे, कि जब अन्य सब की आशा आदि को त्याग कर एक राम ही को ध्येय ज्ञेय सत्यात्मा जानोगे ॥ गुरु विचारादि द्वारा राम को जानकर भी जो कोई सद्युक्ति से अहिंसा सत्यादि धारणा से मान दम्भादि रहित होकर चलता (विचरता-व्यवहार करता) है, सो उन युक्तियों से ही फिर कहीं मनोमाया के जाल में नहीं पड़ता (फंसता) है, युक्ति से ज्ञानाग्नि को दीप्त करके फन्दों को नष्ट करता है; अन्यथा नहीं ॥

जिस युक्ति से भवबन्धन छूटता है, सो युक्ति सद्गुरु आदि से मिलती है, और यह संसारी जीव अपने मन से कल्पित युक्ति से चलता है; परन्तु हमारा (सद्गुरु आदि का) कहा (उपदेश) को निश्चय करके नहीं मानता है। या निश्चय (यथार्थ) सद्गुरु का कहा नहीं मानता है। अथवा जैसे उचित युक्तियों से ही संसार का, व्यवहार चलता है, तैसे

भवफन्द भी सद्युक्ति से छूटता है, इस हमारा कथन को अविवेकी निश्चय करके नहीं मानता है। और जबतक नहीं मानता है, तबतक भवफन्द से नहीं बच सकता। क्योंकि अपनी युक्ति से चलनेवाला कनक, कामिनी, घोड़ा, पटोर (वस्त्रविशेष) को ही बहुत सम्पत्ति समझता है, उनके लिये युक्ति करके उनकी प्राप्ति करता है। परन्तु वह बहुत सम्पत्ति बहुत थोड़े ही दिन इस जीव के पास में रही और रहती है। जिन शमदमादि-रूप सम्पत्तियों से अविनाशी सुख मिलता है, उनका मर्म यह नहीं जानता है।

उन कनकादिरूप थोड़ी (तुच्छ) सम्पत्तियों से ही अविवेकी लोक बौराय गये। कर्तव्य को छोड़ कर अकर्तव्य में प्रवृत्त हुए। इससे धर्मराज (लोकनियन्ता-ईश्वरविशेष) की खबर इन लोगों ने नहीं पाई (धर्मराज के न्यायादि का इन्हें होश नहीं रहा) तथा धर्मराज की खबर नहीं पाने से थोड़ी सम्पत्ति से बौरा कर परपीड़ा आदि करने लगे॥ परन्तु जब अन्तकाल आया तब अपने पापादि के अनुसार यमराज को देखते ही त्रास (भय) हुआ, और मुख कुम्हिला (सूख) गया। और पश्चात्ताप करने लगे कि, अरे हमने तो अमृत के धोखे (मिथ्या विश्वास) से विषयविष को खा लिया; अथवा जिन्हों ने अमृत के धोखे में विष खाया, उनका ही मुख यम को देखकर मलीन होता है, अन्य का नहीं।

वह धमराज पापी विषयासक्त से कहता है कि मैं ही सब को सिरजता हूं (पैदा करता हूं) और मारता हूं, और महाप्रलय में सूर्याग्नि से पका कर खाता हूं, लीन करता हूं। और जल, पृथिवी, आकाश में सर्वत्र रमा (व्यापक) हूं। और मेरा ही निरञ्जन (असङ्ग ईश्वर) नाम है, इत्यादि॥ २१॥

रमैनी २२

अलख निरञ्जन लखै न कोई। जेहि बन्धे बन्धा सब कोई॥
जेहि झूठे बन्धाय अयाना। झूठी बात सांच कै माना॥

मन्दप्रज्ञैरलक्ष्योऽयं सर्वाहारी निरञ्जनः।
केऽप्यतस्तं न पश्यन्ति बन्ध्यन्ते येन बन्धनैः ॥४०॥
तस्यैव [1]मायया ह्यज्ञा मनसा चातियन्त्रिताः।
प्रपञ्चे ह्यनृते सक्तास्तथ्येन मेनिरेऽनृतम् ॥४१॥
वितथे तथ्यबुद्ध्या ते स्वात्मनो बन्धनप्रदान्।
चक्रिरे व्यवहारांश्च नैव जातु विमुक्तिदान् ॥४२॥

('यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थावेद यत्र सः॥' कठ० १।२।२४) इत्यादि श्रुति के अनुसार, जिसके ब्राह्मण क्षत्रियादि सब संसार ओदन (भात) है, और मृत्यु उपसेचन (दाल) है, जिसका स्थान को इदम् इत्थम्, रूप से कोई नहीं जानता है, सोई सब आहारवाला सर्वनाशक यह निरञ्जन देव मन्दबुद्धि लोकों से अलक्ष्य (अज्ञेय) है। इसीसे उसको कोई नहीं जानते हैं, जिससे बन्धनों से बाँधे जाते हैं ॥४०॥ उसीकी माया और मन से ही अत्यन्त नियन्त्रित (बँधे हुए) अज्ञानी लोक झूठ प्रपञ्च (विस्तार भ्रम) रूप संसार में आसक्त होकर झूठ को तथ्य (सत्य) रूप से मानने लगे ॥४१॥ और वितथ (झूठ) वचन में ही सत्य बुद्धि से वे लोक अपने बन्धन के हेतु व्यवहारों को किये। कभी मुक्तिदायक व्यवहार नहीं किये ॥४२॥

१ 'अहिते हितसंज्ञः स्यादध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः। अनर्थे चार्थविज्ञानः स्वमर्थं यो न वेत्ति सः॥ पश्यन्नपि प्रस्खलति शृण्वन्नपि न बुध्यति। पठन्नपि न जानाति देवमायाविमोहितः॥ इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम्। एवमीहासमायुक्तं कृतान्तः कुरुते वशम्॥' गरुडपु० अ० ४९।३३-३४-४०॥ 'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥' मनुः १२।११९॥

धन्धा बन्धा किन व्यवहारा। कर्मविवर्जित बसै निआरा ॥
षट दर्शन औ आश्रम कीन्हा। षट रस बात षट वस्तु हि चीन्हा ॥

अहो ! तेऽद्यापि सत्कर्मभक्तिज्ञानविवर्जिताः।
गोचरेषु वसन्त्यज्ञैर्नैव तिष्ठन्ति सत्सु च ॥४३॥
सद्भ्योऽन्यत्रैव ये स्थित्वा चक्रिरे दर्शनानि षट्।
आश्रमान् षड्विधां चर्चां षड् वस्तूनि च भेजिरे ॥४४॥
ते वेदांश्चतुरोऽधीत्य षडङ्गानि प्रपठ्य च।
विचार्य विविधां विद्यां नात्मानं न यमं विदुः ॥४५॥
विचार्याप्यागमान् सर्वान् यावत्स्वं नो विदुर्यमम्।
नैवास्य दृश्यते तावत् पारावारं हि तैरिह ॥४६॥
कामं कुर्वन्तु तीर्थानि जपं च व्रतपूजनम्।
दानं पुण्यानि चान्यानि नैतैरस्ति विमुक्तता[१] ॥४७॥

आश्चर्य है कि वे लोक आज भी सत कर्म भक्ति ज्ञान से रहित होकर अज्ञों के साथ विषयों में बसते हैं, और सतपुरुषों में, सत्कर्मादि में नहीं रहते हैं ॥४३॥ जो लोक सतपुरुषादि से अन्यत्र रह कर छौ दर्शन के वेषादि किये, आश्रमों के चिन्ह बनाये, छौ प्रकार के चर्चा (विचारणा-बात) किये और छौ वस्तु को भजे (सेवे)। वे लोक चार वेद का अध्ययन, छौ अङ्गों का प्रपठन, विविध विद्या का विचार करके भी आत्मा वा यम को नहीं जान सके ॥४४-४५॥ जो लोक सब आगम को विचार कर भी जबतक आत्मा को वा यम को नहीं जानते हैं, तब तक उन लोकों से यहाँ इस संसार का पारावार (तट) नहीं देखा जाता है ॥४६॥ वे लोक यथेष्ट तीर्थ जप व्रत पूजा दान अन्य पुण्य करें, परन्तु उनसे

१ 'न तीर्थानि न दानानि न व्रतानि नचाश्रमाः। दुष्टाशयं दम्भरुचिं न पुनन्त्यजितेन्द्रियम्' ॥ ब्रह्मपु० २३।५॥ 'रागाद्युपहिते चित्ते व्रतादि क्रियते हि यत्। तद् दम्भः प्रोच्यते तस्य फलमस्ति मनाङ् न च' ॥ योगवा० ३।६।२३॥

चारि वृक्ष छौ सखा बखानै। विद्या अगणित गणै न जानै ॥
औरौ आगम करै विचारा। ते नहिं सूझै वार न पारा ॥

मृत्योः कदर्थनां ज्ञात्वा वैराग्यज्ञानमन्तरा।
न कश्चिन्मुच्यते जन्तुर्दृढाद्धि भवबन्धनात् ॥४८॥
शरीराख्यगृहं चेदं स्नेहेनैवेह जायते[1]।
तत्र केऽपि न गच्छन्तु द्रुतं मोहेन जन्तवः ॥४९॥
ये विशन्त्यत्र मोहेन सुखं मत्वा कुबुद्धयः।
आसक्ताश्च भवन्त्यत्र पुनर्व्यर्थं व्रजन्ति ते ॥५०॥
उत्तमाङ्गो महानात्मा तमप्राप्यैव गच्छताम्।
मानुष्यं निष्फलं नूनमेवं जन्मान्तराणि च ॥५१॥
नान्यत्र ज्ञानतपसो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति मानवः ॥५२॥

मुक्ति नहीं है ॥४७॥ मृत्यु की पीडा को जान कर, वैराग्य ज्ञान के विना कोई जीव दृढ भवबन्धन से मुक्त नहीं होता है ॥४८॥

यह शरीर नामक घर स्नेह से ही यहाँ होता है, उसमें कोई जीव मोह से शीघ्र नहीं जायँ ॥४९॥ जो कुबुद्धि इस में सुख मान कर मोह से पैठते हैं, और इसमें आसक्त होते हैं, सो व्यर्थ ही फिर जाते हैं ॥५०॥ महान् (विशाल) स्वरूप आत्मा ही उत्तमाङ्ग (शिर) है, उसको पाये विना जानेवालों की मनुष्यता निष्फल है, और इसी प्रकार जन्मान्तर भी निष्फल हैं ॥५१॥ ज्ञानयुक्त तप से अन्य में तथा इन्द्रिय-निग्रह से सबको सम्यक् त्याग से अन्य में मनुष्य सिद्धि (कल्याण)

१ वीतराग जन्माऽदर्शनात्। न्यायद० ३।१।२५। को गृहेषु पुमान् सत्यमात्मानमजितेन्द्रियम्। स्नेहपाशैर्दृढै र्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ भा० स्क० ७।६।९। निःस्नेहो याति निर्वाणं स्नेहोऽनर्थस्य कारणम्। निःस्नेहेन प्रदीपेन यदेतत्प्रकटीकृतम्। सुभाषितभा०॥

जप तीरथ व्रत कीजै पूजा। दान पुण्य कीजै बहु दूजा॥

साखी।

मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठु धाय।
जो कोइ पैठु धाय के, विनु शिर सेंति हि जाय॥२२॥

ज्ञानाऽज्ञानैः स्नेहजालः कृतोऽत्र कृत्वा देहं तत्र बद्ध्वा क्षिपेद्धि।
तस्मात् स्नेहं सर्वयत्नेन हित्वा त्वात्मारामोऽन्वेषणीयः सदैव॥५३॥
दृष्टं स्याच्चेत्क्षणमप्यस्य रूपं सर्वं बन्धं सनिदानं दहेत्सः।
संसारेऽस्मिञ्छमनो हन्त्यवश्यं बद्ध्वा स्नेहैः कुगुणैरन्यथा वै॥
॥५४॥२२॥

इति हनुमद्दासकृते रमैनीरसोद्रेके रामभक्त्यादि विना दुःखयातनादिवर्णनं नाम नवमः प्रवाहः॥ ९॥

नहीं पाता है॥५२॥ ज्ञान वा अज्ञान से जो स्नेहरूप जाल किया जाता है, सो यहाँ देह बना कर और बाँध कर, उस देह कारागार में डार देता है। तिससे सब उपाय द्वारा स्नेह को त्याग कर, फिर सदा आत्माराम ही खोजने योग्य है॥५३। इस आत्माराम का स्वरूप क्षणमात्र भी यदि प्रत्यक्ष होगा, तो वह आत्माराम कारण सहित सब बन्ध को जला देगा; अन्यथा तो शमन (काल) ही स्नेह रूप दुष्ट रस्सी से बाँध कर अवश्य ही इस संसार में मारता है॥५४॥

अक्षरार्थ– वह निरञ्जन अज्ञों से बाह्य इन्द्रियों से अलख (अज्ञेय-अदृश्य) है। इसीसे उसे कोई नहीं लखता (देखता) है। और जेहि बन्धे (कर्मानुसार जिसके बन्धन में) सब कोई बँधा है। वह परमात्मा भी उन्हीं को बांधता है, कि जेहि (जो) अयान (अज्ञ) स्वयं झूठे में बन्धे (आसक्त) हैं, और विवेकादि विना जो झूठी बात को सांच करके मानते (समझते) हैं॥ और जिन्हों ने बन्धा (बन्धन रूप)

धन्धा (कार्य-कर्म) का व्यवहार-आचरण किया है, और अवश्य कर्तव्य सत्कर्मों से विवर्जित (रहित) रह कर, जो सत्पुरुषादि से न्यारा ही बसते हैं, उन्हें ही यमराज बांधता है, अन्य को नहीं ॥

जिन्होंने छौ दर्शन (मत-धर्म) का और [1]आश्रम का धारण किया, वेषादि बनाया; परन्तु एक सत्य बात सत्य वस्तु को नहीं पहचान कर, षट रस (छौ प्रकार शक्ति स्वभाव) युक्त बात को और वस्तु को सत्य समझा, उन्हें भी यम बाँधता है ॥ और जो लोक चार वृक्ष (वेद) और छौ शाखा (वेदाङ्ग-व्याकरणादि शास्त्र) का व्याख्यान करते हैं, और अगणित (अनन्त-असंख्य) विद्याओं को गिनते (विचारते) हैं। परन्तु एक सत्यात्मा राम को न जानैं (नहीं जानते हैं), न यमराज को याद रखते हैं ॥ और वे लोक और भी अनेक आगमों (तन्त्रग्रन्थों) का विचार करते हैं, चाहे करें; परन्तु मिथ्या वस्तु का स्नेहादि को त्यागने विना, ते (उन वेद-व्याख्यानादिकों से) संसार-सागर का वारपार (तट-आत्मा) नहीं सूझ (प्रत्यक्ष हो) सकता है ॥ झूठों में स्नेहादि का त्याग आत्मज्ञानादि विना, चाहे जप, तीर्थ, व्रत, पूजा करे, या दूजा (दूसरा) दान पुण्य भी बहुत करें, तौभी संसार का बारपार नहीं सूझ सकता है ॥ अथवा जपादि करो, परन्तु स्नेह भी त्यागो । क्योंकि-

यह देहरूप मन्दिर अज्ञानजन्य नेह (स्नेह) राग का कार्यरूप है। इसमें कोई धाय (दौड़) कर मति (नहीं) पैठो (इससे

---

१ 'षट् दर्शन षट आश्रम कीन्हा। षट रस वस्तु खोंट सब चीन्हा।' यह पाठान्तर है, तब योगी आदि छौ दर्शन वर्णित ही है, ब्रह्मचर्यादि चार आश्रम प्रसिद्ध है। और (वैष्णवः पञ्चमाश्रमः। कौलः स्यात्पञ्चमाश्रमः) इस वैष्णव कौलतन्त्र के वचनानुसार, वैष्णव कौल सहित षट् आश्रम होता है। खोंट मिथ्या को कहते हैं ॥

रहित होने का यत्न करो, इसमें आसक्त नहीं होवो); क्योंकि जो कोई इसमें दौड़ कर पैठता (आसक्त होता) है, सो सेंति (व्यर्थ) ही बिना शिर के होकर जाता है, आत्मप्राप्ति विना व्यर्थ मरता[1] हैं ॥२२॥

संसार की असारता प्रकरण ॥१०॥

व्यर्थ ही शिर कटा कर जाता है, इस अर्थ को सुन कर शंका हुई कि व्यर्थ ही कैसे जाता है, बहुत प्रकार के सुख तो भी मिलता है, तब इसकी निवृत्ति के लिये कहते हैं कि—

रमैनी २३

अलपे सुख दुख आदि हु अन्ता । मन भुलान मैगर मै मन्ता ॥

दुःखग्रस्तमिदं सर्वं सौख्यमल्पं तु वर्तते ।
[2]आदावन्ते च सौख्यस्य नामापीह न लक्ष्यते ॥ १ ॥

यह सब जगत् दुःखों से ग्रस्त है, सुख तो अल्प है। और आदि अन्त (जन्ममरण) के समय सुख का नाम भी नहीं दीखता है ॥ १ ॥

१ यद्यपि यहाँ यह अर्थ भी हो सकता है, कि सत्यात्मा राम का मन्दिर (हृदय) प्रेम से मिलने का है, तिस प्रेम के विना कोई दौड़ कर नही पैठो) जो कोई दौड़ कर भी पैठता है, सो बिना शिर से ही जाता है (सब अभिमान छोडने पर पहुचता है), अन्यथा नही; तथापि यह अर्थ प्रसंग के अनुसार नहीं है ॥

२ ‘ निष्कामन् भृशदुःखार्तो रुदन्नुच्चैरधोमुखम् । यन्त्रादिव विनिर्मुक्तः पतत्युत्तानशाय्यथ ॥’ वार्तिक आनन्दव० १।१८९। ‘कोट्यर्द्धसहितास्तिस्रः कोट्यः सूच्यः सुतीक्ष्णकाः । यादृक् शारीरिणः कुर्युस्तादृग्दुःखं मृतौ नृणाम् ॥’ आत्मपु० अ० १।५७६॥ इत्यादि बचनों में जन्ममरण के दुःखों का वर्णन है ॥

सुख विसराय मुक्ति कहँ पावै । परिहरि साँच झूठ कहँ धावै ॥
अनल जोति दाहै एक संगा । नयन नेह जस जरै पतंगा ॥

हा ! तथापि मनश्चेदं महोन्मत्तो मतङ्गजः ।
दुःखानि खलु विस्मृत्य धत्ते सौख्याभिमानिताम् ॥ २ ॥
यदि नेदं स्मरेत् सौख्यमभिमानं विवर्जयेत् ।
प्राप्नुयाद्धि तदा मोक्षमक्षयां शान्तिमेव च ॥ ३ ॥
मनश्चेदं सुखं सत्यं त्यक्त्वैव कुरुते रतिम् ।
असत्ये मुच्यते नातः सुदृढाद् भवबन्धनात् ॥ ४ ॥
यं ध्यायति मनश्चेदं, तेनास्यैकोऽत्र सङ्गमः[1] ।
ओषयेद् दह्यते तस्मान्नेत्रस्नेहात्पतङ्गवत्[2] ॥ ५ ॥

खेद है कि तो भी महा उन्मत्त हाथी रूप यह मन दुःखों को सर्वथा भूल कर सुख के अभिमान को धारण करता है ॥ २ ॥ यदि यह मन सांसारिक सुख का स्मरण नहीं करे, अभिमान को छोड़े, तो अवश्य मोक्ष और अक्षय शान्ति को भी पावे ॥ ३ ॥ परन्तु यह मन तो सत्य सुख को ही त्याग कर असत्य में रति (प्रेम) करता है, इसीसे सुदृढ भवबन्धन से भी मुक्त नहीं होता है ॥ ४ ॥

जिस असत्य का यह मन ध्यान करता है, उसके साथ जो यहाँ इस जीव को संगम (संग) ही ओषयेत् (जला सकता है) तिसीसे नेत्रजन्य स्नेह से पतङ्ग के समान यह दग्ध होता है ॥ ५ ॥

१ 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥' भ० गी० २।६२॥

२ 'स्नेहपाशैबहुविधैरासक्तमनसो नराः । प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकतवेश्मवत् ॥' म० भा० शा० २९८।३५॥.

करु विचार जे सब दुख जाई । परिहरि झूठा केर सगाई ॥
लालच लागे जन्म सिराई । जरा मरण नियरायल आई ॥

असत्यैः सङ्गमं त्यक्त्वा [1]विचारः स विधीयताम् ।
येन दुःखानि सर्वाणि समूलानि भवन्ति नो ॥ ६ ॥
असत्यस्यैव [2]लोभेन जन्मानि सुबहूनि ते ।
व्यतीतानि पुनर्मृत्युर्जरा चोत्तिष्ठतेऽन्तिके ॥ ७ ॥
भ्रमेणैव सुसंनद्धाः सर्वे संसारिणो जनाः ।
एवं [3]लोभाभिमानाभ्यां पुनरायान्ति यान्ति च ॥ ८ ॥

असत्य के साथ संग को छोड़ कर वह विचार करो, कि जिस विचार से भूल सहित सब दुःख नहीं होते (रहते) हैं ॥ ६ ॥ असत्य के ही लोभ से तेरे अति बहुत जन्म बीत चुके हैं, और फिर जरा और मृत्यु पास में उपस्थित हो रही है ॥ ७ ॥ भ्रम से ही सब संसारी लोक अत्यन्त बद्ध हैं, इसी प्रकार लोभ, अभिमान से ही बार २ आते और जाते (जन्मते मरते) हैं ॥ ८ ॥

---

१ 'मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः । मनागपि कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥ सम्यग् विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम् । आसादन्त्यपि स्फारा नाविद्याविभवा भृशम् ॥ यो० वा० ५।९३।१-४॥

२ 'मनसा कर्मणा वाचा परस्वादानहेतुतः । प्रपतन्ति नराः सम्यग् लोभोपहतचेतनाः' ॥ देवीभा० स्क० ३।१६।४९॥ 'अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा । अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते' ॥ म० भा० शा० १६३।२१॥

३ 'विभवे सत्यहङ्कारः प्रबलः प्रभवत्यपि । अहङ्काराद् भवेन्मोहो मोहान्मरणमेव च' ॥ देवीभा० स्क० ४।४।२४॥

साखी ।

भ्रम के बाँधल ई जगत, यहि विधि आवै जाय।
मानुष जन्म हिं पाई नर, काहे को जहड़ाय ॥२३॥

मानुष्यं प्राप्य किं सौम्य! पुनर्मोहेन पीड्यसे ।
विचारेण परित्यज्य मोहं सौख्यं समाप्नुहि ॥ ९ ॥
मोहं लोभं परिहर तरसा, सङ्गं त्यक्त्वा भज हरिमरसम् ।
मानुष्यं स्वं सफलय नर हे, किं त्वं भ्रान्तो भ्रमसि विहर हे ॥१०॥
अर्थादिमूलं[1] परमार्थदर्शकं मानुष्यमेतद्बहुजन्मनोऽन्ततः ।
लब्ध्वा तथा यत्नपरो भवान् भवेद्यतो न यायान्नरके विमुक्तितः ॥११॥
विमुक्त्यलाभेऽपि च मूलरक्षणे कुर्यात्सुयत्नं हि विचक्षणो भवान् ।
मूलस्य सत्वे तु विमुक्तिलक्षणा स्यादेव वृद्धिर्हि कदाचिदक्षया ॥
॥१२॥२३॥

हे सौम्य ! मनुष्यता पाकर फिर मोह से क्यों पीड़ित होते हो, विचार से मोह को त्याग कर सुख को अच्छी तरह प्राप्त करो ॥ ९ ॥ मोह लोभ को तरसा (वेग से) शीघ्र त्यागो, सङ्ग को त्याग कर हरि को फल के रस (राग) विना भजो । इस प्रकार अपनी मनुष्यता को सफलय (सफल करो) । तुम भ्रान्त हो कर क्यों भ्रमते हो, निर्भ्रान्त विचरो ॥१०॥ अर्थादि का कारण, परमार्थ का दर्शक इस मनुष्यता को बहुत जन्म के अन्त में पाकर आप ऐसे यत्न परायण होवो कि जिससे विमुक्ति होने से नरक में नहीं जावो ॥११॥ विमुक्ति की प्राप्ति नहीं होने पर भी पण्डित आप मूल की रक्षा में सुन्दर यत्न करें । मूल के रहने पर तो मुक्तिरूप अक्षय वृद्धि कभी अवश्य होगी ॥१२॥

---

१ 'सर्वस्य मूलं मानुष्यं तद्धि यत्नेन रक्षयेत् । तद्वृद्धौ नास्ति चेद्यत्नो मूलं तु परिरक्षय' ॥ गरुडपु० ॥ 'कामक्रोध समायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः । मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रजायते' ॥ म० भा० वनप० १८१।१२॥

अक्षरार्थ- संसार में शरीरी को सुख बहुत अल्प (थोड़ा) है, और उस सुख के आदि अन्त में दुःख रहता है, और उसके साथ भी आदि से अन्त तक नाशादि के भयजन्य दुःख रहता है, और जन्ममरण रूप आदि अन्त में तो दु.ख ही रहता है; सुख का लेश भी नहीं रहता है। तौ भी मैं मन्ता (अहंता ममता करनेवाला अभिमानी) मैगर (मस्त हाथी) रूप मन उस दुःख को भुलाया रहता है, सुख ही समझता है। परन्तु वस्तुतः सुख है नहीं। ('नाल्पे सुखमस्ति' छा० ७।२४।१ 'आदि-मध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं जगत्। तस्मात्ससर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत् सदा॥' पञ्चीकरणवार्तिकम्) अल्प (अनात्मा) में सुख नहीं है॥ आदि मध्य अन्त में यह सब जगत् दु.ख है, तिससे सब को त्याग कर सदा सत्यात्मनिष्ठ होवे, इत्यादि। इससे यह जीव सांसारिक सुख को बिसराय (भूल) कर के ही मुक्ति पाता है, अर्थात् दुःखबुद्धि पूर्वक विराग विज्ञानादि से मुक्त होता है। परन्तु यह दुष्ट मन तो सच्चे सुखादि को ही त्याग कर झूठे सुखादि का ही ध्यान करता है, फिर मोक्ष कैसे हो। जिसमें सांच बुद्धि त्याग कर झूठ बुद्धि करना चाहिये, उसमें सांच बुद्धि से दौडता है, फिर मुक्ति कैसी॥

जिस विषय का ध्यान करता है, उनका संग होने पर वह एक (केवल) संग ही इसको अग्नि की ज्योति (प्रकाश-शिखा) की नाईं जलाता है, वा अग्निरूप ज्योतितुल्य जलाता है। तौ भी यह प्राणी इस-प्रकार स्वयं संग से जलता है कि जैसे नेत्र के विषय दीपादि में प्रेमवश स्वयं पतंगा जलता है। साहब का कहना है कि झूठे पदार्थादि की सगाई (संबन्ध) को परिहरि (त्याग) कर, अब भी विचार करो, कि जिससे सब दु.ख नष्ट हो जाय॥ लालच (लोभ) में लगे रहने से तो अनन्त जन्म व्यर्थ सिराय (बीत) गये। इस जन्म का भी बहुत समय बीत गया, अब जरा (वृद्धता) मरण पास पहुंचे, अब भी होश करो॥

भ्रम के बाँधा (अज्ञान मिथ्या ज्ञान से आसक्त लोभादि युक्त) हुआ ई जगत (यह संसारी) इस पूर्व कही रीति से झूठ का ध्यान लोभादि करके आता जाता (जन्मता मरता) है। साहब का कहना है कि, हे नर ! मानुष जन्म पाकर पशु आदि के समान तुम काहे को (क्यों) जहँड़ते (परवश होते, धोखे में पड़ते) हौ, यह उचित नहीं है ॥२३॥

रमैनी २४

चन्द्र चकोर अस बात जनाई। मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई॥
चारि अवस्था सपने कहई। झूठो फूरो मानत रहई॥

विचारादीनुपेक्ष्यान्ये चन्द्रं चकोरको यथा।
ध्यायतीह तथा ध्यानमुपदिशन्ति जनान् प्रति ॥१३॥
तेनैषां मानवीं बुद्धिं चक्रिरे विपरीतगाम्।
अविवेकपरां नित्यं विचारविमुखां सदा ॥१४॥
बाल्यकौमारतारुण्यस्थाविरेषु चतुःष्वपि।
अवस्थासु ततः सर्वे भाषन्ते स्वप्नमेव हि ॥१५॥
असत्यं मन्वते सत्यं जगज्जानन्ति नानृतम्।
विस्मृत्यैवं परं तत्त्वं विलोप्यानुभवं निजम् ॥१६॥

अन्य (मनुष्यता की रक्षा पर ध्यान नहीं देनेवाले) लोक विचारादि की उपेक्षा (अनादर त्याग) करके, चकोर जैसे चन्द्रमा का ध्यान करता है, तैसा ही किसी अनात्मा के ध्यान का यहाँ मनुष्यों के प्रति उपदेश करते हैं ॥१३॥ तिस उपदेश से इन मनुष्यों की मानवी (मनुष्य की स्त्री तुल्य योग्य) बुद्धि को नित्य अविवेकपरक सदा विचार से विमुख उलटा चलनेवाली वे लोक कर दिये ॥१४॥ तिससे सब लोक बाल्यादि चारों अवस्थाओं में स्वप्न (मिथ्या) ही कहते हैं ॥१५॥ असत्य को सत्य मानते हैं, जगत को अनृत (असत्य) नहीं जानते हैं। इस प्रकार परम-

मिथ्या बात न जानै कोई । यही विधिहिं सब गेल बिगोई ॥
आगे दै दै सबन गमाया । मानुष बुद्धि न सपने हुं पाया ॥

परित्यज्य सुखं सत्यं शान्तिमुत्सृज्य दूरतः ।
दुःखपूर्णा गताः सर्वे गन्तारोऽथाविवेकिनः ॥१७॥
भाविन्यर्थे मनो दत्वा ह्याशापाशैः सुयन्त्रितैः ।
तृष्णामोहादिभिः सर्वैर्विचाराद्या विलोपिताः ॥१८॥
अतो न [1]मानुषी बुद्धिः स्वप्नेऽपि लम्भिता हि तैः ।
कामक्रोधपरैर्मूढैराशालोभहतैर्मुहुः ॥१९॥
चतुस्त्रिंशन्मितेभ्यो यो [2]वर्णेभ्यः परमं निजम् ।
परं जानाति सत्तत्त्वं विवेकेन विचक्षणः ॥२०॥

तत्त्व को भूल कर, अपने अनुभव को नष्ट करके सत्य सुख को त्याग कर, शान्ति को दूर त्याग कर, सब अविवेकी दुःख से पूर्ण होकर गये और जानेवाले हैं ॥१६-१७॥

भावी अर्थ में मन देकर के ही तृष्णा मोहादि से और आशापाश से बँधे हुए सब लोक विचारादि को विलुप्त (नष्ट) कर लिये ॥१८॥ इससे काम क्रोध परायण बार २ आशा लोभ से पीड़ित उन मूढों से स्वप्न में भी मानुषी बुद्धि नहीं प्राप्त की गई ॥१९॥ जो विचक्षण (विवेकी) चौंतिस संख्या से परिमित अक्षरों से पर परम सत्तत्त्व को विवेक से जानता है, सो विवेकी अबाध्य परमानन्द को सत्त्व (चित्त) से तत्त्वतः

---

१ 'बुद्ध्वाऽप्यत्यन्तवैरस्यं यः पदार्थेषु दुर्मतिः । बध्नाति भावना भूयो नरो नाऽसौ स गर्दभः ॥' यो० वा० ५।८।१६।

२ यद्यपि (ओंकारः प्रथमस्तत्र चतुर्दश स्वरास्तथा । स्पर्शश्चैव त्रयस्त्रिंशदनुस्वारस्तथैव च । विसर्जनीयश्च परो जिह्वामूलीय एव च । उपध्मानीय एवास्ति द्विपञ्चाशदमी स्मताः ॥ स्कन्दपु० खं० १।२।५।५१-५२) ओंकार १, अ, इ, उ, ऋ, लृ; ह्रस्वदीर्घ से १० । ए, ऐ, ओ, औ, ४; ये चौदह स्वर

चौंतिस अछर से निकलै जोई। पाप पुण्य जानैगा सोई ॥

अवाच्यं परमानन्दं ज्ञात्वा सत्त्वेन तत्त्वतः।
स हि वर्णानतिक्रम्य विविक्ते स्वे स्थितः सदा ॥२१॥
पुण्यं पापं च जानीयादात्मानं च जगत्तथा।
विविक्तः सर्वसङ्गेभ्यः परां मुक्तिं स चाप्नुयात् ॥२२॥
यं यं वदसि नाऽसौ त्वं वर्तसे न भविष्यसि।
वाचामविषयत्वाच्च साक्षित्वाच्चैव सर्वशः ॥२३॥

(यथार्थ स्वरूप से) जान कर वर्णों को त्याग कर, विविक्त (असंग पवित्र) अपने स्वरूप में सदा स्थिर रह कर, स्वयं सब संग से विविक्त (असंग–पृथक्) हो कर पुण्य (पवित्र) स्वरूप आत्मा को और पाप (मलिन) स्वरूप जगत को जानता है, तथा वह पर मुक्ति को पाता है ॥२१–२२॥

वाणियों का अविषय होने से और सबका साक्षी ही होने से, जिस २ को तुम कहते हो, वह तुम न हो, न होंगे ॥२३॥ इससे जिन सबको तुम

हैं, पांच वर्ग के २५ स्पर्श, य, र, ल, व; चार अन्तःस्थ श, ष, स, ४ ऊष्मा, मिलाने से ये तैंतीस हैं, विसर्ग १, अनुस्वर १, क जिह्वामूलीय १, प उपध्मानीय १; ये बावन अक्षर हैं। तथापि (काव्यमार्गेस्वरो न गण्यते) इस काव्यप्रकाश नवमोल्लासानुसार अकारादि का काव्य में अक्षररूप से ग्रहण नहीं होता। और अनुस्वरादि स्वतन्त्र नहीं है, इससे क्ष सहित स्पर्शादि चौंतिस अक्षर हिन्दी में माने गये हैं॥ अथवा क वर्गादि २५ हैं; अ, इ, उ, ऋ, ४; ह, य, र, ल, स, ५; ये चौंतिस अक्षर हैं। लृ, व, श, ष, का ऋ, ब, स, से ही ग्रहण होता है। संयोगी दीर्घादि भी इनके अन्दर अभिन्न हैं, बावन अक्षर पक्ष में बहुत प्रयोग के अभाव से प्लुत को भिन्न नहीं गिना है। (यद्वाचाऽनभ्युदितम्। यतो वाचो निवर्तन्ते ॥) इत्यादि श्रुतियों में यहां का अर्थ स्पष्ट है ॥ केन० १।४। तै० २।९ ॥

विवेक के लिये विचार का विषय बताते हैं कि–

साखी (दोहा)।

सोइ कहते सोइ होहुगे, निकरि न बाहर आव।
हौं हजूर ठाढ कहते हौं, धोखे न जन्म गमाव ॥२४॥

अतो वदसि यान् सर्वान्निष्क्रष्यैव ततः स्वयम्।
स्वात्मानं निर्मलं युक्त्या सदा तिष्ठ तदात्मना ॥२४॥
इत्येवं गुरुभिः प्रोक्तमात्मभूतैर्हि देहिनाम्।
श्रुत्वा पुनरसत्ये न स्वायुर्गमय सुव्रत! ॥२५॥
मानुषी सुधिषणाऽत्र गृह्यतां त्यज्यतां निखिलवाच्यमात्रकम्।
नैव यं वदसि सोऽसि कर्हिचिन्नैव जातु भवितासि सौम्य हे ॥२६॥

कहते हो, उनसे निर्मल अपनी आत्मा का स्वयं युक्ति से विवेक करके सदा तिसी स्वरूप से स्थिर होवो ॥२४॥ देहियों के आत्मस्वरूप गुरुओं से ऐसा कहा गया है, हे सुव्रत! उसे सुनकर असत्य में अपनी आयु को नहीं गमावो ॥२५॥ मानुषी सुन्दर बुद्धि यहाँ प्राप्त करो, सब वाच्य मात्र को त्यागो, जिसे तुम कहते हो, सो तुम कभी नहीं हो। और हे सौम्य! उस रूप कदाचित् होनेवाला भी नहीं हो ॥२६॥

अक्षरार्थ–पूर्व कही रीति से विचारादि पूर्वक आत्मा में स्थिति अनात्मा में आसक्ति आदि के त्याग से मुक्ति होती है; परन्तु वञ्चक अज्ञ गुरुओं ने तो, जैसे चकोर चन्द्रमा का ध्यान करता है, तैसे ही किसी अनात्मा का ध्यान के लिये बात जनाई (उपदेश दिया) है कि जिससे मानुषी (विवेक विचारमयी) बुद्धि को उलटा दिया है। विवेक विचारादि से रहित कर दिया है॥ जिससे अज्ञ जीव बाल्यादि चारों अवस्थाओं में स्वप्नतुल्य संसार की ही बात को कहता सुनता है। और झूठ को फुर (सत्य) मानता रहता है। तथा विवेक विना सत्य झूठ दोनों एक सा एक रूप मानता है। और इसीसे मिथ्या संसार वा बात को कोई मिथ्या

नहीं जानता है । इसी प्रकार सब लोक सत्य सुख शांति विचारादि को गमा कर गये, इन्हें भूल गये, प्राप्त नहीं कर सके। इससे मानवता पाकर भी जहँड़े, इत्यादि ॥

और आगे (अन्य जन्म समयादि) की आशा दे २ कर, भावी वस्तु में मन लगा कर सब लोकों ने सद्विचारादि को गमाया । और इसीसे विवेकवाली मानुषी बुद्धि को स्वप्न में भी नहीं पाये ॥ बृ० अ० ४।३।२० में लिखा है कि, स्वप्न में भी जब मनुष्य ' अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः । ' मैं ही इस सबका आत्मा हूं, ऐसा मानता है, तो सो इसका परम ज्ञान कहाता है ॥ इससे जो पुरुष चौंतिस अक्षर के विस्ताररूप जाल से निकलता है, और निकलेगा (वाच्य वाक् नाम रूप को मिथ्या अशुद्ध जान कर सत्य शुद्ध आत्मा को भिन्न समझेगा) सोई पाप पुण्य (माया-ब्रह्मात्मा) को विविक्त (भिन्न) रूप से जानेगा, अपरोक्ष करेगा । इससे नामरूप से भिन्न सब पद का लक्ष्य साक्षी स्वरूप आत्मा का ज्ञान के लिये यत्न करना चाहिये, किसी व्यक्ति आदि के ध्यानादि में जन्म गमाना ठीक नहीं है ॥

क्यों सोइ (उस) नाम रूप को कहता हुवा, कहनेवाला तुम सोइ (उसी रूप) होगे, अर्थात् नहीं होगे । जैसे द्रष्टा दृश्य नहीं होता, तैसे वक्ता वक्तव्य (वाच्य) नहीं हो सकता है, क्योंकि एक में कर्तृकर्म-भाव नहीं होता है, इससे तुम जो २ कहो उन सबसे बाहर न निकल आवो, अर्थात् विषय रूप से जिस २ को कहो, जानो, उन सबसे भिन्न स्वयं प्रकाश आत्मा को समझो । मायादि विशिष्ट में ब्रह्मादि शब्द की शक्ति जान कर, मायादि से उपलक्षित शुद्ध अपने स्वरूप को मनोवृत्ति-मात्र से अभिव्यक्त करो ॥ हौं (मैं) हजूर (प्रत्यक्ष) ठाढ (उपस्थित) होकर कह रहा हूं, कि धोखे (मिथ्या नाम रूप) में जन्म नहीं गमावो ॥ अथवा (यन्मनसा चिन्तति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते) इस उक्ति और (ब्रह्म-विद् ब्रह्मैव भवति । मुण्डक० ३।२।९) इस श्रुति के अनुसार, अर्थ है कि,

सोऽहं (चौंतिस अक्षर का अवाच्य विशेष नामादि रहित ब्रह्म) मैं हूं इस प्रकार कथन चिन्तनादि करते २ तुम तद्रूप ही हो जावोगे, इससे हृदय में उस चिन्तन को छोड़ कर, बाहर देहादि में मन को नहीं लगावो, और सर्वात्मता से निकल कर एक व्यक्ति में बाहर नहीं आवो। मैं हजूर (सर्व समर्थ) ठाढ (स्थिर-अचल-अविनाशी) तेरा स्वरूप को कह रहा हूं, उसे समझो; धोखे में समय नहीं बीतावो ॥२४॥

पूर्ववर्णित रीति से चौंतिस अक्षर से निकलने विना जो संसार होता है, उसका वर्णन करते हैं कि—

रमैनी २५

चौंतिस अक्षरक यही विशेखा। सहसो नाम याहि महँ देखा ॥
भूलि भटकि नर फिरि घट आया। हता जान सो सबन गमाया ॥

चतुस्त्रिंशच्च ये वर्णास्तद्विशेषा इमानि वै।
अनन्तानि हि नामानि रूपाणि विविधानि च ॥२७॥
अत्रासक्तो नरो भ्रान्त्या भवाटव्यामटाट्यते।
अटित्वा पुनरायाति शरीरेष्वेव भुक्तये ॥२८॥
कर्मवासनयाऽगत्य तिर्यग्योनिषु मानवः।
धर्माधर्मादिबोधं स्वमसंशयमनीनशत् ॥२९॥

चौंतिस जो वर्ण (अक्षर) हैं, उनके ही विशेष (स्वभाव-प्रकार भेद) रूप ही ये प्रसिद्ध अनन्त नाम हैं, और अनेक प्रकार के रूप (आकार विशेष) हैं। श्रुति कहती है कि (वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। छा० ६।१।३) सब विकार वाक्जन्य नाम मात्र है ॥२७॥ इस नाम रूप में आसक्त मनुष्य संसार-अटवी (जंगल) में कुटिल (टेंढा) गमन करता है, और भ्रमण करके फिर शरीर में ही भोग के लिये आता है ॥२८॥ और यह मनुष्य कर्म सहित वासना से पशु आदि योनियों में आकर अपना धर्माधर्मादि के ज्ञान को अवश्य नष्ट कर लिया और करता है ॥२९॥

खोजहिं ब्रह्म विष्णु शिव शक्ती। अनन्त लोक खोजहिं बहु भक्ती॥
गण गन्धर्व खोजहिं मुनि देवा। अनन्त लोक खोजहिं बहु सेवा॥

स्वं ज्ञानं नाशयित्वा तु केचिद् ब्रह्माणमेव हि।
केचिद्विष्णुं शिवं केचिच्छक्तिं चैवापरे नराः॥
अनन्तलोकमन्ये च भक्त्या मृग्यन्ति मानवाः॥३०॥
गणान् गन्धर्वदेवांश्च मुनीँल्लोकांश्च वै बहून्।
बहुधा सेवया ह्येते मृग्यन्ति सुखलब्धये॥३१॥
यद्वा ब्रह्मा[1] हरिर्भर्गो दुर्गाऽनन्ता इमे जनाः।
बहुभक्त्या विशेषान् हि मृग्यन्ति न निजं सुखम्॥३२॥
गणगन्धर्वदेवाश्च लोकाश्च मुनयस्तथा।
विमृग्यन्ति विशेषान् वै यावद् बोधो न लभ्यते॥३३॥२५॥

कोई मनुष्य होते भी अपना ज्ञान को नष्ट करके ब्रह्मा को ही खोजते हैं, कोई विष्णु को, कोई शिव को, अपर कोई शक्ति को और अन्य लोक अनन्त (विष्णु-शेष) के लोक को वा नित्य लोक को बहुत भक्ति से खोजते हैं॥३०॥ और बहुत प्रकार की सेवा भक्ति द्वारा ये लोक गणदेव, गन्धर्वदेव को मुनियों को, बहुत लोकों को सुख की प्राप्ति के लिये खोजते हैं॥३१॥ अथवा ब्रह्मा विष्णु शिव अनन्त ये मनुष्य बहुत भक्तिद्वारा विशेषों (भेदों) को खोजते हैं, निर्विशेष निज सुखस्वरूप को नहीं खोजते हैं॥३२॥ जबतक बोध (ज्ञान) नहीं मिलता है, तबतक गण गन्धर्वदेव लोक मुनि ये सब वर्ण का विशेषों को ही खोजते हैं॥३३॥

१ ‘विष्णुश्चरत्यसावुग्रं तपो वर्षाण्यनेकशः। ब्रह्मा हरस्त्रयो देवा ध्यायन्तः कमपि ध्रुवम्॥ कामयानाः सदा कामं ते त्रयः सर्वदैव हि। यजन्ति यज्ञान् विविधान् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥’ देवीभा० स्क० १।८।४५-४६॥ ‘देवा विमार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः।’ म० भा० शा० २३९।२३॥

साखी।

यती सती सब खोज हीं, मनहिं न मानै हार।
बड़ बड़ जीव न बाँच हीं, कहहिं कबीर पुकार ॥२५॥

यतिसत्यव्रताः सत्यो ह्यात्मनो निग्रहं सदा।
अन्वेषयन्ति चाबोधं विरलोऽस्माद्विमुच्यते ॥३४॥
बोधं विना न विद्वांसो महान्तोपि च बन्धनात्।
विशेषाख्याद्विमुच्यन्ते ह्युच्चैर्गुरुस्तु घोषति ॥३५॥
निर्विशेषसौख्यसान्द्रचिद्घनं पावनं सदैव दोषवर्जितम्।
ज्ञानगम्यविश्ववन्द्यविग्रहं ह्याशया विहाय यान्ति सर्वतः ॥३६॥
अन्तं गतं यस्य हि पापपञ्जरं[1] भवेद्विवृद्धा च तथा सुवासना।
विशुद्धभावोपि सदैव वर्तते तत्रैव धीरे निजबोधलब्धये ॥३७॥

यति (संन्यासी) सत्यव्रतवाले सती स्त्रियाँ ये सब मन का निग्रह और आत्मज्ञान से पहले विशेषों को सदा खोजते ही हैं। विरल ज्ञानी इस खोज से छुटकारा पाता है ॥३४॥ आत्मबोध के विना विद्वान और महान् लोक भी इस विशेष नामक बन्धन से नहीं मुक्त होते हैं, यह बात गुरु महाराज उच्च स्वर से घोषणा करके कहते हैं ॥३५॥ निर्विशेष सुखसान्द्र (निबिड़) चिद्घन (निरन्तर) पावन, सदा ही दोषरहित, ज्ञान से प्राप्तियोग्य, सब संसार से वन्दनीय स्वरूप को छोड़ कर जीव आशा से सर्वत्र जाता है ॥३६॥ जिसका पापरूप पञ्जर (पिञ्जरा) बन्धन हेतु अन्त (नाश) को प्राप्त हो, और तैसेही सुवासना अच्छी तरह बढी हो, उसी धीर में निज ज्ञान की प्राप्ति के लिये सदा विशुद्ध

१ 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥' म० भा० शा० अ० २०४।८॥ 'हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः। यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥' योगवा० ४।५७।२५॥

स्त्रीबालशूद्रा श्वपचाधमा अपि भावैर्विशुद्धा ननु बोधभागिनः।
भवन्ति तूर्णं हि सुसाधुसङ्गमात्प्राग्जन्मसंस्कारवशान्न संशयः ॥३८॥
विस्मृत्य चात्मानमनन्तचिद्घनं संसारिणो जीवगणा भवन्ति हि।
ब्रह्मा शिवो विष्णुमुखाश्च देवता आशादिसत्त्वे भवबन्धभागिनः ॥३९॥२५॥

इति संसारासारतावर्णनं नाम दशमः प्रवाहः ॥१०॥

भाव भी रहता है ॥३७॥ भाव से विशुद्ध स्त्री बालक शूद्र श्वपचादि अधम भी अवश्य ज्ञान के भागी होते हैं। तहाँ भी सुन्दर साधु का संग और पूर्व जन्म के संस्कार से तूर्ण (शीघ्र) ज्ञान के भागी होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥३८॥ अनन्त चिद्घन आत्मा को भूल कर संसारी जीवगण और ब्रह्मा आदि देव भी आशा आदि के रहते संसारबन्धन के भागी ही होते हैं, अन्यथा नहीं ॥३९॥

अक्षरार्थ—चौंतिस अक्षरों का ही यह सब विशेष (भेद-स्वभाव) है, सहसो (अनन्तो) नाम इन में ही देखे जाते हैं ॥ जो मनुष्य इन नामों में भूला (आसक्त हुआ) सो भूल भटक कर फिर देह में ही आया, और इस मानव देह में जो कुछ जान (ज्ञान) था, सो भी गमाया, अर्थात् नाम देहाभिमानादि से पशु आदि योनि में प्राप्त होने पर सब मनुष्य सब ज्ञान को गमाये, और गमाते हैं ॥ श्रुति कहती है कि (यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः। बृ० ३।८।१०) जो इस अक्षर (अविनाशी) आत्मा को जानने बिना इस लोक (देह) से जाता है, सो कृपण है ॥

नाम नामी में भूले रहने से कोई ब्रह्मा को, कोइ विष्णु को, कोई शिव को, कोई शक्ति को ब्रह्मात्मा से भिन्न सत्यादि मान कर खोजते हैं। और अनन्त (निरबधि-नित्य) लोक वा अनन्त (विष्णु-शेषनाग) के लोक को बहुत भक्तिपूर्वक खोजते हैं ॥ तथा गणदेव गन्धर्वदेव मुनि

और अन्य देव को भी खोजते हैं, और बहुत सेवा पूजा आदि से अनन्त (अनेक) को खोजते हैं, अनन्त लोकों में खोजते हैं ॥ अथवा जबतक नामों में भूले रहते हैं तबतक ब्रह्मा आदि भी किसी विशेष नामवाला को खोजते हैं, भक्ति से अनन्त लोक की प्राप्ति चाहते हैं। गणदेवादि भी बहुत सेवा आदि करके निरवधि लोक चाहते हैं। (किं विष्णुः किं शिवो ब्रह्मा मघवा किं बृहस्पतिः। देहवान् प्रभवत्येव विकारैः संयुतः सदा ॥ देवीभा० स्क० ४।१३।१५) क्या विष्णु क्या शिव क्या ब्रह्मा या इन्द्र वा बृहस्पति देहवान् (देहाभिमानी) सदा विकारों से युक्त होता ही है ॥

यति (संन्यासी-संयमी) सती (सत्यवक्ता या पतिव्रता) ये सब नाम रूप विशेष को खोज रहे हैं, और जबतक मन इस खोज से हार नहीं मानता है, तबतक बडे २ जीव भी इस खोज से नहीं बांचते हैं, और मन नहीं हार मानता है, इससे सब खोजते हैं। और मनोनिग्रह विवेकादि होने पर तो, सब जीव निर्विशेष आनन्द में मग्न होते हैं, सो साहब पुकार के कहते हैं ॥२५॥

सत्यकर्तृनिरूपण प्रकरण ॥११॥

प्रथम भूलभटकादि का वर्णन हुआ है, उस भूलादि से रहित होने के लिये सत्य कर्ता आदि का उपदेश देते हैं कि—

रमैनी २६

आपु हि कर्ता भया कुलाला। बहु विधि वासन गढ़ै कुम्हारा ॥
विधि ने सब हि कीन्ह इक ठाऊं। अनेक यत्न कै बने कनाऊं ॥

विशेषेभ्यः परं यत्तत्सत्तत्त्वमस्ति चेतनः।
स्वयमेव मनोमायायोगात्कर्तृत्वमाप्तवान् ॥ १ ॥

विशेषों से पर (भिन्न श्रेष्ठ) जो सत् तत्त्व (परमात्मा-स्वरूप) है, सोई चेतन (प्राणी आत्मा) है। वह सत्तत्त्व स्वयं मन माया के

जठर अग्नि महँ दीन्ह प्रजारी । ता महँ आपु भये प्रतिपाली ॥
बहुत यतन कै बाहर आया । तब शिव शक्ती नाम धराया ॥

घटादीनिव देहादीनास्ते स रचयन् प्रभुः ।
उच्चावचान्न संदेहो विधिना साध्यतेऽखिलम् ॥ २ ॥
साधनानां समाहारो विधितन्त्रोऽस्ति यद्यपि ।
कर्त्रा यत्नैस्तथाप्येतच्छरीरं बहुभिः कृतम् ॥ ३ ॥
सम्पाद्यैतच्छरीरं स[1] जठराग्नावपक्षत ।
रक्षकोऽथाऽभवत्तत्र प्रकाशाद्यैः स्वयं प्रभुः ॥ ४ ॥
बहुभिश्चास्य यत्नैस्तु गर्भाद्बहिरजायत ।
तदाऽस्यैव पुमान्[2] स्त्री वा नाम स्वस्याकरोदयम् ॥५॥

सम्बन्ध से कर्तापन को प्राप्त किया है ॥१॥ वही प्रभु घटादि के तुल्य उच्चावच (अनेक प्रकार के) देहादि को रचता हुआ है, इसमें संदेह नहीं है, और अन्य साधन सब विधि (दैव रूप भाग्य कालादि) से सिद्ध होते हैं ॥२॥ यद्यपि साधनों का समाहार (समुच्चय-संग्रह) विधि के अधीन (विधिप्रधान) है, तथापि कर्ता बहुत यत्न से इस शरीर को किया है ॥३॥ उस प्रभु ने मन से प्रथम मानस शरीर को बना कर, फिर स्थूल बना कर माता की जठरानल में उसे पकाया, और वहाँ अपने प्रकाशादि द्वारा स्वयं रक्षा किया ॥४॥ फिर इस कर्ता के ही बहुत यत्न से शरीर गर्भ से बाहर जन्मा, तब इस शरीर के ही पुरुष वा स्त्री नाम वह

१ ' प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ ' शुक्लयजुः ३१।१९॥ सर्वात्मा प्रजापतिर्गर्भे प्रविशति, अजायमानोपि भूतेषु बहुधा विजायते । तस्य योनिं (स्थानं) धीराः (ब्रह्मविदः) पश्यन्ति । तस्मिन्नेव च सर्वाणि भुवनानि स्थितानीत्यर्थः ॥

२ ' नैव स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः । यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥ ' श्वे० ५।१०। तेन तेन व्यवहारेणेत्यर्थः ॥

पूर्व कही रीति से यह देह अज्ञानादि द्वारा निजात्मा से ही रचित है, और इसमें आसक्ति अभिमानादि से यह बार २ होता है, जिससे महा कष्ट होता है, इससे आसक्ति आदि को त्यागने के लिये कहते हैं कि–

घर के सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाय सयाना॥

इत्येवं जीवरूपेण प्रविष्टस्य स्वयंभुवः।
कार्यमस्ति जगत् कृत्स्नं विग्रहस्तु विशेषतः॥ ६॥
यथा लोके भवेदत्र कुले जातोऽपि कस्यचित्।
पुत्रोऽज्ञः पतितो धर्मात् पिता तेन न[१] गच्छति॥ ७॥
तथेदं वर्ष्म विज्ञाय मायामोहमनोमयम्।
अपवादावधूतं च बुधस्तेन न गच्छति॥ ८॥
आसक्तो न भवत्यत्र तदर्थं यतते न च।
आत्मार्थं कुरुते सर्वं ज्ञात्वा किञ्चित्करोति[२] नो॥ ९॥

अपना भी किया, वह पुरुष वा स्त्री है नहीं॥५॥ इस वर्णित रीति से जीवरूप से देह में पैठा हुआ स्वयंभू (ईश्वर) का ही कार्य सब जगत है, परन्तु विग्रह (देह) विशेष रूप से है॥६॥

जैसे इस लोक (संसार-भूमि) में किसी के कुल (गोत्र-घर) में भी उत्पन्न पुत्र, अज्ञ धर्म से पतित हो जाय तो धर्मात्मा पिता उसके साथ नहीं जाता है॥७॥ तैसे ही निन्दा से अवधूत (अति कम्पित भर्त्सित), मायादि का विकार रूप इस देह को जान कर, पण्डित तिसके साथ नहीं जाता है॥८॥ इसमें आसक्त नहीं होता है, न उसके लिये यत्न करता है, किन्तु आत्मज्ञानादि के लिये सब काम करता है, और

---

१ ' जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्। रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज॥ ' म० भा० शा: अ० ३२९। ' त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्। त्यजतैवहि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्॥ ' बृहद्० सम्बन्धवार्तिकम्॥

२ ' तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथाऽयमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव। ' बृ० ४।४।७॥

साँची बात कही मैं अपनी । भया दिवाना और कि सपनी ॥

आत्मना रचितं सर्वमिति सत्यं गुरोर्वचः ।
स्वप्नतुल्यान्यवाण्याऽहो प्रमत्तं वर्तते जगत् ॥१०॥
कुलजात्यभिमानेन मोहैर्बहुविधैरपि ।
विस्मृत्यैतं स्वमात्मानं वर्तते विग्रहे सदा ॥११॥
अव्यक्ते[1] व्यक्तरूपे वा सत्यप्राकाशलक्षणा ।
जातिरात्मनि चैकैव तत्र गर्वो न युज्यते ॥१२॥
कल्पनामात्रजन्यस्तु गर्वो मिथ्यैव बाधते ।
ब्राह्मणोऽयमयं शूद्रः शुद्धोऽयं नास्त्ययं तथा ॥१३॥

जान कर कुछ नहीं करता है ॥९॥ आत्मा से यह सब रचा गया है, यह गुरु का वचन सत्य है । आश्चर्य है कि स्वप्नतुल्य अन्य की वाणी से जगत् प्रमत्त (अति मदमस्त वा प्रमुदित) है ॥१०॥ कुल जाति के अभिमान, और बहुत प्रकार के मोह से भी अपनी आत्मा को भूल कर सदा देह में रहता है ॥११॥

अव्यक्त वा व्यक्त आत्मा में सत्य प्रकाशस्वरूप जाति (सामान्य-स्वभाव) एक ही है, उसमें किसीका गर्व युक्त नहीं हो सकता है ॥१२॥ कल्पना (मनोविकल्प) मात्र से जन्य मिथ्या ही गर्व जीव को दुःखी करता है कि यह ब्राह्मण है, यह शूद्र है, यह शुद्ध है, यह तैसा नहीं

१ 'एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥' शुक्लयजुः ३२।४। श्वेता० २।१६॥ 'एष देवः सर्वा दिशो व्याप्य वर्तते, स एव गर्भे भवति, अन्तस्तिष्ठति, प्रतिपदार्थमञ्चतीति प्रत्यङ्, भो जना स एव सर्वतोमुखोऽस्ति ॥'

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः ।' श्वेता० ४।११॥ 'त्वम्-आत्मा । वञ्चसि-गच्छसि ।' विश्वतोमुखः-सर्वावस्थः ॥

फिर भी जाति आदि के अभिमानादि को त्यागने के लिये कहते हैं कि-

गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूधा।
झूठी गर्व भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई॥

साखी।

जिन यह चित्र बनाईया, साँचा सो सुत धारि।
कहहिं ते जन भले, चित्र हिं लेहि विचारि॥२६॥

आत्मदृष्टौ हि कश्चैवं कथ्यतां कः प्रशस्यताम्।
को वाऽत्र निन्द्यतां जीवः सर्वः शुद्धो न संशयः॥१४॥
देहदृष्ट्यापि सर्वोऽयमेको वर्णोऽभिमानवान्।
कर्माद्यैर्भिन्नतां याति नान्यथा वै कथञ्चन॥१५॥
केऽपि मिथ्याऽभिमानेन भ्राम्यन्तु नाऽत्र सज्जनाः।
आर्यानार्यप्रभेदोऽपि मिथ्यैव वर्तते कुले॥१६॥
येनेदं रचितं चित्रं सर्वमुच्चावचं जगत्।
तं सत्यं सूत्रधारं हि जानीत सज्जनाः सुखम्॥१७॥

है॥१३॥ आत्मदृष्टि होने पर कौन इस प्रकार कहा जाय, कौन प्रशंसित हो, वा कौन यहाँ निन्दित हो; सब जीव शुद्ध आत्मास्वरूप ही हैं, इसमें संशय नहीं है॥१४॥ देहदृष्टि से भी यह सब अभिमानी एक वर्ण ही हैं, परन्तु कर्म स्वभावादि से भेद को प्राप्त होता है, और किसी प्रकार से नहीं॥१५॥ कोई सज्जन यहाँ मिथ्याभिमान करके भ्रान्त नहीं होवों। कर्म स्वभावादि विना कुल में आर्य अनार्य का भेद भी मिथ्या ही है॥१६॥

जिससे यह उच्चावच (अनेक प्रकार के) सब चित्र (आश्चर्यस्वरूप मूर्ति) देह और जगत् रचा गया है; हे सज्जनों! उस सत्यसूत्रधार (व्यवस्थापक-नियन्ता) को तुम सब सुखपूर्वक वा सुखस्वरूप समझो॥१७॥

त एव सज्जना लोके सुखिनश्च[1] विशेषतः।
यैश्चित्राणि विचार्यैवं चित्रवाँल्लक्ष्यते स्वयम् ॥१८॥
निरन्तरं निर्गुणं निर्विकारं निरञ्जनं नित्यमाकारहीनम्[1]।
सन्मात्रकं ज्ञानगम्यं स्वसिद्धं स्वयंप्रभं सुप्रभं ज्ञप्तिमात्रम् ॥१९॥
एतद्धितं ह्यात्मविदो वदन्ति सर्वात्मभावेन तु भावयन्ति।
सर्वाश्रयं सर्वपरं विदित्वा तत्र स्थिताश्चेतनया भवन्ति ॥२०॥२६॥

वे ही सज्जन हैं, और लोक में विशेष सुखी हैं, कि जो लोक इस प्रकार देहादि चित्र को विचार कर, चित्रवान् को स्वयं समझते हैं ॥१८॥ व्यवधान, गुण, विकार, संग रहित, नित्य, आकाररहित, सतमात्र, ज्ञानलभ्य, स्वयंसिद्ध (अजन्य), स्वयंप्रकाश, सुन्दरप्रकाश, ज्ञानमात्र; इसी तत्त्व को आत्मज्ञानी हित कहते हैं, और उसीका सर्वात्मस्वरूप से भावना (चिन्तन) करते हैं, और सबका आश्रय सब से पर उसको जान कर बुद्धिद्वारा उसीमें स्थिर होते हैं ॥१९-२०॥

अक्षरार्थ-जो सब विशेषों से परे असङ्ग आत्मा है, सो आपही कल्पित मनोमाया के कल्पित अनादि सम्बन्ध से कुलाल के समान कर्ता हुआ है।

१ 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥' कठ० २।५।१२। 'ज्ञानवानेव सुखवान्।' यो० वा० ५।९२।४९॥ 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥' भ० गी० अ० १८।६१-६२॥

स्ववश सब प्राणी के अन्तरात्मा एक है, जो अपनी माया से एक स्वरूप को बहुत प्रकार का करता है। जो विवेकी उसको अपने हृदय में जानते हैं; उन्हीं को नित्य सुख मिलना है, अन्य को नहीं ॥ ज्ञानी ही सुखी हैं ॥ शरीर यन्त्र पर स्थिर सब प्राणी को माया से भ्रमाते हुए ईश्वर सबके हृदय में है ॥ सर्वथा उनके शरण में जा, उनकी ही प्रसन्नता से पर शान्ति नित्य स्थान पावोगे ॥

वह दूर वा दूसरा नहीं है, कि जिससे अन्य पदार्थ की नाई उसका खोजना बन सके। और वही कुम्भकार शरीररूप बहुत प्रकार के बासन (पात्र-घडा) को बहुत प्रकार से गढता (बनाता) है ॥ प्रारब्ध कर्म उसके अधिष्ठाता देवादि रूप विधि ने यद्यपि सब साधनों को एक ठाऊं (एकत्र) किया है, और करता है, तथापि उस कर्ता के ही अनेक यत्नों से यह कनाऊं (कार्य-काया) बन कर तैयार हुआ और होता है। अथवा, कनाऊं (क नाम वाला) आत्मदेव बहुत यत्न से शरीरी बना है।

(विधिने, के स्थान में, विधिना, पाठ हो तो अर्थ है कि, कर्ता ने विधि (उपाय-काल-ब्रह्मादि) द्वारा साधनों को एकत्र किया। बने कनाऊं, के स्थान में बानक बानू वा, बनक बनाऊं, पाठ हैं, तहाँ, आरम्भ-संयोग, कार्य को बानक कहते हैं, शुभ वा स्वभाव को बान कहते हैं। अशुभादि को कबान कहते हैं, जंगल को बन कहते हैं) ॥

मानस देह बना कर, फिर माता के जठरानल में उस देह को स्थूल देह सहित करके जलाया (पकाया) और उस अग्नि में भी आपही देह का प्रतिपालक (रक्षक) हुआ ॥ फिर जन्म काल में बहुत यत्न करके उस शरीर सहित गर्भ से बाहर आया। तब शरीरी बन कर वह अपना ही शिव (पुरुष) शक्ति (स्त्री) के अनेक नाम, पिता आदि द्वारा धरवाया और धरवाता है ॥ अर्थात् निर्विशेष चेतन ही आभासादि द्वारा जीव होकर स्त्री पुरुषादि हुआ है, उसीको विचारादि से समझना चाहिये, अन्य को खोजना व्यर्थ है ॥

जैसे किसी सयान (विवेकी) के घर का पुत्र अयान (अज्ञानी-अधर्मी-कुमार्गी) होय, तो वह सयान पिता उस पुत्र के साथ नहीं जाता है। तब सुखी रहता है, अन्यथा दुःखी होता है। तैसे ही अपनी आत्मा की सत्ता आदि से अपने कर्मादि से उत्पन्न देह भी मलमूत्रादिमय होने से अयान (जड़) है, इन्द्रियादि भी अज्ञान दुःखादिमय होने से अयान पुत्र तुल्य ही हैं, इनके संग विवेकी नहीं जाते हैं, इनकी आसक्ति अभिमान

नहीं करते हैं। इससे सुखी मुक्त होते हैं॥ साहब का कहना है कि मैंने तो अपनी सच्ची बात कही है कि अपने ही स्वरूप से मनोमाया द्वारा यह शरीर संसार हुआ है। परन्तु लोक अन्य की सपनी (स्वप्नतुल्य असत्य बातों) को सुन कर, तथा तटस्थ कर्ता आदि की बातों से दिवाना (उन्मत्त) हुए हैं। इससे देहाभिमानादि को त्यागने विना दुःखी होते हैं॥

गुप्त (अज्ञात) प्रगट (ज्ञात) दशा में उस कर्ता की एक ही दूध (जाति) है। अर्थात् वह सदा एक चेतन स्वभाववाला है। तो आत्म-दृष्टि होने पर किसको ब्राह्मण या शूद्रादि कहा जाय। देह भी गुप्त (गर्भ) प्रगट (जन्म) काल में एक ही मलमूत्रादि स्वभाववाला रहता है, तो किसको ब्राह्मण (संस्कृत) कहा जाय, किसको सूधा[1] (संस्कार रहित) शूद्र कहा जाय। इससे शुद्ध ब्राह्मणादिपन का गर्व झूठ है, इस गर्व में कोई सज्जन नहीं भूलो। हिन्दू तुरुक ये दो कुल भी झूठ ही हैं; किन्तु गुप्त प्रगट गौ आदि के दूध के समान एकरस आत्मा को जानों॥

जिन (जिस) सर्वात्मा राम ने अपनी माया आदि द्वारा यह संसार शरीररूप चित्र (पुत्रिका) को बनाया है, और सूत्रधार बनकर सबको नचाता है, केवल वह सूत्रधार (सर्वनियन्ता) ही सत्य है, अथवा हे सुत (शिष्य)! उसी सत्य का धारण करो॥ साहब कहते हैं कि ते (वे) ही जन भले (सुखी-सच्चरित्र) हैं, कि जो इस चित्र को विचार कर इसके अभिमानादि का त्यागपूर्वक सत्य का धारण करते हैं, दूर नहीं दौड़ते, इत्यादि॥२६॥

१. शूधा के स्थान में शूद्रा, पाठभेद भी है।

प्रथम सर्वात्मा कर्ता का कुलाल सूत्रधाररूप से वर्णन किया गया है, सो ब्रह्मा आदि विशेष रूपवाला नहीं है; किन्तु इन्हें भी सत्ता प्रकाश विभूति आदि देनेवाला, इनका भी पारमार्थिक स्वरूप है, व्यावहारिक नहीं; इस आशय से कहते हैं कि—

रमैनी २७

ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा। सात द्वीप पुहुमी नौ खण्डा ॥
सत्य सत्य कै विष्णु दृढाई। तीनि लोक महँ राखिन जाई ॥

जीवत्वमनुभूयापि स्वरूपेण पृथक्स्थितः।
देवोऽसावीशतां प्राप्य मायया विद्यते स्वतः ॥२१॥
वेधसे स ददौ सप्तद्वीपैः खण्डैश्च संयुताम्।
नवभिर्वै महीं सर्वां ब्रह्माण्डं सकलं तथा ॥२२॥
विधाताऽधिकृतश्चात्र ह्यन्तर्यामिपरात्मना।
वर्तते कुरुते कार्यं स्वतन्त्रो नैव विद्यते ॥२३॥
सत्यनामा हि विष्णुश्च सत्त्वेन स्थापितस्तथा।
तेनैव रक्षितः शश्वत्त्रिलोक्यां सोऽपि रक्षकः ॥२४॥

वह सर्वात्मा देव उपाधि आभासद्वारा जीवपन का अनुभव (प्राप्ति) करके भी स्वरूप से पृथक् स्थिर है, तैसे माया से ईश्वरता पाकर भी स्वरूप से रहता है ॥२१॥ वही सात द्वीप नौ खण्ड सहित सब भूमि और सब ब्रह्माण्ड ब्रह्मा को दिया ॥२२॥ उसी अन्तर्यामी श्रेष्ठ आत्मा से अधिकृत (अध्यक्ष) होकर ब्रह्मा यहाँ हैं, कार्य करते हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं ॥२३॥ सत्यनामवाला विष्णु भी उसी सर्वात्मा से सत्यरूप से स्थिर किये गये हैं, और उसीसे सदा रक्षित रहकर तीनों लोक में वह भी रक्षक है ॥२४॥

लिङ्गरूप तब शंकर कीन्हा। धरती खिला रसातल दीन्हा॥
तब अष्टाङ्गी रची कुमारी। तीनि लोक मोहिनि सब झारी॥
द्वितिय नाम पारवती भयऊ। सो कर्ता शङ्कर कहँ दयऊ॥

तयो र्मोहे समुत्पन्ने स्वे प्रभुत्वे कदाचन।
लिङ्गरूपं शिवं सोऽत्र रचयामास चाञ्जसा॥२५॥
आपातालं च तत् कीलं मह्यामस्थापयत् प्रभुः।
तस्यान्तमविदित्वा तौ मोहमुक्तौ बभूवतुः॥२६॥
महादेवविमोहेऽस्मावष्टाङ्गीमकरोद्धरिः।
सा त्रिलोकीं विमोह्याशु चकार स्ववशेऽखिलान्॥२७॥
द्वितीयनामधेया सा पार्वती समभूत् सती।
तपस्यन्तीं पुनस्तां च शङ्करायाददात् किल॥२८॥
अस्त्येवं पुरुषश्चैकश्चेतनात्मा परश्शिवः।
नारी मायात्मिका चैका वर्तते सा गुणात्मिका॥२९॥

उन दोनों को कभी अपनी स्वतन्त्र प्रभुत्व विषयक मोह उत्पन्न हुआ, तब वह कर्ता यहाँ लिङ्गरूप शिव को शीघ्र रचा॥२५॥ और प्रभुने उस लिङ्गरूप को पाताल तक भूमि में कील स्थिर किया, फिर उसके अन्त को नहीं जानकर वे दोनों अभिमान रूप मोह से रहित हो गये॥२६॥ फिर महादेवजी को स्वतन्त्र प्रभुत्व का अभिमानरूप विमोह हुआ तब, उस हरि (कर्ता) ने अष्टाङ्गी को किया (बनाया), फिर वह अष्टाङ्गी त्रिलोकी को विमोहित करके सबको अपने वश में किया॥२७॥ वही अष्टाङ्गी सती दूसरा नामवाली पार्वती हुई, तब वह कर्ता ही तप करती हुई उस पार्वती का शङ्कर के प्रति दान किया॥२८॥ इस प्रकार श्रेष्ठ कल्याण स्वरूप चेतन स्वरूप पुरुष एक है, और त्रिगुण स्वरूप मायारूप वह प्रसिद्ध नारी (पुरुष की स्त्री) भी एक ही

एकहिं पुरुष एक है नारी । ताते रची खानि भौ चारी ॥
शर्मन वर्मन देव औ दासा । सत रज तम गुण धरती अकाशा ॥

साखी ।

एक अण्ड ओंकार ते, सब जग भया पसार ।
कहहिं कबिर सब नारि के, अविचल पुरुष भतार ॥२७॥

अण्डजादिप्रभेदेन जाता वै खनयस्ततः ।
चतस्रोऽपि तथा वर्णा ब्रह्मविष्णुपुरस्सराः ॥३०॥
ब्राह्मणाद्याः समुद्भूताः शर्माद्युपाधिसंयुताः ।
सर्वे ते मानवाः सन्तः कर्माद्यैर्भिन्नतां गताः ॥३१॥
तत एव समुद्भूता रजःसत्त्वतमोगुणाः ।
परस्परस्य साचिव्याद् भूमिखान्तश्च सर्वशः ॥३२॥
ओङ्कारादेव ह्येकस्माद् ब्रह्माण्डं निखिलं जगत् ।
जातं च विस्तृतं तत्र रामनाम्नश्चिदव्ययात् ॥३३॥
भर्ता स एव सर्वेषामचलश्चाद्वयः प्रभुः ।
नारीवच्च जगत्सर्वं तदायत्तं प्रवर्तते ॥३४॥

है ॥२९॥ उसीसे अण्डजादि भेद से चार खानि हुई है । तथा ब्रह्मा विष्णु आदि पूर्वक शर्मा आदि उपाधिवाले ब्राह्मणादि वर्ण भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं । वे सब मानव होते भी कर्मादि से भिन्नता को प्राप्त हुए हैं ॥३०–३१॥ उसीसे रजोगुणादि उत्पन्न हुए हैं, और इन गुणों का परस्पर का साचिव्य (सहायता) से भूमि आकाशतक सब पदार्थ हुए हैं ॥३२॥

राम नामवाला चिदव्ययस्वरूप एक ओंकार से ही ब्रह्माण्ड सब जगत उत्पन्न हुआ है, और उसीमें विस्तृत (तत) है, फैला है ॥३३॥ वही अचल और अद्वय प्रभु (ईश्वर) सबका भर्ता (पति) पोषक धर्ता है । और नारी तुल्य सब संसार उसीके अधीन प्रवृत्त होता है ॥३४॥

ओङ्कारात्मन एकस्माज्जगतो विस्तृतिर्यतः।
ब्रह्माण्डपूर्विका तस्मात्सर्वेषां स पतिः प्रियः ॥३५॥
अक्रियः स च भर्ताऽस्ति सर्वेषां जगतां प्रभुः।
नान्यः तत्सदृशोऽप्यस्ति ह्यधिकस्तु कुतो भवेत् ॥३६॥
सर्वभूतेषु गूढः स सर्वव्यापी निरञ्जनः।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च सर्वात्मा केवलोऽद्वयः ॥३७॥
ब्रह्माणं व्यदधात् तस्मै वेदान् यः प्रहिणोत् प्रभुः।
सर्वबुद्धिप्रकाशोऽसौ मुमुक्षोः शरणं सदा। ३८॥

जिससे ब्रह्माण्ड पूर्वक सब जगत् का विस्तार एक ओंकारात्मा से ही होता है, तिससे वही सब का प्रिय ('वल्लभ-प्यारा) पति (भर्ता) है ॥३५॥ सब जगत् का प्रभु (ईश्वर) भी वह भर्ता अक्रिय है, इससे उसके समान भी अन्य नहीं है, अधिक तो कैसे हो सकता है ॥३६॥ वह सब भूत में गूढ (छिपा) है, सब में व्यापक असंग होते भी कर्मों का अध्यक्ष है, और साक्षी होते भी सबके आत्मा केवल अद्वय है ॥३७। जो प्रभु ब्रह्मा को रचा धारण किया, उन्हें वेद दिया, सब बुद्धि के प्रकाश रूप वही प्रभु मुमुक्षु का सदा शरण (आश्रय रक्षक) है ॥३८॥

अक्षरार्थ- उक्त मायी कर्ता ने ही इच्छारूप नारीजन्य ब्रह्मा को सात द्वीप नौ खण्ड सहित पृथ्वी और ब्रह्माण्ड का अधिकार दिया ॥ (हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्। श्वे० अ० ३।४ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। श्वे० ६।१८) हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) को जो प्रथम जन्माया; जो प्रथम ब्रह्मा को सिद्ध करता है, और उनको वेद (ज्ञान के साधन) देता है, इत्यादि शास्त्र से भी यह अर्थ सिद्ध होता है ॥ और (सत्यः सत्यपराक्रमः। विष्णुस० ३८। हरिः सत्यो जनार्दनः) इत्यादि वचनों के अनुसार, सत्यनामवाले विष्णुदेव को लोक में सत्य करके उस कर्ता ने ही दृढ निश्चय कराया। और तीनों लोक में स्वयं प्राप्त

(विभु) होकर, कार्य विशेष के लिये विष्णु को रक्षक रखा ॥ (यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च ॥ यो देवानामधिपः । श्वे० ४।१२-१३ ॥ यस्माद्विष्णुवाद्यो देवाः सूर्यादिव मरीचयः । यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ योगवा० ३।५।७) जो देवों की उत्पत्ति वृद्धि कारक है ॥ जो देवों का स्वामी है ॥ जिससे विष्णु आदि देव सूर्य से किरण की नाईं होते हैं, समुद्र से बुद्बुदतुल्य अनन्त जगत होता है, वही सच्चा देव कर्ता है ॥

पूर्व कही रीति से व्यावहारिक स्वरूपवाले ब्रह्मा विष्णु स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, परन्तु ऐश्वर्य से उन दोनों के मन में स्वतन्त्र ईश्वरता का अभिमान हुआ, तब कर्ता ने लिङ्गरूप शङ्कर को किया (रचा) । और धरती (भूमि) में रसातलतक उस लिङ्गरूप का खिला (कील) दिया, कि जिसका अन्त नहीं पाने से दोनों अभिमान रहित हुए ॥ फिर शंकर को अभिमान हुआ, तब अष्टाङ्गी नामवाली, वा सुन्दर आठ अङ्गवाली सती नामा कुमारी को कर्ता ने माया से रचा । तब उसने ब्रह्मा आदि तीनों को वा तीन लोकवासी सब देवादि को झार कर मोह लिया । वही सती दूसरी बार पार्वती नामवाली हुई, और तप किया, तब कर्ता ने ही शंकरजी के प्रति उसका प्रदान किया ॥

वस्तुतः सर्वात्मा सच्चा पुरुष एक ही है, और उसकी शक्तिरूप नारी (माया) भी एक ही है, और ताते (उन दोनों से ही) सृष्टि रची गई है, जिसमें अण्डजादि चार खानि भई है ॥ शर्मन् (ब्राह्मण), वर्मन् (क्षत्रिय), देव (वैश्य), दास (शूद्र), और सत्त्व, रज, तमो गुण का विस्तार, और आकाशादि पृथिवी पर्यन्त पांचभूत; ये सब उसी कर्ता से हुए हैं । लिखा है कि, (एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । श्वेता० ६।११। मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् । श्वे० ४।१०) सब में व्यापक सब के अन्तरात्मा एक ही देव सब भूत में

छिपा है ॥ माया को प्रकृति (उपादान) और मायी को कर्ता महेश्वर जानना चाहिये ॥

व्यावहारिक ब्रह्मादि से भिन्न एक ओंकार (मायी ब्रह्म) से ही अनेक ब्रह्माण्ड, और चराचर जगत् (कार्य) का पसार (विस्तार) हुआ है। इससे ब्रह्मा आदि सब नारी (परवश) जीव के एक ही अविचल (अक्रिय-अविनाशी) भतार (भर्ता-स्वामी) है, अन्य नहीं॥ (है नारी सब राम की) यह तीसरा चरण का पाठान्तर है, अर्थ स्पष्ट है ॥२७॥

विशेष विवरण– शिवपु० सं० ३ अ० ८ में लिखा है कि ब्रह्मा विष्णु को ईश्वरत्व में विवाद होने पर, मूर्तरूप वेद प्रणव से पूछा गया, तो वे प्रणव भगवान् सबको ईश्वर स्वरूप ही बताये। तो भी ब्रह्मा नहीं स्वीकार किये, और शिव की निन्दा करने लगे, तब शिव लिङ्गादि प्रगट हुए॥ और ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्णजन्मखण्ड अ० ३६।८ का वचन है कि, (प्रथमे ब्रह्मणो गर्वो मया चूर्णीकृतः श्रुतः । शङ्करस्य च पार्वत्याश्चन्द्रस्य च रवेस्तथा ॥) श्री कृष्णजी कहते हैं कि प्रथम ब्रह्मा का गर्व नष्ट किया गया, तथा शंकर पार्वती, चन्द्र, सूर्य का भी नष्ट हुआ, सो सुना गया है ॥ कृष्णजन्म खण्ड उत्तरार्द्ध द्वितीयाध्यायादि में भी ब्रह्मा विष्णु शिव सूर्यादि के दर्प और उसके नाश का वर्णन है॥ (सुराणां दर्पभङ्गं च दैत्यद्वारा चकार ह। असुराणां सुरद्वारा विरोधेन परस्परम् ॥ अ० ५६।५०) परस्पर के विरोध से सुर के दर्प को दैत्यद्वारा और असुर के दर्प को देवद्वारा नष्ट किया। लिङ्गपु० अ० १७ में भी विवादादि की कथा है। उनका अभ्युपगमवाद से यहाँ वर्णन है ॥२७॥

रमैनी २८

अस जुलहा का मर्म न जाना । जिन जग आनि पसारिन ताना ॥
धरति अंकाश द्वि गाड़ खनाया । चान्द सूर्य दो नरी बनाया ॥

अत्यद्भुतः कुविन्दोऽयमोङ्कारात्मा विचक्षणः ।
रहस्यं तस्य नो विद्युर्युक्तिमन्तोऽपि पण्डिताः ॥३९॥
स जगत्पटवानार्थं भूततन्तुततिं तताम् ।
अकरोज्जीवभोगाय तत्कर्माद्यनुसारतः ॥४०॥
जगत्यां कामकर्मादि कृतं यैर्भोगसिद्धये ।
तैर्न ज्ञातः कुविन्दोऽसौ यो भर्ता जगतः स वा ॥४१॥
कृतौ तेनैव लोकौ द्वावधऊर्ध्वात्मकौ हि यौ ।
गर्तभूतौ समुद्भूतौ पादांशस्थापने हितौ ॥४२॥
नालिके चन्द्रसूर्यौ स्तः कर्मतन्तुप्रतिष्ठिते ।
सुकृतौ भ्रमतः शश्वत्तावध्यात्माधिभूतकौ ॥४३॥

ओंकार स्वरूप पण्डित यह कुविन्द (जुलहा) अत्यन्त अद्भुत (आश्चर्य स्वरूप) है, उसके रहस्य (गुप्त भेद) को युक्तिवाले पण्डित भी नहीं जान सके ॥३९॥ उस कुविन्द ने जीवों के भोग के लिये, जीवों के कर्मादि के अनुसार से ही जगत्‌रूप पट को बीनने के लिये, सर्वत्र तत (व्याप) भूतरूप (आकाशादिस्वरूप) तन्तु की तति (विस्तृति–तानी) बनाया ॥४०॥ अथवा जिन लोकों ने भोग की सिद्धि के लिये भूमि पर काम्य कर्मादि किया, उन लोकों से जो वह जगत का भर्ता है सो जोलहा नहीं समझा गया ॥४१॥ उस कर्ता ने ही दो लोक बनाया, जो दोनों लोक नीचा ऊपर लोक रूप हैं । और वे ही दोनों लोक संसार शरीर पट के बुनने काल में मानों उस कुविन्द के पाद (चरण) का अंश (एकदेश–भाग) के स्थापन (रखने) में हित (सहायक) गर्तस्वरूप उत्पन्न हुए हैं ॥४२॥ कर्मरूप तन्तुओं से प्रतिष्ठित (आश्रित) चन्द्रमा सूर्य नालिका

सहस तार लै पूरनि पूरी। अजहूं बिनै कठिन है दूरी ॥
कहहिं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिनै भल कोरी ॥२८॥

तारकाणां सहस्रैः स भौतीं ततिमपूरयत्।
विश्वं च श्वासताराभिः सर्वमेव कलेवरम् ॥४४॥
वयत्येव कुविन्दोऽयमद्याप्येवं न संशयः।
अनादियुगमारभ्य यावज्ज्ञानं न लभ्यते ॥४५॥
तावद् दूरं च वानेन काठिन्यं सर्वदेहिनाम्।
सर्वत्र वर्तते साधो! कर्मादिपारवश्यतः ॥४६॥
संधाय कर्मभिर्यस्मात् तन्तुवायः परेश्वरः।
उच्चावचशरीरादि सम्पादयति सर्वदा ॥४७॥

(नरी) हैं, और सुन्दर रचित अध्यात्म अधिभूत स्वरूप वे दोनों चंद्रसूर्य सदा भ्रमते (चलते) रहते हैं ॥४३॥

उस कुविन्द ने ताराओं का सहस्र (अनन्त) द्वारा भूत के विकार रूप तति (तानी) को और विश्व (संसार) को पूर्ण किया, और सब शरीरों को श्वासप्रश्वास रूप ताराओं से पूर्ण किया ॥४४॥ अनादि युगों से आरम्भ करके अबही भी यह कुविन्द संसार देह रूप पट को बीनता ही हैं, इसमें संशय नही है, और जबतक ज्ञान नहीं मिलेगा, तबतक दूर समय पर्यन्त इसी प्रकार बीनने से और कर्मादि की अधीनता से हे साधो! सर्वत्र सब देही को काठिन्य (निष्ठुरता-जडता) है (मुश्किल है) ॥४५-४६॥ जिस कारण से तन्तुवाय (जुलहा) परमात्मा, त्रुटित संसार का संतान (प्रवाह) को फिर जीवों के कर्मों से संधान (मिलान) करके उच्चावच (अनेक प्रकार के) शरीरादि का सदा संपादन (सिद्धि) करता है ॥४७॥

तं कः सत्यं नरो वेद प्रब्रूयाद्वा कथञ्चन।
काम्यकर्मादि कुर्वाणो मोहद्रोहादितत्परः ॥४८॥
[1]सूर्याचन्द्रमसौ यो वै यथापूर्वमकल्पयत्।
तं यो वेद स वेदाऽत्र सत्यं नान्यस्तु कश्चन ॥४९॥

इति रमैनीरसोद्रेके सत्यकर्तृवर्णनं नामैकादशः प्रवाहः ॥११॥

काम्य कर्मादि करनेवाला, मोहद्रोहादि में तत्पर कौन मनुष्य उस सत्य को किसी प्रकार जान वा कह सकता है ॥४८॥ सूर्य चन्द्रमा को भी पूर्वकल्प के समान जो बनाया, उस को जो जानता है, सोई यहाँ सत्य को जानता है, और अन्य कोई नहीं जानता ॥४९॥

अक्षरार्थ–उक्त अविचल भर्ता ही ऐसा अद्भुत जोलाहा है, कि उसके मर्म (रहस्य) को बड़े २ लोक भी नहीं जान सके। पूर्ण रीति से कोई नहीं जाना। और जिन (जिस) ने जगत में आनि (आकर-वा ले आकर) तत्त्वादि रूप ताना को पसारा (फैलाया) है। इससे सर्वत्र वर्तमान है, तो भी उसकी लीला को कोई नहीं जाना। और उसने देहादि पट बुनने के लिये भूमि और आकाश (स्वर्ग) रूप दो गाड़ (गड़हा) खनाया है। तथा अध्यात्माधिभूत (दैव) रूप चन्द्र सूर्य दो २ नाडी बनाया है। (कपड़ा बुनने के समय जिसमें पैर देकर यन्त्र चलाया जाता है, उसे गाड़, कहते हैं। और सूत्र का आधार नाड़ी होती हैं)। इन नाड़ी द्वारा समष्टि व्यष्टि देह रूप पट को कर्ता बुनता है ॥ अथवा जिन जीवों ने विवेक विना काम्य कर्मादि रूप ताना संसार में लाकर पसारा, ऐसे लोगों ने जुलाहे का भेद नहीं जाना, कि जिस जुलाहा ने धरती आकाश को गाड़ रूप खनाया है, इत्यादि ॥

१ 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' ॥ ऋग्वे० मं० १० अ० १२ सू० १९१।३॥ 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।" ऋग्वे० १०।११।१२९।७॥

भाव है कि आत्मा ही माया अविद्यादि द्वारा ईश्वरत्व जीवत्वादि का लाभ किया है, इससे जुलाहा है। और (पृथिवी च पृथिवीमात्रा च। प्रश्न० ४।८) इत्यादि श्रुतिवर्णित अपञ्चीकृत भूतों को ताना कहा गया है। स्थूल लोक को गाड़ कहा गया है॥ और (आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः। प्रश्न० १।५) इसके अनुसार सूर्य सब प्राणी के अन्दर प्राण (भोक्ति शक्ति) रूप हैं, और चन्द्रमा रयि (धन भोग्य पदार्थ) स्वरूप हैं, और भोक्ता भोग्य से ही संसार व्याप्त है, इससे सदा अपनी गति रसदान रसशोषणादि द्वारा भोक्ताभोग्यमय संसार पट को सिद्ध करनेवाले चन्द्रसूर्य हैं॥ और (सर्वेच्छारहिते भानौ यथा व्योमनि तिष्ठति। जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया॥ यो० वा० ४।५६।२९) सब इच्छा रहित सूर्य के आकाश में रहते जैसे व्यवहार होता है, तैसे सर्वात्मा देव की सत्ता मात्र से सब क्रिया होती है॥ सो इदंस्वरूप से अज्ञेय है (को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं सृष्टिः। ऋग्वे० १०।११।१२९।६); क्योंकि कौन अद्धा (साक्षात्) जानता है; वा विशेष रूप से कह सकता है कि हम सब कहाँ से आये, किससे यह सृष्टि हुई। इत्यादि आशय से ही यह वचन है॥

उस कर्ता ने सहस (अनन्त) ताराओं को लेकर (रच कर) आकाश रूप पूरी (थान) को पूरन (भरनी) किया। और मनोवृत्ति श्वास-प्रश्वास से देह को पूर्ण किया है। और इस प्रकार चराचर पट को वह अजहूं (अब भी) बिनता है। तथा मोक्ष बिना कठिन दूर समय तक बिनता रहेगा। अथवा वह सर्वत्र पट बिन रहा है, परन्तु अज्ञ के लिये कठिन दूर देश में है॥ और साहब का कहना है कि जीवों के कर्मों से ही टूटे हुए तन्तुओं को जोड़ कर वह कर्ता रूप कोरी (जुलाहा) सूत कुसूत सभी को भलीभांति से बिनता है। अर्थात् प्रलय मृत्यु होने पर भी शुभाशुभ कर्मानुसार ही शरीरादि बनाता है, संसारप्रवाह को कायम रखता है, इससे वह निर्दोष है॥ (पुण्यो ह वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

बृ० ३।२।१३॥ वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति। ब्रह्मसू० २।१।३४) पुण्य कर्म से पुण्य (श्रेष्ठ) पाप कर्म से पाप (नीच) होता है ॥ इसीसे ईश्वर में विषमता क्रूरता दोष नहीं है, सो वेद कहता है ॥२८॥

सद्गुरु बिना भ्रान्ति निरूपण प्रकरण ॥१२॥

जिसके विचार अनुभवादि से कल्याण होता है, उस सत्य कर्ता का वर्णन प्रथम हुआ है, परन्तु उसका अनुभव, शमदमादि दयालुतादि रूप सर्वाङ्गयुक्त ज्ञानी सद्गुरु से विवेकादि अङ्ग (साधन) युक्त शिष्य को ही होता है, अन्य गुरु से अन्य शिष्य को नहीं होता। इससे अनुभव के लिये साधन युक्त होकर, पूर्णाङ्ग सद्गुरु का खोज करना चाहिये, इत्यादि आशय से कहते हैं कि-

रमैनी २९

यहि विधि कहौं कहा नहिं माना। मारग मांहिं पसारिन ताना ॥
रात दिवस मिलि जोरिन तागा। औंटत काटत भरम न भागा ॥

उक्तेन विधिना शश्वदस्माभिः सन्नु कथ्यते।
सर्वात्मैवाऽव्ययः कर्ता जनैर्नायं तु [1]मन्यते ॥ १ ॥
प्रकल्प्यान्यं तु कर्तारं भ्रमेणैव जना इमे।
तत्प्राप्त्यर्थानि कर्माणि प्रतन्वन्ति हि कामुकाः ॥ २ ॥

उक्त विधि (क्रम) रीति से सदा हम लोकों से सत कहा जाता है, नु (प्रश्न हुआ कि क्या वह सत्य है), उत्तर है कि अविकारी सर्वात्मा ही कर्ता है, परन्तु मनुष्यों से यह माना नहीं जाता ॥१॥ ये कामी लोक तो भ्रम से ही अन्य कर्ता की कल्पना करके उस की प्राप्ति के लिये कर्मों का

---

१ 'यद्यदालोचते किञ्चित्कश्चित्तत्तन्न विद्यते। ईप्सितानीप्सितादन्यन्न तत्र यतते जनः' ॥ यो० वा० ४।५७।३०।

भरमा सब घट रहल समाई । भरम छोड़ि कतहूं नहिं जाई ॥
परै न पूरि दिनहुं दिन छीना । तहँइँ जाय जहँ अंग विहीना ॥

संसारसरणावेवं काम्यकर्मादिलक्षणाम् ।
विततिं ते वितन्वानाः संदधत्यनिशं त्विमाम् ॥ ३ ॥
कर्मादिलक्षणांस्तन्तून् संदधाना इमे नराः ।
विब्रुवन्तो विवर्तन्ते वादान् बहुविधान् सदा ॥ ४ ॥
विचारेण विना नैषां [1]गुरुपादं बिना न च ।
भ्रमोऽतोऽपगमन्न।द्यपर्यन्तं वाऽपगच्छति ॥ ५ ॥
सर्वेषां हृदये चैता वासना भ्रमराशयः ।
प्रविश्यात्रावतिष्ठन्ते नश्यन्ति न कदाचन ॥ ६ ॥
एतेऽपि च न तास्त्यक्त्वा यान्ति कुत्रापि मानवाः ।
गुरूणां शमनिष्ठानां शरणे बोधसिद्धये ॥ ७ ॥

विस्तार करते हैं ॥२॥ वे लोक संसार के सरणि (मार्ग) में इस प्रकार काम्यकर्मादिरूप वितति-(विस्तार तानी) को फैलाते हुए, फिर इसी को सदा जोडते हैं ॥३॥ और ये मनुष्य सब कर्मादि रूप तन्तुओं को सदा जोडते हुए, तथा बहुत प्रकार के वादों को कहते हुए ही सदा विरुद्ध वर्ताव करते हैं ॥४॥ इसी से विचार के विना तथा श्रेष्ठ गुरु बिना आजतक भ्रम नहीं गया न जाता है ॥५॥

भ्रम के नहीं भगने से ये वासना और भ्रम की राशि (पुंजे) सब के हृदय में पैठ कर यहाँ स्थिर हैं, कभी नष्ट नहीं होती हैं ॥६॥ ये मनुष्य भी उन्हें त्याग कर कहिं शमनिष्ठ गुरु के शरण में ज्ञान की सिद्धि के लिये नहीं जाते हैं ॥७॥ इसीसे पूर्ण पद (स्थान-निश्चय) और उत्तम शान्ति

१ 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' । मुण्ड० १।२।१२॥ 'न विना ज्ञान-विज्ञाने मोक्षस्याधिगमोभवेत् । न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः' ॥ म० भा० शाः अ० १७४।४६॥

जो मत आदि अन्त चलि आया। सो मत सब उन प्रगट सुनाया॥

अतो न लभ्यते पूर्णं पदं न शान्तिरुत्तमा।
संतोषोऽपि कुतस्तेषां येषां ज्ञानं न विद्यते॥ ८॥

क्षीयन्ते ते कुसङ्गेन मानमोहादिभिर्भृशम्।
तत्र यान्त्यविवेकेन तिष्ठन्त्यज्ञा नरा यतः॥ ९॥

विवेकचक्षुषा हीनाः शमाद्यङ्गैर्विवर्जिताः।
बोधसूर्यकथा यत्र [1]श्रूयते न कदाचन॥१०॥

जन्मादीनां यया मत्या प्रवाहो न विभिद्यते।
अशुश्रुवन् मतिं तां ते नैव जातु विवेकजाम्॥११॥

भी नहीं मिलता है, और जिनको ज्ञान नहीं है, उनको संतोष भी कहाँ से हो॥८॥ वे लोक कुसंग और मानमोहादि से भृश (अतिशय) नष्ट होते हैं, और अविवेक से तहाँ जाते हैं, कि जहाँ विवेक चक्षु से रहित, शमदमादि अङ्गो से हीन अज्ञ मनुष्य रहते हैं, और जहाँ बोधरूप सूर्य की कथा भी कभी नहीं सुनी जाती है॥९–१०॥ और जिस मति (बुद्धि इच्छा) से जन्मादि का प्रवाह नष्ट नहीं होता है, उसी मति को वे लोक सुनाये, विवेकजन्य मति का श्रवण कभी नहीं कराये॥११॥

१ 'श्रवणं त्रिविध प्रोक्त सात्विक राजस तथा। तामसं च महाभागाः सुज्ञोक्तं निश्चयाऽन्वितम्॥ सात्विकं वेदशास्त्रादि साहित्य चैव राजसम्। तामस युद्धवार्ता च परदोषप्रकाशनम्॥ सात्विकं त्रिविध प्रोक्तं प्रज्ञावद्भिश्च पण्डितैः। उत्तमं मध्यमं चैव तथैवाऽधममित्युत॥ उत्तमं मोक्षफलदं स्वर्गद मध्यम तथा। अधम भोगदं प्रोक्तं निर्णीय विदितं बुधैः'॥ देवीभा० स्क० १।६।१०॥

साखी ।

वह संदेश फुर मानेहु, लीन्हो शिरहिं चढाय।
सन्तो है सन्तोष सुख, रहु तो हृदय जुड़ाय ॥२९॥

सत्यं मत्वा हि संदेशं तमेवेमे नराः सदा ।
खिद्यन्ते मस्तके धृत्वा सन्तोषादि विना जडाः ॥१२॥
भो भोः साधो त्वयाऽद्यापि संतोषोऽयं निषेव्यताम् ।
यतोऽयं वै महासौख्यं हृत्तापस्य निबर्हणः ॥१३॥
तदर्थं च विवेकादि शमाद्याश्रियतां त्वया ।
यद्येवं स्थीयते साधो हृच्छान्तिर्लभ्यते ध्रुवम् ॥१४॥२९॥

उस पूर्ववर्णित मत का संदेश (वार्ता) को ही सत्य मान कर, और मस्तक पर धर कर (शिरोधार्य मान कर) ये जड़ मनुष्य सब संतोषादि विना सदा दुःखी होते हैं ॥१२॥ हे साधो ! अद्य (आज के दिन) भी यह संतोष तुम से सेवा जाय तो अच्छी बात है, जिससे यह संतोष महासुखरूप और हृदय के ताप का निवारक है ॥१३॥ उस संतोष के लिये विवेकादि और शमादि का आश्रयण धारण करो । हे साधो ! यदि इस प्रकार स्थिर होगे तो अवश्य हृदय में शान्ति पाओगे ॥१४॥

अक्षरार्थ– यहि विधि (इस पूर्वरीति) से सदा गुरु सद्गुरु रूप मैं कहता हूं (सर्वात्मा सत्य कर्ता का उपदेश देता हूं) परन्तु विवेकादि विना किसी ने कहा नहीं माना, किन्तु सब लोकों ने गमनागमन के मार्ग में काम्यकर्मादि रूप ताना को ताना (फैलाया) और उन कर्मादि रूप तागा (तन्तु–ताना) को रातदिन परस्पर मिल २ कर जोड़ते हैं, और जोड़े हैं, उन के साधनों का बार २ ग्रहण करते हैं, तथा कर्मादि के प्रतिपादक ग्रन्थादि को सदा ओंटते काटते हैं (विधि निषेध-वाद विवाद करते हैं); परन्तु इससे इन के हृदय का भ्रम (अज्ञान संशयादि) नहीं भगा (नष्ट दूर नहीं हुआ) ॥

सब के घट (हृदय) में भ्रम समाय रहा है, और ये लोक भ्रम भ्रान्त पुरुष को छोड़ कर सद्गुरु के शरण सत्संगादि में कहीं नहीं जाते हैं ॥ इसले कभी पूर नहीं पड़ता है (पूर्णपद मोक्ष तृप्ति संतोष की प्राप्ति कभी नहीं होनी है) किन्तु ये लोक दिन हुं दिन (सदा) क्षीण (नष्ट) होते हैं। असमर्थ होते हैं। इस अवस्था में भी तहाँ ही जाते हैं कि जहाँ विवेक शमादिरूप ज्ञान के अङ्गों (साधनों) से विहीन (रहित) अज्ञानान्ध लोक रहते हैं ॥ वहाँ जाने पर जो मत (धर्म-समझ-विषयादि) से इन जीवों के आदि अन्त (जन्ममरण) होते चले आ रहे हैं, सोई सब मत उन अज्ञों ने इन्हें प्रगट करके सुना समझा दिया, आदि अन्त-वाली वस्तु रागद्वेषमय सिद्धान्त को ही दृढ कराय दिया कि जिससे पूर्ण पद की संभावना भी नहीं रही ॥

हे मनुष्यो ! वह संदेश (उस मिथ्या बात) को तुम लोकों ने फुर (सत्य) माना है, और उसीको शिर पर भी चढाय लिया है, शिरोधार्य समझ कर स्वीकार किया है। जिससे आशा तृष्णादि की अत्यन्त वृद्धि होने के कारण शोकादि से तेरा हृदय तपता है। हे सन्तो ! सन्तोष ही सुखरूप है, आशातृष्णादि त्याग कर विचारादिसे सन्तुष्ट रहो, तो अब ही हृदय जुड़ाय (शीतल शान्त हो) जाय।

(' यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ' ॥ म० भा० शा० १७४।४६॥ ' अस्मिञ्जगति जन्तूनां जरामरणशालिनाम्। अजरामरणं कर्तुं संतोषोऽस्ति रसायनम् '॥ यो० वा० ६।२।४७।४३)

कामजन्य सुख वा दिव्य महान् सुख तृष्णा की निवृत्तिजन्य सुख का सोलहवां भाग के तुल्य भी नहीं है ॥ जरा मरणवाले जन्तुओं को अजर-अमर करनेवाला रसायनरूप इस जगत में संतोष ही है ॥२९॥

रमैनी ३०

वे भूले षट दर्शन भाई । पाखण्ड वेष रहा लपटाई ॥
जीव शीव का आहिं नशौना । चारो बद्ध चतुर्गुण मौना ॥

विवेकाद्यङ्गहीनानि दर्शनानि हि यानि षट् ।
योग्यादिनामधेयानि तानि भ्रान्तानि सर्वशः ॥१५॥

अतश्च खलु पाखण्डाः[1] सक्ता वेषेषु सर्वदा ।
दृश्यन्ते मङ्गलं तेऽत्र जीवानां नाशयन्ति हि ॥१६॥

भ्रमेणैव च सर्वेऽमी निबद्धा अण्डजादयः ।
संमूके स्थावरे चैव बन्धसत्ता चतुर्गुणा ॥१७॥

तमसोऽत्यतिरेकेण विवेकाभावतस्तथा ।
स्थावरे जङ्गमे चापि बन्धवृद्धिर्भवत्यलम् ॥१८॥

विवेकादि अङ्ग से रहित, योगी आदि नामवाले जो छौ दर्शन (धर्म-धर्माभिमानी) हैं, सो सब भ्रान्त (भ्रमयुक्त) हैं ॥१५॥ इसीसे सब पाखण्ड (सर्व वेषमात्रधारी) लोक सदा वेषों में ही आसक्त दीखते हैं, और तिसी से यहाँ सब जीवों के मङ्गल (शुभ-कल्याण) को नष्ट करते हैं ॥१६॥ भ्रम से ही अण्डजादि ये सब प्राणी निबद्ध (अत्यन्त बँधे) हैं । और अत्यन्त मूक स्थावर प्राणी में बन्धन की सत्ता चतुर्गुण (चतुरावृत्तियुक्त) है ॥१७॥ तमोगुण का अत्यन्त अतिरेक (वृद्धि) से तथा विवेक के अभाव से ही स्थावर में वा जङ्गम में संसारबन्धन की अत्यन्त वृद्धि होती है ॥१८॥

---

१ ' शास्त्राचारव्रतैश्चैव नानाधर्मप्रजल्पनैः । सम्मोह्य वित्तहर्तारः पाखण्डास्ते प्रकीर्तिताः ' ॥ भक्तमालस० १॥ ' न लिङ्गं धर्मकारणम् ' । मनु० ६।६६॥ ' न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ' । भ० गी० ३।४॥

जैनी धर्मक मर्म न जानै । पाती तोरि देव घर आनै ॥
दमना मरुआ चम्पक फूला । मानहु जीव कोटि समतूला ॥
औ पृथिंवी के रोम उपारै । देखत जन्म आपनो हारै ॥

दया सर्वत्र भूतेषु सत्याऽहिंसाक्षमादयः ।
धर्मः परतमः सद्भिर्गीतो बोधः सनातनः[1] ॥१९॥
जैना अपि न तं धर्मं सरहस्यं विदुस्ततः ।
पुष्पपत्रादि संछिद्य जीवयुक्तात्तरोरपि ॥२०॥
मन्दिरादौ नयन्त्येव मूर्तये नन्वचेतसे ।
चम्पकप्रस्थपुष्पाणां दमनानां तथैव च ॥२१॥
पुष्पाणि यैस्तु मन्यन्ते जीवकोटियुतान्यपि ।
तानि तैरपि चार्प्यन्ते मूर्तये खल्वचेतसे ॥२२॥
किञ्च देहस्य लोमानि लुञ्चन्त्येते कुबुद्धयः ।
पृथिव्या लोमभूतांश्च लुञ्चन्ति ते वनस्पतीन् ॥२३॥

सब भूतों पर दया, सत्य अहिंसा क्षमा आदि सतपुरुषों से ये अत्यन्त श्रेष्ठ सनातन (अनादि) धर्म कहा गया है, और आत्मज्ञान भी परम श्रेष्ठ सनातन धर्म कहा गया है ॥१९॥ जैन लोक भी रहस्य सहित उस धर्म को नहीं जानते, तिसीसे जीवयुक्त वृक्ष से भी पुष्प पत्रादि तोड़ कर, अचेतन मूर्ति के लिये ही मन्दिरादि में अवश्य ले जाते हैं। और चम्पा प्रस्थपुष्प (मरुआ) तथा दमना के पुष्पों को जिन्होंको करोड़ों जीवों से युक्त माना जाता है, उनसे भी वे पुष्प अचेतन मूर्ति के लिये ही अर्पे (चढाये) जाते हैं ॥२०-२१-२२॥

और ये कुबुद्धि लोक देह के लोमों (केशों) को उखाड़ कर हटाते हैं, तथा पृथिवी के लोमरूप वनस्पतियों को उखाडते हैं ॥२३॥ इससे वे लोक

१ ' इज्याऽऽचारदमाऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ' ॥ याज्ञव० स्मृ० १।८॥ 'सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषश्च क्षमाऽऽर्जवम्। ज्ञानं शमो दया दानमेष धर्मः सनातनः ' ॥ गरुडपु० खं० १।२२१।२४॥

मनमथ बिन्दु करै असगारा । कलपै बिन्दु खसै नहिं द्वारा ॥
ताकर हाल होय अद्भूता । छौ दर्शन महँ जैनि बिगूता (र्ची) ॥

पश्यन्तोऽपि च ते तस्मादपश्यन्त इव स्थिताः ।
जीवितं व्यर्थयन्तीव नो कुर्वन्त्यात्मनो हितम् ॥२४॥

वज्रोल्यादिरताः केचिन्मन्मथस्यापि बिन्दुना ।
कुर्वन्तीवातिविद्रोहं सुबीभत्सेन वर्त्मना ॥२५॥

यतः क्षुभ्यति बिन्दुश्च पतति द्वारतो नहि ।
तस्य चित्रा दशाऽवश्यं जायते नाऽत्र संशयः ॥२६॥

एव च कुर्वतां तेषां जैनानां गतिरद्भुता ।
भवेद् दुःखकरी नूनं नश्यन्ति ते कुयोगतः ॥२७॥

दर्शनेषु निहीनास्ते यतो धर्मादिसाधनम् ।
त्यजन्त्यनवधानेनाऽधर्मं धर्मं च मन्वते ॥२८॥

लोम लुञ्चन से दुःख, वृक्षों से उपकार देखते हुए भी नहीं देखते हुए के समान स्थिर हैं, और जीवन को व्यर्थ करते हुए के तुल्य हैं, अपना हित नहीं करते हैं ॥२४॥ और वज्रोलीमुद्रा आदि में प्रवृत्त कोई लोक काम के बिन्दु के साथ भी अत्यन्त बीभत्स (विकृत पाप-निन्दित) मार्ग से अत्यन्त विद्रोह के समान करते हैं ॥२५॥ जिससे कामबिन्दु (वीर्यरूप शुक्र का अंश) क्षुब्ध (चंचल) होता है; परन्तु लिङ्गद्वारा गिरता नही है। फिर उस बिन्दु की चित्रा (आश्चर्ययुक्त) दशा अवश्य होती है, इसमें संशय नहीं ॥२६॥ ऐसे करनेवाले उन जैनों की भी विस्मययुक्त दुःख के हेतु रूप गति अवश्य होगी। वे लोक कुयोग से नष्ट होते हैं ॥२७॥ जिससे वे लोक धर्मादि के साधन को प्रमाद से त्यागते हैं, और अधर्म को धर्म मानते हैं, इससे दर्शनों में निहीन (नीच) हैं ॥२८॥

साखी ।

ज्ञान अमर पद बाहरे, नियरे ते है दूर ।
जानै ताको निकट है, अनजाने को दूर ॥३०॥

ज्ञानरूपस्य शुद्धस्यामृतस्याद्वयरूपिणः ।
ज्ञानं दर्शनकर्मभ्यो बहिरेवावतिष्ठते ॥२९॥
अन्तिकस्थाद्यतो दूरे वर्तन्ते तानि सर्वदा ।
अतस्तत्त्वं न तैरत्र लभ्यते न मनोजयः ॥३०॥
आत्मज्ञानामृताद्येऽत्र बहिस्तिष्ठन्ति मानवाः ।
अन्तिकस्थात्सुदूरे ते वर्तन्ते नाऽत्र संशयः ॥३१॥
ज्ञातुरत्यन्तिकस्थोऽसौ सर्वात्मा हरिरव्ययः ।
चित्स्वरूपः सदा भाति [1]मूढेभ्यो दूरतोऽपि च ॥३२॥
दवीयसां दविष्ठं तदन्तिकानां तदन्तिकम् ।
कनीयसां कनीयस्तज्ज्येष्ठं च ज्यायसामपि ॥३३॥

ज्ञान स्वरूप शुद्ध अमृत अद्वैत स्वरूप का ज्ञान दर्शनों के कर्मों से बाहर ही रहता है ॥२९॥ जिससे वे दर्शन पास में स्थिर वस्तु से सदा दूर रहते हैं, इससे वे दर्शन यहां तत्त्व वस्तु या मनोजय को नहीं प्राप्त करते हैं ॥३०॥ जो मनुष्य यहाँ आत्मज्ञानरूप अमृत से बाहर रहते हैं, सो यहाँ पास में स्थिर वस्तु से अत्यन्त दूर रहते हैं, इस में संशय नहीं ॥३१॥ जाननेवाला के अत्यन्त पास में ही स्थिर, वह सब के आत्मा अव्यय चेतन स्वरूप हरि सदा प्रकाशते हैं, और मूढों से अति दूर भी भासते हैं ॥३२॥ योगवाशिष्ठ ५।९१।११८ में लिखा है कि, वह सत्य वस्तु अति दूरों का भी अति दूर है, और

---

१ ' तद्दूरे तद्वन्तिके ' । ईशोप० ५ ॥ ' दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ' । मुण्डक० १।३।७॥ ' एष ब्रह्मलोकः, एषाऽस्य परमा गतिः, एषोऽस्य परमोलोकः । ' बृ० ४।३।३२॥

अति समीपों का भी अतिसमीप हैं, और अति अल्प छोटा में भी अति अल्प है, तथा अति बड़ा वृद्धों में भी अति बड़ा हैं ॥३३॥

अक्षरार्थ- हे भाई ! जन्ममरण के मार्ग को बतानेवाले विवेकादि रहित वे षट्दर्शनी भी भूले हैं। सत्यमार्ग सत्य वस्तु को नहीं जानते हैं। इसीसे इनके देहों में पाखण्डरूप वेष ही लिपटा रहा है, तथा ये लोक पाखण्ड वेष में लिपटे (आसक्त) हैं ॥ और वह पाखण्ड वेष, उसकी आसक्ति जीवों के शिव (कल्याण) के नशौना (नाशक) है, या जीव शिव दोनों को नशौना (भुलानेवाला) है। जीवेश्वर के ज्ञान में विघ्नरूप है। और कल्याण के नाश ज्ञान के अभाव से ही चारो खान के जीव बद्ध (बन्धनयुक्त) हैं। उनमें भी मौन (मूक-स्थावर) जीव चतुर्गुण (चार गुण) बन्धन युक्त हैं, तमोगुण से अत्यन्त अज्ञानान्ध हैं। अथवा योगी, जंगम, शेवड़ा, संन्यासी; चार दर्शनी वेषाभिमानादि से बद्ध हैं, और पञ्चम मौन (बौद्ध) चतुर्गुण बद्ध हैं, अनीश्वरवादी शून्य चिन्तक बने हैं ॥

जैनी भी सत्यधर्म का मर्म (रहस्य-भेद) को नहीं जानता है। इसीसे सजीव वृक्षादि की पत्ती को तोड़कर देवघर (मन्दिर) में आनता (ले आता) है। और निर्जीव मूर्तियों पर उसे चढाता है। इससे अपना मान्य अहिंसा धर्म का मर्म भी नहीं जानता है ॥ और दवना मरुआ चम्पा के फूल तो मानहु (मानो) करोड़ो जीव के समतूल (बराबर-समान) हैं, क्योंकि अनेक कृमि बीजादियुक्त हैं, या जैनी उन्हें करोड़ो जीव तुल्य मानते हैं। तो भी अहिंसा धर्म को माननेवाले जैनी उन्हे तोड़कर लाते हैं, इससे धर्म के मर्म को नहीं जानते हैं। और इष्ट पूर्तादि धर्म के मर्म को नहीं जानने से उनका निषेध करके केवल देवघर में पाती लाते है, इत्यादि ॥

और पृथिवी (पार्थिव देह) के लोम (बालों) को जैनी उखाड़ते हैं, जिससे जीव को पीड़ित करते हैं, तथा भूमि के लोमरूप वनस्पतियों

को उखाडते हैं; वनस्पतियों के रहने लगाने से अन्य प्राणी के हितरूप धर्म को नहीं मानते हैं, इससे अहिंसा को धर्मरूप देखते (जानते) रहने पर भी 'रहस्य के ज्ञान विना अपने जन्म को कुमार्ग में हारते (नष्ट करते) हैं ॥ और वज्रोली मुद्रा आदि के प्रेमी एक प्रकार के जैनी वा हठी योगी मन्मथ (काम) का बिन्दु के साथ अस (ऐसा) रार (हठ विद्रोह) करना है कि जिससे बिन्दु कलपता (चञ्चल) होता है, परन्तु लिङ्गद्वार से खसता (गिरता) नहीं हैं ॥ तो भी ताकर (उस बिन्दु का और उसके दुरुपयोगी का) अद्भुत (आश्चर्ययुक्त) हाल (दशा–फल) होता है । इससे सत्यविभु ईश्वर को नहीं माननेवाला विरुद्ध क्रिया परायण जैनी सब दर्शनों से अधिक अपना कल्याण को विगोता (गमाता) है ॥

ज्ञान स्वरूप अमर पद (मोक्षस्थान-वस्तु) से जो बहार (रहित) है (विषयलोकादि में सत्य बुद्धि से फंसा है) सो नियरे (पास की वस्तु) से ही ज्ञान बिना बहुत दूर है । क्यों कि जो जानता है, ता को (उस के लिये) अमरपद बहुत निकट (पास) में है, अनजान (अज्ञ) के लिये दूर (आकाशादि) में हैं । इस से आत्मज्ञान विना ही तप्तशिला अनेक लोकादिरूप मोक्षस्थानों की कल्पना लोक करते हैं । और एक सत्यात्मा का ज्ञान होने पर राग द्वेषादि के अभाव से काल कृत दूरता भी मोक्ष में नहीं रहती है, न द्वन्द्व दुर्गण की संभावना रहती है, इस से एक आत्मज्ञान ही परम धर्म रूप है, उस की प्राप्ति करनी चाहिये इत्यादि॥३०॥

जो सत्य सर्वात्मा ब्रह्म अज्ञान और ज्ञान से दूर और समीप होता है, उस की शक्ति का और उस के ज्ञानादि बिना संसार गति का वर्णन करते हैं कि–

रमैनी ३१

वज्र हुं ते तृण क्षिण महँ होई। तृण ते वज्र करै पुनि सोई॥
निझरू नीरु जानि परिहरिया। कर्मक बाँधल लालच करिया॥
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया। झूठी नाम सांच लै धरिया॥

वज्रतुल्योऽपि दुर्भेद्यस्तृणेन तुल्यतां क्षणात्।
प्रयाति प्रलयादौ [1]यस्तं वज्रं च करोति यः[2] ॥३४॥
निर्ज्ञाना बुद्धिहीनाश्च त्यक्त्वा तं ह्यविनाशिनम्।
कर्मरज्जुसुसंनद्धा लोभं कुर्वन्ति वस्तुनः ॥३५॥
[3]धर्म्यं कर्म परित्यज्य [4]मतिं त्यक्त्वा तु भाविनीम्।
सुबुद्धिं दूरतस्त्यक्त्वा यत्र क्वापि व्रजन्ति हि ॥३६॥

वज्रतुल्य दुर्भेद्य जो संसार प्रलयादि काल में क्षणभर में तृण के तुल्यता को प्राप्त होता है। और फिर उस को जो परमात्मा सर्गादि काल में वज्र (हीरा–पवि) रूप दुर्भेद्य करता है ॥३४॥ दुष्ट ज्ञान अज्ञानवाले बुद्धिहीन लोक कर्मरस्सी से अत्यन्त बद्ध होकर, उस अविनाशी परमात्मा को त्याग कर ही अन्य तुच्छ वस्तु का लोभ करते हैं ॥३५॥ और धर्मयुक्त कर्म को त्याग कर, और 'भावयते' इति भाविनी, आगे अभीष्ट प्राप्त कराने वाली मति को त्याग कर, तथा सुन्दर बुद्धि को दूर से त्याग कर, जहाँ कहीं जाते हैं ॥३६॥ असत्य को वा नाम मात्र

१ संसारः। २ परमात्मा। ३ चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः। पूर्वमी० १।१।२॥
४ बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामीगोचरा। कोश॥

रज गति त्रिविध कीन्ह प्रकाशा । कर्म धर्म बुधि केर विनाशा ॥
रवि के उदय तार भौ छीना । चर बीहर दूनों महँ लीना ॥

असत्यं नाममात्रं वा गृह्णन्ति सत्यबुद्धितः ।
नो सत्यं रोचते तेभ्यो व्याप्तेभ्यो रजसा खलु ॥३७॥
त्रिविधां [1]राजसीमेव द्योतयन्ति गतिं हि ते ।
यतो धर्मस्य बुद्धेश्च विनाशः कर्मणो भवेत् ॥३८॥
यथा सूर्योदयेऽवश्यं लीयते तारकागणः ।
रजसश्चोदये तद्वत्सत्कर्मादि विनश्यति ॥३९॥
ततस्ते हि पुनः शश्वत्स्थावरेषु चरेषु च ।
लीयन्ते मानवा नैते भवन्ति किमु मुक्तिगा ॥४०॥
"कामक्रोध समायुक्ता हिंसालोभसमन्विताः ।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टास्तिर्यग् योनौ भवन्ति हि ॥४१॥

को सत्य बुद्धि से ग्रहण करते हैं, रजोगुण से व्याप्त उन लोकों को सत्य नहीं रुचता है ॥३७॥

तीन प्रकार की राजसी गति (फल) का ही वे लोक द्योतन प्रकाश करते हैं कि जिससे धर्म कर्म और बुद्धि का विनाश होय ॥३८॥ जैसे सुर्योदय होने पर तारागण अवश्य लीन होता है, तैसे ही रजोगुण के उदय से सत्कर्मादि विनष्ट होता है ॥३९॥ तिससे फिर वे राजसी लोक सदा स्थावर जंगम योनियों में लीन (प्राप्त) होते हैं, ये मनुष्य भी नही होते, मुक्तिगामी तो कैसे होंगे ॥४०॥ क्यों कि काम क्रोध से सम्यक् युक्त, हिंसा लोभ से सम्यक् सम्बन्धवाले मनुष्यता से गिर कर तिर्यग् योनि में होते है । म० भा० वनप० १८३।१२ ॥४१॥ ब्रह्मचर्य से

१ भल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः । द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञश्चैव पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्चये । तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ मनु० १२।४५। इत्यादि.

विष के खाये विष नहिं जावै । गारुड़ सो जो मरत जिआवै ॥

'ब्रह्मचर्यविहीनेभ्यो विषयाक्तेभ्य एव च ।
आनन्दात्मापि चित्तस्थो भाति नैव कथञ्चन ॥४२॥"

विषस्य भक्षणान्नैव विषवेगो निवर्तते ।
तथा न भोगतो जातु कामादि नश्यति क्वचित् ॥४३॥

यथा गारुडमन्त्रेण ह्यौषधेन परेण वा ।
विषं शाम्यति तद्वद्धि गुरुमन्त्रेण बोधतः ॥
अमानित्वादि लब्धेन कामादि नश्यति ध्रुवम् ॥४४॥

गारुडादिप्रयोगेण मरणात् त्रायते हि यः ।
गारुडिः स भवेत्तद्वन्मृत्योर्वै रक्षको गुरुः ॥४५॥

रहित और विषयव्याप्त चित्तवालों के प्रति चित्त में स्थिर भी आनन्द स्वरूप आत्मा किसी प्रकार भी नहीं प्रकाशता है । आत्मपु० १४।२९९। ॥४२॥

विष के भक्षण (खाने) से ही जैसा प्रथम खाया हुआ विष का वेग (जव) नहीं निवृत्त होता है, तैसे ही भोग से कभी कहीं कामादि नहीं नष्ट होते हैं ॥४३॥ जिस प्रकार गारुड मन्त्र से वा श्रेष्ठ औषध से विष शान्त होता है, तैसे अमानित्वादि द्वारा गुरुमन्त्र से बोध होने पर कामादि अवश्य नष्ट होते हैं ॥४४॥ गारुडादि मन्त्र के प्रयोग (उच्चारणादि) से जो मरण से रक्षा करता है, वह गारुड़ी होता है, तैसे ही मृत्यु के रक्षक गुरु होते हैं ॥४५॥ वह गुरु नहीं हो सकता, न स्व (अपना) जन हो सकता, न पिता हो सकता, न जननी (माता) कहा सकता है, न दैव (भाग्य) कहा सकता, न पति हो सकता, कि

१ किं पुरायं ब्रह्मचर्यम् । गोपथ ब्रा० २।५॥'

विषयवासनादि से मुक्त करनेवाला गुरु हैं, इस बात को सुन कर शंका हुइ, कि यदि गुरु का उपदेश से वासनादि की निवृत्ति होती हो, तो सब श्रोता के वासनादि की निवृत्ति होनी चाहिये; परन्तु ऐसा होता नहीं है, तब साध्य असाध्य विष का दृष्टान्त से इसका समाधान साखी से करते हैं कि—

साखी।

अलख जु लागा पलक में, पलकहिं में डंसि जाय।
विषहर मन्त्र न मानये, गारुड काह कराय ॥३१॥

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्,
पिता न स स्याज्जननी न स स्यात्।
दैवं न स स्यान्न पतिश्च स स्यात्,
न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥४६॥

अलक्ष्या खलु मायैषा दंदशीति क्षणाज्जनम्।
कामादिरूपतो यस्य ह्यन्तर्लगति चञ्चला ॥४७॥
सोऽपि चेन्न गुरोर्मन्त्रं वासनाविषहारिणम्।
मन्यते संशृणोत्यत्र गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥४८॥

जो समुपेत मृत्यु (समुपेतो मृत्युर्येन मृत्युवश में प्राप्त) को मुक्त नहीं कर सकता है। श्रीमद्भा० स्क० ११।५।१८।४६॥

जिसके अन्तः (हृदय) में यह चञ्चल अलक्ष्य (अनिर्वाच्य) माया, कामादिरूप से लग जाती है, उस मनुष्य को क्षणभर में बुरी रीति से दँश (काट) लेती है। मानों उसके लिये सर्प हो जाती है ॥४७॥ फिर वह मनुष्य भी यदि यहाँ वासनाविष को हरनेवाला गुरु का मन्त्र को न अच्छी तरह सुनता है, न मनन करता है, तो गुरु उसका क्या

लोकवासनया कामाद्देहवासनया क्रुधा ।
शास्त्रवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥४९॥
त्यक्त्वा प्रभुं सुविमलाद्विमलं [1]विमूढा
धर्म्यं सुकर्म सुमतिं सकलां विहाय ।
आदाय तुच्छविषयान् गुणबद्धनेत्रा
मायाप्रभिन्नधिषणा विवशा भवन्ति ॥५०॥३१॥

इति रमैनीरसोद्रेके सत्यकर्तृज्ञानं विना कुगुरुप्रपञ्चवश्यतादि वर्णनं
नाम द्वादशः प्रवाहः ॥१२॥

करें ॥४८॥ लोकवासना से देहवासना से शास्त्रवासना से काम से क्रोध से यथावत् (पूर्ण) ज्ञान नहीं होता है ॥४९॥ इससे विमूढ लोक अत्यन्त विमलों से भी विमल प्रभु को छोड़ कर, धर्मयुक्त कर्म को त्याग कर, तुच्छ विषयों का ग्रहण करके त्रिगुण से बद्ध नेत्रवाले माया से नष्ट-बुद्धिवाले लोक परवश हो जाते हैं ॥५०॥

अक्षरार्थ–जो संसार सृष्टि अज्ञान काल में वज्रतुल्य है, तिस को वह सत्यात्मा ही अपनी माया से वज्रतुल्य बनाया है, परन्तु फिर प्रलय ज्ञान काल में वह वज्र से तृण तुल्य क्षणमात्र में हो जाता है। उस को फिर वह निकटवर्ती कर्ता तृणतुल्य से वज्रतुल्य अज्ञ के लिये करता है ॥ इस प्रकार क्षणभर में जिस की माया से सृष्टि प्रलय होता है उस, निझरू (अविनाशी) पत्र की नाईं नहीं झरनेवाला, किन्तु वृक्ष के समान सदा स्थिर सर्वाधार आत्मा को निरूजानि (निर्ज्ञान–अज्ञ) लोकोंने परिहरिया (त्याग दिया), उस के श्रवण विचारादि नहीं किया, अथवा आनन्दरूप

१ मनसा कर्मणा वाचा बाधते यः सदा परान् । नित्यं कामादिभिर्युक्तो मूढधीः प्रोच्यते तु सः । नारदीयपु० ४।७२॥ अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः । म० भा० शा० १६२।२१॥

निझरू (झरना नदी ब्रह्म) का नीरू (जल आनन्द ज्ञान) को जान कर भी लोकों ने त्याग दिया। और काल कर्मादि के (मे) बांधल (बँधाया हुआ) जीव नश्वर पदार्थों का लालच (लोभ) किया ॥ और लोभं मोह में फंसने के कारण लोकोंने धर्म रूप कर्मों को त्याग दिया, और आगामी हित की सुमति वर्तमान हित की सुबुद्धि को भी छोड दिया। और झूठी वस्तु बात का सांच नाम रख कर, उन्ही का धारण ग्रहण किया, नाममात्र रूप विकारों का सत्यनाम ले कर धारण किया ॥

झूठ का धारण करने पर, तामसी त्रिविध गति को बहुत तुच्छ समझ कर किसी प्रकार कोई त्यागा, परन्तु उत्तम मध्यम कनिष्ठ ये तीन प्रकार की राजसी गति का ही प्रकाश (प्राप्ति) किया, और सात्विक निष्काम कर्म धर्म बुद्धि आदि का विनाश कर लिया ॥ अथवा राजसी आदि गति का प्रकाश से (वृद्धि से) ही सात्विक कर्मादि का स्वयं नाश हो गया ॥ जैसे रवि (सूर्य) के उदय से तारे क्षीण होते हैं, तैसे राजसी गति का हेतु कर्मादि से तामसी को अत्यन्त विरोध नहीं होने से तामसी वृत्ति नहीं नष्ट हुई, परंतु सात्विक कर्मादि नष्ट हो गये। इससे जीव सब वासना कर्मादि के अनुसार चर (जङ्गम) बीहर (कठिन बन्धनादियुक्त स्थावर) इन दोनों प्रकार के योनियों में ही लीन (प्राप्त) हुए, स्वर्ग मोक्ष दूर रह गया ॥

जैसे विष के खाने से प्रथम खाया हुआ विष नहीं जाता (नष्ट होता) है तैसे ही राजसी प्रवृत्ति भोगादि से कामवासनादि निवृत्ति नहीं होती है, क्यों कि (न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। मनुः २।९४।।) उपभोग से कामी का काम कभी शान्त नहीं होता, किन्तु हवि से अग्नि के समान अधिक बढता ही है। और जैसे विष से मरते हुए को जो जिलाता है, सो गारुड कहाता है, तैसे विषय वासनादि से मुक्त करनेवाला गुरु हैं ॥

अविवेकियों से अलख (अचिन्त्य) माया जिनके पलक (नेत्र) में लगी (विषयरूप से इन्द्रियों से देखी गई) वा जिसके हृदय में पलमात्र में पैठी, उनके नेत्र वा हृदय में पलक मात्र में ही डंस (काट) कर चल दिया, फिर कामादि विष से व्याकुल ये लोक यदि सद्गुरु के विषहरमन्त्र (उपदेश) को नहीं मानते हैं, तो सद्गुरुरूप गारुड भी क्या कर सकते हैं। अर्थात् असाध्य विष की नाईं असाध्य कामादि की निवृत्ति उपदेश का श्रवण मात्र से नहीं होती है॥ किन्तु सत्कर्म भोगादि से धीरे २ उसकी निवृत्ति होने पर मनुष्य सद्गुरु का उपदेश के अधिकारी होता है॥ (लोकवासनया जन्तोर्देहवासनयापि च। शास्त्रवासनया ज्ञानं यथा·वन्नैव जायते॥ ' मुक्तिकोप० २।२) ॥३१॥

सत्यानुभव विना दुर्दशा प्रकरण ॥१३॥

असाध्य विष की नाईं असाध्य मोह कामादि की निवृत्ति जैसे सद्गुरु का उपदेश से नही होती है। तैसे ही प्रबल अहंकार अज्ञानादि की निवृत्ति सत्शास्त्र के अध्ययनादि से भी नहीं होती, इससे अत्यन्त अभिमानी पाषण्डी आदि का अध्ययन निष्फल होता है; इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ३२

सुस्मृति आहिं गुणन को चीन्हा। पाप पुण्य का मारग कीन्हा॥

शोभनाः स्मृतयः सन्ति शमादिगुणलक्षिकाः।
सद्धर्मबोधिकास्तद्वत् पुण्यपापविवेचिकाः॥ १॥

सुन्दर स्मृतियाँ (धर्मशास्त्र) शमादि गुणों के लक्षण द्वारा समझानेवाली हैं, सत्यधर्म के बोधक हैं, तैसे ही पुण्यपाप के विवेचक (भेद बोधक) हैं॥ १॥ दैव और आसुर भेद से, जो दो प्रकार के मार्ग हैं,

सुस्मृति वेद पढै [1]असरारा। पाखण्ड रूप करै हंकारा॥
पढै वेद औ करै बड़ाई। संशय गाँठि अजहुं नहिं जाई॥

देवासुरप्रभेदेन मार्गौ यौ द्विविधौ खलु।
स्मृतिसंपादितौ तौ हि बोध्येते स्मृतिभिस्तथा॥ २॥

वेदाः सन्ति स्मृतेर्मूलं सद्विचाराश्च हेतवः।
स्मृतिर्लिङ्गं गुणानां च सत्तर्कोऽपि तथा मतः॥ ३॥

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ ४॥

पठन्ति ताः स्मृतीर्वेदानहो एते शठा नराः।
क्रूरा धर्मं न जानन्ति नात्मानं पान्ति ते ततः॥ ५॥

वे दोनों भी स्मृतियों से सिद्ध हैं, तथा स्मृतियों से जाने जाते हैं॥ २॥ स्मृति के मूलरूप वेद हैं, श्रेष्ठ विचार भी उसके हेतु हैं। और स्मृति गुणों का लिङ्ग (चिह्न) है, बोधक है, तैसा ही श्रेष्ठ तर्क (ऊहा) भी माना गया है॥ ३॥ आर्ष (वेद) धर्मोपदेश (स्मृति) को जो कोई वेद शास्त्र के अविरोधी तर्क (अनुमान) से विचारता है, सो धर्म को जानता है, अन्य नहीं जानता॥ मनुः १२।१०६॥ ४॥

आश्चर्य है कि उन स्मृति वेदों को क्रूर (निर्दय) शठ (धूर्त) ये लोक भी पढते हैं, परन्तु धर्म नहीं जानते, इसीसे ये लोक आत्मा की रक्षा नहीं करते हैं॥ ५॥ धर्म के अज्ञान से मनुष्य स्मृति वेद को पढ़

१ असरारा, यह यदि एक पद हो तो, लगातार, सदा, निरन्तर अर्थ है, जो सदा निरन्तर वेदादि को पढता है, सो भी पाखण्डरूप अहंकार करता है। इत्यादि।

पढ़ै सत्य, से जिव बध करई । मूड़ काटि अगमन कै धरई ॥

साखी ।

कहहिं कबिर ई पाखण्ड, बहुतक जीव सतावँ ।
अनुभव भाव न दरशये, जिअत न आपु रखाव ॥३२॥

स्मृतीर्वेदानधीत्यापि धर्माज्ञानेन मानवाः ।
पाषण्डा दम्भिनो भूत्वाऽभिमानं कुर्वते मुधा ॥ ६ ॥
पठन्ति खलु ते वेदान् स्तुतिं च कुर्वते स्वकाम् ।
मुधैव न यतोऽद्यापि विचिकित्सा विनश्यति ॥ ७ ॥
विच्छेदः संशयग्रन्थेर्यावन्न जायते खलु ।
धर्मादिविषयस्यात्र वैदुष्यं तावदस्ति नो ॥ ८ ॥
वैदुष्याभावतः सत्यं शास्त्रं चाधीयते हि ये ।
तेऽपि कुर्वन्ति जीवानां वधं मोहेन लोलुपाः ॥ ९ ॥
छागादिशिरसां छेदं विधाय पिशितेच्छया ।
स्थापयन्ति निजाग्रे तच्चैते पललकामुकाः ॥१०॥
जीवसङ्घान् हि पाषण्डाः पीडयन्त्येव सर्वदा ।
अतः स्वानुभवाऽभावाच्छ्वसन्तः स्वं न पान्ति ते ॥११॥

कर भी पाखण्डी दम्भी होकर व्यर्थ अभिमान करता है ॥ ६ ॥ वे लोक वेदों को भी पढते हैं, और अपनी स्तुति भी व्यर्थ ही करते हैं, जिससे इनकी विचिकित्सा (संशय) आज भी नहीं नष्ट होती है ॥ ७ ॥ और धर्मादि विषयक संशयरूप ग्रन्थि (बन्धन) का जबतक विच्छेद (नाश) नहीं होता है, तबतक यहाँ विद्वत्ता नहीं है ॥ ८ ॥ और वास्तविक विद्वत्ता के अभाव से ही जो लोक सत्य शास्त्र का अध्ययन करते हैं (पढते हैं) वे भी मांस का लोलुप (अतिलोभी) होकर मोह से जीवों का वध करते हैं ॥ ९ ॥ ये मांस के कामी मांस की इच्छा से बकरा आदि के शिर का छेदन करके उसे अपने आगे रखते हैं ॥१०॥

पाखण्डी लोक सदा ही जीव समुदाय को पीडित करते ही हैं, इस

नैवानुकम्पा हृदि वर्ततेऽमला हिंसाद्यभावो नहि विद्यते तथा।
तावन्निजात्माऽनुभवो न जायते तावन्न रक्षापि जनस्य कालतः ॥१२॥

जीवन्न यः स्वं खलु पालयेदिह किं पालयेन्मृत्युमुखे प्रविश्य सः।
शक्तस्तदाऽसौ न भवेत्कथञ्चन कुर्यात्कथं किं ननु मोमुहन् व्रजन् ॥१३॥

यावन्न मोहो व्यपनुद्यतेऽलं मायामयः सत्यविचारयोगात्
यावन्न नित्या गुरुपादभक्तिस्तावद्धतिः स्यान्नहि वासनायाः ॥१४॥३२॥

आत्मानुभव का अभाव होने से वे लोक जीवित रहते अपना पालन नहीं करते हैं ॥११॥ जबतक हृदय में निर्मल दया नहीं वर्तमान होती, तथा हिंसा आदि का जबतक अभाव नहीं होता, तबतक अपनी आत्मा का अनुभव नहीं होता, न तबतक काल से मनुष्य की रक्षा ही होती है ॥१२॥ जो जीवित रहते यहाँ अपने को नही पालन (रक्षण) कर सकता, वह क्या मृत्यु के मुख में जाकर पालन कर सकता है; उस समय तो वह किसी प्रकार पालन में समर्थ नहीं होगा, उस समय अत्यन्त मोहयुक्त होकर चलता हुआ वह कैसे क्या करेगा ॥१३॥ सत्यविचार का सम्बन्ध से जबतक मायामय मोह अच्छी तरह नहीं हटाया जाता, जबतक गुरुपाद भक्ति नित्य (सदा) नहीं होती, तबतक वासना की हति (निवृत्ति) नहीं होगी ॥१४॥

अक्षरार्थ– सुन्दर स्मृतियाँ शमादि गुणों के चिन्ह (लक्षण) रूप हैं। कल्याणकारक गुणों को समझाती हैं। और समझाने ही के लिये पुण्य पाप के मार्गों का भी विवेक कर दिया है, कि जिससे पापमार्ग को त्याग कर मनुष्य पुण्य मार्ग से चले ॥ सुस्मृति के स्थान में, सुस्मृति-सिमृति, पाठ हैं, उनका भी यही भाव है, स्मरण विचारादि को स्मृति कहते हैं।

और (' धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ' मनुः २।१०) के अनुसार धर्मशास्त्र को कहते हैं। (स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः ', इत्यादि ब्रह्मसू० २।१।१) के अनुसार सांख्यादि दर्शन इतिहास पुराण भी स्मृति कहे जाते हैं॥

आश्चर्य है कि जो उन स्मृति वेदों को पढता है, सो भी अस (ऐसा) रार (हठी क्रूर शठ) है कि, वह भी केवल पाखण्डरूप का धारण करता है, और अहंकार करता है। और वेद पढता है, तथा अपनी बडाई आप करता है, तथा वेदादि की बड़ाई (स्तुति) करता है; परन्तु अजहुं (अब ही भी) संशय और काम अध्यासादिरूप ग्रन्थि (बन्धन) इसके नहीं जाते हैं। इसीसे तो जो सत्यशास्त्रादि को पढता है, सो भी तुच्छ स्वार्थवश जीवों का वध करता है। और बकरा आदि का मूड़ (शिर) काट कर अपने आगे धरता है। सत्यनामवाला सात्त्विक विष्णुदेव के नामों को पढनेवाला भी जीव वध करता है तो महाऽऽश्चर्य है। और (आत्मनोऽत्र प्रशंसायामात्महत्या प्रकीर्तिता। परस्यापि च निन्दायां परहत्या मनीषिभिः॥ ' आत्मपु० अ० १५।११५) इसके अनुसार अपनी बडाई भी अनुचित ही है॥

साहब का कहना है कि ई (ये) पाखण्डी लोक इस प्रकार लोभादि वश बहुत जीवों को सताते (पीड़ित करते) हैं। शास्त्रादि के पढने पर भी इनमें अहिंसादि धर्म सत्यात्मा का अनुभव (प्रत्यक्ष ज्ञान) का भाव (सत्ता) नहीं दरशता (दीखता) है। इससे जीवित रहतें ये लोक अपनी रखाव (रक्षा) आप नहीं करते हैं। किन्तु पागल के समान अपना नाश आप करते हैं, और मरने पर स्वर्ग मोक्ष चाहते हैं॥३२॥

शास्त्रादि के पढने पर भी अनुभव का भाव नहीं दीखता, इस बात को सुनकर शंका हुई कि क्या वेदशास्त्र में अनुभव की बात नहीं है, या पुरुष का दोष है कि जिससे पढने पर भी अनुभव नहीं होता है, तब दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हैं कि—

रमैनी ३३

अन्ध सो दर्पण वेद पुराणा। दर्वी काह महा रस जाना॥
जस खर चन्दन लादै भारा। परिमल वास न जानु गमारा॥

अन्धमादर्शवद् वेदाः पुराणानि च सर्वशः।
दर्शयन्त्यर्थतत्त्वं नो धर्मं वा स्वाविवेकिनम्॥१५॥
"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति" ॥१६॥
दर्वीवच्च रसं केन जानीयुस्तामसा नराः।
चन्दनोद्वाहिवालेयैस्तुल्याः शास्त्रविदोऽथवा॥१७॥
स्वानन्दं नैव जानन्ति मोहेन विवशीकृताः।
प्रविष्टाः कामकूपेषु लोभगर्ते निपातिताः॥१८॥

अन्ध के प्रति दर्पण के समान वेद और सब पुराण अपना विवेक रहित के प्रति अर्थ का वास्तविक स्वरूप वा धर्म को नहीं दिखा सकते हैं ।।१५।। जिसको स्वयं बुद्धि नही है उस को शास्त्र क्या उपकार करता है, नेत्रों से रहित को दर्पण क्या करेगा, यह चाणक्यनीति में है ॥१६॥ दर्वी के समान तामस मनुष्य अथवा चन्दन ढोनेवाले गर्दभतुल्य शास्त्रज्ञ आत्मानन्द को किस से जानेगें ।।१७।। मोह से विवश किये गये, कामरूप कूप में पैठे हुए, लोभ गडहे में गिराये गये लोक आत्मानन्द को नहीं जानते हैं ।।१८।। चार वेद सब शास्त्र को अनेक बार पढकर भी ब्रह्मतत्त्व

कहहिं कबीर खोजै असमाना । सो न मिला जु जाय अभिमाना ॥

"अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा" ॥१९॥
भारवाही खरो यद्वद् भारं वेत्ति न चन्दनम् ।
भक्तिहीनोऽपि विद्वान् सन् शास्त्रं वेत्ति सुखं नहि ॥२०॥
सुखरूपस्य चाज्ञानाद् हृदिस्थस्य निजात्मनः ।
मार्गयन्त्यम्बरे तत्त्व सुखमन्यत्र मन्यते ॥२१॥
यस्य ज्ञानेन संप्राप्त्या त्वभिमानोऽभिभूयते ।
विकीर्यन्ते विकाराश्च समूलं लूयते मलम् ॥२२॥
उदेति चाक्षया क्षान्तिः क्रोधः क्वापि पलायते ।
उल्लसन्ति न लोभाश्च मन्युश्च मुच्युते क्षणात् ॥२३॥
असूया शुष्यति क्षिप्रमभिध्या ध्वंसमेति च ।
पाशाः सर्वे विपिष्यन्ते क्लेशाः क्लिश्यन्त एव हि ॥२४॥

को नहीं जानते, जैसे दर्वी पाक के रस को नहीं जानती । यह मुक्तिकोपनिषद् का श्लोकार्थ है ॥१९॥ भार ढोनेवाला गदहा जैसे भार को जानता है, चन्दन को नहीं जानता, तैसे विद्वान होते भी भक्तिहीन पुरुष शास्त्र को जानता है, सुख को नहीं जानता ॥२०॥

सुखस्वरूप हृदयस्थ अपनी आत्मा को अज्ञान से लोक आकाश में सत्य को खोजते हैं, कोई सुख अन्यत्र मानता है ॥२१॥ जिसके ज्ञान और सम्यक् प्राप्ति से फिर अभिमान अभिभूत (धिक्कृत) होता है, विकार सब विकीर्ण (विहिंसित) होते हैं, मल (पाप) मूल सहित विच्छिन्न होता है ॥२२॥ अक्षय क्षमा प्रगट होती है, क्रोध कहिं भग जाता है, लोभ नहीं उत्पन्न होता है, शोक (मन्यु) क्षण भर में छूट जाता है ॥२३॥ गुण में दोषारोप (असूया) शीघ्र ही नष्ट होती है, परविषय की इच्छा (अभिध्या) का ध्वंस होता है, मोहादि बन्धन (पाश) सब नष्ट हो जाते हैं, क्लेश (अविद्यादि) क्लेशित (क्षीण

जन्ममृत्युभयं भ्रान्तिर्भ्रेषो भेदश्च भिद्यते ।
खिद्यते न नरो येन स्वानन्दं वेत्ति सर्वदा ॥२५॥
हा मूढैर्नैव लब्धोऽसौ सोऽप्येनान् मिलते न च ।
यस्य ज्ञानं परो धर्मो हिंसा यत्र न संभवेत् ॥२६॥
न तच्छास्त्रं न वा ज्ञानं यत्र हिंसा प्रवर्तते ।
यस्माद् भवति संसारः सर्वानर्थपरम्परः ।२७॥
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु यत्फलम् ।
अमांसभक्षणे हिंसाऽभावे स्याच्च ततोऽधिकम् ॥२८॥

होते, जलते) हैं ॥२४॥ जन्ममृत्यु का भय, भ्रम, उचित कर्मादि से पतन (भ्रेष) भेदभाव नष्ट होते हैं, जिससे मनुष्य दुःखी नहीं होता है, आत्मानन्द को सदा जानता है ॥२५॥ खेद की बात है कि वह आत्मा मूढों से नहीं प्राप्त किया गया, न वह भी इन्हें मिलता है कि जिस का ज्ञान ही श्रेष्ठ धर्म है, और जिस ज्ञानकाल में हिंसा का संभव नहीं रहता है ॥२६॥ वह शास्त्र वा ज्ञान नहीं है, कि जिस में हिंसा की प्रवृत्ति रहती है, और जिस हिंसा से सब अनर्थों का परंपरा (प्रवाह) वाला संसार होता है ॥२७॥ सब तीर्थों में जो पुण्य होता है, सब यज्ञों में जो फल होता है, उससे अधिक फल मांसभक्षण का और हिंसा का त्याग से होता है ॥२८॥

अक्षरार्थ– अन्ध सो (अन्धतुल्य) के लिये वेद पुराण अन्ध का दर्पणतुल्य हैं। दर्वी (करछी) तुल्य मनुष्य महारस (ब्रह्मानन्द) को क्या जान सकता है। जैसे गदहा पर चन्दन का भार लादा जाय तो वह गमार (अज्ञ) गदहा परिमल (चन्दन) का सुवास को नहीं जानता है, तैसे ही अविवेकी शास्त्र को पढकर भी धर्म अर्थतत्त्व को नहीं जानता है। पुराण का वचन है कि ('यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। तथैव विप्राः षट्शास्त्रयुक्ता मद्भक्तिहीनाः खरवद् वहन्ति॥)

संन्यासोप० २।५९ में लिखा है कि (स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्ताऽन्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुंकुमभारवद् व्यर्थः ॥)

साहब का कहना है कि सत्धर्म अर्थतत्त्व को जाने बिना वे लोक असमान (आकाश-स्वर्गादि) में आनन्दादि खोजते हैं, और हृदयस्थ समरस वह चिन्तामणि, उन्हें नहीं मिला कि जिस के मिलने से अभिमानादि चले जायँ (नष्ट होयँ) अथवा अस (ऐसा) अन्ध, दर्वी, खर, तुल्य लोक भी माना (मान-प्रतिष्ठा) खोजते हैं; क्योंकि उन्हें वह ज्ञान नहीं मिला है कि जिससे देहाभिमानादि नष्ट हो जायँ ॥३३॥

प्रथम कहा गया है कि वेदादि के पढने पर भी सब को ज्ञान नहीं होता, सो सुन कर शंका हुई कि वेद तो अति गम्भीर दुरूह हैं, इससे उसके पढने मात्र से ज्ञान नहीं होना सम्भव है; परन्तु स्पष्ट अर्थवाली स्मृति वा पुराण से सब को ज्ञान होना चाहिये। तब स्मृति आदि के भी अनेक भेदादि के तात्पर्य से समाधान करते हुए कहते हैं कि—

रमैनी ३४

वेद की पुत्री स्मृती भाई। सो जेवँरि कर लेतहि आई ॥

वेदानां कन्यकात्वेन भ्रातर्याः स्मृतयः स्मृताः।
तासां वाक्यकरे सन्ति काम्यकर्मादिरज्जवः ॥२९॥
स्मृतयो वेदबाह्या[१] यास्तास्तु केऽपि कुबुद्धयः।
वेदानां पुत्रिका मत्वा तत्राऽऽसक्ता भवन्ति हि ॥३०॥

हे भाई ! जो स्मृतियाँ वेदों की कन्या रूप से कही गई हैं, उनके वाक्य रूप हाथ में भी काम्यकर्मादिरूप रस्सी हैं ॥२९॥ और जो स्मृतियाँ वेदबाह्य (वेदविरुद्ध) हैं, उन्हें भी कोई कुबुद्धि वेदों की

---

१ 'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥' मनुः १२।९५॥

आपु हिं बरि आपन गर बंधा । झूठी मोह काल के फन्दा ।
बाँधत बन्धन छोरि न जाई । विषय स्वरूप भूलि दुनिआई ।

तासां वाक्येषु हिंसाद्या विमोहाद्याः कुदृष्टयः ।
गुणाः सन्ति यतस्तेऽत्र बध्यन्ते मूढमानसाः[1] ॥३१॥
गृहीत्वैव वटीर्जाताः करे ताः स्मृतयोऽपि हि ।
ये कर्मादीन् स्वयं सृष्ट्वा स्वं बध्नन्ति हि मानवाः ॥३२॥
धीशिरोधौ स्वयं बद्ध्वा सृष्टानि बन्धनानि ते ।
कल्पयन्ति मुधा मोहात् कालपाशमहर्निशम् ॥३३॥
असत्ये मोह एवास्ति कालपाशः सनातनः ।
तेन बद्धाः पुनर्बन्धान् कुर्वन्ति बहुधा जनाः ॥३४॥
कुर्वन्ति बन्धनं चेत्थं यन्नैवोन्मुच्यते दृढम् ।
त्यज्यते न गृहीतं च मूढैरेतैः कदाचन ॥३५॥

पुत्रिका मान कर उन में आसक्त होते हैं, ॥३०॥ और उन के वाक्यों में हिंसादि विमोहादि रूप कुदृष्टि हैं, सोई गुण (रस्सी) हैं, जिससे वे मूढ मनवाले यहाँ बँधे जाते हैं ॥३१। वे स्मृतियाँ भी हाथ में वटी (रस्सी) ग्रहण किये ही जन्म लिया है, और जो मनुष्य कर्मादि को स्वयं रच कर अपने को बांधते हैं ॥३२॥ वे लोक अपने से रचित बन्धनों को स्वयं बुद्धिरूप गले में बॉधकर, मोह से व्यर्थ ही सदा कालपाश की कल्पना करते हैं ॥३३॥ असत्य में मोह हि अनादि कालपाश है, उससे बँधे हुए मनुष्य फिर बहुत प्रकार के बन्धन करते हैं ॥३४॥

और इस प्रकार के दृढ बन्धन लोक करते हैं कि जो फिर खुलता नहीं है, और ये मूढ लोक भी गृहीत कामादि बन्धनों को कभी त्यागते

---

१ 'कर्मणा मनसा वाचा बाधते यः सदाऽपरान् । नित्यं कामादिभिर्युक्तो मूढधीः प्रोच्यते तु सः ॥' नारदीयपु० ४।७२॥

हमरहिं दिखत सकल जग लूटा । दास कबीर राम कहि छूटा ॥

कृत्वेत्थं बन्धनं चैते विषयात्मशरीरके ।
संसारे व्यवहारेऽस्य भ्रान्ता भ्राम्यन्ति सर्वदा ॥३६॥

आत्मीयत्वेन पश्यन्तो जगच्चैते जनास्तथा ।
लुण्ठ्यन्ते स्मृतिभिस्तद्वत्सम्पच्चैषां विलुण्ठ्यते ॥३७॥

अस्मासु वाऽत्र पश्यत्सु देशिकेन्द्रेषु साधुषु ।
लुण्ठितं वै जगत्सर्वं कामाद्यैश्चैव कुस्मृतैः ॥३८।

देवादिदासभूताश्च केचिद्धिंसादिबन्धनात् ।
रामं मत्वा स्वदेवं तमुक्त्वा मुक्तिं हि मेनिरे ॥३९॥

तथाप्यज्ञानकामेभ्यस्तेषां मुक्तेरभावतः ।
मुक्तास्ते नेति मन्तव्यं कामाद्यैः संयता यतः ॥४०॥

नहीं हैं ॥३५॥ ये भ्रान्त लोक इस प्रकार विषयरूप शरीर संसार में बन्धन करके, सदा इसी के व्यवहार में भ्रमते (भटकते) हैं ॥३६॥ और ये लोक जगत् को आत्मीयत्व (अपना) देखते हुए स्मृतियों से लूटे जाते हैं, तथा इनकी शमादि सम्पत्ति नष्ट होती है ॥३७॥ अथवा देशिक (गुरु) इन्द्र (श्रेष्ठ) साधु रूप हम लोकों के यहाँ देखते में सब जगत् कामादि और कुस्मृति से ही लूटा गया ॥३८॥ और देवादि के दास स्वरूप कोई लोक रामचन्द्रजी को अपना देव मानकर, तथा तिस राम के नाम को कह कर हिंसादि बन्धनों से मुक्ति माना है ॥३९॥ तो भी अज्ञान कामादि से उन की मुक्ति के अभाव से, वे मुक्त हैं, ऐसा मानने योग्य नहीं है, जिससे वे लोक कामादि से संयत (बद्ध) ही हैं ॥४०॥

उक्त रीति से छूटने बचने पर भी सर्वात्मा राम के ज्ञान विना राम को दूर और कर्मादि से प्राप्ति योग्य समझने से उनकी भी यह दशा हुई कि-"

साखी।

राम हिं राम पुकारते, जिह्वा परिगौ रौस।
सूधा जल पीवै नहीं, खोदि पिवन की हौस ॥३४॥

तेषां रामेति रामेति सदैवाऽऽह्वयतां मुहुः।
अभ्यासबलमार्गो वै जिह्वायां संबभूव ह ॥४१॥
सुधातुल्यं ततो वाक्यं ते शृण्वन्ति न सद्गुरोः।
पिबन्ति चामृतं नैव रसं स्वानन्दमद्वयम् ॥४२॥
अनायासेन लभ्यं तं रसं त्यक्त्वा समीपगम्।
कर्मणोद्धात्य पातालं भित्त्वा स्वर्गस्य वाऽर्गलाम् ॥४३॥
भित्त्वा छित्त्वा जनान् कृत्वा प्राणिनां क्रन्दनं बहु।
अमृतं पातुमिच्छन्ति स्मृतिकामादिवञ्चिताः ॥४४॥
रामो न दूरे न चानात्मरूप आह्वानलभ्यो न स ज्ञानलभ्यः।
सर्वान्तरात्मा चिदानन्दरूपः सत्यः सदा भक्तिभावैकगम्यः ॥४५॥

राम राम इस प्रकार स.ा ही बार २ पुकारते हुए उन लोकों की जिह्वाओं में अभ्यास के बल से मार्ग ही हो गया ॥४१॥ तिससे अमृत तुल्य सद्गुरु के वाक्य को वे लोक नहीं सुनते हैं और आत्मानन्दरूप अमृत रस को भी नहीं पीते हैं ॥४२॥ अनायास मिलने योग्य समीप में प्राप्त उस रस को त्याग कर, कर्म से पाताल को खोद कर वा स्वर्ग की अर्गला (कपाटरोधन) का भेदन करके, युद्ध में जनों का भेदन छेदन करके, प्राणी का बहुत क्रन्दन (रोदन-विकलता) कर कराके, स्मृति कामादि से ठगे गये लोक अमृत पीने की इच्छा करते हैं ॥४३-४४॥ सबके अन्तरात्मा चिदानन्द स्वरूप राम दूर देश में नहीं हैं, न अनात्म-

भक्तौ च नामाऽस्य सद्भिः प्रयुक्तं नैवातितारं हि दूरस्य यद्वत् ।
ध्यानेन युक्तः शनैस्तत्प्रयुञ्जन् तेनैव सारेण तत्त्वं प्रपद्येत् ॥४६॥
मायामयं तस्य रूपं दिदृक्षुस्तं संस्मरंस्तस्य नामैव सम्यक् ।
ज्ञात्वैव संपश्यति प्राज्ञजीवो दिव्येन वै चक्षुषा नान्यथा हि ॥४७॥३४

इति रमैनीरसोद्रेके सत्यानुभवं विना शास्त्रज्ञदुर्दशावर्णनं नाम त्रयोदशः प्रवाहः ॥१३॥

स्वरूप ही है, न पुकारने से मिलने योग्य है, किन्तु सदा एक भक्तिभाव से जानने योग्य, और ज्ञान से प्राप्त करने योग्य हैं ॥४५॥ सतपुरुषों से भक्ति में इस राम का नाम प्रयुक्त (उच्चारित) होता है, परन्तु दूर स्थिर का जैसे अतितार (अति उच्च शब्द से नाम) प्रयुक्त होता है, तैसे इस राम का नाम नहीं प्रयुक्त होता, ध्यानयुक्त मनुष्य धीरे २ उस नाम का प्रयोग करता हुआ, उसी सार (श्रेष्ठ, अविनाशी) द्वारा सत्य को प्राप्त करता है ॥४६॥ उस राम के मायामय रूप को देखने की इच्छा-वाला प्राज्ञ (बुद्धिमान्) जीव उसका सम्यक् स्मरण करता हुआ, उसके नाम को ही अच्छीतरह जप करके ही दिव्य चक्षु से अच्छीतरह देखता है, अन्य प्रकार नहीं ॥४७॥

अक्षरार्थ– हे भाई ! वेदों की पुत्रीरूप स्मृतियाँ मानी गई हैं, इससे यह भी गंभीर हो सकती हैं, और वेद की पुत्रीरूप वह स्मृति ऐसी भी है कि मानो जीवों को बाँधने के लिये अपने हाथ (वाक्य) में जेवँरि (रस्सी) लेते ही आई (प्रगट हुई) है । और वस्तुतः कामादि बन्धन के हेतुरूप उन वाक्यों को कोई जीव आप ही बरि (रच वा स्वीकार) करके अपने गलों में मोह से बांधा है । जिससे झूठी (मिथ्या) वस्तुओं में मोह द्वारा इस को काल की फन्दा (जन्ममरणादि) लगी है, अथवा अपने कामादि से बन्धन होता है, और मोहवश कालपाश की झूठी कल्पना करता है, या झूठी बात आदि में जो मोह है, सोई इसके

लिये कालपाश है ॥ (' तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् । धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ ' म० भा० वनप० अ० ११४) तर्क की सीमा नहीं है, श्रुतियाँ भिन्न (भेदयुक्त) हैं, स्मृतिकर्ता ऋषि एक नहीं हैं कि जिनकी बात प्रमाण हो, इससे विवेकी महापुरुष जिस मार्ग से गये वही मार्ग है ॥

स्मृति आदि की रस्सी से यह जीव ऐसा दृढ बन्धन बाँधता है कि जो फिर छोरा (खोला) नहीं जाता, या मोहादि बन्धन त्यागा नहीं जाता और बन्धन के नहीं खुलने छूटने से विषय स्वरूप (देहाभिमानी–विषयासक्त) होकर दुनिआई (सांसारिक व्यवहार स्त्रीपुत्रादि) में भूला (फंसा) रहता है या दुनिआई में भूल कर विषय स्वरूप होता है, बन्धन बाँधता है, जो खोला नहीं जाता। और इसीसे सांसारिक वस्तु को हमरहिं दिखते में (हमारी २ समझते २ में) सब संसारी कामादि से लूटे गये। या हम लोकों के देखते २ हम लोकों के समझ से लूटे गये। और देवादि के दास सात्त्विक कबीर (जीव) रामादि नामों को कह (जप) कर लोक व्यवहार हिंसादि से कथञ्चित् छूट गये। बहुत पाप कुकर्मादि से भी सात्त्विक देवभक्त बचे ॥

राम २ बार २ पुकारते २ उनकी जिह्वा में रौस (ठेला-आदत) पड़ गया। या मार्गबल हो गया कि जिससे सूधा (सुधा–अमृत–स्वरूप वा सुगम–अनायास प्राप्त) जल (सुखस्वरूप शुद्धात्मा) को नहीं पीते (प्राप्त करते) हैं, किन्तु कर्मोपासनादिरूप कुद्दाल से खोदकर, स्वर्गादि रूप पाताल के खार जल (सुख) को पीने (प्राप्त करने) की हौस (इच्छा) करते हैं ॥ तथा सब तापों को शान्त करनेवाले अमृतरूप उपदेशों को भी नहीं सुनते हैं, किन्तु लोकान्तरादि की बातों को सुनकर नामादिद्वारा वहाँ के विषय रूप जल पीना (भोगना) चाहते हैं, जिससे छूटने पर भी पूर्ण शान्ति नहीं मिलती है, इत्यादि ॥३४॥

मोक्षस्थानाभावादि प्रकरण ॥१४॥

रमैनी ३५

पढ़ि पढ़ि पण्डित करु चतुराई। निज मुक्ति मोहि कहु समुझाई ॥
कहँ बस पुरुष कहाँ सो गाऊँ। पण्डित मोहि सुनावहु नाऊं ॥

अधीत्याधीत्य नामानि स्मृतीश्चैव भवान् यदि।
नैपुण्यं कुरुते विद्वन्! क्रियतां नैव वार्यते ॥ १ ॥
नामादिमात्रतो मुक्तिं यां [1]सालोक्यादिलक्षणाम्।
प्रब्रूते हि भवान् स्वस्य सा विवृत्य निरुच्यताम् ॥ २ ॥
यस्य लोकादिषु प्राप्त्या मुक्तिं मन्मन्यते भवान्।
पुरुषः कुत्र वस्ता स कुत्र ग्रामोऽस्य विद्यते ॥ ३ ॥
यस्मात्सर्वं न चैतद्धि निश्चितं विद्यते क्वचित्।
वक्तुं न शक्यते तस्मात् कल्पनैव विजृम्भते ॥ ४ ॥
"मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥ ५ ॥"

हे विद्वन्! यदि आप नामों को पढ़ कर, स्मृतियों को पढकर निपुणता (चतुराई) करते हो तो आप से वह निपुणता की जाय, उसका वारन नहीं किया जाता है ॥ १ ॥ परन्तु जो आप अपनी सालोक्यादिरूप मुक्ति नामादिमात्र से कहते हो सो विवरण करके कहो ॥ २ ॥ आप जिसके लोकादि में प्राप्ति से अवश्य मुक्ति मानते हो, सो पुरुष कहाँ वसनेवाला है, और इसका ग्राम कहाँ है ॥ ३ ॥ जिससे यह वास ग्रामादि सब कहीं सब मत से एक निश्चित नहीं है, न कह सकते हैं, तिससे यह कल्पना ही फैली है ॥ ४ ॥ मोक्ष का न वास है न तो ग्रामान्तर है,

१ 'ये ये यानयजन् देवांस्ते चत्वारो हि मोक्षगाः। आत्मज्ञानं विना मोक्षो न भवेत्सच्चिदात्मनि' ॥ सांख्यपरिभाषा ॥

चारि वेद ब्रह्मा निज ठाना। मुक्तिक मर्म उनहुं नहिं जाना।

अतएव न मुक्तस्य प्राणाः क्वाप्युत्क्रमन्ति च।
स ब्रह्मैव तु सन् ब्रह्माऽप्येति चेत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥ ६॥
ब्रह्मा हि चतुरो वेदान् संस्मृत्य कृतवान् पुरा।
मरणासाद्यमुक्तेश्च रहस्यं स न जज्ञिवान्॥ ७॥
जीवन्मुक्तो हि मुक्तः स्याद्विमुक्तश्च विमुच्यते।
इत्यादि श्रुतयः प्राहुर्मुधा मुह्यति वै भवान्॥ ८॥
क्रममुक्तौ च देवोऽपि विमुक्तः सन् विमुच्यते।
जीवन्नेव न तत्रातोऽव्याप्तिदोषेण दुष्टता॥ ९॥
नाऽवेद् ब्रह्मापि यां तां त्वं चेद्वेत्थ शोभसे तदा।
अहो ते कुशला बुद्धिर्वाणी ते राजते स्वयम्॥१०॥

किन्तु अज्ञान कृत, अज्ञानरूप हृदय की ग्रन्थि (कामादि वा भ्रम) का नाश ही मोक्ष कहा गया है; यह आत्मपुराण का वचन है॥ ५॥ इसीसे मुक्त के प्राण कहीं उत्क्रमण (ऊर्ध्वगमन) नहीं करते, वह ज्ञानी ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में लीन होता है, इस प्रकार श्रुति भी कही है॥ ६॥

जो ब्रह्मा पूर्व कल्प के चार वेदों का अच्छीतरह स्मरण करके पहले चार वेद किये, सो भी मरण से ही प्राप्त होने योग्य मुक्ति के रहस्य को नही जान सके॥ ७॥ इससे जीवन्मुक्त ही विदेहमुक्त होता है, क्योंकि विमुक्त ही विमुक्त होता है, इत्यादि श्रुतियाँ कहती है, आप व्यर्थ ही विमोहित होते हो॥ ८॥ क्रममुक्ति में भी देव भी जीवन्मुक्त ही हो कर विदेह मुक्त होते हैं, इससे वहाँ (देव में) भी जीवन्मुक्ति का अभाव नहीं होने से मुक्ति के लक्षण में अव्याप्ति दोष से दुष्टता नहीं है॥ ९॥ ब्रह्मा भी जिस मरणासाद्य मुक्ति को नहीं जान सके, उसको यदि तुम जानते हो तो तुम शोभते हो, आश्चर्य रूप तेरी कुशल (शिक्षिता-निपुण) बुद्धि है, तेरी वाणी स्वयं राजती (प्रकाशती) है॥१०॥ अथवा प्रौढि

दान पुण्य उन बहुत बखाना। अपने मरण कि खबर न जाना॥
एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा॥

किम्वाऽभ्युपेत्य वादोऽयं प्रौढ्या संभाव्यते गुरोः।
यदि ब्रह्मापि पञ्चत्वे मुक्तिं विज्ञातवान् स्वयम्॥
तदा वेदविदामग्रः स रहस्यं न बुद्धवान्॥११॥

दानानि पुण्यकर्माणि मरणे फलदानि वै।
बहूनि प्रोक्तवान् धाता निजां मुक्तिं न मृत्युजाम्॥१२॥

आश्चर्यं महदेतद्यस्मै वेदान् हि सर्वशः।
प्राहिणोद्देव सर्वात्मा स रहस्यं न वेदवेत्॥१३॥

कर्मकाण्डेन वेदेन नाममात्रेण वा ह्यसौ।
अवेन्नैव परं मोक्षं व्यवहारी पितामहः॥१४॥

एको अद्वितीयनामा यो गम्भीराग्राह्यदृग्वपुः।
तत्र न स्थिरतां यान्ति देवदासा ह्यबोधतः॥१५॥

(प्रवृद्ध समर्थ बुद्धि) से सद्गुरु का यह अभ्युपेत्यवाद (अभ्युपगमवाद) हो सकता है कि, यदि स्वयं ब्रह्मा भी पञ्चत्व (मृत्यु) होने ही से मुक्ति समझा (माना) तो वेदवेत्ताओं में मुख्य वे भी रहस्य नहीं समझे॥११॥

ब्रह्माजी ने बहुत दान और पुण्य कर्म कहा है, परन्तु मृत्युजन्य अपनी मुक्ति नहीं कही है॥१२॥ यह महा आश्चर्य है कि जो सर्वात्मा देव जिस ब्रह्माजी को सब वेद दिया, और वे भी यदि रहस्य नहीं समझे॥१३॥ और कर्मकाण्ड वेद वा नाम मात्र से वह व्यवहारी पितामह भी श्रेष्ठ मोक्ष को नहीं जान सके; किन्तु विचारादि से समझे॥१४॥ और जो सर्वात्मा देव एक अद्वैत नामवाला गम्भीर (अथाह) अग्राह्य चेतन सुन्दर स्वरूपवाला है, देवभक्त लोक अबोध से उसमें स्थिरता नहीं पाते हैं॥१५॥

शंका हुई कि वह एक अगम गम्भीर देव कहाँ और कैसा है कि जिसमें दास जीव स्थिर नहीं होते हैं, तब कहते हैं कि—

साखी।

चिऊँटी जहाँ न चढि सकै, राई नहिं ठहराय।
आवागमन कि गम नहीं, तहाँ सकल जग जाय ॥३५॥

सर्वात्मत्वाऽतिसूक्ष्मत्वनिरंशत्वादिभिस्तथा।
यत्रारोढुं न शक्नोति सूक्ष्माऽप्येषा पिपीलिका ॥१६॥
तिष्ठेच्च राजिका नाऽत्र स्तो नैव गमनागती।
सर्वं गच्छति सुप्त्यादौ जगत्तत्रैव चाञ्जसा ॥१७॥
अक्षेत्रज्ञा यथा नैव हिरण्यनिधिमक्षयम्।
तस्योपरि चरन्तोऽपि विन्दन्तेऽत्र तथैव च ॥१८॥
संगच्छन्ति प्रजाः सर्वा ब्रह्मलोकमहर्निशम्।
प्रत्यक्षं नैव विन्दन्तेऽज्ञानेनेव पृथक् कृताः ॥१९॥
इत्येवं श्रुतिसंवादात्समीपे पुरुषः स्थितेः।
सर्वात्मत्वाच्च हृद्येव तस्य ज्ञानं विमुक्तिदम् ॥२०॥

सब के आत्मा अतिसूक्ष्म निरंशादि होने से जिस पर सूक्ष्म भी यह चींटी चढ नहीं सकती ॥१६॥ और इस पर राजिका (राई) भी नहीं स्थिर हो सकती, न गमन आगमन हैं। तहाँ ही सुषुप्ति आदि काल में सब जगत अञ्जसा (शीघ्र वा वस्तुतः) जाता है ॥१७॥ जैसे अक्षेत्रज्ञ (निधिस्थान को नहीं जाननेवाला अनिपुण) पुरुष, गाडी हुई उस निधि के ऊपर विचरता हुआ भी उस अक्षय हिरण्यनिधि का यहाँ लाभ (प्राप्ति) नहीं करते, तैसे ही सब प्रजा सदा ब्रह्मस्वरूप लोक (प्रकाश) में जाती है, परन्तु अज्ञान से पृथक् किये हुए के समान रहने से प्रत्यक्ष नहीं पाती है ॥१८-१९॥ (सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। छा० ६।८।१॥ सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे। ६।९।१॥ सर्वाः प्रजा अहरह-

"कामत्यागात्तु विज्ञानं सुखं ब्रह्म परं पदम्।
कामिनां नहि विज्ञानं सनकोद्गीतमेव तत् ॥२१॥
ब्रह्मचर्यविहीनाय विषयासक्तचेतसे।
आनन्दात्माऽपि चित्तस्थो नैव भाति कदाचन" ॥२२-३५॥

इति रमैनीरमोद्रेके मोक्षस्थानादेरभाववर्णनं नाम चतुर्दशः प्रवाहः ॥१४॥

गेच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति। छा० ८।३।२) इत्यादि श्रुति के इस प्रकार के संवाद से पुरुष (परमात्मा) समीप में स्थिर है, सर्वात्मा होने से हृदय में ही है, उसीका ज्ञान मुक्तिदायक है ॥२०॥ और काम के त्याग से विज्ञान सुख ब्रह्मरूप परम पद की प्राप्ति होती है, सो सनक ऋषि का कथन है। अग्निपु० ३८२।१०। यह वचन है ॥२१॥ ब्रह्मचर्य रहित विषयासक्त चित्तवाला के प्रति चित्त में स्थिर भी आनन्द स्वरूप आत्मा कभी नहीं भासता है। आत्मपु० १४।२९९। यह वचन है ॥२२॥

अक्षरार्थ– राम (परमात्मा) को दूर माननेवाले, नामादिद्वारा वहाँ प्राप्ति से मुक्ति माननेवाले पण्डितों से साहब का कहना है कि, हे पण्डितों! आप लोक स्मृति आदि को पढ २ कर अन्य चतुराई भले ही करो, परन्तु निज (अपनी) मुक्ति तो मुझे समझाकर कहो कि वह मोक्षदाता पुरुष कहाँ वसता है, उसका ग्राम कहाँ है। हे पण्डितों! सो नाम मोहि (मुझे) सुनावो॥ अर्थात् अनेक मतवाले अनेक लोकादि की कल्पना मिथ्या ही करते हैं, सर्व सम्मत कोई लोकादि नहीं कहे जा सकते, इससे जीवन्मुक्ति आदिक ही सिद्ध होते हैं, लोकान्तर की प्राप्ति स्वर्ग विशेषरूप हो सकती है, उसे मुक्ति कहना उचित नहीं है, इत्यादि।

और लोकपितामह ब्रह्माजी ने चार वेद को ठाना (रचा स्मरण किया), परन्तु नाम कर्मादि से होनेवाली वादियों से कल्पित मुक्ति के मर्म को उन्होंने भी नहीं जाना। अर्थात् उन्होंने (विमुक्तश्च विमुच्यते। कठ० २।५।१॥ अत्र ब्रह्म समश्नुते। कठ० २।६।१४) इत्यादि श्रुतियों के

अनुसार जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति का यहाँ ही वर्णन किया है, सालोक्यादि का नहीं ॥

आश्चर्य है कि मरने पर फल देने वाले दान और पुण्य कर्मादि का ब्रह्माजी ने वेदों में बहुत व्याख्यान किया, तो क्या लोकों से वर्णित अपने मरने पर होनेवाली मुक्तिरूप अपने मरण की खबर वे नहीं जानते थे, कि जिससे उसका स्पष्ट वर्णन नहीं किया, इससे यह बात वेदविरुद्ध है ॥ इस विरुद्ध कथन में कारण यह है कि एक (अद्वितीय) नाम (वेदादि में प्रसिद्ध) वा एक नामवाला देव अगम (बाह्येन्द्रिय से अग्राह्य) गम्भीर (अथाह) अपार स्वरूप है, और तहवाँ (तिस में) देवादि के दास कबीर (जीव) अस्थिर हैं। न उसमें प्राप्त हुए हैं, न स्थिरता ही पाये हैं ॥

निरवयव विभु सूक्ष्म जिस सर्वात्मा में चींटी नहीं चढ़ सकती, राई भी जहाँ नहीं ठहर सकती, और आना जाना आदि क्रिया की जहाँ गम (ज्ञान वा प्राप्ति) नहीं है; क्योंकि सावयव एकदेशी आत्मभिन्न में ये सब बातें हो सकती हैं, तो भी सुषुप्ति काल में सब प्राणी तहाँ जाते हैं, तथा प्रलय काल में सब संसार उसमें लीन होता है, और अज्ञान से संसारी भी बना रहता है, इत्यादि ॥

विशेष बात यह है कि, अभ्युपगमवाद से अक्षरार्थ के अनुसार रमैनी का यह भी भाव हो सकता है कि हे पण्डितो ! पढ २ कर चतुराई करो, परन्तु खास मुक्ति की बात समझा कर कह नहीं सकते हो। क्योंकि तुम मुक्ति दाता को दूर मानते हो, परन्तु वह दूर है नहीं, न तुम जानते हो, तुम्हारी तो बात ही क्या है, जो प्रवृत्ति परायण ब्रह्मा हुए, चार वेद बनाये, सो भी व्यवहार के मारे जीवन्मुक्ति के भेद को स्वयं नहीं जान सके, तथा चार वेद के ज्ञाता ब्रह्मा नामक ऋत्विक् भी वेदोक्त कर्मों को ठाना (किया कराया), परन्तु उससे मुक्ति के भेद को नहीं जाना ॥ दान पुण्य का व्याख्यान बहुत किया, परन्तु पुनर्मरण रहित निज मरण

का वा अपनापन (ममता) की मृत्यु का मर्म नहीं जाना, इसीसे ब्रह्माजी को माता से उपदेश लेना पड़ा, इत्यादि ॥ और अगम गंभीर एक में नहीं स्थिर होने से चींटी आदि के गमनादि से रहित कल्पित लोकों में भी सब मन से जाते हैं, इत्यादि ॥३५॥

ज्ञान विना मिथ्याऽहंकार प्रकरण ॥१८॥

रमैनी ३६

पण्डित भूले पढि गुणि वेदा । आपु अपन पौ जानु न भेदा ॥
संध्या तर्पण औ षट कर्मा । ई बहुरूप करहिं अस धर्मा ॥

अधीत्याप्यखिलान् वेदानभ्यस्य च पुनः पुनः ।
नाधियन्ति स्वमात्मानं पण्डिता ह्यविचारिणः ॥ १ ॥
स्वकल्याणपदस्वस्य रहस्यं स्वं विदन्ति नो ।
नातस्ते ह्यवगच्छन्ति सर्वानन्दमहोदधिम् ॥ २ ॥
संध्यासंतर्पणादीनि षट् कर्माणि प्रकुर्वते ।
एवं बहुविधश्चान्यो धर्मस्तैर्हि वितन्यते ॥ ३ ॥
नैव चात्मविचारादीनहिंसादींश्च कुर्वते ।
येन लब्ध्वा परात्मानं सद्यो ह्यत्रैव मुच्यते ॥ ४ ॥

अविचारी पण्डित लोक सब वेदों को पढकर, और बार २ अभ्यास करके भी अपनी आत्मा का स्मरणादि नहीं करते हैं ॥ १ ॥ अपना कल्याण का स्थान स्वरूप अपना रहस्य (गुप्त) आत्मा को नहीं जानते हैं, इसीसे वे लोक सब आनन्द का महान् समुद्र को नहीं पाते हैं ॥ २ ॥ संध्यातर्पणादि, और अध्ययनादि छौ कर्म करते हैं, और इसी प्रकार अन्य भी बहुत प्रकार के धर्म भी वे लोक फैलाते हैं ॥३ । और आत्मविचारादि अहिंसा आदि नहीं करते हैं कि जिससे यहाँ ही श्रेष्ठात्मा को पाकर शीघ्र

गायत्री युग चार पढाई । पूछहु जाय मुक्ति किन पाई ॥

"स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंसोऽहंत्ववेदनम् ।
इति संक्षेपतः प्रोक्तं तज्ज्ञत्वाऽज्ञत्वलक्षणम् ॥ ५ ॥
न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मुक्तिः सिद्ध्यति नान्यथा" ॥ ६ ॥
चतुर्युगे हि गायत्रीं पाठयन्ति पठन्ति ये ।
तान् सर्वानत्र पृच्छन्तु केऽपि ये सज्जनाः खलु ॥ ७ ॥
पाठमात्रेण को मुक्तोऽभवज्ज्ञानादृते यतः ।
ऋते ज्ञानान्न मुक्तिर्हीत्याहुः श्रुतिगणा मुहुः ॥ ८ ॥
चतुर्युगे हि येऽबुद्ध्वा गायत्रीं पाठयन्ति वा ।
ते विद्वांसं हि पृच्छन्तु कस्य मुक्तिरभूदतः ॥ ९ ॥
"केवलं पाठमात्रेण यश्च सन्तुष्यते नरः ।
तथा पण्डितमानी च कोऽन्यस्तस्मात्पशुर्मतः ॥१०॥

मुक्त होता है ॥ ४ ॥ विचारादि से अपने स्वरूप में स्थिति हि मुक्ति है, और अहंकार बुद्धि हि मोक्ष का अभाव है। अथवा आत्मस्थिति से भ्रंश (अधःपतनरूप) शरीरादि में अहं बुद्धि है। और यही ज्ञानी अज्ञानी का संक्षेप से लक्षण है। योगवासिष्ठ ३।११७।५। का यह वचन है ॥ ५ ॥ योग, सांख्य, कर्म, विद्या से मुक्ति नहीं सिद्ध होती, किन्तु ब्रह्मात्मा की एकता के बोध से होती है, अन्यथा नहीं; विवेक चूडामणि का वचन है ॥६। जो लोक चारों युग में गायत्री पढाते पढते हैं (पढाना पढना ही चारों युग के लिये हित मानते हैं) उन सब से जो कोई सज्जन हों सो यहाँ पूछें कि ज्ञान बिना पाठ मात्र से कौन मुक्त हुआ, जिससे श्रुतिगण बार २ कहते हैं कि ज्ञान विना मुक्ति नही होती है ॥७–८॥ अथवा समझने बिना जो लोक चारों युग में (सदा) गायत्री पढाते हैं, वे ही लोक विद्वान को पूछें कि इससे किसकी मुक्ति हुई ॥ ९ ॥ स्कन्दपु० खं० १–२ अ० १३।८७–८९ का वचन है कि, जो मनुष्य केवल

औरक छुवे लेत हौ सींचा । तुम ते कहहु कौन है नीचा ॥
अवगुण गर्व करहु अधिकाई । अति कै गर्व न होय भलाई ॥

स्वर्गाय बद्धकक्षो यः पाठमात्रेण ब्राह्मणः ।
स बालो मातुरङ्कस्थो ग्रहीतुं सोममिच्छति ॥११॥
तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो द्वाराणि सप्तैव महन्ति पुंसाम् "
॥१२॥
मोक्षो दूरतरः स्वर्गात् पृच्छन्तु तस्य लब्धये ।
विरागयोगसद्भक्त्या ज्ञानं सम्पादयन्तु च ॥१३॥
ये हि पृष्ट्वा न जानन्ति स्वात्मानं विधिपूर्वकम् ।
वर्जयन्ति न हिंसादीन् मुधा देहाभिमानिनः ॥१४॥
तेऽपि चान्यस्य संस्पर्शाज्जलं सिञ्चन्ति वर्ष्मणि ।
चेद्वदन्तु च तेभ्यः के सन्ति नीचा महीतले ॥१५॥

पाठमात्र से संतुष्ट होता है, और अपने को पण्डित मानता है, उससे अन्य कौन पशु माना जाय ॥१०॥ पाठमात्र से जो ब्राह्मण स्वर्ग के लिये काछ बांध कर तैयार है, सो बालक माता के गोद में रहते चन्द्रमा को पकडना चाहता है ॥११॥ तप, दान, शम, दम, कुकर्मादि से लज्जा, आर्जव (अवक्रता) और सब भूतों पर दया; ये सात ही स्वर्गलोक के पुरुषों के महान् द्वार सन्तलोक कहते हैं । मत्स्यपु० ३९।२२। यह वचन है ॥१२॥ स्वर्ग से मोक्ष बहुत दूर है, उसकी प्राप्ति के लिये ज्ञानियों से पूछें, और विराग योग सहित सद्भक्ति ज्ञान का सम्पादन करें । १३॥

जो व्यर्थ देहाभिमानी लोक, विधिपूर्वक पूछकर, अपनी आत्मा को नहीं जानते हैं, न हिंसा आदि को त्यागते हैं ॥१४॥ वे भी यदि अन्य का स्पर्श से वर्ष्म (देह) पर जल सींचते हैं, तो कहें कि महितल (पृथ्वी पर) उन से कौन नीच हैं ॥१५॥ आश्चर्य है, तुम पृथग्जन (नीच) लोक

जासु नाम है गर्व प्रहारी । सो कस गर्व हिं सकै सम्हारी ॥

साखी ।

कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्वाण ।
अंकुर बीज नशाय के, भये विदेही थान ॥३६॥

अहो पृथग्जना यूयं कुरुध्वे वृजिनं महत् ।
तमोरजःप्रसक्तत्वादतिगर्वं [1]च कुर्वते ॥१६॥
गर्वे चातिकृते भद्रं कस्यापीह न विद्यते ।
यतो मानेन नश्यन्ति ह्यभिभूतास्तमोगुणैः ॥१७॥
गर्वप्रहारिनामा यः सोढुं शक्नोत्यसौ कथम् ।
गर्वं कस्यापि देवो वा बोधो मायाऽथवा प्रभुः ॥१८॥
कुलजात्यादिधर्मं च स्वमर्यादां सनातनीम् ।
परित्यज्याभिवाञ्छन्ति निर्वाणपदमव्ययम् ॥१९॥

महत् वृजिन (पाप) करते हो और तमोगुण रजोगुण में आसक्त होने से आप लोक अत्यन्त गर्व भी करते हैं ॥१६॥ और गर्व अति करने पर किसी का यहाँ कल्याण नहीं होता । जिससे तमोगुण से अभिभूत (गर्वारूढ) प्राणी मान से नष्ट होते हैं ॥१७॥ गर्वप्रहारि (नाशक) नामवाला जो देव, वा बोध, वा माया, वा प्रभु है वह किसी का भी गर्व को कैसे सह सकता है ॥१८॥

सब अभिमानी लोक कुल जाति आदि शम दमादिरूप धर्म और शाश्वत (नित्य) अपनी मर्यादा (धारणा-धार्मिक स्थिति) को त्याग कर

---

१ 'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे, ततोऽसुराऽभिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुह्वन्तश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराबभूवुस्तस्मान्नाऽतिमन्येत पराभवस्यैतन्मुखं यदभिमानः'। शतपथ० ५।१।१।१॥ 'नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः'॥ म०भा०आदिप० ९०।२२॥

ज्ञानवृक्षाङ्कुरं तस्य बीजं मोक्षफलप्रदम् ।
नाशयित्वा म्रियन्तेऽन्तः सर्वे खल्वभिमानिनः ॥२०॥
किम्वा सर्वाभिमानादि त्यक्त्वैवा'ऽन्वेषितं हि वै ।
निर्वाणफलमत्रैव विनाश्याङ्कुरबीजके'॥
वासनाकर्मरूपे वा बुद्धयविद्यादिरूपिणी ॥२१॥
ते जीवन्मुक्ततां प्राप्य विदेहत्वं प्रपेदिरे ।
नान्यथा जन्मजन्मान्तेऽप्येतद्वेदानुशासनम् ॥२२॥
विरागयोगयुक्तेन सुभक्तेन सुचेतसा ।
देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम् ॥२३॥३६॥

इति रमैनीरसोद्रेक आत्मज्ञान विना मिथ्याऽहङ्कारवर्णनं
नाम पञ्चदशः प्रवाहः ॥१५॥

अव्यय निर्वाण (मोक्ष) स्थान चाहते हैं, इसमें ज्ञानरूप वृक्ष के अंकुर और मोक्षफल देनेवाला उस ज्ञान के बीजरूप सद्भक्ति सद्वासनादि को भी नष्ट करके मरते हैं ॥१९-२०॥ अथवा जिन लोकोंने सब अभिमानादि को त्यागकर और वासना, कर्म, रूप वा कुबुद्धि अविद्यारूप संसार के बीज अंकुर को नष्ट कर के ही यहाँ निर्वाण फल को खोजा, उन लोकोंने यहाँ जीवन्मुक्तता को पाकर विदेहमुक्ति को भी पाया, अन्य प्रकार अनेकों जन्म के अन्त में भी कोई नहीं पाये, यह वेद का अनुशासन (उपदेश) है । २१-२२॥ विराग और योग से युक्त, सुन्दर भक्त, चित्त द्वारा ही मनुष्य अनामय देव और आत्मा को एक रूप देखता है ॥२३॥

अक्षरार्थ- जिसमें सब संसारी सुषुप्ति आदि में प्राप्त होते हैं, सो परब्रह्म सर्वात्मा स्वरूप है, परन्तु पण्डित लोक कर्मकाण्डरूप वेदों को पढ गुण (विचार) कर भी उस निकटवर्ती को भूले हैं, नहीं जानते हैं।

१ 'अथ देवाः, अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वन्तश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो ह्येषामास यज्ञो ह देवानामन्नम्' । शतपथ० ५।१।१।२॥

और अपना पौ (मोक्षस्थान) का भेद (मर्म) आप अपने स्वरूप को नहीं जानते हैं। अर्थात् जूआ (द्यूत) विशेष में पौ नामक स्थान (कोष्ठ) में गोटी (पाशा) के जाने से विजय होता है। और वह पाशा भ्रमण रहित होता है, तैसे ही अपने स्वरूप में स्थिति से संसार का विजय होता है, जीव का भ्रमण छूटता है; परन्तु सद्गुरु विना इस भेद को अपना पौरूष आत्मा को विद्वान् भी नहीं जानते हैं। इससे मोक्ष स्थान दूर समझते हैं॥ और ई (ये) लोक संध्या पितृतर्पण, और अध्ययनादि षट्कर्म, करते हैं, तथा अन्य भी बहुत रूपवाला अस (ऐसा) ही धर्म (कर्म) करते हैं। परन्तु एकात्मज्ञान के लिये कुछ नहीं करते, इससे ज्ञान विना यहाँ मोक्ष नहीं पाते, इत्यादि॥ लिखा है कि (ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः। श्वेता० १।११॥)

पण्डितों ने हिंसा आदि कर कराय के, गायत्रीपाठ (जप) मात्र से मुक्ति मान कर चारों युगों में (सदा) गायत्री पढाई, परन्तु जाकर कोई उनसे पूछो तो कि गायत्री के पाठमात्र से किन लोकों ने मुक्ति पाई॥ अथवा मुक्ति की इच्छा से केवल पाठ करनेवालों से कहना है कि आप किसी ज्ञानी के पास जाकर पूछो कि पाठमात्र से किन लोकों ने मुक्ति पाई। श्रुति तो कहती है कि (तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति। श्वेता० ३।८) महान् विभु आत्मदेव को जान कर के ही मुक्ति पाता है, इत्यादि॥ निरुक्त० अ० १ १८। का वचन है कि (स्थाणुरयं भारहारः किलाऽभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।) सुश्रुत सूत्रस्थान, अ० ४ ३। का वचन है कि (यथा खरश्चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति॥)

और गायत्री पढने पढाने वाले कोरे देहाभिमानी लोक स्वयं मांसाहारादि करते रहने पर भी अन्य के छूने से देह पर जल सींचते हैं, उनसे कोई पूछो कि और (अन्य) के छू जाने से तुम जल का सींच लेते हो, परन्तु कहो कि तुम से कौन नीच है। यदि आप देहाभिमान हिंसादि

करते हो, तो अवगुण (पाप) और गर्व (अहंकार) दोनों अधिक करते हो, और अतिकै गर्व (अत्यन्त गर्व करने से) किसी की भलाई नहीं होती है। और जिस देव परमात्मा का गर्वप्रहारी नाम है, सो आप के गर्व को कैसे सह सकेगा। अहंकारी के गर्व को ईश्वरीय माया भी नष्ट करती है, परमात्मा का ज्ञान से भी गर्व नष्ट हो जाता है, यदि वह ज्ञान होता तो गर्व नहीं रहता, इत्यादि ॥

जिन अभिमानी लोकोंने अपने कुल के शमादिरूप मर्यादा (धारणा-धर्म) को खोय (गमाय) कर निर्वाण (मोक्ष) पद (स्थान वस्तु) को खोजा, वे लोक मोक्षज्ञान के बीज अंकुर रूप सुवासना सुकर्म सद्विचारादि को भी नष्ट कर के विदेही थान (श्मशान) में प्राप्त हुए। अथवा जिन विवेकियोंने कुल वर्णादि के व्यर्थ कुल (सब) मर्यादा (सीमाबन्दी) को त्यागकर निरभिमानतापूर्वक निर्वाण पद को खोजा, वे लोक संसार के अंकुर बीज को नष्ट कर के जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेह मुक्ति का स्थान (पात्र) हुए। अज्ञान मन बासना कर्मादि संसार के बीज अंकुर हैं ॥३६॥

ज्ञानभूमिकादि प्रकरण १६

रमैनी ३७

ज्ञानी चतुर विचक्षण लोई। एक सयान सयान न होई ॥
दुसर सयान को मर्म न जाना। उतपति परलय रैनि बिहाना ॥

ज्ञानिनः कुशलाः सर्वे विचक्षणजनास्तथा।
जानन्तु त्विति नैवासौ ज्ञानी प्रथमभूमिकः ॥ १ ॥

ज्ञानी (दैवज्ञ) कुशल (वैज्ञानिक-प्रवीण) विचक्षण (पण्डित) ये सब लोक इस बात को समझें कि वह प्रथम भूमिका (ज्ञान की प्रथम अवस्था शुभेच्छा) वाला, वस्तुतः ज्ञानी नहीं होता ॥१॥ किन्तु विचारादि

वाणिज एक सबन मिलि ठाना । नेम धर्म संयम भगवाना ॥
हरि अस ठाकुर तेजि न जाई । बालन विहिस्त गाव दुलहाई ॥

एकत्वादिविहीनस्य निर्विशेषस्य सर्वथा ।
ज्ञातैव कथ्यते ज्ञानी विचारादिसमाश्रयात् ॥ २ ॥

द्वितीयभूमिकस्यापि रहस्यं यावद्वेति नो ।
स्तां जन्ममरणे तावदवश्यं वै शुभेच्छिनः ॥ ३ ॥

शास्त्रज्ञाः पण्डिता यं वा सर्वज्ञं त्वेकमीश्वरम् ।
तटस्थमेव मन्यन्ते स सर्वज्ञो न विद्यते ॥ ४ ॥

ततोऽन्योऽस्ति द्वितीयो यः सर्ववित् सर्वशक्तिमान् ।
कुशलोऽपि न तं वेत्ति ततो रात्रिदिवं यथा ।
अवश्य जन्ममरणे भवतो ह्यनिवारिते ॥ ५ ॥

विचारणाद्यभावेन काम्यकर्मादिलक्षणम् ।
संयमं नियमं चैव भगवद्विषयं नराः ॥ ६ ॥

का सम्यक् आश्रयण करने से एकत्वादि गुणधर्मरहित सर्वथा निर्विशेष वस्तु का ज्ञाता ही ज्ञानी कहा जाता है ॥२॥ द्वितीय (सुविचारणा) भूमिका (अवस्था) वाला के रहस्य को जब तक नहीं जानता है, तब तक शुभेच्छावाला के भी जन्ममरण अवश्य होते हैं ॥३॥ अथवा शास्त्रज्ञ पण्डित जिस सर्वज्ञ एक ईश्वर को तटस्थ (संसार नदी के तीरस्थ) एक देशी ही मानते हैं, वह तटस्थ सर्वज्ञ नहीं है ॥४॥ उस से अन्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति-वाला दूसरा विभु ईश्वर है, कुशल पुरुष भी उस को नहीं जानता है। तिस से रातदिन के समान अनिवारित जन्ममरण अवश्य होते हैं ॥५॥

सुविचारणा आदि के अभाव से कामकर्मादि से मोहित मनुष्य सब काम्य कर्मादि रूप और भगवान विषयक संयम तथा नियमरूप वाणिज्य का ही प्रारम्भ किये। और अपनी आत्मारूप हरि को हृदय में कभी नहीं

साखी।

ते नर कहहु कहाँ गये, जिनहिं दीन्ह गुरु घोंटि।
राम नाम निज जानिके, छाड़हु वस्तुहिं खोंटि ॥३७॥

प्रारभन्तेस्म[1] वाणिज्यं कामकर्मादिमोहिताः।
नैव जातु स्वमात्मानं हरिं पश्यन्ति वै हृदि ॥ ७ ॥
तटस्थहरितत्तुल्यास्त्यक्तुं शक्या न तादृशैः।
अतस्तेभ्यो हि तैः स्वर्गो गीयते न हरिः स्वयम् ॥ ८ ॥
किम्वा स्वात्मा हरिस्त्यक्तुं शक्यते न कथञ्चन।
गत्वा लब्धु न शक्यश्च सर्वात्मत्वान्महेश्वरः ॥ ९ ॥
बालास्तथापि गत्वैवाऽन्यत्र पत्युश्च लाभतः।
स्वर्गं मोक्षं च मन्यन्ते नात्मलाभात्कथञ्चन ॥१०॥
उच्यन्तां ते गताः कुत्र येभ्यः सद्गुरुभिः स्वयम्।
दत्तं ज्ञानामृतं शुद्धं मातृभिरौषधं यथा ॥११॥

देखते हैं। ६-७॥ तटस्थ हरि और उस हरि के समान अन्य देवादि तैसे कामादि मोहित लोगों से त्यागे नहीं जा सकते, इससे उस हरि आदि से वे लोक स्वर्ग की प्राप्ति कहने हैं, चाहते हैं, स्वयं हरि उनसे नहीं गाये जाते हैं ॥८॥ अथवा स्वात्मारूप महेश्वर हरि सर्वात्मा होने से किसी प्रकार त्यागे नहीं जा सकते, न कहिं जाकर प्राप्त करने योग्य हैं ॥९॥ तौ भी बाल (अज्ञ) लोग अन्यत्र जाकर पति की प्राप्ति से ही स्वर्ग मोक्ष मानते हैं। आत्मप्राप्ति से किसी प्रकार भी नहीं मानते हैं ॥१०॥

जैसे माताओं से औषध दिया जाता है, तैसे सद्गुरु से जिन लोकों के प्रति शुद्ध ज्ञानामृत स्वयं दिया गया, किसी से वे कहे जायँ कि

---

१ 'किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः, स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः। मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं, स्वाऽऽत्माऽऽनन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः' ॥ भर्तृहरिः, वै० ॥

तेऽत्रैव स्वात्मलाभेन रोगरागादिवर्जिताः।
मुक्ता[1] आसन्न कुत्रापि गता मायादिवर्जनात् ॥१२॥
अतश्च रामनामानं ज्ञात्वैव स्वं निरञ्जनम्।
त्यज्यतामखिलं विश्वं दुष्कर्माद्यभिमानिता ॥१३॥
"विचारोपशमाभ्यां हि न विना साध्यते हरिः।
विचारोपशमाभ्यां च मुक्तस्याब्जकरेण किम्" ॥१४॥

वे ज्ञानामृत पाकर कहां गये ॥११॥ वे लोक यहाँ ही अपनी आत्मा की प्राप्ति से रोगतुल्य रागादि से रहित होकर मुक्त हो गये, माया आदि के त्यागने से वे लोक कहीं भी नहीं गये ॥१२॥ इससे रामनाम वाला निर्मल आत्मा को जानकर के ही सब विश्व (भुवन संसार) को और सब दुष्कर्मादि तथा अभिमान को त्यागो ॥१३॥ विचार और उपशम (निवृत्ति) विना हरि साध्य (प्राप्त) नहीं होते। और विचार उपशम से ही मुक्त को कमल कर हरि से कोई जरूरत नहीं रहती। यह योगवा० ५।४३।२३। का वचन है।

अक्षरार्थः–हे ज्ञानी (गणक–उपासक) चतुर (व्यवहारकुशल) विद्वान् एक सयान (प्रथम शुभेच्छामात्र वाला) वस्तुतः सयान (ज्ञानी) नहीं होता (रहता) है। वह शुभेच्छावाला जब तक दूसर सयान (सुविचारी) का मर्म को नहीं जानता है, तबतक ब्रह्मा के दिनरात में उत्पत्ति प्रलय (जन्ममरण) को पाता है। अथवा हे ज्ञानी आदि लोकों, आत्मभिन्न किसी एक का सयान (ज्ञानी) वस्तुतः सयान नहीं होता है। न आत्मभिन्न एक सयान (सर्वज्ञ) सयान (ईश्वर) हो सकता है। किन्तु उससे दूसरा ही सर्वात्मा स्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर है, उसका मर्म जो कोई नहीं जाना है, उसके जन्ममरण रैनि (रात्रि) बिहान (सबेरा दिन) की नाईं अवश्य होते हैं।

---

१ 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। मुण्डक० ३।२।९॥

सर्वात्मा ईश्वर तथा विचारवान् के मर्म को नहीं जानने से सब लोकोंने मिल कर सकाम कर्मादिरूप एक प्रकार का वाणिज्य ठाना (किया) है। और भगवान् विषयक नेम (नियम) अङ्गीकार (व्रतादि) तथा धर्म (दानादि) और संयम (धारणा, ध्यानादि) इन्द्रियादि के निरोधादि भी बाणिज्य ही किया है। और तटस्थ हरि ऐसा विचित्र ठाकुर (स्वामी) है, कि इन लोकों से त्यागे नहीं जा सकने, इसी कारण से वे बालन (अज्ञ सब) दुलहाई (उस दुलहा पति की प्राप्ति) से ही बिहिस्त (स्वर्ग) गाते हैं। दुलहा से स्वर्ग की प्राप्ति समझते हैं। अथवा सर्वात्मा हरि तो ऐसा ठाकुर हैं कि जिनका त्याग ग्रहणादि कभी हो नहीं सकता, तथापि अज्ञ लोक उस दुलहा को स्वर्ग में गाते समझते हैं, इत्यादि ॥

कोई विचारमान् कहो तो कि ते (वे) नर कहाँ गये, कहाँ जाकर मुक्त हुए, कि जिन्हें सद्गुरु ने हितैषिणी माता की नाईं ज्ञान बूटी की घोंटी पिलाई। अर्थात् जैसे माता की औषधि से बच्चा यहाँ ही रोगमुक्त होता है, तैसे ही गुरुभक्त गुरु से ज्ञान पाकर यहाँ ही मुक्त हो गये। इससे निजात्मा का ही राम यह नाम सद्गुरु से जानकर खोंटि वस्तु (देहाभिमान विषय हिंसादि) को छोड़ दो, और जीवन्मुक्त होवो ॥३७॥

आत्मज्ञान के प्रसंग से ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन किया जाता है, जिसमें प्रथम तीन भूमिका (अवस्था) ज्ञान का साधनरूप है, उन अवस्थाओं में ज्ञान वर्तमान नहीं रहता है। आगे की चार अवस्था में ज्ञान वर्तमान रहता है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ३८

एक सयान सयान न होई। दुसर सयान न जानै कोई ॥
तिसर सयान सयान हिं खाई। चोथ सयान तहाँ लै आई ॥

" ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥१५॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाऽभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता " ॥१६॥
प्रथमां भूमिकां प्राप्तो ज्ञानी नैवाभिधीयते।
द्वितीयभूमिकस्तत्त्वं नैव जानाति किञ्चन ॥१७॥
तृतीयभूमिकश्चैतज्ज्ञानिताद्यास्पदं मनः।
करोति तनु तेनैतत् खादतीव स लक्ष्यते ॥१८॥

योगवासिष्ठ प्र०३। स० ११८। का वचन है कि शुभेच्छा नाम वाली ज्ञानभूमि (अवस्था) पहली कही गई है, विचारणा दूसरी है, तनुमानसा तीसरी है ॥१५॥ सत्त्वापत्ति चतुर्थी होगी, उसके बाद असंसक्ति नाम वाली पांचवीं है, पदार्थाभाविनी षष्ठी है, तुर्यगा सप्तमी कही गई है ॥१६॥ तहाँ प्रथम भूमि को प्राप्त पुरुष ज्ञानी नहीं कहा जाता है, और द्वितीय भूमिका वाला भी कुछ तत्त्व नहीं जानता है ॥१७॥ तृतीय भूमिका वाला इस ज्ञानिता आदि के स्थानरूप मन को ही तनु (कृश—अल्प) करता हैं, तिससे इस मन को खाते हुए की नाईं वह लक्षित होता (दिखता) है ॥१८॥ चतुर्थ

पँचय सयान न जानै कोई । छठय माँह सब गेल बिगोई ॥
सतय सयान जु जानहु भाई । लोक वेद महँ देहु दिखाई ॥

चतुर्थभूमिकः सत्ये स्वात्मनि स्थितिमेति वै ।
तत्पर्यन्तं हि गत्वेव वासनाविलयान्मुनिः ॥१९॥
पञ्चमीं भूमिकामेत्य जगत्-मिथ्या प्रपश्यति ।
अविकल्पमनाश्चातः स्वानन्दे वर्तते सदा ॥२०॥
असंपश्यञ्जगत्सर्वं निर्वासनमना मुनिः ।
अनासक्तो हि सर्वत्र वर्तते विगतज्वरः ॥२१॥
षष्ठभूमौ तु संप्राप्ते पुंसि सर्वो विलीयते ।
पदार्थसंघ इत्यत्र दुःखलेशो न विद्यते ॥२२॥
सप्तमीं भूमिकामाप्तः स्वरूपस्थो भवेत्सदा ।
ज्ञानस्य विषयो नासौ कथञ्चिल्लक्ष्यते क्वचित् ॥२३॥
चर्चाऽपि दुर्लभा तस्य विद्यते लोकवेदयोः ।
यदि जानाति कश्चित्तं स दर्शयतु सज्जनान् ॥२४॥

भूमिका वाला मुनि वासना के विलय से सत्यात्मा तक गया हुआ के समान होकर सत्य स्वात्मा में स्थिति पाता है ॥१९॥

पञ्चमी भूमिका को पाकर जगत् को मिथ्या देखता है, इससे विकल्प रहित मन वाला होकर, आत्मानन्द में सदा रहता है ॥२०॥ वासनारहित मुनि सब जगत् को नहीं देखता हुआ, सर्वत्र आसक्तिरहित ज्वररहित रहता है ॥२१॥ षष्ठ भूमि में पुरुष के प्राप्त होने पर तो उसके लिये सब पदार्थ समूह लीन हो जाते हैं, इससे यहाँ दुःख का लेश भी नहीं रहता है ॥२२॥ सप्तमी भूमिका को प्राप्त ज्ञानी सदा स्वरूपस्थ होता है, और वह ज्ञान का विषय नहीं होता है, किसी प्रकार कहीं समझा जाता है ॥२३॥ लोक वेद में उस की चर्चा (बात–विचार) भी दुर्लभ ही है, यदि कोई ज्ञानी को जानता हो, तो सज्जनों को दर्शन करावो ॥२४॥

इसीसे साहब कहते हैं कि—

साखी ।

बिजक बतावै बित्तको, जो बित गुप्ता होय ।
शब्द बतावै जीव को, बूझै विरला कोय ॥३८॥

दर्शनात्पुण्यलाभः स्याच्छान्तिश्चेहोपजायते ।
तद्दृष्टिगोचरो जन्तुर्मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ॥२५॥
पुस्तिका बीजकाख्या हि वित्तं बोधयते यथा ।
निखातं निहितं क्वापि न्यासं चैव मृणादिकम् ॥२६॥
तथा बोधयते सारशब्दश्च निहितं हृदि ।
जीवस्य सत्स्वरूपं तद्यज्ज्ञानादतुलं सुखम् ॥२७॥
चिदानन्दस्वरूपं तमदृश्यं साक्षिरूपकम् ।
निर्विकारं च पश्यन्ति केऽप्यत्र त्वधिकारिणः ॥२८॥
निखिलभुवनकोशे व्यापको यो निजात्मा,
जनिमृतिगतिहीनः शुद्धचैतन्यमूर्तिः ।

दर्शन से पुण्य का लाभ होगा, शान्ति भी यहाँ होती है, और उनकी दृष्टि के विषय प्राणी सब पाप से छूट जाता है ॥२५॥

जैसे बीजक नाम की पुस्तिका (बही) कहिं निखात (गाडा हुवा) निहित (रखा हुवा) न्यास (निक्षेप-धरोहर) और इसी प्रकार ऋण आदि रूप वित्त (धन) को समझाती है ॥२६॥ तैसे ही सार (सत्य) शब्द हृदय में निहित जीव के तिस सत स्वरूप को समझाता है कि जिसके ज्ञान से अतुल सुख होता है ॥२७॥ और समझाने पर भी चिदानन्द स्वरूप, साक्षिस्वरूप निर्विकार अदृश्य उस आत्मा को कोई विरल अधिकारी ही यहाँ देखते (समझते) हैं ॥२८॥ सब भुवनरूप कोष (पात्र वस्तु) में व्यापक, जन्म मरण क्रिया रहित,

शमविरतिविशुद्धैर्ज्ञानभूमिप्रलभ्यो,
निगमयति तुरीयं तं सुशब्दोऽर्हवित्तम् ॥२९-३८॥

इति रमैनीरसोद्रेके ज्ञानभूमिबोधनं नाम षोडशः प्रवाहः ॥१६॥

शुद्ध चैतन्य स्वरूप, शम वैराग्य से विशुद्ध पुरुषों से ज्ञानभूमि द्वारा प्राप्त करने योग्य जो निजात्मा है, उसी श्रेष्ठ पूज्य वित्त रूप तुरीय आत्मा को सुन्दर शब्द समझाता (प्राप्त कराता) है ॥२९॥

अक्षरार्थ– एक सयान (शुभेच्छु-प्रथम भूमिस्थ) वस्तुतः सयान नहीं होता (रहता) है। किन्तु यह समझता है कि मैं मूढ हूं ऐसा रहना उचित नहीं है। सत्संगादि से वैराग्यादिपूर्वक सत्तत्त्व को समझना चाहिये। दूसरी सुविचार भूमिवाला भी कोई (किसी) तत्त्व को नहीं जानता है, क्योंकि वैराग्यदिपूर्वक शौच संतोष श्रवणादिरूप सदाचार में प्रवृत्ति को सुविचार कहते हैं, और मन की सूक्ष्मता वशिता विना ज्ञान होता नहीं है। तीसरी भूमिवाला सब सयानता के आश्रय मन को कृश अल्प करता है, इससे मानो सयान को ही खाता है, अर्थात् बाह्य वृत्ति को रोककर सूक्ष्म वस्तु को समझने योग्य मन को बनाता है, यहाँतक साधनावस्था है, फिर उपरत चित्तवाला चौथ सयान तहाँ लै (उस सत्यात्मातक) पहुंच जाता है, वह आत्मानुभवी ज्ञानी हो जाता है, परन्तु संसार की भी अच्छी तरह प्रतीति बनी रहती है ॥

पञ्चम भूमिवाला कोई (किसी) अनात्म वस्तु को सत्य नहीं जानता है, अर्थात् चतुर्थ भूमि के अभ्यास से आसक्ति का अभाव होता है, आत्मानन्द का विशेष अनुभव होता है, इसमे ज्ञानी केवल आत्माराम में रमण करता है, कभी व्यवहार परायण नहीं होता। और सप्तम भूमि वाला का तो दर्शन भी दुर्लभ है, हे भाई, यदि उन्हें जानते हो तो लोक वेदमें उनकी चर्चा प्रत्यक्ष देखावो, अर्थात् वे अत्यन्त दुर्लभ हैं, कि जो सदा तुर्यावस्था में ही रहते हैं, और उनका कोई विशेष चिन्ह सर्व साधारण को समझने के लिये नहीं है कि जिस का वर्णन हो, इत्यादि आशय है।

जैसे गुप्त जो वित्त रहता है, उस को बीजक (बही) बताता है, तैसे ही सद्गुरु का उपदेश सत् शास्त्र रूप शब्द भी जीव के पारमार्थिक स्वरूप को बताता है, परन्तु उससे भी कोई विरल विवेकी ही बूझता (समझता) है, इसीसे अन्तावस्थावाला ज्ञानी दुर्लभ है ॥

विशेष बात है कि तीन भूमिका तक परोक्ष ज्ञान रहता है, चौथी में प्रत्यक्ष ब्रह्मविद् होता है। पञ्चमी में ब्रह्मविद्वर, षष्ठी में ब्रह्मविद्वरीयान्, अन्त में ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। मोक्ष में सब की तुल्यता होती है। जीवन काल में अपरोक्ष ज्ञानी में अवस्था का भेद रहता है ॥३८॥

ज्ञान विना यवनदुरवस्था प्रकरण १७

रमैनी ३९

जिन कलमा कलि माँह पढाया। कुदरत खोजि तिनहुं नहिं पाया॥

यैः कलौ कल्पितो मन्त्रो मुहम्मदमुखैः किल।
पाठितश्च[1] जनास्तेऽपि शक्तिं नैवेशितुर्विदुः ॥ १ ॥
अन्विष्यापि बहुष्वत्र स्वविचाराद्यभावतः।
जात्यादेरभिमानेन नेशं मत्सरिणो विदुः ॥ २ ॥

जिन मुहम्मद साहब आदिकों ने कलियुग में ही कल्पना से मन्त्र सिद्ध किया, और लोकों को पढाया। वे लोक भी ईश्वर की शक्ति को नहीं जान सके ॥१॥ आत्मविचारादि के अभाव से तथा जाति आदि के अभिमान से, यहाँ बहुत पदार्थों में खोज कर भी मत्सरी (अन्य शुभ के द्वेषी-कृपण) लोग ईश्वर को नहीं जान सके ॥२॥ वे लोक कर्म के बाद

---

१ शब्दार्थकत्वात्कर्तुः कर्मत्वं शब्दकर्मकत्वेन च निजेच्छया प्रधाने कर्मणि प्रत्ययः ॥

कर्म ते कर्म करै करतूता । वेद कितेब भया सब रीता ॥
कर्म तो सो जो गर्भ अवतरिया । कर्म तो सो जो नाम धरिया ॥

कुर्वन्ति कर्मणः कर्म कल्पितं न तु वैदिकम् ।
सच्छास्त्रसम्मतं नैव कुर्वन्ति ते कदाचन ॥ ३ ॥
कल्पितेषु प्रवृत्त्यैवं वेदशास्त्रैः सुकर्मभिः ।
ते रिक्ताः संबभूवुर्वै व्यर्थाश्चैवागमास्तथा ॥ ४ ॥
स्मृतिभिः किन्नु वेदैश्च पुराणैः शास्त्रविस्तरैः ।
स्वर्गदैः कर्मभिः किञ्च यदि ज्ञानं न तात्त्विकम् ॥ ५ ॥
जातकर्म च नामादि कृतमेते विदुः शुभम ।
सुन्नतं यज्ञसूत्रं वा कर्मसौख्यप्रदं खलु ॥ ६ ॥
किम्वा तत्कुर्वते कर्म येन गर्भाज्जनिर्भवेत् ।
नामानि विविधान्येव सुन्नतादिप्रकल्पनम् ॥ ७ ॥
एतादृशानि कुर्वाणा आर्याश्च यवना अपि ।
अहिंसादे रहस्यं नो विदुर्नैवात्मनस्तथा ॥ ८ ॥

बराबर कल्पित कर्म करते हैं, वैदिक कर्म नहीं करते, न कभी सत्शास्त्र के अनुसार ही कर्मादि करते हैं ॥३॥ इस प्रकार कल्पित कर्मादि में प्रवृत्ति से वे लोक वेद शास्त्र सुन्दर कर्मों से खाली (रहित) हो गये, तथा आगम (सत्शास्त्र) भी व्यर्थ हो गये ॥४॥ स्मृति वेद पुराण शास्त्रों का विस्तार से क्या, और स्वर्ग देने वाले कर्मों से क्या; यदि तात्त्विक (परमात्म स्वरूप का बोधक) सत्य ज्ञान नहीं हुवा ॥५॥

किया गया जातकर्म और नामकरणादि को ही ये लोक शुभ जानते हैं, और सुन्नत कर्म, यज्ञोपवीत कर्म को ही सुखप्रद (सुखदायी) समझते हैं ॥६॥ अथवा सो कर्म करते हैं, कि जिस द्वारा गर्भ से जनि (जन्म) होय । और अनेक प्रकार के नाम ही होयँ, तथा सुन्नतादि की कल्पना हो ॥७॥ ऐसा ही कर्म करते हुए, हिन्दू और तुरुक भी अहिंसा

कर्म ते सुन्नत और जनेऊ। हिन्दू तुरुक न जानै भेऊ।

साखी।

पानी पवन संजोय के, रचिया ई उतपात।
शून्यहिं सुरति समोय के, कासो कहिये जात ॥३९॥

"तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तिदा।
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पनैपुणम्" ॥ ९ ॥
इत्यादि शास्त्रसद्वाक्यैः प्रोक्तं शृण्वन्ति केऽपि न।
कुर्वते मूढबुद्ध्युक्तं कथं मर्म विदन्तु ते ॥१०॥
रजोरेतोऽभिसम्बन्धात्प्राणस्येदं कलेवरम्।
दुःखमूलं निजोपाधिर्निष्पन्नं मोहमूलकम् ॥११॥
विवेकेन विविक्ते तु तच्छून्ये सच्चिदात्मनि।
मनोवृत्तिं स्थिरीकृत्य कस्मै का जातिरुच्यताम् ॥१२॥

आदि के तथा आत्मा के मर्म को नहीं जान सके ॥८॥ वस्तुतः वही कर्म है, जो ज्ञान के लिये हो, और वह विद्या है, जो विमुक्ति देनेवाली हो, और अन्य कर्म केवल आयास (परिश्रम) के लिये है, अन्य विद्या शिल्प (कला) की निपुणता मात्र है। विष्णु पु० अ० १९।४१। यह वचन है ॥९॥ इत्यादि शास्त्रों के सत् वाक्यों से कहा गया कोई नहीं सुनता है। मूढ बुद्धिवालों का कहा सब करते हैं, तो वे लोक मर्म कैसे जानें ॥१०॥

प्राण का रजोवीर्य के साथ संबन्ध से मोहरूप मूल कारणवाला दुःख का मूल रूप अपना उपाधि (धर्म-विशेषण-छल) रूप यह शरीर सिद्ध हुवा है ॥११॥ विवेक से शरीर शून्य (रहित) विविक्त (असंग पवित्र) सत् चित् आत्मा में मन की वृत्ति को स्थिर करके किसके प्रति कौन जाति कही जाय ॥१२॥ मनुष्य के न रक्त की न मांस की

" मनुष्याणां न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः ।
प्राणस्य नात्मनो जातिर्व्यवहारो हि कल्पितः " ॥१३॥
स्वविवेकाद्विविक्ते च तच्छून्ये वै निजात्मनि ।
मनोवृत्तेः स्थितौ शश्वज्जातिकार्यं न विद्यते ॥१४॥
सोऽत्र कर्मजालकं तनोतु तापपूरित,
यो न जातिवर्जितं हि वेत्ति पूर्णतृप्तिदम् ।
साधु तत्र मानसं निधाय योगवित्तमाः,
किं वदन्तु जातिजं क्रियादि वातिविभ्रमम् ॥१५॥३९

न हाड की न प्राण की न आत्मा की जाति है, किन्तु कल्पित व्यवहार मात्र है ॥१३॥ अपना विवेक से जाति शून्य असङ्ग अपनी आत्मा में मनोवृत्ति की सदा स्थिति होने पर जाति का कार्य नहीं है ॥१४॥ जो पुरुष जातिरहित पूर्ण तृप्तिदायक वस्तु को नहीं जानता, सो यहाँ ताप से पूर्ण कर्मजाल का विस्तार करे, पूर्ण योगवेत्ता लोक उस आत्मा में मन को अच्छी तरह धर कर जातिजन्य क्रियादि को वा अति विभ्रमरूप वस्तु की बात क्या कहें ॥१५॥

अक्षरार्थ- प्रथम ज्ञान की दुर्लभता कही गई है, उसी आशय से कहते हैं कि जिन लोगोनें आत्मज्ञान बिना कलिमांह (कलियुग में) कलमा नामक मन्त्र पढाया, उन लोकों ने भी सर्वात्मदेव से भिन्न तटस्थ ईश्वर और ईश्वर की शक्तिरूप कुदरत को खोजा, परन्तु पाया नहीं (यथार्थ रूप से समझा नहीं); क्योंकि सर्वात्मदेव की शक्ति स्वरूप ही कुदरत है, अन्य सब उसीसे कल्पित है ॥ और कुदरत को नहीं पाने से ही करतूत (कल्पित) कर्म ते कर्म (कर्म पर कर्म) करते कराते जाते हैं, आत्मविचारादि, अहिंसादि नहीं करते कराते हैं, अथवा कर्मते (कर्म जन्य देह से) फिर वही कर्म करते हैं कि जिससे फिर करतूत (कार्य देह) होता है । मोक्ष ज्ञानादि के लिये नहीं करते, इससे ज्ञान मोक्षादि के बोधक वेद किताब (ग्रन्थ) सब रीता (खाली

व्यर्थ रीति मात्र) हो गये, उन का कहा कोई नहीं करता, इससे व्य हुए, अध्ययनादि की रीति मात्र रह गई, बहुत का अभाव भी हो गय लोक निष्काम सुकर्म से भी खाली हो गये ॥

ज्ञान के साधन रूप निष्काम शुभ कर्म भक्ति विचारादि भी नहं करते हैं किन्तु कर्म तो सो करते हैं, कि जो गर्भ से अवतार हुवा अर्थात् पुत्रादि के जन्म होने पर जातकर्म करते हैं, और उसी क कल्याण कारक समझते हैं, या सोई करते हैं कि जिससे गर्भवास जन्म हुवा, इसी प्रकार कर्म सो समझते हैं कि जो पुत्रादि का नाम धरा गया जिसे नामकरण कर्म कहते हैं। या सो कर्म करते हैं कि जिससे जन्मादि पूर्वक अनेकों नाम धरे जायं। नाम रहित मोक्ष के लिये नहीं करते ॥ इसी प्रकार कुल के कर्म रूप से सुन्नत और जनेऊ (यज्ञोपवीत) संस्कार कर्म करते हैं, कर्मों द्वारा इन संस्कारों की प्राप्ति करते हैं। और अहिंसा सत्य शौचादि सुविचार सत्संग सद्भक्ति ध्यानादि रूप ज्ञान कल्याणदायक कर्मों के भेद को केवल हिन्दू तुरुकपन के अभिमानी जानते ही नहीं हैं, इसीसे रागद्वेषादि से सदा पीडित होते हैं, इत्यादि ॥ (योगवासिष्ठ का वचन है कि-तच्छ्रुतं यत् किल ज्ञप्त्यै सा ज्ञप्तिः समता यथा। प्र० ६।२।१९७।३२॥ वही श्रवण है जो ज्ञान के लिये हो, ज्ञान वह है कि जिससे समता (रागद्वेषादि का अभाव हो।) यहाँ हिन्दू पद जैन बुद्धादि का भी बोधक है, और तुरुक पद ईशाई आदि का भी बोधक है, वस्तुतः दोनों पद षट् दर्शनादि भेदों का सूचक है ॥)

रजोवीर्यादि रूप पानी और प्राणादिरूप पवन को संजोय (संबन्ध) करके, यह शरीर रूप उतपात (आत्मा की उपाधि) रचा गया है, या उतपात (उपद्रव) रूप रचा गया है, इस उपाधि आदि से शून्य (रहित) शुद्धात्मा में सुरति (मनोवृत्ति) को स्थिर करके, उस में वृत्ति को समावेश करके फिर किससे कौन जाति की बात कही जाय। अनात्म-परायणता से ही जाति आदि का झगड़ा खड़ा होता है, अन्यथा नही ॥३९॥

आत्मज्ञान के विना रागद्वेषादि, और उन के कारण, कुल जाति आदि की कल्पना आदि, कलि में कलमा पढानेवालों के पूर्व (प्रथम) से ही सिद्ध थे, इत्यादि आशय से कहते हैं कि–

रमैनी ४०

आदम आदि सुधि नहिं पाई । मामा हौवा कहँ ते आई ॥
तहिया होते तुरुक न हिन्दू । न माके रुधिर पिताके बिन्दू ॥

आदमाद्या न चैतस्य स्वात्मनो लेभिरे मतिम् ।
किञ्चादमस्त्रिया[1] हव्यवत्या नैव विदुर्गतिम् ॥१६॥
कुतोऽत्र साऽऽगता कस्माज्जाता विश्वविमोहिनी ।
नैतदेते विदुर्वेद्यं मिथ्याकल्पनमोहिताः ॥१७॥
आर्येतरप्रभेदो हि तदा नासीन्न जातयः ।
न रजोवीर्यतः सृष्टिरासीद्यत्र न कर्म च ॥१८॥
किन्तु मनोमयी सृष्टिर्यदासीत् प्राणिनां तदा ।
आर्यानार्यादिभेदोऽपि कुतः कस्यापि संभवेत् ॥१९॥

आदम आदि भी इस अपनी आत्मा की मति (बुद्धि) को नहीं पाये, और आदमजी की स्त्री हव्यवती की गति (गमन प्राप्ति) को भी वे लोक न समझे ॥१६॥ कहाँ से वह यहाँ आई, किससे वह विश्व को मोहने वाली उत्पन्न हुई । मिथ्या कल्पना से मोहित ये लोक इसे जानने योग्य तत्त्व को नहीं जान सके ॥१७॥ जिस समय आर्य अनार्य का भेद नहीं रहा, न जाति सब थी, न रजोवीर्य से सृष्टि थी, न जहाँ कोई कर्मभेद था ॥१८॥ किन्तु जिस समय प्राणियों की सृष्टि मनोमयी थी, तिस समय किसी का आर्य अनार्य (हिन्दु तुरुक) भेद भी किससे

१ ‘ इन्द्रियाणि दमित्वा यो ह्यात्मध्यानपरायणः । तस्मादादमनामाऽसौ पत्नी हव्यवती स्मृता । ’ भविष्यपु० प० ३।४।२९॥

तहिया होत न गाय कसाई । तब कहु विसमिल किन फरमाई ॥
तहिँया होत न कुल औ जाती । दोजख विहिस्त कौन उतपाती ॥
मन मुसले की खबर न जानै । मति भुलान दो दीन बखानै ॥

अज्ञैर्हि कल्पितो भेदो मिथ्याभूतो विमोहतः ।
अनर्थायैव सर्वेषां सर्वत्रैवाविवेकिनाम् ॥२०॥
तदा चासन्न वै गावो न चैते मांसिकास्तथा ।
बिसमिल्लेति मन्त्रेण हिंसां कस्योपदिष्टवान् ॥२१॥
कश्च कस्य फलस्यार्थे स्वालोच्यैवावगम्यताम् ।
अबुधैः कल्पितो मध्ये नायं धर्मः सनातनः ॥२२॥
कुलजात्यादिभेदो हि तदा नासीद्यतस्ततः ।
स्वर्गनरकयोर्भेदो जातिभेदात् कुतो भवेत् ॥२३॥
यवनानां मनश्चैतद्रहस्यं नैव वेत्ति यत् ।
स्वबुद्ध्या भ्रान्तया तस्माद्धर्मौ द्वौ निवदन्ति ते ॥२४॥
अहिंसादिर्हि सद्धर्मः स्वात्मज्ञानादिकस्तथा ।
एक एव मनुष्याणां विभेदो मतिविभ्रमात् ॥२५॥

संभव हो सकता है ॥१९॥ सब अविवेकी का सर्वत्र अनर्थ (दुःख) के ही लिये, विमोह से मिथ्या प्राप्त (सिद्ध) भेद अज्ञों से ही कल्पित हुवा है ॥२०॥ उस आदि काल में गौ नहीं थे, न ये मांसिक (कसाई) थे, तो कौन किस फल के लिये विसमिल्ला इस मन्त्र से किसकी हिंसा का उपदेश किया, इस बात को अच्छी तरह विचार करके ही समझो कि यह सब व्यवहार बीच में अज्ञों से कल्पित हुए हैं, यह सनातन धर्म नहीं है ॥२१-२२॥ और जिससे उस समय कुल जाति आदि के भेद भी नहीं थे तो स्वर्ग नरक का भेद भी जाति भेद से कैसे होगा ॥२३॥ जिससे यवनों का मन इस गुप्त भेद को नहीं जानता है, इससे वे अपनी भ्रान्त बुद्धि से दो धर्म कहते हैं ॥२४॥ अहिंसादि रूप श्रेष्ठ धर्म, और

साखी ।

संयोगे का गुण रवै, वीयोगे गुण जाय ।
जिह्वा स्वाद के कारणे, कीन्हो बहुत उपाय ॥४०॥

अहिंसासत्यधर्मादेः सद्गुणादेश्च संग्रही ।
भवेद्यः सुजनो धीमान् ख्यायन्तेऽस्य गुणा भुवि ॥२६॥
संयमे स्वेन्द्रियादीनां मनसा तत्परो भवेत् ।
एधन्तेऽद्धा गुणास्तस्य प्रज्वलन्ति यशांसि च ॥२७॥
अन्यथा तु कृते सर्वे गुणा धर्मा यशांसि च ।
संप्राप्तान्यपि नश्यन्ति यात्यधोऽधो जनस्तु सः ॥२८॥
हा तथापि जना मूढा जिह्वासंतृप्तिहेतवे ।
कुयत्नं बहुधा कृत्वा गुणान् सर्वान् व्यनाशयन् ॥२९॥

स्वात्मज्ञानादि रूप धर्म मनुष्यमात्र के एक ही प्रकार के हैं, विभेद बुद्धि का विभ्रम से है ॥२५॥

जो बुद्धिमान् सज्जन अहिंसा सत्य धर्मादि का और विचारादि सद्गुणादि का संग्रही (संचयी) होता है, उस के गुण पृथिवी पर ख्यात (प्रसिद्ध) होते हैं ॥२६॥ जो प्राणी अपने इन्द्रियादि का संयम (कुमार्ग से संयमन निरोध) में मन से तत्पर होता है, उसके अद्धा (तत्त्व) सत्य गुण सब बढते हैं, और यश प्रज्वलित होते हैं ॥२७॥ और अन्य प्रकार करने से, सम्यक् प्राप्त भी सब गुण धर्म यश नष्ट होते हैं, और वह मनुष्य भी नीचे जाता है ॥२८॥ खेद की बात है कि तौ भी मूढ लोकों ने जिव्हा की तृप्ति के लिये बहुत प्रकार के कुयत्न करके सब सद्गुणों को नष्ट कर लिये ॥२९॥ द्रोह (परापकार) आदि दोषवाला, मांस भोजनयुक्त, दया आदि रहित मनुष्य में धर्म के लेश का भी सम्भव नहीं है । और यदि मनुष्य शुचि दयालु है, तो मनुष्य में

न धर्मलेशसंभवो द्रुहादिदोषशालिनि,
दयादिहीनमानवे तु मांसभुक्तिसंयुते ।
न मानवेऽस्ति भिन्नता शुचिर्दयालुरस्ति चेद्,
इयं सुधर्मसाम्यता सुखावहा च विज्ञता ॥३०॥४०॥

इति रमैनीरसोद्रेके ज्ञानं विना यवनदूरवस्थावर्णनं नाम सप्तदशः प्रवाहः ॥१७॥

भिन्नता नहीं है, यही सुख देनेवाली, सुन्दर धर्म की साम्यता (तुलना) है, और विज्ञता है ॥३०॥

अक्षरार्थ– आदम आदि ने भी इस आत्मतत्त्व की वा उस की शक्ति कुदरत की सूधि (भेद-ज्ञान) नहीं पाई, तथा आदम के आदि (कारण) की सुधि लोकों ने नहीं पाई । लोकों को यह पत्ता भी नहीं लगा कि हौवा (हव्यवती) नामवाली आदम जी की मामा (स्त्री) कहाँ से आई । भाव है कि आदमजी के सोने पर मायामयी स्त्री आई, जागने पर उन्हों ने कल्पना किया कि मेरी पसली से खुदा ने इसे बनाया है ॥ इञ्जिल में कथा है कि (तब परमेश्वर ने भूमि की धूलि से आदम को बनाया, और उस के नथुने में जीवन का श्वांस फूंका, और आदम जीता प्राण हुवा, और परमेश्वर ने आदम को बड़ी निन्द में डाला और वह सो गया, तब उसने उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली, और उसके सेंती मांस भर दिया । और परमेश्वर ने आदम की उस पसली से एक नारी बनाई, और उसे आदम के पास लाया) इत्यादि कथनों को मान कर यहाँ साहब ने अपना विचार लिखा है ॥ और उस सृष्टि का आदि काल में तुरुक हिन्दु आदि जाति का भेद नहीं था, न माता की रुधिर (रज) और पिता की बिन्दु (वीर्यकण) से सृष्टि थी, किन्तु मानस सृष्टि थी, भेद सब बीच में कल्पित हुए हैं ॥ इसीसे–

तहिया (आदिकाल में) गौ कसाई नहीं थे, तो कहो और समझो

कि बिसमिल्ला[1] कह कर हिंसा के लिये किसने किससे फरमाया (हुकुम दिया) अर्थात् यह ईश्वर का हुकुम नहीं है, किन्तु जिव्हा स्वादादिवश इसकी सिद्धि हुई है ॥ उस समय कुल जाति का भेद नहीं था, तो जाति भेद से दोजक (नरक) और बिहिस्त (स्वर्ग) का उतपात (झगड़ा–जन्म) कौन हो सकता था ॥ मुसले (मुसलमानों) का मन इस खबर (रहस्य उपदेश) को नहीं जानता है, उन की मति (बुद्धि) भी भुलानी (भ्रान्त) है, इसीसे दो दीन (धर्म) का वखान (कथन) करते हैं, और इस भूल से ही मुसमानों के लिये स्वर्ग और अन्य के लिये नरक बताते हैं, यह बात ऐसी नहीं है, किन्तु सुकर्मादि से स्वर्ग और कुकर्मादि से नरक होता है ॥ और अहिंसा सत्यादि तथा सद्विचारादि मनुष्यमात्र के तुल्य ही हितकारक धर्म हैं, यथाशक्ति कर्तव्य हैं, इनके विना सब को संसार दुःख नरकादि होते हैं, इस आशय से कहते हैं कि–

जो लोक अहिंसादि धर्म का संयोग (संग्रह) करते हैं, इन्द्रियों का संयमन करते हैं, मन का आत्मा से संयोग (संबन्ध) करते हैं । उनका सद्गुण रवता (प्रसिद्ध होता) है, बढता है, इन के वियोगे (त्यागने) से संचित भी धर्मादि भोग पापादि से नष्ट होते हैं, पाप के बढने पर शमादि कोई गुण नहीं रहते, सब चले जाते हैं, फिर महाकष्ट होता है, तौ भी कामान्ध लोलुप लोकों ने जिव्हा स्वादादि के वश में रहने के कारण हिंसा आदि अधर्ममय भोगों ही के लिये बहुत उपाय किया है, धर्म के लिये नहीं ॥ भाव है कि मन्त्राहिंसादि की कल्पना जीवों ने ही किया है, इसी प्रकार आदम आदि की सृष्टि भी कल्पना मात्र है, यदि आदम की धूलि से रचना हुई, तो उन की स्त्री की रचना भी धूलि से हो सकती थी, पसली निकालने आदि की कल्पना भी सर्वथा अनुचित है, इत्यादि ॥४०॥

---

१ ‘ विस्मिल्लाह अर्रहमान् अर्र रहिम ॥ ’ यह मन्त्र है ।

देवादिमोहविडम्बना प्रकरण १८

मनुष्यों में भ्रमजन्य आसक्ति दुःखादि के तुल्य ही देहाभिमानादि-युक्त देव में भी आसक्ति दुःखादि अज्ञान काल में रहते हैं, इससे वैराग्य के लिये उन का वर्णन करते हैं कि—

रमैनी ४१

अम्बु कि राशि समुद्र कि खाई । रवि शशि कोटि ततिसो भाई ॥
भँवर जाल महँ आसन माँड़ा । चाहत सुख दुख सङ्ग न छाडा ॥

अहो सूर्यशशाङ्काद्यास्त्रिंशत्कोटिमरुद्गणाः ।
गोचराम्बुसमायुक्ते संसाराख्ये महोदधौ ॥ १ ॥
रागद्वेषग्रहैर्युक्ते व्याप्ते चेन्द्रियजन्तुभिः ।
जन्माद्यैश्च महावक्रैरावर्तैर्गहने तथा ॥ २ ॥
सुखलोभेन तिष्ठन्ति स्वासनं प्रविधाय ते ।
महाऽऽवर्तस्य चक्रेऽपि स्थैर्यं बुद्ध्वा विमोहतः ॥ ३ ॥
सत्सौख्यं ते च वाञ्छन्ति 'दुःखानि तांस्त्यजन्ति नो ।
तेऽपि दुःखकृतां सङ्गं नो त्यजन्ति यतोऽबुधाः ॥ ४ ॥

आश्चर्य है कि सूर्य चन्द्रादि तैंतीस करोड़ देवगण भी विषयरूप जल से युक्त, रागद्वेष ग्राह सहित, और इन्द्रियरूप जलजन्तु से व्याप्त और जन्मादिरूप महा वक्र (टेंढे) आवर्त (जल भ्रमण) से गहन (कलिल) दुष्प्रवेश, संसार नामक समुद्र में ही सुन्दर आसन बना कर वे लोक महाऽऽवर्त (भँवर) के चक्र (समूह) में विमोह से स्थिरता समझ कर सुख के लोभ से स्थिर हैं ॥१-३॥ वे लोक सत्य सुख

१ 'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।' मुण्ड० १।२।१०॥ 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।' मुण्ड० ३।२।२॥ 'सत्त्वोत्कटाः सुराः सर्वे विषयैश्च वशीकृताः । प्रमादिनि क्षुद्रसत्त्वे मनुष्ये चाऽत्र का कथा ॥' दक्षस्मृ० अ० ७ ॥

दुख के मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति कै जग बौराया॥
आपु हि बावर आपु सयाना। हृदय बसै तिहि राम न जाना॥

शरीराद्यभिमानेन युक्ताः केऽपि न जन्तवः।
सुखिनो वै भवन्तीह दुःखमुक्ता न निर्भयाः॥ ५॥
दुःखस्यैतद्रहस्यं नो जानन्त्येवाभिमानिनः।
केऽप्यतो बहुधा चैते भ्रमन्ति भवसागरे॥ ६॥
अधर्माऽज्ञानमोहाद्यैर्मुग्धो यो भवति [1]स्वयम्।
सैव ज्ञानविरागाद्यैर्ज्ञानित्वं च प्रपद्यते॥ ७॥
अहो ज्ञानाद्यभावेन यो रामो हृदये स्थितः।
तं देवा यन्न जानन्ति मुह्यन्ति तेन सर्वशः॥ ८॥
भेदाऽज्ञानान्निखिलभुवनावर्तिनो दुःखराशे-
र्नित्यस्फूर्जन्निरवधिपरानन्दवित्तेरलाभात्।
मोहध्वान्तैरनिशमवनौ देवलोकेऽपि कामै-
र्जीवा शश्वत्सुमतिविकला धावमाना विनष्टाः॥ ९॥

चाहते हैं, और दुःख उन्हे नहीं छोडते हैं, और वे लोक भी दुःख के कारणों का सङ्ग को नहीं त्यागते हैं, जिससे अबुध (अज्ञ) हैं ॥४॥ शरीरादि के अभिमान से युक्त कोई जन्तु भी यहाँ सुखी नहीं होते हैं, न दुःख से मुक्त निर्भय होते हैं ॥५।

कोई भी अभिमानी दुःख का इस गुप्त भेद को नहीं जानते हैं, इसीसे ये भवसागर में बहुधा भ्रमते हैं ॥६॥ जो अधर्म अज्ञान मोह आदि से मुग्ध (अविवेकी) रहता है, सोई ज्ञान विरागादि से स्वयं ज्ञानित्व को प्राप्त करता है ॥७॥ आश्चर्य है कि जो राम हृदय में स्थिर है, ज्ञानादि के अभाव से जिससे देव भी उस को नहीं जानते हैं, तिससे ही सब मोहित होते हैं ॥८॥ सब भुवन में अच्छी तरह वर्तमान दुःख-

---

१ 'गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते। ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने॥' आत्मोपनिषद्॥

साखी।

तेई हरि तेई ठाकुर, तेई हरि के दास।
याम भया नहिं यामिनी, भामिनि चली निराश ॥४१॥

[1]सर्वात्मा योऽस्ति रामोऽसौ हरिः सैव प्रभुः परः।
सर्वात्मत्वात्स एवास्ति हरेर्दासोऽपि वल्लभः ॥१०॥
मोहरात्रौ न तल्लाभो यतोऽभूदविवेकिनाम्।
अतस्तेऽन्यत्र गच्छन्ति बाला गत्वा हताशताम् ॥११॥
मायया परिमोहेन शरीरी सर्वकृद् भवेत्।
आत्मैवासौ च भोगेन तृप्तिमेति च जाग्रति ॥१२॥
कामान् कामयमानो हि यत्र तत्रैव जायते।
पूर्णां तृप्तिं न चाप्नोति यावज्ज्ञानं न लभ्यते ॥१३॥

राशि का भेद (विशेष) के अज्ञान से, और नित्य प्रकाशमान विभु श्रेष्ठ आनन्द का ज्ञान की अप्राप्ति से, सुमति रहित जीव सब सदा पृथिवी पर और देव लोक में भी दौड़ते हुए मोहान्धकार और काम से विनष्ट हुए ॥९॥ सब की आत्मा जो वह राम है, सोई हरि है पर प्रभु (उत्तम स्वामी) है, और सर्वात्मा होने ही से वही हरि के प्यारा दास (भक्त) भी है ॥१०॥ जिससे अविवेकियों को मोहरात्रि में उसकी प्राप्ति नहीं हुई, इसीसे वे अज्ञ लोक हताशता को प्राप्त होकर अन्यत्र जाते हैं ॥११॥ वह आत्माराम ही माया और मोह से शरीरी होता है, सर्व कर्ता होता है, और जाग्रत काल में भोग से तृप्ति पाता है ॥१२॥ काम (विषयों) को चाहता हुआ, जहाँ तहाँ ही जन्मता है, जबतक ज्ञान नहीं मिलता, तबतक पूर्ण तृप्ति भी

---

१ 'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥' मनुस्मृ० १२।११९। 'अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम्। आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगतश्चात्मसंभवः ॥' याज्ञव० ३।११७।

कामाः पर्याप्तकामस्य विलीयन्तेऽत्र सर्वशः ।
अक्षयां तृप्तिमापन्नो नैव याति च कुत्रचित् ॥१४॥४१॥

नहीं पाता है ॥१३॥ पूर्णकाम ज्ञानी के सब काम यहाँ ही लीन हो जाते हैं, और पूर्ण तृप्ति को प्राप्त पुरुष कहीं नहीं जाता है ॥१४॥

अक्षरार्थ– मनुष्यों की तो कथा ही क्या है, भोग की वासना आदि रहने पर, सूर्य चन्द्रादि तैंतिस कोटि देव भाई भी, विषयरूप जल की राशि संसार समुद्र की खाई (गडहे) रूप लोकादि के भँवर जाल (जन्मादि रूप चक्र आवर्त समुदाय) में आसन माँडे (लगाये) हैं। और सुख चाहते हैं, परन्तु दुःख इन का संग कभी नहीं छोडता है, न दुःखरूप संग का ये लोक त्याग करते हैं ॥

भोग के लोलुप होकर संसार में रहने से जो दुःख अवश्य होता है, उस के मर्म (रहस्य) को काहू (कोई) अविवेकी लोलुप नहीं जाना, इससे बहुत प्रकार से जगत में ही बौराया (पागल के समान भटका)। और सर्वात्मा होने से आप स्वयं बावर और सयान के हृदय में बसने-वाला राम को इन लोकों ने अपने हृदय में नहीं जाना कि जिससे अज्ञान कामादि की निवृत्तिपूर्वक दुःख द्वन्द्वादि की निवृत्ति हो। अथवा आप बावर होते भी अपने को सयान समझनेवाले हृदयस्वामी राम को नहीं जान सके, इससे कामादिवश दुःखी हुए ॥ (कामक्रोधौ स्थितौ यत्र तत्र दोषास्तदात्मकाः। दुःखानि च समस्तानि संस्थितानि न संशयः ॥ पद्मपु० २।६६।२१७) जहाँ काम क्रोध रहते हैं, वहाँ सब दोष भी उसी रूप से रहते हैं, और सब दुःख भी रहते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

तेई (हृदयवासी राम ही) हरि (विष्णु, ईश्वर) ठाकुर (स्वामी-पूज्य) हैं। और वही हरि के दास (सेवक) है, अर्थात् ईश्वर जीव पूज्य पूजक के सत्यात्मा ब्रह्म एक है। परन्तु मोह अज्ञानादि रूप यामिनी (रात्रि) में उस राम का याम (प्राप्ति–अनुभव) नहीं हुआ, इससे

भामिनी (स्त्री) तुल्य परवश जीव निराश (हताश) होकर देशान्तर योन्यन्तर में चला, और चलता है। 'न यम भया न यामिनी' इस पाठान्तर का अर्थ है कि सर्वात्मा राम के जानने पर यम (मृत्यु) यामिनी (अविद्यादि रात्रि) का अभाव हो जाता है। इससे मायारूप भामिनी भी निराश होकर चल देती है। अथवा यम, याम, दोनों पाठों का अहिंसा सत्यादिरूप यम अर्थ है। भाव है कि अज्ञानादि रात्रि में इन्द्रिय संयम अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यादिरूप यम की पूर्ण प्राप्ति नहीं हुई, इससे सत्यपति की प्राप्ति बिना बुद्धि हताश होकर चली, इत्यादि ॥४१॥

जिस राम के ज्ञान विना वास्तविक उपरति संयमादि नहीं होते हैं, और उपरति संयमादि विना जिसकी पूर्ण प्राप्ति अनुभूति भी नहीं होती, सो सर्वात्मा राम महाप्रलय में भी एक रस ही रहता है, और उसीकी माया से फिर सृष्टि होती है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ४२

जब हम रहलि रहल नहि कोई। हमरहिं माँह रहल सब कोई॥

यतो रामो हरिः स्वामी दासोऽपि विद्यते स्वयम्।
अतस्तदात्मनैकोऽहं भेदः सर्वो विकल्पितः ॥१५॥
यदाऽऽसमहमेवैकः सदात्मैवाद्वितीयकः।
तदा नासन्निमे केऽपि देवाद्यास्त्रिजगन्ति[1] च ॥१६॥

जिससे स्वयं राम ही हरि स्वामी दास भी हैं, इससे तिस रामरूप से मैं एक हूं, सब भेद मिथ्या कल्पित है ॥१५॥ जिस समय सत्यस्वरूप

---

१ 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥' ऋग्० मं० १०।११।१२९ प्रकेतः (लक्षणम्) चिन्हमिति। स्वधया (मायया) सहितः। आनीत्, जीवित आसीत् ॥

कहहु राम कौन तोर सेवा । सो समुझाय कहहु मोहि देवा ॥

आसन् मयि स्वरूपेण तादात्म्येनाद्वितीयके ।
अधिष्ठाने न भेदेन नामरूपात्मना खलु ॥१७॥
नामरूपात्मकं सर्वं मायारूपमिदं जगत् ।
माया चैषाऽत्यनिर्वाच्या मिथ्यामोहस्वरूपिणी ॥१८॥
अतः सति न सत्यस्य भेदस्य विद्यते तदा ।
लेशमात्रं तथैदानीं भेदाभावो विमृश्यताम् ॥१९॥
यदा न वर्तते भेदवार्ता सत्यात्मनि ध्रुवा ।
तदा भो राम ! सेवेयं विद्यते का कृता त्वया ॥२०॥
संबोधयतु मह्यं तत् सर्वं तत्त्वं विविच्य वै ।
भो देवेति महत्त्वेन प्रोवाच सादरं गुरुः ॥२१॥
विचाराद्यैः स्वमात्मानमज्ञात्वा क्रियते हि या ।
स्वर्गादिकामतः सेवा सैव बन्धप्रदा भवेत् ॥२२॥

अद्वितीय मैं एक ही था, उस समय ये देवादि कोई नहीं थे, न तीन लोक था ॥१६॥ सब देवादि अधिष्ठान स्वरूप अद्वितीय मुझ में स्वरूप से तादात्म्य (अभेद संबंध) से थे; किन्तु नाम रूपात्मक भेद सहित नहीं थे ॥१७॥ नाम रूपात्मक यह सब जगत् मायारूप है, और यह माया अत्यन्त अनिर्वाच्य मिथ्या मोहस्वरूपवाली है ॥१८॥ इससे प्रलयकाल में सत्यात्मा में सत्य भेद का लेशमात्र भी नहीं रहता है, तैसे ही इस समय भी भेद के अभाव को समझना चाहिये ॥१९॥

जब के सत्यस्वरूप आत्मा में भेद की बात ध्रुव (शाश्वत–नित्य) नहीं है, तो हे राम (भक्त मनुष्य) तुम से की गई यह सेवा कैसी है ॥२०॥ उस सब तत्त्व (स्वरूप) को विवेक करके मुझे कहो समझावो । भो देव (राम) इस प्रकार गुरु ने शिष्य को ही आदर सहित महत्व द्वारा कहा है ॥२१॥ विचारादि से अपनी आत्मा को नहीं जान कर, स्वर्गादि की इच्छा से जो सेवा की जाती है, वही बन्धन देनेवाली होती है ॥२२॥

फुर फुर कहत मारु सब कोई। झूठहिं झूठा साधुति होई ॥
आँधर कहै सवै हम देखा। तहाँ दिठार बैठि मुख पेखा ॥

यद्वा सर्वेश्वरं प्राह त्वया देव निरुच्यताम्।
त्वत्सेवा विद्यते काऽन्या सर्वविस्मरणादृते ॥२३॥
तदर्था भक्तिरन्याऽस्तु कर्माणि विविधानि च।
तानि नैवेह वार्यन्ते मुख्या भक्तिर्विधीयते ॥२४॥
उच्यमाने हि सत्तत्वे त्वेवं सर्वेऽविवेकिनः।
सेव्यादिवर्जिते रामे क्रुध्यन्ति ताडयन्ति च ॥२५॥
मिथ्यावादिषु सर्वेऽमी मिथ्यावादरता नराः।
साधुत्वं प्रतिपद्यन्ते सत्यवादिषु नैव च ॥२६॥
इत्यज्ञा विवदन्त्येते प्रपश्यामो वयं खलु।
सर्वं तत्त्वं न संदेहो ज्ञो वृथैवात्र तिष्ठति ॥२७॥
मुख्यं पश्यन् विपश्यन् वा मुखमज्ञजनस्य हि।
स शृणोति न तद्वाक्यं कामाद्यैर्विवशीकृतः ॥२८॥

अथवा सर्वेश्वर को ही गुरु कहते हैं कि, हे देव ! तुम ही कहो कि सब अनात्मा को भूलने से पृथक् तुम्हारी अन्य कौन सेवा है ॥२३॥ सबका विस्मरणरूप मुख्य भक्ति (सेवा) के लिये अन्य भक्ति हो, और अनेक प्रकार के कर्म भी हों, उनका यहाँ निषेध नहीं किया जाता है, किन्तु मुख्य भक्ति का विधि किया जाता है ॥२४॥

इस पूर्व रीति से सेव्यादि रहित राम स्वरूप सत्तत्त्व (परमात्मा) के कहने पर सब अविवेकी क्रोध करते और मारते हैं ॥२५॥ मिथ्यावाद में रत (आसक्त) ये सब मनुष्य, मिथ्यावादी में ही साधुता समझते हैं, और सत्यवादी में नहीं समझते ॥२६॥ इससे ये अज्ञ भी विवाद करते हैं कि हम सब तत्त्व (सत्य स्वरूप) को देखते हैं, इसमें संशय नहीं है, ज्ञानी यहाँ व्यर्थ ही रहता है ॥२७॥ मुख्य (आद्य विधि-प्रधान वस्तु) को देखता हुवा, वा अज्ञ जन का मुख देखता हुवा ज्ञानी यहाँ व्यर्थ खड़ा रहता है,

यहि विधि कहौं मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई ॥
कहहिं कबीर हंस मुसुकाई। हमरे कहल छूटिहहु भाई ॥

अहमेवं सदा वच्मि मन्वते ते जना इदम्।
येषां हृच्च मुखं चैव सदैकत्वं गतं भवेत् ॥२९॥
कबीरो वक्ति हंसेभ्यो यूयं शृणुत सादरम्।
गाढबन्धनबद्धाः स्थ मुच्यध्वे मम शासनैः ॥३०॥
'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति तत्।
असंकल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न धार्यते' ॥३१॥
एतावानेव संसार इदमस्त्विवति यन्मनः।
अस्य तूपशमो मोक्ष इत्येवं ज्ञानसंग्रहः ॥३२॥
'शास्त्रादिषु सुदृष्टापि साङ्गा सहफलोदया।
न प्रसीदति वै विद्या विना सदुपदेशतः' ॥३३॥४२॥

और वह कामादि के विवश हुवा अज्ञ उस ज्ञानी के वाक्य को नहीं सुनता है ॥२८॥ गुरुरूप मैं सदा इसी प्रकार कहता हूं, परन्तु इस बात को वे लोक नही मानते हैं कि जिनके हृदय और मुख सदा एकता को प्राप्त रहते हैं ॥२९॥ कबीर साहब हंस (विवेकी) के लिये कहते हैं, कि तुम सब प्रेम से सुनो, तुम सब गाढ (दृढ) बन्धन से बँधे हो, मेरा शासन (उपदेश) से छुटोगे ॥३०॥ भगवान वशिष्ठ, योगवासिष्ठ ६।१२६। ८५–९४ में कहे हैं कि मैं यह हाथ उठाकर कहता हूं, कि संकल्प का त्याग परं श्रेय है, उसको मन में धारण क्यों नहीं करते हो, परन्तु वह कोई सुनता नहीं है ॥३१॥ और यह हो, ऐसा जो मन में संकल्प इच्छा करना है, इतना मन रूप ही संसार है, और उस संकल्परूप मन का उपशम (निवृत्ति) मोक्ष है और इस प्रकार यह ज्ञान का संग्रह (संक्षेप) है ॥३२॥ भारद्वाज संहिता १।३५। का वचन है कि, शास्त्रादि में अच्छी तरह देखी गई, अङ्गों के सहित फल देनेवाली भी विद्या, सद्गुरु के उपदेश विना प्रसन्न (फलदा) नहीं होती है ॥३३॥

अक्षरार्थ– जब (सृष्टि से प्रथम) सर्वात्मा राम रूप से हम रहलि (थे) तब कोई भेदवाला पदार्थ नहीं रहल (था)। तौभी हमारे ही स्वरूप से हमारे में सब कोई (सब प्राणी) थे। कारण रूप से उस समय सब पदार्थ भी अभिन्न थे, इससे अब भी सत्य में सत्य भेद नहीं है; किन्तु माया कल्पित मिथ्या भेद है ॥

वास्तविक अभेद का ज्ञान होने पर हे राम! तेरी सेवा कौन है। हे देव! सो मुझे समझा कर कहो। अर्थात् अपरोक्ष अद्वैत आत्मा का ज्ञान होने पर, आत्मचिन्तन, ब्रह्मनिष्ठा, समाधि से अन्य राम की अन्य सेवा नहीं हो सकती; क्योंकि सेव्य सेवकादि भाव सत्य नहीं रह जाता है। परन्तु यह सत्य बात भी सब से कहने योग्य नहीं है, किन्तु शुद्ध शान्त ज्ञानाधिकारी के ही प्रति कहने लायक है। क्योंकि—

इस सत्य ही सत्य बात के कहने पर, अविवेकी सब वक्ता को मारता है। और झूठे लोकों को झूठों ही में साधुता की प्रतीति होती है। और आँधर (अज्ञ झूठा) भी कहता है कि हम सब पदार्थ को देखते (जानते) हैं। और उस मोहान्ध के वचन में ही सब विश्वास करते हैं। इससे तहाँ दिठार (आत्मज्ञानी, दृष्टिवाले) बैठे २ मुख देखते हैं। इस अज्ञ का रहस्य को जानते है, या मुख्य तत्त्व को जानते हैं, परन्तु विवाद में नहीं पड़ते हैं ॥

साहब का कहना है कि मैं सदा यहि विधि (इसी प्रकार) कहता (उपदेश देता) हूं। परन्तु जो कोई इस उपदेश को मानेगा, सो तभी मानेगा कि जब उसके जैसा मुख तैसा ही हृदय भी होगा। अर्थात् छल झूठादि से रहित शुद्ध पुरुष ही इस उपदेश से भी ज्ञानी होगा, अन्य नहीं। क्योंकि (मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्। मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥) इस हितोक्ति के अनुसार मन आदि में भेदवाला दुरात्मा, और अभेदवाला ही महात्मा होता है। और महात्मा ही दृढ ज्ञानी होता है, दुरात्मा नहीं ॥ साहब का कहना है कि, हे हंसो! तुम मुसुक

बन्धन युक्त हो। इस हमरे (सद्गुरु के) कहल (उपदेशजन्य ज्ञान) से ही हे भाई ! तुम छुटोगे, अथवा आत्मानन्द से मुसकुराते हुए साहब कहते हैं; कि हे भाई ! हमरे कहले (हम ही हैं ऐसा कहने) ही से क्या सद्गुरु विना छूटोगे। या गुरु की आज्ञा में रहने ही से छूटोगे, अन्यथा नहीं इत्यादि ॥४२॥

विशेष यह है कि, सद्गुरु का यह कथन आत्मदृष्टि-शास्त्रदृष्टि से है, व्यक्त शरीरादि दृष्टि से नहीं है। इसी प्रकार रामचन्द्र कृष्णचन्द्र शिव ब्रह्मादि की उक्ति को भी समझना चाहिये। इसीसे (रामः शस्त्रभृतामहम्। वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि। रुद्राणां शङ्करश्चास्मि। धाताऽहम्) इत्यादि गीता १० अध्याय में ईश्वर की विभूति में रामचन्द्रादि व्यक्त स्वरूपों का वर्णन बन सकता है, और अव्यक्त स्वरूप में सब एक हैं, अन्यथा अपनी विभूति में अपना कथन युक्त नहीं हो सकता। अव्यक्तेशात्मक दृष्टि से विरोध नहीं हैं। क्योंकि व्यक्त अव्यक्त भिन्न हैं, व्यक्त माया मात्र है, अव्यक्त ही सत्य है। इत्यादि स्वयं समझने की बात है॥

फिर भी सद्गुरु का उपदेश विना तथा सदुपदेश में विश्वासादि विना कष्टमय संसार का वर्णन करते हैं कि—

रमैनी ४३

जिन जिव कीन्ह आपु विश्वासा। नरक गये ते नरक हिं बासा॥

[1]गुरोर्वाक्यमनादृत्याऽसत्ये प्रत्ययिनो नराः।
अविवेककुसङ्गाद्यैः पतन्ति निरये स्वयम्॥३४॥

गुरु के वचन का अनादर करके असत्य में प्रत्यय (विश्वास) वाले मनुष्य, अविवेक कुसङ्गादि से स्वयं निरय (नरक) में गिरते हैं॥३४॥

---

१ 'गुरोरवज्ञया मृत्युर्मन्त्रत्यागाद्दरिद्रता। गुरुमन्त्रपरित्यागी सिद्धोऽपि नरकं व्रजेत्॥' गुरुगीता। 'ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः। ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापांल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः॥' म० भा० आदिपर्व० ७६।६४। अप्रतिष्ठाः फलशून्याः।

आवत जात न लागै वारा। काल अहेरी सांझ सकारा ॥
चौदह विद्या पढि समुझावै। अपने मरण कि खबर न पावै ॥

विश्वस्ता ह्यपतंस्तत्रावात्सुस्तत्रैव ते चिरम्
अद्यापि निवसन्त्यज्ञास्तत्र गच्छन्ति सादरम् ॥३५॥
ततो निर्गत्य ये त्वत्रागच्छन्ति हि कथञ्चन।
तेषां पुनर्गतौ तत्र विलम्बो नैव विद्यते ॥३६॥
जन्ममृत्युप्रवाहेण ह्युह्यन्ते चानिशं जनाः।
भवाब्धौ विनिपात्यन्ते खाद्यन्ते कामदुर्ग्रहैः ॥३७॥
कालश्चाखेठकस्तेषां सदा भवति सर्वतः।
बाल्ये वार्द्धकयकाले वा सायं कल्पेऽथवाऽवशम् ॥३८॥
चतुर्दशविधां[१] विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ये।
तेऽन्यानुपदिशन्तोऽपि स्वमृत्यो र्न गतिं विदुः ॥३९॥

असत्य में विश्वासवाले या विधवातुल्य रक्षक रहित मनुष्य उस नरक में गिरे, और वे लोक वहाँ ही बहुत समय तक बसे। और आज भी अज्ञ-लोक आदर सहित वहाँ जाते हैं तथा बसते हैं ॥३५॥ और जो कोई उस नरक से किसी प्रकार निकल कर यहाँ आते हैं, उन्हें फिर वहाँ जानेमें विलम्ब नहीं होता है ॥३६॥ जन्म मरण का प्रवाह से प्राणी सदा बहाये जाते हैं, और संसार समुद्र में गिराये जाते हैं, तथा कामरूप दुष्ट ग्रह (ग्राह) से खाये जाते हैं ॥३७॥ और काल भी बाल्यावस्था में वृद्धावस्था में संध्याकाल में अथवा सबेरे, सदाही सर्वत्र अवश्य उनका शिकारी होता है ॥३८॥ जो लोक चौदह प्रकार की विद्या को पढ कर पढाते हैं, वे लोक

१ 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥' भविष्यपु० २।६। वायुपु० ६१।७८॥ 'अन्यत्र तु। 'ब्रह्मज्ञानं रसज्ञानं वेदाः स्वरधरं तथा। व्याकृतिज्योतिषं चैवं धनुर्विद्या तथा मता ॥ जलोत्तारणकं न्यायः कोकाश्वारोहणे तथा। नटविद्या कृषिर्वैयं विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥'

जाने जिव को परा अँदेशा । झूठ आनि के कहा सँदेशा ॥
संगति छोडि करै असरारा । उवहै मोट नरक के भारा ॥

विचारादि विना तद्वत्सद्गुरोः शरणं विना ।
सर्वा विद्याः पठित्वापि जायन्ते ते पुनः पुनः ॥४०॥

विचारादि विना तेषां जीवानामविवेकिनाम् ।
संशया उल्लसन्त्येव हृदयेषु निरन्तरम् ॥४१॥

स्वयं ये संशयाक्रान्ता येभ्यस्तु संदिशन्ति ते ।
तेभ्यो मिथ्यैव संकल्प्य वदन्ति न तु तत्त्वतः ॥४२॥

हा तथापि जनः सर्वो हित्वैव गुरुसङ्गतिम् ।
सतां सङ्गमनादृत्य कुसङ्गे रमते हठात् ॥४३॥

तेनैते नरकाणां च भारं धृत्वा निजात्मनि ।
कामादिलक्षणं शश्वदुद्वहन्ति तमादरात् ॥४४॥

अन्य को उपदेश देते हुए भी अपनी मृत्यु की गति को सद्गुरु विना नहीं जानते हैं ॥३९॥ विचारादि विना तैसे ही सद्गुरु का शरण विना सब विद्या को पढ कर भी वे लोक बार २ जन्मते हैं ॥४०॥ विचारादि विना उन अविवेकी जीवों के हृदयों में सदा संशय उत्पन्न हो ही है ॥४१॥ जो लोक स्वयं संशयाक्रान्त है, वे जिसके लिये उपदेश देते हैं, उसके लिये मिथ्या ही संकल्प करके कहते हैं, यथार्थ रूप से नहीं कहते ॥४२॥ खेद की बात है कि तौभी सब मनुष्य गुरुसङ्गति को त्याग करके, तथा सत्सङ्ग का अनादर करके कुसङ्ग में हठ से रमता है (खेलता है) ॥४३॥ तिसीसे ये लोक कामादि रूप नरकों के भार को अपनी आत्मा में धर कर, उसी को सदा आदर से ढोते हैं ॥४४॥

साखी ।

गुरुद्रोही औ मनमुखी, नारि पुरुष विविचार ।
ते चौरासी भरमहीं, जौं लगि चन्द दिनकार ॥४३॥

मनोऽनुगामिनो मूढा[1] गुरुद्रोहादितत्पराः ।
विचारविकला मर्त्याः कुनार्यो वा तथाविधाः ॥४५॥
वेदसिद्धिषु लक्षासु[2] तावद् भ्राम्यन्ति योनिषु ।
ध्रियते शशभृद्यावत्स तिष्ठति दिवाकरः ॥४६॥

विचारादि रहित मन के अनुसार चलनेवाले विचार रहित, गुरु-द्रोहादि में तत्पर मूढ मनुष्य, वा उक्त प्रकार के निन्दित स्त्रियाँ वेद सिद्धि (चौरासी) लाख संख्यावाली योनियों में तबतक भ्रमते हैं कि जबतक शशभृत (चन्द्रमा) काल से धृत (रक्षित) हैं, और सूर्य स्थिर हैं ॥४५–४६॥ तीनों लोक में इससे गुरुतर (भारी) पाप इस संसार में पहले नहीं समझा गया है, कि जो सुन्दर गुरु के साथ विमोह से द्रोह विद्वेष होता है, और मूढ स्वान्त (मन) के अग्र्य (प्रधानता) है, तथा विरस विषयों में सम्बन्ध आसक्ति होती है, तथा असत्य वाणी

१. ' य अतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ॥ ' वसिष्ठस्मृ० २।१६॥ ' कृतघ्नानां हि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम् । मृत्वा तानभिगच्छन्ति गुरुद्रोहपरो नरः ॥ ' आत्मपु० अ० ८।८६७॥

२. ' स्थावरं विंशतिर्लक्षं जलजं नवलक्षकम् । कृमिश्च रुद्रलक्षं वै दशलक्षं च पक्षिणः ॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः । ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत् ॥ यथा मालाशिरोभागोल्लङ्घनात्पुनरुद्भ्रमः । तथैव नरदेहस्य वियोगाद् योनिसंभ्रमः ॥ ' इति क्वचित् ॥ अन्यत्र तु ॥ ' जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षत्रिंशतिः । कृमयो रुद्रलक्षाणि दशलक्षाणि पक्षिणः ॥ पशवो त्रिंशलक्षाणि चतुर्लक्षाणि मानवाः ॥ ' अत्र मानवेषु वानराणां ग्रहणं प्रतिभाति ॥

नैतस्मात्पापं गुरुतरमिह ज्ञानपूर्वं त्रिलोक्यां,
द्रोहो विद्वेषः सह सुगुरुभिर्जायते यो विमोहात् ।
मूढस्वान्ताद्यं विरसविषयासङ्गताऽनत्यभाषा,
ह्याशा मूढानां स्थितिरसुजनैः सत्यवाक्येष्वनास्था ॥४७॥४३॥

इति रमैनीरमोद्रेके यावदज्ञानं देवादिमोहवर्णनं नामाष्टादशः प्रवाहः ॥१८॥

होती है, मूढों की आशा की जाती है, असुजनों के साथ स्थिति होती है, सत्य वाक्यों में अनपेक्षा अयत्न होते हैं, अर्थात् ये सब भारी पाप है ॥४७॥

अक्षरार्थ– जिन जीवों ने सद्गुरु सत्संगादि विना आप ही मनमाना किसीमें सत्यादिपन का विश्वास किया, वे लोक नरक गर्भादि में गये, और वहां वसे ॥ उन्हे आने जाते (जन्मते मरते) भी बार (दिन-देर) नहीं लगता है । उनके लिये सांझ सकारे (सबेरे) सदा ही काल अहेरी (शिकारी) रहता है । या अज्ञानरूप सांझकाल में शिकार करना काल सकारा (स्वीकार किया) है, इत्यादि ॥

मनमुखी लोक चाहे चौदह विद्या पढ कर अन्य को समझावैं, परन्तु अपने मरण (परलोक) की खबर नहीं पाते (जानते) हैं। अपने मरने पर क्या होगा, सो स्वयं नहीं समझते हैं। तथा पुनर्मरण रहित मरण (मोक्ष) को ममतानाश रूप मरण को गुरु विना नहीं जानते हैं ।। उलटा केवल पुस्तक पाठियों के कथन से कुछ जानने-वाले जीवों के मन में अँदेशा (संशय भ्रम) पर (पैठ) जाते हैं, तो भी इन लोकों ने झूठ संदेशा आनि (लाकर) कहा, और कहते हैं । या झूठ संदेशा इन लोकों ने लाकर कहा, कि जिससे जानने पर मन में संशय पड़ा ॥ इस प्रकार सद्गुरु सत्सङ्गादि विना बडी हानि होती है, तौ भी अविवेकी जीव सङ्गति को छोड़ कर अस (ऐसाही) रार (हठ विवाद) करता है, और नरक के भारी मोटरी (देहाभिमानादि)

को उबहता (उठाता-ढोता) है, तथा विषयादि वासना नरक भार को मोट (चर्मपात्र) से अपने मन में उबहता (सींचता) है, इत्यादि ॥

गुरु से द्रोह (विरोध) करनेवाले, तथा मनमुखी (मन के वशवर्ती) विविचार (विचाररहित) जो स्त्री वा पुरुष होते हैं, ते (वे सब) चौरासी लाख योनियों में तबतक भ्रमते हैं कि जौं लगि (जबतक) चन्द्रमा और दिनकार (दिनकर) सूर्य वर्तमान है, अर्थात् गुरु के अपकारादि युक्त जीव कभी मुक्त नहीं होते हैं ॥४३॥

सत्सङ्गादि विना दुःखादिप्रकरण १९

पूर्व रमैनी में सद्गुरु सत्सङ्गादि विना ज्ञानाभावादि का वर्णन हुआ है, अब उस के विना मनुष्यता की निष्फलता आदि का वर्णन करते हैं कि—

रमैनी ४४

कबहुं न भयउ संग औ साथा । ऐसे हि जन्म गमायो आछा ॥

न यूयं शरणेऽभूत साधूनां न गुरोः क्वचित् ।
रोचते न सतां सङ्गो भवद्भ्यश्चात्र जन्मनि ॥ १ ॥
तदा व्यर्थमयं याति देहो मानुष्यसंयुतः ।
अमूल्यो महते लब्धः कार्यायाऽऽशु महत्पदम् ॥ २ ॥

तुम सब कहिं साधुओं के शरण में नहीं भयो, न गुरु के शरण में भयो, न इस जन्म में तुम सब को सत्पुरुषों का संग रुचता है, तो शीघ्र महान् कार्य के लिये प्राप्त अमूल्य मनुष्यता युक्त यह देह रूप महान पद (स्थान) व्यर्थ ही जा रहा है ॥१-२॥ फिर इस प्रकार का सुन्दर स्थान अनन्तर

बहुरि न पैहहु ऐसो थाना । साधु संगति तुम नहि पहिचाना ॥
अब तो होइ नरक महँ बासा । निशदिन रहहु लबारक पासा ॥

पुनर्नैत्थं हि सुस्थानं लभ्यते खल्वनन्तरम् ।
न जानामि कदा कुत्र मानुष्यं लभ्यते जनैः ॥ ३ ॥

न तथापि भवन्तश्चेत् पश्यन्ति साधुसङ्गतिम् ।
आत्मत्राणाय सौख्यायेत्यहो [1]मोहस्य वैभवम् ॥ ४ ॥

साधूनां सङ्गमाऽभावे त्वस्माद्देहादनन्तरम् ।
भविता नरके वासो• ह्यसतां सङ्गमाद् ध्रुवम् ॥ ५ ॥

भवन्तोऽहर्निशं तत्र तिष्ठन्ति स्वप्रमादतः ।
तेन शश्वद्विनश्यन्ति गाहन्ते मोहगह्वरम् ॥ ६ ॥

(अव्यवहित) काल में नहीं मिलेगा । नहीं जानता हूं कि जनों से फिर मनुष्यता कब कहां प्राप्त की जायगी ॥३॥ तोभी यदि आप लोक आत्मरक्षा और सुख के लिये साधुसङ्गति को नहीं देखते समझते हैं, तो यह आश्चर्य रूप मोह का वैभव (विभव-प्रभाव) है ॥४॥ साधुओं के संग न होने पर असत पुरुषों का संग से इस देह के बाद नरक में ही बास होना है ॥५॥ आप सब सदा उस असाधु संग में अपना प्रमाद (भूल) से रहते हो, तिससे सदा नष्ट होते हो, मोहगह्वर (गुहावन) को गाहते (थाहते) हो ॥६॥

१. 'वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा । पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः । अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥' म० भा० वन१० अ० १।२४–२५॥

साखी।

जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार।
चेतवा ह्वै तो चेतहु, दिवस परतु है धार ॥४४॥

कुसङ्गाद्विषयाऽऽसक्तेर्नश्यन्तः सर्वदेहिनः।
दृश्यन्ते गुरुभिश्चैवमुच्चैस्तेभ्यो हि कथ्यते ॥ ७ ॥

मुमुक्षा विद्यते श्रेष्ठा जिज्ञासाऽनुत्तमा यदि।
आत्मतत्त्वं तदा ज्ञात्वा लभन्तां कृतकृत्यताम् ॥ ८ ॥

मुमुक्षादेरभावे च तदर्थं यत्यतां दृढम्।
[1]प्रमादः क्रियतां नैव सतां सङ्गो विधीयताम् ॥ ९ ॥

अन्यथा घस्रतुल्येऽस्मिन् मानुष्ये दिवसेऽथवा।
सुप्रकाशेऽपि कामाद्यास्तस्कराः पश्यतोहराः ॥१०॥

कुसंग से और विषयासक्ति से नष्ट होते हुए सब देही, गुरु से देखे जाते हैं, इससे उच्चैः (पुकार) शब्द से उन के लिये कहते हैं कि, यदि श्रेष्ठ मोक्षेच्छा है, अनुत्तम (बडी) जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) है, तो आत्मस्वरूप को जान कर कृतकृत्य होवो ॥७–८॥ मोक्षेच्छा आदि के अभाव हो तो उस के लिये दृढ यत्न करो, प्रमाद नहीं करो, सत्पुरुषों का संग करो ॥९॥ अन्यथा (ऐसा नहीं करने पर) घस्र (दिन) तुल्य इस मनुष्यता के रहते, अथवा दिन में ही सुन्दर प्रकाश में कामादिरूप

१ 'इतः कोऽन्योऽस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति। दुर्लभं मानुषं जन्म प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥' विवेकचूडामणिः ॥ 'इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः। गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ आयुषः क्षण एकोपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते। नीयते तद्वृथा यैस्तु प्रमादः सुमहानहो ॥' योगवा० ६।२।१०३।५१॥६।२।१७५।७८॥

विलुण्ठन्ति च सर्वस्वं नाशयन्ति जनानपि।
प्रमादिनो विकर्मस्थान् कुविचारपराञ्छठान् ॥११॥४४॥

चोर डाकू सब सम्पत्ति लूटते हैं, और प्रमादी, कुकर्मस्थ, कुविचारपर, शठ, जनों को नष्ट भी करते हैं ॥१०-११॥

अक्षरार्थ- हे मनुष्यों ! यदि तुम कबही साधुसङ्ग में नहीं गयो, न उन के साथ भयो, तो यह आछा (पवित्र-सुन्दर) जन्म ऐसे ही (व्यर्थ ही) गमायो (बीतायो, नष्ट कियो) ॥ और बहुरि (फिर) ऐसा सुन्दर स्थान (जन्म शरीरादि) शीघ्र नहीं पावोगे। तो भी तुम यहाँ साधु संगति को नहीं पहचानते हो, न साधु संगति करके सद्वस्तु को पहचानते हो ॥ इससे अब तो (इसके बाद तो) नरक में ही बास होगा, जिससे तुम रात दिन लबारों (झूठों प्रपञ्चियों) के साथ रहते हो, जिस का नरक ही फल है ॥

कुसंगादि के कारण सब ही को जाते (नष्ट होते-नरक पड़ते) महात्माओं ने देखा (जाना) है। इससे साहब पुकार के कहते हैं कि यदि चेतुवा (सहोश) हो, तो चेतो (कुसंगादि त्यागो), कुछ चेतने (समझने) की इच्छा हो, तो सत्यात्मा को समझो, नहीं तो दिन ही में धारा (कामादि डाकू) परते (प्राप्त होते हैं ॥४४॥

सब को जाना सुन कर शंका हुई कि साधारण मनुष्यादि को जाता हुआ देखा जाता है, परन्तु तप कर्म उपासना आदि से जिन्हों ने विभूति देवादि भाव प्रकृतिवशता आदि को प्राप्त किया है, वे लोक नहीं जाते हैं, विष्णु आदि देवों की प्रसन्नता से सदा सुखादि भोगते हैं, तो फिर आत्मज्ञान सत्संगादि के लिये ही क्यों व्यर्थ त्यागादि किये जायँ, इत्यादि; तब साहब कहते हैं कि -

रमैनी ४५

हिरणाकश रावण गौ कंसा। कृष्ण गये सुर नर मुनि वंशा ॥
ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना। बडे गये जे रहे सयाना ॥

हिरण्यकश्यपो यातो रावणोऽपि महाबली।
कंसो मृत्वाऽगमत् क्वापि श्रीकृष्णोऽप्यगमत्तथा ॥१२॥

सुरा नराश्च तद्वंश्या वंश्याश्च मुनयो मुनेः।
सर्वे ते ह्यगमन् मृत्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ॥१३॥

गतो वै तद्रहस्यं नो यतो जानन्ति मानवाः।
ततो नैवेह तिष्ठन्ति साधूनां सङ्गमे शुभे ॥१४॥

अक्षयं धनमिच्छन्ति पुत्रदारगृहादिकम्
शाश्वतत्त्वं शरीरे च नैव बोधं कथञ्चन ॥ १५॥

यद्वा ब्रह्मापि देहादेः स्थास्नुत्वस्य [1]प्रसाधने।
उपायमविदित्वैव गतो यास्यति च क्षये ॥१६॥

एवं ज्ञात्वेह को [2]विद्वान् देहादीनां [3]प्रसाधने।
प्रवर्तेत विना मूढं न तु बन्धप्रबाधने ॥१७॥

हिरण्यकश्यप, महाबली रावण भी देह छोड़ कर कहीं प्राप्त हुए, कंस मर कर कहीं गया, तथा श्रीकृष्ण भी गये ॥१२॥ देव, मनुष्य, उनके वंशज, मुनिके वंशज मुनि वे सब भी मरकर कहिं गये, लोकपितामह ब्रह्मा भी मरकर गये ही। जिससे मनुष्य इस भेद को नहीं जानते हैं, तिसीसे यहाँ साधु के शुभ संग में नहीं रहते हैं ॥१३-१४॥ और अक्षय धन पुत्र स्त्री गृहादि चाहते हैं, शरीर में स्थिरता नित्यता चाहते हैं, बोध किसी प्रकार भी नहीं चाहते ॥१५॥ अथवा ब्रह्मा भी देहादि की स्थिरता के प्रसाधन (सिद्धि) में उपाय को नहीं जान कर के गये, और क्षय (प्रलय) काल में जायंगे ॥१६॥ इस प्रकार जान कर कौन

१. अत्र भावे ल्युट् चेति ल्युट् ॥ २. ‘अनित्यं जीवितं रूपं यौवनं धनसंचयः। आरोग्यं प्रियसंवासो मुह्यन्त्येषु न पण्डिताः ॥’ इतिहाससमुच्चय, ११९.३॥ ३. अत्र करणे ल्युट् प्रसाध्यतेऽनेनेति ॥

समुझ परी नहिं राम कहानी । निरबक दुध कि सरबक पानी ॥
रहि गौ पन्थ थकित भौ पवना । दशो दिशा उजारि भौ गवना ॥

महान्तो योगिज्ञो ये च सर्वथा कुशला नराः ।
तेऽपि मृत्वा गताः क्वापि तदाऽन्येषां कथैव का ॥१८॥
यावन्न श्रीलरामस्य सर्वभूतात्मकस्य वै ।
कथां जानाति योगेन विवेकादिबलेन वा ॥१९॥
क्षीरनीरविवेकस्य कथातुल्यां सुदुस्तराम् ।
तावत् भ्रमयति वै जन्तुः सदा संसारवर्त्मसु ॥२०॥
हार्दस्य सरसो दुग्धं हंसैः पेयं किमस्ति तत् ।
किं तद् बकैः सदा पेयं नीरमस्ति कुवारिधेः ॥२१॥
सर्वान् या रमयत्येषा मायाऽऽख्या त्वबलाऽबुधान् ।
सा का तस्याः कथा का वा यावत्सर्वं न लक्ष्यते ॥२२॥

विद्वान् यहाँ देहादि का प्रसाधन (वेष-शोभा) में मूढ विना प्रवृत्त होगा, और बन्ध-प्रबाधन (नाश) में नहीं प्रवृत्त होगा ॥ ७॥ जो महान योगी और कुशल सर्वथा निपुण मनुष्य हुए, वे भी मर कर कहिं गये, तो अन्य की कथा ही क्या है ॥१८॥

जन्तु (प्राणी) जबतक क्षीर नीर का विवेक की कथा तुल्य अति-दुस्तर (अपार) सर्वभूतात्मक श्रीमान् राम की कथा को योग से वा विवेकादि बल से नहीं जानता है, तबतक संसार के मार्गों में भ्रमता है ॥१९-२०॥ हृदय में रहनेवाला सर (तालाब) रूप मान सरोवर (मन) का साक्षी रूप दूध हंसों (विवेकियों) से पीने योग्य वह कौन तत्त्व (परमात्मा) है, और बकवृत्ति से सदा पीने योग्य संसाररूप कुसमुद्र के वह जल (विषय) क्या है ॥२१॥ और सब अज्ञों को जो यह माया नामक स्त्री रमाती (खेलाती) है, सो कौन है, और उस की कथा क्या है, ये सब वस्तु जबतक नहीं समझ में आती है तबतक

मीन जाल भौ ई संसारा। लोहक नाव पाषाणक भारा॥
खेवै सबै मर्म हम जानी। तैयो कहै रहै उतरानी॥

तावत्संसारमार्गस्य पारमेति न कश्चन।
संचितानां हि शेषोऽत्र प्रारब्धानां च विद्यते॥२३॥
बहुकर्तव्यशेषोऽपि सामर्थ्याभावकारणात्।
प्राणवायोर्भवत्येव सत्वरं गमनं क्वचित्॥२४॥
निर्जनैर्गहनैस्तुल्यास्वाव्रजन् दिक्षु सर्वदा।
मुदं न लभते क्वापि पुण्यं वा मङ्गलं हरिम्॥२५॥
बन्धनाय तु तस्यायं संसारो मीनजालवत्।
ब्रुडनाय तु तस्यैव महाब्धिरिव विद्यते॥२६॥
अहो मोहेन काम्यं वै कर्मध्यानादिकं नराः।
कृत्वा पारं तितीर्षन्ति वासनादियुताः सदा॥२७॥
यथा लौहीं तरिं कृत्वा या समर्था न तारणे।
पाषाणभरपादाय तितीर्षन्ति तथाऽबुधाः॥२८॥

संसार मार्ग का पार कोई नहीं पाता है, और संचित तथा प्रारब्ध कर्म का शेष रहता ही है॥२२–२३॥ और बहुत कर्तव्य कार्य का भी तबतक शेष (बाकी) रहता है, परन्तु सामर्थ्य के अभाव रूप कारण से प्राण वायु का शीघ्र ही कहिं गमन होता है॥२४॥ फिर निर्जन वनों के तुल्य दिशाओं में सब जाता हुआ प्राणी, कहिं आनन्द नहीं पाता है, न पुण्य वा मंगल वा हरि को कहिं पाता है॥२५॥

उस अज्ञ जीव का बन्धन के लिये यह संसार मछली का जाल के तुल्य है, और उसी का बूडने के लिये महासमुद्रतुल्य है॥२६॥ आश्चर्य है कि सदा वासना आदि युक्त मनुष्य मोह से सकाम कर्म ध्यानादि करके और उसीसे संसार दुःख के पार तरने की इच्छा करते हैं॥२७॥ जो तारने में समर्थ न हों, उस लोहा की नौका बना कर, और उस पर

काम्यकर्मादि कुर्वाणा ह्यभिमानं प्रकुर्वते ।
संसारतारणोपायं जानीम इति निश्चयात् ॥२९॥
निमज्जन्तो वदन्त्येते ह्युन्मज्जामो वयं भृशम् ।
महान्तस्तांस्तु पश्यन्ति निमज्जन्ति यथा च ते ॥३०॥

अज्ञ कुसंगी का जैसे काम लोभादि से नाश होता है, तिस को दृष्टान्तों से समझाते हैं कि–

साखी ।

मछरी मुख जस केंचुवा, मुसवन महँ गिरदान ।
सर्पन माँह गहेजुवा, जात सबन कहँ जान ॥४५॥

मत्स्यो बलिशमांसस्य स्वादात् किंचुलकस्य वै ।
उन्माथान्नस्य भुक्त्या च मूषिकोऽपि यथा खलु ॥३१॥
लोहपृष्ठमुखानां च मुखे मोहेन धारणात् ।
सर्पो नश्यति सर्वेऽमी तथा नश्यन्ति[1] जन्तवः ॥३२॥

पत्थर का भार लेकर, जैसे कोई तरने की इच्छा करते हैं, तैसे काम्य कर्मादि करते हुए अज्ञ लोक, हम संसार से तरने का उपाय को जानते हैं, ऐसा निश्चय से अभिमान करते हैं ॥२८–२९॥ डूबते हुए भी ये लोक कहते हैं कि हम अतिशय उतराते हैं, परन्तु जैसे वे लोक डूबते हैं, तिन को तैसा महान लोक ही देखते हैं । ३०॥

जैसे किञ्चुलक (केंचुवा) रूप, बलिश (बंशी) का मांस के स्वाद से मछली नष्ट होती है, और चूहा उन्माथ (मारणयन्त्र, चूहेदानी) का अन्न के भक्षण से जैसे नष्ट होता है । लोहपृष्ठादि को मोह से मुख में धरने से जैसे सर्प नष्ट होता है, तैसे ही सब प्राणी विषय स्वादादि से नष्ट होते हैं ॥३१–३२॥

---

१. 'विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते । जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम् ॥' महोप० ३।०४॥ 'यथा बडिशमांसं च मत्स्यापातसुखप्रदम् । तथा विषयिणां तात विषयो मृत्युकारणम् ॥' ब्रह्मवैवर्तपु० ८।३८॥

निजमनसि निधाय कान्ताहिरण्यादिकं भङ्गरम्,
हृदि सरसि विराजमानं विशुद्धं तु रामं हरिम्।
अभिमितिहतजन्तवोऽमी भजन्ते न हंसं परं,
दिनकरतनयस्य भूत्वा वशेऽतो म्रियन्ते सदा ॥३३॥४५॥

इति रमैनीरसोद्रेके सत्संगविरागार्थसंसारासारतावर्णनं नामैकोन-
विंशतितमः प्रवाहः ॥१९॥

ये अभिमान से नष्ट प्राणी सब विनश्वर स्त्री हिरण्य (सुवर्ण) आदि को अपने मन में धर कर, पर (उत्तम) हंस (सूर्य परमात्मा) हृदय सरोवर में विराजमान रामरूप हरि को नहीं भजते हैं, इससे दिनकरतनय (यमराज) के वश में होकर सदा मरते हैं ॥३३॥

अक्षरार्थ– तप आदि से विभूति आदिवाले, हिरण्यकश्यप, रावण, कंस गये, भगवान् कृष्ण गये, और अन्य भी बड़े २ सुर नर मुनियों के वंशज गये, और जायंगे ॥ ब्रह्माजी गये और शरीरादि को सदा रखने का मर्म (भेद-उपाय) नहीं जाना। तथा सद्गुरु विना गुप्त भेद को नहीं जाना। अथवा ब्रह्मा गये इस भेद को मनुष्यों ने नहीं जाना, इससे स्थिरता की शंका होती है, और लोक सत्संगादि नहीं करते हैं। और बडे २ सयान जो योगी आदि रहे, सो भी गये, तो अन्य की कथा ही क्या है ॥

सत्सङ्ग विचारादि विना जबतक आत्माराम की कहानी (कथा) तथा अज्ञों का रमण के स्थान प्रकृति देवादि की कथा जीवों को नहीं समझ पड़ी, कि कौन निर्बक (निर्मल वा बक रहित) मानसरोवर का दूध (आत्मा) है। और कौन सरबक (सम्पूर्ण वा बक सहित) संसार तालाव का विषयादि रूप पानी है ॥ तबतक गन्तव्य पन्थ (मार्ग) बाकी रह गया। और प्राणरूप पवन थक गये, इससे उजाड़ (शून्य तुल्य) दशों दिशाओं में जीव का गमन भया, स्थिति शान्ति

नहीं मिली ॥ "करि उजाड़ दश दिशि भौ गवना" इस पाठ पक्ष में, शरीर को उजाड़ (शून्य नष्ट) करके दशों दिशाओं में गमन हुआ इत्यादि अर्थ है ॥

सत्संगादि बिना जिनका गन्तव्य मार्ग बाकी रहा, उन के लिये यह संसार मछलियों के जालतुल्य हुआ, इससे जहाँ गये वहाँ ही फंसे, सकाम कर्मादि शास्त्रादि अनगढ लोहे की नाव तुल्य हुए, मनोरथ घासनादि पाषाण के भारतुल्य हुए ॥ और इस अवस्था में भी सब कोई नौका को खेवते (संसार में चलाते) हैं, और समझते हैं कि भवाब्धि से पार जाने का मर्म जानते हैं, और डूब रहे हैं, तैयो (तौभी) कहते हैं कि यह नौका उतरानी (उतराती-तैरती) रहेगी। इससे अज्ञ सब इसी का उपदेश देते हैं ॥ अथवा मर्म जानने बिना अज्ञ लोक लोहा की नाव खेवते हैं, परन्तु हम लोक उस का मर्म को जानते हैं, इससे उस अवस्था में भी वही बात कहते हैं कि जिससे इन की नौका उतराती रहे। अर्थात् सकाम कर्मादि भी शुभ ही करो, हिंसादि त्यागो, इत्यादि उपदेश कामी का भी हित के लिये महात्मा लोक सदा करते हैं ॥

मछली के मुख में वंशी के केचुवा (चेरा), मूसों के गिरदान[1] (चूहेदानी) का अन्न, वा जन्तुविशेष (गिरगिट) सर्पों के मुख में गहेजुआ (चूहा तुल्य जन्तु विशेष) के पड़ने से, इनके खाने आदि के लोभादि से जैसे इन का नाश होता है, तैसे ही सब प्राणी का जान (प्राण) प्रायः जाता है, अथवा इसी प्रकार सब को जाते (मरते—यमवश होते) जानो (समझो) और वासना लोभादि को त्यागो ॥४५॥

---

१. गिरदान कोई जन्तु होता है, जिसे चूहा फल जान कर खाने जाता है, तो गिरदान ही चूहा को खाय लेता है, यह कोई २ कहते हैं। और कोई लाल गिरगिट को गिरदान कहते हैं। उसे फल जानकर चूहा खाता है, जिससे अन्धा हो जाता है ॥

मायाकृतविनाशवर्णनप्रकरण २०.

शंका हुई कि हिरण्यकश्यपादि के नष्ट होने पर भी, नीचे वा ऊपर कोई अविनाशी लोक होगा, कि जहाँ जाने से जीव मरणादि से रहित हो सकते हैं, या किसी विद्या वा युक्ति से भी नाश रहित हो सकते हैं, इससे वासना लोभादि का त्याग की ही आवश्यकता नहीं है, तब साहब कहते हैं कि—

रमैनी ४६

विनशे नाग गरुड गलि जाई । विनशे कपटी औ शत भाई ॥
विनशे पाप पुण्य जिन कीन्हा । विनशे गुण निर्गुण जिन चीन्हा ॥
विनशे अग्नि पवन औ पानी । विनशे सृष्टि कहां लौ गानी ॥
विष्णुलोक विनशे क्षण मांही । हौं देखा परलय की छांही ॥

नागा नष्टा गरुत्मांश्च गलितोऽभून्महाजवः ।
कपटेन चरंश्चासौ शकुनिर्दुर्नयाद् गतः ॥ १ ॥
भ्रातरो ये शतञ्चासन् तेऽपि दुर्योधनादयः ।
कालेन कलिता नूनं सर्वे तेषां सुहृज्जनाः ॥ २ ॥
पुण्यपापे कृते यैस्तु यैस्तु ज्ञातौ गुणाऽगुणौ ।
अनश्यंस्तेऽपि सर्वेऽमी नङ्क्ष्यन्ति चापरे तथा ॥ ३ ॥

पातालवासी नाग नष्ट हुए, महावेगवाला गरुत्मान् (गरुड) गलित (भ्रष्ट-च्युत) हुए । कपट से चलता हुआ वह शकुनि दुर्नीति से गया ॥१॥ जो दुर्योधनादि सौ भाई थे, वे भी काल से कलित (लीन) किये गये, और उनके सब मित्र भी कलित (अव्यक्त) किये गये ॥२॥ और जिन्हों ने पुण्यपाप किया, जिन्होंने गुण अगुण (सगुण निर्गुण) समझा वे सब भी नष्ट हुए (मरें) और अन्य जो ये हैं, वे भी मरेंगे ॥३॥

पूर्व कही रीति से सब को विनश्वर सुन कर, शंका हुई कि विनश्वर इन पदार्थों का नाशक कौन है, आत्मा तो असङ्ग है, वह नाशक नहीं हो सकता, स्वयं नष्ट होयँ तो स्वभाव से नष्ट होनेवालों में क्षणिकता, आत्माश्रय दोष होगा, परस्पर नाश में भी अन्योन्याश्रयादि दोष की प्राप्ति होगी, तब साहब कहते हैं कि–

साखी।

मच्छ रूप माया भई, जौरहिं खेल अहेर।
हरि हर ब्रह्म न ऊबरे, सुर नर मुनि किहि केर ॥४६॥

नश्यत्यग्निश्च वायुश्च जलं नश्यति भूश्च खम्।
सृष्टिर्नश्यति सर्वापि.कियत् संख्याय कथ्यताम् ॥ ४ ॥
विष्णोर्लोकः क्षणादेव नश्यत्येव बुधाः यतः।
छायावत् प्रलयस्यातो दृश्यतेऽस्माभिरेव सः ॥ ५ ॥
मत्स्यरूपा ऽभवन्माया ममतामोहरूपिणी।
भोग्या भोक्तृस्वरूपस्य बाधिकाऽऽच्छादिका सदा ॥ ६ ॥
भूत्वा सहैव सर्वेषां महाऽऽखेटं करोति सा।
हन्यते ऽत्र हरिः शम्भुर्ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ७ ॥
यदा चैते निहन्यन्ते मायया ऽचिन्त्यया सदा।
देवर्षीणां मनुष्याणां हनने का विचित्रता ॥ ८ ॥

अग्नि वायु, जल, भूमि, आकाश, नष्ट होता है, सब सृष्टि नष्ट होती है, गिन कर कितना कहा जाय ॥४॥ हे बुध! (पण्डित) जिससे विष्णु लोक भी कुछ क्षण के बाद ही नष्ट होता है, इस कारण हम लोकों से वह प्रलय की छाया तुल्य ही देखा जाता है ॥५॥

ममता मोह स्वरूपवाली भोग्यस्वरूपा भोक्ता का स्वरूप को सदा बाधक आच्छादक माया मछली रूप हुई ॥६॥ और सब के साथ ही रहकर वह महा शिकार करती है, इस शिकार में हरि शम्भु लोकपितामह ब्रह्मा मारे जाते हैं ॥७॥ जब अचिन्त्य. माया से ये लोक मारे जाते हैं,

"ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः।
नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम्" ॥९॥
देहद्रव्यादिनाशेन नाशश्चात्राभिधीयते।
साधो! वैराग्यसिद्ध्यर्थं जीवनाशो न विद्यते ॥१०॥
देहद्रव्यादिसंसक्तो मायानष्टो निगद्यते।
अनासक्तो विमुक्तश्च तन्नाशेऽपि न संशयः ॥११॥४६॥

तो देव ऋषि मनुष्यों के हनन में विचित्रता क्या है ॥८॥ योगवासिष्ठ १।२८।९॥ का कथन है कि, ब्रह्मा विष्णु रुद्र वा सब प्राणी नाश को दौडते हैं, जैसे वाडवाग्नि में जल जाते हैं ॥९॥ हे साधो! देह द्रव्यादि के नाश से वैराग्य की सिद्धि के लिये यहाँ नाश कहा जाता है, जीव के स्वरूप का नाश नहीं होता ॥१०॥ और देह द्रव्यादि में आसक्त जीव उनके नाशादि से माया द्वारा नष्ट कहा जाता है, और देहादि के नाश होनेपर भी उनमें आसक्ति रहित विमुक्त होता है, इसमें संशय नहीं ॥११॥

अक्षरार्थ– नीचे बसनेवाले नाग (सर्प विशेष), आकाशचारी गरुड़, कपटी (जूआरी शकुनि) सौ भाई दुर्योधनादि, ये सब नष्ट हुए॥ पापपुण्य कर्म जिन्हों ने किया, जिन्हों ने गुण निर्गुण को चीन्हा, वे भी नष्ट हुए, और होते हैं॥ अग्नि पवन पानी आदि पांच भूत भी नष्ट होते हैं। सब सृष्टि नष्ट होती है, गिन कर वा गायकर कहाँ तक कहा जाय, विनश्वर पदार्थ अनन्त हैं, एक आत्मा ही सर्वथा अविनाशी है॥ विष्णुलोक (वैकुण्ठादि) भी क्षण मात्र में नष्ट होता है, इससे सब संसार को मैं प्रलय की छाया (प्रतिबिम्ब) अब भी देखता हूं अर्थात् अनात्म पदार्थ कभी अचल अपरिणामी नहीं हैं, न इनकी आत्मसत्ता विना स्वतन्त्र सत्ता है, न सर्वरूप से सर्व देश में रह सकते हैं, इससे इनके रहते भी किसी देश में वा किसी रूप से इन का अभाव रहता ही है, इससे इन का प्रलय की छाया दिखती है।

यह माया स्वयं मच्छ (मछली) रूप हुई है (अर्थात् भक्ष्य भक्षकादि अनन्त रूपवाली हुई है) और सब के जौर (साथ) रहकर अहेर (शिकार) खेलती है। इस माया के निशाना से हरि हर ब्रह्मा भी नहीं ऊबरते (बचते) हैं, तो अन्य सुर नर मुनि की कथा ही क्या है। अर्थात् अनेक प्रकार के मछलियों में जैसे परस्पर भक्ष्य भक्षक नाश्य नाशकादि भाव होता है, तैसे ही मायिक पदार्थों में ही परस्पर नाशनाशक भाव है। जौर हि, के स्थान में यमरा, जबरहिं, ये पाठ भेद है। अर्थ है कि मच्छरूप माया यमराज, वा जबरदस्त (बली) रूप से अहेर खेलती है। माया ही भोग्य विषय ममता मन रूप हुई है। जीव सब ममतापूर्वक मन द्वारा जब विषयों में आसक्त होते हैं, तब माया साथ हो जाती है, जवर यमराज होती है और अहेर खेलती है, इससे ममता आदि को त्यागना चाहिये ॥४६॥

रमैनी ४७

जरासन्ध शिशुपाल सँहारा। सहसा अर्जुन छल सो मारा ॥
बड छल रावण सो गौ वीती। लंका रहल कञ्चन की भीती ॥

शिशुपालं जरासन्धं संजहार गुणात्मिका।
मायैव व्यक्तिमापन्नाऽचिन्त्या या चिद्व्यपाश्रिता ॥१२॥
सहस्राऽर्जुननामासीद्यो वीरो दृढविक्रमः।
तं छलस्य प्रबन्धेन सा जघान विमोहिनी ॥१३॥

जो अचिन्त्य चेतनाश्रित त्रिगुणात्मक माया ही है, सोई व्यक्ति (अभिव्यक्ति-भिन्नरूपता) को प्राप्त होकर शिशुपाल जरासन्ध का संहार किया ॥१२॥ जो सहस्रार्जुन नामवाला दृढ (बलवान) विक्रम (अति शक्तिमान्) अर्थात् स्थूल अतिबली, वीर था, उसको वह विमोहिनी

दुर्योधन अभिमान हि गयऊ । पाण्डव केर भेद नहिं पयऊ ॥
माया डिम्भ गेल सब राजा । उत्तम मध्यम बाजन बाजा ॥
छौ चकवे विति धरणि समानी । एको जीव प्रतीति न आनी ॥

रावणो यो महानासीद् गर्वद्रव्यादिसंयुतः ।
यस्य कुड्यं हि लंकायां शातकुम्भमयं श्रुतम् ॥१४॥
सोऽनश्यत् सगणो मोहात् कृत्वैव बहुदुष्कृतम् ।
उपद्रुत्य विनाश्याऽन्यान्नष्टो भ्रष्टोऽभवत् कुधीः ॥१५॥
मायामोहाभिमानाक्तो दुर्योधनधनान्धधीः ।
अनश्यत्पाण्डवानां स रहस्यं न विवेद च ॥१६॥
मायाया डिम्भभूता ये सर्वे बालिशका नृपाः ।
तेऽपि मृत्वा गताश्चासन् कीर्तयो मध्यमोत्तमाः ॥१७॥
षट्चक्रवर्तिनो मृत्वा वेणुप्रभृतयोऽथवा ।
जरासन्धादयः सर्वे पृथिव्यां प्राविशन् खलु ॥१८॥

माया छल (छल कपट) का प्रबन्ध (रचना) से मारा ॥१३॥ जो रावण गर्व द्रव्यादि सहित महान् (विशाल) स्वरूप था, जिसका लंका में सुवर्णमय दिवाल सुना गया है, सो मोह से बहुत पाप करके ही अपना गण (सङ्ग सेना) सहित नष्ट हुआ । वह कुबुद्धि अन्य का उपद्रव विनाश करके स्वयं भी नष्ट भ्रष्ट हुआ ॥१४–१५॥ दुर्योधन नामवाला जो धन से अन्ध बुद्धिवाला था, सो माया मोह अभिमान से अक्त (लिप्त) होकर नष्ट हुआ, और पाण्डवों का मर्म भी नहीं जाना ॥१६॥ माया के डिम्भ (शिशु) रूप जो सब बालिश (मूढ) राजा लोक हुए, वे मर कर गये, और लोक में मध्यम उत्तम कीर्ति (यश) हुई ॥१७॥ वेणु आदि वसन्त में वर्णित वा जरासन्धादि जो छौ चक्रवर्ती हुए, वे सब भी मर कर भूमि में ही लीन हुए ॥१८॥ सब मनुष्य सो

कहँ लै कहौं अचेतहि गयऊ। चेत अचेत झगर इक भयऊ॥

यद्यपि आयु की समाप्ति होने पर, सब का शरीर नष्ट होता है, तथापि अभिमान मोहादि युक्त का माया से नाश कहा जाता है, मोहादि रहित की विदेह मुक्ति कही जाती है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि–

साखी।

ई माया है मोहिनी, मोहिन सब जग झार।
हरिचन्द सत के कारणे, घर घर शोक विकार॥४७॥

दृष्ट्वा श्रुत्वापि तत् सर्वं विश्वसन्ति न मानवाः।
विह्वलाः कामिनो यान्ति गताश्चान्ये विमोहिताः॥१९॥
कियत् संख्याय चोच्यन्तां सर्वेऽगच्छन् ह्यचेतसः।
अयमज्ञश्च तज्ज्ञोऽयं वृथैवं कलहो महान्॥२०॥
इयं विमोहिनी मायाऽमूमुहत्सर्वदेहिनः।
हरिश्चन्द्रं विमोह्यैषा यथा शोकमजीजनत्॥२१॥
सत्यस्य रक्षणार्थं स यथा मोहमवाप्तवान्।
तथैव देहिनः सर्वे विकारैः शोकभागिनः॥२२॥

देख सुन कर भी संसार की असारता आदि का विश्वास नहीं करते हैं। कामी लोक विह्वल होकर जाते हैं, और अन्य लोक भी विमोहित होकर गये॥१९॥ कहाँ तक गिन कर कहा जाय, प्रायः सब अचेतस (अवशमनस) ही गये, परन्तु यह अज्ञ था यह तज्ज्ञ (ज्ञानी) था; इस प्रकार व्यर्थ महान् कलह हुआ॥२०॥

यह विमोहिनी माया सब देही (प्राणी) को मोहित किया, और यह जैसे हरिश्चन्द्र को मोहित करके शोक पैदा किया। और सत्य की रक्षा के लिये जैसे वह हरिश्चन्द्र मोह को प्राप्त हुए, तैसे ही सब देही कामादि विकारों से शोकभागी (शोकयुक्त) होते हैं॥२१–२२॥

" अजितात्मजनो मूढो रूढो भोगैककर्दमे।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥२३॥
अहो नु चित्रा मायेयं सर्वविश्वविमोहिनी।
सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा यदात्मानं न पश्यति ॥२४॥
करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बु वा।
नात्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति ॥२५॥

इति रमैनीरसोद्रेके मायाकृतविनाशवर्णनं नाम विंशतितमः प्रवाहः ॥२०॥

योगवासिष्ठ० ६।२।३३।२२। का कथन है कि, भोगरूप कादों में स्थिर मूढ अजितात्मा जन, जलों का समुद्र के तुल्य आपत्तियों का पात्र (आश्रय) होता है ॥२३॥ ६।११९।५। का कथन है कि; सब विश्व को मोहने वाली यह माया विचित्र आश्चर्यरूपा है कि जिससे यह जीवात्मा सर्वाङ्ग में व्यापक ब्रह्मात्मा को नहीं जानता है ॥२४॥ ४।५७।३४। का कथन है कि, चाहे भुवन में राज्य करे, वा मेघ जल में पैठे, परन्तु आत्मप्राप्ति के विना जीव विश्राम नहीं पाता है ॥२५॥

अक्षरार्थ– माया ने ही जरासन्ध, शिशुपाल का संहार (नाश) किया। सहसार्जुन को भी छल से मारा, या सहसा अर्जुन छल (था) सो माया से ही मारा गया। रावण के साथ भी मायाकृत बड़ा भारी छल बीत चुका है, या रावण बड़ा (महान्) प्रतापी छल (था), सो भी माया से बीत गया (नष्ट हुआ), जिसके लंका में सुवर्ण की भीति (दिवाल) थी, सो भी नहीं रहा। दुर्योधन मायाजन्य अभिमान ही में गया (नष्ट हुआ) और पाण्डव (युधिष्ठिरादि) के भेद नहीं समझा, कि उनकी शक्ति सहाय धर्मादि कैसे हैं इत्यादि।

माया के डिम्भ (लडके वा अभिमानी दम्भी मूर्ख) सब राजा गये। परन्तु लोक में उनके उत्तम मध्यम बाजन बाजा (कीर्ति रह गई)। और जरासन्धादि छौ चकवे (चक्रवर्तिता के अभिमानी)

बीत (मर) कर धरणि (भूमि में समाये (लीन हुए)। इस बात को जान कर भी एको जीव सद्गुरु के वचनादि में विश्वास प्रतीति नहीं आना (नहीं किया), न माया की लीला को समझा। कहाँ तक कहा जाय, विश्वासादि विना, सब अचेत ही गये, कोई विरल' ज्ञानी मुक्त हुए। केवल चेत अचेत का एक झगड़ा लोक में हुआ, कि ये सचेत रहे, वे अचेत रहे इत्यादि। या चेतो अब भी सावधान होवो, अचेत रहने से ही एक प्रकार का झगडा (अविवेक-चिज्जड का परस्पर अध्यास) हुआ है, सो मायारूप है। ज्ञान विना इस का साथ नहीं छूट सकता इत्यादि।

यह प्रत्यक्ष तामसी माया मोहनेवाली है, इसने सब जगत (संसारी) को झार (ढूंढ २) कर मोहित किया। विश्वामित्र-रचित माया से मोहित होकर जैसे सत्य की रक्षा के लिये हरिश्चन्द्र शोक विकारयुक्त हुए, तैसे ही घर २ (सब देह) में कामादि विकार जन्य शोकादि व्याप्त हैं। या शोकादि रूप विकार (माया के कार्य) सब देहों में व्याप्त हैं। झार, के धाय; विकार, के विकाय, पाठान्तर हैं, तब अर्थ है कि आवरण (आच्छादन विक्षेप (कार्य-प्रवृत्ति) शक्तिवाली माया, विक्षेप शक्ति से दौड़ कर, आवरण शक्ति से सब को मोहित (ज्ञान रहित) करती है, तहाँ भी अधर्मी को ही नहीं मोहित करती, इसीसे हरिश्चन्द्र ऐसे धर्मात्मा भी शोकयुक्त हुए, और स्त्रीपुत्र सहित घर २ में सत्य के लिये बिक गये। परन्तु सत्य नहीं छोड़े। मानस अश्वमेध में मानस अश्व की हिंसा करके उसका प्रायश्चित्त नहीं करने से, उस का दण्ड हरिश्चन्द्र को भोगना पड़ा था। मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि (अश्वमेधविपाकोऽयं हरिश्चन्द्रस्य भूपतेः), इसीसे याज्ञिक हिंसा का भी कैसा विकट फल होता है, सो जाना जा सकता है, लौकिक का तो कहना ही क्या है। और यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण, वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड अ० १७। के अनुसार, कावषेय तुरादि, मनु आदि बहुत चक्रवर्ती हुए हैं, तथापि यहाँ उल्लिखित के तात्पर्य से छौ कहे गये हैं॥४७॥

यवनमतसमीक्षाप्रकरण २१

मायाजन्य मोह से नाश का प्रथम वर्णन हुआ है, उसी का प्रसंग से यवनों में मायाजन्य मोहादि का वर्णनपूर्वक उपदेश देते हैं कि—

रमैनी ४८

मानिकपूर कबीर बसेरी । मदत सुनी शेखतकी केरी ॥
ऊजे सुनि यमनपुर धामा । झूसी सहर पिरन को नामा ॥
एक्किस पीर लिखै तिहि ठामा । खतमा पढै पैगम्बरनामा ॥

श्रीकबीरोऽशृणोद् ग्रामे श्रीमानिकपुरे वसन् ।
स्तुतिं शेखतकीनाम्नः साहाय्यं वा विशेषतः ॥ १ ॥
अन्यच्चाप्यशृणोत्स्थानं पुरान्तयवनाभिधम् ।
झूसीं च नगरीं यत्र गुरुनामानि सन्ति वै ॥
एकविंशतिसंख्यानि लिखितान्येव पट्टके ॥ २ ॥
मृतानां तानि नामानि ज्ञात्वाऽन्ये यवनाः खलु ।
खतमां पुस्तिकां तेभ्यः श्रावयन्ति समादरात् ॥ ३ ॥
यस्यां स्वेषां गुरूणां च नामानि च व्रतानि च ।
विद्यन्ते भावयन्ते तामाचार्याणां हि नाम च ॥ ४ ॥

श्रीमानिकपुर में बसते (रहते) हुए श्री कबीर साहब ने शेखतकी नामवाला की स्तुति वा विशेष सहाय (अनुचर) सत्ता प्रभावादि सुना ॥१॥ और अन्य यवनपुर नामक स्थान भी सुना, और झूसी नगरी सुनी, कि जिसमें एकइस संख्यावाली गुरुओं के नाम पटरियों पर ही लिखे हुए सुने गये ॥२॥ और सुना गया कि अन्य वहाँ के यवन सब मरे हुए गुरुओं के उन नामों को जान कर, उनके कबरों के पास जाकर, खतमा नामक पुस्तक, उन मृत पुरुषों की प्रसन्नता आदि के लिये उन्हे खूब आदर से सुनाते हैं ॥३॥ जिस पुस्तक में अपने गुरुओं

सुनि बोल मोहि रहो न जाई । देखि मुकरवा रहा भुलाई ॥
हबी नबी नबी हुं को कामा । जहँ लगि अमल सु सबी हरामा ॥

कथयन्ति तु येऽन्येभ्यो मूर्तिपूजां हि निन्दिताम् ।
तां कुर्वन्ति तु ते तेनाऽप्यहो लज्जा न जायते ॥ ५ ॥
दृष्ट्वेदं धर्ममूढत्वं वचः श्रुत्वा च मानिनाम् ।
न मौनमशकत्कर्तुं कबीरो ह्युक्तवांस्ततः ॥ ६ ॥
भवतां भो वचः श्रुत्वा मौनी स्थातुं न शक्यते ।
प्रेतस्थानं विलोक्यैवं किं भ्राम्यथ विचेतसः ॥ ७ ॥
कः शृणोति जनो यं वै श्रावयन्ति समादरात् ।
खतमां पुस्तिकां मत्वा कार्यं निजमहेशितुः ॥ ८ ॥
ईश्वरस्याथ मित्रस्याचार्याचार्यस्य वा भवेत् ।
कार्यं यद् व्यसनं तुच्छं तत् सर्वं मलिनं महत् ॥ ९ ॥
अनात्मभूतदेहादेवात्मबुद्धिर्हि देहिनाम् ।
साऽविद्या तत्कृतो बन्धो दुःखदारिद्र्यमेव च ॥१०॥

के नाम व्रत का वर्णन, और आचार्यों के नाम रहते हैं, उसे सुनाते हैं ॥४॥ जो यवन लोक अन्य के लिये मूर्तिपूजा को निन्दित कहते हैं; आश्चर्य है कि वे स्वयं उस पूजा को करते हैं, और उस कर्म से लज्जा नहीं होती है ॥५॥ इस धर्म विषयक मूढता को देख कर, और अभिमानियों का वचन को सुन कर, कबीर साहब मौन नहीं कर सके। तब बोले कि हे यवनो ! तुम्हारी बात सुन कर, मैं मौनी होकर नहीं रह सकता हूं। विचेतस (बदहोस) तुम प्रेतस्थान को देखकर इस प्रकार क्यों भ्रान्त होते हो ॥६–७॥ यहाँ कौन प्राणी सुनता है कि जिसको बडी आदर से अपना महेश्वर का कार्य समझकर खतमा पुस्तक सुनाते हो ॥८॥ ईश्वर अथवा मित्र का, या आचार्यों के आचार्य का भी जो कार्य हो। परन्तु वह व्यसन रूप तुच्छ हो, तो वह सब महा मलीन है ॥९॥ अनात्म-

साखी (छ० हरिपद)।

शेख अकरदी शेख सकरदी, मानहु वचन हमार।
आदि अन्त औ उतपति परलय, देखहु दृष्टि पसार ॥४८॥

भोः शेखाऽकरदिंस्त्वं च त्वं भोः सकरदिंस्तथा।
मन्यस्व वचनं सत्यमस्माकं शोकनाशनम् ॥११॥
अस्यैव सुविचारेण सर्वाद्यन्तादिलक्षणम्।
कूटस्थं चिद्घनं पश्य महता ज्ञानचक्षुषा ॥१२॥
"मुक्तिमिच्छसि चेत्तात! विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत् पिब" ॥१३॥
सत्याऽस्त्येषा जगति सुविदुषां दृष्टिपूता मनीषा,
सर्वस्यादिर्जनिमृतिरहितो विक्रियाहीन एकः।
देवो लभ्यः सुगुरुवचनतः शिष्यवर्यैः सदैव,
श्रद्धावित्तैः सुविशदहृदयै रागमानादिहीनैः ॥१४॥

स्वरूप देहादि में जो देहियों को आत्मबुद्धि होती है, सोई अविद्या है। उसी का कार्य संसाररूप बन्ध और दुःखदरिद्रता सब है ॥१०॥

हे शेख अकरदी, तुम तथा हे शेख सकरदी तुम भी हमारा शोक नाशक सत्य वचन मानो ॥११॥ इसी वचन का सुन्दर विचार से सबका आदि अन्त स्वरूप कूटस्थ (निर्विकार) चेतनघन आत्मा को महान ज्ञान नेत्र से देखो ॥१२॥ अष्टावक्र गीता का कथन है कि— हे तात ! यदि मुक्ति चाहते हो, तो विषयों को विषवत् त्यागो, और क्षमा आर्जव (निश्छलता) दया शौच सत्य को अमृत तुल्य पीवो (धारण करो)। शौच के जगह, तोष, पाठ भी है ॥१३॥ ज्ञानदृष्टि से पूत (पवित्र) सुन्दर विद्वानों की यह मनीषा (बुद्धि) संसार में सत्य है कि, सब का आदि जन्म मरण रहित एक देव, सद्गुरु के वचन से ही, श्रद्धारूप

धनवाले, अतिविशद (शुचि श्वेत) हृदयवाले, रागमानादि रहित शिष्यमुख्यों से ही सदा प्राप्त किया जाता है ॥१४॥

अक्षरार्थ- कबीर (मैं) मानिकपुर में बसेरी (निवास) किया था, तो वहाँ रहते शेखतकी केरी (की) मदत (मदहत, प्रशंसा, स्तुति वा सहायता) मैंने सुनी ॥ और ऊजे (वह प्रसिद्ध जो) यमनपुर धाम (स्थान) है, वहाँ की कथा सुन पड़ी । और झूसी सहर में पीरों के नाम सुनने में आये ॥ तिहि ठामा (उस झूसी में) एकइस पीरों के नाम पत्थरों की पट्टियों पर कबरों में लिखे हुए सुने गये । और उन कबरों के पास में पैगम्बरनामा (पैगम्बरों की नामावली) रूप खतमा (किताब) को तुरुक लोक पढते हैं । और उन मृतकों को सुनाते हैं, तथा नसीहत (ईदादिक व्रतविधायक) पुस्तकों को सुनाते हैं । सो बात भी मानिकपुर में ही सुनी गई ।

साहब का कहना है कि इन सब बातों को सुन कर, देखे आदि बिना मुझ से चुप बैठा नहीं रहा जा सका, इससे वहाँ जाकर उन से कहा कि, अन्य को तुम लोक बुत परस्त (मूर्तिपूजक) कहते हो । और स्वयं मुकरबा (कब्र) देखकर भूले (भ्रान्त) हुए हो । क्या इसी में तुम्हारे पीर बैठे हैं जिन्हें खतमा सुनाते हो इत्यादि । उन लोकों ने कहा कि, यह कबर के पास किताब पढना हबी (ईश्वर वा मित्र) और नबी (आचार्य-रसूल-मुहम्मद-पैगंबर) का काम है, अर्थात् यही उन की सेवा धर्म है । तब साहब ने कहा कि, चाहे हबी का या नबियों के नबी का काम हो, परन्तु जहाँ तक अमल (तुच्छ व्यसन) रूप व्यवहार है, सो सब हराम (निषिद्ध-पाप) रूप ही है । भाव है कि, जैसे अमल (गांजा, भंग, अफीम, आदि मादक) वस्तु बुद्धि नाशक होते हैं, तैसे ही अनात्मपरायणता अन्धविश्वास प्रेतपूजा आदि भी विवेकादि के नाशक हैं । विचारादि रहित अनात्मपरायण को माया नष्ट करती है, इससे इन्हें त्यागना चाहिये इत्यादि ।

हे शेख अकरदी सकरदी ! तुम हमारा वचन मानो (अमल तुल्य को हराम समझ कर त्यागो) और सब के आदि अन्तरूप सर्वाधिष्ठान परम तत्त्व को तथा सब संसार की उत्पत्ति प्रलयादि को विवेक दृष्टि फैला कर देखो, कबरादि में क्यों व्यर्थ लगे हो, (मूर्ति पूजा से कबर पूजा अत्यन्त हीन है। जीवात्मा कबर के पास बैठा नहीं रहता है, किन्तु कर्मादि के अनुसार गति पाता है, इत्यादि विवेक सद्गुरु के वचनों से होगा, इस लिये श्रवण विचारादि करो)। यहाँ व्यक्ति विशेष का नाम द्वारा मनुष्यमात्र को उपदेश दिया गया है। मानिकपुर प्रयाग से पश्चिम दक्षिण चित्रकूट के रास्ते में है। झूसी प्रयाग से पूर्व है। यमनपुर काशी से १८ कोश उत्तर है। शेखतकी, बादसाह के गुरु रहे ॥४८॥

रमैनी ४९

दर की बात कहो दरवेशा। बादसाह है कौने वेषा ॥
कहाँ कूच कहँ करै मुकामा। मैं तोहि पूछौ मूसलमाना ॥

भो दरवेशनामानो ! भवद्भिरपि बुध्यताम्।
मूलतत्त्वस्य सर्वस्य ह्यस्मान् वार्तैव श्राव्यताम् ॥१५॥
ईश्वरः केन वेषेण वर्तते कुत्र याति च।
सदा तिष्ठति कुत्राऽसौ पृच्छामो यवना ! हि तम् ॥१६॥
रक्तोऽसावथवा पीतश्चित्रो वा विद्यते प्रभुः।
नमस्यन्ति भवन्तो यं किंरूपोऽयं सदाशिवः ॥१७॥

हे दरवेश नामवालों (विरक्त फकीरों)! आप लोक भी मूल तत्त्व समझें, और सब का मूल तत्त्व (स्वरूप) की बात ही हमें सुनाइये ॥१५॥ और हे यवनो ! ईश्वर किस वेष से रहता है, और कहाँ जाता है, वह कहाँ सदा स्थिर रहता है, उसी को हम तुम से पूछते हैं ॥१६॥

लाल जरद की नाना बाना । कौन सुरति को करहु सलामा ॥
काजी काज करहु तुम कैसा । घर घर जबह करावहु वैसा (भैंसा)
बकरी मुरगी किन फरमाया । किस के हुकुम तुं छुरी चलाया ॥

नाऽसौ रक्तो न वा पीतः सर्ववेषविवर्जितः ।
एकः सर्वसुहृच्चैव किं वृथा परिमुह्यते ॥१८॥
नाम्ना काजीति संप्रोक्ताः पण्डितत्वाभिमानिनः ।
कीदृशं क्रियते कार्यं भवद्भिरिति चिन्त्यताम् ॥१९॥
गोमहिष्यादिहिंसा या कार्यते वै गृहे गृहे ।
स्थित्वा नैतद्धि कर्तव्यमकार्यं त्यज्यतां द्रुतम् ॥२०॥
अजादिकुक्कुटादीनां मांसं को ह्युपदिष्टवान् ।
प्रयुक्ता चाज्ञया कस्य छुरिका तत्कृते भवेत् ॥२१॥
परपीडां न जानन्ति कथ्यन्ते गुरवश्च ये ।
वाक्यानि पापठित्वा ते वैननामानि दुर्धियः ॥२२॥

वह प्रभु लाल है, कि पीला है, या विचित्र अनेक रूप वाला है, जिस को आप लोक नमस्कार करते हैं, यह सदाशिव (ईश्वर) कौन रूपवाला है ॥१७॥ सब वेष आकार से रहित वह ईश्वर लाल वा पीला आदि नहीं है । वह सब का सुहृद (प्यारा-आत्मा) एक है, क्यों झूठा भेद में मोहित होते हो ॥१८॥

पण्डितता के अभिमानी जो लोग काजी इस नाम से कहे जाते हैं, सो आप लोक से भी कैसा कार्य किया जाता है, इस बात को आप विचारें ॥१९॥ घर २ में स्थिर होकर जो गो महिषादि की हिंसा कराते हैं, यह कर्तव्य कर्म नहीं हैं, किन्तु यह अकार्य (अकर्तव्य) है, यह शीघ्र त्यागा जाय ॥२०॥ अजा (बकरी), कुक्कुट (मुर्गा) आदि का मांस का उपदेश कौन किया है, और तत्कृते (उस मांस के लिये) छूरी किसकी आज्ञा से चलाई जा सकती है ॥२१॥ जो लोक अन्य की पीड़ा को

दर्द न जानै पीर कहावै। वैता पढि पढि जग समुझावै॥
कहहिं कबिर सयाद कहावै। आपु सरीखे जग कबुलावै॥

साखी।

दिन को रोजा रहत हौ, राति कुहत हौ गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, क्यों कर खुसी खुदाय ॥४९॥

जगत्यामपि कर्माणि मिथ्यैवोपदिशन्त्यहो।
न सत्कर्म न सत्यं वा वदन्त्युपदिशन्त्यथ ॥२३॥
सैयदेति च कथ्यन्ते ये मनोमलदूषिताः।
विश्वे स्वसदृशाचारस्वीकारं कारयन्ति ते ॥२४॥
दिवा करोषि रोजाख्यं व्रतं रात्रौ विहिंसनम्।
गवादीनां तदा मूढ! हिंसेयं महती वृता॥
तुच्छा सा वन्दना तस्याः प्रसन्नः स्यात कथं हरिः ॥२५॥
हरेः प्रसन्नता येन भवति नेह कर्मणा।
न तत्कर्म विकर्मैतत् सम्मतं नैव तत्सताम् ॥२६॥

नहीं जानते वे दुर्बुद्धि भी गुरु कहे जाते हैं, और बैंत नामक बाक्यों को बार २ पढकर लोक में भी मिथ्या कर्मों का ही उपदेश करते हैं, सो आश्चर्य है। और सत् कर्म का उपदेश नहीं करते, न सत्य बोलते हैं, सो भी आश्चर्य है ॥२२-२३॥ जो मन के पापों से दूषित लोक सैयद कहाते हैं, सो संसार में अपने तुल्य आचरण का स्वीकार कराते हैं, सो भी आश्चर्य है। ॥२४॥ हे मूढ! तुम दिनमें रोजा नामक व्रत (उपवास) करते हो, और रात्रि में गवादि की हिंसा करते हो, तो यह हिंसा बड़ी वरी (स्वीकृत की) गई। और वह बन्दना (स्तुति) तुच्छ हुई। उस से हरि (ईश्वर) कैसे प्रसन्न होंगे ॥२५॥ जिस कर्म से यहाँ हरि की प्रसन्नता नहीं होती, वह कर्म नहीं है, किन्तु यह विरुद्ध कर्म है, इससे वह सत्पुरुषों के

"भूतानां कुरुते योऽत्र सुखं वा दुःखमेव वा।
आत्मनः कुरुते सर्वमिह लोके परत्र वा" ॥२७॥
यदा पापं हिंसां सुलघयति यो बोधतः सद्विचारैः,
प्रियान् मत्वा जन्तून् तनुवचनतो मानसैश्चापि दुःखम्।
कृपादृष्ट्या तेषामपगमयते नैव दत्ते स्वयं च,
हरेः सत्यो भक्तः स इह लभते सुप्रसन्नं स्वरामम् ॥२८॥
मनोवचोभिः करपादकर्णकैर्यो ह्यत्र दान्तः सततं भवेन्नरः।
स एव भक्तः परपावनो मतः क्रियाविकारैः परिवर्जितः सदा ॥२९-४९॥

इति रमैनीरसोद्रेके तुरुष्कमतसमीक्षा नामैकविंशतितमः प्रवाहः ॥२१॥

सम्मत (सिद्धान्त) नहीं है ॥२६॥ जो यहां प्राणी का सुख वा दुःख ही करता है, सो सब सुख दुःख अपना इस लोक वा परलोक में करता (पाता) है ॥२७॥ जो प्राणी जब ज्ञान से सद्विचारादि से पापहिंसा को यथाशक्ति अति लघु करता है, और जन्तुओं को प्रिय मान कर उनके दुःख को तन वचन और मन से भी कृपादृष्टिपूर्वक निवारण करता है, और स्वयं दुःख नहीं देता है, सो सच्चा हरि का भक्त तब यहाँ सुप्रसन्न अपना राम को पाता है ॥२८॥ जो मनुष्य प्राणी यहाँ मन वचन हाथ पैर कान से सदा दान्त (दमित) रहता है, मन आदि को वश में रखता है; वही सदा क्रियाविकार से रहित परपावन माना गया है ॥२९॥

अक्षरार्थ– हे दरवेशों ! दर (असल-मुकाम-हृदय) की बात कहो, कि बादसाह (ईश्वर) कौन वेषवाला है। और हे मुसलमानों ! मैं तुम से पूछता हूं कि, वह ईश्वर कहाँ कूच (यात्रा) करता है, और कहाँ मुकाम (निवास) करता है। और वह लाल कि जरद (पीला) कि नाना बाना (अनेक रूप वेषवाला) है। और कौन सुरति (आकार) को सलाम (प्रणाम) करते हो। भाव है कि, वेष आकार देश दिशा आदि को निश्चित जाने विना किसी दिशा आदि को सलाम करना व्यर्थ है, और वस्तुतः ईश्वर वेषादि रहित व्यापक सर्वात्मा हैं। व्यसनादि को

त्यागकर हृदय में जानने योग्य है । मायाजन्य मोह से ही लोक वेषादि में आसक्त होते हैं इत्यादि ।

हे काजी (पण्डित) ! तुम कैसा काज (कार्य) करते हो, तुम वैसा (बैठा हुआ) घर २ में बकरा, भैंसा आदि का जबह (वध) कराते हो, क्या यही कार्य करना है । तुम्हें बकरी, मुरगी की हिंसादि किसने फरमाया (कहा) है । और किस के हुकुम (आज्ञा) से प्राणी पर छूरी चलाते हो, यह सब स्वार्थान्धता है । और आश्चर्य है कि, जो अन्य का दर्द (पीड़ा) को नहीं जानता, सो हिंसक भी पीर (गुरु) कहाता है । वस्तुतः दयालु उपदेशक का गुरु नाम है । और वह क्रूर भी बैंत पढ़ २ कर दूसरे को मिथ्या ही समझाता है । साहब का कहना है कि, जो सैयद (ब्राह्मण) कहाता है, सो भी स्वयं हिंसक होकर आपु सरीखे (अपने समान) जगत के मनुष्य से भी हिंसा आदि का ही कबूल (स्वीकार) करवाता है, इससे यह भी मायाकृत नाश ही है, उबार नहीं है ।

तुम अज्ञ पवन लोक दिन को रोजा व्रत (उपवास) रहते हो, और रात्रि को गाय को कुहते (मारते) हो, तो यह (अपराध) खूनरूप हुआ, और बन्दगी (भक्ति) वह (उपवास) हुआ, तो कहो कि न्यायकर्ता खुदा क्योंकर (कैसे) खुसी (प्रसन्न) होगा । भाव है कि (विष्णुभक्त्यग्निपूजा च ह्यहिंसा च तपो दमः । धर्माण्येतानि मुनिभिर्म्लेच्छानां च स्मृतानि वै ॥) इस भविष्य पुराण के अनुसार म्लेच्छों के भी ईश्वरभक्ति अग्निपूजा अहिंसा तप दमादिक ही धर्म हैं; इससे गो बधादि सर्वथा अनुचित है इत्यादि

' कहहिं कबिर सयाद कहावै ' इसके स्थान में ' कहहिं कबीर सैयद वहावै ' और ' बहावै ' के स्थान में कहिं ' वहाई ' पाठभेद है । और कहिं २ लेख मिलता है कि, सैयद अलीमुहम्मद का शिष्य बहाउल्लाह था, बहाई (मत विशेष) का प्रवर्तक था । उसका आशय से पाठभेद का अर्थ हो सकता है कि, बहा उल्लाह सैयद के बहाई (बहाव-मत) में अपने सरीखे (तुल्य) सब कबूल करवाते हैं, इत्यादि ॥४९॥

आसक्ति से ज्ञान की दुर्लभता प्रकरण २२

माया अनेक रूपवाली है, सो सबल होकर नाश करती है। नाश के लिये दुष्कर्म कराती है, इत्यादि वर्णन प्रथम हुआ है। फिर मायाजन्य मोह से सद्गुरु के वचनों में विश्वासादि विना जो [1]अनर्थ (दुःख) होता है, उसको कहते हुए ज्ञान की दुर्लभता बताते हैं कि—

रमैनी ५०

कहइत मोहि भेल युग चारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥
वंशहि आगि लगि वंशहिं जरिया। भरम भुला नल धन्धे परिया॥

एवं वदत्सु चात्मसु गतं सर्वं चतुर्युगम्।
जना नैव विजानन्ति मोमुह्यन्ते निरन्तरम्॥ १॥
इयं भार्या सुतश्चायं मदीयावतिवल्लभौ।
इतिबुद्ध्या जनः सर्वो मोहजाले विशत्यलम्॥ २॥
यथा वंशातिसङ्घर्षादग्निः संदीप्यते वने।
दह्यते च वनं तेन मोहात्तापस्तथा भवेत्॥ ३॥
अहो जना भ्रमेणैव सुतदारादिकर्मसु।
आसक्ता एव वर्तन्ते न तु जातु विचारणे॥ ४॥

इस प्रकार हम लोकों के कहते सब चार युग बीत गये, परन्तु लोक वर्णित तत्त्व को नहीं जानते हैं, इससे सदा बार २ मोहित होते हैं॥१॥ यह स्त्री है, यह पुत्र है, ये दोनों मेरे अति प्यारे हैं, इस बुद्धि से सब लोक मोहजाल में अत्यन्त पैठते हैं॥२॥ जैसे बन में बांसों के अति संघर्षण (रगड) से अग्नि दीप्त होती है, उससे वन दग्ध होता है, तैसे ही मोह से ताप होगा, और होता है॥३॥ लोक सब

१ 'निबन्धिनी रज्जुरेषा ग्रामेषु वसतो रतिः। छित्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः'॥ म० भा० शा: १७५।२६॥

हस्तिक[1] फन्दे हस्ती रहई। [2]मृगा के फन्दे मृगा [3]रहई॥
लोहहिं लोह काटु[4] जस आना। तिय के तत्व तिया पै [5]जाना॥

"महाजालसमाकृष्टा स्थले मत्स्या इवोद्धृताः।
मोहजालसमाकृष्टा भवन्ति मनुजा भुवि"॥५॥
पाशे हस्तिनिमित्ते वै यथा हस्ती निबध्यते।
मृगो मृगनिमित्ते च स्वनिमित्ते तथा जनः॥६॥
यथा लौहेन लौहोऽन्यश्छिद्यतेऽयं तथा जनः।
स्वजनेनैव संच्छिन्नः खिन्नः पन्नो भवेत् सदा॥७॥
यथा स्त्रिया हि कापि स्त्री भिन्ना स्यादतिमूढया।
स्वजनेन तथा भिन्नो दूनो हीनो विलज्जते॥८॥

भ्रम से पुत्र स्त्री आदि सम्बन्धी कर्मों में ही आसक्त होकर प्रवृत्त होते हैं, विचार में कभी नहीं प्रवृत्त होते, सो आश्चर्य है ॥४॥ महाजाल से खींची गई मछलियाँ जैसे जल में से स्थल (भूमि) में उद्धृत (प्राप्त) होती हैं, तैसे ही मोहजाल से खींचे गये मनुष्य भी सत्य स्वरूप से भूमि में प्राप्त होते हैं ॥५॥ हस्तिनिमित्तक पाश (बन्धन) में जैसे हाथी बँधता है, मृगनिमित्तक पाश में मृग बँधता है, तैसे मनुष्य भी स्वसम्बन्धीनिमित्तक पाश में बन्धता है ॥६॥ जैसे लोहा से ही अन्य लोहा काटा जाता है, तैसे यह मनुष्य भी स्वजन से ही संछिन्न (सम्यक् खण्डित) खिन्न (कृश दुःखी) पन्न (भ्रष्ट-च्युत) सदा होगा, होता है ॥७॥ जैसे कोई स्त्री अति मूढा किसी स्त्री से ही भिन्ना (भेदिता) होती है, तैसे ही स्वजन से ही भेदित (दारित) पुरुष दून (संतप्त) हीन (सत्पुरुषों से त्यक्त) होकर विलज्जित होता है ॥८॥

(पा० १ हस्तिनि फन्दे। २ मृगी के। ३ परई। ४ जस काटु सयाना। ५ पहिंचाना।)

साखी ।

नारी रचन्ते पुरुषा, पुरुष रचन्ते नारि ।
पुरुषहिं पुरुषा जो रचै, सो विरला संसारि ॥५०॥

रागेण बद्धः कुरुते स्पृहां जनस्ततोऽतिबन्धं लभते निरन्तरम् ।
अतश्च रागं निपुणा विधूय तं, क्रीडन्ति रामे भवकानने नहि ॥ ९ ॥

रमन्ते पुरुषाः स्त्रीषु लालसन्ति च लब्धये ।
लब्ध्वा सक्ता भवन्त्यासु स्त्रियोऽपि पुरुषेषु च ॥१०॥

ये तु सत्पुरुषाः सत्सु पुरुषेषु गुरौ हरौ ।
आत्मन्येव रमन्ते ते भवन्ति विरला भुवि ॥११॥

मोहोन्मत्तमनोवशंवदतया बद्धो ममत्वैर्जनो,
रागान्धो रमते स्त्रियां सुखधिया पुत्रादिलाभेच्छया ।
योषैषाऽपि तथैव बद्धहृदया पुंस्येव कान्ते यथा,
भक्त्या बन्धविघातकेऽतिविमले सन्तो रमन्ते तथा ॥१२॥

राग से बद्ध मनुष्य इच्छा करता है, तिससे सदा अतिशय बन्धन पाता है । इससे निपुण लोक उस राग को नष्ट करके राम में क्रीड़ा करते हैं, संसार जंगल में नहीं ॥९॥

पुरुष स्त्रियों में रमते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये लालसा (अत्यन्त इच्छा) करते हैं, या उसके लिये बार २ अतिशय सम्बन्ध व्यापारादि करते हैं, और उसे पाकर उसमें आसक्त होते हैं, और स्त्रियाँ भी पुरुषों में आसक्त होती हैं ॥१०॥ और सत्पुरुष सत्पुरुषों में गुरु में हरि में आत्मा ही में रमते हैं, सो भूमि में विरल होते हैं ॥११॥ मोह से उन्मत्त मन के वशंवदता (अधीनता) से ममताओं से बँधा रागान्ध मनुष्य जैसे सुखबुद्धि से पुत्रादि की प्राप्ति की इच्छा से स्त्रियों में रमता है, तैसे ही जिस प्रकार यह स्त्री बद्ध (संयत) हृदयवाली होकर कान्त (सुन्दर) पुरुष में ही रमती है, तैसे भक्ति से बन्धनाशक

एकान्तशीला गतमानमत्सराः, सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तका नराः।
केचिद्भवन्तीह सुसाधवो जना, रामे परप्रीतियुता विमुक्तिगाः॥१३॥
इति रमैनीरसोद्रेके आसक्त्या ज्ञानदौर्लभ्योपदर्शनं नाम द्वाविंशतितमः प्रवाहः॥२२॥

अतिविमल में सन्त रमते हैं ॥१२॥ एकान्त (अतिशय) शील (सुन्दर स्वभाव-पवित्र चरित्र) वाले, मान (गर्व) मत्सर (अन्य शुभ द्वेष) से रहित, सब इन्द्रियों के प्रति सुखों प्रेमों का निवारक राम में परम प्रीति (प्रेम) युक्त विमुक्तिगामी कोई (विरल) सुन्दर साधु जन यहाँ होते हैं ॥१३॥

अक्षरार्थ– गुरुरूप से मोहि (मुझे) कहते (मोह त्यागादि का उपदेश देते) चार युग हो गये; परन्तु लोक समझते नहीं हैं, किन्तु मोहादि वश कहते हैं कि–यह मेरा पुत्र है, यह मेरी नारी है। अर्थात् महात्मा लोक सदा सङ्ग आसक्ति आदि का त्याग के लिये उपदेश देते हैं, परन्तु समझने विना लोक आसक्ति ममता करके रागद्वेष हिंसा आदि करते हैं, स्त्रीपुत्रादि चाहते हैं, समझते हैं कि इससे वंश स्थिर होगा, जिससे कल्याण होगा इत्यादि। परन्तु जैसे बांस में आपस के रगड़ा से अग्नि पैदा होती है, और उससे बांस सहित वन जल जाता है, तैसे ही कुलादि के अभिमानियों में रागद्वेषादि होते हैं, जिससे उनका नाश होता है, तौ भी भ्रम से सत मार्ग को भूल कर मनुष्य कुलादि के धन्धा (व्यवहार) में ही पडे (लगे आसक्त) रहते हैं।

इस स्नेह मोहादि बन्धन को नहीं काटने से ही–

जैसे पोसुआ शिक्षित हाथी के फन्दे (फांस) में जंगली हाथी फंस के रहता है, मृगा के फन्दे में मृगा रहता (पडता) है, तैसे ही स्वजाति कुल पुत्रादि के फन्दे में मनुष्य भी रहते पड़ते हैं। जैसे अन्य लोहा को क्रूर लोहा काटता है, तैसे स्वजाति के लोक अल्पशक्ति वाले को पीडित करते हैं। जैसे स्त्री का तत्त्व (स्वरूप-स्वभाव) को दूसरी

तिया (स्त्री) से ही जाना जाता है, तैसे किसी का सम्बन्धी से ही उसका भेद मालूम होता है। अर्थात् ममता आसक्ति आदि से मनुष्य हाथी मृग तुल्य बन्धन में पड़ता है। लोहा तुल्य ताप छेदादि सहता है। व्यभिचारिणी स्त्री के समान सत्य धर्मादि को गमाता है। इससे ममता आदि अनर्थ कारक हैं, अनुचित ममतादि को अवश्य त्यागना चाहिये।

मोह कामादि को त्यागने विना, मोहादि वश नारी पुरुष को रचती (गर्भ धारण से सृष्टि करती) है। वीर्य दान से पुरुष स्त्री को रचता है। तथा स्त्री में पुरुष रचते (आसक्त होते) हैं, पुरुष में स्त्री रचती (आसक्त होती) है। परन्तु जो स्वयं पुरुष (स्वतन्त्र जितेन्द्रिय ज्ञानी) होकर पुरुष को रचे (सिद्ध करे) तथा हरि गुरु आत्माराम में रमे आसक्त प्रेमी होय, सो पुरुषोत्तम संसार में विरला होता है। वही माया के फन्दों से छूटता है, अन्य लोक हस्ती आदि की नाई फन्दों में पड़ते हैं। और इस रमैती में (कहइत मोहि भेल युग चारी) इस कथन से बहुत लोक कबीर साहेब के चारों युग में अवतार मानते हैं, और (समुझे की मति एक है) इस कथन के अनुमार सब ज्ञानियों में अभेद दृष्टि से यहाँ का कथन है, कोई इस प्रकार कहते हैं। अन्य अधिकारियों के समान चारों युग में अवतार माना जाय तौभी कोई हानि नहीं है, निवृत्तिमार्ग के अधिकारी जीवन्मुक्त रहते भी एक कल्प तक उपदेश देते हैं, झंझट में नहीं पड़ते, प्रवृत्ति मार्गवाले झंझट में भी पड़ जाते हैं। कबीर साहब स्वभावसिद्ध निवृत्तिमार्ग के अधिकारी हैं, चाहे चारों युग में होवें, या कलियुग में ही होवें, इसमें कुछ भेद नहीं हैं। इस रमैनी के आशय को समझने विना बहुत लोकों ने उनके स्त्री आदि का वर्णन किया है। और उनके नाम पर बहुत वचन भी भरसक भ्रम से रचे गये हैं। मोर सुत नारि, के स्थान में मोहि सुत नारी, पाठान्तर है। वहाँ मोहि का मोहित होकर अर्थ है ॥५०॥

धारणारहस्यप्रकरण २३

मायाजन्य मोहादि से कितने लोक विचारादि अहिंसादि शुभ धारणाओं को त्याग कर, नाम चरित्रादि का गान वेषादि मात्र से ही मुक्ति मानते हैं, कोई मांसमद्यादि स्त्रीपुत्रादि को त्याग कर भी नामादि का गान वेषादि मात्र से कल्याण समझते हैं; उन्हें विचारादि में प्रवृत्त कराने के आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ५१

जाकर नाम अकहुवा भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥
कहै के तात्पर्य है ऐसा। जस पन्थी वोहित चढि बैसा॥

योऽवाच्यः सर्वशब्देन लक्ष्यो भङ्ग्या कयापि च।
तस्यात्र रमणं लोके किं लोकैः परिगीयते॥ १॥
अस्य मे वचसो भावश्चेत्थं मे हृदि वर्तते।
यथाऽत्र पथिकः कश्चिन्नावमारुह्य सुस्थिरः॥ २॥
गच्छेन्महोदधेः पारमचलस्वप्रतिष्ठया।
एवं धारणया धीरो वैराग्यरसरक्तया॥ ३॥

जो सब शब्दों से अवाच्य (अकथनीय) है, और किसी भङ्गी (इतर निषेधादि रीति) से लक्ष्य (लक्षण द्वारा ज्ञेय) है, उसका इस लोक (भारत-भुवन) में लोकों (जनों) से रमण क्या गाया जाता है॥१॥ इस मेरे वचन का भाव (तात्पर्य) मेरे हृदय में इस प्रकार है कि, जैसे कोई पथिक नाव पर चढ कर, सुन्दर स्थिर होकर, अचल अपनी प्रतिष्ठा (स्थिति) से ही महोदधि (महान् समुद्र) के पार जाता है। इसी प्रकार वैराग्य रस (वीर्य) से रक्त (अनुरक्त

---

१ 'विचारवैराग्यवता चेतसा गुणशालिना। देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम्'॥ योगवा० प्र० ५।६। 'वेद्मीति यद्बलादाह न वेद्मीति च यद्बलात्। योगिनोऽनुभवत्येतमगोचरतयैव हि'॥ अनुभूतिप्रकाशः १७।११५।

है कछु रहनि गहनि की बाता । बैठा रहै चला पुनि जाता ॥
रहै बदन नहिं स्वांग स्वभाऊ । मन अस्थिर नहिं बोलै काऊ ॥

ज्ञानं तरिं समासाद्य संसाराब्धेः परं व्रजेत् ।
नैवं रमणगानेन रहस्यरहितेन वै ॥ ४ ॥
यथा नावि समारूढो ह्यगच्छन्नपि गच्छति ।
एवं ज्ञानेन तत्त्वस्य स्थिरो मुक्तिं निगच्छति ॥ ५ ॥
यतः शमादियुक्तेन विचारसहितेन च ।
रहस्येन परा मुक्तिस्ततोऽस्यान्वेषणं कुरु ॥ ६ ॥
तद्गुह्यं योऽभिजानाति स वेषैर्न तनुं स्विकाम् ।
संभण्डयति शुद्धात्मा न वक्ति चलमानसः ॥ ७ ॥
प्रत्याहृत्येन्द्रियं स्वं सदितरविषयान्नासाग्रनयनो,
ध्यायन् सत्यं हृदब्जे जनिमृतिरहितं ब्रह्मात्मपुरुषम् ।
आसीनो वाऽत्र गच्छन् स्थिरतरमनसा सर्वेन्द्रियगणं,
कृत्वा मौनी वशे स्वे जगदुदधितटं शीघ्र स लभते ॥ ८ ॥

रञ्जित) धारणा (मर्यादा-स्थिति) से ही धीर पुरुष ज्ञानरूप तरि (नौका) को प्राप्त करके संसार समुद्र से पर (दूर) उत्तम स्थान में जाता है। रहस्य (धारणादि) रहित रमण गान से इस प्रकार नहीं जा सकता है ॥२-४॥ जैसे नाव में बैठा हुआ पैरादि से नहीं चलता हुआ भी देशान्तर में जाता है। तत्त्व (परमात्मस्वरूप) का ज्ञान से इसी प्रकार स्थिर पुरुष भी मुक्ति पाता है ॥५॥ जिससे शमादि युक्त विचार सहित रहस्य (परम गुप्त ज्ञान धारणा) से परा मुक्ति होती है, तिससे इस रहस्य का ही अन्वेषण (खोज) करो ॥६॥ उस गुह्य ज्ञान तत्त्व को जो जानता है, सो शुद्धात्मा वेषों से अपने देह को संभूषित नहीं करता है, न चञ्चल मनवाला होकर बोलता है ॥७॥ सत् से भिन्न विषयों से अपनी इन्द्रिय को रोक कर, नासिकाग्र में नयन लगा कर, 'जन्ममरणरहित ब्रह्मात्मा

साखी ।

तन रहये मन जात है, मन रहये तन जाय ।
तन मन एकै ह्वै रहै, हंस कबीर कहाय ॥५१॥

तनुस्तिष्ठति सन्मार्गे मनो याति कुवर्त्मसु ।
मनस्तिष्ठति मार्गे वा तनुरन्यत्र धावति ॥ ९ ॥
एतदुक्तमभव्यानां भव्यानां त्विदमुच्यते ।
तन्वा स्वान्तेन चैकः सन् मार्गो देवो निषेव्यते ॥१०॥
यदा विवेकतश्चैवं वर्तन्ते मनुजा भुवि ।
तदा ते वै निगद्यन्ते हंसा वा परहंसकाः ॥११॥
न बिभेति यदा जन्तुर्यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं स पश्यति ॥१२॥
यदाऽसौ सर्वभूतेभ्यो न द्रुह्यति न काङ्क्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा' ॥१३॥५१॥

पुरुष का हृदय कमल में ध्यान करता हुआ, यहाँ आसीन (बैठा हुआ) वा चलता हुआ, स्थिरतर मन से सब इन्द्रियगण को अपने वश में करके जो मौनी होता है, सो संसार समुद्र के तट को शीघ्र पाता है ॥८॥

शरीर सन्मार्ग में रहता है, और मन कुमार्गों में जाता है, वा मन सुमार्ग में रहता है, देह कुमार्ग में दौडता है ॥९॥ यह कर्म अभव्य (अशुभ-अयोग्य-असत्यनिष्ठ) लोकों का कहा गया है, भव्य (शुभ योग्य) लोकों का यह कहा जाता है कि, तन मन द्वारा उन भव्यों से एक ही सत् मार्ग सत देव सेवा जाता है ॥१०॥ जब मनुष्य विवेक से इस प्रकार भूमि में रहते हैं, तब वे हंस वा परमहंस कहे जाते हैं ॥११॥ महाभारत शा० २१४–५ का कथन है कि जब मनुष्य आप नहीं डरता है, न इससे अन्य डरते हैं, और काम द्वेष को जीतता है तब वह आत्मा को देखता है ॥१२॥ जब वह सब भूतों से द्रोह नहीं करता है,

न इच्छा करता है, कर्म मन वचन से इस प्रकार करने पर तब वह ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥१३॥

अक्षरार्थ– हे भाई ! जाकर (जिस परब्रह्म सत्यात्मा का) अकहुआ (अकह अवाच्य) नाम है (प्रसिद्धि है) (यद्वाचाऽनभ्युदितम् । केन १।४) जो वचन से नहीं कहा जाता, वाणी का अविषय इन्द्रियाऽगोचर है, ताकर (उसकी) रमैनी (क्रीड़ा लीला आदि) क्या गाते हो। कुछ विचारादि करो, वह केवल गाने की वस्तु नहीं है। शंका हुई कि, रमैनी नहीं गाया जाय तो, फिर आप क्या करने के लिये कहते हो, आपका क्या तात्पर्य है ? तब कहते हैं कि, इस कथन से यह नहीं समझना कि, मैं अकह की चर्चा का ही निषेध कर रहा हूं, किन्तु इस मेरे कथन का ऐसा भाव (तात्पर्य) है, कि जैसे पथिक वोहित (नौका) पर चढ कर बैठता है, तब पार होता है। और बैठने विना नौका वा नाविक के नाम चरित्रादि के गान से नहीं पार होता। और नौका पर बैठने वाला भी द्वन्द्वरहित शान्त बैठने से ही जैसे पार जाता है तैसे ही–

संसार सिन्धु से पार होने में कुछ रहनी (विवेक वैराग्यादि) की गहनी (धारणा) शमाचरणादि की बात (आवश्यकता) है, तथा रहनी आदि की जो बात (उपदेश) हैं, उनके श्रवणादि कर्तव्य हैं, और शुभ रहनी पूर्वक आत्माराम की गहनी (अनुभवादि) की बात है। फिर जैसे नौका पर धारणा से बैठा हुआ, पार दूर देश में चला जाता है, तैसे ही धारणा से सद्वस्तु सत्शास्त्रादि में निष्ठावाला संसार से पार चला जाता है। और धारणावाला बदन (देह) पर स्वांग (वेष) बनाने के स्वभाववाला नहीं रहता है, न अस्थिर (चञ्चल) मनपूर्वक किसी से कुछ बोलता है। किन्तु साधारण वेष से रहकर शान्तिपूर्वक बोलता है इत्यादि।

किसीका देह स्थिर रहता है, मन कहीं दौड जाता है, किसी का मन ही स्थिर रहता है, देह संगादि वश दौड जाता है। इन दोनों

अवस्थाओं में पूर्ण हंसदशा नहीं आती है। जब तन मन दोनों एक सत धारणायुक्त होकर रहे, तब यह जीव हंस (विवेकी ज्ञानी) कहाता है, और तन मन से एकात्मपरायण होने पर निर्लोभ योगी परमात्मस्वरूप हंस कहाता है, इत्यादि। रमैनी गाने मात्र से नहीं ॥५१॥

मायाजन्य मोह से केवल रमैनी गानेवालों की समझ का वर्णन करते हुए, अपना उपदेश के अधिकारियों की दुर्लभता देखाते हैं कि—

रमैनी ५२

जिहि कारण शिव अजहुं वियोगी। अंग विभूति लाय भौ योगी॥
शेष सहस मुख पार न पावै। सो अब खसम सही समुझावै॥

यस्य रामस्य लब्ध्यर्थं तटस्थस्य शिवः स्वयम्।
अद्यापि सुविरक्तः सन् वियुक्त इव वर्तते ॥१४॥
गात्रे भस्म समालिप्य योगी भूत्वापि सर्वदा।
यशसां यस्य नाद्यापि सोऽन्तं वै गतवान् प्रभुः ॥१५॥
शेषो मुखसहस्रेण यद्गुणान्तं न हीयिवान्।
स एव मानवो भूत्वा सत्यं संदिशति प्रभुः ॥१६॥

तटस्थ (उच्च स्थानस्थ) जिस एक देशी व्यक्त राम की लब्धि (प्राप्ति) के लिये शिवजी स्वयं अब भी सुन्दर विरक्त होकर वियुक्त (राम से भिन्न) वियोगी तुल्य हैं ॥१४॥ और प्रभु (ईश्वर-स्वामी) भी वह शिवजी शरीर में भस्म लेप (लगा) कर, सदा योगी होकर भी जिस राम के यशों का अबतक भी अन्त नहीं पाये ॥१५॥ शेषजी हजार मुखों से जिस राम का गुणों के अन्त तक नहीं पहुंचे। सोई प्रभु मनुष्य होकर सत्य संदेश (उपदेश) कहता है कि, इस योग रीति से

[1]'ऐसी विधि जो मो कहँ धावै । छठये माँह सो दर्शन पावै ॥
कौन हुं भाव दिखाई देऊं । गुप्ते रहि सुभाव सब लेऊं ॥

साखी ।

कहहिं कबीर पुकारिके, सब का उहे विचार ।
कहा हमार मानै नहिं, किमि छूटै भ्रम जाल ॥५२॥

अनेनैव प्रकारेण मां यो ध्यायति नित्यशः ।
षष्ठे मासे ध्रुवं तेन दर्शनं मम लभ्यते ॥१७॥
अहं केनापि भावेन तद्दृष्टेर्गोचरो भवन् ।
गृह्णामि भावसर्वस्वं गुप्त एव समाचरन् ॥१८॥
उक्तः सर्वस्य लोकस्य विचारोऽत्र प्रवर्तते ।
मन्यते नैव सद्वाक्यं सद्गुरोरुपदेशनम् ॥१९॥

तन मन एक करके जो सदा मेरा ध्यान करता है, उसे छठमे मास में मेरा दर्शन अवश्य मिलता है ॥१६-१७॥ मैं किसी भाव (पदार्थ वा ईश्वरीय रूप से उस ध्याता की दृष्टि गोचर (विषय) होता हुआ, उस ध्याता के भाव (स्वभाव-तात्पर्य-प्रेम) रूप सर्वस्व को गुप्त ही आचरण करता हुआ ग्रहण करता हूं ॥१८॥

---

१ 'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव । एकाग्रं चिन्तयन नित्यं योगान्नोद्विजयेन्मनः ॥ येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः । तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत्ततः ॥ शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च । शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत् ॥ नाभिष्वजेत्परं वाचा कर्मणा मनसापि वा । उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत् ॥ यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत् । समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम् ॥ न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत् । समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः ॥ एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः । षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' ॥ म०भा०शा० २४०। २६-३२ । श्रीव्यासदेवस्योक्तिरियम् ॥ कोष्ठ०-हृदये । भाण्डं-धनाद्युपकरणं तन्मना इव । येनोपायेन-व्यक्ताव्यक्तालम्बनेन । नाभिष्वजेत्-न परिगृह्णीयात् ॥

हंसत्वसाधकं साक्षात् परतत्त्वस्य बोधकम् ।
कथं नश्यतु वै भ्रान्तिर्महानर्थप्रसाधिका ॥२०॥
यद्वा शिवश्च शेषाद्या यस्यान्तं न विदुर्बुधाः ।
स स्वयं गुरुमूर्तिस्थः सत्यं संदिशति प्रभुः ॥२१॥
गुरुभिः प्रोक्तमार्गेण यो मां ध्यायति नित्यशः ।
पञ्चकोशात्परे मां स पश्यत्येव निजात्मनि ॥२२॥
येन केनापि भावेन यो ध्यायति निरन्तरम् ।
तद्दर्शनपथे भूत्वाऽव्यक्तो भावं तु भावये ॥२३॥
इत्येवं सर्वविज्ञानां विचारो वर्तते सदा ।
मन्वते चेज्जना नैव कथं भ्रान्तिर्विलीयताम् ॥२४॥५२॥

इति रमैनीरसोद्रेके धारणारहस्यवर्णनं नाम त्रयोविंशतितमः प्रवाहः ॥२३॥

यहाँ सब लोकों का उक्त (पूर्ववर्णित) ही विचार (विचारणा) है। सद्गुरु का उपदेश रूप सत्य बात को कोई नहीं मानता है ॥१९॥ जो सद्गुरु का सत्य वाक्य हंसत्व का साधक है, परतत्व का साक्षात् बोधक है, उसको नहीं मानता है, तो महा अनर्थ को प्रसिद्ध करनेवाली भ्रान्ति कैसे नष्ट हो ॥२०॥ यद्वा शिव शेषादि बुध (ज्ञानी) विद्वान् लोक जिस अनन्त का अन्त को नहीं जानते, सो प्रभु स्वयं गुरुमूर्ति में स्थिर होकर सत्य उपदेश करता है कि, जो प्राणी गुरुओं से कथित मार्ग द्वारा मेरा नित्य ध्यान करता है, सो पांच कोश से पर (अन्य) निजात्मा में मुझे देखता है ॥२१-२२॥ जिस किसी भाव (अभिप्राय) से निरन्तर ध्यान करता है, उसके दर्शनपथ (दृष्टिगोचर) होकर, अव्यक्त रूप रहकर, भी उसका भाव को सिद्ध स्वीकार करता हूं ॥२३॥ इस प्रकार सब विशेषज्ञों का सदा विचार होता है। यदि मनुष्य नही मानते हैं, तो भ्रान्ति कैसे विलीन हो ॥२४॥

अक्षरार्थ–जिहि कारण (जिस तटस्थ राम की प्राप्ति के लिये) शिवजी अजहु (अबतक) वियोगी विरही विरक्त भक्त बने हैं। अंग (देह) में विभूति

(भस्म) लाय (लगा) कर योगी हुए हैं। हजार मुखों से शेष भी जिसके गुणों को गाकर पार नहीं पाते हैं, सो (वही) खसम (स्वामी) अब (सृष्टिकाल में) प्रगट होकर सही (सत्य) तत्त्व मार्गादि समझाता है कि, ऐसी विधि से (शिवादि के समान योग विधि से तन मन को एक करके) जो मो कहँ धावै (मेरा ध्यान करता है) सो छठमे मास में मेरा दर्शन पाता है। पांच तत्त्व से परे छठमा अपने स्वरूप में मेरा दर्शन पाता है। किसी न किसी भाव (देवादि स्वरूप) से मैं उसे दिखाई (दर्शन) देता हूं और गुप्त ही रहकर उसके सब सुन्दर भक्ति भावादि को लेता (स्वीकार करता) हूं, इत्यादि।

भागवत स्कन्ध० २।७।४१। ब्रह्माजी का नारदजी के प्रति कथन है कि, (नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते, मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः, शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥) मैं वा तेरे अग्रज ये मुनि मायाबलवाले पुरुष के अन्त को नहीं जानते हैं। फिर अन्य कैसे जान सकते हैं। हजार मुखवाला आदि देव शेष भी इसके गुणों को गाते २ अबतक पार नहीं पाते हैं, इत्यादि।

कबीर साहब पुकार कर कहते हैं कि, प्रायः सब लोकों का उहे (वही) पूर्ववर्णित ही विचार (समझ) है, और हमार (ज्ञानी गुरु का) कहा कोई नहीं मानते हैं, रहनी नहीं गहते हैं, तटस्थ बुद्धि नहीं त्यागते हैं, तो भ्रमजाल किमी (कैसे) छूटै। धारणापूर्वक आत्मविचारादि विना ध्यान गुणगानादि से भी भ्रम समुदाय की निवृत्ति नहीं हो सकती ॥५२॥

दुराशाप्राबल्यप्रकरण २४

प्रथम तटस्थेश्वरवादी का विचार कहा गया है, फिर उस वाद में युक्तिशून्यता आदि का वर्णन करते हैं कि—

रमैनी ५३

महादेव मुनि अन्त न पाया । उमा सहित उन जन्म गमाया ॥
उन हूं से सिध, साधक कोई । मन निश्चय कहु कैसे होई ॥
जब लग तन में आहै सोई । तब लगि चेति न देखैं कोई ॥

महादेवो मुनिर्यस्य नान्तं वेद कदाचन ।
उमया सहितः सोऽत्र जीवनं यापयत् प्रभुः ॥ १ ॥
किं ततोऽपि भवेत् कश्चित् सिद्धो वा साधको महान् ।
यो वेत्स्यति हि तत्त्वेन निश्चयोऽपि यतो भवेत् ॥ २ ॥
[1]यदन्तं न शिवोऽविन्दत्तदन्तनिश्चयः खलु ।
कथं मनसि संभाव्यः केनापि पुरुषेण वै ॥ ३ ॥
अहो यन्महिमाऽनन्तो यश्चानन्तः स्वयंप्रभः ।
अस्मिन् स वर्तते देहे मानवे जीवरूपतः[2] ॥ ४ ॥

महान् देवरूप मुनि (मन्ता-ज्ञानी) जिसके अन्त (स्वरूप-अन्त्य-निश्चय) को कभी नहीं जाने, और सो प्रभु (ईश्वर) महादेव, यहाँ उमा (पार्वती) सहित अन्त की खोज में जीवन बीता दिये; तो क्या उन से भी कोई सिद्ध वा साधक महान् (बड़ा) होगा कि जो तत्त्व (सत्यस्वरूप) से जानेगा और जिससे निश्चय भी होगा ॥१–२॥ जिसके अन्त को शिवजी नहीं पाये, उस के अन्त का निश्चय किसी भी पुरुष से मन में कैसे किया जा सकता है ॥३॥

आश्चर्य है कि जिसकी महिमा (महत्त्व) विभूति अनन्त (असंख्य)

---

१ 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः' ॥ बृ० ४।४।२०

२ 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्' ॥ कठोप० २।५।९–१२

तब चेति हो जब तजि हो प्राणा । भया [1]यान तब मन पछताना ॥
इतना सुनत निकट चलि आई । मन विकार नहिं छूटी भाई ॥

यावत्स वर्तते तावन्न यः पश्येद्विवेकतः ।
स किं प्राणात्यये सम्यग् भोत्स्यते मूढमानसः ॥ ५ ॥
मरणे चेह संप्राप्ते पश्चात्तापेन तप्यते ।
आधिनैतन्मनः शश्वत् पीड्यते खिद्यते भृशम् ॥ ६ ॥
एतावच्छृण्वतां तावन्मरणं समुपस्थितम् ।
मनसो ये विकारास्ते न नष्टा न तिरस्कृताः ॥ ७ ॥
एतावच्छ्रवणाद् यद्वा मोक्षमार्गादिसन्निधौ ।
केचित्प्राप्तास्तथाप्येषां मनोदोषो न नश्यति ॥ ८ ॥

है, और जो स्वयंप्रकाश अनन्त (अपार अविनाशी) है । सो इस मानव देह में जीवरूप से पैठा है ॥४॥ जबतक वह है, तबतक जो विवेक से उसे नहीं देखता है, सो मूढ मनवाला क्या प्राणनाश होने पर सम्यक् (अच्छी तरह) समझेगा ॥५॥ यहाँ मरण के सम्यक् प्राप्ति होने पर तो प्राणी पश्चात्ताप से तप्त होता है । यह मन सदा आधि (मानस दुःख) से पीडित होता है, अत्यन्त खेद दुःख पाता है ॥६॥ इतना वचनों को सुननेवालों का तबतक मरण भी सम्यक् पास में आय गया, परन्तु जो मन के विकार हैं, सो न नष्ट हुए, न तिरस्कृत (अनादृत) हुए ॥७॥ अथवा इस बचन के श्रवण से कोई मोक्षमार्गादि के पास में (धर्मपथ में) आये, तौभी इनके मन का दोष (कामादि) नहीं नष्ट होता है ॥८॥

१ अन्त, और अयान, पाठान्तर है । अन्त का मरण, अर्थ है । अयान का अज्ञान बदहोस अर्थ है । करण ल्युटन्त यान शब्द रथ का वाचक है, परन्तु यह भाव ल्युडन्त गति यात्रा का वाचक है ।

साखी ।

तीनि लोक में आयके, छूटि न काहु कि आश।
एक अँधरा जग खाइया, सब का भया विनाश ॥५३॥

त्रिलोक्यां हि जनेर्लाभात् केषाञ्चिन्नाविवेकिनाम् ।
आशापाशाद्विमोक्षोऽभूद् विकारान्मनसस्तथा ॥ ९ ॥
अतश्चैको महान्धोऽयं कालः स्वस्वान्तमेव हि ।
खादतिस्म जगत् सर्वं सर्वे नष्टास्ततोऽभवन् ॥१०॥
न यावद्विवेको मतौ संस्फुरेत्सन् भवेन्नैव यावत्त्रिलोकेष्वनास्था।
न चाशा पिशाची विनष्टा च यावन्न तावन्मनःपाशकालाद्विमुक्तिः ॥११–५३॥

इति रमैनीरसोद्रेके दुराशाप्राबल्यवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमः प्रवाहः ॥२४॥

त्रिलोकी में जन्म मिलने से किसी अविवेकी का आशारूप पाश (जाल बन्धन) से तथा मन का विकार से मोक्ष नहीं हुआ ।९॥ इससे यह अत्यन्त अन्ध एक काल स्वरूप अपना स्वान्त (मन) ही सब जगत को खा गया, तिससे सब नष्ट हुए ॥१०॥ जब तक बुद्धि में सत विवेक संस्फुरित (प्रगट) नहीं होता है, न जबतक तीनों लोकों में अनास्था (अनपेक्षा) होती है, न जबतक आशारूप पिशाची विनष्ट होती है, तबतक मन का पाशरूप काल से विमुक्ति नहीं होती ॥११॥

अक्षरार्थ– महादेवजी ऐसे मुनि (ज्ञानी) ने, या महादेवजी और अन्य मुनियों ने भी जिस तटस्थ राम का (ईश्वर का) अन्त नहीं पाया, और अन्त पाने के लिये ध्यानादि करते २ उन (शिवजी) ने पार्वती सहित जन्म बीताया । तथा उनसे अन्य जे कोई सिद्ध साधक हुए, सो भी अन्त नहीं पाये; तो उसका निश्चय किसीके मन में कैसे होय, सो कहो (समझो) । अथवा उमा सहित शिवजी अन्त नहीं पाये, तो क्या

उनसे भी बड़ा कोई सिद्ध वा साधक होगा, जो अन्त पावेगा, अन्त पाने विना मन में निश्चय कैसे हो, सो कहो। भाव है कि, तटस्थ ईश्वर की विभूति आदि अन्तवाले ही होंगे, और उसे सर्वथा जानने विना सत्य ज्ञान भक्ति आदि नहीं हो सकते; इससे वस्तुत: सर्वात्मा होने से अनन्त ब्रह्मरूप जिस राम के अन्त को शिवजी आदि नहीं पाये, और उसको आत्मस्वरूप जान कर उन्होंने जन्मादि भ्रम को नष्ट किया उस अनन्त ब्रह्मात्मा के अन्तादि खोजना व्यर्थ और अज्ञानजन्य है। यदि उसके आदि अन्त का कोई वर्णन भी करे, तो विचारवान् के मन में निश्चय कैसे हो सकता है। वह तो अनन्त ही समझेगा, इत्यादि (उनसे सिद्ध साधक नहिं कोई) यह पाठान्तर है।

आश्चर्य है कि जिस अनन्त के आदि अन्त को सब खोजते हैं, जिसके भक्त शिवजी आदि को कहते हैं, सोई सर्वात्मा जबलग (जबतक) इस मानवदेह में आहे (जीवरूप से प्रगट है) तबतक कोई रहनी गहकर चेतकर (विचारादि करके) नहीं देखते (जानते) हैं। क्या तब चेतोगे, कि जब प्राण त्यागोगे। अरे! उस समय तो जब यान (यात्रा) भया कि तब मन में पछताना (पश्चात्ताप करना) होगा। इतनी बातों को सुनते २ भी मरण निकट (पास) में आ गया, परन्तु हे भाई! विचारादि विना किसी का मन के विकार (कामादि) नहीं छूटा। या इन बातों को सुनने पर किसी की बुद्धि कुछ सत मार्ग के पास आई, परन्तु मन अपने विकारों को नहीं छोडता है। यहाँ से वैराग्य होने पर भी अन्य लोकादि की आशा नहीं छूटती है।

तीनों लोक में कहीं भी जन्म लेकर आने से काहु की (किसीकी) आशा तृष्णादि विचारादि विना नहीं छूटी। और आशा आदि के रहने पर अविवेकी मनरूप एक अन्धा ने कालरूप होकर सबको खा गया, जिससे सबका विनाश भया (हुआ)। अर्थात् आत्मज्ञान विना, तुर्यावस्था

की प्राप्ति विना, किसी लोक देवादि की प्राप्ति से आशा का अभाव नहीं होता, और उसका अभाव विना कल्याण नहीं होता, इससे सबको मिथ्या जान कर निराशतापूर्वक आत्मस्थिति के लिये यत्न करना चाहिये ॥५३॥

मृत्युममत्वप्राबल्यप्रकरण २५

आशातृष्णादि का त्याग के लिये मरणादि का वर्णन करते हैं, या देवों में भी अभ्युपगमवाद से कालवशता बताते हैं कि—

रमैनी ५४

मरि गौ ब्रह्मा काशिक बासी । शीव सहित मूये अबिनाशी ॥
मथुरा मरि गौ कृष्ण गोआरा । मरि मरि गये दशो अवतारा ॥

ममारैव स्वयं ब्रह्मा[1] काशीवासी शिवस्तथा ।
अविनाशी मृतः क्वापि गतः केन न बुध्यते ॥ १ ॥
मथुरायाश्च कृष्णोऽपि गोपास्तद्वल्लभास्तथा ।
अवतारा मृताः सर्वे कल्पभेदेषु ये श्रुताः ॥ २ ॥
यैश्च भक्तिः कृता शश्वद् गुणे निर्गुणधीस्तथा ।
यैर्लब्धा ते मृता यत्र तत्र को न मरिष्यति ॥ ३ ॥

स्वयं ब्रह्मा भी मरे, तथा स्वरूप से अविनाशी काशीवासी शिव भी मरे, और कहाँ गये सो किसीने जाना नहीं ॥१॥ और मथुरा के श्रीकृष्ण जी तथा उनके वल्लभ (प्यारे) गोप, कल्पभेद में जो सुने गये अवतार, सो सब मर गये ॥२॥ जिन्होंने सदा भक्ति किया, तथा जिन्होंने गुण (सगुण) में निर्गुण की बुद्धि (ज्ञान) पाया, वे भी जहाँ मरे, तहाँ

---

१ 'ब्रह्मा विष्णविन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम् । तेषामप्यतिकल्पान्ते नामापीह न विद्यते' ॥ योगवाशिष्ठ०. ५।४३।३०॥

मरि मरि गये भक्ति जिन ठानी । सर्गुण में जिन निर्गुण आनी ॥

साखी ।

नाथ मछन्दर छुटे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास ।
कहहिं कबीर पुकारि के, परे काल के फांस ॥५४॥

सकलं जगत् क्षणभङ्गुरं जनिमृत्युभागि चराचरं,
परमेष्ठिविष्णुहरैर्युतं ह्यवतारभक्तसमन्वितम् ।
गुणसङ्गनिर्गुणबोधिनो नहि तेन केऽपि मृतिं विना,
समवस्थिता ननु मोहतः स्थिरता विभाति जगत्त्रये ॥ ४ ॥
मत्स्येन्द्रो हि महायोगी गोरक्षो दत्त एव च ।
व्यासोऽपि च महाविद्वान् कालपाशेऽपतद् ध्रुवम् ॥ ५ ॥
एतत् सर्वं विदित्वापि जीवनस्य दुराशया ।
न जानन्ति परं तत्त्वं वसन्तोऽमी कलेवरे ॥ ६ ॥
अहो दौर्भाग्यमेतेषामाभाष्य कथयाम्यहम् ।
कथ्यमानं न शृण्वन्ति कुर्वन्ति च निजाहितम् ॥ ७ ॥

अन्य कौन नहीं मरेगा ॥३॥ सब जगत क्षणभंगुर (विनश्वर) है, और ब्रह्मा विष्णु शिवयुक्त, अवतारभक्त सहित, सब चराचर जन्ममृत्यु के भागी है, इससे गुणसङ्ग तथा निर्गुण को जानने वाले भी कोई मरण के विना सम्यक् स्थिर नहीं हैं, तौभी मोह से तीनों लोक में स्थिरता प्रतीत होती है ॥४॥

महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, दत्तात्रयजी भी, और महाविद्वान् व्यासजी, ये सब भी कालपाश (मृत्युवश) में अवश्य प्राप्त हुए ॥५॥ ये सब वृत्त सुन जान कर भी शरीर में रहते ये जीव जीवन की दुष्ट आशा से परतत्त्वं (उत्तम स्वरूप) को नहीं जानते हैं ॥६॥ आश्चर्य रूप इनका दौर्भाग्य (दुष्कर्म-दुष्ट दैव) है कि जिससे मैं पुकार के इनका

न यत्र सिद्धाः स्थिरतां प्रयान्ति हि,
न साधका व्यासमुखा विपश्चितः।
महाबलैः कालगणैर्निपीडिता,
जनश्चिरं स्थैर्यमहो प्रवाञ्छति ॥८॥५४॥

हित कहता हूं, तो भी कहा नहीं सुनते हैं, और अपना अहित आप ही करते हैं ॥७॥ जहाँ सिद्ध लोक स्थिरता नहीं पाते हैं, न साधक वा व्यासादि पण्डित महाबली काल के गणों से निपीडित होकर स्थिरता को प्राप्त कर सकते हैं, आश्चर्य है कि साधारण मनुष्य यहाँ स्थिरता की इच्छा करता है ॥८॥

अक्षरार्थ– ब्रह्मा मर गये, सो काशी के वासी स्वरूप से अविनाशी शिवजी के सहित मुये। मथुरा के वासी कृष्ण जी और गोआर (गोप) सब भी मर गये। और इसी प्रकार हरएक कल्प के दश २ अवतार मर गये। और जिन लोकों ने भक्ति ठानी (किया) और सगुण शरीर में निर्गुण आत्मा को आनी (प्राप्त किया)। या सगुण में ही भूल से निर्गुण बुद्धि किया, वे सब भी मर २ गये, शरीर किसी का नहीं रहा, इससे शरीर रहित आत्मा ही ज्ञेय ध्येय सत्य है। शरीर मिथ्या त्याग योग्य है।

साहब पुकार के कहते हैं कि मछन्दर (मत्स्येन्द्र) सिद्धयोगी, मृत्यु से नहीं छूटे। न उनके शिष्य गोरख, न दत्तात्रेय महात्मा, न व्यासदेव ही मृत्यु से बचे, सब काल के फांस में पडे। किसी का भी शरीर अचल अविनाशी नहीं हुआ, तौभी दुराशा नहीं छूटती, सो आश्चर्य है। और किसी शरीर में ही अविनाशी निर्गुण ईश्वरादि बुद्धि करना भूल है, शरीराभिमानी शरीर सब को काल के वश में जान कर शरीर रहित सत्यात्मा के ज्ञानभक्ति आदि करना ही उचित है, इत्यादि भाव है ॥५४॥

फिर भी वैराग्य, और आशा आदि की निवृत्ति तथा ममता का त्याग के लिये, लौकिक संग सम्पत्ति आदि की असारता को दिखाते हैं कि–

रमैनी ५५

गये राम औ गये लक्ष्मना । संग न गई सीता अस धना ॥
जात कौरव हि लागु न वारा । गये भोज जिन साजल धारा ॥
गये पण्डु कुन्ती सी रानी । सहदेव हुं जिन मति बुधि ठानी ॥
सर्व सोने का लंक उठाया । चलत वार कछु संग न लाया ॥

रामचन्द्रो गतः क्वापि लक्ष्मणो वीरसत्तमः ।
सीता सहचरी धन्या न रामेण गता सती ॥ ९ ॥
कौरवाणां गतौ तावद्वासरा नाधिका ययुः ।
अत्यल्पेन हि कालेन सर्वे ते मानिनो हताः ॥१०॥
भोजराजो गतो येन धाराख्या नगरी शुभा ।
साधितोपस्कृता सम्यक् परिक्षिप्ता च रक्षिता ॥११॥
गतः पण्डुर्गता कुन्ती राज्ञी सूर्यविमोहिनी ।
सहदेवो गतो येन मतिबुद्धी प्रवर्तिते ॥१२॥

श्रीरामचन्द्रजी शरीर छोड़ कर कहीं गये, वीरों में अतिश्रेष्ठ लक्ष्मण गये, साथ चलनेवाली धन्या (पुण्यवती) सती (पतिव्रता) सीता-रामजी के साथ नहीं गई ॥९॥ कौरव (दुर्योधनादि) की गति (जाने) में भी अधिक दिन नहीं गये, अत्यन्त अल्पकाल में ही वे सब अभिमानी मारे गये ॥१०॥ जिस भोजराज ने धारा नामक शुभ नगरी को साधित (सिद्ध प्राप्त) किया, उपस्कृत (शुद्ध संमार्जित भूषित) किया, सम्यक् परिक्षिप्त (परिखादि से वेष्टित) किया, और रक्षित (पालित) किया, सो भोजराज भी गये ॥११॥ पण्डुराजा गये, सूर्य को मोहने वाली उनकी रानी कुन्ती गई । जिस सहदेव ने मति बुद्धि को प्रवर्तित

जाकी पुरी अन्तरिक्ष छाई । सो हरिचन्द देखल नहिं जाई ॥
मूरख मानुष बहुत संयोवै । अपनें मरे और लगि रोवै ॥
इनं जाने अपने मरि जैवे । विभव टका दश औरहि खैवे ॥

यश्च स्वर्णमयीं लङ्कां सर्वां तोलितवान् बलात् ।
प्राबृंहयद्विशेषेण सोऽगच्छन्नाददात्कणम् ॥१३॥
अन्तरिक्षं स्पृशन्तीव नगरी यस्य विस्तृता ।
आसीत् सोऽपि हरिश्चन्द्रो नेह कुत्रापि दृश्यते ॥१४॥
तथापीमे त्वहो मूढा मानवा बहुसंग्रहम् ।
कुर्वन्ति धनवित्तादेर्ममताहतचेतसः ॥१५॥
स्वयं ते म्रियमाणाश्च पुत्राद्यर्थं रुदन्ति चेत् ।
संचिन्वन्तस्तदर्थं च शोकाद्यैश्च तपन्ति ते ॥१६॥
एतन्मूढा न जानन्ति यदस्माकं मृतौ धनम् ।
दशरूप्यादिकं सर्वं तदन्यैरेव भोक्ष्यते ॥१७॥

(प्रस्थापन प्रसिद्धि) किया, सो भी गये ॥१२॥ जो रावण स्वर्णमयी सब लंका को बल से उठा लिया, तथा फिर विशेष रूप से बढाया, सो भी गया, और कण (लेश अणु) मात्र भी साथ नहीं लिया ॥१३॥

अन्तरिक्ष को छूती हुई के समान जिस हरिश्चन्द्र की विस्तृत (बडी) नगरी थी, सो हरिश्चन्द्र यहाँ कहीं नहीं दिखते हैं ॥१४। आश्चर्य है कि तौभी तो ये मूढ मनुष्य ममता से नष्ट चित्त होकर, धन (गवादि) वित्त (प्रख्यात सुवर्णादि) बहुत संग्रह (संचय) करते हैं ॥१५॥ और वे लोक स्वयं मरते हुए भी पुत्रादि के लिये यदि रोते हैं, तो पुत्रादि के लिये संचय करते हुए वे शोकादि से संतप्त (दुःखी) होते हैं ॥१६॥ मूढ लोक यह नहीं जानते हैं कि मरने पर जो कुछ हमारा धन है, दश रुपया आदि है, सो सब अन्य से ही भोगे जायंगे, मैं क्यों रोता हूँ ॥१७॥ यहाँ किसी के साथ अत्यन्त संवास (स्थिति) नहीं होता,

साखी ।

अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु कि साथ ।
अपनी करि गौ रावणा, अपनी दशरथ नाथ ॥५९॥

"नैवात्रात्यन्तसंवासः कस्यचित्केनचित् सह ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्यैर्धनादिभिः" ॥१८॥
ममताहतजन्तुस्तु न क्वचित्सुखमेधते ।
सम्प्रवृत्तस्तया यस्मात् स्थितिमेति न कुत्रचित् ॥१९॥
अस्माकमिदमस्माकमिति कृत्वा गता ह्यतः ।
केनापि नहि किञ्चिच्च संलग्नं संचितं धनम् ॥२०॥
तथापि ममतां कृत्वा यथा वै रावणो गतः ।
तथैव ममतायुक्तो राजा दशरथोऽगमत् ॥२१॥
यावच्च ममता ह्येषा दह्यते न समूलकम् ।
तावद् गतागते चैते नश्यतो नैव कस्यचित् ॥२२॥
"सुखाधिगमलोभेन यतमानो हि पूरुषः ।
सहस्रगुणमाप्नोति दुःखमेव ममेत्वतः ॥२३॥

अपना शरीर का साथ भी नहीं होता, तो अन्य धनादि के साथ कैसे होगा ॥१८॥ और ममता से नष्ट प्राणी तो कहीं भी सुख पूर्वक नहीं बढता है, जिससे उस ममता से सम्यक् प्रवृत्त हुआ कहीं स्थिति नहीं पाता है ॥ ९॥

उक्त ज्ञान के अभाव से यह हमारा है, यह हमारा है, इस प्रकार ममता करके लोक इस देह से गये, और किसी के साथ में कुछ भी सञ्चित धन नहीं लगा ॥२०॥ तौ भी जैसे रावण ममता करके गया, तैसे ही ममतायुक्त राजा दशरथ गये ॥२१॥ और जबतक यह ममता समूल दग्ध नहीं होती, तंबतक किसीके ये गमनागमन (मरण और जन्म) नष्ट नहीं होते हैं ॥२२॥ सुख का अधिगम (प्राप्ति) के लोभ से यतन करता

अनादौ संसारेऽवशमिदमहो मूढमनसाम्,
जनित्वा जन्तूनां मरणमथ मृत्वापि जननम्।
इयं सा दुःखानां सरणिरिति सञ्चित्य कृतिना,
विधातव्यं चेतो जननमरणोच्छेदिनि पदे" ॥२४॥

इति रमैनीरसोद्रेके मृत्युममत्वप्राबल्यवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमः प्रवाहः ॥२५॥

हुआ भी पुरुष ममता से हजारों गुणा दुःख ही पाता है ॥२३॥ क्योंकि आश्चर्यरूप अनादि संसार में मूढ मन वाले प्राणियों को जन्म लेकर मरण, मर कर जन्मना यह अवश्य होना है। और यही जन्म मरण दुःखों की सरणि (मार्ग) है। इस प्रकार विचार समझ कर, कृती (कुशल) प्राणी से यह चित्त जन्म मरण के नाशक पद (स्थान-वस्तु) में विधातव्य (धरणे योग्य) है ॥२४॥

अक्षरार्थ–इस मानव लोक से राम लक्ष्मण गये, रामजी की सीता ऐसी धना (धन्या पुण्या) साथ नहीं गई। दुर्योधनादि कौरव (कुरुवंशी) को जाने में वार (ज्यादा दिन) नहीं लगा, जिस भोजराज ने धारा नाम-वाली नगरी को साजा (सँवारा) सो भी गये। युधिष्ठिरादि के पिता पण्डु गये, कुन्ती ऐसी रानी गई। जिस सहदेव ने मति (भावी ज्ञान) बुद्धि (वर्तमान बोध) को ठाना (प्राप्त प्रचार किया) सो भी गये। जिस रावण ने सम्पूर्ण सोना की लंका को उठाया (उन्नत धारण किया) सो भी चलते (मरते) वार (दिन) कुछ भी साथ नहीं ले सका। खाली ही गया।

जिस हरिश्चन्द्र की पुरी (नगरी) जाई उंचासे मानों अन्तरिक्ष लोक में छाई थी, तथा दान धर्मादि से स्वर्ग तक प्रसिद्ध थी, सो हरिश्चन्द्र आज देखे नहीं जाते हैं। न मरने के बाद जाकर उस नगरी को फिर उन्होंने देखा कि वह कैसी है। तो भी आत्मविचारादि को त्याग कर मूर्ख मनुष्य बहुत संयोवता (संग्रह-संचय) करता है, और इसी प्रपंच में

आप मरता है। तौ भी अन्य पुत्र धनादि के लिये रोता (चिन्ता करता) है। और वह यह नहीं जानता है कि जब अपने (मैं) मर जाऊंगा, तब जो मेरे पास दश टका (रुपये) विभव (धन) हैं, उसे लेकर और (अन्य) लोक ही खायंगे, मेरे काम के ये भी नहीं रहेंगे,. फिर मैं स्वप्न-तुल्य की चिन्ता क्यों करूं, इत्यादि।

उक्त दृढ विचार ज्ञान बिना ही सब लोक अपनी २ (मेरी २) करके गये, परन्तु कोई वस्तु किसी के साथ में नहीं लगी (मरने के समय साथ नहीं गई)। तौ भी अपनी बुद्धि (ममता) करके रावण गया। और अपनी करते २ दशरथनाथ (दशरथ राजा, या दशरथजी के नाथ प्राणाधार रामचन्द्र[1]) गये, ऐसी ममता की प्रबलता है, इत्यादि ॥५५॥

ममत्वादि फलवर्णन प्रकरण २६

ममता आशा तृष्णादि की प्रबलता आदिरूप दुःख के कारणों को बताकर, ममता आदि से होनेवाले प्रमाद दुःखादि का वर्णन करते हैं कि, जिसको सुन विचार कर भी मनुष्य अनुचित ममतादि को त्यागकर सुखी मुक्त होय।

रमैनी ५६

दिन दिन जलै जलन के पाऊं। डाढे जाय न उमगे काऊँ ॥

ममत्वाशादिसंछन्नः पापतापादिवह्निभिः।
[2]दह्यतेऽत्र जनः शश्वदाधिवृद्ध्या दिने दिने ॥ १ ॥

ममत्व आशा आदि से सम्यक् आच्छादित मनुष्य दिन २ आधि (मानसदुःख) की वृद्धि से, पापरूप तापादि अग्नि से यहाँ सदा दग्ध

---

१. रामं दाशरथिं चैव मृतं सृञ्जय ! शुश्रुम। य प्रजा अन्वमोदन्त पिता पुत्रानिवौरसान्। म० भा० द्रोणप० ५९।१। श्रीनारदोक्तिः ॥

२ मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः। ममेदमिति जन्तूनां ममता

कान्द न देइ मसखरी करई । कह दइ भाँति कैसे निस्तरई ॥

अहो जाज्वल्यमानोपि कामादिज्वलनैः पुनः ।
मनोबुद्ध्यात्मपादौ द्वौ तत्रैवार्पयते कुधीः ॥ २ ॥
ततस्तापमवाप्नोति दग्धो भवति सर्वथा ।
नैवोत्थानमवाप्नोति हर्षोत्फुल्लो न जायते ॥ ३ ॥
सतां सदुपदेशेऽपि कर्णं नैव ददाति च ।
कुरुते हास्यनिन्दादि तेषामेवाविशङ्कया ॥ ४ ॥
तान् दृष्ट्वा स्मयते मूढस्तदुक्तीर्न शृणोति च ।
स्वयं चिन्ते न चेत् क्वापि निर्वृतिं कथमेतु सः ॥ ५ ॥
अविचारोऽश्रुतिश्चैव स्तो जन्तोर्नरकाय वै ।
सत्सङ्गः सुविचारश्च सर्वदा सुखसाधने ॥ ६ ॥

होता (जलता) है ॥१॥ आश्चर्य है कि कामादि अग्नियों से अतिशय ज्वलित दीप्त (नष्ट) होता हुआ भी यह कुबुद्धि फिर उसीमें मनबुद्धिरूप पैर दोनों अर्पण करता (देता) है ॥२॥ तिससे ताप पाता है, सर्वथा दग्ध (नष्ट) होता है । उत्थान (वृद्धि मुक्ति) नहीं पाता है, हर्ष से उत्फुल्ल (विकसित) नहीं होता है ॥३॥ सत्पुरुषों के उपदेश में भी कान नहीं देता है, उसका श्रवण नहीं करता है । और संशय विना उनकी हँसी निन्दा आदि करता है ॥४॥ सत्पुरुषों को देख कर मूढ मनुष्य स्मयता (मुस्कुराता) है । उनकी उक्तियों को नहीं सुनता है, स्वयं भी यदि नहीं चिन्तें (विचारता है) तो वह कैसे कहाँ सुख पावे ॥५॥ अविचार और अश्रवण प्राणी के नरक के लिये हैं । और सत्सङ्ग सुविचार सदा सुख के साधन हैं ॥६॥

बाध्यते वृथा । नारदीयपु० ३७।४१॥ पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः । सरः पङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव । ना० पु० ६०।६५॥ ममेति बध्यते जन्तु र्न ममेति विमुच्यते । पैङ्गलोप० ४।२०॥ भोगैश्वर्यमदोन्मत्तस्तत्त्वज्ञान-पराङ्मुखः । संसारसुमहापङ्के जीर्णगौरिव मज्जति । नरसिंहपु० अ० ६०।६५॥

अकरम करै कर्म को धावै । पढ़ि गुणि वेद जगत समुझावै ॥
छूंछा परे अकारथ जाई । कहहिं कबिर चित चेतहु भाई ॥

कृत्वा निषिद्धकर्माणि हिंसाऽसत्यमयान्यपि ।
विचारादि विना जन्तुस्तानि कर्माणि मन्यते ॥ ७ ॥

वेदादींश्च पठित्वापि विचिन्त्य बहुधा तु ये ।
स्वबोधेन विनाऽन्येभ्यं उपदेशं दिशन्ति चेत् ॥ ८ ॥

निष्फलः स भवेत्तेषां जन्माप्यफलतां व्रजेत् ।
अतश्चाद्यापि मनुजाः सावधानैर्हि भूयताम् ॥ ९ ॥

"यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः ।
स जानाति न शास्त्रार्थान् दर्वी पाकरसं यथा" ॥१०॥

तस्माद् यूयं कुरुध्वं तं विवेकं सर्वसाधकम् ।
बाधकं ममतादीनां समतादिप्रवर्तकम् ॥११॥

शोधयध्वं स्वमात्मानमर्चयध्वं तमेव हि ।
आत्मनाऽऽत्मानमालोक्य संतिष्ठध्वं गतज्वराः ॥१२॥५६॥

विचारादि विना यह प्राणी हिंसा असत्यमय भी निषिद्ध कर्मों को करके उन्हीं को सुकर्म मानता है ॥७॥ जो लोक वेदादि को पढकर और बहुत प्रकार के कर्मादि का विचिन्तन (विचार) करके भी यदि अपना पूर्ण बोध बिना, अन्य लोकों के प्रति उपदेश देते हैं; तो वह उनका उपदेश निष्फल होगा, जन्म भी निष्फलता को प्राप्त होगा, इससे हे मनुष्यों ! आज भी सावधान हुआ जाय ॥८–९॥ जिसको विवेक नही है, जो केवल बहुत श्रवण किया है, सो शास्त्रों के अर्थों को नहीं जानता । जैसे दर्वी (करछी) पाक के रस को नहीं जानती है ॥१०॥ तिससे तुम सब सब प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला, ममता आदि का नाशक, समता आदि का प्रवर्तक (जनक) उस विवेक को करो, और आत्मा को शोधो,

उस शुद्ध आत्मा को ही पूजो, अपनी आत्मा (मन) से आत्मा को जान कर ज्वर रहित सम्यक् स्थिर होवो ॥१२॥

अक्षरार्थ- मोह-ममता के वशवर्ती जीव दिन २ (सदा) ताप से जलता है। और फिर भी जलन (ज्वलन-अग्नि) में ही पाऊं (पैर) देता है। कुमार्ग में प्रवृत्त होता है, मन बुद्धि लगाता है। इससे डाढ़े (जलाये) जाते हैं। काऊ (कभी कोई) उमगता (सुख से बढता) नहीं है। सत्पुरुषों की बात में कान नहीं देता, मन से बात नहीं सुनता, उलटे उनसे मसखरी करता है, तो कहो इन दोनों प्रकारों से निस्तार (मुक्ति) कैसे पा सकता है। अर्थात् श्रवण और विचार निस्तार के मुख्य साधन हैं, इनके विना मुक्ति नहीं हो सकती।

उपदेश विचारादि विना हिंसादि अकरम (कुकर्म) करता है, और उसीको सुकर्म करके ध्याता (समझता) है, या अकर्म करता है, कभी कर्म के लिये भी दौडता है। शरीर से अकर्म (संन्यास) करता है, मन से कर्म (कार्य) की चिन्ता करता है। और वेदादि पढ गुण कर, कुकर्मी अज्ञ भी संसारी के प्रति उसी कर्माकर्म को समझता है। परन्तु विचारादि विना वह पठनपाठनादि छूंछा पड़ता (निष्फल होता) है। और जन्मादि भी अकारथ (निष्फल) जाते हैं। इससे साहब का कहना है कि, हे भाई! अब भी अपने चित्त में चेतो, सावधान होकर कुकर्मादि त्यागो, आत्मविचारादि करो, इत्यादि ॥५६॥

पूर्ववर्णित मृत्यु सम्पत्ति का नाश वर्णन को सुन कर शंका हुई कि यद्यपि मृत्यु नाश अवश्य होते हैं, तथापि ज्योतिषादि से आयु को जानकर अन्तिम अवस्था में ही आत्मविचारादि करना चाहिये, अथवा चिरजीवी देवभावादि के लिये यत्न करना चाहिये, जिससे भोग मोक्ष दोनों की प्राप्ति हो सके, इत्यादि। इससे भोग से सर्वथा वञ्चित करने वालों से मसखरी करना भी उचित ही है, तब कहते हैं कि—

रमैनी ५७

कृतिया लोक सूत्र इक अहई। लाख पचास की आयु कहई॥
विद्या वेद पढ़ै पुनि सोई। वचन कहत प्रत्यक्षे होई॥

कार्यरूपो महानेकः सूत्रलोकस्तथैव च।
लोके [1]सूत्रात्मको ग्रन्थो विद्यते कार्यबोधकः॥१३॥
यमधीत्य वदन्त्यत्र ह्यायूंषि बहुधा जनाः।
पञ्चाशतां च लक्षणामायूंषि वर्णयन्ति ते॥१४॥
ब्रह्मलोकादिषु त्वत्र प्राक्तनप्रभुयोगिषु।
ग्रन्थाश्च बहुधा कार्यमायूंषि वर्णयन्ति च॥१५॥
अहो इमे च वक्तारो विद्या वेदान् पठन्ति वै।
कल्पयन्ति हि लिङ्गैस्ते भाषन्तेऽक्षगतं यथा॥१६॥
तेषां यद्यपि वाक्यानि सत्यानि विदुषामिह।
प्रायेणैव भवन्त्येव सावधानेन चिन्तनात्॥१७॥

कार्यरूप जन तप लोक से भी महान् (बड़ा) एक सूत्रलोक ([2]सत्यलोक) है, और तैसे ही लोक में एक सूत्ररूप कार्य बोधक ग्रन्थ (ज्योतिष ग्रन्थ) है। जिसको पढ कर मनुष्य यहाँ बहुत प्रकार से आयु कहते हैं, पचासों लाखों के आयु का वे लोक वर्णन करते हैं॥१३–१४॥ और ग्रन्थ भी ब्रह्मलोकादि में तथा यहाँ के प्राचीन प्रभु योगियों में बहुत प्रकार के कार्य और आयु का वर्णन करते हैं॥१५॥ आश्चर्य है कि ये आयु आदि के वक्ता लोक विद्या वेदादि को पढते हैं, और लिङ्गों (हेतु चिन्हों) द्वारा कल्पना करते हैं; परन्तु वे लोक अक्षगत (प्रत्यक्ष) के समान निःसंदेह कहते हैं॥१६॥ यद्यपि सावधान (एकाग्र) मन द्वारा चिन्तन करने से उन विद्वानों के वचन प्रायः सत्य ही होते ही हैं॥१७॥

१ स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदोविदः॥ २ ब्रह्मलोक।

पहुंची बात विद्या के वेता । वाहु को भ्रम भया संकेता ॥

साखी ।

खग खोजन कहँ तूं परा । पीछे अगम अपार ।
बिन परिचय ते जान हू । झूठा है हंकार ॥५७॥

संकेतज्ञानजान्येव तथाप्येतानि नान्यथा ।
संकेते च भ्रमात्तानि भ्रान्तान्येव विनिश्चिनु ॥१८॥
तत्त्ववेत्तुर्यदा वाक्यं तेषां विशति वा श्रुतौ ।
तदा तेषां भवत्येव भ्रान्तं सांकेतिके मनः ॥१९॥
अतो मुधैव भो विद्वन्नाकाशपथगामिना ।
मनःखगेन वै क्लृप्तं मार्गयस्यायुरादिकम् ॥२०॥
अनाद्यतिगंभीरं च यद्गतं भ्रमणं तव ।
पश्चाद्भावि च यन्मोहात्तन्न वेत्ति भवान् खलु ॥२१॥
यावन्न ज्ञायते चैतदात्मा वा सत्यविग्रहः ।
तावदन्यं विपश्यन् हि मुधा गर्वं तनोति च ॥२२॥

तौ भी ये ज्ञान संकेत (नियमित चिन्हादि) के ज्ञान जन्य ही हैं, अन्यथा (प्रत्यक्ष) नहीं हैं । और संकेत में भ्रम होने से तो वे ज्ञान भ्रम युक्त ही हैं, ऐसा निश्चय करो ॥१८॥ अथवा तत्त्ववेत्ता का वाक्य जब उन विद्वानों के श्रुति (कान) में पैठता है, तब सांकेतिक विषय में उन का मन भ्रान्त ही होता है, तत्त्ववेत्ता का वाक्य सुनने पर उनका मन उस विषय को सत्य नहीं समझता, इससे अतत्वज्ञ के ही लिये आयु आदि का विचार है ॥१९॥ इससे हे विद्वन् ! आकाशमार्गगामी मन रूप पक्षी से सिद्ध आयु आदि को तुम व्यर्थ ही खोजते हो ॥२०॥ अनादि अत्यन्त गम्भीर जो तेरा भ्रमण बीत चुका है, और मोह से जो पीछे होनेवाला है, उसको आप नहीं जानते हो ॥२१॥ और जब तक इस भ्रमण को नहीं जानते हो,

'धनं शरीरं स्वजनं स्वजीवितं प्रियाणि मित्राणि शरीरसम्पदः।
चिरायुषः पश्यति मूढचेतनो न तत्समः कश्चिदिहास्ति दुर्मतिः'
॥२३॥

ब्रह्मादीनां त्रयाणां तु स्वहेतौ प्रकृतौ लयः।
प्रोच्यते कालयोगेन पुनरेव समुद्भवः ॥२४॥

इति रमैनीरसोद्रेके ममत्वादिफलवर्णन नाम षड्विंशतितमः प्रवाहः ॥२६॥

न सत्य स्वरूप आत्मा को जानते हो, तब तक अन्य को विविध रूप देखते हुआ भी व्यर्थ ही गर्व का विस्तार करते हो ॥२२॥ शास्त्र का वचन है कि धन, शरीर, स्वजन, आयु, प्रिय, मित्र, शरीर की सम्पत्ति को जो मूढबुद्धि चिरायु देखता है, उसके समान दुर्बुद्धि यहाँ अन्य नहीं है ॥२३॥ और ब्रह्मा आदि तीनों देवों का भी अपना कारण प्रकृति में काल का योग से लय कह जाता है, और फिर समुद्भव (उत्पत्ति) कहा जाता है। इससे कोई स्थिर नहीं है ॥२४॥

अक्षरार्थ– लोक में कृतिया (कार्य, फल, जन्म, कर्म, आयु का बोधक) एक सूत्ररूप ग्रन्थ अहई (है)। जिसको पढनेवाले लाखों पचासों की आयु का या लोकांतर में पचासों लाख वर्षतक की आयु का कथन करते हैं। अथवा कृतियासूत्र (कार्यब्रह्म) हिरण्यगर्भ का एक लोक है (ब्रह्मलोक है), जहाँ के प्राणी की पचासों लाख वर्ष की आयु कहते हैं। और वे कहनेवाले विद्या वेदादि पढते हैं, और उसीके बल से परोक्ष बात कहते हैं, परन्तु वचन इस प्रकार कहते हैं, कि मानो उन्हें वह प्रत्यक्ष ही हो। और यद्यपि उन विद्या के वेत्ता (ज्ञानी) लोकों की बात पहुंची हुई (प्रायः सत्य ही) होती है, तथापि वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं रहता है। किन्तु ग्रह लग्न मुहूर्तादि रूप संकेत (चिन्ह) के ज्ञान से कल्पित वह ज्ञान रहता है। इससे संकेत ज्ञान के भ्रम रूप होने से, उन्हें भी भ्रमज्ञान होता है, तो उस बात का विश्वास ही क्या है। शीघ्र सचेत होना चाहिये। किसीके कहने से चिरजीवनादि का विश्वास

करके आत्मविचारादि को नहीं भूलना चाहिये। और ब्रह्मा आदि अन्य की दृष्टि से चिरजीवी हैं, अपनी दृष्टि से नहीं, मरण उन्हें भी अप्रिय है, सो अवश्य होना है। और ज्ञानी की दृष्टि से संसार ही मिथ्या है, इससे संकेतादि में सत्यादि बुद्धिवाले विद्वान् भी भ्रान्त ही हैं, फिर उन की बात का विश्वास करना उचित नहीं इत्यादि भाव है।

आकाशगामी पत्ती के मार्गादि को अगम अपार आकाश में खोजना जैसे व्यर्थ और असम्भव है, तैसे खग (आकाशगामी, मन प्राण देवादि) के खोजने में तूं व्यर्थ परा (लगा) है, इनके पीछे अगम अपार वस्तु (आत्मा) है, उसे समझो, उसका परिचय (ज्ञान) विना ही देवादि आयु भोगादि को सत्य जानते हो, और कुछ प्राप्ति से अहंकार करते हो परन्तु यह अहंकार भी झूठा (मिथ्या) है। और पक्षी का पीछे का आकाश जैसे अगम अपार है, तैसे तेरा जन्मादि का पहला समय भी अगम अपार है, (अनादि) है, ज्ञान विना आगे का भी समय अनन्त समझो और परिचय से इसको निवृत्त करो इत्यादि ।।५७।।

गुरुभक्ति से निष्कण्टकराज्यादि प्रकरण २७

सब संसार शरीरादि की असारता को बता कर, अब तत्त्वज्ञानादि के लिये गुरुशरणागति आदि के वर्णन करते हैं कि—

रमैनी ५८

तैं सुत मानु हमारी सेवा। तो कहँ राज देव हो देवा ॥

सर्वाशां संपरित्यज कुरुष्व गुरुसेवनम्।
गुरूणां सेवनादेव राज्यलाभो भविष्यति ॥ १ ॥

सब आशा को त्याग कर, गुरु की सेवा करो, गुरु की सेवा से ही राज्य मिलेगा ॥१॥ गुरु ही स्वयं कहते हैं कि, मेरी सेवा में तत्पर होवो,

अगम दुर्गम गढ देऊँ छुडाई । औरो बात सुनहु कछु आई ॥
उतपति परलय देउं दिखाई । करहु राज सुख बिलसहु आई ॥
एको बार न होइ हैं बांको । बहरि जन्म नहिं होइ है तांको ॥

गुरुरेव स्वयं प्राह मत्सेवातत्परो भव ।
अहं तुभ्यं प्रदास्यामि राज्यं निष्कण्टकं सदा ॥ २ ॥
त्याजयिष्याम्यगम्यं च कल्पितं नाममात्रतः ।
दुर्गम्यं गृहसालादि लोकं देहं जगत्तथा ॥ ३ ॥
एषु वैराग्यमाश्रित्य त्वागत्य गुरुसन्निधौ ।
एभ्यो भिन्नं हि यत्तत्त्व तस्यैव श्रवणं कुरु ॥ ४ ॥
अहं त्वां जगतामेषामुत्पत्तिप्रलयादिकम् ।
प्रत्यक्षं दर्शयिष्यामि येन भूयो न बाध्यसे ॥ ५ ॥
अतः शरणमागत्य गुरूणां भावितात्मनाम् ।
अखण्डं क्रियतां राज्यं लभ्यतां च सुखं तथा ॥ ६ ॥
स्वाराज्ये भवतो ह्यस्मिन् बाल एकोपि वक्रताम् ।
न व्रजिष्यति काऽन्या ते हानिरत्रोपजायते ॥ ७ ॥

मैं तुमको सदा निष्कण्टक (क्षुद्र शत्रु आदि से रहित) राज्य दूंगा ॥२॥ नाम मात्र से कल्पित अगम्य (अप्राप्य) का त्याग कराऊंगा, तथा दु.ख से प्राप्ति योग्य गृह साल (प्राकारादि) लोक देह जगत् का भी त्याग कराऊंगा, अर्थात् अगम्यादि की इच्छा आदि से रहित मुक्त करूंगा ॥३॥ तुम इन में वैराग्य का धारण करके, गुरु के पास आकर, इनसे भिन्न जो तत्त्व (परमात्म स्वरूप) है, उसीका श्रवण करो ॥४॥ मैं तुझे इस जगत के उत्पत्ति प्रलयादि को प्रत्यक्ष देखा दूंगा, जिस ज्ञान से फिर बाधा (पीड़ा) नहीं पावोगे ॥५॥ इससे भावित (प्राप्त-लब्ध) आत्मावाले गुरु के शरण में आकर अखण्ड राज्य करो, तथा सुखपूर्वक विचरो, क्रीड़ा करो ॥६॥

इस अपनी अत्यन्त स्वतंत्रता में आपका एक बाल भी वक्रता को

जाय पाप सुख दीहौ घाना। निश्चय वचन कबीर के माना॥

योऽस्मिन् राज्ये सकृद्गच्छेज्जन्म तस्य भवेन्नहि।
भाव्येऽस्मिन् भवचक्रेऽसौ पुनः क्वापि न यास्यति॥८॥
भोः साधो! सर्वपापानि नशिष्यन्ति क्षणात्तव।
सुखं तुभ्यं तु दास्यामि ह्यनन्तमचलं दृढम्॥९॥
इदं मद्वचनं सत्यं तत्त्वेनैवावधार्यताम्।
भवरोगविनाशाय निश्चितं परमौषधम्॥१०॥
इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये।
सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते॥११॥
न तपांसि न तीर्थानि न शास्त्राणि जयन्ति च।
संसारसागरोत्तारे सज्जनासेवनं विना॥१२॥
सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम्।
नियोजयति सम्पत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः"॥१३॥

नहीं प्राप्त होगा, फिर इसमें अन्य हानि क्या होती है॥७॥ जो इस राज्य में सकृत (एक बार) जायगा, उस का जन्म नहीं होगा, और कर्मेश्वरादि से भाव्य (उत्पादार्ह) इस संसार चक्र में वह फिर कहीं नहीं जायगा॥८॥ हे साधो! इससे तेरे सब पाप क्षण में नष्ट हो जायेंगे, और मैं तुझको अनन्त अचल दृढ सुख दूंगा॥९॥ भवरोग का नाश के लिये निश्चित परम औषध रूप सत्य यह मेरा वचन स्वरूप से निश्चय करो॥१०॥ महाभारत अश्वमेधप० ४४।२१। का वचन है कि, इष्ट दत्त, तप, अध्ययन, व्रत नियम, इन सब के फल का नाश होता है, ज्ञान के फल का नाश नहीं होता॥११॥ योगवासिष्ठ प्र० ४।३२।१४। का वचन है कि, सज्जन (गुरु) की सेवा बिना तप तीर्थ शास्त्र भी संसार-सागर से पार करने में समर्थ नहीं हैं॥१२॥ निर्वाण प्र० स० ४७ का वचन है कि, सज्जन पुरुष शरणागत को विपत्तियों से पार करके सम्प-

साखी ।

साधु सन्त तेई जना, माना बचन हमार ।
आदि अन्त उतपति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार ॥५८॥

साधवस्ते च सन्तस्ते यैरस्माकं वचो मतम् ।
तथा कृत्वा त्वया साधो ! सर्वान्तादि प्रदृश्यताम् ॥१४॥
सर्वस्यैवादिरूपो यः सर्वान्ते यश्च तिष्ठति ।
उत्पत्तिप्रलयौ यस्मात्तं विवेकेन पश्यतु ॥१५॥
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः समदर्शिनः ।
वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः सर्वबन्धनैः ॥१६॥
ज्ञानसिद्ध्या मोक्षसिद्धिः सर्वेषां गुर्वनुग्रहात् ।
मोक्षात्स्वरूपसिद्धिः स्यात्परानन्दं समश्नुते ' ॥१७॥

त्तियों से युक्त करते हैं, जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश से युक्त करते हैं ॥१३॥

वे ही लोक साधु (कुलीन सुन्दर) तथा सन्त (सच्चा मान्य) हैं कि जिन लोकों ने सद्‌गुरु के वचन को माना, इससे हे साधो ! तुम भी तैसा ही करके (सद्‌गुरु के वचनों को मान कर) सब के अन्तादि को समझो ॥१४॥ जो ब्रह्मात्मा सब के आदिरूप है, और सब के अन्त में जो रहता है, जिसकी सत्ता से उत्पत्ति प्रलय होते हैं, उस को विवेक से देखो ॥१५॥ ब्रह्मपु० ११६।६। का वचन है कि, प्रलयोत्पत्ति के स्वरूप को जानने वाले, सर्वज्ञ, समदर्शी, विरक्त पुरुष सब बन्धन से विमुक्त होते हैं ॥१६॥ शिवपु० विद्येश्वरसं० १३।४६। का वचन है कि, गुरु का अनुग्रह (अभ्युपपत्ति अहितनिवारण हितकरण) से ही सब को ज्ञान की सिद्धि द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है, और मोक्षसिद्धि से स्वरूप की सिद्धि (लाभ) होती है, स्वरूप से वर्तमानता रहती है,

गुरोर्वाक्यैः प्रीतो विदितनिखिलाध्यात्मतत्त्वस्य सत्यैः,
सदा सद्ब्रह्मेशप्रभुहितधिया तस्य सेवापरो यः।
सुखी शान्तो मुक्तो निखिलभुवनाकारकारागृहात्सः,
महाराजैस्तुल्यो विलसति मुदा द्वन्द्वमुक्तः सुविद्यः ॥१८॥५८॥

इति रमैनीरसोद्रेके गुरुभक्त्यानिर्द्वन्द्वस्वाराज्यलाभवर्णनं नाम सप्तविंशतितमःप्रवाहः॥ २७

जन्मादि नहीं होते हैं ॥१७॥ सब अध्यात्म (आत्मसम्बन्धी सूक्ष्म) को जाननेवाला गुरु के सत्यवाक्यों से प्रीत (तृप्त) जो प्राणी सत्यब्रह्म ईश्वर स्वामी हितबुद्धि से सदा उस गुरु की सेवा परायण होता है, सो सुन्दर विद्यावाला होकर सम्पूर्ण भुवन स्वरूप कारागृह (बन्धनगृहतुल्य गृह) से मुक्त शान्त सुखी द्वन्द्वरहित और महाराजों के समान आनन्द से विलसता (लीला मात्र व्यवहार करता) है ॥१८॥

अक्षरार्थ– हे सुत! (सज्जन शिष्य) तुम हमारी (सद्गुरु की) सेवा को मानो, आशा आदि को त्याग कर सद्गुरु की सेवा करना स्वीकार करो. मेरा उपदेशरूप सेवा को मान कर सन्तगुरु की सेवा में लगो, तो हे देव! (दैवी सम्पत्ति वाले!) तो कहूँ (तुमको) मैं (सद्गुरु) सुख का हेतु राज्य (स्वतन्त्रता) दूंगा (प्राप्त कराऊंगा)। यदि कहो कि राज्य में गढ आदि की आवश्यकता होती है, तो मैं ऐसा निर्भय राज्य दूंगा कि जिससे अगम्य दुर्गम गढ (प्राप्त अप्राप्त लोक देहादि संसार) भी छोडा दूंगा, इन की वासना भी नहीं रहने दूंगा। इससे सद्गुरु के शरण में आकर और (अन्य) कुछ (गढादि से आगे की) बात को सुनो, आत्मश्रवणादि करो। यदि तुम आकर श्रवणादि करोगे, तो गुरुरूप मैं उत्पत्ति प्रलयादि का प्रत्यक्ष करा दूंगा। भगवान् बना दूंगा, फिर उत्पत्ति आदि से रहित होकर राज्य करो, और सुखमय विलास (लीला) में आवो, लीलामय जीवन्मुक्ति का सुख भोगो।

लौकिक राज्य में तो युद्धादि से हिंसा आदि भी होते हैं, परन्तु इस राज्य में सुख विलास में किसी के एक बार (केश) भी बांका (टेंढा) नहीं होगा। और अत्यन्त तृप्त ताको (उस ज्ञानी को) बहुरि (फिर) कभी जन्म नहीं होगा। क्योंकि इस राज्य से सब पाप (धर्माधर्म) चले जायेंगे (नष्ट होंगे) और घाना (अनन्त निरन्तर) सुख मैं दूंगा, यह सद्गुरु कबीर का वचन सत्य ही मानो। या जिन्हों ने निश्चय (सत्य) माना, उन के पाप गये, उन्हें मैं अनन्त सुख दूंगा इत्यादि।

तेई (वे ही) जन (प्राणी) साधु (सुन्दर-चतुर) सन्त (पूज्य सत्पुरुष) हैं कि जिन्होंने हमारे (सद्गुरु) के वचनों को माना है, और मानते हैं, इससे तुम भी सद्गुरु के उपदेशों को मानो, विवेक दृष्टि को पसार (फैला) कर संसार के आदि अन्त स्वरूप ब्रह्मात्मा को, मायामय उत्पत्ति प्रलयादि को देखो '(प्रत्यक्ष करो) और आशादि से रहित नित्य तृप्त सुखी होवो इत्यादि ॥५८॥

वैराग्यार्थकोपदेशप्रकरण २८

पूर्व कही रीति से गुरुसेवा आदिपूर्वक आत्मज्ञान से ही कल्याण होता है, तो भी विवेकादि विना जो प्राणी की वासनामय प्रवृत्ति होती है, उस आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ५९

चढ़त चढ़ावत भँडहर फोरी। मन नहिं जानै के कर चोरी॥

तत्त्वज्ञानं विना यस्तु कल्पिताम्बरलोकयोः।
आरोढुं यतमानः सन्नन्यानारोहयंस्तथा॥ १ ॥

स्वरूप ज्ञान के विना जो कोई कल्पित आकाश और लोक में चढने के लिये यत्न करता हुआ, तथा अन्य को चढाता हुआ इस देहरूप घट को कुयोग से अत्यन्त नष्ट करता है, 'उस का मन नहीं जानता कि

चोरा एक मुसे संसारा । बिरला जन कोइ बूझनहारा ॥
स्वर्ग पताल भूमि ले बारी । एके राम सकल रखबारी ॥

देहरूपं घटं ह्येनं बम्भजीति कुयोगतः ।
मनस्तस्य न जानाति सर्वस्वं हरतीह कः ॥ २ ॥
चोर एकोऽस्ति मोहोऽयं सैवाविद्यादिशब्दभाक् ।
आशातृष्णादिरूपेण स एव परिवर्तते ॥ ३ ॥
सैव [1]मुष्णाति सर्वेषां सुखं संसारिणां हितम् ।
जानन्ति विरला केपि धन्यास्तं हि विवेकिनः ॥ ४ ॥
रक्षकोपि तथैवैको रामो भूमौ च [2]वारिषु ।
स्वर्गे पातालखण्डे च सद्यः सर्वत्र सर्वदा ॥ ५ ॥
यस्य [3]विज्ञानभक्तिभ्यां तस्करोऽयं विलीयते ।
सद्य एव स सर्वात्मा रामः सर्वस्य रक्षकः ॥ ६ ॥
उक्तराज्यस्य दाता वा गुरूरामः स्वयं प्रभुः ।
स एव सर्वजगतां रक्षको ज्ञानदानतः ॥ ७ ॥

यहाँ सर्वस्व कौन हरता है ॥१-२॥ यह मोह एक चोर है, वही अविद्यादि शब्दों के भागी भी होता है, और आशा तृष्णादि रूप से वही परिवर्तित (परिणत) होता है ॥३॥ वही सब संसारी के सुख हित को चुराता है, सो कोई विरल विवेकी पुण्यात्मा ही उसको समझते हैं ॥४॥ तिसी प्रकार एक राम ही भूमि, जल, स्वर्ग, पातालखण्ड में सर्वत्र सदा शीघ्र रक्षक हैं ॥५॥ जिस राम के विज्ञान और भक्ति से यह मोहरूप चोर नष्ट होता है, सो सर्वात्मा राम ही सब का शीघ्र रक्षक हैं ॥६॥ अथवा पूर्व-

१. 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'। भ० गी० ५।१५॥
२. 'यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश'। श्वेता० २।१७।
३. 'स एनमविदितो न भुनक्ति'। बृह० १।४।१५॥ न भुनक्ति-न पालयति।

उस सर्वात्माराम को जानने विना जो दशा होती है, सो कहते हैं कि–

साखी ।

पाहन ह्वै ह्वै सब गये, बिन भितियन को चित्र ।
जासो कियो मिताइया, सो धन भया न हित्त ॥५९॥

रामस्यास्याप्रबोधेन पाषाणघनमूढताम् ।
गृहीत्वैव गताः सर्वे पामरा येऽविवेकिनः ॥ ८ ॥
वशता कामचौरादेर्येषामस्ति न शुद्धता ।
ते पाषाणसमा मूढा ये नारूढाः सुवर्त्मसु ॥ ९ ॥
आश्रयेण बिना चित्रं कल्पयन्तस्तु ते दिवि ।
कुर्वते मित्रतां यैस्तु धनैस्तानि हितानि नो ॥१०॥
सुखबुद्ध्याऽसुखे नित्यं ह्यभिमानं प्रकुर्वते ।
आत्मनस्त्वहितं सर्वं रक्षकं तद् भवेन्नहि ॥११॥
कुर्वते जन्मने मूढा जायन्ते मरणाय च ।
न ज्ञानाय सुयोगाय तृणानीव न मुक्तये ॥१२॥

वर्णित राज्य को देनेवाला गुरु स्वयंप्रभु राम हैं, वही ज्ञान का दान द्वारा सब जगत् के रक्षक हैं ॥७॥

इस आत्माराम का अप्रबोध (अज्ञान) से ये सब पामर (नीच) अविवेकी लोक पत्थरतुल्य घन (कठिन-निरन्तर) मूढता का ग्रहण करके ही गये ॥८॥ जिन्हें कामरूप चौरादि की वशवर्तिता है, और शुद्धता नहीं है, और जो सुमार्ग में स्थिर नहीं हैं, वे लोक पत्थरतुल्य मूढ हैं ॥९॥ वे लोक दिवालादि आश्रय के विना दिव आकाश में देवादिरूप चित्र (आलेख्य-मूर्ति) की कल्पना करते हुए, जिस धन से मित्रता (प्रेम) करते हैं, वे धन हित नहीं होते ॥१०॥ विवेक विना असुख में ही सुखबुद्धि से सुख का अभिमान करते हैं, सब कर्म अपना अहित करते हैं, वह रक्षक नहीं होता ॥११॥ मूढ प्राणी जन्म के लिये कर्म

आकाशभित्तौ विलिखन् मनोमयं चित्रं विचित्रं धनमानसंयुतः।
आशादिबद्धश्च जडो गतो ह्यतस्त्राता न कोऽप्यस्य धनादिकोऽ-
भवत् ॥१३॥५९॥

करते हैं, मरने के लिये तृणों के समान जन्मते हैं; ज्ञान सुन्दर योग मुक्ति के लिये नहीं ॥१२॥ धन का अभिमान से युक्त, आशा आदि से बँधाया हुआ जड़ प्राणी, आकाश रूप भित्ति में मनोमय विचित्र चित्र को लिखता हुआ इस देह से गया, और कोई धनादि इसका रक्षक नहीं हुआ ॥१३॥

अक्षरार्थ–सद्गुरु की बात तथा सेवा को नहीं माननेवाले लोगोंने पूर्व-वर्णित अगम दुर्गम गढों (लोकान्तरादि) में चढते चढाते में देहरूप भँडहर (घड़ा) को फोर डारा। लोकान्तरादि की आशा से कर्मादि करते कराते मर गये। सिद्धि की इच्छावाले योगी भी प्राण को चढाते चढते में मरे और इन लोगों का मन यह नहीं जान सका कि मूल धन का चोरी के (कौन) करता है। मोह रूप ही एक चोर अनेक रूप से सब संसारी के धन ज्ञानादि को मुषता (चोराता) है, उसको बूझनहार (समझनेवाला) कोई बिरला ही जन होता है। और जैसे एक अज्ञान चोर है, तैसे ही गुरुसेवा आदि से जाना हुआ एक राम ही स्वर्ग, पाताल, भूमि बारि (जल) ले (तक) सकल (सब) का रखवारी (रक्षक) है, ज्ञान बिना भी सामान्य रूप से सब का कर्मादि के अनुसार पालक है। उसे कोई विरला जानता है इत्यादि।

उक्त चोर और राम के विवेक ज्ञान विना सब लोक पाहन (पत्थर) की नाईं जड़ हो २ कर गये (देहाभिमानादि से वस्तुतः चेतनता विना मरे) और विना भित्तियों (आधारों) के आकाश में लोकादि के चित्र रचे (कल्पना किये)। और जिस धनादि से मित्रता किये, सो धन भी हित नहीं हुआ, किन्तु रागद्वेषादि द्वारा अहित (दुःखद)

हुआ। न साथ रहा, क्योंकि (सम्पदो हि मनुष्याणां गन्धर्वनगरोपमाः। दृश्यमानाः क्षणेनैव भवन्ति न भवन्ति च) ॥५९॥

जिससे धनादि हित नहीं होते, न कोई वस्तु साथ जाती है, इससे त्याग न्यायपूर्वक जीवन बिताना उचित है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ६०

छाड़हु पति छाड़हु लबराई। मन अभिमान छूटि तब जाई ॥

स्वामित्वं सर्ववस्तूनां त्वसत्यबहुभाषणम्।
वञ्चकत्वं विवादांश्च शरीरेष्वात्मताधियम् ॥१४॥
स्नेहं बन्ध्वादिवृन्देषु द्वेषं चामित्रकादिषु।
त्यज साधो! मुमुक्षा चेद् विद्यते हृदि निश्चला ॥१५॥
तटस्थं स्वामिनं देवमसत्यं गुणकीर्तनम्।
व्यवहारेऽन्यथात्वं च त्वं जहीहि हि मत्सरम् ॥१६॥
एतेषां त्यजनादेव ह्यभिमानो नशिष्यति।
मानसे वर्तमानो यो महाशत्रुः शरीरिणाम् ॥१७॥

हे साधो! यदि हृदय में निश्चल (स्थिर) मोक्ष की इच्छा है, तो सब वस्तु की स्वामिता, और असत्य तथा बहुत भाषण (बोलना), वञ्चकता, शरीरों में आत्मता का ज्ञान, बन्धु आदि के वृन्दों (समूहों) में स्नेह, अमित्रादि में द्वेष को त्यागो ॥१४-१५। तटस्थ देवरूप स्वामी, झूठ गुणों का कथन, व्यवहार में विरुद्धता, और मत्सर को तुम त्यागो ॥१६॥ इन को त्यागने से ही मन में वर्तमान, प्राणियों के महाशत्रु जो अभिमान है, सो नष्ट होगा ॥१७॥ अभिमान सुरापान

जनि लो चोरी भिक्षा खाई । फिरि बिरवा पलुहावन जाई ॥
पुनि सम्पति औ पति कहँ धावै । सो बिरवा संसार हिं आवै ॥

अभिमानः सुरापानं ह्यभिमानश्च रौरवम् ।
अभिमानपरित्यागो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥१८॥
नाऽत्यक्त्वा सुखमाप्नोति नाऽत्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नाऽत्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥१९॥
स्तैन्येनानार्यवृत्त्या वा कस्यापीह न किञ्चन ।
गृहाणापत्तिकालेऽपि न्याय्यां वृत्तिं समाश्रय ॥२०॥
"यथासम्भवया वृत्त्या लोकशास्त्राविरुद्धया ।
सन्तोषतुष्टधीः शान्तो भोगगर्धां परित्यज" ॥२१॥
यस्तु त्यक्त्वैव चौर्यादि भिक्षावृत्त्यापि जीवति ।
स जीवो दुःखदग्धोपि पुनर्विस्तारमेति हि ॥२२॥
"यथाप्राप्तार्थसन्तुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरः शीघ्रं स मुच्यते" ॥२३॥

तुल्य है, और रौरव नरक रूप है। अभिमान के त्याग को विद्वानोंने मोक्ष कहा है ॥१८॥ म० भारत शा० १७६।२२। का वचन है कि, त्यागे विना सुख नहीं पाता, न पर (उत्तम) वस्तु मुक्ति पाता, न अभय सोता है, इससे सब को त्याग कर सुखी होवो ॥१९।

चोरी से वा किसी अनार्य (असज्जन) की वृत्ति से आपत्ति काल में भी किसी का कुछ नहीं लो, किन्तु न्याय (धर्म) युक्त वृत्ति (जीविका) का आश्रयण करो ॥२०॥ योगवासिष्ठ ४।६।१६। का वचन है कि, लोकशास्त्र से अविरुद्ध जैसा सम्भव हो उसी वृत्ति द्वारा सन्तोष से तुष्ट बुद्धिवाला शान्त होकर भोग की इच्छा को त्यागो ॥२१॥ जो जीव चोरी आदि को त्याग कर के ही भिक्षावृत्ति से भी जीता है, सो दुःख से दग्ध भी जीव फिर विस्तार (वृद्धि) पाता है ॥२२॥ प्रारब्धानुसार

साखी ।

झूठ झूठ कै छाड़हू, मिथ्या यह संसार ।
तिहि कारण मैं कहत हूं, जाते होय उबार ॥६०॥

भिक्षावृत्त्यैव बुद्धस्य सर्वानन्दः सदा भवेत् ।
मुखकान्त्यादिना ह्यस्य हृद्यानन्दोऽनुमीयते ॥२४॥
पौनःपुन्येन यो लोके सम्पत्तिं स्वामितादिकम् ।
ध्यायति स पुनर्याति संसारे धनवानपि ॥२५॥
असत्यमिति निश्चित्य मिथ्याभूतं जगत् त्यज ।
त्यागादेव भवेन्मोक्षस्तव तेन ब्रवीम्यहम् ॥२६॥
"यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्ववस्तुपरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते" ॥२७॥

यथाप्राप्त अर्थ से सतुष्ट, साधुसङ्ग सत्शास्त्रपरायण जो पुरुष गर्हित (निन्दित) वस्तु आदि की उपेक्षा (त्याग) करता है, सो शीघ्र मुक्त होता है। योगवासिष्ठ में पूर्व वचन से आगे का यह वचन है ॥२३॥ बुद्ध (पण्डित) को भिक्षावृत्ति से ही सब आनन्द सदा होता है, और इस पण्डित के मुख की कान्ति (शोभा द्युति) से उसका हृदय के आनन्द का अनुमान होता है ॥२४॥ जो धनवान भी लोक में बार २ सम्पत्ति स्वामितादि का ध्यान (चिन्तन) करता है, सो फिर संसार में प्राप्त होता है ॥२५॥

असत्य है ऐसा निश्चय करके, मिथ्यास्वरूप जगत् को त्यागो (सब अभिमानरहित होवो)। त्याग से ही तेरा मोक्ष होगा, इससे मैं त्याग के लिये कहता हूं ॥२६॥ अन्नपूर्णोपनिषद् ११४५। का वचन है कि, जब तक सब नहीं त्यागा जाता, तबतक आत्मा नहीं मिलता, और सब वस्तु का परित्याग करने पर जो त्याग के अयोग्य शेष रहता है, सोई आत्मा कहा जाता है ॥२७॥ यह आत्मा, 'सत् चित् आनन्द स्वरूप,

आत्माऽयं सच्चिदानन्दो ह्यसङ्गो जन्मवर्जितः।
एको ब्रह्माऽद्वयश्चैव सृष्ट्याद्याः खलु मायिनः ॥२८॥
आविद्यो बन्धजातो 'विरमति यतो बोधतोऽतो मृषैव,
आत्मैवैकोऽत्र सत्यस्तदविभजनात्सत्यता चात्र भाति।
सत्यो ह्येकोऽनुभूतः श्रुतिगुरुवचोऽभ्यासतः सज्जनेन,
भिन्ने सत्ये न मानं किमपि निगमैस्तुल्यमास्तेऽनवद्यम् ॥२९॥
"सच्चेन्न शाम्यति कदाचन दृश्यदुःखं
दृश्ये त्वशाम्यति न बोद्धरि केवलत्वम्।
दृश्ये त्वसम्भवति बोद्धरि बोद्धृभावः
शाम्येत् स्थितोपि हि तदस्य विमोक्षमाहुः ॥३०॥६०॥

इति रमैनीरसोद्रेके वैराग्यार्थोपदेशवर्णनं नाम अष्टाविंशतितमः प्रवाहः ॥२८॥

असङ्ग, जन्मरहित, एक अद्वैत ब्रह्म है। संसार के सृष्टि आदि मायी (ईश्वर) से होते हैं ॥२८॥ इससे (बन्धाय जातो बन्धजातः) बन्धन के लिये उत्पन्न संसार आविद्य (अविद्याजन्य) है, और जिससे ज्ञान से निवृत्त होता है इससे मिथ्या ही है। यहाँ एक आत्मा ही सत्य है, और उसी के अविभाग से इस संसार में भी सत्यता भासती है, और वह एक सत्य श्रुति गुरुवचन का अभ्यास द्वारा सज्जन से अनुभूत है, उस से भिन्न सत्य में वेद के समान कोई अनवद्य (निर्दोष) प्रमाण नहीं है, इससे मिथ्या है ॥२९॥ योगवाशिष्ठ० ३।४।४०। का वचन है कि, यदि दृश्य दुःख सत्य हो तो कभी शान्त नहीं होगा, और इसकी शान्ति

---

१. 'अतस्य बोधान्निवृत्यादेरुपपत्त्यर्थं बन्धस्याविद्यात्मकत्वं कल्प्यते, इति विवरणप्रमेयसंग्रहस्वाराज्यसिद्धिटीकादौ बहुशो वेदान्तग्रन्थेषूपलभ्यते। पारमार्थिकबन्धस्य ज्ञानान्निवृत्तेर्दूषणं च तत्र विद्यते। तस्य त्रय अवसथा त्रयः स्वप्नाः। इत्यादि श्रुतौ संसारेऽवस्थात्रयात्मके स्वप्नतुल्यत्वेन मिथ्यात्वं बोध्यते। वाचारम्भणादि श्रुत्या चेति बोध्यम् ॥

(निवृत्ति) विना बोद्धा में कैवल्य नहीं हो सकता, दृश्य के असम्भव (असत्य) होने पर तो मिथ्यात्व का निश्चय होने से, स्थिर भी बौद्ध-भावादि शान्त हो जाते हैं। सोई इसका मोक्ष कहा जाता है ॥३०॥

अक्षरार्थ- हे सज्जनो ! तुम अपने मन में पतिपन (किसी वस्तु की स्वामिता) के अभिमान को छोडो। तथा सर्वात्मा से भिन्न कल्पित पति (स्वामी) को त्यागो, माया से अनेक समान होनेवाला राम से अन्य को रक्षक नहीं समझो। और लबराई (असत्य बोल व्यवहार) को त्यागो, तब सब अनर्थ का हेतु मन का अभिमान छूट जायगा; क्योंकि स्वामिता आदि और भेद जनक अज्ञान से अभिमान होता है, सो राग द्वेषादि द्वारा अनर्थ का हेतु होता है ॥

और स्वामिता आदि को त्यागने पर भोजनादि के लिये अन्नवस्त्रादि चोरी (अन्याय) से नहीं लो, स्वयं नहीं मिलने पर भिक्षा आदि न्यायवृत्ति से लेकर खावो (भोजनादि करो)। तो फिर यह धारणा (अभिमानादि का त्याग और न्यायवृत्ति) ही ताप से तप्त जीवरूप बिरवा (वृक्ष) को पलुहावन (आनन्द पनपने-वृद्धि) के लिये जाई (होगी)। सूर्य का ताप से तप्त वृक्ष जैसे चन्द्रवर्षा से शान्त पुष्ट होता है, तैसे जीव शान्त सुखी होगा। और जो जीव अभिमान का त्याग न्याय वृत्ति का धारण नहीं करके पुनि (बार २) धनसम्पत्ति, और पति (स्वामिता या कल्पित पति) का ध्यान करता है; धनादि के लिये धावता (दौडता) है, सो बिरवा (जीव) संसार ही में बार २ आता है, मोक्षसुख कभी नहीं पाता है।

सम्पत्ति आदि को सत्य मान कर आसक्त होने से जन्मादि होते हैं, इससे झूठ झूठ कै (सम्पत्ति आदि सब संसार को मिथ्या समझ निश्चय करके) सब अभिमानादि को संसार को छोड़ दो, और यह नहीं समझो कि त्यागने ही के लिये मैं सत्य को मिथ्या समझने को कह रहा हूं,

किन्तु यह संसार मिथ्या है ही, और मिथ्या होते भी इस जन्मादि संसार का गुरु उपदेश विचार ज्ञानादि विना अभाव नहीं होता है, तिसी कारण से मैं बार २ कहता हूं कि जाते (जिस उपदेश से) तेरा उबार (कल्याण) हो । कल्याण का यही मार्ग है, दूसरा नहीं ॥६०॥

तत्त्वज्ञानविना परवञ्चनादि प्रकरण २९

प्रथम लबराई का त्यागके लिये उपदेश दिया गया है, परन्तु उसका त्याग अति कठिन है, इससे अति सावधानी विचारादि की आवश्यकता है, इस आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ६१

धर्मकथा जो कहते रहई । लाबरि उठी परातहिं कहई ॥
लाबरि बिहने लाबरि साँझा । इक लाबरि बसु हृदया माँझा ॥

अहो धर्मकथां नित्यं कथयन्तीह ये नराः ।
तैरपि स्वाविवेकेन कल्येऽकल्याणमुच्यते ॥ १ ॥
प्रत्यूषे ते समुत्थायासत्यं शंसन्ति मोहतः ।
सायं चैव ब्रुवन्त्येवं धरन्ति हृदयेऽनृतम् ॥ २ ॥
असत्यस्य तु वासेन हृद्येकस्य हि सर्वदा ।
सर्वात्मनोऽस्य रामस्य रहस्यं न विदन्ति ते ॥ ३ ॥

आश्चर्य है कि जो नर सदा यहाँ धर्मकथा कहते हैं, सो भी अपना अविवेक से कल्य (प्रभात) में ही अकल्याण (अमङ्गल अशुभ) कहते हैं ॥१॥ वे प्रत्यूष (प्रभात) में सम्यक् उठ कर मोह से असत्य की स्तुति करते हैं, इसी प्रकार सायंकाल में भी असत्य बोलते हैं, और हृदय में भी अनृत (मिथ्या) का धारण करते हैं ॥२॥ और सदा एक असत्य का ही हृदय में वास (स्थिति) होने से वे लोक राम का

रामहुं केर मर्म नहिं जाना । लै मति ठानिन वेद पुराणा ॥
वेदहुं केर कहल नहिं करई । जरतहिं रहै सुस्त नहिं परई ॥

साखी ।

गुणातीत के गावते, आपुहिं गये भ्रमाय ।
माटिक तन माटी मिले, पवनहिं पवन समाय ॥६१॥

स्वान्ते रामस्य चाज्ञानात् [1]पुराणश्रुतिविश्रुतम् ।
आरभन्ते सदा काम्यं कर्म वा मतिविभ्रमम् ॥ ४ ॥
वेदतत्त्वस्य चाज्ञानान्नैव कुर्वन्ति तच्छ्रुतम् ।
निष्कामं विमलं कर्म हिंसाशाठ्यादिवर्जितम् ॥ ५ ॥
आत्मनश्चिन्तनं दानं दम्भासत्यादिवर्जनम् ।
दह्यन्ते तेन ते शश्वत् सुखायन्ते न कर्हिचित् ॥ ६ ॥
वदन्तोऽन्यं[2] गुणातीतं स्वं तथैवाधियन्ति नो ।
स्वस्थतां न लभन्ते ते ह्यतिव्याकुलितेन्द्रियाः ॥ ७ ॥

रहस्य (गुप्त विचारादि) को नहीं जानते हैं ॥३॥ और अपने मन में राम को नहीं जानने से पुराण और वेद में विश्रुत (विज्ञात-प्रसिद्ध) सकाम कर्म वा बुद्धि का विभ्रम (विलास भ्रम) का ही सदा आरम्भ करते हैं ॥४॥ वेद के तत्त्व (स्वरूप) का अज्ञान से, उस वेद में श्रुत (अवधृत-निश्चित) हिंसा शाठ्यदि (कपटादि) से रहित, निष्काम विमल कर्म, आत्मचिन्तन, दान, दम्भ झूठादि का त्याग, नहीं करते हैं। तिससे वे लोक दग्ध होते हैं, सुख को कभी नहीं जानते हैं, अपने सुखी नहीं होते हैं ॥६॥

जो अन्य को गुणातीत कहते हुए भी, अपनी आत्मा को उसी प्रकार

१. ' परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् । कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ' ॥ न चरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः । विकर्मणा मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ' ॥ भा० स्क० ११।३।४४–४५॥

२. ' अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते । प्रतिबिम्बितशाखाग्रफला-

गुणातीतं हि गायन्तः स्वस्मिन् भ्रान्ता यदाऽभवन् ।
मृण्मयोऽयं गतो भूमौ प्राणो वायौ समाविशत् ॥८॥
साधिता नानुभूतिर्यैर्देहेनानेन सुव्रत ! ।
तेषामित्थं हि मानुष्यं व्यर्थमेव गतंगतम् ॥ ९ ॥
भ्रमन्तो रटन्तो गुणातीतमुच्चैर्न यावद्विदन्ति स्वकं रूपमाद्यम् ।
न तावद्विमुक्ता भवन्तीह जीवा व्रजन्त्येव भूतेषु मेम्रियमाणाः ॥
॥१०॥६१॥

स्मरण नहीं करते हैं, सो अतिव्याकुलित (व्याकुलता युक्त) इन्द्रियवाले होकर स्वस्थता नहीं पाते हैं ॥७॥ जब गुणातीत को गाते हुए भी अपने स्वरूप में भ्रान्त हुए, तो व्यर्थ ही यह मृण्मय (मिट्टीरूप) देह भूमि में गया, प्राणवायु में पैठा ॥८॥ हे सुव्रत ! जिन लोकोंने इस देह से अनुभूति (आत्मानुभव) को साधित (प्राप्त-सत्य) नहीं किया, उन का मानुष्य इसी प्रकार व्यर्थ ही बार २ गया ॥९॥ जीव जबतक आद्य (आदि-प्रथम) अपना रूप (स्वभाव सुन्दर स्वरूप) नहीं जानते हैं, तबतक गुणातीत को उच्च स्वर से रटते भ्रमते हुए भी यहाँ विमुक्त नहीं होते हैं, किन्तु बार २ मरते हुए भूतों में जाते हैं ॥१०॥

अक्षरार्थ– अत्यन्त अज्ञ की तो बात ही क्या है, सद्धारणा तोषादि रहित जो अज्ञ मनुष्य धर्म की कथा कहते रहता है, सो भी स्वार्थादि अज्ञानाभिमानादि वश प्रातःकाल में उठ कर लाबरी (असत्य) ही कहता है । और बिहने (सबेरे-सूर्योदय समय) तथा साँझा (संध्या) के समय भी झूठ कहता है, और कोई एक मिथ्या बात वस्तु उसके हृदय में सदा बसती है, आत्माराम के ज्ञान विना किसी मिथ्या मायिक

ऽऽस्वादनमोरवत् ' । मैत्र्युप० २ २॥ 'नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्मकाण्डरता नराः । मन्त्रोच्चारणहोमाद्यैर्भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः ।। एकभुक्तोपवासाद्यैर्नियमैः कायशोषणैः । मूढाः परोक्षमिच्छन्ति मम मायाविमोहिताः ' । गरुडपु० ४९·६०-६१॥

के ध्यानादि में सदा लगा रहता है। इसीसे सत्यात्मा राम का मर्म (भेद) उन लोकों ने नहीं जाना, राम का विवेक उन्हें नहीं हुआ, इससे राम की प्राप्ति के लिये साधन नहीं करके, वेद पुराण की मति (सम्मति) लेकर सकाम कर्मादि करना ठाना (आरम्भ किया)। अथवा राम के ज्ञान विना वेद पुराण को लेकर अपनी मति (मनमाना कर्मादि सम्प्रदायादि) ठाना। इससे सद्विवेकादि विना वह कथा कहनेवाला स्वयं वेद का कहा भी नहीं करता है। निष्काम अहिंसक सत्यवक्ता नहीं होता है, इस कारण तीन ताप से जलते रहता है, सुस्त नहीं परता है (शान्ति नहीं पाता है) इत्यादि।

आत्मभिन्न गुणातीत को हृदय में बसाकर उसी को गाते २ में धर्मकथा कहनेवाले भी आपुहि (अपने स्वरूप को) भ्रमाय (भूल) गये, फिर व्यर्थ ही माटी के कार्य देह माटी (भूमि) में मिल गया, और पवन (प्राणवायु) महावायु में लीन हुआ। आपुहि गये गमाय, इस पाठ पक्ष में, यह भी अर्थ हो सकता है कि, गुणातीत को गानेवाले विवेकी ममता व्यष्टि अभिमान को नष्ट करके मुक्त हुए इत्यादि ॥६१॥

सत्यात्मा राम के मर्म जाने विना जो देहाभिमानी कथा कहनेवाले ([1]जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते। तैत्तिरीयसं० ६।३।१०।५) इत्यादि श्रुति से, देव, ऋषि, पितृ, ऋण को जन्म से ही मानते हैं, इससे त्याग संन्यासादि के अधिकार का अभाव बताते हैं, तथा जन्ममात्र से पूज्यापूज्यादि जाति आदि के भेदों को तटस्थेश्वरादि को सत्य मानते हैं। बोध के लिये उनके प्रति कहते हैं कि--

१ अत्र जायमानशब्देन गृहस्थोऽधिकारी जायमान इत्यर्थो गृह्यते, न तु गर्भाज्जायमान इत्यादि विचारो न्यायभाष्यादौ द्रष्टव्यः ॥

रमैनी ६२

जो तैं कर्ता वरण विचारा। जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा ॥

त्वयैव कर्मणां कर्त्रा बहुवर्णा विचारिताः।
जन्मनोऽनुसृता दण्डास्त्वया वर्णाभिधास्त्रिधा ॥११॥
तापरूपास्तथा दण्डा निर्मितास्तव कर्मभिः।
निरपेक्षो न कश्चिद्धि हेतुरस्ति जगत्कृतौ ॥१२॥
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१३॥
इति किं मनुना प्रोक्ता दण्डा दमनलक्षणाः।
जन्मनैव धृता येन जन्मना द्विजता भवेत् ॥१४॥
यदि चैतैर्विना कश्चिच्छ्रेष्ठ्यमात्मनि मन्यते।
स भ्रान्तो वञ्चयत्यन्यान् कुविचारं करोति च ॥१५॥

कर्मों के कर्ता तुमने ही जन्म से ही ब्राह्मणादि बहुत वर्ण को विचार से सिद्ध किया, और जन्म से ही ऋणनामक तीन प्रकार के दण्ड का अनुसरण (स्वीकार-प्राप्ति) किया ॥११॥ तैसे ही तापरूप तीन दण्ड भी तेरे कर्मों से निर्मित (रचित) हैं, जगत् की कृति (सृष्टि) में कर्मादि निरपेक्ष कोई हेतु (कर्ता) नहीं है ॥१२॥ वाक् दण्ड (दमन) असत्यादि से निरोध, मन का दण्ड परद्रव्य अनिष्ट चिन्तनादि का निरोध, कायदण्ड हिंसादि का निरोध, जिसकी बुद्धि में ये तीनों निहित (स्थापित) हैं, सो त्रिदण्डी कहाता है ॥ मनुः १२।१०। यह वचन है ॥१३॥ मनु से कहे गये दमनरूप जो ये दण्ड, सो क्या किसी ने जन्म से ही धारण किया कि जिससे जन्म से ही द्विजता हो ॥१४॥ और यदि कोई इन दण्डों के विना अपने में श्रेष्ठता मानता है, तो वह भ्रान्त है, और दूसरे को ठगता है, और कुविचार करता है ॥१५॥

जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा । कृतम जनेउ डारि जग मूद्रा ॥

प्रत्यक्षं जन्मना सर्वे जायन्ते शूद्रवर्णकाः ।
मृतौ भवति शूद्रत्वं सर्वेषां नच्च दृश्यते ॥१६॥
संस्कारेण तु देहस्य यज्ञसूत्रादिना तथा ।
द्विजत्वं ब्राह्मणत्वं च सदेहस्यैव जायते ॥१७॥
कृत्रिमं चिन्हमात्रं हि यज्ञसूत्रेण सिद्ध्यति ।
वास्तवं ब्राह्मणत्वं तु तेन नैवोपपद्यते ॥१८॥
जाते च ब्राह्मणत्वे वै तदृणित्वं श्रुतौ श्रुतम् ।
गर्भाच्च जन्मतो मूढ ऋणित्वं प्रतिभाषते ॥१९॥
कायदण्डादिकं चैव विचारवति सम्भवेत् ।
न जाते चार्भके तस्माज्जन्मना नहि विप्रता ॥२०॥
ब्राह्मण्यं कृत्रिमं चैतत्पुण्यलेशेन लभ्यते ।
सांकेतिकं भविष्ये च वणिग्जातिसमं स्मृतम् ॥२१॥

जन्म मात्र से सब शूद्र वर्णवाले प्रत्यक्ष ही जन्मते हैं (संस्कारादि रहित जन्मते हैं) और मरने पर भी सब को शूद्रता (संस्कारादि हीनता) होती है, सो देखा जाता है ॥१६॥ देह का संस्कार से तथा यज्ञसूत्र (जनेऊ) आदि से देह सहित को ही द्विजता ब्राह्मणता होती है ॥१७॥ और यज्ञसूत्र से भी कृत्रिम (कार्यरूप) चिन्हमात्र सिद्ध होता है, वास्तव (सच्चा) ब्राह्मणत्व उससे नहीं हो सकता है ॥१८॥ और ब्राह्मणत्व होने पर वह ऋणित्व श्रुति में सुना गया है, और गर्भ से जन्म होने पर मूढ पुरुष ऋणित्व कहता है ॥१९॥ और इसी प्रकार कायदण्डादि भी विचारवान में ही सम्भव हैं, जात मात्र अर्भक (बालक) में नहीं, इससे भी जन्मसे विप्रता नहीं है ॥२०॥ भविष्य पुराण में कहा गया है कि, यह ब्राह्मणता, कृत्रिम, वणिग् जाति-तुल्य सांकेतिक (संकेत से सिद्ध) है, पुण्यलेश से मिलती है ॥२१॥

जो तुम ब्राह्मण ब्राह्मणि जाया। और द्वार ह्वै काह न आया॥
जो तुम तुरुक तुरुकिनी जाया। पेटहिं काह न सुनत कराया॥

यदि त्वं जन्मना विप्रो ब्राह्मण्याः सम्मतः सुतः।
कस्मान्न मुखतो जातः किं शूद्र इव जायसे॥२२॥
जन्मना यवनश्चेत्त्वं यवन्या गर्भजः सुतः।
कृतसुन्नतकः कस्मान्न गर्भात्समजायथाः॥२३॥
न भवान् ब्राह्मणो नापि यवनः स्त्री पुमान् नहि।
साक्षिमात्रो भवाञ्छुद्धो विवेके सर्वथैव हि॥२४॥
"ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः।
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद् भिन्नस्य ते नहि॥२५॥
क्षुत्पिपासाऽन्धबाधिर्य्ये कामक्रोधादयोऽखिलाः।
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न केचन॥२६॥
जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः।
न सन्ति तव नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः" ॥२७॥

यदि तुम जन्म से विप्र हो, ब्राह्मणी का पुत्र माने गये हो, तो मुख से क्यों नहीं जन्म लिया, शूद्र के समान क्यों जन्मते हो॥२२॥ यदि तुम जन्म से यवन हो, यवनी के गर्भज पुत्र हो, तो सुन्नत किया हुआ क्यों नहीं गर्भ से जन्मते हो॥२३॥ आप न ब्राह्मण न यवन न स्त्री न पुरुष हो, किन्तु विवेक होने पर आप सर्वथा ही शुद्ध साक्षी स्वरूप हो॥२४॥ आत्मोपनिषद् में लिखा है कि, ब्राह्मणता, कुल, गोत्र, नाम, सुन्दरता, जाति; ये सब स्थूल देह में हैं, स्थूल से भिन्न तुम में ये सब नहीं हैं॥२५॥ भूख, पिपासा, अन्धता, बधिरता, कामक्रोधादि; ये सब लिङ्ग (सूक्ष्म) देह में हैं, लिङ्गरहित में कोई नहीं हैं॥२६॥ जडता, प्रियता, मोदत्व धर्म कारण देह में हैं, नित्य निर्विकार स्वरूप तुम में नहीं है॥२७॥

देहदेही दृष्टि से भी जाति का अभिमान को मिथ्या बता कर, आत्मदृष्टि से जाति का सर्वथा अभाव अब समझाते हैं कि—

साखी ।

कारी पिअरी दूहहु गाई । ताकर दूध देहु बिलगाई ॥
छाडु कपट नल अधिक सयानी । कहहिं कबिर भजु सारंगपानी ॥६२॥

कपिला पीतवर्णा वा गौस्त्वया दुह्यतां पयः ।
पृथक् तत् क्रियते किं वै शक्यं कर्तुं न तत्तथा ॥२८॥
तथैवात्मा पृथक्कर्तुं विविक्तो नैव शक्यते ।
तं जानीहि विवेकेन किं वृथा परिमुह्यसे ॥२९॥
गवामनेकवर्णानामेकरूपं यथा पयः ।
नानाविधानां देहानामेक आत्मा तथेरितः ॥३०॥
धौर्त्यं संत्यज्यतां सर्वमतिचातुर्यलक्षणम् ।
सेव्यतां शुद्ध आत्माऽसौ ज्ञातः पापापनोदकः ॥३१॥
तावत्सत्त्वविशुद्ध्यर्थं शार्ङ्गपाणिं भजादरात् ।
आत्मबोधे भवेदैक्यं तेन सर्वात्मना तव ॥३२॥

काली वा पीली गौ से दूध तुम दूहो, तो क्या उस दूध को पृथक् किया जाता है। वह पृथक् करने के योग्य ही नहीं होता है ॥२८॥ तैसे ही असंग पवित्र आत्मा भी पृथक् करने योग्य नहीं है, उसी को विवेक से जानो, व्यर्थ मोहित क्यों होते हो ॥२९॥ आत्मपु० १०।१००९ का वचन है कि, जैसे अनेक वर्ण (रूप) वाली गौओं के दूध एक रूप ही होता है, तैसे ही नाना प्रकार के देहों का आत्मा एक कहा गया है ॥३०॥ अत्यन्त चतुरता (पटुता) रूप धौर्त्य (धूर्तता) वञ्चकता त्यागा जाय, और ज्ञात होने पर सब पाप का नाशक वह शुद्ध आत्मा ही सेवा जाय ॥३१॥ प्रथम सत्त्व (अन्तःकरण) की विशुद्धि के लिये शार्ङ्गपाणि (भगवान् विष्णु) को आदर से भजो, आत्मज्ञान होने पर, सर्वात्मा

शुद्धपानीयतुल्यं वा देवदेवं निरञ्जनम् ।
आत्मानं भज सद्भक्त्या निर्वाणपददं ध्रुवम् ॥३३॥६२॥

उस विष्णु से तुम्हें एकता होगी ॥३२॥ अथवा सच्ची भक्ति से निर्वाण पद देनेवाला, अचल, शुद्ध जल तुल्य निरञ्जन (असङ्ग) देवों का देव परमात्मा को भजो ॥३३॥६२॥

अक्षरार्थ– जो तुमने आत्मभिन्न कर्ता का, और उस कर्ता से स्वाभाविक वर्ण (ब्राह्मणत्वादि) का विचार किया, तो क्या जन्मत (जन्म से ही) वाग्दण्ड, मनोदण्ड, कायदण्ड, रूप तीन दण्डों का भी अनुसरण (धारण) किया अर्थात् इन दण्डों का धारण हो तो जन्म से ही श्रेष्ठ वर्ण हो सकता है, अन्यथा नहीं। अथवा तुम स्वयं कर्मकर्ता होकर जन्म से वर्ण का विचार किया, और जन्मसे ही, देव, पितृ, ऋषि-ऋण रूप तीन दण्ड का स्वीकार किया, सो भ्रम मात्र है, इसे समझने के लिये और भी विचार कर्तव्य है, और अनात्म कर्ता वर्णादि के विचार में ही रहनेसे, आत्मविचारादि विना तीन तापरूप दण्ड भी अपने ही कर्म के फलों को भोगते हो।

जन्मकाल में सब देह शूद्र (संस्कारहीन अशुद्ध) रहता है, फिर मरने पर भी शूद्र ही हो जाता है, बीच में कृतम (कल्पित-कार्य) जनेऊ डार कर व्यवहार के लिये मुद्रा (चिन्ह) किया जाता है। और आत्मा वा सूक्ष्म देह में तो कभी कोई जाति होती ही नहीं है। जाति की कल्पना स्थूल देह में ही होती है, और उस श्रुति में जायमान शब्द का कामी अधिकारी गृहस्थ अर्थ है। इससे विरक्त के लिये कोई भी ऋण रूप दण्ड नहीं है, सो शास्त्र में प्रसिद्ध है।

यदि शरीरी तुम अपने को जन्म से ही ब्राह्मण कहो, और कहो कि ब्राह्मणी ने मुझे जाया (जन्माया) है, तो जन्मते समय और (अन्य)

द्वार से काहे (क्यों) नहीं आयो। या जो (यदि) तुम जन्म से ब्राह्मण हो, और तेरी जाया (स्त्री) जन्म से ब्राह्मणी है, तो दोनों अन्य किसी द्वार से क्यों नहीं आये। सृष्टिकाल में मुख से ब्राह्मण की सृष्टि कही मानी जाती है। मुख से जन्मवाला आज भी जन्म से ही ब्राह्मण हो सकता है। अन्य तो शमदमादि सहित वेद ब्रह्मात्मादि का ज्ञान से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि तुम तुरुक हो, और तेरी जाया (स्त्री) यदि तुरुकिनी है, या तुरुकिनी यदि तुम्हें जन्माया है, तो पेट से ही सुन्नत क०ा कर क्यों नहीं आये। पेट से सुन्नतादिवाला ही जन्म से तुरुक हो सकता है, अन्य कर्मादि से हो सकता है।

काली पीली गाय को दुहकर, उनके दूधों को बिलगावो, अर्थात् जैसे उनके दूधों को नहीं बिलगा (भिन्न कर) सकते, तैसे ही देह में भेद होते भी अ.त्मा में भेद नहीं सिद्ध कर सकते, तौभी आत्मा में और मानव धर्मादि में भेद की प्रतीति अज्ञान पाखण्डादि से ही होनी है, और बहुत व्यवहार वञ्चना रूप भी संसार में चलता है। इससे कहते हैं कि हे मनुष्यो ! अधिक सयानी (चतुराई) रूप कपट (छल) को त्यागो, और सारंगपानी (भगवान् विष्णु) को भजो। या कपट छोड कर शुद्ध जल तुल्य सर्वात्मा राम को भजो कि जिससे ज्ञानादि की प्राप्ति हो ॥६२॥

मिथ्या अभिमानादि का निषेध करके, सत्य सर्वात्मा कर्ता का ज्ञान के लिये कहते हैं कि—

रमैनी ६३

नाना रूप वरण एक कीन्हा। चारि वरण वे काहु न चीन्हा॥
नष्ट गये करता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहिं मन दीन्हा॥

नानारूपविशिष्टानां देहानां मानवेषु हि।
जातिरेकैव सत्कर्त्रा कृताऽस्ति बहुधा नहि[1] ॥३४॥
चातुर्वर्ण्यं कृतं तेन मानमत्र न विद्यते।
नैव वा लक्षणं भिन्नं यथा गोमहिषादिषु ॥३५॥
अथवैको ह्यवर्णो यः सुवर्णः शक्तियोगतः।
नानारूपो भवत्यात्मा चतुःखन्यादिरूपतः ॥३६॥
केऽपि तं नैव पश्यन्ति पश्यन्ति भेदविभ्रमम्।
गोत्रजात्यादिभिर्भ्रान्ताः क्लिश्यन्ते च कुबुद्धयः ॥३७॥

मनुष्यों में नानारूप सहित देहों की भी एक ही जाति सत्कर्ता से की गई है, बहुत प्रकार की नहीं ॥३४॥ 'चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम्, चार वर्ण उस कर्ता से किया गया, इस अर्थ में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। अथवा जैसे गौ भैंसादि में लक्षण भिन्न किया गया, तैसे मनुष्यों में भिन्न लक्षण नहीं किया गया है ॥३५॥ अथवा (य एकोऽवर्णो बहुधा-शक्तियोगात्। श्वेता० ४।१) इत्यादि श्रुति के अनुसार, जो एक आत्मा अवर्ण है, और माया का सम्बन्ध से चार खानी आदिरूप से सुन्दर वर्णवाला नानारूप होता है ॥३६॥ गोत्र जाति आदि से भ्रान्त

---

१. 'चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका। एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रैकभावान्न च जातिभेदः॥ गोत्राणि नानाविधजातयश्च भ्रातृस्नुषामैथुनपुत्रभावाः। वैवाहिकं कर्म न वर्णभेदाः सर्वाणि शिल्पानि भवन्ति तेषाम्'॥ भविष्यपु० १।४१।४५-४८॥ आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः। भा० स्क० ११।१७।१०॥

नष्ट गये जिन वेद बखाना । वेद पढा पै भेद न जाना ॥
बिमलख करै नयन नहिं सूझा । भया यान तब कछु नहिं बूझा ॥

ये कर्तारं विवेकेन नापश्यन् मूढमानवाः ।
ते नष्टा यैश्च वान्येषु मनो दत्तं विमोहतः ॥३८॥
आचक्षाणा हि वेदान् ये रहस्यं नात्मनो विदुः ।
वेदानां पाठमात्रेण ते नष्टा ह्यभिमानिनः ॥३९॥
चक्षुषो विमलत्वार्थमञ्जनं क्रियते यदि ।
दृष्टिशक्तेरभावेन निष्फलं तद्यथा भवेत् ॥४०॥
विवेकादेरभावेन तथैवाऽध्ययनं श्रुतेः ।
निष्फलत्वं समायाति सदा मिथ्याभिमानिनाम् ॥४१॥
यदाऽभूद् गमनं तेषां परलोके भयावहे ।
पश्चात्तापहतास्तत्र तेऽखिद्यन्त तदा मुहुः ॥४२॥

कोई मनुष्य उस को नहीं देखते हैं, किन्तु भेदरूप विभ्रम को देखते हैं और दुःखी होते हैं ॥३७॥ जो मूढ मनुष्य कर्ता को विवेक से नहीं देखे, वे नष्ट हुए, वा जो लोक मोह से अन्य में मन लगाये सो भी नष्ट हुए ॥३८॥ जो वेदों का व्याख्यान करते हुए भी आत्मा का रहस्य (गुप्त भेद) को नहीं जानते हैं, वेदों का पाठमात्र से वे अभिमानी लोक नष्ट हुए ॥३९॥ आँख की विमलता के लिये यदि अञ्जन (कज्जल) किया जाय, तो वह जैसे दर्शन शक्ति के अभाव से निष्फल होता है । तैसे ही विवेकादि के अभाव से सदा मिथ्या अभिमानियों का वेद का अध्ययन भी निष्फलता को प्राप्त होता है ॥४०–४१॥ जब उन अभिमानियों का भयावह (भयजनक) परलोक में गमन हुआ, तब पश्चात्ताप

१. आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः । वसिष्ठस्मृ० ६ ॥

साखी ।

नाना नाच नचाय के, नाचै नट के वेष ।
घट घट अविनासी वसै, सुनहु तकी तुम शेख ॥६३॥

अन्धा[1] इव भ्रमन्तश्च व्यथमानाः कुयोनिषु ।
नाबुधंस्तत्र किञ्चित्ते लोभमोहपराहताः ॥४३॥
मनोबुद्ध्यादिकान् सर्वान् बहुधा नर्तयन् सदा ।
नृत्यतीव च यः शश्वद् बहुवेषैर्नटो यथा ॥४४॥
स सर्वेषु शरीरेषु ह्यविनाश्येव वर्तते ।
नटन् वै बहुधा वेषैस्तैश्च सर्वैरसङ्गतः ॥४५॥
सर्वस्यापि विनाशेऽपि शिष्यमाणो स्थिरां मतिम् ।
कृत्वा त्वं श्रवणं तस्य कुरु शेखतकिन् ! सदा ॥४६॥

से हत (नष्ट) वे लोक वहाँ बार २ दीन दुःखी हुए ॥४२॥ वे लोभ मोह से अत्यन्त आहत (पीडित) लोक अन्धों के समान भ्रमते हुए, कुयोनियों में व्यथा (दुःख भयादि) पाते हुए वहाँ कुछ नहीं समझ सके ॥४३॥

मन बुद्धि आदि सब को सदा बहुत प्रकार से नचाता हुआ, जो बहुत वेष से नट के समान निरन्तर नाचता हुआ तुल्य है ॥४४॥ सो सब शरीरों में अविनाशी ही रहता है, बहुत प्रकार के वेषों से नाचता हुआ भी उन सब वेषों से असङ्ग (अमिलित) रहता है ॥४५॥ हे शेखतकी ! सब के नाश होने पर भी शेष रहनेवाला आत्मा में बुद्धि को स्थिर करके तुम उसी का सदा श्रवण करो ॥४६॥ कल्प (सज्ज

---

१. विवेकान्धो हि जात्यन्धः शोच्यः सर्वस्य दुर्मतिः । दिव्यचक्षुर्विवेकात्मा जयत्यखिलवस्तुषु । योगवा० ३।१४।४१॥

कल्यैर्वेषैर्नटो वै प्रकटितनटनो नैव लास्यादिभिः स्वः,
आत्मानं तत्स्वरूपं स्मरति हृदि यथा वेषनाशान्न नाशम्।
तद्वत्साक्षिस्वरूपो[1] जनिमृतिविकलो मायया सर्वकारी,
देवो देहादिवेषैः सदितरसकलं बुध्यमानोऽप्यसङ्गः ॥४७॥
श्रवणेनास्य सन्मत्या बन्धान्मुक्तो भवेन्नरः।
अन्यथा न भवेज्जन्मसहस्रान्तेऽपि कश्चन ॥४८॥६३॥

इति रमैनीरसोद्रेके तत्त्वबोधं विना परवञ्चना स्वनाशादिवर्णनं नामैकोनत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥२९॥

संनद्ध वा संभृत) वेषों द्वारा प्रकटित (प्रारब्ध) नटन (नृत्य) वाला नट जैसे उस लास्य (नृत्य गानादि), से वेषादि से अपनी आत्मा को हृदय में उसी स्वरूप नहीं समझता, स्मरण करता है, न वेष का नाश से वह अपना नाश समझता है, तैसे ही जन्म मरण से रहित, साक्षिस्वरूप, सत् असत् सब को जाननेवाला होते भी देहादि वेषों से असंग माया से सब करनेवाला देव भी अपने को देहादि रूप नहीं देखता है, न इसका नाश से नाश समझता है ॥४७॥ इसी देव का श्रवण सच्ची मति (बोध) से मनुष्य मुक्त होता है, और प्रकार से हजारों जन्म के अन्त में भी कोई मुक्त नहीं हो सकता है ॥४८॥

अक्षरार्थ– परमात्मा ने नानारूपवाले मनुष्यों की जाति (वर्ण) एक किया है, वह चार वर्ण किया इसका बोधक गोमहिषादि की तरह कोई चिन्ह नहीं है। अथवा एक वरण (स्वरूप) आत्मा शक्ति बल से अपना

१ देवो नासौ सुरो रक्षो यक्षः किं किन्नरो जनः। आत्मैवाद्यविलासिन्या जगन्नाट्यं प्रनृत्यति। योगवा० ५।९१।९२॥ सर्वभूतान्तरामेकः स्वतन्त्रो मायया वृतः। एकं स्वं बहुधा कुर्याद् बहुरूपो यथा नटः। अनुभूतिप्रकाश० ११।९०॥ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन सर्वभतानि यन्त्रारूढानि मायया। भ० गी० १८।६१॥

नाना रूप किया है, वही चार खानि में चार वरण दीखता है; परन्तु कोई अविवेकी उसे चिन्हता नहीं है। उस सत्य कर्ता को जो नहीं चीन्हा सो नष्ट गया (हुआ)। जो उसे नहीं भी चिन्हा है परन्तु उसके श्रवणादि में लगता है, उस का भी कल्याण होता है, परंतु जो उससे अन्य में मन दिया (लगाया), श्रवणादि भी नहीं किया, सो अत्यन्त नष्ट हुआ इत्यादि।

जिन्हों ने वेदों को पढा, परन्तु पढने पै (पर) भी जबतक आत्माराम का भेद को नहीं जाना, तबतक वे लोक वेदों का व्याख्यान करते रहने पर भी नष्ट गये (हुए)। यदि कहा जाय कि ज्ञान का हेतु वेद को पढने पर अवश्य ज्ञान होना चाहिये, तब कहते हैं कि वेदादि के पढने पर भी अज्ञ रहने वालों की ऐसी दशा कि जैसे कोई विमलख (आंख को विमल करने वाला औषध) करे, अञ्जनादि आंख में लगावें, और आँख फूटे हों या किसी प्रकार सर्वथा सूझता ही नहीं हो, तो वह औषध व्यर्थ होता है, तैसेही सर्वथा विवेक रहित का पढना व्यर्थ होता है। फिर जब इस देह से यान (यात्रा-गमन) मरण जब जिसका हुआ, तब तो कोई कुछ बूझ (समझ) ही नहीं सकता है। यान, के स्थान में, अयान, आन, पाठ हो तब अर्थ है कि, अज्ञानी वा देह से अन्य देह होने पर कोई कुछ नहीं समझा इत्यादि।

जिसको जानने विना नष्ट होता है, सो कहीं दूर वा दूसरा नहीं है; किन्तु इस शरीरादि के अन्दर है, और शरीरादि को नाना नाच नचाय कर, आप भी नट के वेष से नाचता है। अर्थात् माया से नट के समान कल्पित वेषों द्वारा नाचता हुआ के समान प्रतित होता है, आभास बुद्धि आदि के धर्म उसमें प्रतीत होते हैं। स्वयं वह क्रिया रहित है, सो असङ्ग अविनाशी घट २ (सब देह) में बसता है, माया से अन्तर्यामी बनकर नचाता भी है। हे शेखतकी ! उसीके श्रवणादि करो, तथा शेष (अविनाशी) को तकी (ताक कर) उधर मन लगा कर श्रवणादि करो, कि जिसके ज्ञान से मुक्त होगे ॥६३॥

दुर्बोधफलादि प्रकरण ३०

प्रथम कहा गया है कि, सत्यकर्ता के ज्ञानादि विना अन्य में मन लगानेवाला नष्ट होता है, उसीको स्पष्ट करने के आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ६४

काया कञ्चन यतन कराया। बहुत भाँति के मन पलटाया ॥
जौं सौ बार कहौं समुझाई। तैयो धरा छुवा नहिं जाई ॥

मनोऽनात्मसु दत्वैते सर्वेऽहङ्कारिणो नराः।
कायकाञ्चनकाद्यर्थं प्रयत्नं कुर्वते सदा ॥ १ ॥
पीडयन्ते मनश्चैवं बहुधा भ्रमयन्ति च।
शतशो बोधने सम्यङ्‌ न गृह्णन्ति स्पृशन्ति वा ॥ २ ॥
ग्रहाऽऽग्रहं त्यजन्त्येते नैव जातु कथञ्चन।
मुच्यन्तां तु कथं ग्राहाज्जन्ममृत्युमुखात् खलु ॥ ३ ॥
किम्वाऽतिबोधनेऽप्यज्ञाः [1]कनकं कामिनीं धनम्।
गृह्णन्ति च विमुह्यन्ति धृतं जातु त्यजन्ति नो ॥ ४ ॥

ये सब अहंकारी मनुष्य अनात्माओं में मन देकर, शरीर कनकादि के लिये सदा यत्न करते हैं ॥१॥ इसी प्रकार मन को सदा पीडित करते हैं, बहुत प्रकार से भ्रमाते हैं, सैकड़ो बार अच्छी तरह समझाने पर भी सत्य का ग्रहण वा स्पर्श नहीं करते हैं ॥२॥ ग्रह (उपराग) तुल्य आग्रह को वा ग्रहण का आग्रह (हठ) को ये लोक कभी किसी प्रकार नहीं त्यागते हैं. तो जन्ममरणादि रूप ग्राह से कैसे मुक्त होयँ ॥३॥ अथवा अत्यन्त समझाने पर भी अज्ञ लोक कनक स्त्री धन का ग्रहण करते हैं, वेमुग्ध होते हैं, पकड़े हुए को कभी नहीं छोडते हैं ॥४॥

---

१. न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु। यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥ योगवासिष्ठ ॥

जन के कहे जु जन रहि जाई। नव निद्धी सिद्धी तिन पाई ॥
सदा धर्म तिहि हृदया बसई। राम कसौटी कसते रहई ॥
जो रे कसाघट अन्ते जाई। सो बावर अपने बौराई ॥

उक्तौ गुरुजनानां ये तिष्ठन्ति सज्जनाः सदा।
निधयः सिद्धयश्चैतैर्लभ्यन्ते नात्र [1]संशयः ॥५॥

सद्धर्मो हृदये तेषां वसत्येव स्वभावतः।
विचारनिकषे शश्वत्परीक्षन्तेऽथ रामकम् ॥६॥

कस्यापि निकषश्चैष रामाद[2]न्यत्र याति चेत्।
स स्वयं मुग्धतां प्राप्य प्रमत्त इव धावति ॥७॥

जो सज्जन सदा गुरुजन की उक्ति (कहने) में स्थिर रहते हैं, वे नव निधि सब सिद्धियों को प्राप्त करते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥५॥ उनके हृदय में सत्धर्म स्वभाव से ही बसता है, और विचाररूप निकष (शाण) कसौटी पर सदा वे राम की परीक्षा किया करते हैं ॥६॥ यदि किसीका यह निकष (विचार) राम से अन्य में जाता है, तो वह स्वयं मुग्धता (अविवेकिता) पाकर प्रमत्त (अति उन्मत्त) के समान दौडता है ॥७॥

---

१. अर्थार्थे यानि कर्माणि करोति कृपणो जनः। तान्येव यदि धर्मार्थे कुर्यात् को दुःखभाग्भवेत्। इतिहाससमुच्चय ॥

२. अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्माद्दुःखं तथेतरत्। रागद्वेषादयो दोषाः सर्वभ्रान्तिनिबन्धनाः। ईश्वरगीती। अ० २।२०॥

साखी ।

तातै फांसी काल की, करहु आपनी शोच ।
सन्त सिधावे सन्त जहँ, मिलि रहु पोंचहिं पोंच ॥६४॥

कालपाशोऽपि तस्माद्धि रामादन्यस्य चिन्तनात् ।
संलग्नो लक्ष्यते लोके ततश्चात्मैव चिन्त्यताम् ॥ ८ ॥
आत्मरामस्य चिन्तार्थं सज्जनास्तत्र यान्ति हि ।
वसन्ति सज्जना यत्र साधवो दीनवत्सलाः ॥ ९ ॥
असज्जनास्तु ये नीचा धूर्ता लोकविडम्बकाः ।
ते निहीनैर्मिलित्वैव तत्र तिष्ठन्ति सादराः ॥१०॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं किमन्यदिह कथ्यताम् ।
स्वयं हि नरके यान्ति स्वयं नाके च निर्वृतौ ॥११॥६४॥

राम से अन्य का उस चिन्तनादि से ही काल का पाश (बन्धन-समूह) लोक में संलग्न (सम्यक् प्राप्त) दीखता है, तिससे आत्मा ही विचारा, याद किया जाय ॥८॥ आत्माराम की ही चिन्ता (स्मरण) के लिये सज्जन तहाँ जाते हैं कि जहाँ दीन वत्सल (दरिद्र-भयभीत के स्निग्ध) अर्थात् दुःखी के सहायक प्रेमी, सज्जन साधु बसते हैं ॥९॥ और जो असज्जन धूर्त (वञ्चक) लोक को विडम्बक (ठगनेवाले) नीच हैं, सो निहीन (नीच) से ही मिल कर वहाँ ही आदर सहित रहते हैं ॥१०॥ मोह का महात्म्य (महिमा) आश्चर्य रूप है, यहाँ अन्य क्या कहा जाय । आप ही जीव नरक में मोह से जाते हैं, सुकर्मादि से नाक (स्वर्ग) में जाते हैं, निर्वृति (मुक्ति सुख) में भी स्वयं प्राप्त होते हैं ॥११॥

अक्षरार्थ– एक अविनाशी आत्मा के ज्ञानादि विना मनुष्यों ने काया (देह) और कञ्चन (सुवर्णादि) का ही यत्न किया कराया । शरीर से कनक का अर्जन पालन किया, मलीन शरीर को कंञ्चन तुल्य जान कर इसका

पालनादि किया, दान परोपकार रक्षा आत्मविचारादि नहीं किया ।। और काया आदि के लिये अपना तथा अन्य का मन को बहुत प्रकार से पलटाया (भ्रमाया-दौड़ाया), आत्मनिष्ठ नहीं किया । इससे संशय भ्रम में पड़ा रहा । ऐसे लोकों से यदि सैकडों बार समझा कर सत्यात्मा सत्धर्म की बात कहौं (कहता हूं) तैयो (तौभी) उनसे बात धरा (धारण किया) नहीं जाता है । धरना दूर रहा छुआ भी नहीं जाता है (प्रेम से सुना भी नहीं जाता है) अर्थात् अभिमानी आसक्त को जैसे वेदादि पढने से ज्ञान नहीं होता, तैसे उपदेशादि से भी नहीं होता है; किन्तु भोगादि से पापादि की निवृत्ति के बाद ही उपदेशादि से ज्ञान कल्याण होता है। छुआ, के, छोरि, पाठान्तर है ।

जो श्रद्धालु सज्जन, गुरुजन (लोक) के कहे (कहना-आज्ञा) में रह जाते हैं, या जो अपने को हरि गुरु का जन (मनुष्य) कहते हैं । और सदा जन (मनुष्यता सहित) रह जाते हैं, तिन (उन) लोकों ने नव-निधि और सब सिद्धि पाई । अर्थात् आत्मज्ञान वैराग्यादि से संतुष्ट तृप्त हो गये । उनके हृदय में सदा धर्म बसता है, अधर्म नष्ट हो जाता है। और बुद्धिरूप कसौटी पर सदा सर्वात्मा रामरूप सुवर्ण को कसते (विचारते मनन ध्यानादि करते) रहते हैं । और जो रे (यदि) किसी मन्द भाग्यवाला का कसावट (विचार-ध्यान) आत्मराम से अन्ते (अन्यत्र) चला जाता है, तो वह बावर (कुविचारी) आप अपने अपराध से बौराता (भटकता) है । अज्ञानान्ध होकर जन्मादि दुःख भोगता है, इत्यादि ।

ताते (आत्माराम से अन्य की चिन्ता आदि से बावरे होने से) काल की फांसी लगी और लगती है । इससे आपनी (अपना स्वरूप राम) का ही शोच (विचारादि) करो । अन्य चिन्ता को त्यागो । और इस विचारादि के लिये सन्त (सज्जन जिज्ञासु) वहाँ सिधाये (गये) कि जहाँ ज्ञानी सन्त रहते हैं । तथा वहाँ ही सिधाये (सब सिद्धि पाये) । और

पोंच (नीच) लोक नीचों से ही मिले रह गये, और रहते हैं। इससे कुछ सिद्धि नहीं पाते हैं।

विशेष बात यह है कि (कसावट, के, कसावे), पाठान्तर है। तब कुछ भावार्थ यह है कि, जिसके हृदय में धर्म सदा बसता है, उसको राम (ईश्वर) भी यहाँ ही कसौटी पर कसते रहते हैं। उसे धर्माधर्म भोगाकर, उसकी परीक्षा निरीक्षण करते रहते हैं। और अन्त में मुक्त करते हैं। और जो यहाँ कसौटी नहीं सहता है, सो अन्यत्र जाकर यमराजादि से अपने को कसाता (पीडित करता) है, और अपने ही भटकता है इत्यादि। और राम की कसनी नही सह सकने से ही काल की फांसी लगती है, इससे तितिक्षा आदि करो, इत्यादि ॥६४॥

प्रथम मुमुक्षु के लिये उपदेश दिया गया है कि, गुरु की आज्ञा मानकर सत्संग विचारादि करना चाहिये, सो सुन कर शंका हुई कि, गुरुभक्ति सत्सङ्गादि से कुछ फल नहीं मिलता है; किन्तु ईश्वर प्रकृति काल देवादि से सब फल मिलते हैं, इससे ईश्वरादि के ध्यानादि करना चाहिये, अथवा कुछ नहीं करना चाहिये। जब समय आवेगा, ईश्वर की इच्छा होगी, तो स्वयं कल्याण होगा, इत्यादि। तब कहते हैं कि—

रमैनी ६५

अपने गुण कहँ अवगुण कहहू। यहि अभाग जो तुम न विचारहू॥

इत्थं स्वस्य विचारेण ज्ञानाभ्यासादियोगतः।
सर्वं संप्राप्यते लोके [1]स्वर्गो मोक्षः सुखानि च ॥१२॥

इस प्रकार अपना विचार ज्ञानाभ्यासादिरूप योग से लोक में स्वर्ग मोक्ष और सुख सब मिलता है ॥१२॥ आश्चर्य है कि तौ भी तुम सब

१. अभ्यासवैराग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात्। नात्मनः प्राप्यते यत्तत्-प्राप्यते न जगत्त्रयात्। यो० वा० ५।४३।१८॥ आत्मनो गुरुरात्मैव

तुम जियरा बहु ते दुख पाया । जल बिनु मीन कौन सचु पाया ॥
चातक जल हल आसहिं पासा । स्वांग धरे भवसागर आशा ॥

अहो तथापि यूयं तु विचारादीन् गुणान् स्वकान् ।
अवगुणत्वेन भाषध्वे दोषबुद्ध्या निरीक्ष्य तान् ॥१३॥
इदमेव कुभाग्यं च वर्तते भवतामिह ।
यद्विचारं न कुर्वन्ति सर्वत्रैव शुभावहम् ॥१४॥
दुःखानि तु बहून्यत्र विचारेण विना पुरा ।
अवाप्नुवन् सदा जीवा मत्स्या नीरं विना यथा ॥१५॥
यथा वारि विना किञ्चित् क्वापि मत्स्यसुखं नहि ।
विचारादि विना तद्वत्प्रमोदो नैव कस्यचित् ॥१६॥
चातकस्य समीपेऽपि स्वमृतं विद्यते यदि ।
मेघादर्थयते तोयं तथा सर्वेऽविचारिणः ॥१७॥

अपने उन विचारादि गुणों को दोषबुद्धि से देख कर उन्हें अवगुण रूप से कहते हो ॥१३॥ और आप सब के यही यहाँ कुभाग्य (कुदैव) दुष्ट प्रारब्ध है, कि जो सर्वत्र शुभ देनेवाला विचार नहीं करते हो ॥१४॥ जैसे मछलियाँ जल विना दुःख पाती हैं, तैसे जीवों ने विचार विना यहां पहले बहुत दुःख पाया है ॥१५॥ जैसे जल विना कहीं भी कुछ भी मछली को सुख नहीं है, तैसे ही विचारादि विना किसी को भी प्रमोद (हर्ष–सुख) नहीं होता है ॥ ६॥

चातक के पास में ही यदि सुन्दर अमृत (जल) रहता है, तौ भी मेघ से तोय (जल) की उपयाचना करता है, तैसे ही सब अविचारी

पुरुषस्य विशेषतः । यत्प्रत्यक्षाऽनुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ भा० स्क० ११।७।२०॥ षडवर्गो निर्जितः पूर्वं येनोत्तमविदा स्वतः । भाजनं स महार्थानां नेतरो नरगर्दभः ॥ आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः आत्माऽऽत्मना चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ योगवा० ६।२।१६२।१८॥

चातक जल हल भरल जु पासा। मेघ न बरषै चलै उदासा॥
राम नाम ईहै निज मारू। औरो झूठ सकल संसारू॥

समीपस्थं च गम्भीरमात्मानन्दमहोदधिम्[1]।
उत्सृज्यैव तु देवेभ्यो याचन्ते विषयादिकम्॥१८॥
बहुवेषान् विधायाऽपि धृत्वा देहमनुत्तमम्।
विचारेण विना चैते ह्याशां कुर्वन्ति जागतीम्॥१९॥
चातकस्य समीपे चेज्जलपूर्णं सरोवरम्।
विद्यते वृष्ट्यभावेन सोदासीनो विकम्पते॥२०॥
तथा पूर्णे निजानन्दे विषयालाभतो जनाः।
खिन्ना धावन्ति संसारे मन्यन्ते न निजं सुखम्॥२१॥
निजानन्दस्वरूपोऽयं रामः सारो जगत्त्रये।
अन्यः सर्वोऽपि संसारो मिथ्यैवेति विनिश्चयः॥२२॥

लोक समीप में स्थिर गम्भीर आत्मानन्दरूप महान समुद्र को त्याग करके ही देव सब से विषयादि की याचना करते है॥१७-१८॥ सर्वोत्तम देह धर के बहुत वेष करके भी ये लोक विचार बिना जगत् सम्बन्धी आशा करते हैं॥१९॥ चातक के समीप में यदि जल से पूर्ण सरोवर (तालाब) रहता है, तो भी वृष्टि के अभाव से वह उदासीन (उपराम) हो कर चलता है॥२०॥ तैसे ही आत्मानन्द के पूर्ण रहते भी विषयों की अप्राप्ति से मनुष्य खिन्न (कृश दीन) होकर संसार में दौडते हैं, और स्वरूप-सुख को नहीं समझते हैं॥२१॥

आत्मानन्दस्वरूप यह राम ही तीनों लोक में सार (स्थिर--श्रेष्ठ) है, अन्य सब संसार मिथ्या है, यह निश्चय है॥२२॥ जो यह मन वचन

१. यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥ छा० ७।२३।२४॥

हरि उतङ्ग तुम जाति पतंगा । यम घर कियेहु जीवको संगा ॥
किञ्चित है स्वप्ने निधि पाई । हिय न माय कहँ धरहु छिपाई ॥

"यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं तद्विद्धि मायामनोमयम्" ॥२३॥
निजात्मा च हरिः साक्षात्सर्वेभ्य उत्तमो महान् ।
अविनाशी च तं त्यक्त्वा जातोऽसि त्वं [1]पतङ्गवत् ॥२४॥
पतङ्गेन समो भूत्वा स्वयमेव यमालये ।
संसारे स्वात्मनः सङ्गं सदा त्वं कृतवानसि ॥२५॥
माया हरणशीला वा सेयमग्निशिखासमा ।
वर्तते तत्र मोहेन स्वात्मानं हुतवानसि ॥२६॥
अल्पमर्थादिकं सर्वं प्राप्तं स्वप्ननिधिर्यथा ।
हृदये नैव मात्येतत् कुत्राच्छाद्य धरिष्यसि ॥२७॥

चक्षु श्रोत्र (कान) आदि से गृह्यमान (जाना जाता) है उन सबको नश्वर मायामनोमय (मिथ्या) जानो । यह भागवत स्क० ११।७।७ का वचन है ॥२३॥ और निजात्मा ही साक्षात् हरि है, सो सब से महान् उत्तम है, और अविनाशी है, उसे त्याग कर तुम पतङ्ग (शलभ) तुल्य हुए हो ॥२४॥ पतङ्गतुल्य होकर, तुम स्वयम् ही (आप ही) अपनी आत्मा का यम का आलय (घर) रूप संसार में सदा सङ्ग (सम्बन्ध) किये हो ॥२५॥ अथवा हरण (नाशन) स्वभाववाली जो माया है, सो यह अग्नि की शिखा (ज्वाला) तुल्य है, उसमें मोह से तुम अपनी आत्मा का हवन किया है ॥२६॥

अल्प (लेश मात्र) अर्थ (द्रव्य) आदि प्राप्त सब वस्तु स्वप्न के निधि तुल्य है । और यह हृदय में नहीं माता (अँटता, समाता) है,

---

१. योषिद्धिरण्याऽऽभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः । प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ भ० स्क० ११।८।८॥

हिय न समाय छोड़ु नहि पारा । झूठ लोभ तैं कछु न विचारा ॥
सुमृति कीन्ह आपुहिं नहिं माना । तरुवर तर छागर ह्वै जाना ॥

हृदि धार्यं हि मोहेन मन्यसे तत् स्वभावतः ।
हृदये नैव मात्येवं नाशेन तच्च दुःखकृत् ॥२८॥
हृदये नैव संमाति त्वया त्यक्तुं न शक्यते ।
अनुगामितया तस्य मिथ्यालोभान्न मुच्यसे ॥२९॥
लोभग्रस्तो न किञ्चित्त्वं सद्विचारं करोषि चेत् ।
मायाग्नेः कालपाशाच्च कथं मुक्तो भविष्यसि ॥३०॥
अन्यांश्च स्मृतवांस्त्वं हि स्वात्मानं मन्यसे स्म न ।
लोभेन त्वाशया बद्धः कथं दुःखाद्विमोक्ष्यसे ॥३१॥
संसारवनवृक्षाऽधश्छागो भूत्वा गमिष्यसि ।
मृत्युस्ते वर्तते पार्श्वे तं न जातु प्रपश्यसि ॥३२॥
न्यस्तं मूर्ध्नि मुदा छगो 'बलिभूतोऽक्षतं यथा'[1] ।
अत्त्येवं विषयान् मर्त्यो मृत्युं तद्वन्न पश्यति ॥३३॥

कहां इसे ढांप कर धरोगे ॥२७॥ उस अल्प अर्थादि को मोहरूप स्वभाव से हृदय में धरने योग्य मानते हो, और वह हृदय में अँटता नहीं है, इस प्रकार नाश से तुझे दुःखकारक होता है ॥२८। हृदय में समाता नहीं है, तुमसे त्यागा जाता नहीं है, और उसकी अनुगामिता करके मिथ्या लोभ से मुक्त नहीं होते हो ॥२९॥ और लोभग्रस्त तुम कुछ भी सद्विचार यदि नहीं करते हो, तो मायारूप अग्नि और कालपाश से कैसे मुक्त होगे ॥३०॥

लोभ और आशा से बँधाया हुआ तुम अन्य का स्मरण किये हो, अपनी आत्मा को नहीं समझे हो, तो दुःख से कैसे छूटोगे ॥३१॥ संसार वन के वृक्ष (देह) के अधः (नीचे) छाग (बकरा) हो कर जावोगे । मृत्यु तेरे पास में ही है, उसको कभी नहीं देखते हो ॥३२॥ देवबलि (उपहार)

१. न्यस्तं यथा मूर्ध्नि मुदाऽस्ति मेषो, यवाक्षताद्यं बलिकल्पितः सन् । मृत्युं समीपस्थितमप्यजानन्, भुनक्ति मर्त्यो विषयांस्तथैव । कविवाक्यम् ॥

जिव दुर्मति डोलै संसारा। ते नहिं सूझै वार न पारा

साखी।

अन्ध भया सब डोलये, कोइ न करै विचार।
कहा हमार मानै नहिं, किमि छूटै भ्रमजार ॥६५॥

दुर्मत्या सकलो जीवो विषयाभोगलालसः।
भवाटव्यां भ्रमत्यातो ह्यस्य पारं न पश्यति ॥३४॥

आशां कुबुद्धिं मनुजो विहाय यो, रामं भजेत्तं हृदि यो विराजते।
नाऽसौ पुनर्भ्राम्यति मोदते सदा, लब्ध्वाऽत्र रामं विमलं परात्परम् ॥३५॥

अज्ञानान्धो नरो भूत्वा सर्वो भ्रमति सर्वदा।
न करोति विचारं च कोपि सत्यात्मनः खलु ॥३६॥

सद्गुरोरुपदेशं यो मन्यते नैव चान्ततः।
भ्रमजालं कथं मुञ्चेत्कथं वाऽयं सुखी भवेत् ॥३७॥

आत्मैवास्त्यात्मनो बन्धुः सद्विचारादिसंयुतः।
विचारादि विना स्वस्य स्वयं शत्रुर्न संशयः ॥३८॥

रूप छाग जैसे शिर पर दिया हुआ अक्षत को खाता है, इसी प्रकार मनुष्य विषयों को खाता (भोगता) है, उसीके समान मृत्यु को नहीं देखता है ॥३३॥ विषयों का आभोग (पूर्णता) की लालसा (अत्यन्त-तृष्णा) वाला सब जीव दुर्बुद्धि से संसार बन में भ्रमता है, और इसके पार को नहीं देखता है ॥३४॥ जो मनुष्य आशा कुबुद्धि को त्याग कर उस राम को भजता है, कि जो राम सदा हृदय में बिराजता है, वह यहाँ पर से पर विमल राम को पा कर फिर भ्रमता नहीं है, सदा आनन्द होता है ॥३५॥ सब मनुष्य अज्ञान से अन्धा होकर सदा भ्रमता है। कोई भी सत्यात्मा का विचार नहीं करता है ॥३६॥ और जो सद्गुरु का उपदेश को भी अन्ततः (अन्त्य में, निश्चय करके) नहीं मानता है, सो भ्रमजाल (भ्रान्तिवृन्द) को कैसे त्यागे, वा यह सुखी कैसे हो ॥३७॥ सद्विचारादि

स्वविचाराद् गुरोर्वाक्याज्ज्ञात्वात्मानं निरञ्जनम् ।
भ्रमाद्विमुच्यते जीवः सर्वस्माच्चाऽत्र बन्धनात् ॥३९॥
अभ्यासेन विरागेण युतात्स्वमनसो गुरोः ।
दान्तो यन्नेह लभ्येत तन्न लभ्यं हि कुत्रचित् ॥४०॥६५॥

इति रमैनीरसोद्रेके दुर्बोधफलादिवर्णनं नामत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३०॥

सहित आत्मा (आप) ही अपना बन्धु है। और विचारादि विना अपना शत्रु स्वयं आप है, इसमें संशय नहीं है ॥३८॥ अपना विचार और गुरु के वाक्य से निरञ्जन (असंग शुद्ध) आत्मा को जान कर, जीव यहां सब भ्रम और बन्धन से मुक्त होता है ॥३९॥ अभ्यास वैराग्य सहित अपना मन और गुरु से दान्त (तितिक्षु) हुआ जो मनुष्य उससे जो सुख वस्तु यहां नहीं प्राप्त किया जाता, सो कहीं प्राप्त करने योग्य नहीं है ॥४०॥

अक्षरार्थ- हे मनुष्यों ! तुम अपने विचाराभ्यास शमादि गुणों कहँ (को) अवगुण (निरर्थक) कहते हो तथा समझते हो, इससे विचारादि नहीं करते हो, देवादि की आशा करते हो। परन्तु तेरा सब से भारी यही अभाग (दुर्भाग्य) है, जो तुम विचारादि नहीं करते हो। और हे जियरा ! (जीव !) इसी सद्विचारादि रूप अपने गुण के विना तुम बहुत दुःख पाये हो। और आगे भी इसके विना सुख नहीं पा सकते हो; क्योंकि जल के विना मछली कहाँ कौन सचु (आनन्द) पाती है। विचारादि विना वही दशा अपनी समझो। अर्थात् जल के रहते ही में मीन को आहारादि भी सुखद होते हैं, तैसे ही विचारादि के रहने पर ही ईश्वरादि हितकर होते हैं। यदि विचारादि विना ईश्वरादि जीव को मुक्त सुखी करते तो कोई बद्ध दुःखी नहीं रहता। दयालु ईश्वर सब को मुक्त ही कर दिये होते। इससे अवश्य विचारादि करना चाहिये।

चातक के पास (समीप) में किसी आस (आशा-दिशा) में जल हल (था), वा है, तौ भी वह जैसे मेघ से जल चाहता है। तैसे विचारादि

से पाने योग्य आनन्द राम के हृदय में रहते भी विचारादि रहित मनुष्य, उस आनन्द की प्राप्ति के लिये बहुत प्रकार के स्वांग (वेष) धर कर भवसागर की ही आशा करता है (ईश्वर देवादि से सांसारिक सुख चाहता है)। और चातक के पास में जल भरल (पूर्ण) हल (था) तौ भी मेघ के नहीं बरपने पर वह उदास (दुःखी) होकर चलता रहा और चलता है। तैसे आनन्दघन के सर्वत्र पूर्ण रहते भी अज्ञ जीव विषयादि की प्राप्ति बिना मारा २ फिरता है।

राम जिसका कल्पित नाम है, ई है (सोई) प्रत्यक्ष निज (अपना) सार (स्थिर-श्रेष्ठ) स्वरूप है। और उससे और (भिन्न) सब संसार झूठ (माया मात्र मिथ्या) है। और निजात्माराम अत्यन्त उतङ्ग (महान्) है, उसके ज्ञान विना कामी तुम पतंग जाति तुल्य तुच्छ हुए हो, या चित्त को हरनेवाली माया आदि रूप हरि उतंग (उन्नत) अग्निशिखा-हुई है। तुम उसमें पतङ्ग के समान पड़ते हो, इसीसे यम के घर में अपनी जीवात्मा का आप ही सम्बन्ध किये हो, इत्यादि।

अनेक कर्मादि से जो निधि (शेवधि-पद्मादि नामक सम्पत्ति) तुमने पाई है, सो सब स्वप्न की निधि तुल्य है। और आत्मनिधि की अपेक्षा अत्यन्त किञ्चित् (तुच्छ नश्वर) है। तौ भी तुम उसे अमूल्य अलभ्य समझ कर छिपा कर धरते हो, वह हृदय में नहीं समाती है। अन्यत्र कहाँ छिपाकर धरोगे, कि जहाँ कोई नहीं देखे, न ले सके। क्योंकि वह हृदय में रहने निश्चय योग्य नहीं है, बाहर छिपने लायक नहीं है। तुम मोहादि से उसे हृदय में धरने योग्य मानते हो; परन्तु वह हृदय में समाती नहीं है, न तुम उसके पारा (पीछा) छोड़ते हो, किन्तु उस द्वारा सुख की इच्छा से लोभादि करते हो, इससे छोड़ने में पार नहीं पाते हो। और उस झूठी वस्तु का लोभादि के वश में होने से तुमने सत्य धर्मात्मादि का कुछ भी विचार नहीं किया। महाभारत शान्तिप० अ० १६३।२१ वचन है कि (अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा। अस्थिरत्वं च

भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते॥) अज्ञानजन्य लोभ प्राणियों के सदा देखा जाता है, भोगों को अनवस्थिर देख जान कर लोभ रहित होता है।

अज्ञान लोभादि वश जिन जीवों ने किसी अनात्म पदार्थों का सिमृति (स्मरण ध्यानादि) किया, और आपु (अपना आत्माराम) को नहीं माना (आत्मविचारादि नहीं किया), न अपने धर्म शमदमादि को समझा। किन्तु इन्हें व्यर्थ जान कर इनका त्याग किया। उन जीवों को इस संसार बन के शरीर गृहादिरूप तरुवर (वृक्ष) के तरे (पास में नीचे) छागर होकर जाना होगा (अर्थात् जैसे अक्षत के चावल दूवादि को खाता हुआ बकरा नष्ट होता है, तैसे विषयादि के भोग ध्यानादि में नष्ट होंगे)। इस प्रकार बार २ नष्ट होने पर भी दुर्बुद्धि सब जीव संसार के व्यवहारों में ही डोलता (विचरता) है। कभी सत्य धर्म सत्यात्माराम के विचारादि नहीं करता है। ते (तिसी कारण से) इसको संसारसागर के वारपार नहीं सूझता है, इससे सदा संसार में नष्ट होता है।

आशा लोभादि से अविवेकान्ध होकर, सब संसार के व्यवहारादि में डोलते (फिरते भटकते) हैं। सत्धर्म विवेकादि के लिये कोई स्वयं विचार नहीं करता है। और हमार (सद्गुरु का) कहा भी नहीं मानता है, तो भ्रम का जाल (समूह) वा भ्रमरूप जार (जडता) कैसे छूटे। विचार और गुरु वचन ही भ्रमनाशक हैं, इससे श्रवण विचार अवश्य करना चाहिये ॥६५॥

सद्गुरु श्रेष्ठ शिष्य निरूपण प्रकरण ॥३१॥

प्रथम रमैनी में माया आदि को दुःखद अग्निशिखा तुल्य कहा गया है, विचारादि रहित विषयी को दुर्मति कहा गया है, सो सुन कर जानने की इच्छा हुई कि मायारूप हरि दुःखद है, तो सुखदै हित हरि कौन हैं, और अन्य को स्मरणादि करनेवाला दुर्मति हैं, तो सुमति कौन हैं, इत्यादि तब कहते हैं कि—.

रमैनी ६६

सोइ हित बन्धु मोहि मन भावै । जात कुमारग मारग लावै ॥
सो सयान मारग रहि जाई । करै खोज कबहूं न भुलाई ॥

हितः सैव च बन्धुश्च भाति मे हृदये सदा ।
कुमार्गं गच्छतो यो वै मार्गं प्रापयति ध्रुवे ॥ १ ॥
गुरुर्माता पिता वाऽपि गुरुर्देव उदाहृतः ।
गुरुर्बन्धुः सखा तद्वन्न गुरोरपरः सुहृत् ॥ २ ॥
अज्ञानां चैव यो ज्ञानं दद्याद्धर्मोपदेशतः ।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं न तत्फलम् " ॥ ३ ॥
स एव चतुरः शिष्यः सन्मार्गे यो स्थिरो भवेत् ।
गुरुभिः कथिते सम्यक् सत्सङ्गाद्यैर्विमार्गयन् ॥ ४ ॥
अन्वेषते हि सन्मार्गं सत्तत्त्वं यो निरन्तरम् ।
न विस्मरति तल्लब्ध्वा स मार्गान्तं निगच्छति ॥ ५ ॥

मेरे हृदय में वही हित और बन्धु सदा भासता है, कि जो कुमार्ग में जाते हुए को ध्रुव (निश्चित- सनातन) मार्ग में प्राप्त कराता है ॥१॥ आत्मपु० का वचन है कि, गुरु माता पिता और देव कहे गये हैं, तैसे ही बन्धु सखा (मित्र) कहे गये हैं। गुरु से अन्य वस्तुतः सुहृद नहीं है ॥२॥ उपदेश साहस्री का वचन हैं कि, अज्ञों को धर्मादि के उपदेश से जो ज्ञान देता है, और कोई सम्पूर्ण भूमि देता है, तहाँ ज्ञान दान के तुल्य भूमिदान का फल नहीं है ॥३॥ सोई शिष्य चतुर है, जो सत्सङ्गादि द्वारा विमार्गन (गमन) करता हुआ भी गुरु से सम्यक् कथित सद्‌मार्ग में ही स्थिर होता है ॥४॥ और जो निरन्तर सन्मार्ग सत् तत्व (स्वरूप) को खोजता है, और उस को पाकर कभी भूलता नहीं सो मार्गान्त को पहुंचता है ॥५॥

झूठा सुत है ताको तजई । गुरु की दया राम ते भजई ॥

साधूनां यो हिते मार्गे मनोयोगेन गच्छति ।
गुरुभिः कथिते नित्यं मिथ्या त्यक्त्वा सुतादिकम् ॥ ६ ॥
ईश्वराद् याचते यस्तु सद्गुरूणां कृपां न तु ।
अन्यत् किमपि लोकेऽस्मिन् स प्राज्ञो बुधसम्मतः ॥ ७ ॥
"अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्" ॥ ८ ॥
एवंप्रायोगुणः शिष्यः सत्वरं भवसागरम् ।
तरत्येव न संदेहस्त्रिरेतद्धि ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥
अथवाऽन्विष्य सद्मार्गमनृतं तु सुतादिकम् ।
जहाति भजते रामाच्छ्रेष्ठां यो वै गुरोर्दयाम् ॥१०॥
यद्वा यो रमणे हेतो ,रामान्मायादिलक्षणाद् ।
प्रापसर्पति सद्युक्त्वा स ज्ञानी कुशलो भवेत् ॥११॥

जो मनुष्य मिथ्या पुत्रादि को त्याग कर, गुरु से कथित साधुओं के हित मार्ग में मनोयोग (सावधानी) से नित्य (सदा) चलता है ॥६॥ और जो ईश्वर से भी सद्गुरु की कृपा (दया) की ही याचना करता है, अन्य कुछ भी नहीं याचता है । वही इस लोक में पण्डितों से माना गया प्राज्ञ (पण्डित) है ॥७॥ भागवत स्क० ११।१०।७। का वचन है कि, निरभिमानी, अन्य का शुभ से द्वेष रहित, चतुर, ममतारहित, गाढ मित्रतावाला, असत्वर (अचपल), गुण में दोषारोप रूप असूया रहित, सत्यवक्ता ही अर्थ का जिज्ञासु शिष्य होता है ॥८॥ इस प्रकार के ही प्रायः (बहुत) गुणवाला शिष्य भवसागर को सत्वर (शीघ्र) तरता ही है, इस में संदेह नहीं है; तुम को यह बात तीन बार करता हूं ॥९॥ अथवा जो सतमार्ग को खोज कर, और अनृत (मिथ्या) पुत्रादि को त्यागता है, और राम से भी श्रेष्ठ गुरु की दया को सेवता है ॥१०॥ अथवा जो सांसारिक रमण में हेतु माया आदि रूप राम से सद्युक्ति-

किञ्चित है एक ते भुलाना । धन सुत देखि भया अभिमाना ॥

तुच्छा ये मानवास्ते तु तुच्छया माययैकया ।
भ्रान्ता धनं सुतं दृष्ट्वाऽभिमानं तेषु जायते ॥१२॥
अवाच्यः स्वप्रकाशो वा चेतनो विस्मृतो हि यैः ।
तेषां धनं सुतं दृष्ट्वा ह्यभिमानजनिर्भवेत् ॥१३॥
" प्रजावान् कीर्तिमाप्नोति सुखं वैरिजयं तथा ।
पितॄणामनृणो भूत्वा स्वर्गं याति मृतः पुनः ॥१४॥
संसारस्य सुखे तस्मात्प्रजाः कारणमीरितम् ।
मोक्षाख्ये प्रायसो विघ्नः कथितः पण्डितैरयम् ॥१५॥
'अपुत्रस्य न लोकोऽस्तीत्यादि कामुककीर्तनम् ।
मातरं वा स्वसारं वा ते यान्तीति यतोऽवदत् " ॥१६॥

द्वारा अच्छी तरह भागता है, वही कुशल (चतुर) ज्ञानी होता है ॥११॥ तुच्छ (विवेकादि शून्य) जो मनुष्य हैं, सो तुच्छ (सत्तानन्द रिक्त) एक माया से ही धन पुत्र देख कर भ्रान्त हैं, उन्हीं में अभिमान होता है ॥१२॥ अथवा जिन्हें अवाच्य स्वप्रकाश चेतनात्मा विस्मृत (भूला) हुआ है, उन्हीं को धन पुत्र को देखकर अभिमान की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है ॥१३॥ आत्मपुराण अ० १०।२४। इत्यादि के वचन हैं कि, प्रजा (पुत्र) वाला कीर्ति सुख और वैरी का विजय पाता है, और पितृ ऋण से रहित होकर, फिर मर कर स्वर्ग पाता है । १४॥ तिससे संसार के सुख में प्रजा कारण कहा गया है, मोक्ष नामक सुख में यह प्रायः (बहुत) रूप से विघ्न ही कहा गया है ॥१५॥ अपुत्र को लोक नहीं है, इत्यादि जो ऐतरेय श्रुति कहती है, वहाँ कामी का कथन है, जिससे वे पशु माता वहन को भी प्राप्त होते हैं, इस प्रकार

---

१. नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः । तस्मात्पुत्रो मातरं स्वसारं वाऽधिरोहति ॥ ऐतरेय ब्रा० ४।१॥

साखी।

दिया खता न किया पयाना, मन्दर भया उजार।
मरे गये ते मर गये, बाँचे बाँचनिहार ॥६६॥

विषया विषवैषम्यास्तत्र सक्तो न बुध्यते।
इत्यादि वचनं तैस्तु न कदाचन मन्यते ॥१७॥
संसारकान्तारविरक्तबुद्धेरुद्विग्नचित्तस्य मृषात्मभावात्।
[1]गर्वस्य लेशोऽपि भवेन्न जातु सतां सदोपासनतत्परस्य ॥१८॥
न तैर्दत्तं न वा भुक्तं यथायोग्यं कुबुद्धिभिः।
तावत्तेषां शरीराणि व्यनशन्नभिमानिनाम् ॥१९॥
ते च मृत्वा गतास्त्यक्त्वा सर्वमेव धनादिकम्।
अतस्तज्जीवतां सर्वं परिशिष्टं धनं ह्यभूत् ॥२०॥

श्रुति कही है ॥१६॥ विषय विष के समान वैषम्यवाले हैं, उन में आसक्त पुरुष कुछ नहीं समझता है, इत्यादि योगवासिष्ठ का कथन है, सो वचन उन अभिमानियों से कभी नहीं माने जाते हैं ॥१७॥ संसार रूप कान्तार (महारण्य-दुर्गम मार्ग) से विरक्त बुद्धिवाला, मृषा (मिथ्या) स्वभाव वाला भाव (पदार्थ) से उद्विग्न चित्तवाला, सदा सत पुरुषों की उपासना में तत्पर रहनेवाला को गर्व का लेश भी कभी नहीं हो सकता ॥१८॥

उन कुबुद्धियों (अभिमानियों) से यथायोग्य न दिया गया, न भोगा गया, तब ही तक उन अभिमानियों के शरीर नष्ट हो गये ॥१९॥ और वे लोक सब धनादि को छोड़ करके ही मर कर गये। इससे परिशिष्ट (बाकी) सब धन जीनेवालों का हुआ ॥२०॥ वारुणी (सुरा)

1. यथाग्नौ ध्रुवमुष्णत्वमनिले चलनं यथा। यथा शशिनि शीतत्वं तथैश्वर्य्ये ध्रुवो मदः ॥ यह इतिहाससमुच्चयादि का कथन, अज्ञ अभिमानी की दृष्टि से है।

वारुणीपानमत्तैर्हि क्वचित् किञ्चित् प्रबुध्यते।
ऐश्वर्यमदमत्तास्तु नाबुधंस्तत्त्वमण्वपि ॥२१॥
[1]दानं यथाशक्ति मनः सुसंयतं वृत्तं यदीयं परशान्तिकारकम्।
व्यपेतभीरामयदोषवर्जितस्तस्यैव मानुष्यमहो सुशोभते ॥२२॥
॥६६॥

इति रमैनीरसोद्रेके सद्गुरुसच्छिष्यवर्णन नामैकत्रिशतमः प्रवाहः ॥३१॥

का पान से मत्त (उन्मत्त) लोक कहिं कुछ समझते हैं, परन्तु ऐश्वर्यमद से मत्त लोक तो अणु (लेश) मात्र भी तत्त्व (सत्य) नहीं समझे ॥२१॥ जिसका दान शक्ति के अनुसार होता है, मन सुसंयत (अच्छी तरह बँधा-बश में) रहता है, जिसका वृत्त (चरित्र वृत्ति) दूसरे को शान्ति देनेवाला होता है, सो भयरहित, आमय (रोग) तुल्य दोषों से रहित हो कर सुन्दर शोभता है, और उसी की अद्भुत मनुष्यता सुन्दर शोभती है ॥२२॥

अक्षरार्थ– सोई (वही) परोपकारी सद्गुरु, जीव के लिये सर्वथा हित (कल्याणकारक) और बन्धु (सतकर्म में सहायक) पूर्ण मित्र मेरे मन में माते (भासने-अच्छे लगते) हैं, कि जो कुमार्ग (हिंसा व्यभिचारादि) में जाते हुए जीव को सुमार्ग (अहिंसा सत्य धर्म विचारादि) में ले आते हैं, तथा अनात्मपरायणता से हटा कर आत्म-परायण करते हैं। और सोई सयान (चतुर सुबुद्धि) है, कुशल शिष्य है,

१ धनानि धर्मेऽभिनिविष्टचेतसां प्रयान्ति वृद्धिं शुभवृत्तिनो नराः। भोगेन नश्यन्ति न सम्पदो नृणां शुभं यदा नश्यति नश्यति ध्रुवम् ॥ प्रवृद्धतृष्णाः परिहीणमानसा धनानि नेच्छन्त्युपभोगमात्मना। हरन्ति तेषामपरे विचक्षणाः स्थलेन मत्स्यानिव नीरमाश्रितान् ॥ स्वधर्मकर्मेतरसंश्रया नरा व्रजन्ति सर्वे यमसादनं प्रति। तथापि धर्मं विमुखाश्चरन्त्यहो विचेतनानां किमिहास्ति दुष्करम् ॥ इतिहाससमुच्चयः ॥

कि जो बिचार गुरु सत्शास्त्र से ज्ञात प्राप्त मार्ग में ही स्थिर रह जाता है, और सत्संग विचारादि से जो सतमार्ग सत वस्तु की ही खोज करता है, संशयादि होने पर भी खोज कर समझता है, कुमार्ग से कभी नहीं चलता, और प्राप्त मार्गादि को जो कभी प्रमादादि से भी नहीं भूलता है, वही वस्तुतः सयान है।

और जो झूठा (मिथ्या) स्त्रीपुत्रादि संसार हैं, उन के संग आसक्ति आदि का त्याग द्वारा जो उन्हें त्यागता है, और उन्हें त्यागकर, जो सद्गुरु की दया को ही राम (ईश्वर) से भी भजता (चाहता) हैं, अन्य वस्तु नहीं चाहता, तथा गुरु की दया को राम से भी अधिक बड़ा जान कर, उसके लिये जो गुरु का भजन (सेवन) करता है, और अविवेकी मन का रमण के स्थान रूप माया विषयादि रूप राम से जो गुरु की दया से भजइ (भागता) है, सो मायिक वस्तु से मन आदि को रोक कर, गुरु आदि के कथनानुसार सुमार्ग में रहनेवाला ही सच्चा सयान महान है।

और उस सयान से अन्य जो किञ्चित् (तुच्छ) हैं, त (सो) एक माया से भूले हैं, या माया में भूले (आसक्त) हैं या तुच्छ लोक एक आत्मदेव को भूले हैं। या गुरु की दया आत्मलाभ की अपेक्षा अन्य वस्तु तुच्छ हैं, और उन्हीं से जीव सतमार्गादि को भूले हैं; क्योंकि इन धन पुत्रादिकों को देख कर, इन्हें सुखी आदि पन का अभिमान हुआ है। इससे सतमार्गादि का खोज भी नहीं करते हैं। अथवा किञ्चित् (अवाच्य) आत्मा है, सो भूला है, इससे धनादि देखकर अभिमान होता है इत्यादि। एक ते, क, एक तेज, पाठान्तर है। अर्थ है कि धनादि को त्यागने विना कुछ विलक्षण एक तेज (प्रकाश ज्ञान) भूला है इत्यादि।

अभिमानी अज्ञ विचारादि रहित मनुष्य धन पाकर भी किसी सत पात्र के प्रति दिया नहीं, न देता है, न यथायोग्य खाता खिलाता है, न खिलाया खाया, और इस देह से पयान (यात्रा) किया, मर गया,

तब मन्दर (देह) उजाड़ (शून्य) हो गया, और जो मरे सो मर कर अकेला गये, खाली गये, और बांचे हुए धनादि, बांचने हार (जीवित लोकों) के हो गये ॥६६॥

भक्ति और भक्ति विना दुःख प्रकरण ३२

प्रथम रमैनी में (गुरु की दया राम ते भजई) इस कथन से गुरु की दया के लिये भक्ति की कर्तव्यता कही गई है, इससे वास्तविक भक्ति का स्वरूप को बताने के आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ६७

देह हलाये भक्ति न होई । स्वांग धरे नर बहु विधि जोई ॥
धींगा धींगी भलो न माना । जो काहु मोहि हृदय न जाना ॥
मुख कछु और हृदय कछु आना । स्वप्नेहुं काहु मोहि नहिं जाना ॥

देहपञ्जरकार्श्येन भक्तिर्जातु न सिद्ध्यति ।
यदि कश्चिदनेकान् वा वेषान् धत्ते ततो नहि ॥ १ ॥
नग्नत्वं न शुभं कश्चिन्मन्यते वै विवेकवान् ।
यतो यावन्न मां कश्चिद्गुरुमात्मानमेव वा ॥ २ ॥
हृदयेनावगच्छेद्धि तावद् भक्तिर्न विज्ञता ।
कुतो मुक्तिः कुतः सौख्यं संसारस्तावदायतः ॥ ३ ॥

देहरूप पञ्जर (पिञ्जरा) के कृशता (सूक्ष्मता) से कभी भक्ति नहीं सिद्ध होती । यदि कोई अनेक वेषों का धारण करता है, तो उससे भी भक्ति नहीं होती ॥१॥ कोई भी विवेकी नग्नता को शुभ नहीं मानता है, जिससे गुरु वा आत्मस्वरूप मुझ को जबतक कोई हृदय से नहीं जानेगा, तबतक भक्ति वा विज्ञता (प्रवीणता) नहीं है, तो मुक्ति वा सुख किस से हो, तबतक संसार आयत (दीर्घ) रहता है ॥२–३॥ जबतक मुख में

ते दुख पावै यहि संसारा। जो चेतै तो होय उवारा॥
जो नर गुरु की निन्दा करई। शूकर श्वान जन्म सो धरई॥

साखी।

लख चौरासी जीव योनि महँ, भटकि भटकि दुख पाव।
कहहिं कबिर जो रामहिं जानै, सो मोहि नीके भाव॥६७॥

यावद् भवेन्मुखे ह्यन्यो हृदि त्वन्यो विराजते।
तावत्कश्चिन्न मामत्र स्वप्नेऽपि परिपश्यति॥४॥
मत्स्वरूपस्य चाज्ञानात् स संसारे सदा नरः।
दुःखमाप्नोति सर्वत्र, चेज्ज्ञानाति विमुच्यते॥५॥
यः करोति गुरोर्निन्दां स वै भवति शूकरः।
प्रेत्य श्वा वा भवत्येव [1]निन्दको नात्र संशयः॥६॥
[2]वेदाष्टलक्षयोनौ हि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा स पामरः।
निन्दया दुःखमाप्नोति परीवादात्तथैव च॥७॥

कुछ अन्य भाव, और हृदय में उससे अन्य रहता है, अर्थात् जबतक झूठ कपट रहता है, तबतक कोई मुझे यहाँ स्वप्न में भी नहीं देखता है॥४॥ मेरे स्वरूप के अज्ञान से वह मनुष्य संसार में सदा सर्वत्र दुःख पाता है। यदि मेरे स्वरूप को जानता है तो मुक्त होता है॥५॥ जो सर्वात्मा गुरु की निन्दा करता है, सो निन्दक मर कर शूकर होता है, वा कुत्ता होता ही है, इस में संशय नहीं है॥६॥

वह (निन्दक) पामर (नीच) पुरुष निन्दा से वेदाष्ट (चौरासी)

---

१. गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः। परिभोक्ता कृमि र्भवति कीटो भवति मत्सरी॥ मनुः अ० २।२००-२०१॥

२. एकविंतिंलक्षाणि ह्यण्डजाः परिकीर्तिताः,। स्वेदजाश्च तथा प्रोक्ता उद्भिज्जाश्च क्रमेण तु॥ गरुड़पु० प्रेतखं० अ० १२।३॥

यस्तु तं सद्गुरुं सत्यं [1]राममेव प्रपश्यति।
सर्वश्रेष्ठः स मे भाति शिष्यो ज्ञानाधिकारवान्॥ ८॥
इत्येवं सद्गुरुः प्राह कबीरो जगतां हितम्।
सेव्यतां स गुरु नित्यो रामरूपो निरञ्जनः॥ ९॥
धर्मेऽनुरागो गुरुपादसेवनं दान विचारः समताऽऽत्मचिन्तनम्।
वैराग्यमच्छं भयशोकवर्जनं सङ्गः सतां यस्य स भक्तसत्तमः
॥१०॥

लाख योनियों में भ्रम २ कर दुःख पाता हैं, तैसे ही परिवाद (वर्तमान दोष कथन) से भी दुःख पाता है॥७॥ जो शिष्य उस सद्गुरु को सत्य राम ही देखता है, वही मुझे सब से श्रेष्ठ ज्ञान के अधिकारी शिष्य भासता है॥८॥ इस प्रकार जगत् का हित रूप यह तत्त्व सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं, इससे नित्य वह रामरूप निरञ्जन गुरु आप से सेवे जायें॥९॥ धर्म में अनुगत (प्राप्त) राग (प्रेम) गुरु श्रेष्ठ की सेवा, दान विचार, समभाव, आत्मचिन्तन, निर्मल वैराग्य, भय शोक का त्याग, सतपुरुषों का सङ्ग जिसको है, सो भक्त सत्तम (भक्तों में अति श्रेष्ठ) है॥१०॥

अक्षरार्थ-- देह के हलाये (कृश दुबला करने) से सच्ची भक्ति नहीं होती है। यदि कोई बहुत प्रकार के स्वांग (वेष) का धारण करे, मन में शुभ भावादि न हो, तो वेष से भी भक्ति नहीं होती। धागाधींगी (नग्न) रहना भी भला नहीं माना गया है, अर्थात् बेपर्दा के रहना भक्ति वा भली बात नहीं है, न बातों की खैंचतान से भलाई होनी है, कि जबतक जो काहु (जो कोई) मोहि (सर्वात्मा मेरे स्वरूप को और सद्गुरु को)

---

१. गुरुस्त्रितापतप्तानां जीवानां रक्षिता क्षितौ। सच्चिदानन्दरूप हि गुरुर्ब्रह्म न संशयः। गुरुगीता २६॥ अन्यदुःखेन यो दुःखी योऽन्यहर्षेण हर्षितः। स एव जगतामीशो नररूपधरो हरिः॥ नारदीयपु० पू० अ० ७।६९॥

हृदय में वा हृदय से नहीं पहचाना (जाना) अर्थात् ये सब एक प्रकार के तप तितिक्षा हैं, भक्ति ज्ञानपूर्वक सेवा चिन्तनादि रूप है। और जिसके मुख में अन्य हृदय में कुछ अन्य रहता है, सो झूठा कपटी मुझे स्वप्न में भी नहीं जाना, न जान सकता है। और ते (वे ही) झूठे लोक इस संसार में गुरु आदि विना दुःख पाते हैं, जो (यदि) वे भी चेतें (कपटादि को त्याग कर गुरु आदि को पहचानें) तो उनका भी उबार (कल्याण) हो सकता है। जो पुरुष चेतने विना सद्गुरु आदि की निन्दा करता है, सो शूकर श्वानादि नीच योनियों में जन्मता है।

वे ही गुरुनिन्दक अचेत जीव चौरासी लाख योनियों में भटक २ कर दुःख पाते हैं। साहब का कहना है कि, जो जीव सद्गुरु को राम (शुद्ध ब्रह्म-परमात्मा) जानता है, और उन के उपदेशादि से सर्वात्मा राम को पहचानता है, सोई शिष्य मुझे नीके (सत्पात्र विवेकी सुखी) भावता (भासता) है ॥६७॥

रमैनी ६८

ताहि वियोगे भयो अनाथा । परेउ कुञ्जवन पाव न पन्था ॥

तत्सद्गुरोर्वियोगेन प्राप्त्यभावेन वस्तुनः ।
अनाथोऽसि सदा दुःखी सकुञ्जवनसन्निभे ॥११॥
दुःखपूर्णे हि संसारे शोकमोहादिसंकुले ।
अविद्यादिलतायुक्ते लोकादितरुसंयुते ॥१२॥

सद्गुरु के वियोग से और सद्वस्तु की प्राप्ति के अभाव से, लोकादि-रूप वृक्ष सहित, अविद्यादिरूप लतायुक्त, शोक मोहादि से संकुल (व्याप्त), दुःख से पूर्ण, सकुञ्ज (लता आदि से आच्छादित स्थानरूप निकुञ्ज सहित) वन तुल्य संसार में ही अनाथ (रक्षक स्वामी रहित) सदा दुःखी हो ॥११-१२॥

वेद नकल हैं जो कोई जानै । जो समझै तो भलो जु मानै ॥
नटवत बन्द खेल जो जानै । तेहि का गुण जो ठाकुर मानै ॥

तस्मान्निष्क्रमणार्थश्च मार्गो न लभ्यते त्वया ।
उपदेशं विना तेन ह्यत्रैव भ्रमते भवान् ॥१३॥
वनस्याऽस्यैव वेदोऽपि प्रतिमा विद्यते खलु ।
आनन्त्येन च गाम्भीर्याद्बहुशाखाप्रभेदतः ॥१४॥
कामाधिकारिभेदाच्च देशकालादिभेदतः ।
तं यो वेत्ति विवेकेन शुभमेव स मन्यते ॥१५॥
गुरुं विना न तच्छक्यं वेदस्यापि विवेचनम् ।
अतः सर्वप्रयत्नेनाऽऽश्रयितव्यः सदा गुरुः ॥१६॥
योऽविनाशी जगद्बन्धं केलितुल्यं प्रपश्यति ।
नटवद् वर्तमानः सन् क्रीडतीव च तेन यः ॥१७॥
तस्यैव च गुणो विश्व ईश्वरः कथ्यते च यः ।
नान्यस्तेन समस्तस्मादधिको वाऽत्र विद्यते ॥१८॥

और उपदेश विना उससे निकलनेवाला मार्ग तुझे नहीं मिलता है, तिससे आप सदा इसमें ही भ्रमते हो ॥१३॥ अनन्तता, गम्भीरता, बहुत शाखाओं का प्रभेद, काम अधिकारी का भेद, देश कालादि का भेद से वेद भी इस संसारबन की ही प्रतिमा (प्रतिबिम्ब) नकल प्रतिच्छाया है । उस वेद को जो विवेक से समझता है, सो शुभ को ही मानता है ॥१४–१५॥ सद्गुरु बिना वह वेद की विवेचना भी शक्य (साध्य) नहीं है, इससे सब प्रयत्न द्वारा सदा गुरु आश्रयितव्य (सेव्य) हैं ॥१६॥

जो अविनाशी आत्मा माया से नटतुल्य रह कर, जगत् के बन्धन को केलि (क्रीडा) तुल्य देखता है, और जो उससे क्रीडा करते हुए की नाईं है, उसीका गुण विश्वनामा जीव है, या अखिल पदार्थ है । अर्थात् गुणी के अधीन गुण के तुल्य सब उसके अधीन हैं। और जो माया से ईश्वर कहा जाता है उसके बराबर वा उससे अधिक अन्य कोई नहीं है ॥१७–१८॥

ऊहै खेलै सब घट माँहीं । दूसर को लेखै कछु नाहीं ॥
भलो पाँच जो अवसर आवै । कैसहुँ के जन पूरा पावै ॥

साखी ।

जाही कहँ सर लागये, सोई जानै पीर ।
लागै तो भागै नहीं, सुखसिन्धु निहारु कबीर ॥६८॥

स एव सर्वदेहेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
खेलायति सदा देवो नान्यत्पश्यति किञ्चन ॥१९॥
शुभाशुभौ हि कालौ द्वौ प्राप्नुतश्चावशं क्रमात् ।
जनः कश्चित्कथञ्चित्तं ज्ञात्वैवामृतमश्नुते ॥२०॥
कृपया च गुरोर्वेत्ति तं देवमञ्जसा नरः ।
नान्यथा जन्मजन्मान्ते बहुयत्नं विधाय तु ॥२१॥
" उद्यन्तु शतमादित्या उद्यन्तु शतमिन्दवः ।
न विना विदुषां वाक्यैर्नश्यत्याभ्यन्तरं तमः" ॥२२॥
गुरोर्वचः शरो यस्य हृदये लगति ध्रुवम् ।
स तं गुरुं विजानाति जगद् दुःखं च पश्यति ॥२३॥

वही देव सब स्थावर और चर देहों में विलास करता है, अन्य कुछ सत्य नहीं देखता है ॥१९॥ शुभ और अशुभ दोनों काल अवश्य ही क्रम से प्राप्त होते हैं, कोई मनुष्य किसी प्रकार उस आत्मदेव को जान कर, शुभाशुभ रहित अमृत पाता है ॥२०॥ और गुरु की कृपा से उस देव को मनुष्य अञ्जसा (तत्त्वतः सत्यरूप से) जानता है, अन्यथा बहुत यत्न करके अनेक जन्म के अन्त में भी नहीं जानता है ॥२१॥ चाहे सैकड़ों सूर्य और चन्द्रमा ऊगें, परन्तु ज्ञानियों के वाक्यों विना भीतर का तम नहीं मिटता है ॥२२॥

जिसके हृदय में निश्चित गुरु का वचनरूप बाण लगता है, सो उस गुरु को समझता है, और संसार दुःख को देखता है ॥२३॥ जिसके हृदय

यस्य विशति तद्वाक्यं हृदये स पुनर्नहि ।
संसारे धावते दृष्ट्वा सुखसिन्धुं निरन्तरम् ॥२४॥
बाणवद् विषया यद्वा यद् हृदि संलगन्ति वै ।
गुरुं तेऽत्र प्रपश्यन्ति यान्ति क्वापि च न द्रुतम् ॥२५॥
किन्तु तच्छरणे स्थित्वा कृत्वा भक्तिमनुत्तमाम् ।
सुखसिन्धुं प्रपश्यन्ति स्वात्मानं च हरिं गुरुम् ॥२६॥
यो हृदयेऽतिविकस्वरकोमलकान्तसुखैकरसं विमलं,
चेतनसच्च परं परितः परिकल्पनहीनमजं त्वभयम् ।
भावघना मनसा सरसं परिदृश्य तदाशु भवाब्धितटं,
संभजते स न याति कदाचिदसौख्यपदे भवसिन्धुजले ॥२७॥

इति रमैनीरसोद्रेके भक्त्यादिक विनाऽनर्थादिवर्णन नाम द्वात्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३२॥

में वह वाक्य घूसता है, सो निरन्तर (सान्द्र) सुखसिन्धु को देखकर संसार में फिर नहीं दौडता है ॥२४॥ अथवा विवेक होने पर जिसके हृदय में विषय बाणतुल्य संलग्न (प्रतीत) होते हैं। सो लोक यहां सद्गुरु को देखते समझते हैं, और कहीं शीघ्र नहीं जाते हैं ॥२५॥ किन्तु उस सद्गुरु के शरण में स्थिर होकर, अति उत्तम भक्ति करके, सुखसिन्धु निजात्मा हरि गुरु को देखते हैं ॥२६॥ जो अपने हृदय में भाव (भक्ति रति) वाला मन से, अतिविकस्वर (विकासी) प्रगट, कोमल (मृदुल), कान्त (सुन्दर), सुखस्वरूप, एकरस (अपरिणामी) पर (उत्तम), परिकल्पन हीन (संसार रहित), अजन्म, और अभय, चेतन सत् (ब्रह्म) को सरस (प्रेम भक्ति सहित) परितः (सर्वत:) अच्छीतरह देख कर, और तिस रूप ही भवाब्धि का तट को जो सम्यक् भजता है, सो कभी असुख का स्थान भवाब्धि का जल (विषयादि) में नहीं जाता है ॥२७॥

अक्षरार्थ– और भी कहते हैं कि जिस सद्गुरु की निन्दा आदि से दुर्गति होती है, ताहि (तिस) सद्गुरु का वियोग (अप्राप्ति) से ही जीव अनाथ हुआ है और कुञ्ज (लताछन्न स्थानवाला) बन तुल्य संसार में पड़ा है, इससे निकलने का पन्थ (मार्ग) नहीं पाता है। विवेक शमादि विज्ञानादि को सद्गुरु विना नहीं पाता है। यदि कहा जाय कि व्याकरणादि सहित वेदाध्ययन से सद्गुरु विचारादि बिना भी पन्थ पा सकता है। तब कहते हैं कि वेद भी संसार वन का नकल है (संसारतुल्य है), अनन्त विस्तार शुभाशुभयुक्त है, सब प्रकार के मनुष्य के लिये होने से हिंसा अहिंसा राग विराग सब का उसमें वर्णन है। इससे सद्गुरु विना वेद पढने मात्र से ज्ञान नहीं हो सकता है; किन्तु उस वेद को भी सद्गुरुद्वारा विवेकपूर्वक समझे (जाने) तो वेदकी भली बातों को ही मुमुक्षु माने, और अन्य त्यागे। सद्गुरु से विवेक की प्राप्ति विना यह बात नहीं हो सकती। और सच्चा वेद गुरुज्ञान का नकल है, असली वेद गुरुज्ञान ही है इत्यादि। (वेदो नकल कहै जो जानै। जो समझै सो भलो न मानै) यह पाठान्तर है। अर्थ है कि जाननेवाले वेद को संसार का नकल कहते हैं, या ज्ञानी के ज्ञान का नकल को वेद कहते हैं, इससे समझनेवाले वेद को भला नहीं मानते हैं; किन्तु ज्ञानी के अनुभव को भला मानते हैं, इत्यादि।

गुरु से जानने योग्य जो वस्तु है, सो अविनाशी चेतन नट के समान संसार बन्द (बन्धन) को जानता है, तथा खेल की नाईं इसे मिथ्या जानता है, यह भी भेद उसके शुद्ध स्वरूप में नहीं है। किन्तु उसके गुण (शक्ति त्रिगुण माया) जो है, उसीसे वह ठाकुर (ईश्वर) माना जाता है, और ईश्वर होकर बन्द खेल को जानता है। वही आत्मा जीवरूप से सब घट में खेल रहा है, और दूसरे को कुछ नहीं लेखता (देखता) है। दृश्य वस्तु में उसीकी सत्ता है, उससे भिन्न कुछ भी सत्य नहीं है कि जिसको वह देखे॥ और नट जैसे दृष्टिबन्धन युक्त खेल को मिथ्या देखता

है, तैसे ज्ञानी भी संसार को मिथ्या समझते हैं। और एक सर्वात्मा के गुण (माया) रूप ही ईश्वर जीव को भी जानते हैं। अणिमादि खेल को भी मायामय जानते हैं इत्यादि। और खेलरूप इस संसार में भला और पोंच (नीच) दोनों अवसर आते हैं, सुख दुःख दोनों मिलते हैं, इससे जीव तुच्छ सुख में आसक्त हो जाता है, सत्य को भूला रहता है। कैसहुं (किसी प्रकार) कोई विरला जन गुरुकृपा से पूर्ण पद पाता है। भला बुरा अवसर विवेकादि के विघ्नरूप होते हैं, उन्हें लांघकर कोई विरल मुक्त होता है।

जिसके हृदय में सद्गुरु के वाक्यरूप बाण लगते (पैठते) हैं, या विषयादि बाणतुल्य दुःखद लगते (भासते) हैं, सोई पुरुष पीर (गुरु) को जानता (पहचानता) है। तथा संसार को पीर (पीड़ा दुःख) रूप समझता है। और जिसको बाण लगता है, सो सद्गुरु सत्यात्मा से भागता (विमुख होता) नहीं है, न संसार में भागता (भटकता) है। किन्तु गुरु शरण में रहकर आत्मनिष्ठ होता है, और सुखसिन्धु सर्वात्माराम को सदा निहारता (देखता) है ॥६८॥

कुयोगि प्रपञ्च प्रकरण ॥३३॥

प्रथम रमैनी में संसार सिद्धि आदि को मिथ्या खेलरूप कहा गया है, सो सुनकर शंका हुई कि योगी महात्मा विद्वान् भी सांसारिक यौगिक सम्पत्ति विद्या आदि के लिये यत्न करते हैं। फिर इन्हें मिथ्या खेलादिरूप क्यों कहा गया है, तब कहते हैं कि—

रमैनी ६९

ऐसा योग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफलाई ॥
महादेव को पन्थ चलावै। ऐसो बडो महन्त कहावै ॥
हाट बजारे लावै तारी। कच्चा सिद्धहि माया प्यारी ॥

इत्थंभूतो न योगोऽस्ति दृष्टो वै लोकवेदयोः[1]।
यादृशो दृश्यते लोके योगिमन्येषु सम्प्रति ॥ १ ॥
मौढ्यं धृत्वा भ्रमन्त्येते कुयोगेनाल्पयोगिनः।
विरागाभ्यामयोस्तत्त्वं न पश्यन्त्यल्पबुद्धयः ॥ २ ॥
विरक्तस्य महेशस्य, मार्गं संवर्तयन्ति ये।
ते महाधनिनो भूत्वा महान्त इति विश्रुताः ॥ ३ ॥
महाहट्टे नगर्यां वा समाधिं ते च कुर्वते।
लोकानुरञ्जनार्थाय विमुक्त्यै न कदाचन ॥ ४ ॥
अहो ह्यपक्वसिद्धीनां मायैषा भवति प्रिया।
स्वयं प्रियतमश्चात्मा प्रियो नेति विपर्ययः ॥ ५ ॥

इस प्रकार के स्वरूपवाला योग लोक वेद में दृढ (प्रसिद्ध) नहीं है, कि जिस प्रकार के योग इस समय लोक में योगिमानियों में देखा जाता है ॥१॥ ये अल्प (क्षुल्लक) योगी, कुयोग से मूढता (मूर्खता) को धारण करके भ्रमते हैं, अल्प (कृश) बुद्धिवाले ये वैराग्य अभ्यास का स्वरूप को नहीं जानते हैं ॥२॥ विरक्त महेशजी का मार्ग को जो सम्यक् वर्ताते (चलाते) हैं वे भी महाधनी होकर महन्त ऐसा विश्रुत (विज्ञात-विख्यात) होते हैं ॥३॥ और वे लोक महा हट्ट (आपण-दुकान) में नगरी में लोकानुरञ्जन के लिये समाधि करते हैं, मुक्ति के लिये कभी नहीं करते ॥४॥ आश्चर्य है कि अपक्व (फलरूपसे अपरिणत) सत्य फल-

१. 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।' कठ० २।६।११ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। योगसूत्र।

कब देवदत्त मवासी तोरी । कब शुकदेव तोपकी जोरी ॥
नारद कब बन्दूक चलाया । व्यास देव कब बम्ब बजाया ॥
करहिं लडाई मति के मन्दा । ई अतीत की तरकस बन्दा ॥

विपर्ययहताश्चैते' युद्धाद्यर्थं सुसंयताः ।
भवन्ति नावलोकन्ते महतां चरितान्यपि ॥ ६ ॥
देवो दत्ताभिधः सिद्धः कदा कस्य गृहादिकम् ।
अतोऽच्छुकदेवो वा शतघ्नीं कर्ह्ययोजयत् ॥ ७ ॥
नारदश्च कदा यन्त्रं गुलिकाक्षेपकं किल ।
प्रैरयच्च कदा व्यासः पटहं युद्धकाङ्क्षया ॥ ८ ॥
कुर्वन्ति मतिमन्दा ये महादुर्विग्रहं खलु ।
तेऽतीताः किमु योद्धारः सन्ति तूणीरधारिणः ॥ ९ ॥

रहित सिद्धिवालों की यह माया प्यारी होती है और स्वयं प्रियतम आत्मा प्रिय नहीं होता है, यही विपर्यय उलटा है ॥५॥

विपर्यय (विपर्यास) उलटा ज्ञानादि से नष्ट ये लोक युद्धादि के लिये भी सुसंयत (सुबद्ध मिलित संगठित) होते हैं । महात्माओं के चरित्र-आचार को भी नहीं देखते हैं ॥६॥ विष्णु देव का अवतार रूप दत्तनामक सिद्ध कब किसके गृहादि को तोड़ा, वा शुकदेव जी कब शतघ्नी (तोप) का संबन्ध (संधान) किया ॥७॥ नारद जी गोली फेंकने का यन्त्र बन्दूक की प्रेरणा कब किया (कब चलाया) । व्यासदेव कब युद्ध की इच्छा से पटह (आनक) बाजा की प्रेरणा किया (बजाया) ॥८॥ जो मतिमन्द महान् निन्दित विग्रह (कलह-युद्ध) करते हैं, वे क्या अतीत (गुणातीत संन्यासी विरक्त) हैं, या तरकसधारी योद्धा हैं ॥९॥

१. 'द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा । निरारंभो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥' नारदपरिव्राजको० ६।३०॥

भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना ॥
घोड़ा घोड़ी कीन्ह बटोरा। गाम पाय जस चलै करोरा ॥

अभवन् कुविरक्तास्ते चित्ते लोभस्य [1]धारणात्।
काञ्चनीं मालिकां धृत्वा वेषांश्च ह्रेपयन्ति ते ॥१०॥

वेषैर्भूत्वा विरक्तास्ते लोभं कुर्वन्ति कामुकाः।
निन्द्यन्ते लोकतश्चात्र व्रजन्ति [2]नरके ततः ॥११॥

अश्वांश्च वाडवांश्चैव सम्पाद्यैते कुयोगिनः।
ग्रामान् कतिपयाँल्लब्ध्वा यान्ति कोटिपतिर्यथा ॥१२॥

चित्त में लोभ को धारण करने से वे लोक कुविरक्त हुए, और काञ्चनमयी माला का धारण करके वे लोक वेष को भी लज्जित करते हैं ॥१०॥ वे कामी लोक वेषमात्र से विरक्त होकर लोभ करते हैं, इससे यहाँ लोक से निन्दित होते हैं, फिर नरक में जाते हैं ॥११॥ ये कुयोगी लोक घोड़ा घोडी का सम्पादन (प्राप्ति) करके, कैक गाम पाकर करोड़पति के समान कहिं जाते हैं ॥१२॥

१. 'यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु। तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा। संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥ कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु। सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥' मैत्रेय्यु० अ० २।१९-२०-१७॥ 'भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्। अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥' अमृतनादोप० २८ ॥

२. 'आरूढो नैष्ठिकं कर्म यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत् स आत्महा ॥' अत्रिस्मृ० ॥ सन्धौ-अनुसंधानध्यानकाले ॥

साखी।

सुन्दरि नाहीं शोभई, सनकादिक के साथ।
कबहुंक दाग लगावई, कारी हांडी हाथ॥६९॥

शोभते क्वापि वामा नो परिव्राण्नैष्ठिकैः सह।
सा कदाचन दोषान् हि जनयिष्यति निश्चितम्॥१३॥
सा हि हस्तधृता काली स्थालीवद्दोषकारिणी।
हारिणी चित्तलौहस्य चुम्बको ह्ययसो यथा॥१४॥
तस्यास्तमोमयो भावः सङ्गात्संजायते तथा।
उद्रेकाद्रजसश्चैव सत्त्वं क्वापि विलीयते॥१५॥
अतो मुमुक्षुभिर्हेयाः कुयोगानां कुरीतयः।
वामां कामं परित्यज्य ध्येय आत्मा हितः सदा॥१६॥
"माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति।
तस्माद् दृष्टमदां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्॥१७॥

संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी के साथ कहीं भी वामा (स्त्री) नहीं शोभती है, और साथ रहने पर वह कभी कामादि दोषों को उत्पन्न करेगी, यह बात निश्चित है॥१३॥ साथ में रहनेवाली वह स्त्री हाथ में रखी हुई काली स्थाली (पिठर हांडी) तुल्य दोष (अवगुण मलीनता) करने वाली है, चित्तरूप लोहा को इस प्रकार हरनेवाली है कि जैसे चुम्बक अयस (लोहा) को हरता (खींचता) है॥१४॥ उसका संग से तम (अज्ञान मोह) मय चित्त का भाव (विकार) होता है। और कभी रजोगुण का उद्रेक (वृद्धि) होता है, कि जिससे सतोगुण कहीं विलीन हो जाता है॥१५॥ इससे मुमुक्षुओं से कुयोगियों की कुरीति त्यागने योग्य हैं। स्त्री और काम को त्यागकर, सदा हित स्वरूप आत्मा ही ध्येय (ध्यान के योग्य) है॥१६॥ प्रमदा (स्त्री) को देखकर पुरुष मातता है, और मदिरा पीकर मातता है, इससे दृष्टमदा नारी को

द्रव्यस्त्रीमाससम्पर्कान्मधुमाक्षिकलेहनात् ।
विचारस्य परित्यागाद्यतिः पतनमृच्छति " ॥१८॥

दूर से त्यागे ॥१७॥ सुवर्णादि द्रव्य, स्त्री मांस का संबन्ध और मधु (मद्य) माक्षिक (क्षौद्र-प्रहत) का स्वाद, और विचार का त्याग से संन्यासी पतित होता है ॥१८॥ श्लोक १७ नारदपरिव्राजकोपनिषद् ६।३१। का है ।

अक्षरार्थ– हे भाई ! ऐसा योग सन्त सत शास्त्र में नहीं देखा सुना गया है, कि जिस योग के रहते भी गफलाई (गफलत-मूढता) लिये (लेकर) संसार में धनादि के लिये भूला (भटका) फिरे। अथवा गुरु के उपदेश से सुखसिन्धु को देखता है, परन्तु ऐसा योग (संयोग) नहीं दिखता, इत्यादि। और बहुत लोक तो महाविरक्त महादेवजी का पन्थ (योगमत) कहने मात्र के लिये चलाते हैं। और धनादि की प्राप्ति करके ऐसे लोक भी बड़ा भारी महन्त कहाते हैं। कोई तुच्छ वस्तुओं के लिये हाट बजार (लोक समूह) में तारी (समाधि) लगाते हैं, कुछ करामात देखाते हैं। उन कच्चे (नकली) सिद्धों को माया ही प्यारी लगती है, मुक्ति नहीं, इससे माया ही के लिये यत्न करते हैं। और मुमुक्षु के लिये पूर्व का उपदेश है।

और कच्चा सिद्ध महन्त लोक युद्ध के लिये तैयार हो जाते हैं, परन्तु यह नहीं समझते हैं कि विष्णुदेव के अवतार दत्त (दत्तात्रेय) ने कब किसकी मवासी (गृह किलागढ खजाना) को तोड़ा था। शुकदेवजी ने कब तोपची (तोप-या तोप चलाने वाला सिपाही) को जोड़ा (संधान संग्रह किया) था। नारद जी ने कब बन्दूक चलाया था। और व्यासदेव जी कब बम्ब २ करके बाजा बजाया था। इन महात्माओं के चरित्र को नहीं समझने स्मरने वाले मतिमन्द लोक ही तुच्छ बातों के लिये लड़ाई करते हैं, और लड़ाई करने वाले ई (ये लोक) अतीव

(विरक्त संन्यासी) हैं कि तरकस के बन्दा (बाँधने वाले) योद्धा वीर हैं। अर्थात् अतीत नहीं है, और अतीतो के लिये पूर्व का कथन है।

ये लोक वेषमात्र से, तथा (दारेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेशणायाश्च व्युत्थितोऽहम्। ॐ भूः संन्यस्तं मया, ॐ भुवः संन्यस्तं मया ॐ सुवः संन्यस्तं मया) इत्यादि मन्त्रोच्चारणमात्र से विरक्त हुए, और मन से लोभादिमय व्यवहारादि करना ठाना (आरम्भ किया)। फिर सुवर्ण के भूषण पहिर कर वाना (वेष) को लजाते हैं। और घोड़ा घोडी आदि का बटोर (संग्रह) किया, और एक दो ग्रामाधिपत्य पाकर, करोरा (करोडपति) के जस (समान) राजसी ठाट से चलते हैं। ये योगी संन्यासी लोक वेद से विलक्षण हैं, इनके लिये कुछ भी नहीं कहा जाता है, किन्तु मुमुक्षु के लिये कहा जाता है।

कितने विरक्त वेषधारी साथ में स्त्री भी रखते हैं, परन्तु सनकादिक (त्यागाश्रमवालों) के साथ में सुन्दरी (स्त्री) लौकिक दृष्टि से भी नहीं शोभती है, और साथ में रहने पर वह कभी न कभी दाग लगाती है, दोष अपयश करती कराती है; क्यों कि वह सदा हाथ में रहने वाली काली हांडी के समान हो जाती है, तथा उसके भाव वचनादि मानों उसके हाथ में काली हाडीं के तुल्य हैं, उनके द्वारा वह चित्त में विकार को उत्पन्न करती है, इससे वेषमात्र के साधु संन्यासी को भी स्त्री का संग नहीं करना चाहिये ॥६९॥

प्रथम यह बात कही गई है कि संसार बन है, मिथ्या है, इत्यादि सो मुमुक्षु के ही लिये कही गई है। इसी प्रकार सभी सदुपदेश सज्जन के ही लिये कहा गया है; अन्य के लिये नहीं, इस आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ७०

बोलना कासो बोलिय भाई। बोलत हि सब तत्त्व नशाई॥
बोलत बोलत बाढु विकारा। सो बोलिय जो परै विचारा॥
मिल हीं सन्त वचन दुइ कहिये। मिलहिं असन्त मौन हो रहिये॥

अवश्यमपि वक्तव्या वार्ता कैः क्रियतामिति।
आलोच्यैव हि वक्तव्या तत्त्वं नश्यति चान्यथा ॥१९॥
"पूर्वाऽपरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणि" ॥२०॥
हीने वाद्यमानं हि सर्वं तत्त्वं विनश्यति।
विकाराः कामकोपाद्या वर्द्धन्ते चातिवेगतः ॥२१॥
अतो विचार्य वक्तव्य हितं सत्यं सुनिश्चितम्।
विवादो नैव कर्तव्यो गर्वो द्वेषश्च कैरपि। २२॥
सन्तो मिलन्ति चेत्केचित्कथ्यतां वचनद्वयम्।
असतां मिलने सम्यङ्मौनमेव विधीयताम् ॥२३॥

अवश्य कहने योग्य बात भी किसके साथ (किया-बोला) जाय, इस प्रकार विचार करके ही कहने योग्य है, अन्यथा तत्त्व (शान्ति) आदि नष्ट होते हैं ॥१९॥ योगवासिष्ठ २।११।४९। का कथन है कि– उपदेश के पूर्व अपर भाग के समाधान (विचार धारणादि) में समर्थ बुद्धिवाला अनिन्दित अधिकारी के प्रति ही पूछा हुआ अर्थ विद्वान को कहना चाहिये, पशुधर्मवाला अधम के प्रति नहीं ॥२०॥ हीन के प्रति बार २ कहा गया भी तत्त्व सब नष्ट होता है, और काम क्रोधादि विकार अति वेग से बढते हैं ॥२१॥ इससे विचार कर सत्य सुनिश्चित हित ही कहना चाहिये, और विवाद गर्व द्वेष किसीके साथ भी नहीं करना चाहिये ॥२२॥ यदि कोई सन्त मिलें तो वचनद्वय (दो बात) कहना चाहिये, और असन्तों के मिलने पर अच्छी तरह मौन ही कीजिये ॥२३॥

पण्डित सो बोलिय हितकारी । मूरख सो रहिये झँक मारी ॥
कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै । पूरा ह्वै विचार लै बोलै ॥

धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ।
अकामद्वेषसंयुक्ताः सन्तः सत्यव्रताः सदा ॥२४॥
हितकारी भवेद्यश्च [1]साधुसज्जनसम्मतः ।
तस्मै हितकरं वाक्यं वक्तव्यमेव सर्वथा ॥२५॥
निषेवते [2]प्रशस्तानि निन्दितानि न यो नरः ।
अनास्तिकाय तस्मै सद्वक्तव्यं विदुषे सदा ॥२६॥
यदि मूर्खो मिलेत्कश्चिन्मनसो वलगनं तदा ।
स्थातव्यं सन्निरुध्यैव वक्तव्यं नैव किञ्चन ॥२७॥
मूर्खोऽपूर्णघटैस्तुल्यो भाषते ह्यप्रियं चलम् ।
विज्ञस्तु पूर्णतां प्राप्य सुविचार्यैव भाषते ॥२८॥

बुद्धिमान्, धैर्यवाले, प्राणियों पर दया करने वाले, काम द्वेषरहित सन्त सदा सत्य के नियमवाले होते हैं ॥२४॥

साधु सज्जन से स्वीकृत जो हितकारी हो, उसी के लिये हितकर वाक्य सर्वथा कहने योग्य है ॥२५॥ जो मनुष्य प्रशस्त श्रेष्ठ कर्मादि का सेवन करता है, निन्दित का नहीं करता, उस अनास्तिक विवेकी के लिये सदा हितकर वाक्य कहना चाहिये ॥२६॥ यदि कोई मूर्ख मिले तो उस समय मन का वलान (चाल) को रोककर स्थिर रहना चाहिये ॥२७॥ मूर्ख अपूर्ण घट समान होता है अप्रिय और चल (चञ्चल) वचनादि बोलता है । विज्ञ पुरुष पूर्णता को पाकर सुन्दर विचार कर के ही बोलता

१. ' न प्रहृष्यति सम्मानै र्नावमानैः प्रकुप्यति । न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतद्धि साधुलक्षणम् ॥ ' गरुडपु० आचारखं० अ० ११२।४२॥

२. ' निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते । अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम् ॥ ' म० भा० उद्योगप० अ० ३३॥

" रुक्षं शब्दायते कुम्भो जलहीनोऽर्द्धजीवनः ।
नैव पूर्णो विशेषोऽयं विज्ञस्याविदुषस्तथा " ॥२९॥

है ॥२८॥ कवि का वचन है कि जलरहित आधा जलवाला कुम्भ (घडा) रुखा (अप्रिय) शब्द करता है, पूर्ण घट नहीं, यही विज्ञ अज्ञ में भी भेद है ॥२९॥

अक्षरार्थ- हे भाई ! बोलना (पूर्व वर्णित वा अन्य बोलने योग्य बात) भी कासो बोलिये (किससे बोलना चाहिये) इस प्रकार बोलने से प्रथम विचार कर योग्य पुरुषादि से ही बोलो । क्योंकि केवल वेषादि देखकर विना विचार किये, बोलने से, बोलते ही सब तत्व नष्ट होता है (कहना व्यर्थ होता है शान्ति सुख का नाश होता है) । क्योंकि विचार विना अयोग्य के प्रति बोलते २ काम क्रोधादि विकार बढते हैं, झूठादि कहा जाता है, इससे सोई बात बोलना चाहिये, कि जो बात विचार में बोलने योग्य परै (जँचै- निश्चित हो) । यदि सन्त मिलें तो उन से दो वचन कहो, और असन्त मिलें तो मौन (चुप) हो रहो । अर्थात् सज्जन से भी परिमित ही बात करना हित होता है, जन्ममरण से रहित होने के लिये, आत्मा अनात्मा के विवेक की बात सन्त से पूछना उचित है, तथा लोक परलोक को समझकर दुःखरहित परमानन्द की प्राप्ति का उपाय पूछना उचित है, असन्त यह समझा नहीं सकते, उलटा बखेड़ा कर सकते हैं, इस से वहाँ मौन ही उचित है ।

हितकारी पण्डित (विवेकी विद्वान) से हितकर वचन बोलो, या हे हितकारी पण्डित से ही दो वचन बोलो, तथा पण्डित से इसलिये बोलना चाहिये, कि जिससे पण्डित हितकारी होते हैं और मूर्ख (ज्ञानाभिमानी) से झँक (मनोवेगादि) को मारकर चुप रहना चाहिये । साहब का कहना है कि अर्द्धजलघटतुल्य मूर्ख डोलता (चञ्चल रहता) है, बहुभाषी होने से सत्य प्रतिज्ञ नहीं होता, और पूर्णघटतुल्य विवेकी विचारपूर्वक सत्य ही

बोलता है, जिससे सुखशान्ति आदि प्राप्त होते हैं, भ्रमादि नहीं होते इत्यादि ।

विशेष बात यह है कि, रमैनी का यह अर्थ भी हो सकता है कि, हे भाई ! मुझे तः बात बोलने की है, सो भी मैं किससे बोलूं ? अनधिकारी से बोलते ही सब तत्त्व नष्ट होता है। बोलत २ विकार बढता है । तौ भी मैं सो बात बोलता हूं जो विचार से परे की है । अर्थात् त्याग के लिये अधर्म का वर्णन करता हूं, साधारण मनुष्य को समझाने के लिये सत्यात्मा का वर्णन करता हूं इत्यादि साहब का कथन है । शास्त्र का भी उपदेश है कि (शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य सम्मतम् । विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम् ॥ मनुस्मृ० ॥ वेदवादरतो न स्यान्न पाषण्डी न हैतुकः । शुष्कवादविवादे न कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत् ॥ मनुस्मृ० ॥ सौ रुपये देवे, परन्तु विवाद नहीं करे, यह विद्वान् का मत है, विना कारण के झगडना मूर्ख का लक्षण है । जिज्ञासु वेद के अर्थवाद में प्रेम नहीं करे, न पाखण्डी होय, न तर्क से विवाद करे, व्यर्थवाद में किसी पक्ष का ग्रहण नहीं करे इत्यादि ॥७०॥

यह कहा गया है कि पण्डित से बोलना चाहिये मूर्ख से नहीं, तहाँ पक्षपात अभिमानादिरहित विवेकयुक्त सद्व्यवहार वचनादि से पण्डित को पहचानना चाहिये, और छल गर्वादियुक्त अविवेकमय निरर्थक व्यवहारादि से मूर्ख को पहचानना चाहिये इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ७१

शोक बधावा सम करि माना । ताकि बात इन्द्रहु नहिं जाना ॥

हर्षशोकौ हि यो लोके समावित्येव भाषते ।
लोकानां वञ्चनायैव चित्ते कृत्वाऽन्यथा मतिम् ॥३०॥

जो कोई अपने चित्त (मन) में अन्यथा मति (निश्चय) करके लोकों को ठगने के लिये, लोक में कहता है कि मेरे लिये हर्ष शोक तुल्य

जटा तोरि पहिरावै सेली । योग युक्ति के गर्वं दुहेली ॥
आसन उडये कौन बडाई । जैसे काग चील्ह मडराई ॥

तस्य गुप्तं रहस्यं नो वेत्तीन्द्रोऽपि हि देवराट् ।
मायावी तत्कुतोऽन्ये तज्ज्ञानीयुर्मानवा भुवि ॥३१॥
यद्वा येषां समौ ह्येतौ हर्षशोकौ विवेकिनाम् ।
तेषां मर्म नहीन्द्रोऽपि ज्ञातुं शक्नोति सर्वथा ॥३२॥
छित्वाऽन्येषां जटां वेषी बालनिर्मितसेलिकाम् ।
जनैर्धारयते मोहात्स्ववेषे पक्षपाततः ॥३३॥
योगयुक्तेश्च गर्वं स करोति द्विगुणं प्रियम् ।
नैव वेत्ति च तत्तत्त्वं महत्त्वं येन लभ्यते ॥३४॥

ही है ॥३०॥ उसके वह गुप्त रहस्य (भेद) को मायावी (छली) देवराट् इन्द्र भी नहीं जानते हैं, तो भूमि पर अन्य मनुष्य किससे उसको जानेगा ॥३१॥ अथवा (जरा मरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च । रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ महोपनिषद् २।२५) । जरा मरण आपत्ति राज्य दरिद्रता को जो रम्य (सुन्दर) बुद्धि से भोगता है, सो जीवन्मुक्त कहाता है । जिस ज्ञानी विवेकी को यह हर्ष शोक तुल्य है, उसके भेद को सर्वथा जानने में इन्द्र भी समर्थ नहीं हैं । म० भा० शा० १६० २३ का वचन है कि, (देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः) अपद (चिन्ह स्थानादि रहित) ज्ञानी के पद को चाहनेवाले देव भी ज्ञानी के मार्ग परम विरागादि में मोहित होते हैं ॥३२॥ वेषधारी मोह से अपने वेष में पक्षपात से, अन्य के अपने बाल के जटा को काट कर भेड़ा के बाल से बनी हुई सेली का लोकों से धारण कराते हैं ॥३३॥ योग की युक्ति का गर्व द्विगुण और प्रिय करते हैं, उस तत्त्व (स्वरूप) को नहीं जानते, कि जिससे महत्त्व मिलता है ॥३४॥ काक उलूकादि पक्षि तुल्य

जैसि भित्ति तैसी है नारी । राजपाट सम गणै उजारी ॥
जस नरकहिं तस चन्दन जाना । जस बाउर तस रहे सयाना ॥

आकाशोड्डयनेनापि काकोलूकादिपक्षिवत् ।
किं महत्वं भवेत्सत्यं ह्यविद्यामयवस्तुना[1] ॥३५॥
भित्तिवद्धि शुभां नारीं सुराज्यं शून्यसन्निभम् ।
ज्ञानी पश्यति चित्ते स्वे वञ्चको भाषते परम् ॥३६॥
राज्ञः स्थानादिभिस्तुल्यं शून्यं पश्यन्ति विज्ञराट् ।
अविवेकी तथा वेषी भाषते मोहनाय तु ॥३७॥
यथैव नरको घोरस्तथैव खलु चन्दनः ।
आसक्त्या दुःखदस्तुच्छ इति प्राज्ञोऽन्यथा शठः ॥३८॥
ज्ञोऽपि सन्नज्ञवत्प्राज्ञः सङ्गत्यागाय वर्तते ।
अल्पज्ञश्चाविवेकेन मूढवद्वर्तते सदा ॥३९॥

आकाश में उड़ना रूप अविद्यामय वस्तु से भी सच्चा महत्त्व क्या होगा ॥३५॥ शुभ (मङ्गल शोभायुक्त) स्त्री को भित्ति (दिवाल) तुल्य, सुन्दर राज्य को शून्य तुल्य ज्ञानी अपने चित्त में समझता है, और वञ्चक परम् (केवल) कहता है ॥३६॥ राजा के सिंहासनादि के तुल्य शून्य को विज्ञराट् (ज्ञानी) देखते हैं। अविवेकी वेषधारी लोकों को मोहने के लिये ही तिसीप्रकार कहता है ॥३७॥ जैसे घोर (भयानक) नरक दुःखद है, तैसे ही आसक्ति द्वारा चन्दन भी दुःखद और तुच्छ है। इस प्रकार ज्ञानी समझता है, और शठ (धूर्त) अविवेकादि से इस प्रकार समझता है ॥३८॥ प्राज्ञ (बुद्धिमान्) ज्ञ (ब्रह्मात्मज्ञ) विद्वान् होते भी सङ्गत्याग के लिये अज्ञतुल्य रहते हैं, और अल्पज्ञ (अज्ञानी) अविवेक से सदा मूढ (मूर्ख) तुल्य रहता है ॥३९॥ अविवेक

१. 'अविद्यामपि ये युक्त्या साधयन्ति सुखात्मिकाम् । ते ह्यविद्यामया एव न त्वात्मज्ञास्तथा क्रमाः' ॥ योगवा: ५।८९।१५॥

लपसि लवंग गणै एकू सारा । खाँड परिहरी फांकै छारा ॥

साखी ।

इहे विचार विचारते, गये बुद्धि बल चेत ।
दुइ मिलि एकै ह्वै रहा, काहि लगाऊं हेत ॥७१॥

अविवेकादयं मूढस्तरलां च लवङ्गकम् ।
एकं मंमन्यते सिद्धं सद्विवेकेन बोधवान् ॥४०॥
खण्डं त्यक्त्वा सुखं मोहात्क्षारं भुङ्क्ते च दुःखदम् ।
ज्ञस्त्यक्त्वैव जगद् दुःखं ब्रह्मानन्दे निमज्जति ॥४१॥
एतेनं कुविचारेण विषयाणां विचिन्तया ।
बुद्धेर्बलं विवेकश्च द्वयं नष्टं कुयोगिनाम् ॥४२॥
शुभाशुभैर्मिलित्वैते त्वेकीभूय सदाऽऽसते ।
केनाऽत्राहं कथं स्वस्य प्रियतां बोधयाम्यहो ॥४३॥

से यह मूढ तरला (लपसी) और लवंग को एक सिद्ध (निष्पन्न प्रसिद्ध) बार २ मानता है, और ज्ञानी सत्य वस्तु के विवेक से सत्ता भाग में एक मानते हैं, कल्पित रूप में नहीं ॥४०॥ मूढ प्राणी मोह से सुखस्वरूप खांड को त्यागकर, दुःखदायी क्षार (विषय) को भोगता है। और ज्ञानी दुःखरूप संसार को त्याग करके ही ब्रह्मानन्द में निमग्न होते हैं ॥४१॥

इस पूर्ववर्णित कुविचार और विषयों की विशेष चिन्ता (स्मरण-ध्यान) से कुयोगियों की बुद्धि का बल और विवेक दोनों नष्ट हुए ॥४२॥ ये कुयोगी शुभ अशुभ के साथ मिलकर और दोनों के साथ एक (अभिन्न) होकर सदा रहते हैं । मैं अपनी प्रियता (प्रेम) यहाँ. किसके साथ कैसे समझाऊं ! यह आश्चर्य है ॥४३॥ कुजनों के साथ यहाँ चलना श्रेष्ठ नहीं हैं, मित्रता विरोध कृपा का कलन (व्यवहार) भी कुजन के साथ

कुजनैरिह नास्ति वरं गमनं न च मैत्रिविरोधकृपाकलनं,
सहभुक्तिरथासनसंघटनं परलोकविधेरपि सम्बलनम् ।
बहुविघ्नविरोधयमादिभयं ह्यभिमानरुजादिजनिः सततं,
कुविचारिजनैः सह सङ्गतितः परलोकगताविह वा भवति ॥४४॥

इति रमैनीरसोद्रेके कुयोग्यादिसङ्गनिषेधवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३३॥

श्रेष्ठ नहीं है। साथ में भोजन अथवा आसन का सम्बन्ध भी श्रेष्ठ नहीं है, न परलोक (स्वर्गादि) के विधि (विधान) क्रिया आदि शुभावह का सम्बलन (संयोजन) श्रेष्ठ है। क्योंकि कुविचारिजन के साथ सङ्गति से बहुत प्रकार के विघ्न विरोध यमादि का भय, सदा अभिमान रोगादि की उत्पत्ति, परलोक में जाने पर वा यहाँ ही होते हैं ॥४४॥

अक्षरार्थ– वस्तुतः ज्ञानी लोक शोक (इष्ट के वियोगादि) और बधावा (इष्ट की प्राप्ति) को तुल्य मानते हैं। क्षणभंगुर मिथ्या समझते हैं। इससे रागद्वेषादिरहित होते हैं। और अज्ञ पाण्डित्याभिमानी जिन लोकोंने कहने के लिये शोक बधावा को सम करके माना है, उन के छल की बात को इन्द्रने भी नहीं जाना, अर्थात् जिनके बात व्यवहार में भेद हो, छली इन्द्र से भी कपटी जानकर उनका संग नहीं करना चाहिये। और ज्ञानी के मार्ग अगम अपार हैं, इस से उसमें देव मोहित होते हैं। और वेषाभिमानी की बात को उसके कपट से इन्द्र भी नहीं समझते हैं। और कहने मात्र के लिये शोक बधावा को तुल्य मानने ही से जटा को तोर (कटा) कर सेली (ऊन की माला) पहिराते हैं। तथा योग की युक्ति के दुहेली (कठिन वा द्विगुण) गर्व रखते हैं, या योगयुक्ति का गर्व ही उन्हे दुहेली (प्यारी) है। और वह योग चित्तवृत्ति का निरोध वा ज्ञान भक्तिरूप होता, तब तो गर्व नहीं होता, किन्तु आसन उडाना आदि रूप योग जानते हैं, तहाँ जैसे काक चील्ह मड़राता है, उडता है; तैसे आसन उडाने में कोई सच्ची बडाई नहीं है।

जैसी भित्ति है, तैसी ही स्त्री भी भूतों का विकार (कार्य) है, ऐसे विवेकी जानते हैं, और उसमें आसक्त नहीं होते। और लोक स्त्री को भित्ति तुल्य कहकर उसमें आसक्त होते हैं। और ज्ञानी लोक राजपाट (राजासनादि) और उजाड़ (शून्य) तथा नरक और चन्दन को तुल्य ही हेय समझते हैं। और अज्ञ लोक तुल्य कहकर, राज्य व्यवहार करते हैं, अशुचि भक्षणादि करते हैं। असङ्गता के लिये बाबर समान ज्ञानी रहते हैं, और अविवेकी सयान (ज्ञानाभिमानी) होते भी बाबरतुल्य रहते हैं॥ विवेकी मीठी लपसी कटु लवंग (सुख दुःख) सब को एक मायामय जान कर, खांड (सांसारिक सुख) को त्याग कर, छार (नीरस विरागादि) का ग्रहण करते हैं, मधुर विषयों में नहीं भूलते हैं, और अज्ञ लोक अविवेक से सब को एक सा समझते हैं, इससे आत्मविचारादि खांड को त्याग कर विषय रूप छार (राख) फांकते (भोगते) हैं। इत्यादि।

इहे (इसी) विचार (चर्चा) के विचारते (करने २) अर्थात् पूर्ण ज्ञानी तुल्य अपनी धारणा विना, मिथ्या बात व्यवहार का विचार करते २ इन वेषधारियों की बुद्धि का बल और चेत (होश-विवेक) नष्ट हो गया। इससे शुभाशुभ दोनों से मिल कर एकमेक हो रहे हैं। इस अवस्था में मैं किससे हेत (प्रेम) लगाऊं (करूं)। इनसे प्रेमादि करना उचित नहीं है। और अज्ञ भी विज्ञ की बात करते हैं, वेष रखते हैं; इससे बहुत लोकों की दृष्टि में अज्ञ विज्ञ दोनों एक हो रहे हैं, फिर उन्हें चिन्ता होती है कि मैं किससे हेत लगाऊं, इससे वेषधारियों के चरित्र भ्रमजनक हैं। बूझ विचार कर, बोलना चाहिये, इत्यादि ॥७१॥

माया के गमनागमन प्रकरण ३४

रमैनी ७२

नारि एक संसारहिं आई । माय न वाके बापहिं जाई ॥
गोड़ न मूड न प्राण अधारा । ता महँ भमरि रहा संसारा ॥
दिना सात लै वाकी सही । बुद अदबुद अचरज का कही ॥
वाके वन्दन करु सब कोई । बुद अदबुद अचरज बड होई ॥

माया रूपा हि नार्येका संसारेऽस्त्यागताऽसती ।
इच्छाकार्यादिरूपेणाऽनिर्वाच्या सा विमोहिनी ॥ १ ॥
न माता विद्यते तस्याः पितुरेव तु जायते ।
सर्वेशितुर्न जाता वाऽनादिरेषा हि वर्तते ॥ २ ॥
शिरःपादं न तत्रास्ति प्राणाधारौ स्त एव नो ।
तस्यामेवागतायां च भ्रमन्ति सर्वजन्तवः ॥ ३ ॥
तस्याश्च सप्तघस्रेषु सत्यतां कथयन्ति चेत् ।
बुधाश्च ह्यबुधाश्चैवाऽऽश्चर्यं तत्कथमुच्यताम् ॥ ४ ॥
तस्या एव स्तुतिं सर्वे कुर्वन्ति च बुधाऽबुधाः ।
कार्यकारणरूपाया आश्चर्यं तन्महत् खलु ॥ ५ ॥

असत्या अनिर्वचनीया विमोहिनी वह माया रूपा एक नारी इच्छा कार्यादि रूप से संसार में आई है ॥१॥ उसकी माता नहीं है, और सर्वेश्वर पिता से ही जन्मती है, अथवा यह अनादि है, जन्मी नहीं है ॥२॥ उस में शिर पैर नहीं हैं, न प्राण और आधार है, परन्तु उसी के आने पर सब प्राणी उसी में भ्रमते हैं ॥३॥ यदि बुध (पण्डित) और अबुध (अज्ञ) भी सातों घस्र (दिन) में उसी की सत्यता को कहते हैं, तो यह आश्चर्य कैसे कहा जाय ॥४॥ और कार्य कारण रूप उस माया की ही स्तुति बुध अबुध सब करते हैं, सो महा आश्चर्य है ॥५॥

साखी।

मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
सन्तो अचरज देखहू, हस्ती सिंह ही खाय ॥७२॥

उन्दुरुश्चौतुना सार्द्धं कथं तिष्ठतु निर्भयम्।
ज्ञायतां वै तथा जीवो नार्या जीवेत् कथं सह ॥ ६ ॥
विवेके सत्ययं जीवो भजते सिंहरूपताम्।
हस्तिनीरूपिणीं मायां नाशयत्येव सत्वरम् ॥ ७ ॥
अहो तथापि सिंहं तं हस्तिनी नाशयत्यसौ।
नैव जानाति मन्दोऽयं बोधाय यतते नहि ॥ ८ ॥
सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्त्यै च सन्मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्" ॥ ९ ॥

उन्दुरु (आखु) ओतु (बिडाल-बिडाली) के साथ निर्भय कैसे स्थिर हो। तैसे ही माया रूप नारी के साथ जीव भी कैसे जीवे सो समझो ॥६॥ विवेक होने पर यह जीव सिंहरूपता का धारण करता है, और हस्तिनी रूप माया को शीघ्र नष्ट करता है ॥७॥ आश्चर्य है कि, तो भी उस सिंह को वह हस्तिनी नष्ट करती है, और यह मन्द (अभागा मूर्ख) कुछ समझता नहीं है, न ज्ञान के लिये यत्न करता है ॥८॥ मायाजाल (समूह बन्धन) से वेष्टित (आवृत) हैं, इससे सुख दुःख से भी वेष्टित हैं। उन की मुक्ति के लिये सत्यमार्ग मायाजाल का निकृन्तन (छेदन) ही है। यह वचन योगतत्त्वोपनिषद् का है ॥९॥

अक्षरार्थ– माया रूप एक नारी संसारगृह बना कर इस में स्वयं भी आई है। संसार संसारी में वर्तमान है। और अनादि होने से उसकी माय (माता) नहीं है, न बाप (पिता) से जाई (उत्पन्न हुई) है।

या माता के नहीं रहते भी पिता चेतनदेव से जाई (प्रगट हुई) है। उस इच्छा आदि रूप नारी के गोड़ (पैर) मूड (शिर) प्राण वायु आधार (स्थान धडादि) कुछ नहीं हैं, चेतनात्मा असङ्ग है, इससे वह भी आधार नहीं हो सकता, तौभी सर्वाङ्गरहित तामहँ (उस में) सब संसारी भभर (भ्रम) रहा है। और आश्चर्य यह है कि रविवारादि सातों दिना लै (सातों दिन तक) वाकी (उस माया की) ही सही (सत्यता-विचार-निश्चय) सब कोई करते हैं। उसी की सही (प्रतीति) होती है। एक दिन भी आत्माराम की प्रतीति नहीं होती। और बुद (बुध-पण्डित) को भी वह अदबुद (आश्चर्य) रूप भासती है, फिर उसकी आश्चर्यरूपता की बात क्या कही जाय, या बुद (कथन योग्य) अदबुद (अकथ) उस आश्चर्यरूप को क्या कहा जाय। उसी की वन्दना सब कोई करते हैं, आत्माराम के विचारादि नहीं करते। यह बात बुद (बुध) के लिये भी आश्चर्यरूप है। तिस भारी आश्चर्य की कथा क्या कही जाय। या बुध अबुध सब उसकी वन्दना करते हैं, सो आश्चर्य है। इत्यादि।

अज्ञ जीव रूप मूष, इच्छा चिन्ता आदि माया रूपी बिल्ली एक स्थान में साथ सुखादिपूर्वक कैसे रह सकते हैं, सो कहो और समझो। और माया के संगादि छोडो। और हे सन्तो ! एक आश्चर्य देखो कि विवेक दृष्टि से सिंहतुल्य जीवात्मा को अविवेक दशा में हस्तीतुल्य माया खा रही है, उसके स्वरूप को छिपा रही है, निर्भय सुखी नहीं होने देती है। इससे विवेकादि के लिये अवश्य यत्न करो, इत्यादि। 'अचरज सन्तो देखहु, 'अचरज एक देखहु हो सन्तो' ये तीसरा चरण के पाठभेद हैं ॥७२॥

रमैनी ७३

चली जाति देखि एक नारी । तर गागरि ऊपर पनिहारी ॥
चली जाति वह बाटहिं बाटा । सोवनहार के ऊपर खाटा ॥

एकां नारीं हि गच्छन्तीं प्रलयं ज्ञानिनो जनाः ।
पश्यन्ति सा घटं देहमन्तर्धायैव गच्छति ॥१०॥
अन्तर्धाय च कार्यं सा ह्यूर्ध्वे ब्रह्मणि गच्छति ।
समुल्लङ्घ्य यथा काचिद् घटं यात्यम्बुहारिणी ॥ ११ ॥
सा गच्छति स्वमार्गेण येनैवात्रागता पुरा ।
क्रमो विपर्ययेणास्याः सम्भवेद्गमने खलु ॥१२॥
शयाना ये च मोहेन निद्रया तन्द्रया तथा ।
तेषामुपरि देहाख्यां खट्वां दत्वैव गच्छति ॥१३॥
अनादित्वेऽपि सा देवी जडत्वेनैव नश्यति ।
शुद्धसात्विकभागोऽपि तस्यामस्ति स्वभावतः ॥१४॥

ज्ञानी लोक एक नारी को ही प्रलय को जाती हुई देखते हैं, और वह देहरूप घट को छिपा करके ही जाती है ॥१०॥ जैसे कोई अम्बु (जल) भरनेवाली घड़ा को लांघ कर जाती है, तैसे वह माया कार्य को छिपाकर ऊर्ध्व (पर) ब्रह्म में जाती है ॥११॥ वह अपने उसी मार्ग से जाती है कि जिससे पहले आई थी; परन्तु इसके गमन आगमन उलटा क्रम (कल्प-प्रकार) से हो सकता है (विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च । ब्रह्मसू० २।३।१४) सृष्टि से प्रलय का क्रम उलटा होता है, ऐसा ही हो सकता है ॥१२॥ जो लोक मोहरूप निद्रा (शयन) तथा तन्द्रा (असामर्थ्य) से सोये रहते हैं, उनके ऊपर देहरूप खाट दे करके ही जाती है ॥१३॥ अनादि होते भी वह मायादेवी जडता से नष्ट (परिणत) होती है, और शुद्ध सात्विकता भी उसमें स्वभाव से ही

जाडन मरे सपेदी सवँरी । खसम न चिन्हें घरणि भौ बौरी ॥
साँझ सकार दीप लै बारै । खसमहिं छाडि रहै लगवारै ॥
वाही के संग निशिदिन राची । पिय सो बात कहै नहिं साची ॥
सोवत छाडि चली पिय अपना । अब दहुं ई दुख कहब किहि सना ॥

अहो तथापि निःसङ्गं पुरुषं नैव पश्यति ।
तत्सत्तया स्वभावाद्यैर्मत्तेवेदं करोति सा ॥१५॥
संसाराख्यगृहस्था सा संध्ययोरुभयोरपि ।
चन्द्रसूर्यादिकं दीपं प्रज्वालयति योग्यकम् ॥१६॥
त्यक्त्वाऽसङ्गं पतिं स्वस्याः ससङ्गे सातिनिष्ठति ।
कुर्वेती विविधं भावं स्वयमेव विकारिणी[1] ॥१७॥
विकारैः कुरुते प्रीतिं सदा सा त्रिगुणा नहि ।
संदर्शयति पत्यर्थं वस्तुतत्त्वं कदाचन ॥१८॥

है ॥१४॥ आश्चर्य है कि तौ भी असङ्ग पुरुष आत्मा को नहीं देखती है, और उसकी सत्ता तथा स्वभावादि से वह मत्ता (उन्मत्ता) के तुल्य इस कार्य को करती है ॥१५॥

संसार नामक गृह में स्थिर वह माया सूर्यचन्द्रादिरूप योग्य दीप को दोनों संध्या में प्रज्वलित करती (बारती) है ॥१६॥ विकारवाली वह माया स्वयम् ही अपना विविध भाव (स्वभाव-चेष्टा-जन्मादि) करती हुई अपना असङ्गपति को त्यागकर ससङ्ग में अति स्थिर रहती है ॥१७॥ वह तीन गुणवाली विकारों के साथ सदा प्रीति करती है । स्वामी के लिये

१ 'यथा सतो जनिर्नैवमसतोऽपि जनिर्न च । जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम् ॥' वेदान्तमुक्तावली १६ । 'ब्रह्ममाये जगद्योनी नोभयोः परिणामिता । तयोर्विकारिणी माया ब्रह्म तत्र विवर्तते ॥' अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसारः । २।५०

साखी ।

अपनी जांघ उघारि के, अपनी कही न जाय ।
की चित जानै आपना, की मेरो जन गाय ॥७३॥

शयानं स्वं पतिं त्यक्त्वा सा गच्छति यदा तदा ।
जायते यन्महद् दुःखं तद्वाचां गोचरो नहि ॥१९॥
स्वस्य गुह्यं प्रकाश्यात्र स्वयं वक्तुं न शक्यते ।
चित्तं स्वस्य च जानाति गायन्ति मामका यथा ॥२०॥
तथा स्वस्यापराधेन दुःखं यदिह जायते ।
वक्तुमनर्हमप्येतच्चित्तं वेत्ति च वक्ति सन् ॥२१॥
अनात्मसंघेषु यदात्मधीर्भवेत्, ततश्च दुःखं वधबन्धनादिकम् ।
रागादिदोषाश्च भवन्ति ये सदा, मूढैर्न शक्या गदितुं च ते किल ॥२२॥

इति रमैनीरसोद्रेके मायागमनागमनादिवर्णन नाम चतुस्त्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३४॥

कभी वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह नहीं दिखाती है ॥१८॥ जिस समय वह अपने पति को सोया हुआ छोड़कर जाती है, उस समय जो महा-दुःख होता है, सो वाणी का विषय नहीं है ॥१९॥

अपना गुह्य (रहस्य) को प्रगट करके स्वयं यहाँ कहा नहीं जा सकता, परन्तु अपना चित्त जानता है । स्वकीय-मेरे (गुरु के) जन उसे भी जैसे बोध के लिये गाते हैं; तैसे ही अपना अपराध से जो यहाँ दुःख होता है; यद्यपि वह कहने के अयोग्य है, परन्तु उसे चित्त जानता है, और सतपुरुष कहते हैं ॥२०-२१॥ अनात्मसमूहों में जब आत्मबुद्धि होती है, तब उससे वधबन्धनादि रूप जो दुःख होता है, और जो सदा रागादि दोष होते हैं, वे सब मूढों से कहने के योग्य नहीं हो सकते ॥२२॥

अक्षरार्थ– चेतनात्मा के अचल विभु अपरिणामी होने से, आनेवाली एक नारी को ही प्रलयादि के समय चली जाती हुई महात्माओं ने देखी

है। और जाते (प्रलय) समय पनिहारी (विषयार्पक) माया में प्रयोजन का उस समय अभाव जानकर देहादिरूप गागर (घड़ा) को अपने तरे (अन्दर) करके ऊपर (ब्रह्म) में जाती है। और वहजिस बाट (मार्ग) से आती है, उसी बाटे २ चली जाती है, क्रम में भेद होता है, अर्थात् सृष्टि के समय आकाश वायु तेज जल भूमि देह; ये क्रम से उत्पन्न होते हैं। और प्रलय समय देह भूमि जल तेज वायु आकाश; ये क्रम से लीन होते हैं। और मोहादि निन्द से सोवनहार (सोनेवालों) के ऊपर देहादि की वासना कर्मादि रूप खाट लादकर माया जाती है। अनादि होते भी जडता से मरती है, सब जड वस्तु के धर्मादिरूप परिणाम से नाश होता है। और उसमें सपेदी (शुद्ध सत्त्वगुण) सँवार (सुधार) पूर्वक लगा है, तौ भी असंग पति को नहीं जानने से बुद्धिरूप घरनी (स्त्री) बौरी हुई है। तथा जिनके ऊपर खाट लादी गई है, वे लोक शिर में सपेदी होने पर भी जडता से नष्ट होते हैं, उनकी बुद्धि बावरी हुई है, इत्यादि।

वह माया साँझ (संध्या) सकार (सवेरे) चन्द्र तारा सूर्यरूप दीप लेकर बारती है; परन्तु खसम (असंग पति) को छोड़कर, लगवार (ससंग) जीवके साथ भोग देने के लिये रहती है, तथा उसका भोग के लिये कार्यपरायण रहती है। और उसीके साथ रातदिन राची (रति प्रेमयुक्त) रहती है; परन्तु उस पिय (पति) से सांच बात नहीं कहती है, मोहादिरूप से सत्य अर्थ को छिपाई रहती है, जिससे जीव आत्मानात्मादि को यथार्थरूप से नहीं जानता है। और जीवरूप पति को मोह से सोवता हुआ छोड़कर जब चली वा चलती है, तो अब उस समय का ई (यह) दुःख किहिसना (किसीसे) कहब (कहना) भी कैसे हो, या अवदहुं (अब तो) वह दुःख किससे कहा जाय। अर्थात् प्रलय मरण से वा सम्पत्ति का नाश से प्रथम यदि विवेक विराग संतोष ज्ञान नहीं होते हैं, तो पीछे वर्णन के अयोग्य कठिन दुःख होता है, इससे

मरण प्रलय तक भी मोहादि की निवृत्ति के लिये यत्न करना चाहिये। ' किहिसना, के कैसना, पाठान्तर है।

जैसे अपनी जांघ (गुह्य स्थान) उघार कर अपनी गुप्त बात नहीं कही जाती, तैसे ही अपनी भूल मोह की बात भी जीव से नहीं कही जाती है, परन्तु की (चाहे) उसका अपना चित्त उस दुःख को जानता है, की (अथवा) मेरो जन (गुरुभक्त सज्जन) उपदेश के लिये गाय कर सुनाते हैं कि इससे रहित होने के लिये उपाय करो, इत्यादि ॥७३॥

मुक्त और भ्रान्त की स्थिति वर्णन प्रकरण ३८

प्रसङ्ग से माया और मायावशवर्ती का वर्णन करके (लागे तो भागे नहीं, सुखसिन्धु निहारु कबीर) इस वचन में वर्णित, और (की मेरो जन गाय) यहाँ मेरो जन शब्द से कथित, जीवनमुक्त भक्त ज्ञानी की स्थिति (धारणा) का वर्णन करते हैं कि—

रमैनी ७४

तहिया गुप्त स्थूल न काया। ताके शोक न ताके माया॥
कमलपत्र तरङ्ग इक मांहीं। संगहिं रहै लिप्त पै नाहीं॥

यदाऽद्धा ज्ञायते तत्त्वं सुगोप्यं पावनं परम्।
तदा सूक्ष्मं न तिष्ठद्धि स्थूलं न जायते पुनः॥ १॥

जब अद्धा (सत्य) अति गोप्य परम पावन तत्त्व (स्वरूप) जाना जाता है, तब सूक्ष्म शरीर नहीं स्थिर रहता है, न फिर स्थूल शरीर होता है ॥१॥ जीता हुआ ज्ञानी के मुक्तिकाल में शोक नहीं होता है,

आश ओस अण्ड महँ रहई । अगणित अण्ड न कोई कहई ॥
निराधार अधार ले जानी । राम नाम ले उचरी बानी ॥

जीवतो मुक्तिकाले हि ह्यस्य शोको[1] न जायते ।
मायामोहौ न तस्य स्तो ह्यसङ्गस्य विवेकिनः ॥ २ ॥
"पद्मपत्रं यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते ।
शब्दादिविषयाम्भोभिस्तद्वज्ज्ञानी न लिप्यते ॥ ३ ॥
न कदाचन निर्मुक्तं चेतो भूयो निबध्यते ।
यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्तच्युतं फलम्" ॥ ४ ॥
विषयाणवाशया ह्यण्डे जायन्ते सर्वजन्तवः ।
अनन्तमपि विध्यण्डं न विज्ञो मन्यते किल ॥ ५ ॥
आधारं यं निराधारं जानाति स हि तत्त्ववित् ।
रामनाम्नाऽपि तस्यैव वाणी विज्ञस्य जायते ॥ ६ ॥

न उस असङ्ग विवेकी के माया मोह रहते हैं ॥२॥ कमल के पत्ता जैसे अपने में स्थिर जल से भी लिप्त नहीं होता, तैसे शब्दादि विषय रूप जल से ज्ञानी लिप्त नहीं होता है। सूतसं० शिवमा० २।३४। का यह वचन है ॥३॥ निर्मुक्त भूयो (बहुल) चित्त कभी नहीं बँधता है, वृन्त से गिरा हुआ फल को यत्न से भी फिर किसने बांधा है ॥ योगवासिष्ठ० ६।२।१२५।३१। का यह वचन है ॥४॥ विषय का अणु (लव) की आशा से सब प्राणी ब्रह्माण्ड में जन्मते हैं, और अनन्त विध्यण्ड (ब्रह्माण्ड) को विज्ञ (ज्ञानी) कुछ नहीं मानता है ॥५॥ और वह तत्त्ववेत्ता जिस निराधार को सबका आधार जानता है, उसीका रामनाम रूप से भी विज्ञ की वाणी होती है ॥६॥

१ 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'। ईशोप० ७। 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥' मनुः ६।७४।

धर्म कहै सब पानी अहई। जाती के मन पानी अहई॥
ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करे अचारा॥

सर्वोऽपि धार्मिको यच्च पानीयमिति मन्यते।
जातिवर्णादि चित्ते च यज्जन्तत्वेन निश्चितम्॥७॥

तस्मिन्नेव जले मत्स्याः पशवश्च पतङ्गकाः।
लीयन्ते मरणं प्राप्य पावनं [1]तद्विदुर्जनाः॥८॥

अतस्तेनैव शौचं च निजाचारान् प्रकुर्वते।
शुद्धाऽशुद्धौ न पश्यन्ति विवेकेन विलक्षणौ॥९॥

भवपाशं तु संत्यज्य बहिस्तस्माद् भवन्ति ये।
ते पुन र्भवमार्गं वा जलाच्छुद्धिं न मन्यते॥१०॥
"चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तोयस्नानैर्न शुद्ध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि"॥११॥

सब धार्मिक (धर्म से चलनेवाला) जिस को पानीय (पीने योग्य) ऐसा मानता है, और जाति (गोत्र) वर्णादि के चित्त में भी जो जल रूप (दोषापवारकरूप) से निश्चित है॥७॥ उसी जल में मछली पशु पतङ्ग मरण पाकर लीन होते हैं, उस को मनुष्य पावन जानते हैं॥८॥ इसीसे उससे ही शौच अपना आचार करते हैं, और विवेक से विलक्षण (भिन्न लक्षणवाले) शुद्ध अशुद्ध को नहीं देखते हैं॥९॥ जो कोई संसारबन्धन को त्याग कर, उससे बाहर होते हैं, वे फिर संसार के मार्ग को वा जल से शुद्धि को नहीं मानते हैं॥१०॥ क्योंकि अन्तर्गत दुष्ट चित्त जल स्नानों से नहीं शुद्ध होता है, सैकडो बार जल से धोया हुआ मद्यपात्र तुल्य अशुचि ही रहता है॥११॥ प्राज्ञ (ज्ञानी) अखण्ड

१ 'न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।' वायुपु० ४३।२५।

फन्द छोडि जो बाहर होई । बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई ॥

साखी ।

भरमक बाँधल ई जगत, कोइ न करै विचार ।
हरि कि भक्ति जाने बिना, बूडि मुआ संसार ॥७४॥

शुद्धिं तत्त्वस्य[1] बोधेन प्राज्ञः पश्यति सर्वदा ।
अखण्डस्य विशुद्धस्य निराधारस्य सर्वथा ॥१२॥
भ्रमेणैव हि संनद्धाः सर्वे संसारिणो जनाः ।
विचारं[2] नैव कुर्वन्ति मोहपाशाद्विमुक्तये ॥१३॥
हरे[3]र्भक्तिं विना चैते ब्रुडन्ति भवसागरे ।
ज्ञानं विना लभन्ते न शुद्धं रूपं सदव्ययम् ॥१४॥

विशुद्ध निराधार तत्व (परमात्मस्वरूप) का बोध (ज्ञान) से सर्वथा सर्वदा शुद्धि देखता है ॥१२॥

भ्रम से ही सब संसारीजन संनद्ध (व्यूढ-संहत दृढ संबन्ध युक्त) हैं, इससे मोह बन्धन से विमुक्ति के लिये विचार नहीं करते हैं ॥१३॥ हरि की भक्ति विना ये संसार सागर में डूबते हैं, और ज्ञान विना शुद्ध सत्य निर्विकार स्वरूप को नहीं पाते हैं ॥१४॥ माया से सदा निबद्ध

१ 'मन्त्रौषधबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम् । तद्वत्सर्वाणि कर्माणि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात्' ॥ सूतसं० शिवमा० २।३५ ।

२ 'अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते । संकल्पो विविधः कर्ता विचारः सोऽयमीदृशः ॥' अपरोक्षानुभूतिः । 'वायौ दुन्दुभिवाचेदं जगदादि च भासते । कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥' योगवासिष्ठ० ६।

३ 'भक्तियोगो निरुपद्रवः । भक्तियोगान्मुक्तिः । भक्त्याऽसाध्यं न किञ्चिदस्ति ।' त्रिपादविभूतिमहानारायणोप० ॥ अ०

सदा मायया जीवसङ्घा निबद्धा न यावद्धरिं संभजन्ते विशुद्धम् ।
न यावद्विचारं च तस्याऽऽतनोति न तावद्विमुक्तिः सुखशान्तिरस्ति॥
यथा मायया जीवभावो मृषैव तथा ब्रह्मविष्ण्वादिभावोऽप्यतथ्यः ।
सुरेशादिभावो नहि क्वापि तथ्यस्तथापीशभक्त्यादिलभ्या विमुक्तिः ॥१६॥

इति रमैनीरसोद्रेके मुक्तभ्रान्तयोः स्थितिवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३५॥

(बँधाया हुआ) जीवसमूह जबतक विशुद्ध हरि को अच्छी तरह नहीं भजते हैं, और जबतक उस हरि का विचार को नहीं फैलाते खूब प्रचार करते हैं, तबतक विमुक्ति सुख-शान्ति नहीं है ॥१५॥ यद्यपि जैसे माया (अज्ञान) से झूठा ही जीवत्व है, तैसे ही ब्रह्मा विष्णु आदिपन भी झूठा ही है, सुरेशादि भाव भी कहीं सत्य नहीं है, तो भी ईश्वर भक्ति आदि से मिलने योग्य मुक्ति है ॥१६॥

अक्षरार्थ- तहिया (माया को चल जान कर गुरु से अचल तत्त्व समझने पर) गुप्त (सूक्ष्म) और स्थूल शरीर फिर नहीं होते हैं, न उन के रोगादि से शोक होता है, न माया (मोह ममता) रहती है; किन्तु जल तरङ्ग के साथ कमलपत्र की नाईं जीवन्मुक्त ज्ञानी एक संसार में साथ रहते भी किसी में भी लिप्त (आसक्त सम्बन्धी) नहीं होते हैं । इसीसे ब्रह्माण्ड में रहते भी ब्रह्माण्ड से बाहर रहते हैं; क्योंकि आशा का विषय रूप ओस (जलकण तुल्य तुच्छ विषय) को चाहने वाला जीव, और ओस ही ब्रह्माण्ड में रहते हैं । और ज्ञानी तो अगणित (असंख्य) ब्रह्माण्ड को भी कोई वस्तु नहीं कहता (समझता-गिनता) है । और निराधार विभु चेतनात्मा को सबका आधार (आश्रय) जान कर, उसी को चित्त में धारण कर लेता है, तथा उसी का रामनाम लेकर ज्ञानी की वाणी उच्चरती है ।

सर्व धर्मवाले जिसको कहते हैं, कि यह पानी अहई (है) तथा

सब जाति के मन से जो पानी निश्चित है। उसी में ढोर (पशु) पतङ्ग घरियार (ग्राह) आदि सड़ते हैं, और तेहि (उसी) से सब लोक आचार (स्नानादि व्यवहार) करते हैं, और अपने को पवित्र समझते हैं। परन्तु संसार के फन्द (बन्धन-मर्यादा) छोड़ कर जो विवेकी बाहर होते है, सो फिर उस पन्थ (संसार का मार्ग-जलमात्र से सत्य शुद्धि) को नहीं जोहते (खोजते-वा देखते) हैं; किन्तु ज्ञान विरागादि से सत्य शुद्धि जानते हैं। (कहहिं कबीर ते छूत विवर्जित, जाके संग न माया। शब्द १३)।

मिथ्या ज्ञानरूप भ्रम करके ई (यह) जगत् (संसारी) बँधा है, देहाभिमानादि में फंसा है, इससे स्नान कर्मादि से ही शुद्धि समझता है। और सत्यशुद्धि का हेतु विचार कोई नहीं करता है। और विचार विना सर्वात्मा हरि की भक्ति को भी नहीं जानता है, इससे भक्ति को जानने करने बिना भवसागर में सब संसारी बूड मुआ और मरता है।

विशेष विवरण– पूर्व रमैनी में प्रलय का वर्णन होने से, यह भी अर्थ हो सकता है कि, तहिया (माया के जाने पर प्रलय में) जीव के सूक्ष्म स्थूल देह नहीं रहते हैं। उनके न रहने का शोक वा माया (मोह) भी नहीं होते हैं; वासनाओं के साथ रहते भी जीव कमलपत्रतुल्य असंग रहता है; परन्तु आशा विषयरूप ओस (वासना) उसके अण्ड (ब्रह्माण्ड) में रहते हैं। यही उसका मुक्त से भेद है। शंका हुई कि प्रलय में ब्रह्माण्ड नहीं रहता है, तो अण्ड में वासना कैसे रहती है। तब कहते है कि, उस समय भी कारणरूप से अगणित अण्ड रहते हैं; परन्तु उन्हें कहनेवाला नहीं रहता है, इससे उनका कोई व्यवहार नहीं होता है। शंका हुई कि, उन ब्रह्माण्डों का आधार कौन रहता है; तब कहते हैं कि, निराधार को आधार जान लो। और रामनामरूप जो शब्द होता है, सो उसका नाम समझो। शंका हुई कि, यदि राम सबका आधार है

तो सबका दोष गुण से युक्त भी होगा। तब कहते हैं कि, सब धर्म जातिवाले पानी को पीने योग्य कहते मानते हैं। उसमें पशु आदि के सड़ने पर भी उसीसे आचार करते हैं, कि जिससे असंग समझते हैं। सूर्य भी शुद्ध जल का ही ग्रहण करते हैं। तैसे ही निराधार राम असंग है, उसे ज्ञानी समझते हैं; परन्तु यँह भेद है कि, जल बार २ शुद्ध मलिन हुआ करता है। और जो ज्ञानी एकबार फन्द (मोहादि) को छोड़कर, संसार ब्रह्माण्ड से बाहर (भिन्न) शुद्ध ब्रह्मनिष्ठ होता है, सो फिर संसार के मार्ग को नहीं देखता है। क्योंकि अज्ञान भ्रम से संसार का मार्ग देखा जाता है। संसारी भ्रम से ही बँधाया है, छूटने के लिये कोई विचार भी नहीं करता है। इससे हरि और हरिभक्ति को जानने बिना भवसागर में बूड कर मरता है। जानने पर कोई नहीं बूड सकता, इत्यादि ॥७४॥

परमप्रभु शरणागति प्रकरण ॥३६॥

प्रथम निराधार राम का नाम कहा गया है, तथा हरि की भक्ति ज्ञान बिना संसार दुःख कहा गया है; सो सुन कर ज्ञेय ध्येय राम हरि की जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि—

रमैनी ७५

तिहि साहब के लागहु साथा। द्वि दुख मेटि के होहु सनाथा॥

यस्य ज्ञानाद् भवेच्छुद्धिः परमा च सनातनी।
यद्भक्त्या न भवोऽपि स्यात्तद्विभोः शरणं व्रज॥ १॥

जिसके ज्ञान से सनातनी (स्थिरा-वैष्णवी) परमा शुद्धि हो, जिसकी भक्ति से जन्म संसार भी न हो, उस प्रभु का शरण (गृह-रक्षण) को जावो (प्राप्त करो) ॥१॥ उसीके शरण में स्थिति से सब द्वन्द्व को नष्ट

दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राव सताया ॥
नहिं देवकि के गर्भहिं आया। नहिं यशोदा गोद खेलाया ॥
पृथिवी रमन धमन नहिं करिया। पैठि पताल नहीं बलि छलिया ॥

तस्यैव शरणे स्थित्वा सर्वं द्वन्द्वं विनाशय।
सनाथः कृतकृत्यश्च विहरस्व यथासुखम् ॥ २ ॥
यस्य सङ्गान्न दुःखानि[1] स्युरेवेह कदाचन।
नावतीर्यागतो देवो[2] गृहे दशरथस्य सः ॥
न लङ्काया नरेशं वाऽशातयत् स बलेन च ॥ ३ ॥
गर्भे नैव स देवक्या आगतो न यशोदया।
उत्सङ्गे लालितो देवो विभौ तस्मिन् जगत् स्थितम् ॥ ४ ॥
पृथिव्यां रमणं नैव कृतं न धावनं तथा।
पाताले वा प्रविश्याऽयं बलिं वञ्चयतेऽस्म नो ॥ ५ ॥

करो, और सनाथ (रक्षक स्वामी सहित) कृतकृत्य (मुक्त) होकर सुखपूर्वक विचरो ॥२॥ जिसके संग (प्राप्ति) से यहाँ कभी दुःख नहीं होंगे, वह देव अवतार (जन्म) लेकर राजा दशरथ के घर में नहीं आया; और न लंका के राजा को वह बल से मारा ॥३॥ न वह देवकी के गर्भ में आया, न यशोदा से वह देव उत्संग (गोद) में लालित हुआ (खेलाया गया) तिस विभु देव में जगत् स्थित है ॥४॥ पृथिवी पर रमण (क्रीडा) तथा धावन (गमन) वह नहीं किया, वा पाताल में पैठ कर यह देव बलि को नहीं ठगा ॥५॥

१ 'ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति'। बृ. ४।४।१४॥

२ 'न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः। न देवः कमलोद्भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः'॥ 'अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते। आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः'॥ योगवा० ६।२९।१८–२१ ॥

न बलिराज से माँडल रारी । नहिं हिरणाकश बघल पछारी ॥
बराह रूप धरणि नहिं धरिया । क्षत्री मारि निक्षत्रि न करिया ॥
नहिं गोवरधन कर गहि धरिया । नहिं ग्वालसंग बनबन फिरिया॥
गण्डक शालग्राम नहिं कूला । मच्छ कच्छ होय नहिं जल डूला ॥

राजभिः बलवद्भिः स विग्रहं कृतवान्नहि ।
हिरण्यकश्यपं नैव पातयित्वाऽवधीत्तथा ॥ ६ ॥
वराहवपुषा नैव पृथिवीं धृतवान् प्रभुः ।
क्षत्रियान् मारयित्वा वा निःक्षत्रं न कृतं जगत् ॥ ७ ॥
नैव गोवर्धनस्तेन करेणैव धृतस्तथा ।
गोपैः सह न देवोऽसौ वनेषु विचचार ह ॥ ८ ॥
गण्डकयाश्च तटे नाऽसौ शालिग्रामशिलाऽभवत् ।
न मत्स्यकच्छपौ भूत्वा स्वयं तोये समाचरत् ॥ ९ ॥
द्वारावत्यां शरीरं स त्यक्तवान्न कदाचन ।
जगन्नाथनगर्यां न गात्रं तस्य व्यरोपयत् ॥
कोऽपि देवो मनुष्यो वा शक्तो न तत्र विद्यते ॥१०॥

वह साहब बली राजाओं के साथ विग्रह (युद्ध-कलह) नहीं किया, तथा हिरण्यकश्यप को गिरा कर नहीं मारा ॥६॥ वह प्रभु शूकर शरीर से पृथिवी को न धरा, वा क्षत्रियों को मार कर क्षत्रिय रहित जगत को नहीं किया ॥७॥ तथा उसने हाथ से ही गोवर्धन पर्वत को नहीं धरा, न वह देव गोपों के साथ वनों में विचरा ॥८॥ वह गण्डकी के किनारे शालिग्राम पत्थर नहीं हुआ, न मत्स्य कच्छप स्वयं होकर वह जल में विचरा ॥९॥ द्वारावती (द्वारिका) में वह कभी शरीर नहीं त्यागा, न उसके गात्र (देह) को कोई देव वा मनुष्य जगन्नाथ नगरी में व्यरोपण किया (गाड़ा), न कोई उसका देह को गाड़ने में शक्त (समर्थ) है ॥१०॥

द्वारावति शरीर नहिं छाड़ा । लै जगन्नाथ पिण्ड नहि गाडा ॥

साखी ।

कहहिं कबीर पुकारिके, वा पन्थे मति भूल ।
जिहि राखेहु अनुमान कै, स्थूल नहीं अस्थूल ॥७५॥

शरीरत्रितयाद् भिन्नो वर्तते स सदा स्वयम् ।
मायामात्रं जगत्तस्य सावतारं न संशयः ॥११॥
भ्रमितव्यं न तन्मार्गे सज्जनेन मुमुक्षुणा ।
तेभ्यः परतरं तत्त्वं ज्ञातव्यं गुरुसेवया ॥१२॥
यं जानास्यनुमित्या त्वं स्थूलसूक्ष्मपरो हि सः ।
ज्ञेयो भक्त्यादियोगेन[1] सद्गुरोर्वचनैस्तथा ॥१३॥

वह स्वयंस्वरूप से सदा तीनों देह से भिन्न है, अवतारों के सहित सब जगत उसके माया मात्र (मिथ्या) है, इसमें संशय नहीं है । वही सत्य है, साहब है । यद्यपि जीव भी शरीरों से भिन्न है, तथापि संकोचादिवाला उसके उपाधि शरीर में पैठता है, अज्ञान से उसे देहाभिमान होता है । ईश्वर वा शुद्ध ब्रह्म में प्रवेशादि भी नहीं हो सकते ॥११॥

सज्जन मुमुक्षु को उस साकारेश्वरवाद मार्ग में नहीं भूलना चाहिये; किन्तु उन सब से अति पर (उत्तम) तत्त्व (परमात्मस्वरूप) गुरु सेवा द्वारा जानना चाहिये ॥१२॥ विचित्र कार्य संसार को देखकर जिसको तुम अनुमिति से जानते हो, वह स्थूल सूक्ष्म देहादि से पर है, तथा भक्त्यादि योग से सद्गुरु के वचनों से समझने योग्य है ॥१३॥ सूक्ष्म से

१ 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन' । कठ. २।४।११॥ ' ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः । महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ' ॥ ' तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः । सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ' ॥ योगवा० ६।२।४८।२२-२३ ॥

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तं चिदानन्दविग्रहम् ।
शुद्धाच्छुद्धतरं बुद्धं विद्धि विद्वन निरन्तरम् ॥१४॥
चिदानन्दकन्दं परेशं पुराणं प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रसन्नम् ।
गभीरं गुणज्ञानगोऽतीतमाद्यं सदा सर्वबुद्धौ च देदीप्यमानम् ॥१५॥
सदा भोगभाजां सुदूरे विभान्तं तथा योगभाजां हृदिप्रस्फुरन्तम् ।
हरन्तं सतां मोहकामान्धकारं कृपागारमद्वैतदेहं भज त्वम् ॥१६॥

अतिसूक्ष्म, चित् (ज्ञान) आनन्द (सुख) का विग्रह (विस्तार) नित्य उस परमात्मा को ही हे विद्वन् ! शुद्ध से अतिशुद्ध निरन्तर (अखण्ड) बुद्ध (पण्डित-सर्वज्ञ-वेदादि से बोधित) जानो ॥१४॥ ज्ञान आनन्द का कन्द (मूल), उत्तम ईश्वर, पुराण (अनादि) प्रपन्न (प्रच्युत) या शरणागत के सब आनन्द को दाता, प्रसन्न (निर्मल तुष्ट), गम्भीर, गुण ज्ञान इन्द्रिय से अतीत (परे अविषय), आद्य (प्रथम) सदा सब की बुद्धि में अतिशय प्रकाशमान, भी भोगपरायणों को सदा अतिदूर भासमान, तथा योगपरायणों के हृदय में प्रकाशमान सतपुरुषों के मोह कामरूप अन्धकार को हरनेवाला, कृपा का घर, अद्वैत देहवाला को तुम भजो ॥ १५, १६ ॥

अक्षरार्थ— जिस हरि की भक्ति ज्ञान ध्यान से परम शुद्धि होती है, तिहि साहब (उसी प्रभु) के साथ लगो । उसके विचारादि करो, उसको अपने साथ वा अपना स्वरूप समझो, दूर भिन्न नहीं मानो । प्रथम साहब स्वरूप सद्गुरु के साथ लगो । हरि गुरु में चित्त लगावो । और साथ लगकर, जन्म मरणरूप तथा सब द्वन्द्व भेदरूप दुःख को मेट (नष्ट) करके सनाथ (कृतकृत्य-उस स्वामी स्वरूप) होवो । और जिसके साथ होने से सनाथ होगे, सो साहब दशरथजी के कुल (घर) में अवतार (जन्म) लेकर नहीं आया । न लंका के राव (राजा) रावण को सताया (मारा) । विभु होने से वह देवकी के गर्भ मात्र में नहीं आया,

न यशोदा उसे गोद में खेलाया। और अक्रिय होने से पृथिवी पर रमन (क्रीड़ा) नहीं किया, न धमन (धावन) किया, या पृथिवीरमन (पृथिवीपति) का धमन (नाश-दमन) नहीं किया, न पाताल में पैठ-कर बलि को छला (ठगा)।

कंसादि बली राजाओं से रार (झगड़ा-बैर) नहीं माँडल (ठाना), न दैत्यराज बलि से झगड़ा बढाया। न हिरण्यकश्यप दैत्य को पछार (गिरा) कर बधल (मारा वध किया)। स्वयं सत्ता से धरनेवाला शूकररूप से भूमि को नहीं धरा, क्षत्रियों को मारकर क्षत्रिय रहित नहीं किया॥ गोवर्धन को हाथ से गहि (पकड़) कर नहीं धरा, न ग्वालों के साथ वन २ में फिरा। गण्डकी नदी में शालिग्राम के कूल (समूह) नहीं हुआ, वा गण्डकी के कूल (तट) में शालिग्राम नहीं हुआ, न मछली कछुआ होकर जल में डोला। द्वारिका (प्रभास) में शरीर नहीं छोड़ा, न जगन्नाथ में अपना पिण्ड (शरीर-मूर्ति) को गाड़ा (गड़वाया)। यह सब विभु सर्वात्मा की माया का कार्य है, वह देह देही विशेषरूप नहीं है।

शरीरादि रूप नहीं होने से कहते हैं कि, तुम उस स्थूल मार्ग में नहीं भूलो; सत्य बुद्धि आसक्ति नहीं करो। कार्य से जिस कारण का अनुमान (अनुमिति कल्पना) कर रखे (किये) हो, सो सर्व कारण परमात्मा स्थूल नहीं है; किन्तु अस्थूल (परम सूक्ष्म) है। तथा स्थूल सूक्ष्म सब देहों से भिन्न है। अल्पज्ञ जीव वा जड़ प्रकृति आदि स्वरूप भी वह नहीं है। स्थूल अवतारादि उसके अल्पमाया मात्र हैं, माया द्वारा ही वह अकर्ता होते भी कर्ता है, उसीके साथ लगो, उसे अपना सत्यस्वरूप समझो, इत्यादि ॥७५॥

रमैनी ७६

माया मोह कठिन संसारा । इहे विचार न काहु विचारा ॥
माया मोह कठिन जग फन्दा । होय विवेकि सोइ जन बन्दा ॥
राम नाम ले बेरा धारा । सो तो ले संसारहिं पारा ॥

मायामोहौ हि संसारे कठिनौ बाधकौ तयोः ।
वशंगतो न कोऽपीमं विचारं कुरुते जनः ॥१७॥
मायामोहौ जगत्यस्मिन् दुर्भेद्यौ पाशकौ मतौ ।
तद्विमुक्तो विवेकी यः स्याद्वन्द्यो भक्तिमानसौ ॥१८॥
तरणाय भवाम्भोधेः रामनाम्नीं तरिं शुभाम् ।
आश्रयेत् सुधीर्यस्तु स संसारात्परो भवेत् ॥१९॥
भजेद्यः सदा राममाद्यन्तहीनं भवाद्यन्तरूपं जगद्द्वन्द्वपारम् ।
अपारं सदानन्दरूपं विशुद्धं भवारण्यदावानलं ज्ञायमानम् ॥२०॥

माया (अविद्या) मोह (आसक्ति अविवेक) दोनों संसार में कठिन (दृढ) बाधक (दुःखद) हैं। इनके वश में प्राप्त कोई भी मनुष्य विचार नहीं करता है ॥१७॥ माया और मोह इस जगत में दुर्भेद्य पाशक (बन्धनकारक वा अक्ष) रूप माने गये हैं। जो विवेकी उनसे मुक्त है, वही भक्तिमान् वन्दना (स्तुति) योग्य होगा ॥१८॥ और जो सुन्दर बुद्धिवाला संसार समुद्र से तरने के लिये राम नामवाली भक्ति वस्तुरूप शुभ तरि (नौका) का आश्रयण (ग्रहण) करेगा, वही संसार से पार होगा ॥१९॥ आदि अन्त (जन्म मरण) रहित; संसार के आदि अन्त (कारण-अन्त्य स्वरूप) संसार का द्वन्द्व से रहित, अपार, सत्य आनन्द स्वरूप, विशुद्ध, जानने पर संसारवन के दावाग्नि, निरवयव, एक, सत्य-स्वरूप देव, शरणागत के दुःख नाशक, ईश (समर्थ) शरण्य (शरणागत की रक्षा में कुशल), भक्तों के अनर्थ समूह की शान्ति (निवृत्ति) का

साखी ।

राम नाम अति दुर्लभ, औरन ते नहिं काम ।
आदि अन्त औ युग युग, राम हिं ते संग्राम ॥७६॥

निराकारमेकं सदाकारदेवं प्रपन्नार्तिहन्तारमीशं शरण्यम् ।
जनानर्थसङ्घस्य शान्तेर्निदानं महायोगिविज्ञैः प्रपन्नं स मुक्तः ॥२१॥

दुर्लभो रामनामाऽस्ति नान्यैः कार्यं च सिद्ध्यति ।
आदेर्यावद् भवेदन्तस्तावद् युद्धं चरेदतः ॥२२॥
रामस्यैवानुभूत्यर्थं स्वेन्द्रियैर्मनसा तथा ।
अनन्तयुगपर्यन्तं नान्यत् किञ्चिच्च संस्मरेत् ॥२३॥
रामस्यैव च लब्ध्यर्थं स्वात्मनो वै विमुक्तये ।
रामेणापि च संग्रामं कुर्वते सज्जनाः सदा ॥२४॥
कोऽसौ रामः कथं ज्ञेयः प्राप्यते स कथं मया ।
इति चिन्तापरत्वं हि रामाद्युद्धोऽभिधीयते ॥२५॥

निदान (मूल कारण), महान् योगी, ज्ञानियों से प्रपन्न (प्राप्त) राम को जो सदा भजेगा, सो मुक्त होगा ॥ २०–२१॥

रामनामवाला दुर्लभ है, अन्य से कार्य (प्रयोजन) नहीं सिद्ध होता है, इससे आदि (जन्म) से जबतक अन्त (मरण) हो तबतक अनन्तयुगपर्यन्त, राम ही का अनुभव के लिये अपने इन्द्रियाँ और मन के साथ युद्ध चरे (करे) और अन्य किसीका स्मरण नहीं करे ॥२२–२३॥ राम ही की प्राप्ति के लिये, और अपनी आत्मा की विमुक्ति के लिये, राम के साथ भी सज्जन लोक सदा संग्राम (युद्ध) करते हैं ॥२४॥ वह राम कौन हैं, कैसे जानने योग्य है, वह मुझे कैसे मिलेगा; इस प्रकार चिन्ता (स्मरण विचार) परायण होना, राम से प्राप्त युद्ध कहाता है ॥२५॥

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या बोधोऽयं रामविग्रहः ॥२६॥
रामे भेदं तिरस्कृत्य ह्यभेदेनैव दर्शनम्[1]।
रामेण योधनं चेदं परं श्रेयस्करं स्मृतम् ॥२७॥
संग्रामो लभ्यते रामादद्वैतानन्दलक्षणः।
आदावन्ते च मध्येऽपि नान्यैर्वाऽतः स दुर्लभः ॥२८॥७६॥

इति रमैनीरसोद्रेके परमप्रभुशरणागत्युपदेशो नाम षट्त्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३६॥

नित्य विभु कूटस्थ (निर्विकार) दोष रहित, एक होता हुआ भी आत्मा भ्रान्ति से भिन्न होता है, यह बोध (ज्ञान) ही राम के साथ विग्रह (युद्ध) है ॥२६॥ राम में भेद का तिरस्कार करके अभेदरूप से देखना रूप यह राम के साथ आयोधन (युद्ध) उत्तम कल्याणकारक कहा गया है ॥२७॥ या अद्वैत आनन्दरूप संग्राम, आदि अन्त और मध्य में राम से ही मिलता है, अन्य से नहीं, इससे वह दुर्लभ है ॥२८॥

अक्षरार्थ– यद्यपि ज्ञेय ध्येय मोक्षप्रद विचारादि लभ्य राम स्थूलादि नहीं है, तथापि माया जन्य मोह, वा माया (ममता अज्ञान) और मोह (भ्रम संशय) संसार में कठिन (क्रूर) बाधक (निरोधक) हैं। इससे इहे (इस) सद्विचार को किसीने विचारा (किया) नहीं। इस पूर्ववर्णित विचार द्वारा राम को समझा नहीं। यहाँ माया मोह कठिन फन्द (जाल) रूप है। जो विवेकी इस फन्दे से रहित हैं, सोई संसार में वन्दनीय भक्त हैं, अर्थात् जो विवेकी होते हैं, सोई फन्द रहित बन्दा (वन्दनीय भक्त) होते हैं और जो विचारादि से विवेकी होकर, माया मोह को मिटाकर, राम नामवाला आत्मदेव को वा उसके नाम को बेरा (नौका) रूप से धारण करता है, सो पुरुष तो संसार सागर के पार लेता (प्राप्त करता) है। रामनाम के स्मरण ध्यानादि से अवश्य मुक्त होता है।

---

१ 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्'॥ मुण्डक० २।२।४॥

जिस रामनाम वेरा से तरा जाता है, सो अत्यन्त दुर्लभ है। और अन्य किसीसे काम (काम्य-प्रयोजन) की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये आदि (जन्म) से अन्त (मरण) तक, और युग २ में राम ही से संग्राम करना चाहिये। अर्थात् सदा मनोवृत्ति को राम ही में लगाना चाहिये ॥७६॥

परम प्रभु तथा माया में एकता बोधन प्रकरण ३७

रमैनी ७७

एके काल सकल संसारा। एक नाम है जगत पियारा ॥
तिया पुरुष कछु कहल न जाई। सर्व रूप जग रहा समाई ॥

मायात्मको हि मोहोऽयमन्तकः सर्वदेहिनाम्।
सर्वत्र वर्तते विश्वे बाधते सर्वदा जनान् ॥ १ ॥
तस्माच्च रक्षको नाम परप्रेमास्पदं तथा।
एक एवाद्वितीयोऽस्ति सत्तास्फूर्तिप्रदः प्रभुः ॥ २ ॥
" अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युरापद्यते मोहाज्ज्ञानेन विन्दतेऽमृतम् " ॥ ३ ॥

माया (ममता कपटादि) रूप यह मोह ही सब प्राणी के अन्तक (काल-मृत्यु-यम) स्वरूप है, और विश्व (सब भुवन) में सर्वत्र रहता है, सदा जनों को पीडित करता है ॥१॥ उस काल से रक्षक, नाम (प्रसिद्ध संभावनीय), उत्तम प्रेम का विषय आश्रय, और सत्ता प्रकाश का दाता प्रभु भी एक अद्वितीय है ॥२॥ देह में अमृत और मृत्यु दोनों स्थिर हैं। मोह से मृत्यु को और ज्ञान से अमृत को पाता है। यह महाभारत शा० प० १७५।३०। का वचन है ॥३॥ आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न यह

रूप निरूप जाय नहिं बोली। हलुका गरूआ जाय न तौली॥

नाऽत्मा स्त्री न पुमान्नायं वक्तुं शक्यः कथंचन।
तथापि सर्वरूपः सन् प्रविष्टो वर्तते भवे॥ ४॥
"नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते"॥ ५॥
नाऽस्मौ[1] रूपी निरूपो वा वक्तुं केनापि शक्यते।
लघुर्गुरुर्विमातुं वा सर्वात्मत्वेन सर्वदा॥ ६॥
"तत्तद्गुरुर्गरिष्ठानां तत्तल्लघुर्लघीयसाम्।
तत्तत्स्थूलं स्थविष्ठानामणीयस्तदणीयसाम्"॥ ७॥
तस्मिन्न क्षुत्पिपासे स्तस्तापश्छाया तथा नहि।
सुखदुःखादिहीनोऽपि तद्वत्स्वेव तु वर्तते॥ ८॥

किसी प्रकार कहने योग्य है, तो भी माया आभासादि से सर्वरूप होकर संसार में पैठा है ॥४॥ यह अद्वितीय आत्मा स्त्री पुरुष नपुसक नहीं है; किन्तु बुद्धि आदि उपाधियों द्वारा जिस देह का ग्रहण करता है, तिस २ रूप व्यवहार से युक्त होता है ॥५॥

वह अद्वैतात्मा सदा सब के आत्मा होने से रूपवान् वा निरूप ही किसीसे कहने योग नहीं है, न लघु वा गुरु ही मांपने योग्य है। ६॥ ब्रह्मात्मा ही अत्यन्त गुरु (भारी) में भी प्रसिद्ध भारी है। और अत्यन्त लघुओं में लघु (हलका) है, तथा स्थूलों में स्थूल, अणुओं में अति अणु है। ७॥ उसमें क्षुधा पिपासा नहीं है, न ताप और छाया है, सुखदुःखादि

१ 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'। कठ० १।३।१५। 'अवाय्वनाकाशमसङ्गम्'। बृ० ३।८।८॥ 'एक एव त्रिलोकात्मा रूपादिगुणवर्जितः। न तद्रूपं सितं श्यामं कपिशं पिङ्गलं न च॥ न वै रक्तं न वा पीतं चित्रं संकरमेव च'॥ स्कन्द पु० केदारखं० १॥ "तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वतश्च सः। सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः'। योगवा० ६।२।४८।२३॥

भूख न तृषा धूप नहिं छांही । दुख सुख रहित रहै तिहि मांही ॥

साखी ।

अगम अपार रूप बहू, औ अरूप बहु भाय ।
बहुत ध्यान कै जोहिया, नहिं तेहि संख्या आय ॥७७॥

"क्षुधापिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ ।
जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥ ९ ॥
दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् ।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा" ॥१०॥
अगम्योऽपि ह्यपारश्च बहुरूपश्च दृश्यते ।
अरूपोऽनन्तरूपश्च भात्यसौ शक्तिसंयुतः ॥११॥
बहुधा ध्यानतोऽन्विष्टा संख्या तस्य न लभ्यते ।
असङ्ख्योऽनन्तशक्तिः स तस्माज्ज्ञेयो मुमुक्षुभिः ॥१२॥

से रहित भी वह सुख दुःखादिवालों में भी रहता है ॥८॥ भूख प्यास प्राण के धर्म हैं, शोक मोह मन के हैं, जन्म मरण देह के हैं; इन छौ ऊर्मि (तरंग-दुःख) से रहित शिव (कल्याण स्वरूप) आत्मा है ॥९॥ यदि आत्मा दुःखी हो तो दुःखी का साक्षी कौन होगा, दुःखी को साक्षी होना, साक्षी को दुःखी होना नहीं बन सकता; क्योंकि विकार बिना दुःखी नहीं हो सकता, और विकारी को साक्षिता क्या हो सकती है । इससे बुद्धि आदि के विकारों का साक्षी आत्मा दुःखादि रहित है । इत्यादि, नैष्कर्म्यसिद्धि में वर्णित है ॥१०॥

इन्द्रियादि से अगम्य (अप्राप्य) भी आत्मा अपार (प्रान्त तट रहित) है, और बहुत रूप वाला दीखता है । अरूप भी वह शक्ति सहित होकर अनन्तरूप प्रतीत होता है ॥११॥ ध्यान से बहुत प्रकार खोजी गई उस की संख्या नहीं मिलती है, इससे असंख्य अनन्त शक्तिवाला

" एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१३॥ ब्रह्मबिन्दूप०१२
सर्वत्र सर्वरूपश्च सर्वभूतगुहाशयः ।
असंख्योऽनन्तसंख्यश्च सर्वातीतः स्वयंप्रभः ॥१४॥७७॥

वह मुमुक्षु से जानने योग्य है ॥१२॥ सब प्राणी के एक ही आत्मा सब देह में एकधा बहुधा व्यवस्थित (विशेष अवस्था युक्त) है, और सत्य-चन्द्र जलचन्द्र की नाईं एकधा बहुधा दीखता है ॥१३॥ सर्वत्र, सर्वरूप, सब प्राणी के हृदयस्थित असंख्य अनन्त संख्यावाला है, और वस्तुतः सर्वातीत स्वयं प्रकाश है ॥१४॥

अक्षरार्थ- रामनाम की बेरा का धारण बिना सब संसार में माया-मोहरूप एक ही काल (यमराज मृत्यु) व्यापक है । और एक ही नाम (प्रसिद्ध) सर्वात्मा राम सब जगत के प्यारा (प्रियतम) आत्मा रक्षक है । और वह सब की आत्मा होते भी तिया (स्त्री) वा पुरुष, वा और कुछ (नपुंसकादि) कहा नहीं जा सकता, तो भी वह अपनी सत्ता माया से सर्वरूप होकर सब संसार में समाया (व्यापक) है । योगवासिष्ठ का वचन है कि (दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् । एकं ब्रह्मैव हि जगत् स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥) दिशा कालादि से अनवच्छिन्न (अभिन्न अभेदित) पूर्व पर कोटि (भाग) रहित एक ब्रह्म ही जगत् रूप से स्थिर है, माया से द्वैत (भेद) को प्राप्त हुआ है ।

सर्व स्वरूप होते भी वह रूप (श्वेतादि रूपवाला) पृथिवी आदि स्वरूप, वा निरूप (आकाश वायु) स्वरूप ही नहीं बोला (कहा) जा सकता है । और हलका गरुआ तौला (मांपा) भी नहीं जा सकता है । भूख तृषा (क्षुधा पिपासा) धूप (घाम) छाया आदि भी उसमें नहीं हैं। इसीसे वह सुख दुःखादि रहित है, तो भी उस सुख दुःखादिमय शरीर संसार में रहता है ।

वह अगम्य अपार आत्मा बहुत रूपवाला और बहुत रूप रहित स्वरूप भी माया से भासता है। बहुत ध्यान करके खोजने पर उसके व्यावहारिक स्वरूप की संख्या नहीं आती (जानी जाती) है। (एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वंप्रोतं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ श्वेतां० १।१२) यह विभु सर्वात्मा ब्रह्म ही नित्य ज्ञेय (जानने योग्य) है, जो अपनी बुद्धि में वर्तमान है, भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति आदि) प्रेरिता (ईश्वर) इन तीनों को जान कर भी, इन तीनों प्रकारों से कथित सब ब्रह्म स्वरूप ही ज्ञेय हैं; इस कारण से इससे भिन्न वा अधिक कुछ भी जानने योग्य नहीं है ॥७७॥

देह के हिस्सेदार और स्वापराध फल प्रकरण ३८

प्रथम मोह उस का नाशक ज्ञान मुक्ति आदि का वर्णन हुआ है। वह ज्ञानादि इस मनुष्य देह में ही हो सकता है। इससे यहाँ ज्ञानादि की प्राप्ति करके मोहाभिमानादि को नष्ट करना ही उचित है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ७८

मानुष जन्म चुकेहु अपराधी। यह तनु केर बहुत है साझी॥

अमूल्यं मानुषं जन्म प्राप्यात्राऽनवधानता।
क्रियते ह्यभिमानाद्यैर्वाऽऽसक्त्या तन्न शोभनम् ॥ १ ॥

अमूल्य मानुष जन्म पाकर, इस में अभिमानादि से वा आसक्ति से जो अनवधानता (प्रमाद) किया जाता है, सो शोभन (सुन्दर) नहीं है ॥१॥ और जिस देह के लिये आप लोक सदा बार अपराध

तात जननि कह पुत्र हमारा । स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला ॥
कामिनि कहै मोर पिय अहई । बाघिनि रूप गरासन चहई ॥
सुत कलत्र रहै लौ लाई । जम्बुक नित्य रहै मुँह बाई ॥
काग गीध द्वौ मरण विचारै । शुकर श्वान द्वौ पन्थ निहारै ॥

यदर्थं चापराध्यन्ति भवन्तः सर्वदा मुहुः ।
तस्य चास्य शरीरस्य दायादा बहुभागिनः ॥ २ ॥
पितरौ वदतः पुत्र आवयोः प्रीतिवर्द्धनः ।
स्वार्थमेव च रक्षाऽस्य पुराऽऽवाभ्यां कृता ननु ॥ ३ ॥
कामुकी च वदत्येवं ममायं वल्लभः प्रभुः ।
सा हि व्याघ्रीव धर्मार्थौ वाञ्छति ग्रसितुं सदा ॥ ४ ॥
उभे पुत्रकलत्रे च तस्याऽऽशां कुरुतः सदा ।
जम्बुकोऽप्यस्य मांसार्थं मुखं व्यादाय तिष्ठति ॥ ५ ॥
काकगृध्रौ सदा मृत्युं ह्यस्य चिन्तयतः खलु ।
उभौ तौ शूकरश्वानौ मार्गमस्यैव पश्यतः ॥ ६ ॥

करते हैं, तीन उस देह के दायाद (पुत्र बन्धु) बहुत भागी (अंशी) (हिस्सेदार) हैं ॥२॥ माता पिता कहते हैं कि, हम दोनों की प्रीति (हर्ष-सुख) को बढाने वाला हमरा पुत्र है। हम दोनों ने अपना प्रयोजन (सुखादि) के लिये ही इसकी पहले रक्षा की है ॥३॥ कामुकी (मैथुनेच्छावाली) ऐसे कहती है, कि यह मेरा वल्लभ (प्यारा) प्रभु (स्वामी) है। और वह बाघिन के समान अर्थ धर्म को भी सदा ग्रसना (नष्ट करना) चाहती है ॥४॥

पुत्र और कलत्र (भार्या) उस शरीर की सदा आशा करते हैं। जम्बुक इस का मांस के लिये मुंह बा कर रहता है ॥५॥ काक और गीध सदा इसकी मृत्यु का विचार करते हैं, वे शुकर कूकर दोनों

अग्नि कहै मैं ई तन जारो। सो न करहु जो जरत उबारो।
धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै मैं लेउँ उडाई॥
तेहि घरको घर कहै गमारा। सो बेड़ी है गले तुम्हारा॥

अग्निदेवो ब्रवीत्येवमहं भस्मीकरोमि तत्।
स्वकीयं तज्जलं मत्वा तस्माद्रक्षितुमिच्छति॥७॥
तत्कुरुष्व पुनर्येन दुःखं दाहो भवेन्नहि।
सर्वेभ्यो निजतापेभ्यो रक्षा यस्माद् भवेदिह॥८॥
पृथिवी वक्ति मय्येव त्विदं संमिलतु द्रुतम्।
वातो वक्ति मयैत्तद्धि व्युड्डाय नीयते क्वचित्॥९॥
इत्थंभूतं गृहं गात्रं स्वगृहत्वेन मन्यते।
यः स मूर्खो न विज्ञोऽसौ यतस्तद्बन्धनं दृढम्॥१०॥
"देहः किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा।
मातुः पितुर्वा क्रेतुर्वा बलिनोऽग्नेः शुनोऽपि वा॥११॥

इसीके मार्ग देखते हैं॥६॥ अग्निदेव इस प्रकार कहते हैं कि उस शरीर को मैं भस्म (राख) कर दूं, जल उसको अपना मान कर, अग्नि से उसकी रक्षा करना चाहता है॥७॥ सो करो कि जिससे फिर दुःख दाह (ताप) नहीं हो, और जिससे सब अपने तापों से यहाँ ही रक्षा हो॥८॥ पृथिवी कहती है कि यह शरीर मुझ में ही शीघ्र संमिलित (लीन) हो जाय। वायु कहता है कि मैं इसे उडा कर कहीं ले जाऊं॥९॥

इस प्रकार के स्वरूपवाला गात्र (देह) रूप गृह (घर) को खास अपना गृहरूप से जो मानता है; सो मूर्ख है, वह विज्ञ नहीं है। जिससे अपना माना हुआ वह गात्र दृढ बन्धन रूप है॥१०॥ भागवतस्क० १०।१०।११-१२। का कथन है, कि, यह देह अन्नदाता, वा निषेक्ता (पिता), वा माता, या मातामह, वा क्रेता, बली, वा अग्नि, या

सो तन तुम आपन कै जानी। विषय रूप भूला अज्ञानी॥

साखी।

इतना तन के साझिया, जन्मो भर दुख पाव।
चेतत नाहीं मुग्ध नल, मोर मोर गोहराव॥७८॥

एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाव्ययम्।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा कुर्यादस्मै प्रलज्जनम्"॥१२॥
इत्थं साधारणं देहं स्वकीयत्वेन मन्यसे।
तमेव शृङ्खलां विद्धि बुद्धिग्रीवानिबन्धनीम्॥१३॥
आत्मीयत्वेन तं देहं जानीते यद् भवानिह।
विषयात्मा ततो भूत्वा बद्धो भ्रमति गोचरे॥१४॥
देहस्य भागिनश्चैते यावद्देहं तु मूढधीः।
क्लिश्नात्येव ममत्वेन ममेति कथयन् सदा॥१५॥
ममताबद्धजन्तुर्हि लभते न सुखं क्वचित्।
न ज्ञानं नापि सद्भक्तिं संसारे प्रतिपद्यते॥१६॥

कुत्ते का है॥११॥ इस प्रकार सर्वसाधारण रूप और अव्यक्त से उत्पन्न नष्ट होनेवाला देह को अपना मान कर, इसके लिये अधर्मादि में प्रवृत्ति कोन विद्वान कर सकता है॥१२॥ इस प्रकार जिस साधारण देह को अपना रूप से मानते हो, उसी को बुद्धिरूप गला को बान्धनेवाली बेडी जानो।१३॥ जिससे उस देह को आप अपना रूप से यहाँ जानते हो, तिसी से विषय स्वरूप और बद्ध होकर विषय में भ्रमते हो॥१४॥ देह के भागी ये पिता आदि सब हैं, और मूढ बुद्धिवाला, सदा मेरा इस प्रकार कहता हुआ यावत् देह रहता है तावत् ममता से देहादि को मन को क्लेशित पीडित करता है, दुःखी होता है॥१५॥ ममता से बँधाया हुआ प्राणी कहीं सुख ज्ञान सच्ची भक्ति नहीं पाता है, इससे संसार में प्राप्त होता है॥१६॥ सुबुद्धिवाले देहं और बन्धु वर्ग (समूह)

त्यक्त्वा ममत्वकलनां तनुबन्धुवर्गे,
आत्मानमेव सततं सुधियो भजन्ति ।
मुक्ता भवन्ति भवभोगमहाहिपाशात्,
स्वानन्दतृप्तमनसश्च सदात्मबोधात् ॥१७॥

क्लेशपञ्चवीचिजालपूर्णविश्वसागरं,
संशयादिचक्रजालपूर्णसर्वभागकम् ।
दारपुत्रबन्धुवर्गजन्तुसंघसंयुतं,
कामलोभवाडवैर्युतं तरन्ति ते सुखम् ॥१८॥

में ममता की कल्पना को त्याग कर, सदा आत्मा ही को भजते हैं कि जिससे जन्मादि संसार और स्त्री आदि भोग रूप महान् अहिपाश (नागपाश) से मुक्त होते हैं, और सत्यात्मा के ज्ञान से आत्मानन्द से तृप्त मनवाले होते हैं ॥१७॥ और वे लोक संशयादि रूप चक्र (आवर्त) से पूर्ण सब भागवाला, स्त्री पुत्र बन्धुवर्ग रूप जंतु (प्राणी) समूह सहित, काम लोभरूप वाडवाग्नि सहित, अविद्यादि क्लेशपञ्चक रूप वीचि (तरङ्ग) का समूह से पूर्ण विश्व (सब भुवनादि) सागर को सुखपूर्वक तरते हैं ॥१८॥

अक्षरार्थ– हे मनुष्यों ! यदि इस जन्म में विवेक आत्मप्राप्ति परोपकारादि नहीं करके, शरीर में आसक्त मोहयुक्त हो तो, चूके (भूल में पडे) हो, और भारी अपराधी (दोषी) हो और जिस देह में आसक्त होकर अपराध करते हो, इस तन (देह) के बहुत साझी (हिस्सेदार) हैं। तात (पिता) जननी (माता) कहते हैं कि यह हमारा पुत्र है। हमने स्वार्थ के लिये इस का प्रतिपालन (रक्षा) किया है। वस्तुतः स्वार्थ के लिये ही वे लोक रक्षा करते हैं। कामिनी (कामुकी-वेश्या आदि) कहती है कि यह मेरा पिय (प्यारा) है, और बाघिनी (व्याघ्री) की नाईं गरसना चाहती है। अर्थ धर्मादि को नष्ट करना चाहती है,

इससे व्याघ्री से बचकर उपकारक माता पिता आदि का यथाशक्ति प्रत्युपकार, और धर्मध्यानादि से आत्मानुभव करना उचित है, देहासक्ति उचित नहीं है।

सूत (पुत्र) कलत्र (घर की स्त्री) लौ (प्रेम आशा ध्यान) लगाये रहते है, कि इस देह से हमें सुखभोग मिलेगा। जम्बुक (गीदड़-स्यार) इस का मांसके लिये नित्य (सदा) मुंह (मुख) बाया रहता है। काग और गीध मांस के ही लिये मरण का विचार (शोच) करते हैं। शूकर कुत्ता भी इसके मल मांसादि के लिये इसके रास्ते देखते हैं। अग्नि कहती है कि मैं इस देह को जलाऊं, पानी जलते को उबारना चाहता है, तुम सो काम न करो कि जिससे जलते हुये तुमको सब तापों से उबार (रक्षा) हो। यह गुरु का कथन है। अथवा अग्नि का ही कथन है कि सो काम कोई नहीं करो कि जिससे जलते समय बाकी रह जाय, सम्पूर्ण को मैं दग्ध करूं सोई ठीक है। धरती (भूमि) कहती है कि यह मुझ में मिल जाय, सो उचित है। वायु कहता है कि मैं इसके परमाणुओं को उड़ा लूं। भाव है कि पांच भूत के भी इस में भाग हैं, इससे भूताभिमानी देव भी इसमें ममता करते हैं, अन्य की कथा ही क्या है। तुच्छ जम्बुकादि और महान् अग्नि आदि सब इसमें ममता करते हैं, इससे यथा सम्भव सब का हित के काम करना, और सर्वात्मा को निजात्मा समझना मनुष्य के लिये उचित है; एक देह में आसक्त होना नहीं।

इस प्रकार अनेक के साझ तिस घर (देह) को जो खास अपना घर कहता है, सो गमार (मूर्ख) है। अपना माना हुआ वह घर तेरे गले की बेडी तुल्य है। तौभी हे अज्ञानी! तुम उस देह को अपना जान कर, विषयों के स्वरूप में भूले हो (देहाभिमानी विषयासक्त हुए हो), साक्षी आत्मा को नहीं समझते हो; सो भारी अपराध करते हो, इसे त्यागो।

इस प्रकार इतना (ये माता पिता आदि अनन्त) देह के साझिया (हिस्सेदार) हैं। और अनेक के साझ तन (देह) में ममता अहंकार करके यह जीव जन्मो भर (सदा) दुःख पाता है, और तौभी वह मुग्ध (अविवेकी-अज्ञ) चेतता (विवेक विचार करता) नहीं है, किन्तु मोर २ गोहराता (पुकारता) है। श्रीमद्भा० स्क० ११।९।२९। का वचन है कि (लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमप्यर्थदमनित्यमपीह धीरः। तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥) अत्यन्त दुर्लभ, अनुमृत्यु (निरन्तर मृत्युवाला) अनित्य, इस देह को बहुत जन्म के बाद पाकर, धीर प्राणी कल्याण के लिये शीघ्र यत्न करे, जब तक यह देह नहीं गिरा है। और विषय तो सब देह में मिलता है॥७८॥

प्रथम मोह से जन्मादि संसार का, और मोह को त्यागने के लिये उपदेश का वर्णन हुआ है: सो सुन कर शंका हुई कि, यद्यपि जन्मादि संसार दुःख का कारण मोह है, तथापि अनादि मोह अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, तो जीव कर ही क्या सकता है, और यदि इस की निवृत्ति मानी भी जाय, तो निवृत्ति का उपाय क्या है, तब कहते हैं कि—

रमैनी ७९

बढवत बढी घटावत छोटी। परखत खर परखावत खोंटी॥

बृंहणाद्[1] वर्द्धते मोहो ह्यासक्त्या स्नेहतस्तथा।
धनलाभेन लोभेन वस्तूनां पीनतां व्रजेत्॥१९॥

आसक्ति (संबन्ध विशेष) और लौकिक स्नेह (प्रेम) द्वारा बढाने से मोह (अविद्या अविवेक) बढता है। और धन का लाभ

---

१ 'इदं ममाहमस्येति व्यवहारघनभ्रमम्। ये मोहात्परिषेवन्तेऽधस्ताद् यान्त्यधः शठाः' ॥ योगवा० ६।१२१।४॥ 'अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयाऽनया। पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम्' ॥ योगवा० ५।५०।५७॥

केतिक कहौं कहाँ ले कही। औरो कहौं परै जौ सही ॥

अवज्ञानाल्लघुत्वं च प्राप्नोत्येव विचारतः।
ह्रस्वतामेत्य कालेन नश्यत्यपि स सर्वथा ॥२०॥
मोहस्य विषयः सत्यः स्वयं भाति परीक्षणात्।
न नश्यति ततो मोहः कामो लोभश्च वर्द्धते ॥२१॥
यदा सद्गुरुभिः सार्द्धं मिलित्वाऽयं परीक्ष्यते।
तदा मिथ्या भवेदेवं जगन्मोहोऽपि नश्यति ॥२२॥
"यथा पर्वतमादीप्तं नाश्रयन्ति मृगद्विजाः।
तद्वद् ब्रह्मविदो दोषा नाश्रयन्ति कदाचन" ॥२३॥
अस्माभिर्बहुधोक्तं सन्मोहस्यास्य निवृत्तये।
कियत्पुनः प्रवक्ष्यामि सत्यं चैतन्निगद्यते ॥२४॥

(प्राप्ति) से तथा वस्तु का लोभ से मोह पीनता (स्थूलता) को प्राप्त होता है ॥१९॥ और आत्मविचारादि से मोह का अवज्ञान (अनादर-तिरस्कार) से वह लघुता ही को प्राप्त होता है, और ह्रस्वता (लघुता) को प्राप्त होकर कुछ काल में वह सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥२०॥ और मोह का विषय (संसार शरीरादि) को स्वयं परीक्षा (विचारादि) करने से वह सत्य भासता है, तिससे मोह नहीं नष्ट होता है, और काम लोभ बढता है ॥२१॥ और जब सद्गुरु के साथ मिलकर यह विचारा देखा जाता है, तब जगत् मिथ्या होता (भासता) है, मोह भी नष्ट होता है ॥२२॥ और जैसे अग्नि से आदीप्त (जलता हुआ) पर्वत को मृगपक्षी आश्रयण नहीं करते हैं, तैसे ब्रह्मवेत्ताओं को राग द्वेष मोह रूप दोष कभी आश्रयण नहीं करते हैं ॥२३॥

इस मोह की निवृत्ति के लिये हम (गुरु महात्माओं) से सद्वस्तु वचन बहुत प्रकार से कहा गया है, फिर भी कितनी बात कहूंगा, यह सत्य ही कहा जाता है ॥२४॥ यदि श्रेष्ठ शिष्य मिले और उक्ति (कथन)

कहल बिना मोहि रहल न जाई । बिढई ले ले कूकुर खाई ॥

साखी ।

खाते खाते युग गया, अजहुं न चेतहु आय ।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई जिव जरतहिं जाय ॥७९॥

भूयोऽपि शक्यते वक्तुं तत्त्वाऽतत्त्वविवेचनम् ।
यदि लभ्यते सच्छिष्य उक्तिश्च सफला भवेत् ॥२५॥
प्राप्ते हि सुजने शिष्येऽनुक्त्वा स्थातुं न शक्यते ।
श्वेव यो विषयानत्ति तस्मै किन्नु मयोच्यताम् ॥२६॥
अत्ति श्वा शष्कुलीं यद्वत्तथा प्रेम्णा त्वयं जनः ।
विषयान् विषमानत्ति तेनैवाऽयं विपीड्यते ॥२७॥
विषयान् खादतश्चैवं ते युगानि गतानि वै ।
तृप्तिर्न जायते तेन तस्माज्ज्ञानाय यत्यताम् ॥२८॥
सतां सङ्गं समाश्रित्य त्विदानीं सद्गुरोर्द्रुतम् ।
ज्ञायतामात्मदेवोऽयं येन तापो निवर्तते ॥२९॥

सफल होय, तो तत्त्वाऽतत्त्व (आत्माऽनात्मा—सत्य मिथ्या) का विवेचन (विवेक) भूयः (बहुत) भी कहा जा सकता है ॥२५॥ सुजन शिष्य के मिलने पर कहे बिना स्थिर नहीं हुआ जा सकता; परन्तु कुत्ता तुल्य जो निषिद्ध विषयों को भी खाता (भोगता) है, उसके लिये मुझ से क्या कहा जाय, यह विकल्प (संशय) ही होता है ॥२६॥ कुत्ता जैसा प्रेम से शष्कुली (कचौरी–बेढई) खाता है, तैसे यह मनुष्य विषम (कठिन) विषयों को भोगता है, तिसीसे यह विशेष पीडित होता है ॥२७॥

इसी प्रकार विषयों को भोगते हुए तुम (जीव) के अनन्त युग गत हुए (बीते), परन्तु उस भोग से तृप्ति नहीं होती है; तिससे ज्ञान के लिये तुम्हें यत्न करना चाहिये ॥२८॥ सतपुरुषों की सङ्गति का आश्रयण करके ही इस समय शीघ्र सद्गुरु से इस आत्मदेव को समझो कि जिस

आत्मदेवस्य चाज्ञानात्सर्वेऽमी जीवसञ्ज्ञकाः।
दह्यमानाः प्रजायन्ते दह्यमानाः प्रयान्ति च ॥३०॥
"नष्टात्मस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम्।
देवा दिवि दवेनाद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव" ॥३१॥
भोगान्न तृप्तिर्मनसो हि जायते,
कस्यापि लोके गुरुबोधमन्तरा।
तस्माज्जनः सद्गुरुमेव संश्रयेद्[1],
बोधस्य सिद्ध्यै सुविचारमेव च ॥३२॥

इति रमैनीरसोद्रेके देहदायादादिनिजापराधफलादिवर्णनं नामाष्टात्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३८॥

ज्ञात आत्मदेव से सब ताप निवृत्त हो जाता है ॥२९॥ और आत्मदेव के अज्ञान से ही ये सब जीव समूह दह्यमान (ज्वलित) होते जन्मते हैं, और जलते ही जाते (मरते) हैं ॥३०॥ आत्मा में स्थिति रहित देव भी स्वर्ग में भोगाग्नियों में इस प्रकार अत्यन्त जलते हैं कि जैसे पर्वत पर दावाग्नि से वृक्ष जलते हैं। योगवासिष्ठ ६।२।९७।२७ यह वचन है ॥३१॥ गुरु के स्वरूप का बोध (ज्ञान) गुरु सम्बन्धी ज्ञान के अन्तरा (बिना) लोक में किसी के मन की तृप्ति भोग से नहीं होती है। या लोक में भोग से किसी के भी मन की तृप्ति नहीं होती है; परन्तु गुरुबोध के अन्तरा (मध्य) में तृप्ति होती है, तिससे बोध की सिद्धि के लिये मनुष्य सद्गुरु का ही आश्रयण करे, और सुविचार का आश्रयण करे ॥३२॥

अक्षरार्थ– मोह ममता राग द्वेषादि को बढवत (बढाने से) ये दिन २

---

१ 'न यज्ञतीर्थैर्न तपःप्रदानैरासाद्यते तत्परमं पवित्रम्। आसाद्यते क्षीणभवाऽऽमयानां भक्त्या सतामात्मविदां यदङ्ग।' ॥ योगवा० ६।१२२।१४ ॥ 'पृथिवीरत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत्सर्वमिति ज्ञात्वा शमं व्रजेत्' ॥ म० भा० आदिप० ७५।५१॥

बढ़ी (बढ़ते) हैं। और घटावत (घटाने से) छोट होते (घटते) हैं। यह बात सर्वानुभव सिद्ध है, और विरागविज्ञानादि से सर्वथा नष्ट भी होते हैं। एक रस रहनेवाला अनादि आत्मा ही अविनाशी है, अन्य नहीं। और मोहादि की निवृत्ति का हेतु विज्ञानादि सद्गुरु से प्राप्त होते हैं; क्योंकि सद्गुरु सत्संगादि बिना जिन विषय देहादि को स्वयं परखने (विचारने) से ये सब खर (सत्य) प्रतीत होते हैं, सो सद्गुरु द्वारा परखावने (परीक्षा कराने) से खोंट (मिथ्या) सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सर्वात्मा ब्रह्म अपनी बुद्धि से मिथ्या प्रतीत होता है, सद्गुरु द्वारा सत्य प्रतीत होता है, तब देहाभिमानादि की निवृत्ति होती है। इससे सद्गुरु का उपदेश विचारादि जन्य आत्मानुभवादि ही मोहादि की निवृत्ति का उपाय है।

मोह की निवृत्ति आदिके ही लिये मैं गुरुरूप से सदा कहता हूँ; सो केतिक (कितना) कहूं। कहाँ लें (कहाँ तक) अन्तिम सीमातक की बात कही गई है। और यदि कहना सही परै (सफल होय) तो और भी कहूं। अर्थात् योग्य शिष्य के लिये सद्गुरु सन्त सदा सन्मार्ग दर्शाने के लिये तैयार रहते हैं। दुःखी जीव को देख कर स्वयं कहनेवाला मुझ से योग्य अधिकारी मिलने पर कहे बिना रहल (रहा) नहीं जा सकता है। परन्तु योग्य अधिकारी मिलना दुर्लभ है; प्रायः कूकुरतुल्य लोक हैं, सो बिढई (मसालेदार-गरम रोटी) तुल्य विषय ही ले २ कर खाते (भोगते) हैं। सन्त गुरु के उपदेश को नहीं सुनते हैं, न विचारादि करते हैं, तो मोहादि की निवृत्ति कैसे हो। बिढई (बेरहीं) खाने में स्वादु पचने में गुरु गर्म अपकारक गर्म मसालावाली रोटी को कहते हैं। ऐसा ही अविहित निषिद्ध विषय विशेष हैं। उन्हें भोगनेवाला गुरु उपदेश को नहीं मानता है, तो उससे क्या कहा जाय।

खाते २ (भोगते २) अनन्त युग बीत गये, परन्तु अजहुं (अब भी) चेतहुं (होश ज्ञान भी) नहीं आया। भोग से कष्ट होने पर भी समझ

नहीं परा कि कष्ट कैसे हो रहा है, इसकी निवृत्ति का उपाय क्या है, इत्यादि। इससे यह जीव जलता ही जाता है। या साहब कहते हैं कि भोग में तो अनन्त युग बीत गये, अब भी गुरु शरण में आकर चेतो न, विवेक विज्ञान की प्राप्ति करो न; क्योंकि इस चेतने के बिना ही यह जीव जरता ही जाता है, इत्यादि ॥७९॥

सद्गुरु बिना दुराशा प्रकरण ॥३९॥

प्रथम मोह की निवृत्ति का उपाय रूप, गुरुद्वारा पारख (विवेकादि) की प्राप्ति को कहा गया है। 'तहाँ स्थूल पदार्थ विषयक मोह आसक्ति आदि की निवृत्ति तो किसी उत्तम संस्कारवाला को अपने विचारादि से और स्थूल के नाशादि का प्रत्यक्ष ज्ञानादि से भी हो सकती है। परन्तु सूक्ष्म परोक्ष पदार्थ लोकादि विषयक मोहादि की निवृत्ति गुरुद्वारा विवेकादि के बिना नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ८०

बहुतक साहस करहु जिय अपना। तिहि साहब सो भेंट न सपना ॥
खरा खोंट जिन नहिं परखाया। चहत लाभ तिन मूल गमाया ॥

गुरुं विना भवानत्र करोति बहु साहसम्।
ततो नास्त्यात्मदेवस्य स्वप्नेऽपि दर्शनं प्रभोः ॥१॥
सत्याऽनृतविवेको यै र्न लब्धः सद्गुरोः स्वयम्।
ते लाभमभिकाङ्क्षन्तः कुर्वते मूलनाशनम् ॥२॥

गुरु बिना आप यहाँ बहुत साहस (दुष्कर कर्म-दम) करते हो, परन्तु उससे आत्मदेवरूप प्रभु का स्वप्न में भी दर्शन नहीं है ॥१॥ जिन लोकों ने सद्गुरु से सत्यमिथ्या का विवेक को स्वयं नहीं पाया, लाभ की इच्छा करते हुए भी वे लोग मूल का नाश करते हैं ॥२॥

समुझि न परल पातरी मोटी। ओछी गांठि सबै भौ खोंटी ॥
कहहिं कबिर किहि देवहु खोरी। जब चलिहहु झिंझि आशा तोरी ॥

स्थूलसूक्ष्मौ न यैर्ज्ञातौ विवेकेन गुरोर्मुखात्।
हीनेन ग्रन्थिना तेषां सर्वं भवति निष्फलम् ॥ ३ ॥
कामाद्या ग्रन्थयस्तुच्छा मानुष्यं नाशयन्ति हि।
नरके पातयन्त्येव मोक्षो दूरतरं व्रजेत् ॥ ४ ॥
नरकादौ नराः प्राप्याऽपराधं तत्र कस्य वै।
यूयं वक्ष्यथ गन्तारो हताशा यत्र कुत्र वा ॥ ५ ॥
तदा स्वस्यापराधस्य फलं सर्वं हि भुज्यते।
दूयते तत्र शोकेन पश्चात्तापेन पीड्यते ॥ ६ ॥
स्थूलां त्यक्त्वापि सूक्ष्माशां जीवन् यो न जहाति सः।
मृत्युकाले हि तां छित्वा बलाद् यात्येव दुर्मतिः ॥ ७ ॥

जिन लोगों ने गुरुमुख से स्थूल और सूक्ष्म को विवेकपूर्वक नहीं समझा, उनको हीन (गर्ह्य निन्दित-तुच्छ) ग्रन्थि (अध्यास-भ्रम) से मनुष्यता आदि सब निष्फल होता है ॥३॥ तुच्छ (शून्य) सार रहित कामादिरूप ग्रन्थि (बन्धन) मनुष्यता को नष्ट करते हैं, नरक में ही गिराते हैं, जिससे मोक्ष अति दूर जाता है ॥४॥

हे मनुष्यों ! तुम नरकादि में प्राप्त होकर वा जहाँ कहीं गमन कर्ता होकर हताश होकर, उसमें किसका अपराध कहोगे; क्योंकि उस समय अपने ही अपराध का फल सब से भोगा जाता है, शोक से परितप्त होता है, पश्चात्ताप से पीडित होता है ॥५–६॥ जो स्थूल वस्तु की आशा को त्याग कर भी सूक्ष्म की आशा को जीवन काल में नहीं त्यागता है, सो दुर्बुद्धि मृत्युकाल में उसका भी बलात् (जबरन) छेदन करके ही जाता है ॥७॥ बहुत वासनाओं से सित (बँधे), प्राक्तन कर्म का बल से

साखी ।

झीं झीं आशा महँ लगे, ज्ञानी पण्डित दास ।
पार न पावहिं बापुरे, भरमत फिरहिं उदास ॥८०॥

कालादिभिर्बन्धलयं च बन्धनं,
पश्यन्ति मूढा बहुवासनासिताः ।
ये तौष्टिका कर्मबलैर्नियन्त्रिता,
दोषैर्निजैस्ते परियान्त्यधः सदा ॥८॥

अहो मोहेन सर्वेऽमी कर्मठा वेदवित्तमाः ।
शास्त्रज्ञा देवभक्ताश्च सूक्ष्माऽऽशाः संत्यजन्ति न ॥९॥
सूक्ष्माऽऽशाभिः समासक्ताः सर्वेऽमी बुद्धमानिनः[1]।
संसाराब्धेः परं पारं प्राप्नुवन्ति न बालिशाः ॥१०॥
भ्रमन्तोऽतश्च संसारे दीनास्तिष्ठन्ति ते सदा ।
बहुयोनिसहस्रेषु विचरन्ति कुचेतसः ॥११॥

नियन्त्रित (वशीकृत), जो तौष्टिक- (तुष्टि से चलनेवाले, मोक्षादि के लिये निरुद्यमी) मूढ (मूर्ख) लोग काल देश प्रकृति आदि से ही संसार बन्धन का लय (प्रलय नाश) और बन्धन को देखते हैं, वे अपने दोषों से सदा नीचे ही जाते हैं ॥८॥

आश्चर्य है कि कर्म में प्रवृत्त वेदज्ञ श्रेष्ठ, शास्त्रज्ञ, देवभक्त, सब भी मोह से सूक्ष्म की सूक्ष्म आशाओं को नहीं सम्यक् त्यागते हैं ॥९॥ सूक्ष्माशाओं से सम्यक् आसक्त, अपने को बुद्ध (पंण्डित) माननेवाले ये सब बालिश (अज्ञ) लोक संसार समुद्र के पर (उत्तम) पार (तट) दूसर तीर को नहीं पाते हैं ॥१०॥ इससे वे कुचेता (कुबुद्धि)

१ ' अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः, स्वयंधीराः पण्डित मन्यमानाः । दन्द्रम्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ' ॥ मुण्डक० १।२।८॥

" कामक्रोधादिसंसर्गादशुद्धं जायते मनः ।
अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं नश्च विनश्यति ॥१२॥
दिशामोहो यथा लोके विदुषामपि जायते ।
आनन्दात्मनि संमोहो विदुषामेवमस्त्यपि ॥१३॥८०॥

इति रमैनीरसोद्रेके सद्गुरुं बिना दुराशादुर्भेद्यतावर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३९ ॥

संसार में सदा भ्रमते हुए दीन (दरिद्र-भीत-दुःखी) रहते हैं, बहुत प्रकार की योनियों के अनन्त भेदों में विचरते हैं ॥११॥ आत्मपु० अ० ७।१६५-२९१ का वचन है कि, कामक्रोधादि के सम्बन्ध से मन अशुद्ध हो जाता है, और मन के अशुद्ध होने पर वह श्रुत ब्रह्मज्ञान भी नष्ट हो जाता है ॥१२॥ लोक में जैसे दिशाभ्रम विद्वानों को भी होता है, तैसे कामादि से आनन्दस्वरूप आत्मा में विद्वानों को भी संमोह (भ्रम) है ही ॥१३॥

अक्षरार्थ- हे जीव ! तुम अपना जिय (मन) से सुख परमात्मा की प्राप्ति के लिये बहुतक (बहुत प्रकार के) साहस (कठिन कर्म उद्यम) करते हो । परन्तु गुरु आदि बिना तिहि (तिस) साहब से तुझे स्वप्न में भी भेंट (दर्शन-मुलाकात) नहीं हुआ है, कि जिसके दर्शन से मोहादि सब निवृत्त होते हैं । और जिन लोगों ने सद्गुरु से खराखोंट (सत्यझूठ) नहीं परखाया, विवेकज्ञान नहीं पाया, वे लोग यदि लाभ चाहते हैं, तो तिन लोगों ने मूल को भी गमाया; क्योंकि सद्गुरु बिना पातरी (सूक्ष्म प्रकृति लिङ्ग देहादि) और मोटी (स्थूल स्वर्ग देहादि) भी नहीं समझ परे, इससे ओछी (हीन नीच) गांठि (बन्धन) काम भ्रमादि से सब आयु आदि खोंट (व्यर्थ हीन) हो गये । अर्थात् पारख बिना रत्नादि के व्यवहार में मूल भी नष्ट होता है । गठरी के ओछ गांठ के खुलने से वस्तु खराब होती है, सोई दशा गुरु बिना होती है । अथवा तुम अपना बहुत साहस (मनोदमन विचारादि पुरुषार्थ) करो । इसके बिना जिस

साहब की आशा आदि करते हो, उससे स्वप्न में भी भेंट नहीं होता, इत्यादि भी भाव हो सकता है।

साहब कहते हैं कि, यदि विवेकादि से अभी ओछी गांठी को नहीं नष्ट करते हो, तब जब अन्तकाल में झीनी २ आशाओं को तोड़कर (हताश होकर) चलोगे, तब किसको खोरी (दोष) देवोगे। अर्थात् किसी को दोष नहीं दे सकोगे, अपनी ही भूल से हताश होंगे। इससे अभी पारख विरागादि को प्राप्त करके आशा मोहादि को नष्ट करो।

सद्गुरु से पूर्ण पारख की प्राप्ति करने बिना सूक्ष्म २ आशाओं में ज्ञानी (व्यवहारज्ञ-चतुर), पण्डित (शास्त्रज्ञ) दास (देवभक्त) ये सब लगे रहते हैं। कोई भी बावरे (अविवेकी मोहादि युक्त) पुरुष आशाओं के पार नहीं पाते हैं। इसीसे संसार के पार भी नहीं पाते हैं। तिससे उदास (चिन्तातुर शोकयुक्त) होकर संसार में भ्रमते (भटकते) फिरते हैं। सुखशान्ति नहीं पाते हैं ॥८०॥

सकामदेवादिचरित्र विपर्यय प्रकरण ॥४०॥

प्रथम आशा की निवृत्ति के लिये उपदेश दिया गया है, और बहुत मनुष्य देव सबको परमसुखी मुक्त परमज्ञानी आदि मानकर, देवलोक देवभावादि की आशा साहसादि करते हैं, सद्गुरु सद्विचारादि से आत्म-विवेकादि नहीं करना चाहते। इससे उनकी आशा आदि की निवृत्ति, और विचारादिपरायणता के लिये कहते हैं कि—

रमैनी ८१

देव चरित्र सुनहु रे भाई । सो ब्रह्मा जो धिया नशाई ॥
ऊ जें कहे मदोदरि तारा । तिन घर जेठ सदा लगवारा ॥
सुरपति जाय अहल्यहि छलिया । सुरगुरु घरणि चन्द्रमा हरियां ॥

देवानामपि मोहेन यश्चरित्रविपर्ययः ।
तं शृणोतु भवान् भ्रान्तस्तदाशाविनिवृत्तये ॥ १ ॥
[1]ब्रह्मा दुहितरं स्वां सोऽनाशयत् काममोहितः ।
गृहे मन्दोदरी तारा जारं ज्येष्ठममन्यत ॥ २ ॥
इन्द्रोऽहल्यां च मोहेन कपटेन ह्यवञ्चयत् ।
बृहस्पतेर्निजां भार्यां चन्द्रमा हृतवान् स्वयम् ॥ ३ ॥
सूर्यस्याऽयं गुणो ज्ञेयो येन कुन्ती कुमारिका ।
जनयामास कर्णं सा सर्वथा विवशा सती ॥ ४ ॥

हे भाई ! मोह से देवताओं के जो चरित्र का विपर्यय (व्यवहार का व्यत्यय) है, उनकी आशा की निवृत्ति के लिये आप उस व्यत्यास को सुनो ॥१॥ ब्रह्मा काम से मोहित होकर अपनी दुहिता (पुत्री) को नष्ट किये । देवी रूप मन्दोदरी और तारा जार (उपपति) को ज्येष्ठ (श्रेष्ठ-पति) मानी ॥२॥ और इन्द्र भी मोह से ही कपट करके अहल्या को ठगा । और मोह से ही ब्रह्मा के अवतार चन्द्रमा (अनसूया के पुत्र) नक्षत्र पति होने पर, बृहस्पति जी की अपनी स्त्री को स्वयं हर लिये ॥३॥ सूर्य का यह गुण (विशेषण-सत्त्वादि स्वभाव) जानने योग्य है कि जिससे कुमारी कुन्ती सर्वथा विवश (अवश्यात्मा) होती हुई वह कर्ण को जन्माया ॥४॥ आत्मपुराण अ० ४।१३७-३८ का कथन है कि, काम से

१ ' प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ । ' शतपथब्रा० १।७।४। ' प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् । ' एतरेयब्रा० १३।९ ॥

कहहिं कबिर हरिके गुण गाया। कुन्ती कर्ण कुमारहिं जाया॥८१॥

" कामेन विजितो ब्रह्मा कामेन विजितो हरिः।
कामेन निर्जितः शम्भु; शक्रः कामेन निर्जितः॥५॥
अपरे त्वमरा किन्नु नारीक्रीडामृगा हि ते"।
इत्येवं गुरवः प्राहुराशापाशनिवृत्तये॥६॥ ॥८१॥

ब्रह्मा विजित हुए (हारे), काम से हरि हारे, काम से शम्भु हारे, इन्द्र काम से जीते गये॥५॥ और अन्य अमर (देव) तो क्या हैं, कि जो स्त्रियों के क्रीडार्थक मृगतुल्य हैं। यह इस प्रकार गुरुलोक आशा बन्धन की निवृत्ति के लिये कहते हैं॥६॥

अक्षरार्थ– हे भाई ! देवताओं के चरित्र का श्रवण करो। और उनके सुख ज्ञानादि को विचारादि से जानो'। वह ब्रह्मा देव हैं, कि जो अपनी धिया (पुत्री) से संग करके नष्ट हुए। और उसे भी नष्ट किये। और ऊजे (वह जो) प्रसिद्ध देवीरूप मन्दोदरी और तारा कही जाती है, उन दोनों के घर में देवरूप और भक्त विभीषण और सुग्रीव रूप लगवार (जार) ही जेठ (पूज्य पति) हो गये। (देवर होने से जो छोटे थे सो बड़े हुए)। और सुरपति (इन्द्र) गोतमजी का रूप धर कर, उनकी स्त्री अहल्या को छला (ठगा) और नक्षत्र विप्रराज चन्द्रमा ने सुरगुरु (देवगुरु) बृहस्पति जी की घरणी (स्त्री) को हरा। और हरि (सूर्य) का यह गुण गाया हुआ है कि, जिससे कुन्ती ने कुमारावस्था में ही कर्ण को जाया (उत्पन्न किया)।

भाव है कि विचारादि बिना बडे २ को कामादि का अभाव नहीं हुआ, तो अन्य की बात क्या है। प्रसन्न राजा आदि के तुल्य प्रसन्न देव भी लौकिक वस्तु दे सकते हैं, अन्य नहीं। कामादि से वे स्वयं हैरान रहते हैं, दूसरे को क्या मुक्त करेंगे, इत्यादि॥८१॥

पूर्व वर्णित अर्थ उपदेश को सुनकर, जिज्ञासा (जानने की इच्छा) हुई कि, यदि ब्रह्मा आदि देव भी कामादि के वश में रहने से, स्वाभाविक निष्काम सुखी नहीं होने के कारण मनुष्य को सुखी मुक्त नहीं कर सकते, तो सुख का उपाय क्या है, और कितना है, इत्यादि। तब कहते हैं कि--

रमैनी ८२

सुखक वृक्ष इक जगत उपाया। समुझि न परल विषय कछु माया॥
छौ छत्री निपात युग चारी। फल दुइ पाप पुण्य अधिकारी॥

एक एवाऽस्त्युपायोऽत्र वृक्षः सौख्यफलप्रदः।
निजात्माऽनुभवो रागाभावोपरतिसंयुतः॥७॥
शमाद्याः साधकास्तस्य श्रवणाद्यास्तथैव च।
सत्सङ्गः पोषको नित्यमेकान्तस्य निषेवणम्॥८॥
तुच्छगोचरसंसर्गान्मायाजालसमाश्रयात्।
ज्ञायते न महावृक्षः कुतस्तत्साधनं भवेत्॥९॥
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।
इत्येवं श्रुतयः प्राहुर्जनास्तन्नैव जानते॥१०॥

रागाभाव (वैराग्य) उपरति (आसक्ति का अभाव-उदासीनता) सहित निजात्मानुभव ही सुखरूप फल को देनेवाला वृक्षरूप एक ही उपाय यहाँ है॥७॥ शमदमादि उसके साथक (साधन) हैं, तैसे ही श्रवण-मननादि भी साधन हैं। सत्संग और सदा एकान्त का सेवन उसके पोषक (वर्धक-पालक) हैं॥८॥ तुच्छ (सारशून्य) विषयों के संग से तथा मायाजाल (समूह वा फांस) के आश्रयण से वह महावृक्ष समझ में नहीं आता है, तो उसका साधन (उपाय) किससे हो॥९॥ उस परमात्म-तत्त्व को जानकर मृत्यु रहित होता है, विमुक्ति के लिये अन्य मार्ग नहीं है, इस प्रकार ये श्रुतियाँ भी कहती हैं, सो मनुष्य नहीं जानते हैं॥१०॥

स्वाद अमित कछु बरणि न जाई । कै चरित्र सो ताहि समाई ॥

ब्रह्माद्या[1] देवता यद्वा वेणुप्रभृतयो नृपाः ।
इन्द्रियाण्यथवा क्षत्राः सम्पतन्ति चतुर्युगे ॥ ११॥
पक्षिवद्वै भ्रमन्तस्ते प्राक्तनैः कर्मदोषकैः ।
भुञ्जते सुखदुःखे द्वे पुण्यपापाधिकारिणः ॥१२॥
"वायुः सूर्यो वन्हिरिन्द्रः कृत्वा जन्मान्तरेऽन्तरम् ।
कृत्वा धर्मं विजानन्तो ब्रह्मभीत्या चरन्ति हि" ॥१३॥
विषये मोहकालेऽत्र स्वादोऽनन्तो हि भासते ।
स न वर्णयितुं शक्यः सजन्त्यत्र ततो जनाः ॥१४॥
चरितं विविधं कृत्वा कर्म ध्यानादिलक्षणम् ।
विशन्त्यत्रैव संसारे न च मुक्ता भवन्ति ते ॥१५॥

ब्रह्मा आदि देवरूप वा वेणु, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, त्रिविक्रम, नृपरूप वा पांच ज्ञानेन्द्रिय मन इन्द्रियरूप छौ क्षत्रिय चारों युग में सम्पतन (गमन) करते हैं, नीचे जाते हैं ॥११॥ पूर्वजन्म के कर्मरूप दोष से पुण्यपाप के अधिकारी वे लोक पक्षीतुल्य भ्रमते हुए सुखदुःख दोनों भोगते हैं ॥१२॥ 'भयादस्याग्निस्तपति'। कठ० २।६।३ इत्यादि का व्याख्यानरूप अनुभूति-प्रकाश० २।१३० का कथन है कि, वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र; जन्मान्तर में अन्तर (भेद) बुद्धि करके, धर्म करके जानते हुए भी ब्रह्म के भय से अपने २ कार्य में प्रवृत्त हैं ॥१३॥

मोहकाल में इस विषय में अनन्त स्वाद (मधुरता आदि) भासते (प्रकाशते) हैं, वह स्वाद वर्णन के शक्य (योग्य) भी नहीं है, तिसीसे मनुष्य इस में आसक्त होते हैं ॥१४॥ कर्म ध्यानादिरूप विविध चरित (व्यवहार) करके वे आसक्त मनुष्य इस संसार में ही पैठते हैं,

१ 'राजार्थं रचिते यद्वत्प्रासादे सप्तभूमिके । उपर्यधो वा दुःखाप्तौ भेदः कोपि न विद्यते'॥ आत्मपु० १६।१०५ ॥

नटवत सारे साज साजिया । जो खेलै सो देखु बाजिया ॥
मोहा बपुरा युक्ति न देखा । शिव शक्ती विरञ्चि नहिं पेखा ॥

साखी ।

परदे परदे चलि गया, समुझि परी नहिं बानि ।
जो जानै सो बांचि हैं, होत सकल की हानि ॥८२॥

नटवच्चेन्द्रजालश्रीसाधनं साधयन्ति च ।
सर्वं पश्यन्ति तन्नृत्यं नृत्यन्तोऽपि स्वयं तथा ॥१६॥
क्रीडन्तोऽत्राथ पश्यन्तः क्रीडामेव जगत्त्रये ।
ब्रह्माद्याः स्वाधिकारान्तं स्वादुकारं हि भुञ्जते ॥१७॥
अज्ञाश्च मोहिताः सर्वे युक्तिं जानन्ति नो यतः ।
मुक्तस्ततो हि नृत्यन्ति भुञ्जते विषयांस्तथा ॥१८॥
अहो शिवश्च शक्तिश्च विधाता न प्रपश्यति ।
उपायं येन नैवेदं जगन्नृत्यं प्रदृश्यते ॥१९॥
अज्ञामरचिताऽऽवर्णे मोहमेदुरिते तते ।
वेशं वेशं गताः सर्वे नोऽविदुश्चानृतं जगत् ॥२०॥

मुक्त नहीं होते ॥१५॥ और नटतुल्य इन्द्रजाल (माया) की श्री (शोभा-सम्पत्ति) का साधन (हेतु) को वे सब साधते (सिद्ध करते) हैं। तथा,स्वयं नाचते हुए, इन्द्रजाल (माया) का उस मिथ्या नृत्य को देखते हैं ॥१६॥ और ब्रह्मा आदि भी अपने २ अधिकार पर्यन्त, इन तीनों लोक में क्रीडा करते हुए, और क्रीड़ा ही देखते हुए अस्वादु को स्वादु करके ही भोगते हैं ॥१७॥ मोहित अज्ञ सब जिससे मुक्ति की युक्ति को नहीं जानते हैं, तिसी से नाचते हैं, तथा विषयों को भोगते है ॥१८॥ आश्चर्य है कि शिव शक्ति विधाता भी उस उपाय को नहीं जानते हैं कि जिससे यह जगद् का नृत्य (नाच) नहीं दीख पडे ॥१९॥ मोह से मेदुरित (सान्द्र-स्निग्ध हुआ) तत (विस्तृत-व्याप्त)

विविदुर्न सतां वाणीं न वाचाऽऽरम्भणं जगत् ।
स्वभावं नाप्यविद्यायास्तेन नष्टा इमे जनाः ॥२१॥
ये ज्ञास्यन्ति जगत्तत्त्वं स्वात्मतत्त्वं तथा पृथक् ।
ते हि दुःखाद्विमोक्ष्यन्ते नङ्क्ष्यन्त्यन्ये त्वसंशयम् ॥२२॥
" न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानताम् ।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रतिकूलमपश्यतः " ॥२३॥८२॥

इति रमैनीरसोद्रेके देवादिषु यावत्कामाधिकारं चरित्रविपर्ययवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥४०॥

अज्ञान से रचित आवरण में प्रवेश २ (पैठ २) करके ही सब गये, और जगत् को झूठ नहीं समझे ॥२०॥ न सत् पुरुषों की वाणी को समझे, न जगत को वाक से ही आरभ्यमाण (मिथ्या कथनमात्र) समझे, न अविद्या का स्वभाव को समझे, तिससे ये लोक नष्ट हुए ॥२१॥ जो लोक जगत् का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप को पृथक् (भिन्न) विवेक से जानेंगे, या सत्यांश में दोनों का स्वरूप को अपृथक् (अभिन्न) समझेंगे, वे ही दुःख से विमुक्त होंगे, अन्य अवश्य नष्ट होंगे ॥२२॥ अतिशय प्रिय आत्मा है, ऐसा जानने वालों की प्रीति विषयों में नहीं होती, तो प्रतिकूल (विरोधी) को नहीं देखने वाला को किससे राग और द्वेष हो । और राग द्वेष का अभाव ही मोक्ष है ॥२३॥

अक्षरार्थ- सुखरूप फल के उपाय (कारण) रूप वृक्ष संसार में मोहनाशक एक आत्मानुभव ही है । परन्तु सो आत्मा उसका अनुभव विषयरूप कछु (तुच्छ) माया के मारे जीवों को समझ नहीं परा । अथवा सुख का वृक्षरूप आत्मदेव ने जगत को अपनी माया से उपाया (उपजाया) है, इससे अधिष्ठान रूप से वह सर्वत्र वर्तमान है; परन्तु विषय माया (ममता मोह) आदि से वह कुछ भी समझ में नहीं आया । इसीसे ब्रह्मा, बिभीषण, सुग्रीव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, रूप छौ छत्रियों (राजाओं)

का चारों युग में निपात (पतन) हुआ, विषय माया से आत्मस्थिति नहीं रही। और सुखदुःख रूप दो फल के भोक्ता हुए। तथा पाप-पुण्य के अधिकारी हुए (कर्ता हुए)। और तपोबल से दूसरे के पापपुण्य के भी अधिकारी (नेता) शापानुग्रह में समर्थ हुए। परन्तु पूर्वजन्म के सकाम तप से आत्मस्थिति नहीं रह सकी, तो अन्य सकाम की कथा ही क्या है। निपात के पत्री, पाठान्तर है। अर्थ है, कि छौ क्षत्रिय चारों युग में पत्री (पक्षी) की नाईं हुए, भय से उडते रहते हैं और रहे इत्यादि। रमैनी ४७ में जरासन्धादि छौ क्षत्रिय का वर्णन है, वसन्त ३ में वेणु आदि छौ का वर्णन है; परन्तु वे सब प्राय: चारों युग में रहनेवाले नहीं हैं, और ब्रह्मा आदि देवभाव से सदा रहनेवाले हैं। और आगे इन्द्रियों से युद्ध का वर्णन है, इससे उन्हें क्षत्रिय कहा जा सकता है, सो इन्द्रियाँ जीवों का चारों युग में निपात (नाश) करती हैं, और दो फल पापपुण्य के अधिकारी बनाती हैं, इत्यादि।

यद्यपि ज्ञान दृष्टि से विषयादि माया मिथ्या है, तथापि मोह से विषयों में अमित (अनन्त) स्वाद प्रतीत होता है, जिसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। इससे सो (ब्रह्मादि) देव भी पूर्व जन्म में तप कर्मादि अनेक चरित्र करके ताहि (तिस माया विषय) में ही समाते (लीन आसक्त होते) हैं। और नट के समान सारे (सब) मिथ्या साज (भोग साधन) साजते (जोड़ते-बनाते) हैं, और साजा है। सत्य का खोज नहीं करते हैं, और जो लोक इस साज को साजना रूप खेल खेलते हैं, वे ही इस नटबाजी (तमासे) को देखते है। अर्थात् सकाम कर्मादि करनेवाले परवश अवश्य फल भोगते हैं, भोग विना छुटकारा नहीं पाते। तो भी बपुरा (बौरा) जीव इस तमासा में ही मोहित हुआ है, सकाम कर्मादि करता है, निष्काम नहीं होता है, इससे मोक्ष की युक्ति, खेल रहित होने की युक्ति को नहीं देखा, न देखता है। निष्काम होने विना सत्संग विचारादि नहीं करता है, इससे शिव

(कल्याण) स्वरूप की शक्ति (माया) और विरञ्चि (विधि) को भी ये लोक नहीं देख सके, तो शुद्धात्मा को जानना कैसे हो। अथवा अन्य की तो बात ही क्या कहनी है। अपने २ अधिकार तक, शिव शक्ति, ब्रह्मा भी विषय माया जाल से रहित होने की युक्ति मार्ग को नहीं देख सके। इससे ब्रह्मादि पद के लिये भी सकाम तप कर्मादि करना उचित नहीं है।

मोहादि की निवृत्ति का उपाय को जानने बिना विषयादि में फंसे रहने से, मायाकृत परदे २ (आवरण) में ही सब चले गये, सद्गुरु की बाणी इन्हें नहीं समझ परी (आई), न वाणीमात्र (मिथ्या) विषयादि समझ परी। न अपना मोहमय बान (स्वभाव) समझ परा, इससे संसार में पतनादि होते रहे। परन्तु जो कोई सद्गुरु की वाणी को पहचान कर, विषयादि को मिथ्या समझ कर आत्मनिष्ठ होंगे, सो माया फन्द से बँचेंगे, अन्य सब लोकों की हानि होती है। मनुष्यता व्यर्थ जाती है। या जानने वालों के भेद भ्रमादि सब का हान (नाश) होता है, इससे वे सब अनर्थ से बँच जाते हैं, अन्य नहीं॥ चलि गया, के चली गई, पाठान्तर है। जीवों से पडदे २ में माया चली गई, उस का मिथ्यात्व स्वभाव समझ में नहीं आया, इत्यादि अर्थ है॥८२॥

मोक्षार्थी क्षत्रिय प्रकरण ४१

पूर्व रमैनी से छौ क्षत्रिय का निपात कहा गया है, अब सामान्य क्षत्रिय (राजा) के मोहजन्य व्यवहार से संसार का, और विवेकी के मोक्ष का वर्णन, विवेक परायणता और विराग के लिये करते हैं कि-

रमैनी ८३

क्षत्री करै क्षत्रिया धर्मा । वाके बढ़ै सवाई कर्मा ॥
जिन अवधू गुरु ज्ञान लखाया । ताकर मन तहईं लै धाया ॥

[1]इन्द्रियाण्यवशीकृत्य यः क्षत्रः क्षात्रकर्मणि ।
वर्तते तस्य कर्माणि वर्द्धन्ते पादशः क्रमात् ॥ १ ॥
भवन्ति तानि बन्धाय दुःखाय च निरन्तरम् ।
भ्रमयन्ति हि तान्येव स्वर्गेषु नरकादिषु ॥ २ ॥
" शुभानामशुभानां च द्वौ राशी भवतो ध्रुवम् ।
यः पूर्वं सुकृतं भुङ्क्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥ ३ ॥
नरो वर्द्धत्यधर्मेण ततो भद्राणि पश्यति ।
संजयति सपत्नांश्च समूलस्तु विनश्यति " ॥ ४ ॥

इन्द्रियों को वश में करने विना ही जो क्षत्र (क्षत्रिय-राजा) क्षात्र (राज्य) कर्म में रहता है, उसके कर्म क्रम से पाद पाद (चतुर्थांश) रूप से बढते हैं ॥१॥ निरन्तर (सदा) वे कर्म बन्धन और दुःख के लिये होते हैं, वे ही स्वर्गों में नरकादि में भ्रमाते हैं ॥२॥ महाभारत स्वर्गारोहप० ३।१३। का वचन है कि, शुभ अशुभ कर्मों के दो राशी (वृन्द) अवश्य होते हैं, जो पहले सुकृत (पुण्य-स्वर्ग) भोगता है, सो पीछे निरय (नरक) ही भोगता है ॥३॥ वनप० ९४।४। और मनु का वचन है कि, मनुष्य पहले अधर्म से बढता है, फिर सुखादि भद्र (मङ्गल-शुभ) का अनुभव करता है, शत्रुओं को जीतता है, फिर मूल सहित नष्ट होता है ॥४॥ जो विरक्त सुचित्तवाले गुरु से गुरु सम्बन्धी

१ ' यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ' ॥ कठ. १।३।५॥ ' अपि संचयबुद्धिर्हि लोभमोहवशंगतः । उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ' ॥ म० भा० अश्वमेधप० ९१।३०॥

क्षत्री सो जो कुटुम से झूझै। पांचों मेटि एक कै बूझै॥
जीवहिं मारि जीव प्रतिपालै। देखत जन्म आपनो हारै॥

विरक्ता ये गुरोर्ज्ञानं प्राप्तवन्तः सुचेतसः।
तेषां मनस्तु तत्रैव लयमेति च धावति॥५॥
त एव क्षत्रियाः[1] शूरा युद्धयन्ति स्वेन्द्रियैर्हि ये।
कुटुम्बैः बन्धदैः क्रूरैः सदा स्वार्थपरैश्चलैः॥६॥
तेभ्यो युद्ध्वा विजित्यैतानाच्छिद्य तत्स्वतन्त्रताम्।
सर्वत्रात्मानमालोच्य पश्यन्त्येकात्मकं जगत्॥७॥
मारयित्वा मनश्चेदं कुर्वते जीवरक्षणम्।
पश्यन्तश्च स्वमात्मानं स्वं जन्म हारयन्ति तान्॥८॥

ज्ञान को पाये, उन का मन ज्ञान् में ही दौडता है, और ज्ञानस्वरूप आत्मा ही में लीन होता है॥५॥

वस्तुतः वे ही शूर क्षत्रिय हैं, कि जो चञ्चल, सदा स्वार्थ परायण, क्रूर, बन्धनदायक, कुटुम्बतुल्य (पोष्य सदा संगी) अपनी इन्द्रियों से युद्ध करते हैं और उन के साथ युद्ध करके, उन्हें जीत कर, उनकी स्वतन्त्रता को उन से आच्छिद्य (छीन कर), सर्वत्र सत्यात्मा को देख कर, जगत को एक स्वरूप देखते हैं॥६-७॥ इस मन को मार कर जीव की रक्षा करते हैं, और अपनी आत्मा को देखते हुए, उन इन्द्रियों से अपना जन्म हरवाते (नष्ट कराते) हैं (अपने जन्मादि को उन्हीं से उन में प्राप्त कराते समझते हैं)॥८॥ और अति शीघ्र विवेक नामक

१ 'बलेन परराष्ट्राणि गृह्णंश्छूरस्तु नोच्यते। जितो येनेन्द्रियग्रामः स शूरः कथ्यते बुधैः'॥ दक्षस्मृ० अ० ७॥ 'यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते। यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः'॥ म० भा० शा० ८९।१४ 'तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः।' श्रुतिः॥

हालै करै निशानै घाऊ । जूझि परै तब मनमथ राऊ ॥

साखी ।

शून्य सनेही राम विनु, चले अपन पौ खोय ।
मनमथ मरै न जीवई, जीवहिं मरण न होय ॥८३॥

अतिशीघ्र च संधाय कामक्रोधादिशत्रुषु ।
अर्पयन्ति विवेकाख्यं बाणं कुर्वन्ति ते व्रणम् ॥ ९ ॥
मन्मथेन ततो युद्ध्वा स्ववशे स्थापयन्ति तम् ।
भवन्ति ते महापूज्याः क्षत्रियाः, सर्वेनिर्भयाः ॥१०॥
आनन्दसत्यताशून्ये विषयादौ तु ये नराः ।
स्नेहपाशेन संनद्धा भयाद् दिक्षु द्रवन्ति ते ॥११॥
रामेण च विना लक्ष्यं स्थानं त्यक्त्वा निजं शुभम् ।
मन्मथादिवशे भूत्वा म्रियन्ते ते पनः पुनः ॥१२॥
म्रियेत मन्मथोऽत्यन्तं पुनर्न जीवितो भवेत् ।
यदि तर्हि न जीवस्य मरणं क्वापि संभवेत् ॥१३॥

बाण का संधान (संघटन) ध्यानादि धनुष के साथ करके, कामादि शत्रुओं के ऊपर उसका अर्पण (प्रहार) करते हैं, और उन में व्रण (घाव) करते हैं, उनका नाश करते हैं ॥९॥ तब मन्मथ (मदन काम) से युद्ध करके, उस को अपने वश में स्थिर रखते हैं, फिर वे क्षत्रिय (वीर) महापूज्य सब से निर्भय रहते हैं ॥१०॥

जो मनुष्य आनन्द सत्ता रहित विषयादि में स्नेहरूप बन्धन से संनद्ध (वर्मित-बद्ध) हैं, सो भय से दिशाओं में जाते हैं ॥११॥ और वे लोक राम के विना लक्ष्य (प्राप्य) अपना शुभ स्थान (स्थिति) को त्याग कर; और कामादि के वश में होकर बार २ मरते हैं ॥१२॥ यदि मन्मथ (काम) अत्यन्त मर जाय, और फिर जीवित नहीं होय,

यावन्न म्रियते मारस्तावज्जीवो न जीवति ।
जीवन्नपि मृतैस्तुल्यो मारसत्त्वे हि तिष्ठति ॥१४॥'
यावन्न कामो म्रियते न लभ्यते रामश्चिदानन्दमयः सनातनः ।
यावद्वशे नेन्द्रियमानसान्यपि जीवन्मृतस्तावदयं निगद्यते' ॥१५॥
'जीवन्मुक्तास्तु निष्कामाः प्रपद्यन्ते मृतिर्नहि ।
प्राणोत्क्रान्तिर्हि कामेन भवति ज्ञानिनां न सा ॥१६॥८३॥
इति रमैनीरसोद्रेके मोक्षार्थिक्षत्रियपदवर्णनं नामैकचत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥४१॥

तो जीव का कहीं भी मरण नहीं होय ॥१३॥ जब तक मार (काम) नहीं मरता है, तबतक जीव नहीं जीवता है, मार के रहने पर जीता हुआ भी जीव मृतक तुल्य रहता है ॥१४॥ जबतक काम नहीं मरता है, न चिदानन्दमय सनातन राम मिलते हैं, न जबतक इन्द्रिय मन वश में होते हैं, तबतक यह जीता हुआ भी मृत (निःसत्त्व) ही कहा जाता है ॥१५॥ जीवन्मुक्त निष्काम लोक मरण नहीं पाते हैं। काम से ही प्राण की उत्क्रान्ति (ऊर्ध्वादि गति) होती है, सो ज्ञानियों की नहीं होती है ॥१६॥

अक्षरार्थ- इन्द्रियों के वशवर्ती जो क्षत्रिय क्षत्रिया (क्षात्र) धर्म (युद्ध दण्ड यज्ञादि) करता है, वाके (उसके) बन्धनप्रद कर्म सदा सवाई बढते हैं, विवेकादि विना वे धर्म भी मोक्षप्रद नहीं होते, उन धर्मों से क्षणिक सुख होता है, और प्रमाद व्यसनादि जन्य पाप से महा दुःख होता है। इससे जिन अवधू (विरक्तों) ने सद्गुरु से ज्ञान लखाया (लख पाया), ज्ञान स्वरूप आत्मा को प्राप्त किया; ताकर (तिसका) मन तहइं लै (तिस ज्ञान ही तक) धावता (दौड़ता) है। तथा ज्ञान स्वरूप आत्मा में लीन होने के लिये ध्यान विचार करता है। या जिन माया स्त्री आसक्ति रहित विरक्तों को गुरु ने ज्ञान लखाया (समझाया) उनका मन ज्ञान गुरु तक ही दौड़ता है, राज्य धर्मादि को मिथ्या समझ कर मुक्त होता है, इत्यादि।'

वास्तविक क्षत्रिय वह है, कुटुम्बतुल्य पोष्य कर्म साधक शत्रु स्वभाववाली इन्द्रियों से जूझता (लडता) है, और पांचों ज्ञानेन्द्रियों की सत्ता प्रभुत्व को मिटा (नष्ट) करके, एक आत्मस्वरूप करके ही बूझता (जानता) है, इससे भेद अभिमान रहित होता है। और जैसे लौकिक क्षत्रिय दुष्ट प्राणी को मार कर अन्य की 'रक्षा करता है, तैसे यह जीव (मन) को ही मार कर जीवात्मा की रक्षा करता है, और युद्ध में जैसे राजा कुछ हार (खोय) जाता है, तैसे यह देखते २ में अपना जन्म हार जाता है, आत्मज्ञान से जन्मादि रहित होता है, अज्ञान से दीखते हुए अपने जन्मादि को देहेन्द्रियादि में देखने लगता है। और काल क्षेप (देर) नहीं करता है किन्तु हाले (शीघ्र) निशाना (लक्ष्य) करके इन्द्रिय कामादि शत्रुओं को घाव (क्षत विक्षत) करता है, तब (फिर) मन्मथ (कामदेव) राऊ (राजा) से युद्ध कर बैठता है। उपस्थ (लिङ्ग) को वश में करता है, सो सत्य क्षत्रिय है।

इन्द्रिय कामादि को जीतने विना जो जीव आनन्दादि से शून्य (रहित) विषय लोकादि के स्नेही (अत्यन्त प्रेमी) हैं, सो सर्वात्मा राम के अनुभवादि विना अपना पौ (स्वरूप-दाव-अवसर) को खोय कर चले और चलते हैं (मरते हैं)। और जबतक मन्मथ नहीं मरता है, तब-तक जीव का जीवन जीवन नहीं है, और मन्मथ के मरने पर इसे मारने वाला कोई नहीं रहता है, इससे यदि मन्मथ मर जावे और वह फिर जीवित नहीं होवे, तो जीव का कभी मरण नहीं होय ॥८३॥

जीवसंबोधन प्रकरण ४२

सांसारिक रमण मोह आसक्ति आदि की निवृत्ति त्यागादि से भावी दुःखों का अत्यन्ताऽभाव के लिये उपदेश देते हैं कि–

रमैनी ८४

ये जियरा तैं दुःखहिं सम्हारू । जे दुख व्यापि रहल संसारू ॥
माया मोह बँधा सब कोई । अलपे लाभ मूल गौ खोई ॥

भो जीवास्तन्महद्दुःखं जानीताऽत्यवधानतः ।
यद् दुःखमत्र[1] संसारे व्याप्य सर्वत्र तिष्ठति ॥ १ ॥
तज्ज्ञात्वा भाविनस्तस्मान्मुक्तये वै विचिन्त्यताम् ।
अत्रैव सा भवेन्मुक्तिर्नान्यत्र सुलभास्ति सा ॥ २ ॥
एतत्त्वस्ति महद्दुःखं मायया यद्धि जन्तवः ।
बद्धाः सन्तीह मोहेन वर्तन्ते च विपाशिताः ॥ ३ ॥
अल्पेनैव तु लाभेन तेषां मूलं विनाशितम् ।
तन्न पश्यन्ति मोहेन हा हता मूढजन्तवः ॥ ४ ॥

हे जीव ! अत्यन्त अवधान (अप्रमाद) से उस महान दुःख को समझो कि जो दुःख इस संसार में व्यापक होकर, सर्वत्र स्थिर है ॥१॥ उस दुःख को जान कर भावी उस दुःख से मुक्ति के लिये स्मरण विचार करो, इसी लोक देह में वह मुक्ति होगी, अन्यत्र वह सुलभ नहीं है ॥२॥ और यही यहाँ महान् दुःख है, कि प्राणी सब यहाँ माया (ममता आदि) से बद्ध (बँधे) हैं, और मोह (आसक्ति भ्रम) से भी विशेष पाशित (पाश-बन्धनयुक्त) हैं ॥३॥ अल्प लाभ (सुखादि) से ही उन का मूल धन सुख विनष्ट हुआ है, उस को मोह से नहीं देखते हैं, हा (शोक दुःख) है कि मूढ प्राणी हत (नष्ट) हुए हैं ॥४॥ और

१ ' न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि । तथा च दुःखं मूढानां वृथाऽहङ्करणं परम् ' ॥ भा० स्क० ११।१०।१८॥ ' इच्छा द्वेषो भयं मोहः क्षुत्तृग्निद्रा तथैव च । विण्मूत्रबाधा चेत्येतदचिकित्स्यं हि देहिनाम् ' ॥ आत्मपु० १।५०३॥ ' हैमी लौह्यथवा यद्वच्छृङ्खलाबन्धनप्रदा । दैवो वा मानुषो वाऽयं देहो दुःखप्रदस्तथा ' ॥ आत्मपु० १६।१०६॥

मोर तोर में सभे विगूता । जननी उदर गर्भ महँ सूता ॥
इ बहु खेल खेलै बहु रूता । जन भवँरा अस गये बहूता ॥
उपजि विनशि योनिहिं फिरि आवै । दुख संताप कष्ट बहु पावै ॥

ममेदं च तवेदं चेत्युपलब्धियुता जनाः ।
रागद्वेषादिसंयुक्ता मूलं सर्वं व्यनाशयन् ॥ ५ ॥
मूलं तत्साधनं हित्वा मृत्वा सृत्वा कुबुद्धयः ।
जनन्या उदरे गर्भा भूत्वा तत्र स्वशेरत ॥ ६ ॥
चेक्रीडन्ति जनित्वैते बहुधा रोरुदन्ति च ।
संसक्ता विषये पुष्पे भ्रमरा इव मोहिताः ॥ ७ ॥
विषयाक्ता गता केचिदन्ये यास्यन्ति यान्ति च ।
जनित्वा ते विनश्यात्र वा गच्छन्त्येव योनिषु ॥ ८ ॥
दुःखानि बहुधा तापान् कष्टानि प्राप्नुवन्ति ते ।
स्वप्नेऽपि सुखलेशं तु नाप्नुवन्ति कदाचन ॥ ९ ॥

यह मेरा है, यह तेरा है, ऐसी उपलब्धि (ज्ञान) सहित मनुष्य राग द्वेषादि से युक्त होकर सब मूल को स्वयं नष्ट किये ॥५॥ कुबुद्धि लोक मूल वस्तु और उस की प्राप्ति आदि के साधन को त्याग कर, मर कर जाकर माता के उदर में गर्भ (भ्रूण) होकर वहाँ ही सोते हैं ॥६॥

जन्म लेकर ये लोक बार २ क्रीडा करते हैं, और बहुत प्रकार से बार बार अतिशय रोते हैं । पुष्प में भ्रमर के समान मोहित होकर विषय में आसक्त होते हैं ॥७॥ विषयों से रञ्जित कोई यहाँ जन्म लेकर गये, कोई जा रहे हैं, कोई जायंगे, और वे लोक यहाँ विनष्ट होकर फिर यहाँ योनियों में ही आते हैं ॥८॥ और वे लोक बहुत प्रकार के कष्ट (गहन) दुःख ताप (रोगादि) पाते हैं, स्वप्न में भी कभी सुख का लेश भी नहीं पाते हैं ॥९॥ कुबुद्धि लोक कामादि से अत्यन्त ज्वलित

सुख के लेश स्वप्नहुं नहिं पावै । सो न मिला जो जरत बुझावै ॥
मोर तोर में जरु जग सारा । धृक स्वारथ झूठो संसारा ॥
झूठी मोह रहा जग लागी । इन ते भागि बहुरि पुनि आगी ॥

जाज्वलन्तश्च कामाद्यैर्नश्यन्त्येव कुबुद्धयः ।
तत्तु तेषां न संप्राप्तं ज्वलनं यन्निवारयेत् ॥१०॥
शान्तिं कुर्यात्सुखं दद्याद् रागद्वेषौ निमूलयेत् ।
तादृशः पुरुषो बोधस्तत्त्वं तैर्लभ्यते न च ॥११॥
ममता तवता बुद्ध्या रागद्वेषादिवह्निभिः ।
चिन्ताशोकचितायां वै दह्यन्ते सर्वजन्तवः ॥१२॥
दह्यन्ते येऽत्र मोहेन कामक्रोधादिसंयुताः ।
धिक्तान् स्वार्थपरान्स्वार्थान्संसारोऽस्ति यतो मृषा ॥१३॥
असत्यस्यास्य विश्वस्य मोहो यद् हृदि वर्तते ।
स प्लायित्वाऽप्यतो लोकाद् गर्भाद्यग्नौ प्रपद्यते ॥१४॥

(दग्ध) होते हुए नष्ट होते हैं, वह वस्तु ज्ञान उन्हें नहीं मिला, जो ज्वलन का निवारण (नाश) करे ॥१०॥ उन से तैसा पुरुष, बोध, तत्त्व (स्वरूप) नहीं प्राप्त किया गया कि, जो शान्ति करे, सुख दे, रागद्वेष का निमूल (नाश) करे ॥११॥

ममता तवता की बुद्धि (उपलब्धि) से रागद्वेषादि अग्नि के द्वारा सब प्राणी अनात्मचिन्तन शोक रूप चिता (चिति) में दग्ध होते हैं ॥१२॥ कामक्रोधादि सहित जो लोक यहाँ मोह से जलते हैं, उन स्वार्थपर और स्वार्थ को धिक्कार है, जिससे संसार मिथ्या है ॥१३॥ असत्य इस विश्व (भुवन संसार) का मोह जिसके हृदय में रहता है, सो इस लोक देहादि से भाग कर गर्भादि अग्नि में स्वयं प्राप्त होता है ॥१४॥ जिस २ अर्थ को अपना २ हित (धारक-सुखद) मान कर सब

जिहि हित कै राखै सब कोई । सो सयान बांचा नहिं होई ॥

साखी ।

आपु आपु चेते नहीं, कहुं तो रुसुआ होय ।
कहहिं कबीर जो स्वप्ने, अस्ति निरस्ति न होय ॥८४॥

यं यं स्वस्वहितं मत्वा सर्वे रक्षन्ति मानवाः ।
स स धनादिकोऽर्थो हि सदा नैवाऽत्र तिष्ठति ॥१५॥
अर्थोऽविनश्वरो नास्ति कायश्च क्षणभङ्गुरः ।
अतोऽन्ते देहिनः सर्वे सर्वं त्यक्त्वैव यान्ति हि ॥१६॥
इत्येवं ज्ञायतां साधोः ! तूर्णं मोहं विमार्जय ।
रागद्वेषादिकं त्यक्त्वा सन्तिष्ठस्व [1]गतज्वरः ॥१७॥
स्वयं स्वस्य विवेकं नो कुरुते मोहितो जनः ।
यदि वच्मि हितं तस्य वैमुख्यं प्रतिपद्यते ॥१८॥

मनुष्य उस की रक्षा करते हैं, तौन २ धनादिक अर्थ (वस्तु) यहाँ सदा नहीं ठहरते हैं ॥१५॥ अविनश्वर अर्थ नहीं है, शरीर क्षणभङ्गुर है, इससे सब प्राणी अन्त (मरण काल) में सब को छोड़ करके ही जाते हैं ॥१६॥ हे साधो ! इस पूर्ववर्णित प्रकार से पदार्थादि को समझो, मोह को शीघ्र मार्जन (निवारण) करो, राग द्वेषादि को त्याग कर, ज्वर (ताप) रहित स्थिर होवो ॥१७॥

मोहयुक्त मनुष्य अपना स्वरूपादि का विवेक स्वयं (आप) नहीं करता है, और यदि मैं (गुरु) उस का हित करता हूं तो रुष्ट होकर (विमुखता) को प्राप्त होता है ॥१८॥ गुरुविमुख होकर इस संसार के

---

१ 'पूर्वमिष्टमनिष्टं त्वमनिष्टञ्चेष्टमित्यपि । परिकल्प्य तदभ्यासात्तत्ततोऽपि परित्यज' ॥ 'ये विरक्ता महात्मानो भोगभावनतानवम् । भावयन्त्यभवायान्तर्भव्या भुवि जयन्ति ते ॥' योगवासिष्ठ । प्र० ५।२९।५२॥ प्र० ३।२२।२५॥

प्रवर्ततेऽत्र संसारे स च सत्यो न विद्यते ।
यथा स्वप्ने जनैर्दृष्टः सत्योऽसत्योऽथवा नहि ॥१९॥
विमतः सदसद्भ्यां चिन्नृशृङ्गाभ्यां विलक्षणः ।
दृष्टत्वात्स्वप्नवत्सर्वः[1] शुक्तिरूप्यादिवत्तथा ॥२०॥
यथा मिथ्यापि देहात्मतादात्म्यं भासते सदा ।
सत्यत्वेन तथैवेदं जगत् सत्त्वेन भासते ॥२१॥
नायं सत्यो जनिमृतिमयो बन्धजातो न विश्वं,
नाऽसत्यो वा गगनकमलैस्तुल्यरूपो भ्रमो वा ।
सर्वज्ञेशे विमलवपुषि ब्रह्मणि प्राज्ञरूपे,
भ्रान्तिः सत्तां नहिं सुलभते मायिकोऽयं तथापि ॥२२॥

व्यवहारादि में प्रवृत्त होता है, और वह संसार सत्य नहीं है, जैसे स्वप्न में मनुष्य से देखे गये पदार्थ सर्वथा सत्य अथवा सर्वथा असत्य नहीं रहते हैं, तैसा ही यह संसार है ॥१९॥ विमत (सत्यासत्य का विवाद के विषय) संसारादि सब सत्य चिदात्मा और असत्य नरशृङ्ग से विलक्षण, स्वप्नतुल्य तथा शुक्ति के रूपा तुल्य हैं, दृष्ट (दृष्टि के विषय) होने से ॥२०॥

जैसे देह और आत्मा का तादात्म्य (अभेद) मिथ्या होते भी सबको सदा सत्यरूप से भासता है, तैसे ही यह जगत् मिथ्या होते भी सत्यरूप से भासता है ॥२१॥ जन्ममरणमय बन्ध (बन्धनरूप) जात (उत्पन्न) यह देह स्त्रीपुत्रादि पदार्थ सत्य नहीं हैं, न विश्व (भुवनादि सब संसार) सत्य है, न यह आकाश के कमलतुल्य असत्य है, न भ्रमरूप है; क्योंकि

१ ' तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः । ' ऐतरेयोप० १।३।१२॥ ' संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसंकुला । गन्धर्वनगरप्रख्या, मूढस्तामनुवर्तते ॥ ' अध्यात्मरा० २।४।२५॥ ' स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः । भेदानां सुसमत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ ' अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसारः ॥

माया चेयमनिर्वाच्या सत्याऽसत्यादिरूपतः ।
तन्मयत्वादिदं विश्वं तथैव परिदृश्यते ॥२३॥
अनिर्वाच्यस्वरूपं यत्तन्मिथ्या कथ्यते बुधैः ।
अनृतं भ्रान्तिरूपं च ज्ञानबाध्यं हि तद्भवेत् ॥२४॥
कल्पितं कथ्यते तच्च कल्पनाऽपि सुकल्पिता ।
अहो विचित्रमेतद्यन्मौनमत्र विशिष्यते ॥२५॥
न सद्भूर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खं नेन्द्रियं नैव च प्राणसङ्घः ।
विकारादियोगाद्गुणो न प्रधानं न कालादिकं कल्पनामात्रदेहम् ॥२६॥
न चैतान्यसत्यानि दृश्यात्मकत्वान्न सत्यान्यसत्यानि युक्तानिवक्तुम्
अतोऽचिन्त्यरूपं जगत्सर्वमेव[1] सदेको विशुद्धो निजात्मैव चास्ते ॥२७॥

विमल वपुः (सुन्दर आकार) वाला सर्वज्ञ ईश्वर में प्राज्ञ (प्रकृष्ट ज्ञान-स्वरूप) ब्रह्म में भ्रान्ति सत्ता नहीं सुलाभ (प्राप्ति) कर सकती, और ब्रह्म में ही ईश्वर रचित संसार है। तौभी यह मायिक है ॥२२॥ और यह माया सत्य असत्य सावयव निरवयवादिरूप से निर्वचन के योग्य नहीं है, तिस मायामय होनेसे यह विश्व भी अनिर्वाच्य ही दीखता है ॥२३॥ जो अनिर्वाच्य स्वरूप होता है, वही पण्डितों से मिथ्या अनृत भ्रान्तिरूप कहा जाता है, और वही ज्ञान से बाध्य होता है ॥२४॥ वह कल्पित (कल्प विकल्प वा कल्पना) से सिद्ध कहा जाता है। और वह कल्पना (चिन्तना[1]) विकल्परूपा माया भी कल्पित (मिथ्या) ही है। आश्चर्यरूप विचित्र (अत्यद्भुत) यह वस्तु है, जिससे यहाँ मौन ही श्रेष्ठ है ॥२५॥ पृथिवी जलादि सत् (ब्रह्म) स्वरूप नहीं हैं, विकारादि के योग (संबन्ध) से कोई गुण वा प्रधान (प्रकृति) भी सत्य नहीं हैं, न कल्पना (चिन्तना) मात्र देह (स्वरूप) वाले कालादि सत्य हैं ॥२६॥ दृश्यस्वरूप होनेसे

१ 'न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा । यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तं प्रतिस्थितम् ॥' योगवा० ६।२।९६।४१॥

ज्ञात्वा तमेकमजरं रमणं विहाय,
कृत्वाऽत्र मोहदमनं मननेन नित्यम्।
रामे सदैव रमणाच्च भवेत्स रामो,
यो काममुक्तहृदयो गुरुभक्त एव ॥२८॥
त्यक्त्वैव विश्वरमणं शमनादियुक्तं,
सम्यग् विधाय दमनं मनसः स्वबुद्ध्या।
रामेऽत्र साधुरमणं परमं विधातु-
मेतद्ध्युवाच सुगुरुः सुजना वृणीध्वम् ॥२९॥
रसोद्रेकेण संयुक्तं श्रुत्वा चोक्त्वा जना इदम्।
ज्ञानिनो बन्धनिर्मुक्ता, भवन्तु सुखिनः सदा ॥३०॥
हनुमतः कृतिं चैतां सज्जना ये विमत्सराः।
कुर्वन्तु सफलां चातस्तुष्यन्तु गुरवो मम ॥३१॥

ये असत्य नहीं है, सत्यासत्योभयरूप विरुद्ध होनेसे वैसा कहने योग्य नहीं हैं। इससे सब जगत् अचिन्त्य स्वरूप है, सत्स्वरूप विशुद्ध एक अपना आत्मा ही है ॥२७॥

उस एक अजर आत्मा को जानकर, इस संसार में रमण छोड़कर, नित्य मनन से मोह का दमन (निवृत्ति) करके सदा ही राम में रमण से वह राम ही होगा, कि जो काम रहित मनवाला और गुरुभक्त होगा ॥२८॥ शमन (हिंसा-अन्तक) आदि सहित विश्व (सब) रमण को त्यागकर, और अपनी बुद्धि से मन का अच्छी तरह दमन (दम-निरोध) करके यहाँ राम में परम (श्रेष्ठ) साधु (सुन्दर) रमण के विधान के लिये यह प्रकरण सद्गुरु ने कहा है; हे सुजन लोक ! आप उसका ग्रहण स्वीकार करें ॥२९॥ रस (आनन्द स्वाद) का उद्रेक (वृद्धि) रूप टीका सहित इसको सुन कह कर मनुष्य सब ज्ञानी बन्ध रहित सुखी सदा होवें ॥३०॥ और जो मत्सर रहित सज्जन हैं सो हनुमानदास की इस कृति को सफल करें, और मेरे गुरुजन इससे सन्तुष्ट हों ॥३१॥

राम: सत्यचिदानन्द: सर्वात्माऽसौ निरञ्जन:।
अव्यक्तो व्यक्ततां यातु सर्वस्य हृदये प्रभुः ॥३२॥
हरन्तु सर्वपापानि कुर्वन्तु सर्वमङ्गलम्।
नाशयन्तु ह्यभद्राणि देवा: सद्गुरवस्तथा ॥३३॥

इति रमैनीरसोद्रेके जीवसम्बोधनं नाम द्वाचत्वारिंशत्तम: प्रवाहः ॥४२॥

सच्चिदानन्द सर्वात्मा निरञ्जन प्रभु अव्यक्त वह राम इससे सबके हृदय में व्यक्तता को प्राप्त हों ॥३२॥ इससे देव तथा गुरु सब पाप को हरें, सब मङ्गल करें, अभद्रों को नष्ट करें ॥३३॥

अक्षरार्थ- ये जियरा (हे जीव !) तुम उस दुःख को ही सम्हारो (सावधानी से समझो) तथा संसार को दुःख ही जान कर उससे बँचने के लिये चेतो। और उस दुःख से अवश्य वँचने के लिये सम्हारो कि जो दुःख संसार में व्यापक हो रहा है। संसार में व्यापक दुःख यह है कि माया मोह से सब बंधे हैं। जिससे अल्प भोगादि के लाभ से मूल सुख आत्मानन्दादि खोय (नष्ट हो) गया है। और माया मोह से ही सब जीव मोर तोर (राग द्वेष) में सब ज्ञान ध्यानादि को बिगोते (गमाते) हैं, तथा जननी (माता) के उदर (पेट) में गर्भ (बच्चा) होकर महा कष्ट से सोते हैं, या माता के उदर में जो गर्भ (कुक्षि) स्थान विशेष वहाँ सोते हैं, इत्यादि।

जन्म के बाद (यह) कभी बहुत खेल खेलता है, कभी बहुत रोता है। ऐसे ही करते २ बहुत विषय रस के लोभी जन भवँरा गये, मोक्ष के लिये कुछ नहीं किये। इससे ऐसे जीव फिर किसी योनि में उपज (जन्म ले) कर, और विनश (मर) कर फिर योनि में ही आते हैं, आवागमन से रहित नहीं होते। इससे बहुत प्रकार के कष्ट (कठिन) दु;ख और दैहिकादि त्रिविध सम्यक् ताप (रोग शोकादि) पाते हैं। स्वप्न में भी सुख का लेश तक नहीं पाते हैं, किन्तु कभी

दुःख में ही सुखाभिमान करते हैं। क्योंकि इन्हें सो वस्तु नहीं मिली है, न वह ज्ञान मिला है कि जो जलते हुए इनको बुझावै (शान्त सुखी करे)। अभाग्य अयोग्यतादि वश सो महात्मा भी नहीं मिलते हैं; कि जो इन्हें समझावे।

बुझाने वाला नहीं मिलने से सारा (सब) संसार मोर तोर (रागद्वेषादि) में जल रहा है, इसी से संसार में दुःख व्यापक है। रागादि से लोक अपना स्वार्थ चाहते हैं, परोपकार विचारादि नहीं करते, परन्तु उस स्वार्थ को धिक्कार है; क्योंकि संसार और उस का स्वार्थ झूठ (मिथ्या) है। स्वार्थी की दशा शोचनीया है। इस विवेक विना ही झूठी वस्तु का मोह (ममता) संसार में लाग रहा है, और इस मोह से ही इन वर्तमान दुःखादि से भाग कर भी जीव सब बहुरि (लौट २) कर पुनः (फिर भी) गर्भ नरकादि आगि (अग्नि) में ही प्राप्त होते हैं। और जिस धनादि को सब कोई हित कै (हित मान कर) राखते हैं, (संग्रह रक्षा करते हैं); हे सयान ! (विवेकियों !) सो कोई पदार्थ बाँचा हुआ (रहनेवाला) नहीं हो सकते।

विषयासक्त स्वार्थी लोक आप अपने को नहीं चेतते (सम्भालते समझते) हैं। और चेतने के लिये कहुं (कुछ कहता हूं) तो रुसुआ (रुष्ट) होते हैं। और सम्हालने बिना तथा कहना मानने बिना उन वस्तु व्यवहारों में आसक्त होने लगते हैं कि जो स्वप्न के समान अस्ति-निरस्ति (सत्य असत्य) आदि कुछ नहीं सिद्ध हो सकते॥ प्रतीत होने से सर्वथा असत्य नहीं हैं, बाध नष्ट होने से सर्वथा सत्य नहीं हैं, इससे मिथ्या हैं। इनमें आसक्ति आदि उचित नहीं है॥

'कहहिं कबिर स्वप्ने जगै, निरस्ति आस्ति न होय।' इस पाठान्तर का अर्थ है कि मोह स्वप्न से जागै तो निरस्ति (मिथ्या) संसार अस्ति (सत्य) नहीं प्रतीत होय। तथा मरण जन्म नहीं होय, इत्यादि।

यहाँ विशेष बात यह है कि– साखी में स्वप्न के पदार्थों में अस्ति निरस्ति पन का निषेध से स्वप्न के प्रत्यक्ष ज्ञान को संस्कारजन्य होते भी स्मरण (स्मृति) रूप नहीं माना गया है, न बाहर जाकर सत्य वस्तु का दर्शनरूप माना गया है; किन्तु मानस भ्रमरूप माना गया है और भ्रमरूप होते भी वैष्णवों के समान सत्ख्याति (सत्य की प्रतीति) रूप नहीं माना गया है। वैष्णवमत में भ्रम के विषयों को ईश्वरजन्य सत्य मानते हैं, पञ्चीकृत भूतों के कार्यरूप संसार में सब वस्तु की सर्वत्र सत्ता मानकर शुक्ति देश में भी भ्रमकाल में चान्दी की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु यदि वहाँ सत्य चान्दी उत्पन्न हो तो किसी को चान्दी का भ्रम होने पर, भ्रमनिवृत्ति से प्रथम ही अग्निद्वारा शुक्ति के जलने पर वहाँ चान्दी रहना चाहिये, और रहता नहीं है, इससे यह मन्तव्य ठीक नहीं है, और सर्वथा असत् की प्रतीति (ज्ञान) नहीं हो सकता, इससे शून्यवादी का असत की ख्याति (प्रतीति) वाद भी ठीक नही है। और क्षणिक बुद्धि को आत्मा माननेवाला आत्मख्यातिवादी भ्रम आदि के स्थान में बुद्धिरूप आत्मा को ही सब पदार्थ स्वरूप मानता है, सो भी इसलिये ठीक नहीं हैं, कि सब पदार्थ क्षणिक नहीं हैं, और बुद्धि का विषय बुद्धि ही नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्यथा ख्यातिवादी भ्रम के स्थान में अन्य वस्तु की अन्यरूप से प्रतीति मानते हैं, तिस मत में भी विषय के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान होना असम्भव है। और विषय के बिना अविवेक मात्र से भी अपरोक्ष ज्ञान प्रवृत्ति आदि नहीं हो सकती, इससे भ्रम के स्थान में अविद्याजन्य सदसद् विलक्षण विषय उत्पन्न होते हैं। उनका अपरोक्ष ज्ञान होता है, सो भी अज्ञान अविद्यारूप ही होता है। भ्रम ज्ञानादि में भ्रम का आश्रय के सामान्य अंश को "संक्षेप शारीरक ग्रन्थ' में आधार कहा है, और विशेषांश को अधिष्ठान कहा है। जैसे शुक्ति में चान्दी का भ्रमकाल में भी इदं किञ्चित् रूप से शुक्ति भासती रहती है, सो इदंरूप आधार है।

और शुक्तित्व नीलपृष्ठत्वादि रूप से वही शुक्ति अधिष्ठान है, अधिष्ठानरूप से आश्रय की प्रतीति होने पर, निरुपाधिक भ्रम की सर्वथा निवृत्ति होती है, सोपाधिक भ्रम की निवृत्ति उपाधि के अभाव से होती हैं। जैसी कि दर्पण के अभाव से दर्पण में मुख की प्रतीति का भी अभाव होता है। उपाधि उसको कहते हैं कि जो पदार्थ के स्वरूप में प्रवेशादि के बिना ही पदार्थ में भेदादि की प्रतीति करावे। जैसे घड़ा अपने भीतर के आकाश में पैठने बिना उससे तटस्थ रह कर उसमें अन्य (बाह्य) आकाश से भेद की प्रतीति कराता है। सो घटाकाश के उपाधि है, किसी का शिव-शरण नाम हो तो शिव पद उसमें विशेषण है, नाम में प्रविष्ट होकर भेद प्रतीति का जनक है, और शर्मा वर्मा आदि उपाधि हैं, नाम में प्रवेश बिना भेद प्रतीति के कारण हैं। इसी प्रकार अन्तःकरणादि आत्मा के स्वरूप में प्रवेश बिना भेद साक्षित्वादि प्रतीति के जनक हैं, इससे उपाधि हैं। इनके अभाव से भेदादि का अभाव होता है; परन्तु इनके रहते भी भेदादि में मिथ्यात्व का निश्चय होता है, सोई ज्ञान है, इत्यादि ॥८४॥

इति श्री १०८ सद्गुरुकबीरसाहेबकृते विविधविघ्नग्रन्थबीज-
विध्वंसने 'बीजक' नाम्नि ग्रन्थे परमाद्वयबोध-
सम्पादकं प्रथमं रमैनीप्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

॥ सम्पूर्णश्चाऽयं संस्कृतबीजकस्य प्रथमो भागः ॥



॥ सत्यनाम ॥

संस्कृत बीजक-द्वितीय भाग।



इसका **द्वितीय भाग** जिस में शब्द प्रकरण, ज्ञान चौंतीसा, विप्रमतीसी, बिरहुली, बसंत, कहरा, बेली और साखी प्रकरण के साथ पूरा ग्रंथ होगा, छप रहा है। और अभी से ग्राहक होनेवाले सज्जनों को ग्रन्थ तैयार हो जाने पर पत्र द्वारा सूचित किया जायगा और उनका पत्र आने पर व्ही. पी. से भेज दिया जायगा।

संस्कृत बीजक का यह संस्करण कितना उपयोगी होगा, यह तो आपको इसके प्रथम भाग (जो कि आपके शुभ हाथों में है) से ही पता लग जायगा। पू० श्री स्वामी साहब ने बीजक के गूढ भावों को समझाने के लिये खूब ही परिश्रम किया है और वेद, उपनिषद् और धर्मशास्त्रों और संसार के अन्यान्य मतों से सद्गुरु कबीर साहब का परम तत्त्व का सिद्धान्त कितना व्यापक सत्य और स्वानुभवगम्य है, इसका सम्यक् ज्ञान इस ग्रन्थसे हो जाता है।

इस कठिन समय में भी, आर्थिक परिस्थिति के विषम और विपरीत रहते हुए, हमने जनसमाज के कल्याण की दृष्टि से संस्कृत बीजक के महाग्रन्थ (जो करीब १८००, १९०० पृष्ठों में समाप्त होगा) के महत्वपूर्ण प्रकाशन का साहस किया है। आशा है, सद्गुरु की परम कृपा से यह कार्य जनता के लिये श्रेयस्कर होगा और आप सब महानुभावों का उदार सहकार, सहयोग पाकर सफल होगा।

द्वितीय भाग की कीमत भी पहले ही भाग के समान ७) **सात रुपया** रहेगी। और डाकखर्च अलग होगा।

जो सज्जन पहले से अपना शुभ नाम ग्राहकावलि में दर्ज करायेंगे, उन से डाक खर्च नहीं लिया जायगा और ग्रन्थ तैयार होने पर व्ही. पी. से भेजा जायगा।

शीघ्र ही अपना नाम ग्राहकों में दर्ज़ करा लें।

व्यवस्थापक : ' **स्वसंवेद कार्यालय** '

सीयाबाग, ' चेतनधाम ', श्री कबीर प्रेस-**बड़ोदा.**

सत्यनाम

शुद्धिपत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२	भाखौ	भाखौं
४	१९	ऽग्रि	ऽग्नि
९	४	सत्व	सत्त्व
११	११	नैभि	नैमि
,,	२१	मिष्यते	मुच्यते
,,	२२	मिष्यते	मुच्यते
१२	६	ऊठ	उठ
१६	९	कर करने	करने
,,	२२	ही	हिं
१७	१३	सात्विकं	सात्त्विकं
१९	२	गुणवान्	गुणवान्
२२	१८	ब्राह्यण	ब्राह्मण
३१	२	ब्रवीत्	ब्रवीत्
४०	५	बीतावे	वितावे
४१	१८	सर्वे भू	सर्वा भू
,,	२२	सर्व य	सर्वस्य
४९	१८	खड्गानां	खड्गानां
५०	१४	सात्विक	सात्त्विक
५३	,,	नहीं	नहिं
५६	३	किसी	किसीको
५७	८	कहिं	कहीं
५८	१९	घूर्तैः	धूर्तैः
६१	११	रची	रचि
७३	२५	अन्धासे	अन्धेसे
७५	२०	शरींरीत्व	शरीरित्व
७६	१८	भगवान	भगवान्
७७	३	न्नृणाम्	न्नृणाम्
७७	११	विहिता	विहितो
७७	१३	सिंह	सिंहं
७९	११	तात्पर्य	तात्पर्य
८१	२	वहां	के
८२	१३	वाक्योंसे	वाक्यों में
८३	११	उत्तरा	उतरा
८६	२	अमत	अमृत
९८	१५	काम्य	काम्यं
१००	५	यस्ते	यः स्ते
,,	१५	सत्य	सत्यं
१०४	४	भुक्ति भुक्ति	भुक्ति मुक्ति
,,	१६	सम्पा	सम्पा
११२	१	त्यागनेवाला	त्यागनेवाले
११४	१२	का बल	के बल
११८	९	बाद	वाद
,,	२५	उमे	उभे
११९	१३	ऽग्नी ना	ऽग्नीना
१२२	१	लैकिक	लौकिक
,,	८	सम्प रु	सम्पद् रू
१२३	१०	दुई	दुइ
१२३	१९	का त्याग	के त्याग
,,	,,	तेरा	तेरे
,,	२०	मैं	मैने
१२४	४	सेवहं	सेवहु
,,	,,	झूंठी	झूठी
,,	१३	सदूगुरु	सदूगुरुने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२५	२१	रभव	रभवं
१३२	१९	जीवको	जीवका
१३७	१२	का घडा	के घड़े
१३८	१	प्रवण	प्रवणं
,,	६	रुत्ताणे	रुत्तीर्ण
,,	१२	शण्वन्तु	शृण्वन्तु
,,	१५	लक	लोक
,,	१७	प्रका	प्रकार
१३९	१५	के पात्र	का पात्र
,,	१७	वाचक है	वाचक हो
१४०	२२	जिसके	जिसका
१४१	१६	चन	चैन
,,	२०	भूलाई	भुलाई
१४८	१३	उपनिषद	वेदान्त
१५०	१९	विषयके	विषयक
१५२	५	शव्द	शब्द
१५३	२०	उसका	उसके
१५५	२२	चढये तो	चढये
१५७	१२	तहां पहला	तहां पहले
१५८	१	छठवाँ	छठवे
,,	६	पूछता	पूँछना
१५९	१८	आधोन	अधीन
१६१	२	व्यावहा-रीक	व्यावहा-रिक
१६३	१५	परिणाम	परिमाण
१६५	२३	वूझने	बूझने
,,	२६	अनुब्द	अनुद्बु
१६६	१३	भाग का	भाग के
१६९	७	अमूर्तों	अमूर्त्तों
,,	२१	श्वरदि	श्वरादि
१७०	१६	निरूप	नीरुप
,,	८	चेतनत	चेतनता
१७१	७	तदानीम	तदानीम्
१७२	३	द ण	दर्पण
१७३	५	मूआ	मुआं
,,	११	खंड	अंड
,,	१५	के	का
,,	१६	छोटा-बड़ा	छोटे-बडे
१७४	२०	सतरह	सप्तदश
,,	६	कह्या	कहा
,,	११	मया	माया
१७५	४	उनइस	उन्नीश-एकोनविंश
,,	६	ईश्व	ईश्वर
१७६	,,	वैश्वानर	वैश्वान-र का
,,	७	पृथगूवत्मे	पृथगूवत्मा
१७८	५	ईश्वरोऽधि	ईश्वरोऽ-त्राधि
,,	२५	क के	करके
१७९	७	वचन	वलन
१८१	९	तौ	तो
१८२	१२	का उपाधि	की उपाधि
१८३	१	व लोक	वे लोक
,,	२५	दूस॰ा	दूसरा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८४	४	और लो	और सत्य-लो
,,	१७	ईश्वर का	ईश्वर के
१८५	७	मूर्ति का	मूर्ति के
,,	१७	अहकाग-दि	(अहंग्रहादि हैं)
,,	१२	स्वल्व-बुद्धीनां	स्वल्प-बुद्धीनां
१९२	१८	क ते	कस्ते
१९४	७	का अभाव	के अभाव
,,	९	का प्रति	के प्रति
१९५	७	शरीरादि	शरीरादि
१९६	३	आर्पति	आपत्ति
२००	७	स्वीका	स्वीकार
२०६	६	श्रति	श्रुति
२११	२६	ता भी	का भी
२१२	१५	जगत	जगत का
,,	२६	दीया	दिया
,,	९	जीत्र	जीव
२१५	२१	भक्ताग्नि	भक्त्यग्नि
२१६	९	अयत	आयत
,,	२१	मरा	मरे के
,,	२३	की कतल	के कतल
२१८	१७	बजाका	बजा कर
२२०	१५	सांसी क	संसारिक
,,	१	ईश्वर की	ईश्वर के
२२६	८	अवस्थासे	अवस्था भेदसे
२२८	१०	मनने	मानने
,,	१७	आत्म	आत्मा
२२९	२२	दोष रूप	रूप दोष
२३१	१८	मनको	मनके
२३२	२	विज्ञना	विज्ञाना
२३२	१६	सचि ।	सच्चिदा
,,	२२	गीध	गोध
२३३	७	मानका	मानकर
२३५	२५	ऽपनिषद्	उपनिषद्
२३६	२०	मानसे	मानस
२३८	१	नष्ठ	नष्ट
२३९	२२	यदि होता	यदि आनंद नहीं होता
,,	१	सुष्मणा	सुषुम्ना
२४१	१	पर सा	परम सा
,,	५	आनन् प	आनन्द प
,,	१७	हो जते	हो जाने
२४२	२१	प्रकृति का	प्रकृति के
२४५	१०	साधना-भ्या-ससे	साधना-भ्याससे
२४६	३	हिनी	दहिनी
२४७	१८	रेचक वो	रेचक को
,,	२६	कण्ढ	कण्ठ
२४८	१६	,,	,,
२५१	२०	अपना २	अपने २
२५३	११	हारन्तु	हारस्तु
२५५		सेवा	से वा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६१	२१	भवेत्त	भवेत्स
२७१	१५	क त्ते	करते
२७२	१०	विपयय	विपर्यय
२७४	२३	रन्ध्र	रन्ध्र में
२७८	७	करने	करने पर
२७८	१६	विद्यैषास्य	विद्यावास्य
२८२	१९	निगण:	तिर्गण:
२८४	३	बनाने	बताने
२८५	१	वदस्था	वदुत्था
२८८	१०	चक्षुरदि	चक्षुरादि
२९१	१६	काभी	कामी
,,	२२	दशमूलि-वार्थ	दशमूलि-कार्थ
,,	७	जडभिन्नरा	जडभिन्नत्व
२९४	१६	तिमिद्ध	श्रुतिसिद्ध
२९८	३	की बोधक	के बोधक
,,	४	सर्वः	यः
,,	६	लिङ्गदे	लिङ्गं दे
२९९	४	प न्तु	परन्तु
३०४	१७	अज्ञान	अज्ञात
३०५	४	मूलक	भक्तिमूलक
३०८	५	समझने	समझने के लिये
,,	,,	एक	एक २
,,	५-६	मेढला	मेढ्वा
३०९	२१	चढाये थे	चढाये गये थे
३१०	१८	अलक	अलर्क
३११	४	चरणौ	वृषणौ
,,	७	प्रतिव्र	पत्तिव्रता
३१२	१७	कल्गण	कल्याण
३२३	१८	मिल था	मिला था
३२४	११	जाकर	ले जाकर
३३३	४	नेश	केश
३४०	६	होवॅ	होवें
३४४	९	न्राप्त	प्राप्त
३४६	१९	क ने	कहने
३४९	९	मन्दगिरि	मन्दरगिरि
३५१	९	पुरुषोत्तम्	पुरुषोत्तम
३५७	१८	तुकसी	तुलसी
३६५	१४	छेड	छोड
३६७	१५	ना द	नारद
३७१	२०	आनन्प	आप आ-नन्द
३७२	७	अवेली	अकेली
३७३	५	शिवक	शिवके
३७५	२	कुछ बाद	कुछ विवाद
,,	१८	भृत्यादि	भृत्त्यादि
३७७	२०	उटा	डण्टा (लाठी)
३९६	१	ज्ञानि	ज्ञान
४०७	१९	विरला	विरला

बीजक मंगलाचरण में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१८	यद्भरणं	यद्वरणं
२०	९	नहीं	नहीं है
२३	८	भ्रमन्त	भ्रमता
,,	२३	सदा	सदा